प्रकाशक
सुरेन्द्रनाथ
साहित्य-सदन, देहरादून।

जनवरी १९५४
मूल्य बारह रुपये

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक आगरा-विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत मेरी शोध-कृति है। इधर-उधर कुछ वाक्यों के जोड़ने-घटाने के अतिरिक्त प्रकाशन के समय मैंने इसमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया है। यह मेरा आलोचना के स्वरूप एवं विकास को समझने का प्रारम्भिक प्रयास-मात्र है। इसमें मैंने हिन्दी के समीक्षा-सिद्धान्तों, उसके सम्प्रदायों तथा शैलियों का तात्त्विक एवं तटस्थ अध्ययन प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। इनका स्पष्टीकरण तथा मूल्याङ्कन करते समय मैंने सम्प्रदायगत पूर्वाग्रहों से यथासंभव दूर रहने का ही प्रयत्न किया है। प्रसंगवश कतिपय आलोचकों की समीक्षा-पद्धति पर भी विचार करने का अवसर प्राप्त हो गया है। इस कार्य में मैं कितना सफल हुआ हूँ, इसका निर्णय विज्ञ एवं सहृदय पाठक स्वयं ही करेंगे।

यह प्रबन्ध परम पूज्य गुरुवरों श्रीयुत पं० जगन्नाथ तिवारी तथा पं० कैलाशचन्द्र मिश्र के आशीर्वाद, प्रेरणा एवं मार्ग-प्रदर्शन का ही फल है। यह उन्हींकी वस्तु है। इसमें जो-कुछ त्रुटियाँ रह गई हैं, वे ही मेरी हैं। गुरुजनों के प्रति मेरे हृदय में जो कृतज्ञता है, वह तो हृदय की वस्तु है, उसको मैं शब्दों में कैसे बाँधूँ ?

परम श्रद्धेय श्रीयुत पं० नन्ददुलारे वाजपेयी जी की मुझ पर महती कृपा और स्नेह है। इसी स्नेह के कारण उन्होंने इस प्रबन्ध की भूमिका लिखना स्वीकार किया है। इसी विषय पर आगे और अध्ययन करने की प्रेरणा एवं मार्ग-प्रदर्शन द्वारा उन्होंने अपने अनुग्रह एवं मंगल-कामना का परिचय दिया है। श्रीयुत डॉ० सत्येन्द्र का सहयोग तो इस कार्य के प्रारम्भ से ही रहा है। विषय की गुत्थियों को सुलझाने से लेकर टाइप-जैसे छोटे-से कार्य तक के लिए मैंने उन्हें कष्ट दिया है। स्नेहवश वे इन सब कष्टों का बराबर स्वागत करते रहे हैं। उन्होंने मुझे हमेशा ही आगे बढ़ने लिए प्रोत्साहित किया है।

इस प्रबन्ध के लिखने में मैंने जिन पुस्तकों से सहायता ली है, उन की सूची ग्रंथ के अन्त में दे दी गई है। मूल ग्रंथ में जिन ग्रन्थों से उद्धरण दिये गए हैं, उनका निर्देश भी नीचे टिप्पणी में वहीं कर दिया गया है। मैं उन सभी साहित्य-मनीषियों का ऋणी हूँ। आगरा के [illegible] जीव पुस्तकालय के विद्यानुरागी मालिक श्रीयुत पं० [illegible] लाल जी ने अपने निजी वृहद् ग्रंथ-संग्रह से लाभ उठाने की अनुमति देकर मुझे बहुत-से कष्टों से बचा लिया है। हस्त लिखित ग्रंथों को देखने की विशेष सुविधा प्रदान करके काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा ने भी मुझ पर बड़ी कृपा की है।

उपर्युक्त सभी व्यक्तियों के अमूल्य सहयोग के लिए मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ। इस शोध-कृति को प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान करने के लिए मैं आगरा-विश्वविद्यालय के अधिकारियों का भी आभारी हूँ।

हिन्दी-संस्कृत-विभाग
आगरा कालेज, आगरा
पौष शुक्ला २ गुरुवार २०१०

भगवत्स्वरूप मिश्र

व्याकरण, दर्शन तथा धर्म-शास्त्र

के

निष्णात पंडित

परमपूज्य प्रपितामह

स्व० श्रीयुत पं० रामरिखदास जी मिश्र

की

पुण्य स्मृति

को

सादर समर्पित

प्राक्कथन

भारतीय साहित्यालोचन की ही भाँति पाश्चात्य साहित्यालोचन की परम्परा बड़ी पुरानी है। प्रायः पच्चीस सौ वर्षों से वह निरन्तर चली आ रही है। यद्यपि उसका आरम्भ यूरोप के एक छोटे-से प्रदेश में हुआ था, परन्तु क्रमशः उसका विस्तार समस्त यूरोप और पश्चिमी संसार में हो गया। पाश्चात्य सभ्यता के साथ ही पाश्चात्य साहित्यालोचन भी विकसित होता गया है और उसकी अपनी एक इकाई बन गई है। आज जब हम पाश्चात्य साहित्यालोचन का नाम लेते हैं, तब वह सारी इकाई हमारे सामने आ जाती है, जो पश्चिम की उपज है। यह साहित्यालोचन यूरोप की राष्ट्रीय सीमाओं को पार कर गया है और समस्त पश्चिमी संसार तथा अमरीका की वस्तु बन गया है। जिस तरह पश्चिमी देश क्रिश्चियन सभ्यता के नाम पर अपने को एक मानते हैं, उसी प्रकार पश्चिमी साहित्यालोचन भी, उक्त क्रिश्चियन सभ्यता की ही भाँति, सारे पश्चिमी राष्ट्रों की सम्पत्ति बन गया है।

पाश्चात्य साहित्यालोचन की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसकी परम्परा अटूट मानी जाती है और विकासमूलक सिद्धान्त की दृष्टि से वह चिर-विकास-मान वस्तु के रूप में उपस्थित किया जाता है। पिछली कुछ शताब्दियों के यूरोपीय समीक्षकों ने उक्त परम्परा का इतना सुन्दर और क्रमबद्ध विवरण दिया है कि आज जब हम उसे देखते हैं तब सचमुच वह पश्चिमी सभ्यता के विकास का इतिवृत्त-सा जान पड़ता है। भारतीय साहित्यालोचन की परम्परा का आधुनिक विद्वानों ने इतना सुन्दर विवेचन नहीं किया है जिसके फलस्वरूप भारतीय समीक्षा भी अपनी सुदृढ़ विकासमूलक भूमिका पर प्रतिष्ठित हो सके। आज हमारे साहित्य की एक बड़ी आवश्यकता यह है कि हम भारतीय साहित्या-लोचन के क्रम-विकास को उसी वैज्ञानिक और विकासमूलक भित्ति पर स्थापित करें जिस पर पाश्चात्य साहित्यालोचन स्थापित हो चुका है।

किसी भी देश की ज्ञान-राशि का सुव्यवस्थित विवरण जाति की सन्तान के लिए कितना उपयोगी होता है, यह हम पाश्चात्य साहित्यालोचन के उदा-

हरण से समझ सकते हैं। समीक्षा के विभिन्न सैद्धान्तिक पक्षों को लेकर जो विवेचन आज तक पश्चिमी देशों में हो चुका है वह पश्चिम के प्रत्येक साहित्यिक अध्येता के लिए एक खुली पुस्तक है। उसे यह जानने में अधिक श्रम नहीं उठाना पड़ता कि वहाँ की सैद्धान्तिक समीक्षा किन दशाओं में कितना विकास कर चुकी है और उसकी उपलब्धियाँ क्या हैं? नये शोधकों को भी इससे बड़ी सुविधा हो गई है। वे आज तक की स्थिति से पूर्णतः परिचित होकर आगामी अनुशीलन में सुगमता के साथ प्रवृत्त हो सकते हैं। उन्हें अन्धेरे में भटकने की आवश्यकता नहीं पड़ती। भारतवर्ष में अब तक यह स्थिति नहीं आ सकी है। यद्यपि हमारे देश में साहित्य-सम्बन्धी अनेकानेक सैद्धान्तिक उद्भावनाएँ हुई हैं, परन्तु आज के विद्यार्थी के सामने वे बिखरी हुई वस्तुओं के रूप में पड़ी हुई हैं। उनका सुव्यवस्थित और सापेक्ष अनुशीलन नहीं किया जा सका है। इसलिए जब हम आज भारतीय साहित्यालोचन की चर्चा करते हैं तब हमारे सामने कोई ऐसा सम्पूर्ण चित्र नहीं आता जैसा पाश्चात्य समीक्षा के अध्येताओं के समक्ष आता है। इसका कारण यही है कि हमारी साहित्यिक परम्परा समृद्ध होती हुई भी सुगठित नहीं है। उसका सम्पूर्ण मूल्य हमारी वर्तमान सभ्यता नहीं उठा पाती। वस्तु का ऐतिहासिक और वैज्ञानिक संचय नहीं किया जा सका।

किसी साहित्यिक या सांस्कृतिक परम्परा के सुसंबद्ध होने का एक और भी लाभ होता है। हमारी ज्ञान-राशि जितनी दूर तक बढ़ चुकी है उससे पीछे लौटने का भय नहीं रहता। पश्चिम के साहित्य-शास्त्र का कोई विद्यार्थी जब तक इस सम्पूर्ण ज्ञान-राशि को आत्मसात् नहीं कर लेता तब तक नई दिशा में लेखनी उठाने का साहस नहीं होगा। इस प्रकार क्रमशः नये युगों और नई संतति को पूर्ववर्ती समस्त साहित्यिक चेतना उत्तराधिकार के रूप में मिल जाती है। ऐसी प्रौढ़ परम्परा ही भविष्य में नये ज्ञान और नवीन चिन्तन के द्वार खोल सकती है और उस समृद्ध परम्परा का पूरा मूल्य उठाया जा सकता है। यूरोप में तथा पाश्चात्य देशों में यही हो रहा है। वहाँ साहित्य-सम्बन्धी सम्पूर्ण नया चिन्तन प्राचीन पीठिका को साथ लेकर चलता है। इसीलिए वहाँ की साहित्य-सम्बन्धी नवीन उद्भावनाएँ महत्त्वपूर्ण होती हैं और वे संसार के ज्ञान को आगे बढ़ाने में योग देती हैं। आज भारतीय विद्यार्थी के समक्ष इस प्रकार की सुविधा नहीं है अथवा नहीं के बराबर है। फलतः यहाँ हमें पश्चिम से आई हुई नवीन साहित्यिक निष्पत्तियों से काम लेना पड़ता है और हम अपनी राष्ट्रीय सम्पत्ति का पूरा उपयोग नहीं कर पाते। पिछले पचास वर्षों में भारतीय साहित्यालोचन को अपनी परम्परा से कितना मिला और पश्चिम के वादों और सिद्धान्तों का

उस पर कितना प्रभाव पड़ा, इसकी मीमांसा की जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि पश्चिम हमारे ऊपर कितनी तेजी से छा रहा है और हमारी अपनी ज्ञान-राशि किस हद तक उपेक्षित हो रही है।

आये दिन हिन्दी में तथा अन्य भारतीय भाषाओं में भी समीक्षा-क्षेत्र के अन्तर्गत जो शब्दावली प्रचलित हो रही है, क्या वह अधिकांश पश्चिमी नहीं है? जो नये वाद और जो नई शैलियाँ हमारे साहित्य में स्थान पाती जा रही हैं, क्या वे वस्तुतः हमारी परम्परा के स्वाभाविक विकास-क्रम में गृहीत हो सकी हैं? यही नहीं, यूरोपीय अनुकरण के नाम पर जो सामग्रियाँ हमारे साहित्य में आ रही हैं क्या वे सब-की-सब हमारे समाज के अनुकूल हैं? आज हमारे देश को क्या उन्हीं विचारों और जीवन-दृष्टियों की आवश्यकता है जो नवीनता के नाम पर यूरोप में फैली हुई हैं? क्या हमारे नये साहित्य की नव्यतम प्रवृत्तियाँ भारतीय जनता के गले के नीचे उतर सकी हैं, और क्या वह सम्पूर्ण द्रव्य हमारे लिए उपादेय बन सका है? ये सब प्रश्न हैं जिनके प्रकाश में हमें अपनी साहित्यिक गति-विधि को देखना होगा। यहाँ जिस बात की चर्चा की जा रही है वह यह है कि पाश्चात्य साहित्यालोचन की परम्परा इतनी बलवती है कि वह पश्चिम में तो अपना उत्तरोत्तर विकास कर ही रही है, पूर्वी देशों में भी उसका प्रसार होने लगा है और कदाचित् बड़े कृत्रिम रूप में होने लगा है। यों तो ज्ञान देश और काल की सीमा में बाँधा नहीं जा सकता और वह सर्वत्र अखंड रूप में रहता है, परन्तु प्रत्येक देश और भू-भाग की अपनी विशेषताएँ भी होती हैं जो उसकी इयत्ता को सूचित करती हैं और जिनका परित्याग नहीं किया जा सकता।

पाश्चात्य साहित्यालोचन ठीक उसी मार्ग पर नहीं चला जिस मार्ग पर भारतीय समीक्षा चली है। अतएव आज जब हम दोनों को अपने समक्ष पाते हैं तब सहसा यह निर्णय नहीं कर पाते कि इन दोनों शास्त्रीय पद्धतियों में कितनी सफलता अथवा क्या अन्तर है। इसके लिए हमें पश्चिमी और भारतीय साहित्य-शास्त्र के सम्पूर्ण क्रम-विकास को देखना आवश्यक होगा। तभी हम उनके सपूर्ण स्वरूप से अवगत हो सकेंगे और तभी भारतीय साहित्यालोचन के साथ पश्चिमी सिद्धान्तों की समानता और असमानता का भी परिचय प्राप्त कर सकेंगे। आज के साहित्यिक विद्यार्थी के लिए यह आवश्यक है कि भारत और पश्चिम की साहित्य-समीक्षा का सर्वाङ्ग स्वरूप उसके समक्ष रहे। तभी वह तुलनात्मक दृष्टि से अपने देश की समीक्षा-सम्बन्धी प्रगति की ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त कर सकेगा और तभी वह पूर्वी तथा पश्चिमी सैद्धान्तिक विकास की उचित

क्रम

हिन्दी-आलोचना : उद्भव और विकास

: १ :

विषय-प्रवेश

साहित्य-समीक्षा का स्वरूप और प्रकार

आलोचना या समालोचना का मूल अर्थ किसी भी वस्तु को सम्यक् प्रकार से विधि पूर्वक उसके सम्पूर्ण रूप में देखना है। संस्कृत में दर्शन या देखने का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थ में होता है। इसमें इन्द्रिय, मन, बुद्धि और हृदय सबके व्यापारों का समावेश है। इन सबके द्वारा वस्तु का प्रत्यक्ष देखना या दर्शन ही कहलाता है। इतना ही नहीं अपितु जगत् से अतिक्रान्त आत्मा और परमात्मा का प्रत्यक्ष भी दर्शन ही है। इन्द्रिय, मन और बुद्धि के द्वारा अगम्य, स्वानुभूति-स्वरूप आत्मा के भी दर्शन का ही आदेश दिया गया है : "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः।" कहने का तात्पर्य यह है कि आलोचना अथवा इसके पर्यायवाची शब्दों में एक व्यापक अर्थ अन्तर्हित है और यह मानव की मूलभूत वृत्ति तथा आकांक्षा का संकेत करता है। जगत् को देखना और सम्यक् प्रकार से समझना मानव का स्वभाव है। वह प्रतिक्षण जगत् को समझ रहा है, उसके स्वरूप और महत्त्व के सम्बन्ध में एक विशेष धारणा बना रहा है। उसे अपनी जगत्-सम्बन्धी प्रत्येक धारणा विशेष क्षणों में बहुत-कुछ सम्यक्, विधि-पूर्वक और पूर्ण ही प्रतीत होती है। उसका अहम् चिर पिपासमान एवं सम्पूर्णता की ओर गतिशील है। इसके साथ ही उसका जगत्-सम्बन्धी ज्ञान भी निरन्तर पूर्णता की ओर ही बढ़ रहा है। वस्तु के यथार्थ रूप की जिज्ञासा और उसके लिए प्रयत्न मानव का स्वभाव है। वह ज्ञान पूर्वक जीता है। जगत् के प्रति बौद्धिक और रागात्मक प्रतिक्रियाएँ ही उसका जीवन हैं। यही जगत् को समझना है और यही समीक्षा है। इस प्रकार स्पष्ट है कि समीक्षा मानव की मूलभूत प्रवृत्ति है। व्यापक अर्थ में यह उसके प्रत्येक कार्य के अन्तस्तल में प्रवाहित रहने वाली वह बुद्धि-वृत्ति है, जिसके दो प्रधान कार्य हैं—

व्याख्या और निर्णय । इसमें संकल्प-विकल्पात्मक तथा व्यवसायात्मिका दोनों प्रकार की बुद्धि-वृत्तियों का सामञ्जस्य है । यही कारण है कि विश्लेषण एवं निर्णय ये दो तत्त्व विज्ञान तथा साहित्य दोनों की समीक्षा के प्रधान कार्य माने गए हैं । ऊपर के विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि समीक्षा विषय और विषयी दोनों के आधीन होती है । समीक्षक वस्तु का ही विश्लेषण करता है, पर निर्णय में उसके व्यक्तित्व को अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट होने का अवसर मिलता है । इसका यह तात्पर्य नहीं है कि विश्लेषण में वैयक्तिकता का नितांत अभाव है अथवा निर्णय वस्तु-सापेक्ष नहीं है । समीक्षा के ये दोनों कार्य ही वस्तु और विषयी के सम्मिश्रण मात्र हैं । इनके अनुपात में भेद हो सकता है, और होता है । यह अनुपात आलोचना के विषय तथा समीक्षक के व्यक्तित्व पर भी बहुत-कुछ निर्भर है । विज्ञान और साहित्य का मौलिक अन्तर ही उनकी समीक्षा के मूलभूत अन्तर का कारण है । विज्ञान के कार्य तथा उसकी समालोचना दोनों ही अधिकांशतः वस्तु-सापेक्ष एवं वस्तु-तन्त्रात्मक होते हैं । उनमें व्यक्ति का महत्त्व प्रायः नगण्य है । पर साहित्य में तो व्यक्ति का ही महत्त्व अधिक है, इसलिए उसकी समीक्षा में भी वैयक्तिकता का तत्त्व प्रधान हो जाता है । उसमें विश्लेषण और निर्णय भी व्यक्तित्व से परिचालित एवं निर्दिष्ट होते हैं । विज्ञान और साहित्य की समीक्षा में यही मौलिक अन्तर है । समीक्षा सामान्य के मूलभूत तत्त्व इन दोनों क्षेत्रों में भिन्न रूपों में विकसित हुए हैं । विज्ञान के क्षेत्र में सृजन का ही अधिक मूल्य है । यहाँ पर वस्तु की समीक्षा भी सृजन की पृष्ठभूमि अथवा सृजन ही है । पर काव्य में सृजन और समीक्षा दोनों का पृथक् अस्तित्व और महत्त्व है । साहित्य और कला के क्षेत्र में भी समीक्षा सृजन की पृष्ठभूमि अथवा अधिक स्पष्ट शब्दों में प्रेरणा का कार्य करती है । पर उसका अपना पृथक् अस्तित्व, महत्त्व और उपादेयता भी अस्वीकृत नहीं किये जा सकते, समीक्षा भी सृजन ही है । समालोचना की आधुनिकतम प्रवृत्ति प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा तो आलोचना का उद्देश्य ही स्वतन्त्र अस्तित्व और उपादेयता वाली वस्तु का सृजन मानती है । "Each of us if we are sensitive to impressions and express ourselves well, will produce a new work of art to replace the work which gave us sensations. That is the art of criticism"...... Art can find its alter-ego in art."[1]

---

1. Spingarn—'The New Criticism'.

सृजनात्मक की अपेक्षा समीक्षात्मक प्रवृत्ति का प्राधान्य रहा है। हिन्दी में आज का युग समीक्षा का युग कहा जा सकता है। मैथ्यू आर्नल्ड अपने युग को समीक्षात्मक प्रयास का युग कहते हैं।[1] लेकिन इन युगों में कविता का ह्रास ही हुआ है, यह कहना कठिन है। यह कुछ विवादास्पद भी है। वस्तुतः जो हमें ह्रास प्रतीत होता है, वह नवीन क्रान्ति का पूर्वाभास भी हो सकता है। चिर परिचित काव्य-स्वरूप के दर्शन न होने से हम उसको ह्रास का युग मानते हैं। छायावाद के सम्बन्ध में भी यही ठीक है। विशुद्ध काव्यत्व की दृष्टि से उसका सामान्य धरातल अभी निम्न भी कहा जा सकता है, पर यह हिन्दी-काव्य में नवीन युग का सूत्रपात भी करता है। इसे अस्वीकार नहीं कर सकते। इसमें वे तत्त्व स्पष्ट हैं जो विकसित होकर साहित्य को उज्ज्वल और मंगलमय आभा से आलोकित कर देंगे। विचार और भाव, बुद्धि और हृदय के भावी एवं सुन्दर समन्वय की कल्पना इस आलोक का कुछ अनुमान करा देती है। यह समन्वय ही काव्य का आदर्श रूप हैं। आज इसकी आकांक्षा धीरे-धीरे युग चेतना का रूप धारण कर रही है। प्रसाद जी की कविता इसका पूर्वाभास है। 'कामायनी' में आध्यात्मिकता का प्राधान्य होते हुए भी विचार और भाव का समन्वय है। इसी तत्त्व के चिर विकासशील होने में साहित्य का कल्याण है। इस समन्वय की प्रेरणा समीक्षा ही दे रही है। इस प्रकार इस युग की कविता की उत्कृष्टता भी समीक्षा पर ही आश्रित है। हिन्दी का रीति-काल ठीक अर्थ में समीक्षा का युग नहीं था, वह तो उल्टा प्राचीन से चिपटे रहने का युग था। इसलिए उसमें तो सृजनात्मक शक्ति का भी ह्रास ही हुआ है। हिन्दी का यह युग तो इस बात का और भी अच्छा प्रमाण है कि सृजनात्मक और समीक्षात्मक प्रवृत्तियाँ परस्पर विरोधी नहीं हैं। एक के उत्थान से दूसरे का ह्रास नहीं होता है। रीति-काल में दोनों का ह्रास हुआ और दोनों इसके लिए अन्योन्याश्रित रूप से उत्तरदायी हैं। समीक्षा और सृजनात्मक साहित्य के पारस्परिक विरोध का सिद्धान्त मानने वाले का ध्यान समीक्षा के संकुचित रूप पर ही अधिक रहता है। कभी-कभी केवल दोष-दर्शन के लिए लिखी गई पुस्तकें भी आलोचना के नाम से अभिहित होती हैं। उनमें लेखक की प्रतिभा और सहृदयता के स्थान पर केवल अरुचि और प्रयास की कृत्रिमता के ही दर्शन होते हैं। ऐसी रचनाएँ काव्य के विकास में बाधक भी होती हैं। लेकिन केवल इन पुस्तकों के आधार पर ऐसा कोई सामान्य सिद्धान्त बनाया जाना ठीक नहीं

1. Mathew Arnold—Essays in Critcism. 'The functions of Criticism at the present time.' Page 1.

है। यह तो सब स्वीकार करेंगे कि कुरुचि और असद्भावनापूर्ण समीक्षा का न लिखा जाना ही ठीक है और इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि भावन की अपेक्षा सृजन का महत्त्व अधिक है।[१] पर इससे सृजन और भावन में पारस्परिक विरोध के सामान्य सिद्धान्त अथवा एक की दूसरे से हेयता का समर्थन नहीं होता। गूढ़ विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः भावन भी दूसरे रूप में सृजन ही है। ऊपर हम देख चुके है कि प्रभाववादी समीक्षा के मत में कला-समीक्षा भी कला-कृति ही है। आर्नल्ड कहते है कि कुछ व्यक्तियों की प्रतिभा का विकास भावन-क्षेत्र में ही संभव है, क्योंकि उनमें प्रतिभा का वही स्वरूप अधिक प्रबल और मौलिक है।[२] संस्कृत के आचार्यों ने तो इनकी एकता स्थापित करते हुए प्रतिभा के कारयित्री और भावयित्री नाम से दो भेद ही स्वीकार किये हैं। राजशेखर ने इनमें कोई मौलिक अन्तर नहीं माना है, प्रतिभा मूल रूप में एक ही है,केवल व्यापार-भेद से दो आपाततः भिन्न प्रतीत होने वाली वस्तुओं को जन्म देती है। भावन की सृजनात्मकता उन्हें और पश्चिम के आचार्यों को स्पष्टतः मान्य है। वॉघन कहते हैं :

"It is in virtue of the latent in him that the plain man has the power to become a critic."[3]

इससे कवि और समीक्षक की एकता स्पष्ट है। यह तो एक दृष्टि से भावन और सृजन की एकता सिद्ध हुई। समीक्षक का एक प्रधान उत्तरदायित्व कवि के गूढ़ार्थ को पाठक के लिए स्पष्ट भी करना है। कवि की अनुभूति को यथार्थ रूप में ग्रहण एवं उसका रसास्वाद कराने में समीक्षक सहायक होता है। अनुभूति की प्रेषणीयता के लिए जैसे कवि सृजन करता है वैसे ही भावक को भी प्रेषणीयता में सहायक होने के लिए भावना के साथ ही कुछ सृजनात्मक भी होना पड़ता है। समीक्षा की प्रौढ़ता के लिए सृजनात्मक प्रतिभा अपेक्षित है, यह तो प्रतिपादित हो गया। पर सृजन के लिए भी समीक्षा आवश्यक है, यह कहना भी अत्युक्तिपूर्ण नहीं है। साहित्यकार का कार्य कुछ भावों और विचारों को विशिष्ट समन्वय और व्यवस्था में सौन्दर्यपूर्वक सजा देना है। साहित्य की महत्ता और चिरन्तनता उसकी भावात्मकता अथवा अभिव्यंजना के सौन्दर्य पर उतनी निर्भर नहीं है, जितनी जीवन की उदात्त और विराट् कल्पना पर।

---

1. Mathew Arnold—'Essays in Criticism' Page 4.
२. " " " " पृष्ठ ५, ६।
3. C. S.Vaughan—'English literary Criticism.'

जीवन की महती कल्पना के लिए निरी भावुकता ही पर्याप्त नहीं है। उसके लिए दार्शनिक की सूक्ष्म दृष्टि भी अपेक्षित है। कवि इस महान् पद का अधिकारी केवल जीवन का प्रौढ़ समीक्षक बनकर ही हो सकता है। आर्नल्ड कहते हैं :

"......the creation of a modern poet to be of worth much implies a great critical effort behind it, else it must be a comparatively poor, barren and short-lived affairs."[1]

जीवन-सम्बन्धी धारणाएँ बदलती रही हैं और उन्होंने कविता के स्वरूप को अत्यधिक प्रभावित किया है, इसके प्रमाण इतिहास में बहुत सुलभ हैं। वस्तुतः सारा इतिहास इस बात की साक्षी देता है कि साहित्य जीवन-दर्शन का अनुगामी है।[2] समीक्षा के इस व्यापक स्वरूप के अतिरिक्त साहित्य-सम्बन्धी धारणाएँ भी सृजन की प्रेरणा देती हैं। काव्य के उद्देश्य एवं स्वरूप-सम्बन्धी एक स्पष्ट अथवा अस्पष्ट धारणा सृजन के पूर्व ही कवि के मस्तिष्क में रहती है। वह चाहे तत्कालीन सामूहिक चेतना का प्रतिबिम्ब-मात्र हो अथवा उस पर कवि के व्यक्तित्व की गहरी और स्पष्ट छाप हो, वह चाहे ज्ञात एवं सचेतन अथवा अज्ञात एवं अवचेतन हो, पर इतना निश्चित है कि साहित्य-सम्बन्धी एक ऐसी धारणा अवश्य होती है, जो साहित्य के स्वरूप का निर्धारण करती है। विभिन्न कालों में साहित्य का बदलता हुआ स्वरूप इस बात का प्रमाण है। इससे स्पष्ट है कि भावन भी सृजन का नियन्त्रण करता है। इसी को पुष्ट करते हुए टी० एस० इलियट कहते हैं :

"The critical mind operating in poetry, the critical effort which goes to the writing of it, may always be advance of the critical mind operating upon poetry whether it be one's own or some one's else. I only affirm that there is significant relation between the best poetry and the best criticim of the same period......contemporary poet who is not merely aco mposer of graceful verses—is forced to ask himself such questions as 'What is poetry for', not merely what am I to say but rather how and to whom I am to say it."[3]

---

1. Mathew Arnold—'Essays in Criticism'
2. Hudson.—'An Introducion to the Study of Literature' Page, 298.
3. T. S. Eliot.—'The use of poetry and the use of Criticism' Page, 30.

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि इलियट को भी साहित्य-सृजन के अन्तस्तल में प्रवाहित साहित्य-सम्बन्धी धारणा की प्रेरक शक्ति मान्य है। युग की कविता पर उस युग की साहित्यिक धारणाओं का बहुत-कुछ नियन्त्रण रहता है यह निर्विवाद है। ये धारणाएँ साहित्य-सृजन तथा उसकी समीक्षा के मानदंड के निर्माण की प्रेरणा प्रदान करती हैं। इस प्रकार साहित्य और समीक्षा का विकास अन्योन्याश्रित है। समीक्षा साहित्य के विकास में बाधक है, यह कहना केवल संकुचित दृष्टिकोण को अपनाना-मात्र है। आलोचना का विकास काव्य के विकास के समानान्तर रहता है। समीक्षा का विकास काव्य की उन्नति का लक्षण है। हडसन कहते हैं कि कविता जीवन से प्रेरणा ग्रहण करती है और समीक्षा काव्य से, यह अन्तर ही कृत्रिम है। सच्ची समीक्षा भी जीवन से ही प्रेरणा लेती है। समीक्षा साहित्य के अन्तस्तल में प्रवाहित होकर ही प्रेरणा नहीं देती, अपितु व्यक्त रूप में भी उसका स्वरूप निर्दिष्ट करती है।[1] उसके अव्यक्त महत्त्व को व्यक्त करके साहित्य को सर्वाङ्गीण विकास का अवसर और प्रेरणा प्रदान करती है। उच्च साहित्यिक धारणा उत्कृष्ट साहित्य को जन्म देती है तथा साहित्य की उत्कृष्टता पर ही समीक्षा की प्रौढ़ता निर्भर है। साहित्य और समीक्षा, सृजन और भावन का यही अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

तो क्या यह धारणा निराधार है कि समीक्षा साहित्य के विकास में बाधक है। नहीं, समीक्षा के एक रूप के लिए यह भी सत्य है। हाँ, समीक्षा का यह रूप अस्वस्थ अवश्य है। जैसा कि आर्नल्ड ने कहा है कुछ लोग किसी विचार-धारा का प्रतिपादन करने के लिए नहीं लिखते अपितु लिखने के लिए किसी विचार-धारा को अपना लेते हैं। उनमें लिखने की सहज आकांक्षा का अभाव रहता है। ऐसे लेखकों द्वारा लिखी गई आलोचना साहित्य को प्रेरणा प्रदान नहीं कर सकती। वे साहित्य की अनुगामिनी तो होती हैं, पर साहित्य की आत्मा तक भी नहीं पहुँच पातीं। ऐसी रचनाएँ पाठक का आलोच्य रचनाओं के बाह्य आकार से ही परिचय कराती हैं। समीक्षा के इस स्वरूप से मूल ग्रन्थों के अध्ययन का प्रोत्साहन नहीं मिलता। पाठक उन ग्रन्थों के सम्बन्ध में केवल आलोचनात्मक ग्रन्थों से ही साधारण परिचय प्राप्त कर लेते हैं। उनकी धारणा भी उन्हीं के आधार पर बन जाती है। यह प्रवृत्ति साहित्य के सृजन और अध्ययन दोनों में बाधक है। हडसन ने पुस्तकों के सम्बन्ध में

---

1. Hudson—'An Introduction to the Study of literature.' Pages, 262-263.

पुस्तकें लिखने की प्रवृत्ति को अत्यधिक प्रोत्साहन देना ठीक नहीं समझा है।'
समीक्षा का यह स्वरूप रूढ़िवादिता पर आधारित रहता है। इसमें पुस्तक का महत्त्व रूढ़िवादी दृष्टिकोण से आंका जाता है। इस प्रकार साहित्य के सहज और स्वाभाविक विकास को प्राचीनता एवं रूढ़िवादिता की शृङ्खलाओं में जकड़कर रखने का प्रयत्न होता है। समीक्षा का यह स्वरूप अस्वस्थ है, इसलिए साहित्य के विकास में बाधक भी है।

सृजनात्मक साहित्य पर आश्रित होने के कारण यह तो निर्विवाद है कि समीक्षा का प्रयोगात्मक रूप सृजन का अनुगामी है। पर यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि सृजनात्मक साहित्य के कितने काल के उपरान्त इसका विकास हुआ है। साधारणतया यह अनुमान होता है कि साहित्य को लिखित परम्परा के पूर्व बहुत दिन तक काव्य मौखिक ही रहा होगा। उस समय संभवतः समीक्षा की कोई स्पष्ट प्रवृत्ति नहीं रही होगी। उसके बाद लिखित रूप में आने पर भी कुछ दिन तक लोगों का काव्यानुशीलन केवल आनन्दानुभूति तक ही रहा होगा। बाद में धीरे-धीरे उस पर एक अस्पष्ट निर्णयात्मक धारणा भी बनने लगी होगी। समीक्षा के व्याख्यात्मक स्वरूप का विकास बाद की वस्तु है। इस प्रकार साहित्य-समीक्षा का व्यक्त और लिखित रूप अपेक्षाकृत नवीन है। डॉ० दासगुप्ता अपनी 'काव्य-विचार' नामक पुस्तक में इसे स्वीकार करते हैं कि आलोचना-शास्त्र दर्शन, व्याकरण आदि से अपेक्षाकृत अधिक अर्वाचीन है। अलंकार-शास्त्र के व्यवस्थित रूप का विकास अर्वाचीन है। पर काव्य की प्रयोगात्मक आलोचना का आभास तो स्वयं आदिकवि ही दे देते हैं। उनका "शोकार्त्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा" उनके प्रथम श्लोक की आलोचना तथा महत्त्वपूर्ण साहित्य-सिद्धान्त का आभास है। इससे यह मानना पड़ता है कि साहित्य-सृजन और समीक्षा दोनों प्रायः समकालीन और समानान्तर ही रहे हैं। यह स्वाभाविक भी है। कवि-कृति का उसका समकालीन पाठक ही रसास्वाद करता है और कभी-कभी स्वयं कवि अथवा पाठक अपने आनन्द अथवा निर्णय का परिचय भी दे देता है। उसकी साधारण व्याख्या कर देना भी संभव है। इस प्रकार कविता के आदिम रूप के साथ ही समीक्षा के आदिम रूप के उदय का भी अनुमान होता है।

ऊपर समीक्षा और साहित्य के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करते हुए हमने समीक्षा के उस स्वरूप के दर्शन किये हैं जो साहित्य के अन्तस्तल में प्रवाहित होकर

1. Hudson—An Introduction to the Study of Literature. Page 263.

अव्यक्त रहते हुए भी सृजनात्मक साहित्य को प्रेरणा प्रदान करने वाला है। अब उसके व्यावहारिक रूप पर विचार करना है। आलोचना अपने व्यक्त और व्यावहारिक रूप में दो कार्य करती है—निर्णय और व्याख्या। यह भी हम देख चुके हैं कि ये दोनों कार्य समीक्षा शब्द की मूल प्रकृति के ही अंश हैं, इसलिए परस्पर में तथा समीक्षा सामान्य के साथ इनका अभिन्न सम्बन्ध है। ऐसी समीक्षा, जो विशुद्ध रूप में निर्णयात्मक या व्याख्यात्मक कही जा सके, केवल कल्पना की वस्तु है। निर्णयात्मक आलोचक भी कुछ व्याख्या करने के उपरान्त ही किसी निर्णय पर पहुँच सकेगा। इसी तरह विशद व्याख्या के उपरान्त कवि के सम्बन्ध में एक विशेष धारणा का बन जाना एक कवि की अपेक्षा दूसरे को प्रौढ़ मान लेना भी बहुत-कुछ स्वाभाविक है। हाँ, यह कार्य अव्यक्त भी रह सकता है। यह संभव है कि निर्णयात्मक आलोचक व्याख्या अपने मन में ही कर ले तथा व्याख्यात्मक आलोचक अपने निर्णय को केवल ध्वनि के द्वारा ही प्रकट करे और पाठक को अपने स्वतन्त्र निर्णय का अवसर प्रदान कर दे। पर फिर भी पाठक आलोचक की ध्वनि से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। पाठक का निर्णय भी इस ध्वनि से कुछ अंशों में मर्यादित हो जाता है। मोल्टन भी यह मानते हैं कि निर्णयात्मक आलोचना के लिए व्याख्यात्मक आलोचना भी अपेक्षित है।[1] फिर भी शास्त्रीय विवेचन के लिए समीक्षा के ये दो भेद मानने पड़ते हैं और इनका पारस्परिक अन्तर भी स्वीकार करना पड़ता है। प्रत्येक साहित्य में समीक्षा का प्रारम्भिक स्वरूप प्रायः निर्णयात्मक ही रहता है, पर धीरे-धीरे वह व्याख्यात्मक होती जाती है। निर्णयात्मक आलोचना में कवियों को उत्तम-अधम कहने की प्रवृत्ति अत्यन्त स्पष्ट होती है। यह आलोचक समीक्षा के कुछ बाहरी मानदण्डों और सिद्धान्तों को काव्य सामान्य के लिए सत्य मानता है और उन्हीं के आधार पर प्रत्येक रचना का मूल्यांकन करता है। काव्य के नियम तथा नीति-सम्बंधी उसकी धारणाएँ अत्यन्त रूढ़ होती हैं। वह प्रत्येक रचना में अपनी मान्य धारणाओं का निर्वाह देखना चाहता है। और जिनमें उनका निर्वाह नहीं मिलता उसी को हेय कोटि में रख देता है। इस प्रकार उसमें स्थूल और रूढ़िवादी दृष्टिकोण का प्राधान्य रहता

---

1. In the interest of judicial criticism itself we have to recog.-nize that the judicial criticism must always be preceded by the criticism of interpretation...no judcial criticism can be of any value which has not been preceded by the criticism of interpretation. Moulton—'The modern Study of Literature.'

है। पर व्याख्यात्मक आलोचना में ऐसी कोई मान्य धारणाएँ नहीं होती है।

आलोचक पूर्व निर्मित मानदंड के आधार पर किसी रचना का मूल्याङ्कन नहीं करता है। उसे काव्य के कोई ऐसे निश्चित नियम मान्य नहीं हैं जिनका अनुगमन कवि के लिए अनिवार्य हो। वह प्रत्येक रचना को अपने-आपमें स्वतन्त्र और पृथक् सत्ता वाली मानकर चलता है और रचना की समीक्षा का मानदंड भी उसी में अन्तर्हित मानता है। व्याख्यात्मक आलोचक का कार्य केवल यह स्पष्ट करना है कि कवि का वर्ण्य-विषय क्या है, वह पाठक पर क्या प्रभाव डालना चाहता है, इसमें वह कितना सफल हुआ है और उसकी सफलता के कारण क्या है। वह कवि की जीवन-कल्पना की महत्ता तथा अभिव्यंजना-सौन्दर्य को स्पष्ट करता है, पर उत्तम-मध्यम आदि श्रेणियाँ नहीं बनाता है। व्याख्यात्मक आलोचक दो कवियों के स्वरूप का मौलिक अन्तर तो स्पष्ट करता है, पर उनमें किसी एक की श्रेष्ठता नहीं प्रतिपादित करता है। व्याख्यात्मक आलोचना के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए मोल्टन कहते हैं:

"Inductive critcism will examine literature in the sprit of pure investigation, looking for the laws of art in the practice of artists and treating art like the rest of nature as a thing of continous development...which can be fully grasped only when examined with an attitude of mind adapted to the special variety without interference from without."[1]

निर्णय और व्याख्या के अतिरिक्त आलोचक आलोच्य वस्तु से स्वभावतः ही प्रभावित भी होता है। आलोचक इन प्रभावों की व्याख्या कर सकता है, उनको निर्णय का स्वरूप दे सकता है। पहले दो विकल्पों में प्रभाव प्रथम दो प्रकार की आलोचनाओं के साधन के रूप में उन्हीं में अन्तर्भूत हो जाता है, पर तीसरे विकल्प में वह एक स्वतन्त्र आलोचना-पद्धति को जन्म देता है। मोल्टन ने इन तीन मनोवृत्तियों के आधार पर समीक्षा के तीन प्रधान भेद माने है—१. निर्णयात्मक, २. व्याख्यात्मक, ३. प्रभावाभिव्यंजक। आलोचना के पहले दो प्रकारों में आलोचक के व्यक्तित्व का प्रायः अभाव रहता है। व्याख्यात्मक आलोचना में तो पूर्णतः तटस्थ होकर केवल वैज्ञानिक विश्लेषण ही अपेक्षित है। पर प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा में आलोचक के व्यक्तित्व का ही प्राधान्य है। यह स्वाभाविक भी है। कला का क्षेत्र व्यक्तित्व का क्षेत्र है, इस-

---

1. Hudson—'An Introduction to the study of Literature' page 271

लिए उसकी समीक्षा में भी व्यक्तित्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती ।

समीक्षा का प्रारंभिक रूप कुछ अंश में वैयक्तिक ही होता है । मानव में काव्य को समझने, उसका रसास्वाद करने तथा मूल्य आँकने की नैसर्गिक शक्ति होती है । शास्त्र के अध्ययन और काव्य के अनुशीलन से यह शक्ति निखार पाती जाती है । इसलिए काव्य-समीक्षा में इस सहजात वृत्ति का महत्त्व उपेक्षणीय नहीं है । समीक्षा के मनोवैज्ञानिक विकास में प्रथम स्थान हृदय की सहज प्रतिक्रिया का ही है । धीरे-धीरे आलोचक उसको अधिक स्पष्ट एवं निश्चित रूप में समझने लगता है । निर्णयात्मक आलोचना तो इस विकास की अन्तिम अवस्था है ।

"What is the ideal order instinctive responses, voluntary understanding final evolution."[1]

यह तो समीक्षक के मानसिक विकास का क्रम है । साहित्य-समीक्षा के ऐतिहासिक विकास में इस क्रम का उल्टा मिलता है । प्राचीन काल की समीक्षा में निर्णय और नैतिक मूल्य की प्रधानता थी । धीरे-धीरे समीक्षा व्याख्यात्मक होती गई । उसके मूल्यांकन के मानदंड भी बहुत-कुछ वैयक्तिक होते गए । प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा तो आधुनिकतम है । आज की समीक्षा में वैयक्तिक धारणा का ही प्राधान्य होता जा रहा है । शास्त्रीय पद्धति पर किया गया विश्लेषण तो आज पुरानी और विगत युग की वस्तु माना जाने लगा है । हिन्दी में भी आलोचना का अत्यन्त प्राचीन रूप टीका थी । भारतेन्दु काल की आलोचना नैतिक मूल्यांकन-मात्र थी । उसमें बाह्य मानदंडों का आरोप हुआ करता था । उसके निर्णयात्मक तत्त्व अत्यन्त स्पष्ट थे । पर धीरे-धीरे वह भी व्याख्यात्मक से वैयक्तिक होती जा रही है । आज हिन्दी में प्रत्येक पद्धति की आलोचना में वैयक्तिकता का प्राधान्य है ।

ऊपर आलोचना के दो प्रधान तत्त्वों—व्याख्या और निर्णय का निर्देश हुआ है । आलोचना के प्रायः सभी प्रकार इन्हीं के पृथक् अथवा सम्मिश्रित रूप के विकास हैं । मान्य धारणाओं पर आधारित आदर्शनात्मक तथा दो कवियों की पारस्परिक श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने वाली तुलनात्मक समीक्षा स्पष्टतः ही निर्णयात्मक आलोचना के ही अवान्तर भेद हैं । लेकिन इन शैलियों का गवेषणात्मक अथवा व्याख्यात्मक आलोचना में भी प्रयोग होता है । तुलनात्मक शैली का उपयोग तो प्रायः सब समीक्षाओं में हो जाता है । शास्त्रीय अथवा तन्त्रवादी समीक्षा भी एक दृष्टिकोण से आदर्शनात्मक

1. 'Dictionary of world Literature' page 139.

कही जा सकती है। आलोच्य रचना की व्याख्या के कई आधार संभव हैं। काव्य-शास्त्र, इतिहास, कवि का व्यक्तित्व, चरित्र-चित्रण, कवि-चरित्र, कवि-प्रतिभा, काव्य की वैयक्तिक अथवा सामाजिक प्रेरणा आदि अनेक दृष्टियों से आलोच्य पुस्तक की व्याख्या हो सकती है विश्लेषण और गवेषण पूर्वक रचना के इन विभिन्न दृष्टियों से विशद विवेचन संभव है। इस प्रकार एक गवेषणात्मक समीक्षा ही बहुत सी शैलियों में विभक्त होकर अनेक नाम धारण कर लेती है। ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, मनोविश्लेषणात्मक, चरितमूलक (बाइओग्राफिकल) और तन्त्रवादी (टैकनीकल) ये समीक्षा-शैलियां इसी के प्रधान भेद हैं। यह स्पष्ट है कि समीक्षा-शैलियों का यह विभाजन कुछ सैद्धान्तिक आधारों पर आश्रित है।

कलाकार के व्यक्तित्व, प्रतिभा, चरित आदि से कला का सम्बन्ध मनोवैज्ञानिक, आध्यात्मिक एवं चरितमूलक समीक्षा-शैलियों की उद्भावना का कारण है। इसी प्रकार समीक्षा की ऐतिहासिक शैली भी साहित्य-दर्शन की विशेष मान्यताओं का ही परिणाम है। आगे हम इन शैलियों पर विशद रूप से विचार करेंगे। एक ही समीक्षा में इन सब शैलियों का प्रयोग भी संभव और श्लाघनीय है। इनमें कुछ का एक दूसरे में अन्तर्भाव भी है। आध्यात्मिक एवं चरितमूलक का मनोवैज्ञानिक शैली के साथ अधिक सम्बन्ध है। यह स्पष्ट है कि प्रत्येक समीक्षा के मूल में एक विशेष मूल्यवादी दृष्टिकोण अन्तर्हित रहता है। यहाँ तक कि पूर्ण वैयक्तिक और आत्म-प्रधान मानी जाने वाली समीक्षा-पद्धतियों का आधार भी मूल्य ही होता है। प्रभाववादी समीक्षा सबसे अधिक वैयक्तिक होती है, पर उसमें भी समीक्षक की साहित्य, सौन्दर्य तथा आनन्द-सम्बन्धी वैयक्तिक धारणाएँ मूल्य का रूप धारण कर लेती हैं। उसकी समीक्षा में ये मूल्य व्यक्त और स्थूल रूप नहीं धारण करते, परन्तु अव्यक्त रूप में प्रेरणा देते रहते हैं, इसे अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता। समीक्षा के विभिन्न मूल्य साहित्य के प्रयोजन, प्रेरणा और स्वरूप-सम्बन्धी विभिन्न धारणाओं पर आधारित होते हैं। मूल्य-सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोण ही समीक्षा के सम्प्रदाय अथवा पद्धतियों के रूप में विकसित हो जाते हैं।

ऊपर समीक्षा की जिन शैलियों तथा व्यापारों का उल्लेख हुआ है, उनका उपयोग प्रायः सब सम्प्रदायों द्वारा होता है। पर कुछ शैलियों का एक विशेष सम्प्रदाय से अधिक सम्बन्ध होता है, यह कहना भी ठीक है। ऐतिहासिक पद्धति मार्क्सवादी समीक्षा की आधार-भूमि है। तन्त्रात्मक समीक्षा का स्वरूप सम्प्रदाय के अनुसार बदल जाता है। सौष्ठववादी अथवा स्वच्छन्दतावादी समीक्षा के

पास कोई एक मान्य तत्त्व नहीं है। प्रत्येक रचना में उसका तन्त्र तथा मूल्य-सम्बन्धी मानदंड रहता है, और स्वच्छन्दतावादी आलोचक का कार्य निगमन के द्वारा उसकी गवेषणा करना है। सौष्ठववादी इसी के आधार पर आलोच्य रचना का मूल्यांकन करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि सम्प्रदाय की प्रकृति के अनुकूल इन शैलियों के स्वरूप भी बदल जाते हैं। दूसरी तरफ सम्प्रदाय के स्वरूप का निर्माण मूल्य-सम्बन्धी धारणा तथा शैलियों के उपयोग द्वारा ही होता है। आगे हम समीक्षा के सम्प्रदाय और शैली के अन्तर का विशद विवेचन करेंगे। पर यहाँ पर भी इनके अन्तर का सामान्य परिचय आवश्यक है। साहित्य और समीक्षा के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रसंग में हम ऊपर देख चुके हैं कि साहित्य के स्वरूप और प्रयोजन-सम्बन्धी कोई एक धारणा युग एवं कलाकार में व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप में अवश्य विद्यमान रहती है। वही धारणा साहित्य एवं काव्य-धाराओं के स्वरूप को निर्दिष्ट भी करती है तथा परिपक्व होकर समालोचना के मानदंड का स्वरूप धारण कर लेती है। इस प्रकार की विभिन्न धारणाओं से ही विभिन्न समीक्षा-सम्प्रदायों का स्वरूप-संघटन होता है। पर शैलियों में साहित्य की व्यापक प्रेरणा तथा मानदंड का अभाव रहता है। उनके द्वारा साहित्य के विभिन्न अंगों का पृथक्-पृथक् रूप में विश्लेषण भर होता है। सम्प्रदाय एक सर्वाङ्गीण साहित्य-दर्शन पर आधारित रहते हैं। शैली समीक्षा का एक प्रकार-मात्र है। समीक्षा-शैलियों का विभाजन अपेक्षाकृत सार्वभौमिक है, पर सम्प्रदायों का देश की सांस्कृतिक और साहित्यिक परम्परा से अविच्छेद्य सम्बन्ध रहता है। समीक्षा की शैलियों (मनोवैज्ञानिक, चरितमूलक ऐतिहासिक) आदि के आधार भी साहित्य-दर्शन के सिद्धान्त ही होते हैं। साहित्य-शास्त्र की विशेष मान्यताओं ने ही इन विभिन्न शैलियों को जन्म दिया है। हाँ, उनकी पृष्ठभूमि में सर्वाङ्गीण साहित्य-दर्शन नहीं होता है। समीक्षा के कुछ मूलभूत सम्प्रदायों की कल्पना हो सकती है, जो स्थूल रूप से सार्वदेशिक भी माने जा सकते हैं। पर देश और साहित्य की प्रकृति के अनुकूल उनका स्वरूप बदल भी सकता है। प्रत्येक साहित्य की मूल्य-सम्बन्धी धारणाओं की अपनी मौलिक विशेषताएँ होती हैं, इसलिए समीक्षा के सम्प्रदायों का विभाजन भी उपन्न ही रहता है। हिन्दी में सौष्ठववादी समीक्षा-पद्धति का स्वरूप-विकास स्वतन्त्र धारा में हुआ है। उसमें पाश्चात्य पद्धति का अविकल अनुकरण नहीं है।

काव्य के प्रयोजन अथवा मूल्य के सम्बन्ध में ऐकमत्य संभव नहीं। कुछ लोग काव्य का उद्देश्य नीति का उपदेश मानते हैं और कुछ केवल आनन्दानुभूति ही।

कुछ की दृष्टि से काव्य का उद्देश्य व्यक्ति का रागात्मक प्रसार है तथा कुछ काव्य का उद्देश्य महत्त्वपूर्ण भावों की अभिव्यक्ति तथा उनमें सामंजस्य स्थापित करना मानते हैं। टालस्टाय-जैसे व्यक्ति काव्य की नैतिक उपादेयता स्वीकार करते हैं। पर ब्रैडले, आस्कर वाइल्ड आदि को 'कला कला के लिए' यह सिद्धान्त मान्य है। स्वच्छन्दतावादी आलोचक केवल आनन्द को ही काव्य का उद्देश्य मानता है। शुक्ल जी व्यक्ति के रागात्मक प्रसार को महत्त्व देते हैं। रिचर्ड्स महत्त्वपूर्ण मनोवृत्तियों में अभिव्यक्ति द्वारा सामंजस्य स्थापित करना ही साहित्य का उद्देश्य मानते हैं। मार्क्सवादी साहित्य पर व्यक्ति की दृष्टि से नहीं अपितु समाज की दृष्टि से विचार करना चाहता है। वह साहित्य को मानव की भौतिक उन्नति का साधन मानता है। इस प्रकार विभिन्न सम्प्रदायों के व्यक्ति साहित्य का विभिन्न दृष्टियों से मूल्यांकन करना चाहते हैं। इसी आधार पर साहित्य-समीक्षा के निम्न लिखित प्रधान सम्प्रदाय माने जा सकते हैं—नीतिवादी, सौष्ठववादी, सौन्दर्यान्वेषी, अभिव्यंजनावादी, प्रभावाभिव्यंजक, मनोवैज्ञानिक, मूल्यवादी और मार्क्सवादी। मूल्य की दृष्टि से समीक्षा के और अनेक प्रकार हो सकते हैं। यहाँ पर केवल कुछ का संकेत भर किया गया है। आगे इसी निबन्ध में इनके सामान्य स्वरूप तथा हिन्दी की दृष्टि से इनकी विशेषताओं का विवेचन किया जायगा। ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि निर्णयात्मक, व्याख्यात्मक, तुलनात्मक, मनोवैज्ञानिक, चरितमूलक आदि शैलियाँ हैं, पर शास्त्रीय, सौष्ठववादी, मार्क्सवादी आदि सम्प्रदाय हैं।

पाश्चात्य विवेचन के अनुसार समीक्षा शास्त्र और कला दोनों हैं। शास्त्र में तथ्यों के विश्लेषण एवं संश्लेषण के द्वारा कतिपय सामान्य नियमों की उद्भावना होती है और उन नियमों को वैज्ञानिक तथा व्यवस्थित रूप प्रदान किया जाता है। शास्त्र के आचार्य वस्तु-जगत् का निरीक्षण करके अपने प्रतिपाद्य शास्त्र के अनुकूल तथ्यों का संग्रह करते हैं तथा विश्लेषण के द्वारा उनको अन्य तथ्यों से पृथक् करते हैं। संश्लेषण, वर्गीकरण तथा सादृश्य और असादृश्य के विवेचन के उपरान्त कुछ सामान्य नियमों का अनुसन्धान करना तथा उनको वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत करना ही उनका कार्य है। इस प्रकार वे कुछ विशिष्ट नियमों से व्यापक नियमों की ओर अग्रसर होते रहते हैं। अन्य शास्त्रों की तरह साहित्य-दर्शन का आचार्य भी विग्रह और अनुमान दोनों प्रकारों से साहित्य के स्वरूप का प्रतिपादन करता है और उसके व्यापक नियमों की ओर अग्रसर होता है। लेकिन साहित्य-समीक्षा केवल इसी रूप तक सीमित नहीं है। यह तो उसका सैद्धान्तिक पक्ष है और इस दृष्टि से

समीक्षा शास्त्र की कोटि में आती है। पर उसका दूसरा रूप है, प्रयोगात्मक। प्रयोगात्मक रूप की दृष्टि से समीक्षा कला है। साहित्य-समीक्षा को दो प्रधान वर्गों में बांट सकते हैं—१. सैद्धांतिक और २. प्रयोगात्मक समीक्षा। पहले प्रकार को साहित्य दर्शन अथवा विशुद्ध आलोचना भी कहते हैं। ये दोनों क्रमशः इसके शास्त्र और कला पक्ष हैं। पहले आलोचना के जिन प्रकारों का निर्देश हुआ है उनका प्रयोगात्मक आलोचनाओं में ही अन्तर्भाव है समीक्षा के इन दोनों पक्षों का परस्पर में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। सिद्धांत प्रयोग के आधारभूत होते हैं तथा प्रयोगों से ही सिद्धांतों का अन्वेषण सम्भव है। इसलिए यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि समीक्षा का कौन सा स्वरूप पूर्ववर्ती है। सैद्धांतिक निरूपण प्रयोगों के विश्लेषण की अपेक्षा रखता है, तथा प्रयोग सैद्धान्तिक आधार की। आधार सूक्ष्म और अव्यक्त भी हो सकता है। लेकिन होता अवश्य है। पश्चिम में समीक्षा के कला अथवा प्रयोगात्मक रूप का अधिक विकास हुआ और भारत में इसके सैद्धांतिक और शास्त्रीय रूप का। भारत में अन्य विद्याओं या शास्त्रों की तरह साहित्य का उद्देश्य भी "धर्मार्थकाममोक्ष" ही माना गया है। इस प्रकार उन्होंने साहित्य-दर्शन को भी अन्य शास्त्रों की कोटि में ही रखा है। आदिकवि की "मा निषाद" की आलोचना में समीक्षा के सैद्धान्तिक एवं प्रयोगात्मक दोनों रूपों का समन्वय है। पर उसका सैद्धांतिक पक्ष अधिक प्रबल और व्यक्त है, यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। संस्कृत-साहित्य में सैद्धांतिक समीक्षा के प्रौढ़ रूप के दर्शन होते हैं, पर प्रयोगात्मक आलोचना का उसमें बहुत कम विकास हुआ है। आगे हम इसके कारणों पर भी विचार करेंगे। हिन्दी में इनके कला और सिद्धांत दोनों पक्षों का विकास हो रहा है। लेकिन किसी भी साहित्य-समीक्षा की प्रगति का महत्त्व प्रयोगात्मक रूपों की अनेकता पर नहीं अपितु सैद्धान्तिक निरूपण एवं साहित्य-सम्बन्धी प्रौढ़ता और व्यापकता पर निर्भर है। आलोचना के प्रयोगात्मक रूप की उपादेयता भी कुछ सामान्य सिद्धांतों के अन्वेषण में ही है। पश्चिम में भी साहित्य के सार्वदेशिक तत्वों के अनुसन्धान की मांग बढ़ती जा रही है। कॉलरिज भी समीक्षा का प्रधान लक्ष्य इन तत्वों की उद्भावना ही मानते हैं। वे कहते हैं :

"The ultimate end of criticism is much more to establish principles of writing than to furnish rules to pass judgement on what has been written by others."

पर उन नियमों के प्रयोग की क्षमता का महत्त्व भी कम नहीं है। इस प्रकार इन दोनों तत्त्वों का समन्वय ही महत्त्वपूर्ण है।

दर्शन और विज्ञान के अन्य बहुत से विषयों की तरह साहित्य-समीक्षा का स्वरूप भी बहुत-कुछ अनिर्वचनीय कहा जा सकता है। इसकी स्वरूप-सम्बन्धी धारणाओं में ऐकमत्य असम्भव-सा है। साहित्य के प्रयोजन, स्वरूप, जगत् से उसके सम्बन्ध आदि धारणाओं की अनेकता समीक्षा को भी अनिर्वचनीयता प्रदान कर देती है। साहित्य के प्रयोजन, स्वरूप आदि की धारणा समीक्षा-सम्प्रदायों की आधार-भूमि है। प्रत्येक सम्प्रदाय में समीक्षा का अपना पृथक् स्वरूप है। इस प्रकार समीक्षा की सम्प्रदायगत कोई भी धारणा सर्वांगीण और सर्वमान्य नहीं है। प्रत्येक सम्प्रदाय अपनी दृष्टि से समीक्षा की परिभाषा देता है। इन सम्प्रदायों के अतिरिक्त समीक्षा के व्यापारों की दृष्टि से भी समीक्षा में स्वरूप-सम्बन्धी भिन्नता है। कुछ लोग समीक्षा का प्रधान लक्ष्य निर्णय मानते हैं और वे अपने लक्ष्य में उसी तत्त्व को प्रधानता देते हैं। 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' समीक्षा को प्रधानतः निर्णय ही मानता है :

"Criticism the art of judging the qualities and values of an aesthetic object whether in literature or the fine arts, it involves the formation and expression of a judgement".

विक्टर ह्यूगो ने भी समीक्षा के लक्ष्य का निर्देश करते हुए यही कहा है: "रचना अच्छी है या बुरी यही समीक्षा-क्षेत्र है।" निर्णय के लिए किसी-न-किसी आधार की अपेक्षा है। निर्णय को ही समीक्षा का प्रधान लक्ष्य मानने वाला आलोचक निश्चित मानदण्ड का उपयोग करता है तथा मूल्य-सम्बन्धी धारणाओं के आधार पर मूल्यांकन करता है। रिचर्ड्स कहते हैं :

"To set up as a critic is to set up as a judge of values .!"

विभिन्न आचार्यों की मूल्य-सम्बन्धी धारणाओं में अंतर हो सकता है और होता है। यह मतभेद और अन्तर ही विभिन्न मूल्यवादी सम्प्रदायों की आधार-भूमि है। इस प्रकार निर्णय और मूल्यांकन को समीक्षा का प्रधान लक्ष्य मानने वाले आचार्य भी समीक्षा के स्वरूप के सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं। मूल्य-सम्बन्धी धारणाओं या मानदण्डों के द्वारा ही समीक्षा का स्वरूप निर्धारित होता है और उसके पारस्परिक अन्तर का भी यही कारण है। अरस्तू से लेकर रिचर्ड्स तक के इतने लम्बे काल के विभिन्न आचार्य इस प्रकार से मूल्यवादी आलोचक कहे जा सकते हैं, पर उन सबकी आलोचना

की स्वरूप-सम्बन्धी धारणाओं में बहुत अन्तर है, कलात्मक सौन्दर्य तथा तज्जनित आह्लाद के प्रभाव को ग्रहण करना तथा उसकी अभिव्यक्ति के द्वारा पाठक के आह्लाद में सहयोग देना ही कुछ आलोचकों की दृष्टि से समीक्षा का चरम लक्ष्य है। वे समीक्षा के तीन कार्यों में से इसी को अधिक महत्त्व देते हैं। प्रभावाभिव्यंजकता की दृष्टि से समीक्षा का यही स्वरूप है। कार्लाइल कहते हैं :

"To have sensations in the presence of a work of art and to express them that is the function of criticism for the impressionistic critic."[1]

प्रभाववादी को कोई वाह्य मानदंड मान्य नहीं है। वह तो समीक्षा को विशुद्ध रूप में वैयक्तिक मानता है :

"Literary Criticism is nothing and should be nothing but the recital of one's personal adventures with a book".[2]

वह तो समीक्षा के इतिहास को भी कला-कृति के अनुशीलन से जाग्रत दिव्य अनुभूति के माधुर्य के प्रति समीक्षक की सहृदयता एवं ग्रहणशीलता के विकास का इतिहास-मात्र मानता है। प्रभाववादी भी केवल सौन्दर्य की अनुभूति से प्रभावित तथा आह्लादित होने में ही समीक्षक के कार्य की सीमा नहीं मानता है. अपितु वह इस दृष्टि से कला के मूल्याङ्कन को भी उसके प्रकृत क्षेत्र की वस्तु ही कहता है। पर यह भी सत्य है कि प्रभाववादी का मूल्याङ्कन केवल ध्वन्यात्मक शैली में ही होता है। उसके द्वारा मूल्यों के निर्देश अभिधेय नहीं अपितु व्यंग्य ही होते हैं। उसकी दृष्टि से मूल्याङ्कन का कार्य तो गौण है, वह समीक्षक का प्रमुख कार्य तो सौन्दर्य से आह्लादित होना तथा उन प्रभावों को कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त करना ही मानता है। कुछ दूसरी प्रकार के आलोचक समीक्षा में व्याख्या को प्रधानता देते हैं। उनका कहना है कि समीक्षक का कार्य केवल वस्तु का विश्लेषण-भर कर देना है। यह अपने प्रभावों का उपयोग कर सकता है, पर केवल विश्लेषण की स्पष्टता एवं मार्मिकता के लिए ही। व्याख्यात्मक आलोचक समीक्षा को भावात्मक शैली में लिखा गया गद्य-काव्य नहीं मानता है। इस शैली को तो वह समीक्षा के अनुपयुक्त ही समझता है। यहीं उसका प्रभाववादी से विरोध है। व्याख्यात्मक आलोचक की दृष्टि से वैयक्तिक प्रभावों का महत्त्व

1. American critical Essays XIX & XX Centuaries.
2. Ibid.

तब तक नहीं है जब तक कि वे समष्टिगत रूप न धारण कर लें और विश्लेषण द्वारा पाठकों के लिए सुबोध न कर दिये जायें। यह आलोचक निर्णयों की घोषणा-मात्र को समीक्षा नहीं कहता है। विश्लेषण में अगर निर्णय भी ध्वनित हो जाय, तो उसे कोई आपत्ति नहीं है। व्याख्यात्मक आलोचना को स्पष्ट करते हुए हडसन कहते हैं :

"If creative literature may be defined as an interpretation of life under the various forms of literary art, critical literature may be defined as an interpretation of that inter pretation and of the forms of art through which it is given."[1]

मूल्यवादी समीक्षक व्याख्या का उपयोग साधन रूप से करता है। वह अपनी मान्यताओं के आधार पर वस्तु का मूल्य आंकता है। पर विशुद्ध व्याख्यात्मक आलोचक तटस्थता का समर्थक है। वस्तु के स्वरूप की जिज्ञासा ही उसको आलोचना-कार्य में प्रवृत्त करती है। मैथ्यू आर्नल्ड आलोचक के लिए तटस्थ होकर श्रेष्ठ वस्तु के स्वरूप की जिज्ञासा तथा उस ज्ञान का प्रचार अनिवार्य मानते हैं। उन्होंने आलोचना की यही परिभाषा मानी है। आलोचना में जिज्ञासा के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए आर्नल्ड कहते हैं :

"But criticism, real criticism is essentially the exercise of this very quality (Curiosity and disinterested love of a free play of mind) it obeys an instinct prompting to try to know the best that is known and thought in the world."[2]

आर्नल्ड की सम्मति में समीक्षा का स्वरूप निम्न है:

"A disinterested endeavour to learn and propagate the best that is known and thought in the world."[3]

साहित्य की समीक्षा में केवल वर्ण्य विषय की उपादेयता तथा उसकी बौद्धिक प्रौढ़ता का विवेचन ही पर्याप्त नहीं है, पर उसके स्वरूप एवं अभिव्यंजना-कौशल का तटस्थ विश्लेषण भी अपेक्षित है। कार्लाइल कहते हैं कि समीक्षक का कार्य यह देखना है कि कवि क्या अभिव्यक्त करना चाहता है और उसे अभिव्यक्ति में कितनी सफलता मिल सकी है। आलोचक का कर्त्तव्य उस वस्तु का अनुसन्धान करना है जिससे अनुप्राणित होकर कवि की रचना पाठक के हृदय को सौन्दर्य की अनुभूति से अभिभूत कर देती है। प्रभाव, व्याख्या तथा मूल्याङ्कन का सामंजस्य ही समीक्षा का वास्तविक

1. Hudson-'An Introduction to the study of literature Page' 261.
2. 'Essay in Criticism' page 16.
3. Ibid. page 38.

एवं समीचीन स्वरूप है। 'डिक्शनरी आफ वर्ल्ड लिटरेचर' ने समीक्षा के लक्षण में इसी समन्वयवादी दृष्टिकोण का आश्रय लिया है। उसमें प्रायः सभी तत्वों का समाहार है। उसमें समीक्षा को "The conscious evaluation or appreciation to a work of art, either according to the critic's personal taste or according to some accepted aesthetic ideas" कहा गया है।

ऊपर काव्य-समीक्षा के जिन स्वरूप एवं जिन तत्वों का निर्देश हुआ है, उनमें विरोध प्रतीत होता है। पर यह केवल प्रतीति-मात्र है। काव्य-समीक्षा की विभिन्न शैलियों तथा सम्प्रदायों में समीक्षा के प्रायः एकांगी रूप का ग्रहण हुआ है। इसी एकांगिता के कारण ही यह विरोध प्रतीत होता है। पर इस आपाततः प्रतीयमान विरोध में सामंजस्य भी स्थापित हो सकता है। और इस समन्वय में ही समीक्षा के सर्वाङ्गीण स्वरूप का विकास अन्तर्हित है। ऊपर 'डिक्शनरी आफ वर्ल्ड लिटरेचर' का जो उद्धरण दिया गया है उसमें इसी समन्वय के दर्शन होते हैं। प्रायः समन्वय को योग संकलन का पर्यायवाची समझ लेते हैं। सब तत्वों को मिलाकर एक स्थान पर रख देने भर से समन्वय नहीं होता है। इसके लिए एक ऐसे सामान्य धरातल अथवा धारणा के निर्माण की आवश्यकता है जिसके अनुरूप वस्तुओं का संग्रह एवं त्याग किया जा सके। आपाततः विरुद्ध प्रतीत होने वाली वस्तुओं को अविकल रूप से ग्रहण करके संकलन करने से समन्वय स्थापित नहीं हो सकता। उनके कुछ अंगों का परिमार्जन या परिष्कार भी अपेक्षित है। समीक्षा में भी समन्वय की यही प्रक्रिया सफल हो सकती है। संग्रह, त्याग अथवा परिष्कार के लिए एक व्यापक दार्शनिक आधार अपेक्षित है। साहित्य-दर्शन एवं जीवन-दर्शन की निश्चित धारणा के अभाव में समीक्षा का स्वरूप भी अनिश्चित रहता है। उसमें वैयक्तिक पूर्वाग्रहों के अस्वस्थ स्वरूप को प्रोत्साहन मिलने की आशंका प्रबल हो उठती है। निरपेक्षतावाद और सापेक्षतावाद दोनों का समन्वय ही समीक्षा के स्वरूप का विकास कर सकता है। समीक्षा का स्थूल, जड़ एवं केवल वस्तुतन्त्रात्मक निरपेक्षतावादी दृष्टिकोण साहित्य के स्वतन्त्र विकास में बाधक होता है, पर सापेक्षतावाद को नितान्त वैयक्तिक एवं साहित्य के सब प्रकार के नियमों, मान-मूल्यों तथा मर्यादाओं से पूर्णतः मुक्त के अर्थ में ग्रहण करने से साहित्य के निरुद्देश्य तथा जीवन-धारा से विच्छिन्न होकर केवल प्रलाप अथवा उन्मुक्त विलाप का प्रतीक-मात्र हो जाने की आशंका रहती है। साहित्य के स्वाभाविक एवं स्वस्थ विकास में ये दोनों अतिवादी दृष्टिकोण बाधक हैं।

सौन्दर्याङ्कन के स्वरूप एवं मान-मूल्यों का निर्माण स्वस्थ जीवन-दर्शन पर आश्रित है। समीक्षक और साहित्यकार को अपना जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण, जीवन का आदर्श तथा साहित्य का उससे सम्बन्ध अत्यन्त स्पष्ट हो जाना चाहिए तभी तो वह किसी साहित्य की उपादेयता अथवा अनुपादेयता का मूल्यांकन कर सकेगा। जीवन के प्रति सचाई एवं जीवन के भावी निर्माण के लिए प्रेरणा, साहित्य-समीक्षा के ये दो ही तो प्रधान आधार स्तम्भ हैं। व्यक्ति और समाज के समन्वित योग-क्षेम तथा भावी विकास की दृष्टि से ही तो साहित्य का मूल्यांकन सम्भव है। जीवन-दर्शन तथा साहित्य-दर्शन के इस व्यापक आधार के अतिरिक्त समीक्षा का कार्य साहित्य की मूल प्रकृति से अवगत होना भी है। उसे यह भी बताना है कि आलोच्य रचना साहित्य या कलाकृति ही है, अन्य कुछ नहीं। समीक्षक का अर्थ यह देखना भी है कि कहीं कला अपनी उपयोगिता के लोभ में कला के प्रकृत क्षेत्र के बाहर तो नहीं चली गई है। कहने का तात्पर्य यह है कि उसे इस बात का पूरा ध्यान रखना है कि वह साहित्य का मूल्याङ्कन कर रहा है, दर्शन या विज्ञान का नहीं। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि समीक्षक भाव और अभिव्यंजना के विशुद्ध दृष्टिकोण से भी विचार करे। वह सौन्दर्य एवं राग-तत्त्व का मूल्यांकन भी करे जिसके कारण कोई रचना साहित्य है। जीवन-सम्बन्धी धारणा तथा सांस्कृतिक आधार की प्रौढ़ता के साथ ही समीक्षक को इसका विश्लेषण भी करना है कि इन आधारों के उपयोग एवं अभिव्यंजना में कला-कृति को कितनी सफलता प्राप्त हुई है ? साहित्यकार पाठक के हृदय को द्रवित करके व्यक्तिगत रूप में उसका कितना परिष्कार कर सका है ? व्यक्ति और समाज को जीवन के विशाल एवं उदार दृष्टिकोण को अपनाने के लिए कितना प्रेरित कर सका है ? यह प्रेरणा सौन्दर्य-जनित संवेदना और भावात्मकता के माध्यम से ही आई है न, कहीं केवल बौद्धिक तो नहीं हो गई है ? बुद्धि और हृदय का पूर्ण सामंजस्य है या नहीं ? इनमें से किसी एक का अनुचित प्राधान्य तो नहीं है, जो साहित्य की मूल प्रकृति के ही विरुद्ध हो। समीक्षक को साहित्य के वर्ण्य-विषय, जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण, उसकी संवेदनशीलता, व्यक्ति और समाज के लिए प्रेरणा प्रदान करने की क्षमता तथा अभिव्यंजना-कौशल की दृष्टि से तो प्रधान रूप से विचार करना ही है, इसके अतिरिक्त उसको कला के उपकरणों पर भी विचार करना है। कला का सबसे बड़ा प्रधान उपकरण कलाकार का व्यक्तित्व होता है। अन्य सारे उपकरण उसी माध्यम से प्राप्त होते हैं। उन पर कलाकार के व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप भी होती है। कलाकार जो कुछ बाहर से ग्रहण करता

है उसको अपने व्यक्तित्व के सांचे में ढालकर ही कला में उसका उपयोग कर सकता है। पर कलाकार का व्यक्तित्व भी उसी सीमा तक कलोपयोगी है, जहाँ तक यह मानव के व्यक्तित्व के सामंजस्य में है, इसके अतिरिक्त नहीं। कलाकार का व्यक्तित्व देश-काल के प्रभाव से निरपेक्ष नहीं रह सकता है, इसलिए कला और कलाकार के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में देश-काल का विवेचन भी अपेक्षित है। समीक्षक का कार्य काव्य-उपकरणों पर भी इसी समन्वयवादी दृष्टिकोण से विचार करना है। ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि समीक्षक का दृष्टिकोण अत्यन्त उदार और व्यापक होना चाहिए। उसे साहित्य की श्रेष्ठता का प्रतिपादन तो साहित्यकार की जीवन-कल्पना की विराट्ता तथा मानव के स्वस्थ एवं सर्वाङ्गीण विकास के लिए कलात्मक प्रेरणा की प्रौढ़ता की दृष्टि से ही करना है। वह साहित्यकार की चिरन्तनता और उपादेयता को इसी मानदंड पर आंक सकता है। पर साथ ही उसे साहित्य की मूल प्रकृति, उसके तत्त्व--भावात्मक सौन्दर्य तथा उसकी अभिव्यक्ति की भी उपेक्षा नहीं करनी है। जीवन की विराट् कल्पना में अपना एक सौन्दर्य है। इसे तो कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता है। पर कलाकार का कार्य जीवन का बौद्धिक विश्लेषण नहीं अपितु रागात्मक, अनुभूतिमय एवं सौन्दर्यमूलक अभिव्यंजना है, यह भी समीक्षक को नहीं भूलना है। उसे साहित्य का इसी दृष्टि से मूल्यांकन करना है। प्रौढ़ जीवन-दर्शन, साहित्य-दर्शन एवं उनके स्वस्थ सम्बन्ध के साथ कला के उपकरणों एवं अभिव्यंजना-कौशल के समन्वय से ही समीक्षा की वैज्ञानिक पद्धति का निर्माण और विकास संभव है। साहित्य का क्षेत्र वैयक्तिक अभावों और संवेदनात्मक अनुभूति का क्षेत्र है, इसलिए उसका साक्षात्कार भी अनुभूति के माध्यम से ही किया और कराया जा सकता है, केवल बुद्धि से नहीं। इसलिए प्रभावाभिव्यंजना, अनुभूतिव्यंजक शैली एवं भावात्मकता भी समीक्षा के अनिवार्य तत्त्व हैं। इस प्रकार की समीक्षा में विज्ञान और कला का भी समन्वय हो जाता है। समीक्षा-शास्त्र की पूर्ण वैज्ञानिकता इसी समन्वय में अन्तर्हित है। इसी मूल आधार पर समीक्षा अन्य शास्त्रों और कलाओं के समक्ष अपने पृथक् एवं महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व की उद्घोषणा कर सकती है।

वस्तु को उसके सम्पूर्ण रूप में विधिपूर्वक सम्यक् प्रकार से देखना ही समीक्षा है और यह उपर्युक्त समन्वयवादी दृष्टिकोण से ही संभव है। इसीसे आलोचक कविता की उस जीवन-शक्ति का उद्घाटन कर सकता है, जिससे अनुप्राणित होकर वह रचना कविता होती है तथा अन्य कविताओं से अपना

पृथक् एवं सार्थक अस्तित्व सिद्ध करने में सफल होती है। कविता इसीसे अनुप्राणित होकर व्यक्ति और समाज को विकास की प्रेरणा कर सकती है। समीक्षक के लिए जीवन और साहित्य-दर्शन के प्रौढ़ ज्ञान और स्वस्थ धारणा के साथ ही कवि से पूर्ण तादात्म्य स्थापित करने की भी आवश्यकता है।

कवि का कार्य अपने भावन की सफल एवं सुन्दर अभिव्यंजना करना है तथा समालोचक का कवि-सृष्टि के प्रति अपने भावन का सफल विवेचन। यही इन दोनों में अन्तर है। कवि-सृष्टि के प्रति समीक्षक का भावन जितना ही यथार्थ होता है, उतना ही यह समीक्षक प्रौढ़ कहा जा सकता है। साधारण पाठक एवं समालोचक में केवल थोड़ा-सा अन्तर है। साधारण पाठक में भावन-शक्ति अविकसित होती है। वह अपने भावन द्वारा केवल थोड़ा आस्वाद भर कर पाता है, विवेचन नहीं। साधारण पाठक की अपेक्षा अधिक प्रौढ़, सहृदय तथा अपने भावन के विश्लेषण की क्षमता वाला पाठक ही समालोचक होता है। समीक्षक का कार्य कवि की संवेदनीयता की गूढ़ता को स्पष्ट कर देना है, जिससे वह साधारण पाठक के लिए भी पूर्णतः भावित हो सके। कार्लाइल समीक्षा को अंशतः भावित व्यक्ति के लिए पूर्ण भावित की व्याख्या मानता है। साधारण पाठक को काव्य के स्थूल एवं बाह्य सौन्दर्य का अस्पष्ट आभास-सा मिलता है, और समीक्षा उसीको विशद कर देती है।[1] हडसन इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं :

"If a great poet makes us partakers of his larger sense of the meaning of life; a great critic may make us partakers of his larger sence of the meaning of literature."[2]

कैजामिया इसीको और भी स्पष्ट शब्दों में कहते हैं :

"To criticise a work is to understand and to interpret as fully as possible, the urge of energy that produced it, to live again the stages of its development and partake of the impulses and intentions with which it is still pregnant".[3]

समीक्षक का कार्य कवि के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करके कला को अनुप्राणक शक्ति, भावात्मक सौन्दर्य एवं अभिव्यंजना-कौशल का रसास्वाद करना तथा उसकी गूढ़ता को स्पष्ट करना है। कैजामिया और हडसन के कथनों का

1. J. E. Spingarn,- 'The new criticism.'
2. Hudson-'An Introduction to the study of literature' P. 266.
3. 'The Dictionary of world Literature' Page 136..

भी यही तात्पर्य है। ऊपर जिस व्यापक समन्वय की बात कही गई है वह तो समीक्षा का आदर्श रूप है, पर साहित्य के भावन के स्थूल-से-स्थूल तथा सूक्ष्म-से-सूक्ष्म सभी रूपों का समीक्षा में ही अन्तर्भाव है। काव्य को समझने-समझाने का सामान्य-से-सामान्य प्रयत्न भी समीक्षा ही है। इसमें समीक्षा के सैद्धान्तिक एवं प्रयोगात्मक दोनों ही रूपों का अन्तर्भाव है। प्रस्तुत निबन्ध में समीक्षा शब्द के इसी व्यापक अर्थ का ग्रहण हुआ है।

समीक्षा की अनेकरूपता और असीनता इसीसे सिद्ध है कि समीक्षकों की शैली और प्रयोजन एक दूसरे से नितान्त भिन्न है। समीक्षा की कोई भी ऐसी पद्धति नहीं है जो सर्वमान्य कही जा सके। किसी भी समीक्षा-सम्प्रदाय के सिद्धान्त इतने परिपूर्ण एवं अकाट्य नहीं हैं जिससे दूसरे सम्प्रदायों के सिद्धान्त उपेक्षणीय माने जा सकें। इससे भी समन्वय का महत्त्व स्पष्ट है। वैषम्य की कुछ विरोधी कोटियों का विवेचन किया जा सकता है। एक ओर आदर्शनात्मक, शास्त्रीय व्यवस्थित एवं वस्तुत्मक आलोचना की कोटि है तथा दूसरी ओर आत्मप्रधान, वैयक्तिक प्रभावाभिव्यंजक एवं मुक्त आलोचना की। विशुद्ध आनन्द और उपयोगिता काव्य-प्रयोजन की दो कोटियाँ है। अभिव्यंजना-शैली तथा अभिव्यक्त वस्तु की दृष्टि से आलोचना की दो अतिवादी कोटियों की कल्पना की जा सकती है। इस प्रकार कुछ सामान्य एवं व्यापक कोटियों की उद्भावना की जा सकती है। लेकिन समीक्षा का प्रकृत स्वरूप इन तत्त्वों की निरपेक्षता में नहीं है। व्यवहार में ये सब सापेक्षिक रूप में ही उपयोगी है। कोई समालोचना पूर्णतः निरपेक्ष रूप में न आदर्शनात्मक हो सकती है और न पूर्णतः आत्मप्रधान। पर प्रत्येक आलोचक की आलोचना इन्हीं कोटियों के बीच की रेखा पर कहीं अवस्थित रहती है। जो इन सबके मध्यम मार्ग को इनके समन्वित रूप को अपनाती है, वही आलोचना अधिक प्रकृत कही जा सकती है। समालोचक में बहुत से गुण आवश्यक है। पर उसका सबसे बड़ा गुण-सहृदयता है। भारतीय आचार्य सहृदयता को "तन्मयीभवनयोग्यता" कहता है। काव्य-सृजन के लिए जैसे शक्ति, निपुणता और अभ्यास का समन्वय अपेक्षित है, उसी तरह काव्य के भावन के लिए भी समीक्षक के लिए प्रतिभा, शास्त्रज्ञता, जीवन की गम्भीर अनुभूति एवं सूक्ष्म विश्लेषण-क्षमता अनिवार्य है। इनके अभाव में वह सफल समीक्षक नहीं माना जा सकता है। अभ्यास और निपुणता समीक्षक की प्रतिभा एवं सहृदयता के संस्कार है। जीवन तथा काव्य की भावन-क्षमता एवं सहृदयता के विकास की अवस्था ही समीक्षा की प्रौढ़ता का मान-दंड है। समीक्षक, जाति तथा देश की समीक्षा के विकास का अध्ययन इसी

: २ :

संस्कृत-साहित्य में समीक्षा का स्वरूप

भारतीय साहित्य की प्रायः सभी शाखाओं, ग्रन्थों, कलाकारों और शास्त्र-विदों की भाँति समीक्षा-शास्त्र और उसके प्रणेताओं के समय के सम्बन्ध में भी ऐतिहासिकों का मतैक्य नहीं है। कतिपय विद्वानों की प्रवृत्ति है कि वे प्रत्येक विद्या का, प्रत्येक शास्त्र का आदि-स्रोत वेद को ही मानते हैं। उन्होंने अलंकार-शास्त्र को भी ईश्वर-प्रणीत माना है। राजशेखर-जैसे प्राचीन विद्वानों ने काव्य-शास्त्र की उत्पत्ति भी ईश्वर से ही मानी है।[1] भरत-प्रणीत 'नाट्य-शास्त्र' को पञ्चम वेद कहने का तात्पर्य ही उसको अपौरुषेय मानना है। परन्तु, यह भी इस प्राचीनता के उग्र प्रेमियों की बात रही जो यह नहीं मानना चाहते कि वेदों के उत्तर काल में भी मानव ज्ञान-क्षेत्र में विकास करता रहा है और उसने नवीन शास्त्रों के ज्ञान की नवीन धाराओं का अन्वेषण किया है। यह मानना भी समीचीन नहीं है कि वैदिक काल में समालोचना या समीक्षा-शास्त्र और रस के विकसित स्वरूप के दर्शन होते हैं, यह केवल अत्युक्ति मात्र है। पर इतना तो सभी को स्वीकार करना पड़ता है कि वैदिक काल के ऋषियों में भी सौन्दर्य समीक्षा की प्रवृत्ति का सूक्ष्म रूप अवश्य था। वेदों की ऋचाओं में सुन्दर उक्तियों और अलंकारों का अत्यधिक प्रयोग है। इससे ऋषियों का सौन्दर्य-प्रेम स्पष्ट है। 'रसो वै सः' में रस का विकसित रूप मानना भी उचित नहीं, पर यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि काव्य के समीक्षकों को रस का स्वरूप निश्चित करने में उपनिषद् के इस महा वाक्य से प्रेरणा मिली है। आज भी ऐसे काव्य रस के स्वरूप के लिए प्रामाणिक है। कुप्पुस्वामी ने माना है कि ऋग्वेद के मन्त्र-द्रष्टा में समालोचक का स्वरूप है।[2]

---

1. Dr. S. K. Dey--'History of Sanskrit poetics' Vol. II Page 367.
   Dr. Sankaran.-'Some aspects of literary criticism in Sanskrit.'
2. The oldest phase of literary criticism may be traced back to the Rigveda. It is not meant to suggest that the Rigveda bard was concious of his position as critic, yet it is quite possible the bards were quite also critics without being concious of it.

अपनी पुस्तक 'The highways and By-ways of criticism in Sanskrit' में उन्होंने अपना यह मत प्रतिपादित किया है। वे अपने मत की पुष्टि में ऋग्वेद की एक ऋचा उद्धृत करते हैं। उस ऋचा में कवि समीक्षक की प्रशंसा कर रहे हैं।[1] शंकरन ने इसी ऋचा को उद्धृत करके उसके द्वारा यह सिद्ध किया है कि उस काल के मन्त्र-द्रष्टाओं को भी काव्य के बाह्य और आभ्यन्तर भेदों का ज्ञान था। उन्हें आभ्यन्तर की उत्कृष्टता भी मान्य थी।[2] इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि वैदिक ऋषियों में भी संस्कृत समालोचक का एक स्वरूप उपलब्ध होता है। ये केवल सौन्दर्य-प्रेमी ही नहीं थे, अपितु उसकी आलोचना करने की प्रवृत्ति भी उनमें थी। प्रायः उस काल का ऋषि अपने आलोचक स्वरूप को स्वयं नहीं पहचान पाता था। पर अनेक स्थानों पर उसने अपने आलोचक स्वरूप के ज्ञान का पर्याप्त प्रमाण भी दिया है। डॉ० शंकरन द्वारा उद्धृत ऋचा का ऋषि अज्ञात रूप से आलोचना नहीं कर रहा है उसे अपने इस स्वरूप का ज्ञान है। काव्य के बाह्य तथा आभ्यन्तर भेद के तुलनात्मक महत्त्व की बात करना, स्पष्टतः ही आकस्मिक समीक्षा नहीं है। इसमें ऋषि कवि और समीक्षक दोनों हैं।

आदिकवि वाल्मीकि में आलोचक का स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट है। उन्होंने स्वयं अपने प्रथम श्लोक 'मा निषाद' की आलोचना की है।[3] उनकी इस आलोचना में साहित्य-शास्त्र का वह महान् सिद्धान्त निहित है जो केवल पूर्वी नहीं अपितु पश्चिमी विद्वानों को भी अब मान्य हो गया है।[4] पश्चिम का विद्वान् अभी इस महान् सिद्धान्त का स्पष्ट दर्शन नहीं कर पाया है। भविष्य में उसे इसी सिद्धान्त को काव्य का मूलभूत मानना पड़ेगा, इसके लक्षण अभी

---

1. Poesy reveals herself to whom who understands. It is not critic that praises the poet here but the poet praises the critic.

   उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
   उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्यु उशती सुवासः॥

2. The verse उतत्वः etc. by denouncing the person that sees only the externals in poetry and praising the learned to whom alone the beauty of the inner sence is revealed, appears to value highly poetic content not its form.—'The theories of Rasa and Dhvani'.

३. पादबद्धः अक्षरसमः तन्त्रीलय समन्वितः।
   शोकार्त्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा॥

4. 'Vide The Principles of critism' by Abercrombie.

से दिखाई दे रहे हैं। भारतीय समीक्षा-पद्धति का तो यह सिद्धान्त प्राण ही है। आदिकवि ने जिस सत्य का दर्शन किया है उसीको परवर्ती आचार्यों ने 'ध्वनि' के नाम से पुकारा है। उसीमें रस, वस्तु और अलंकार का समावेश भी हो जाता है। कवि के इन वाक्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुभूति ही भाषा का रूप धारण करने पर काव्य कहलाती है। कवि अपनी ही मार्मिक और हृदयस्पर्शी अनुभूति को भाषा के माध्यम से अभिव्यंजित करता है। अथवा अनुभूति स्वयं अभिव्यक्ति में परिणत हो जाती है। वस्तु के साथ कवि-हृदय का जितना तादात्म्य होता है उतना ही सौन्दर्य और हृदय-स्पर्शिता उसकी कविता में आ जाते हैं। अनुभूति की तीव्रता स्वयं भाव को अभिव्यक्त करने के लिए श्लोक बन जाती है।

व्यवस्थित रूप से अलंकार-शास्त्र का प्रणयन कब प्रारम्भ हुआ यह कहना कठिन है। दासगुप्ता ने अपनी 'काव्य-विचार' नामक पुस्तक में यह माना है कि भारतीय साहित्य में अलंकार-शास्त्र अन्य शास्त्रों की अपेक्षा अर्वाचीन है।[१] गर्ग मुनि के द्वारा की गई उपमा की व्याख्या प्राचीनतम है। स्वयं यास्क ऋषि ने उपमा की परिभाषा दी है और उसके स्थूल भेदों पर विचार किया है।[२] उपमा तथा उसके भेदों की उक्त व्यवस्था यद्यपि अत्यन्त प्राचीन है और इनके पूर्व का कोई दूसरा उदाहरण भी उपलब्ध नहीं है, तथापि उपमा का यह विवेचन प्रौढ़ कहा जा सकता है। इसमें जिन तत्त्वों का विश्लेषण और विवेचन हुआ है, आज भी आचार्यों को यह मान्य हैं। इस व्याख्या की प्रौढ़ता इस बात का निर्देश करती है कि इनसे पहले भी इन विषयों पर किसी-न-किसी रूप में चिन्तन अवश्य हुआ है। यह उस चिन्तन का कुछ विकसित रूप है जो लिपि-बद्ध हुआ है। पाणिनि ने उपमा, उपमिता, सामान्या आदि शब्दों का प्रयोग किया है। कौटिल्य ने सुन्दर रचना की विशेषताओं का उल्लेख किया है। जूनागढ़ में प्राप्त एक शिला-लेख में काव्य-भेद और काव्य-

१. आमादेर देशेर अलंकारशास्त्रेकेर अपेक्षाकृत आधुनिक बोली पाई मनें करा जाइते ऋग्वेद प्रभृति संहिता ग्रन्थे ब्रहाण आरण्यक वा उपनिषदादि ते श्रौत सूत्र वा धर्मसूत्र आदि ते अलंकार-शास्त्रेर वर्णित विषयेर विशेषकोनो उल्लेख पावा जाय ना। 'काव्य-विचार' पृष्ठ १।

२. यास्केर निरुक्तेर मध्ये उपमार किंचिन्मात्र उल्लेख पावा जाय। तिनी भूतोपमा रूपोपमा, सिद्धोपमा, लुप्तोपमा वा अर्थोपमा उल्लेख करयाछेन तिनी प्रसंग क्रमेगार्गेर उपमा लक्षणेर और उल्लेख करियाछेन। 'वही'।

गुणों का उल्लेख है।[1]

भरत मुनि से तो भारतीय अलङ्कार-शास्त्र की निश्चित परम्परा प्रारंभ हो जाती है। भरत से लेकर पंडितराज तक व्यवस्थित रूप से साहित्य-शास्त्र के विभिन्न पक्षों का, तत्सम्बन्धी विभिन्न प्रश्नों का विशद विवेचन हुआ है। आलोचना और प्रत्यालोचना के फलस्वरूप कई काव्य-सम्प्रदायों का जन्म हुआ और साहित्य-शास्त्र के इतिहास के विभिन्न समयों में विभिन्न सम्प्रदायों का प्राधान्य रहा। प्रत्येक सम्प्रदाय अपनी प्रमुखता का प्रयत्न करता रहा। अन्त में इन सभी सम्प्रदायों में समन्वय भी स्थापित हुआ। डा० सुशीलकुमार दे ने मम्मट आदि आचार्यों को उसी सामंजस्यवादी सम्प्रदाय के प्रमुख व्यक्ति माना है।[2] इस समन्वय के तत्व आनन्दवर्धन के 'ध्वनि-सिद्धान्त' में ही निहित थे, पर इन तत्वों का विकास अभिनव गुप्त, मम्मट प्रभृति आचार्यों द्वारा हुआ। समन्वय के पथ पर अग्रसर यह विकास पंडितराज में अपनी पूर्णता को पहुंच गया था। यह तो उस परम्परा की बात हुई जो आलंकारिकों के ग्रन्थों में अक्षुण्ण है। लेकिन भरत मुनि के पहले भी अलंकार-शास्त्र के आचार्य हुए हैं। ऐसे प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं।[3] अगर सौन्दर्य-शास्त्र के दिव्य उद्‌भव के सिद्धान्त की बात छोड़ दें तो भरत के 'नाट्य शास्त्र' की प्रौढ़ता ही उसके पूर्व की परम्परा का पर्याप्त प्रमाण है। वैसे स्वयं भरत ने भी अन्य आचार्यों के अस्तित्व का निर्देश किया है। उनके 'अन्य अन्येत ' शब्दों से यह सिद्ध है।[4] भरत ने तुण्ड को अपना उपदेशक कहा है। राजशेखर ने भरत के पूर्ववर्ती अथवा समकालीन आचार्यों का उल्लेख किया है।[5] वात्स्यायन के 'काम-सूत्र' में भी कुचमार और 'सुवर्णनाम' नामक दो आचार्यों का उल्लेख है।

---

1. One inscription belonging to 150 A. C. makes a reference to some poetic excellences and incidently alludes to the division of poetry into Gadya and Padya. Some of the inscriptions employ some of the poetic devices like a literation in such profusion and such mastery that one is forced to conclude that the signs of Sanskrit poetics have made large studies before they were executed "S.S. Sukthankar ; KavyaPrakash introduction."
2. Dr. Dey ; The history of Sanskrit poetics Vol. II Ch. VI.
३. ड० दे—'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स' दूसरा भाग पृष्ठ १।
४. श्री कन्हैयालाल पोद्दार—'संस्कृत साहित्य का इतिहास' प्रथम भाग पृष्ठ २६।
५. श्री राजशेखर—'काव्य मीमांसा' प्रथम अध्याय।

भरत के 'नाट्य-शास्त्र' में काव्य सामान्य पर केवल एक ही अध्याय है। कुछ विद्वानों का यह कहना कि उक्त ग्रन्थ में काव्य सामान्य पर कोई विचार प्रकट नहीं किये गए हैं, भ्रम-मात्र है। अलंकार, गुण, दोष, लक्षण आदि के विवेचन से यह स्पष्ट है कि इनका सम्बन्ध केवल नाट्य मात्र से नहीं अपितु काव्य सामान्य से भी आचार्य को अभिप्रेत है।[1] अत्यन्त प्राचीन काल से भारतीय साहित्य में दृश्य और और श्रव्य का भेद मान्य रहा है। पाणिनी ने नाट्य सूत्रों का उल्लेख किया है, पर अलंकार-शास्त्र का नहीं। बहुत दिनों तक ये पृथक्-पृथक् ही रहे। ये साहित्य के दो पृथक् विषय ही रहे हैं। 'नाट्य-शास्त्र' अपेक्षाकृत प्राचीन कहा जाता है। भरत के पहले दृश्य और श्रव्य का भेद कितना मान्य रहा है, यह कहना कठिन है। भामह के समय में तो यह भेद अत्यन्त स्पष्ट हो गया था। पहले काव्य सामान्य का निरूपण नाट्य के साथ ही होता रहा होगा, पर भामह के समय में स्पष्टतः ही पृथक् रचना प्रारम्भ हो गई थी। अगर 'अग्नि पुराण' भामह के पूर्व का न भी माना जाय तो भामह का 'काव्यालंकार' ही काव्य-शास्त्र का प्रथम ग्रन्थ माना जायगा। 'अग्नि पुराण' के काल-निर्णय के संबंध में ऐतिहासिकों का मतैक्य नहीं है। हम स्थानाभाव और विषयान्तर होने के कारण इस विषय पर यहाँ विचार नहीं कर रहे हैं। दृश्य और श्रव्य पर पृथक् रचना की परम्परा भी बहुत दिनों तक चलती रही। यही कारण है कि भामह, दण्डी आदि आचार्यों ने दृश्य पर विचार नहीं किया है। परवर्ती काल में अलंकार-शास्त्र में नाट्य पर भी विवेचन किया जाने लगा। हेमचन्द्र और विश्वनाथ के समय में ही यह प्रथा प्रारम्भ हुई प्रतीत होती है।[2]

'अलंकार-शास्त्र' में काव्य सामान्य का स्वरूप, परिभाषा, प्रयोजन, हेतु, भेद, रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, गुण, दोष, लक्षण, पाक, शय्या आदि अनेकों विषयों पर विशद विवेचन हुआ है। प्रत्येक ग्रन्थ में अपने सम्प्रदाय का विशेष तथा अन्य प्रायः सभी विषयों का गौण रूप से विचार हुआ है। कुछ ग्रन्थों में इन सभी तथा कुछ में कतिपय विषयों पर विवेचन हुआ है। दृश्य-काव्य के निरूपण के लिए पृथक् ग्रन्थ की रचना होती रही है, यह हम पहले ही कह चुके हैं।[3]

---

१. डा० दे—'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स' दूसरा भाग पृष्ठ १।

२. 'वही' पृष्ठ ३।

३. किस ग्रन्थ में कौन-कौन से विषयों का अध्ययन हुआ है, इसके लिए सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' भी द्रष्टव्य है।

व्याकरण के अनुसार कवि की कृति ही काव्य है। कवि शब्द में अर्थ की की व्यापकता और गौरव है। कवि मनीषी और ब्रह्मा का पर्यायवाची है।[1] कवि को ब्रह्मा कहा गया है।[2] कवि शब्द के अर्थ की यह व्यापकता और गौरव पुराण-काल तक चलते रहे। पुराण-काल में काव्य की परिभाषा देने की प्रवृत्ति जागृत हो गई थी। काव्य को अन्य शास्त्रों से पृथक् करके देखा जाने लगा था। कवि शब्द-शास्त्र से भिन्न काव्य में सम्बद्ध होकर कुछ संकुचित अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। अब मनु-पाराशर आदि को कवि नहीं कहा जा सकता था। काव्य-प्रणेता के रूप में वाल्मीकि के लिए ही प्रथम बार कवि शब्द का प्रयोग हुआ। अर्थ-संकोच होते हुए भी उसका गौरव अक्षुण्ण बना रहा। कवि की तुलना तो ब्रह्मा से ही होती रही। वह अपनी सृष्टि का स्वयं नियामक माना जाता रहा। कवि शब्द की अर्थ-व्यापकता राजशेखर के समय तक चलती रही। इसीलिए उन्हें कवि के तीन भेद करने पड़े।[3] काव्य के गौरव और अलौकिक प्रतिष्ठा का बीज कवि शब्द में निहित है। कवि और ब्रह्मा को समतुल्य मानकर संस्कृत-समीक्षकों ने काव्य का सम्मान खूब बढ़ा दिया है।

भरत मुनि के 'नाट्य-शास्त्र' में स्पष्टतः काव्य की परिभाषा देने का प्रयत्न नहीं किया गया है। यह भरत मुनि के ग्रन्थ के प्रकृत क्षेत्र से बाहर भी था। कतिपय विद्वानों का यह मत कि मुनि ने दृश्य काव्य पर विचार करते हुए प्रसंगवश काव्य सामान्य के लक्षणों का निर्देश कर दिया है, बिलकुल समीचीन प्रतीत होता है। पात्र जिन उक्तियों का प्रयोग करता है, अभिनेता प्रेक्षकों के समक्ष जो कुछ बोलता है, वह सब एक प्रकार से श्रव्य-काव्य भी कहा जा सकता है। इसे ही हम काव्य का सामान्य रूप कहते हैं। श्रव्य और दृश्य दोनों भेदों की बात करने के कारण भी मुनि को काव्य के सामान्य स्वरूप के यत्-किंचित् परिचय की आवश्यकता थी ही। एक स्थान पर उन्होंने काव्य के गुण, रस, दोष-राहित्य, पदों का लालित्य और मृदुत्व, शब्दार्थ की सरलता आदि कतिपय विशेषताओं का उल्लेख किया है। इनसे काव्य में प्रौढ़ता आ जाती है। यह भी भरत मुनि को मान्य है।[4] यहाँ पर यह तो स्पष्ट है कि ग्रन्थकार का

१. कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः। 'शुक्ल यजुर्वेदीय संहिता'।
२. तेने ब्रह्महृदाय आदि कवये। 'श्रीमद्भागवत पुराण' प्रथम श्लोक।
३. 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स' दूसरा भाग पृष्ठ ३६६-७०
४. मृदुललितपदाढ्यं गूढ़ शब्दार्थहीन, जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
बहुकृतरसमार्गं सन्धि सन्धानयुक्तं स भवति शुभकाव्यं नाटक प्रेक्षकाणाम्।
'नाट्य-शास्त्र' १६।१।२ ॥

मुख्य अभिप्राय नाटक से ही है। यह उनके 'नाटक प्रेक्षकणाम्' से अत्यन्त ही स्पष्ट है, 'जनपद सुखबोध्यं' आदि पद भी इसे स्पष्ट करते हैं। लेकिन 'दृश्य-काव्य' के साथ ही उन्होंने काव्य-सामान्य के स्वरूप का निर्देश कर दिया है। यह मानना भी क्लिष्ट कल्पना नहीं है। 'नाट्य-शास्त्र' में काव्य के छत्तीस आभूषण माने हैं। उनसे विभूषित हुआ काव्य सहृदय व्यक्तियों के द्वारा श्लाघनीय है। 'लक्षण' नामक काव्य-तत्व का सम्बन्ध तो भरत ने भी काव्य सामान्य से ही स्थापित किया है। (इसको बहुत से आचार्यो ने नाटक से सम्बद्ध तत्व भी माना है)। काव्य सामान्य के स्वरूप-निर्देश तथा उसके ३६ गुण मानने का उल्लेख डा० राघवन ने भी किया है।[1] पं० रामदहिन मिश्र ने भी अपने 'काव्यालोक' द्वितीय उद्योत की भूमिका में वह श्लोक उद्धृत किया है जिसमें भरत द्वारा काव्य सामान्य पर विचार होने की बात कही गई है।[2] प्रतिपक्षी का तर्क है कि 'यथारस' के द्वारा भरत ने इस श्लोक का सीधा सम्बन्ध नाटक से कर दिया है। रस का सम्बन्ध काव्य सामान्य से करने का श्रेय ध्वनि-कार को ही है, यह कतिपय विद्वानों का मत है।[3] इसमें कोई सन्देह नहीं कि काव्य में रस को जो महत्त्व भारतीय साहित्य में मिला है, उसका बहुत कुछ श्रेय आनन्दवर्द्धन को ही है। पर भामह, दंडी आदि ने भी रस-तत्त्व को स्वीकार किया है, इसका विवेचन हम इसी अध्याय में आगे करेंगे। ध्वनिकार के पूर्व 'ध्वनि' (जिसमें रस निहित है) काव्य की आत्मा मानी जा चुकी थी, यह तो स्वयं आनन्दवर्द्धन भी स्वीकार करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि भरत द्वारा जिन लक्षणों का निर्देश हुआ है उन्हें काव्य-सामान्य का स्वरूप मानना असमीचीन नहीं है। भरत को उस श्लोक द्वारा काव्य का स्वरूप निर्देश अभिप्रेत हो या नहीं, लेकिन उस काल में भी काव्य-सामान्य के सम्बन्ध में एक धारणा अवश्य थी और उससे भरत भी परिचित थे, इसके लिए उनका काव्य-विभाजन (श्रव्य और दृश्य) ही पर्याप्त प्रमाण है। इन गुणों का निर्देश उन्होंने काव्य सामान्य के लिए कर दिया हो तो कुछ अस्वाभाविक नहीं।

---

१. काव्य बन्धास्तु कर्तव्याः षट्त्रिंशलक्षणान्विता.। नाट्य-शास्त्र।

२. एतानि वा काव्यविभूषणानि षट्त्रिंशत्उद्देश्य निदर्शनानि।
काव्येषु सोदाहरणानि तज्ज्ञैःसम्यक् प्रयोज्यानि रसानुरूपम् (यथारसंतु वा)।
नाट्य शास्त्र ॥

एतानि काव्य विभूषणानि काव्ये प्रयोज्यानि। नाट्य-शास्त्र।

3. 'History of Sanskrit Poetics' Page 135.

जैसा ऊपर निर्देश किया गया है कि 'अग्नि पुराण' के निर्माण का समय अनिश्चित है। प्राचीन पद्धति के भारतीय विद्वानों की दृष्टि से तो पुराण वेद-व्यास रचित हैं, इसलिए भामह आदि आलंकारिकों के पूर्व ही इसकी रचना हो चुकी थी। 'अग्नि पुराण' में काव्य के विवेचन से यह नहीं कहा जा सकता कि वह अलंकारवादी है या रसवादी। काव्य की परिभाषा और विवेचन में पुराणकार ने अनेकों तत्वों का समाहार किया है। इनमें से बहुत से तत्त्व भामह आदि में नहीं हैं। इस प्रकार पुराण की परिभाषा को अधिक विकसित एवं पूर्ण मान-कर कुछ विद्वान् इसे भामह के बाद की रचना मानना चाहते हैं। लेकिन यह कोई सबल प्रमाण नहीं है। पुराण की परिभाषा की अपेक्षा विकास की दृष्टि से भामह, दंडी आदि आचार्यों ने अपना विवेचन अधिक संश्लिष्ट किया है। इस प्रकार पुराण को इनके प्रथम मानने के ही अधिक कारण हैं। यहाँ पर हम भी पुराण को ही प्रथम मानकर चलते हैं। पुराण-काल तक सम्प्रदाय नहीं बन सके थे। इसलिए 'अग्नि पुराण' को किसी भी सम्प्रदाय में रखना ठीक नहीं।

'अग्नि पुराण' का लक्षण ही इस क्षेत्र का सर्व प्रथम व्यवस्थित प्रयास कहा जा सकता है। इस लक्षण में जिन तत्त्वों का निर्देश हुआ है, बहुत समय तक परवर्ती काल के आचार्य उन्हें ही लेकर चलते रहे। बहुत से आचार्यों की भाषा तो कुछ शब्दान्तर से इसका स्पष्ट अनुकरण-मात्र ही रही। कुछ आचार्यों ने अपनी मौलिक प्रतिभा का भी परिचय दिया। इस पर हम अभी विचार करेंगे। अभीष्ट अर्थ का द्योतन करने में सक्षम पदावली को व्यासजी ने काव्य कहा है। इतने से तो काव्य का स्वरूप पूर्णतः स्पष्ट नहीं होता है। काव्य और शास्त्र दोनों में ही अर्थ-संश्लिष्टता आवश्यक है। पर गुण, अलं-कार, दोषहीनता के तत्वों से काव्य का स्वरूप कुछ स्पष्ट हुआ है।[1] इन इन तत्वों को परवर्ती आलंकारिकों ने ग्रहण किया। भामह ने अपनी परि-भाषा 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' में भी शब्द और अर्थ दोनों को ही काव्य कहा है उन्होंने इस परिभाषा में तो गुण, अलंकार आदि तत्वों का उल्लेख नहीं किया है, पर अपने ग्रन्थ में आगे अपने मन्तव्य को स्पष्ट कर दिया है। उनके साहित्य में शब्द और अर्थ के सामंजस्य में ही इन तत्वों का समावेश हो जाता है। वे वक्रोक्ति के अभाव में काव्य का अस्तित्व नहीं मानते। इस

---

१. संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यं स्फुरदलंकार गुणादोषविवर्जितम् ॥ 'अग्नि पुराण' ३३७।६० ॥

वक्रोक्ति में ही अलंकार आदि तत्त्व समाविष्ट हैं। दंडी ने इष्टार्थ को प्रकट करने वाली पदावली को ही काव्य कहा है।[1] इससे केवल शब्द को ही काव्य मान लिया गया है। रुद्रट ने फिर "ननु शब्दार्थौ काव्यम्" कहकर मानो केवल "शब्द" को काव्य मानने का विरोध किया है। वामन ने कई वाक्यों द्वारा काव्य के स्वरूप को स्पष्ट किया है। उनका अभिप्राय काव्य का लक्षण न करके उसके स्वरूप से परिचित न कराने का है। वामन ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा मान्य तत्त्वों को ही ग्रहण किया है, पर उनमें विशेष स्पष्टता ला देने का श्रेय भी उनको है। उन्होंने अलंकारों के कारण ही काव्यत्व स्वीकार किया, लेकिन साथ ही उनके मत में अलंकारों के अत्यन्त विशद अर्थ का भी ग्रहण हुआ है। सौन्दर्य-मात्र को अलंकार कहा गया है। वामन ने काव्य में गुणों की उपस्थिति तथा दोष-राहित्य को भी आवश्यक माना है। ये भी सौन्दर्य के हेतु हैं।[2] इस प्रकार वामन की परिभाषा से चिन्तन की प्रवृत्ति तथा काव्य के स्वरूप को निश्चित कर देने की आकांक्षा अत्यन्त स्पष्ट है।

भरत से लेकर वामन तक आचार्यों ने काव्य का चिन्तन प्रायः एक ही धारा में किया है। भरत का मूल विषय ही नाट्य रहा, इसलिए उन्होंने काव्य सामान्य की कतिपय विशेषताओं का उल्लेख भर कर दिया है। 'अग्नि-पुराण' में अलंकार, गुण, रस आदि पर कुछ थोड़ा अधिक विवेचन हुआ। व्यास जी के द्वारा मान्य तत्त्वों को ही परवर्ती आचार्यों ने ग्रहण किया। इस काल के आचार्यों का ध्यान विशेषतः गुण और अलंकार पर ही गया। सभी आचार्यों ने अलंकार को काव्य का आवश्यक तत्त्व कहा है। वामन का दृष्टि-कोण तो ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। भामह के शब्द और अर्थ के साहित्य तथा वक्रोक्ति के सिद्धान्तों द्वारा उनका अलंकार-प्रेम की ओर भी संकेत हुआ है। वक्रोक्ति-सिद्धान्त पर लिखते हुए इसका और विशेष स्पष्टीकरण किया जायगा। उनके अलंकार शब्द में गुणों का समावेश है, यह भी कह दिया गया है। यहां पर उनके ग्रन्थ से एक-दो उद्धरणों द्वारा उनका मन्तव्य और भी स्पष्ट किया जा रहा है। भामह ने कान्ता के सुन्दर मुख का सौंदर्य भी अलंकारों से ही माना है। इसी प्रकार कविता में भी वे अलंकारों को आवश्यक समझते हैं।[3] दंडी ने गुणों को अधिक प्रधानता दी है, पर उन्होंने भी काव्य में

---

१. शरीरं तावदिष्टार्थ । व्यवच्छिन्न पदावली । दंडी : प्रथम । १०० ॥

२. "काव्यं ग्राह्यमलंकारात्", "सौन्दर्यमलंकारः", "सदोषगुणालंकार हानादाना भ्याम्" काव्यालंकार सूत्र ।

३. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् काव्यालंकार १ ।१३

अलंकारों की उपस्थिति आवश्यक मानी है। यह उन्होंने अपने 'काव्यादर्श' में महाकाव्य पर विचार करते हुए कहा है।[1] दंडी के 'काव्यादर्श' में गुणों का विशद विवेचन है, इससे भी गुणों की महत्ता प्रतिपादित हो जाती है। वे काव्य में स्वल्प दोष भी असह्य समझते हैं।[2] इसके द्वारा भी गुणों का ही अंगीत्व स्पष्ट होता है। वामन ने तो शब्द और अर्थ का प्रयोग भी गौण माना है। उनके मत में इन्हीं पदों के प्रयोग से ही गुण और अलंकार का ग्रहण हो जाता है।[3] 'अग्नि पुराण' में अलंकार, गुण और दोष-राहित्य काव्य के आवश्यक तत्त्व तो कहे गए हैं, पर 'रस' को ही प्राधान्य दिया गया है। पुराणकार ने स्पष्ट शब्दों में 'रस' को काव्य का प्राणभूत कह दिया है।[4] भामह और दंडी ने रस को इतनी प्रधानता तो नहीं दी, पर इसकी नितान्त उपेक्षा उन्होंने भी नहीं की है। इन दोनों आचार्यों ने रस को महाकाव्य का आवश्यक तत्त्व माना है।[5] दंडी तो एक स्थान पर अलंकारों को रस का उत्कर्षक कहकर रसवादी के अनुरूप ही उसकी प्रधानता स्वीकार कर रहे हैं।[6] 'अग्नि पुराण' में काव्य के जिन तत्त्वों का ग्रहण हुआ था, उन्हींको ये आचार्य भी स्वीकार कर रहे हैं, यह बात ऊपर के विवेचन से पूर्णतः स्पष्ट हो गई है। इसीलिए कुछ विद्वान् भामह आदि में 'अग्नि पुराण' के ही आदर्श का अनुकरण बताते हैं।

इन आचार्यों ने केवल काव्य के शरीर पर ही विचार किया है। वस्तुतः इस समय तक आचार्य लोग काव्य के शरीर को ही काव्य मानते थे। दंडी ने ही 'शरीर' शब्द का प्रयोग करके सर्व प्रथम आत्मा और शरीर के अन्तर की तरफ संकेत किया है। पर यह संकेत अत्यन्त अस्पष्ट है। आत्मा और शरीर की पृथक् सत्ता मानने की विचार-धारा का दर्शन तो सर्वप्रथम वामन में ही होता है। उन्होंने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर काव्य के शरीर और आत्मा का भेद स्पष्ट करने

---

१. ''अलंकृतमसंक्षिप्तम्।'' काव्यादर्श। १।१८

२. तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥ काव्यादर्श १।७

३. काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते।
भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनो ऽत्र गृह्यते॥ काव्यालंकार सूत्र ॥

४. वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्। अग्नि पुराण ३३७।३३।

५. युक्तं लोक स्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्॥ काव्यालंकार १।२१।
रसभाव निरंतरम् काव्यादर्श १।१८ ॥

६. कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चतु ॥ काव्यादर्श १।६२ ॥

की चेष्टा की है। काव्य की आत्मा के अनुसंधान का यह प्रथम प्रयास है। इसमें भी आचार्य ने शरीर के सूक्ष्म रूप को ही आत्मा कह दिया है। रीति, गुण आदि का सम्बन्ध 'शब्दार्थ' से ही है और इसलिए ये भी शरीर में ही हैं। फिर भी वामन ने 'आत्मा' का प्रश्न उठाकर आलंकारिकों का ध्यान एक महत्त्वपूर्ण विषय की ओर आकृष्ट किया है। दूसरे 'इष्टार्थ' आदि पदों द्वारा पूर्ववर्ती आचार्य सौन्दर्य को काव्य की प्रधान विशेषता कहना चाहते थे। पर उनका चिन्तन इतना स्पष्ट नहीं हो पाया था। वामन ने इसे 'सौंदर्यमलंकारः' कहकर स्पष्ट कर दिया। गुण, अलंकार आदि को सौंदर्य-वृद्धि का हेतु बताकर इस विचार-धारा को पर्याप्त पुष्ट भी किया गया। अब काव्य-लक्षण से कविता और उसका शास्त्र-वाक्यों से भेद अधिक स्पष्ट हो गया। इन आचार्यों ने यद्यपि गुण, अलंकार आदि को ही प्राधान्य दिया है। 'रस' तो इनमें से किसी एक तत्त्व का अंगभूत ही माना गया। पर रुद्रट और दंडी ने रस को महत्त्वपूर्ण स्थान भी प्रदान कर दिया।[1] दंडी ने अलंकारों को रस का उत्कर्षक कहा है,यह अभी बताया जा चुका है। रस की प्रधानता मुक्त कंठ से तो स्वीकृत नहीं हुई, पर इसमें भावी विकास के बीज सन्निहित हैं। दंडी के शब्दों में भावी विकास की क्षमता के दर्शन होते हैं। रुद्रट ने काव्य के वर्ण्य-विषय को भी कवि-सृष्टि कहा है और इस प्रकार उस नवीन सिद्धान्त का अनुसंधान किया है जो परवर्ती काल में सर्वमान्य हो गया। इस काल की प्रधान विशेषता अलंकारों का विवेचन है। इस विवेचन की प्रौढ़ता के कारण सम्प्रदायों का निर्माण होने लगा था। संस्कृत-समीक्षा के विकास में यह काल अस्पष्ट, अव्यवस्थित, अनिश्चित और अप्रौढ़ विवेचन का युग कहा जाता है। पर इस तथाकथित प्राथमिक और अप्रौढ़ विवेचन ने ही भावी प्रौढ़ता को जन्म दिया है। इस काल में ही काव्य के मूल प्रश्नों पर विचार प्रारम्भ हो गया और इसीके फलस्वरूप परवर्ती आनन्दवर्द्धन-जैसे आचार्यों ने सामंजस्य के आधार पर अत्यंत उत्कृष्ट और प्रौढ़ विचार-धारा को जन्म दिया। इस प्रकार विकास का यह काल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

कतिपय विद्वानों के मत में ध्वनिकार अर्थात् 'ध्वन्यालोक' के कारिकाकार तथा वृत्तिकार दो व्यक्ति हैं। आनन्दवर्द्धन वृत्तिकार हैं, इसमें तो मतभेद नहीं। पर आनन्द वर्द्धन ही कारिकाकार भी है यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा

१, तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम् ।। रुद्रट, काव्यालंकार ।।

जा सकता। पर डॉ० दासगुप्ता इन्हें दो व्यक्ति मानते हैं।[1] इन दो व्यक्तियों को पृथक् मानने के कोई प्रमाण नहीं हैं। वृत्ति और कारिका में कहीं ऐसा कोई मतभेद अथवा अन्य कोई प्रमाण नहीं है जिसके आधार पर इन दोनों को दो व्यक्ति माना जाय। प्राय: विद्वानों ने ध्वनिकार को आनन्दवर्द्धन कहा है। हम भी यहाँ पर विवेचन की सुविधा के लिए इन दोनों को एक ही मान रहे हैं। इस निबन्ध में आनन्दवर्द्धन को ही स्थान-स्थान पर ध्वनिकार भी कह दिया गया है।

समीक्षा के क्षेत्र में आनन्दवर्द्धन के प्रवेश ने क्रान्तिकारी परिवर्त्तन कर दिए। उन्होंने प्राचीन तथा समकालीन सभी विचार-धाराओं में सामंजस्य स्थापित कर दिया। 'ध्वन्यालोक' में काव्य की परिभाषा देने का प्रयास नहीं हुआ है। काव्य भी ब्रह्म की तरह शब्दों की परिधि में नहीं आ पाता है। वह अभिधा का नहीं, केवल अनुभूति का विषय है। काव्य सहृदय के आह्लाद का कारण है, पर शब्दों द्वारा अभिधेय अर्थ से उसके स्वरूप का निर्वचन नहीं हो सकता। शब्द और अर्थ केवल उसके वास्तविक स्वरूप के व्यंजक हो सकते हैं। वे उसका व्यंजना द्वारा आभास दे सकते हैं। व्यंजक शब्द और अर्थ के द्वारा कवि के अनुरूप ही सहृदय में अनुभूति जाग्रत होती है। आह्लाद की यह अनुभूति ही काव्य की आत्मा है। यह आनन्द व्यंग्य है, अभिधेय नहीं; इसीलिए ध्वनिकार ने ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा है। अपने मत की उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिए उसे विद्वानों द्वारा सम्मत बताया है।[2] काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने 'नेति-नेति' वाली पद्धति अपनाई है। अलंकार, गुण, दोष, रीति आदि में से एक भी वस्तु काव्य नहीं है। लेकिन इन सबकी काव्य में उपादेयता है। ये सभी काव्य की आत्मा के उत्कर्ष करने वाले हैं। अलंकार के कारण काव्य नहीं अपितु काव्यत्व से अलंकारत्व की प्रतिष्ठा है।[3] मृत शरीर में आभूषण अमंगल के वर्द्धक हैं, वैसे ही रसहीन अथवा ध्वनिहीन काव्य में अलंकार भी भार स्वरूप ही है। आनन्दवर्द्धन ने सहृदय

१. काव्य विचार : दासगुप्ता।
२. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः। ध्वन्यालोक, प्रथम कारिका॥
३. [illegible] भूषयन्ते वनिता न रत्नकान्त्या।
[illegible] निःसारात्मानं [illegible]॥

श्लाघ्य अर्थ को ही काव्य की आत्मा कहा है।[1] यह अर्थ अभिधेय नहीं अपितु प्रतीयमान ही हो सकता है। इस अर्थ की समता उन्होंने रमणी के लावण्य से की है।[2] रमणी के अंगों का समूह लावण्य नहीं है। उस लावण्य के कारण ही उसके सब अंग-प्रत्यंग सुशोभित होते हैं। इसी प्रकार काव्य में भी प्रतीयमान अर्थ के कारण ही सौन्दर्य है और अलंकार आदि भी इसीके कारण सुन्दर प्रतीत होते हैं। इस अर्थ की सौन्दर्य-वृद्धि में ही इनकी उपादेयता है। 'सहृदय को आह्लाद देने वाला शब्दार्थ ही काव्य है।[3] यह लक्षण ध्वनिकार को परम्परा से प्राप्त हुआ होगा। ध्वनिकार का इस लक्षण से विरोध नहीं है। वे अपनी कारिकाओं और वृत्ति में काव्य के इसी स्वरूप की प्रतिष्ठा कर रहे हैं। लेकिन इसे अधिक स्पष्ट कर देने का श्रेय ध्वनिकार को है। सहृदय-आह्लाद का कारण अभिधेय अर्थ नहीं, अपितु प्रतीयमान है। व्यंजना से ही इस आह्लाद की अनुभूति हो सकती है। कवि-हृदय की तीव्र अनुभूति शब्द की व्यंजना-शक्ति का आश्रय लेकर ही सहृदय में अपने अनुरूप अनुभूति जाग्रत कर सकती है। यही कवि और काव्य की सफलता है। इस प्रकार भावानुभूति काव्य नहीं है। कवि की अनुभूति काव्य का उपादान है तथा सहृदय की रसानुभूति उसका प्राप्तव्य। इन दोनों का सम्बन्ध कराने का हेतु काव्य है। काव्य भी यह कार्य बिना व्यंजना के नहीं कर सकता है। इसीलिए ध्वनिकार ने काव्य की आत्मा "ध्वनि" मानी है। इस गूढ़ सत्य का निरूपण परिभाषा या लक्षण की पद्धति में नहीं हो सकता था इसलिए उन्होंने आदिकवि के "मा निषाद प्रतिष्ठां त्व-मगमः" की व्याख्या द्वारा काव्य के स्वरूप की प्रतिष्ठा की है। आदिकवि के हृदय के शोक का श्लोक बन जाने का तात्पर्य ही उसकी अभिव्यक्ति है। शोक ही श्लोक बन गया था और वही काव्य की आत्मा है।[4] भाव भाषा के अभिधा रूप में मूर्त्तिमान नहीं हो सकता। उसकी व्यंजना-शक्ति ही पाठक के

---

१. अर्थःसहृदयश्लाघ्यः काव्यस्यात्मा यो व्यवस्थितः। ध्वन्यालोक, द्वितीय कारिका ॥

२. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु ॥ ध्वन्यालोक ॥

३. सहृदयऽह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम् ॥ ध्वन्यालोक, वृत्तिभाग ॥

४. काव्यस्यात्मा स एवार्थः तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्व वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥ध्वन्यालोक १।५॥

हृदय में तदनुसार भाव जाग्रत करने में सक्षम है। डॉ० शंकरन ने इस कारिका की व्याख्या में 'अभिव्यक्ति' को ही प्रमुखता दी है।[1] पं० शालिग्राम शास्त्री के विचार भी इस सम्बन्ध में दर्शनीय हैं। "भाव" और "भावाभिव्यक्ति" के सूक्ष्म भेद की ओर तो उनका ध्यान नहीं गया है। इसीलिए उन्होंने इसकी व्याख्या में "पद्यश्चेदं सर्वाङ्गीणतया शोकमेवाभिव्यक्ति। स एव च प्रतीयमानो रसादिः काव्यस्यात्मा" कहा है। ध्वनिकार ने "रस-ध्वनि" को काव्य की आत्मा कहा है, रस को नहीं। यह सूक्ष्म निरूपण भी ध्यान देने योग्य है। "रस" भी व्यंग ही है, इसलिए कोई विशेष अन्तर नहीं होता है। पंडितजी का विश्लेषण 'मा निषाद' की व्याख्या के लिए दर्शनीय है।[2] ध्वनिकार ने लक्षण तो नहीं किया, क्योंकि वे उसे शब्दों की परिधि में लाना नहीं चाहते थे, पर जितना सूक्ष्म, प्रौढ़, और प्रामाणिक विवेचन उनका हुआ है, उतना विश्व के इतिहास में दुर्लभ है।

पूर्ववर्त्ती सभी आचार्यों के विवेचन को आत्मसात् करके उसमें सामञ्जस्य स्थापित करने तथा काव्य-स्वरूप के इतने प्रौढ़ और तर्क-सम्मत निरूपण के कारण ही आनन्दवर्द्धन का स्थान विश्व के आलंकारिकों में इतना उच्च है। संस्कृत-साहित्य के सभी परवर्त्ती आचार्यों के लिए ये उपजीव्य रहे हैं; यह स्थान-स्थान पर प्रसंगानुकूल स्पष्ट किया जायगा। ध्वनिकार ने "शब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम्" कहकर अलंकार, गुण, रीति आदि तत्वों को काव्य का शरीर कह दिया है और 'ध्वनि' को काव्य की आत्मा के स्थान पर प्रतिष्ठित किया है। जैसा पहले कहा जा चुका है कि "ध्वनिकार" आह्लाद को ही काव्य का प्राण मान रहे हैं। उसका स्पष्टीकरण तो "रस-ध्वनि" को प्रमुख मानकर भी कर दिया गया है।[3] लेकिन केवल 'रस' को ही काव्य का सर्वस्व कह देने का परिणाम तो काव्य के क्षेत्र को सीमित कर देना था। रस, ब्रह्मानन्द सहोदर आह्लाद के एक विशिष्ट शास्त्रीय अर्थ में रूढ़ हो गया है। अलंकार और वस्तु के चमत्कार से सहृदय को जो

---

1. It must be said that the sympathetic expression which was the spontaneous out-lete of the mind over powered by the grief caused by the loss of the in-separable association of the pair of craunch birds would alone constitute the life of poetry.

"The theories of Rasa & Dhvani."

२. पं० शालिग्राम शास्त्री : साहित्य-दर्पण, पृष्ठ ३० टिप्पणी।

३. रसादयो हि द्वयोरपि तयोः : "काव्यनाटकयोः" जीवभूतः ॥ध्वन्यालोक॥

आह्लाद मिलता है, उसे आचार्य लोग "रस" नहीं कहते। पर वह भी आह्लाद होने के कारण काव्य की आत्मा ही है। यही कारण है कि उन्होंने "वस्तु-ध्वनि" और "अलंकार-ध्वनि" को भी आत्मा बनने का गौरव प्रदान किया है। लेकिन उनका पर्यवसान "रस" में ही होता है।[1] इनकी "ध्वनि" भी आह्लाद स्वरूप का कारण बनकर आह्लाद स्वरूप रसानुभूति में परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से सहायक होती है। इनका आनन्द भी काव्यानन्द ही है और लाक्षणिक प्रयोग से उसे भी "रस" कह सकते हैं। "रस" में ही इनका पर्यवसान मान-कर आचार्य ने इनको रस का उत्कर्षक कह दिया है और इस प्रकार इनको काव्य में एक निश्चित स्थान भी मिल गया। यह आचार्य की सामंजस्य स्था-पित करने की प्रवृत्ति का परिणाम है। "रस" और "ध्वनि" के सिद्धान्त को मान लेने के बाद स्वभावतः एक सिद्धान्त और मानना पड़ता है। वह इनका स्वाभाविक परिणाम है। अथवा यों कहना चाहिए कि उसके अभाव में इनकी तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध की भी कल्पना नहीं की जा सकती। वह है "औचित्य सिद्धान्त"। यही सिद्धान्त रस और ध्वनि का पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित कर रहा है। इसका विवेचन आगे किया जायगा। इस प्रकार "ध्वनिकार" ने काव्य का जो स्वरूप निश्चित किया है, उसका शरीर शब्दार्थ है और आत्मा ध्वनि है। इस ध्वनि में रस और औचित्य भी समाविष्ट है। ध्वनिकार के विवेचन की मूल भित्ति ही रस, ध्वनि और औचित्य पर टिकी हुई है। "रस" के इस प्राधान्य के कारण परवर्ती आचार्यों ने इस ग्रन्थ को प्रमुख उपजीव्य बनाया और रस को ही काव्य की आत्मा कहा। यद्यपि ध्वनि-कार का अभिप्राय केवल "रस-ध्वनि" को काव्य की आत्मा मानने में नहीं रहा, पर उनके विवेचन में परवर्ती आचार्यों को प्रेरणा देने की पर्याप्त सामग्री है।[2] काव्य-पुरुष की कल्पना भी साहित्य-क्षेत्र में इसी आचार्य की प्रेरणा से हुई है। इसकी मूल प्रेरणा तो ऋग्वेद के वेद पुरुष में है, पर साहित्य-क्षेत्र का श्रेय इन्हें ही है।

---

१. तेन रस एव वस्तुतः आत्मा वस्त्वलंकार ध्वनी तु सर्वथा रसं प्रतिपर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ इति अभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सामन्येनोक्तम्।
॥ लोचन-व्याख्या ॥

2. Neither the Dhvanikar nor Anandvardhan could atleast from the stand point of theoritical consistancy explicitly make the suggestion of Rasa the exclusive end of poetry in so much as the unexpressed may in some cases be matter or an imaginative mood, although it can be shown that their views

आनन्दवर्द्धन के काव्य-विवेचन का इतना प्रभाव पड़ा कि महिम भट्ट-जैसे प्रतिपक्षी भी उसके 'रस'-सिद्धान्त के समक्ष नतमस्तक हो गए। रस-सिद्धान्त के आदि आचार्य तो भरत हैं, पर इसको व्यवस्थित रूप देने का श्रेय भी कुप्पु स्वामी ने आनन्दवर्द्धन को ही दिया है।[1] रस तथा औचित्य का विरोध कुन्तक और महिमभट्ट दोनों ने ही नहीं किया। ध्वनिकार से इनका मतभेद तो केवल "ध्वनि" पर ही रहा। 'आत्मा' और 'जीवभूत' शब्दों का प्रयोग तो इतना अधिक बढ़ गया था कि प्रायः सभी आचार्य इन्हींमें सोचने लगे थे। प्रतिपक्षी कुन्तक ने भी 'जीवितम्' का ही प्रयोग किया है। क्षेमेन्द्र-जैसे आचार्य ने औचित्य को ही काव्य की आत्मा कहा है। कतिपय आचार्य औचित्य के लिए 'रस' की अपेक्षा स्वीकार नहीं करते हैं। पर अभिनव गुप्त ने 'लोचन व्याख्या' में इनके मत का खंडन किया है। उनका कहना है कि औचित्य शब्द में किसी की दृष्टि से उचित होने का अर्थ सन्निहित है।[2] उनकी यह आलोचना समीचीन और तर्क-सम्मत है। अभिनव गुप्त ने 'आत्मा' और 'जीवभूत' इन शब्दों का प्रयोग किया है, पर उन्होंने 'रस' और 'औचित्य' को क्रमशः इन नामों से अभिहित किया है। इसके द्वारा ध्वनिकार के मत का और भी परिष्कार हो गया है। एक अव्यवस्था मिट गई है और काव्य के सभी तत्त्वों में पूर्ण सामंजस्य स्थापित हो गया है।

---

practically traind to such a proposition and probably inspire later theorist to workout the thesis that the Rassa alone is the essence of poetry.

Dr. Raghvan "some concepts of Alankar Shastra."

1. The exponect of artistic culture in ancient India arrived at certain well formulated doctrine of Rassa and it was formulated by Anandvardhan High-ways and by-ways of literary criticism in Sanskrit.

२. उचितशब्देन रसविषयमौचित्यम् भवतीति दर्शयन् रसध्वनिः जीवितत्वं सूचयति। तदभावे हि किमपेक्षेद औचित्यम् नाम सर्वत्र उद्घोष्यत इति भावः॥   ॥ लोचन, पृष्ठ १३॥

औचित्यवती जीविताभिधेयेन औचित्यनिबन्धनम् रसभावादि मुक्तानान्यत् किञ्चिदस्तीति तदेवान्तर्भावि मुख्यं जीवितमित्यभ्युपगन्तव्यं न तु सा। एतेन यदाहुः केचित् औचित्यघटितसुन्दरशब्दार्थमये काव्येन किमन्येन ध्वनिना आत्मभूतेन कल्पितेन इति स्ववचनमेव ध्वनिसद्भावाभ्युपगमम् साक्षीभूतम् मन्यमाना प्रयुक्ताः॥   । लोचन, पृष्ठ २०८।

ध्वनिकार के प्रतिपक्षियों में कुन्तक का मत भी विचारणीय है। उन्होंने अपनी परिभाषा में काव्य के कई सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया है। कुन्तक ने 'वक्रोक्ति' को ही काव्य का सर्वस्व माना है। यह उनके 'जीवितम्' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है। अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों की आलोचना करते हुए उन्होंने अपने दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया है। वे केवल शब्द या अर्थ को काव्य नहीं मानते। उन्होंने दोनों के समन्वय को ही काव्य माना है। उन्होंने कहा है : "शब्दार्थौ काव्यवाचकौ वाच्यम् चेति द्वौ सम्मिलितौ काव्यम्। तेन यत्केषांचिन्मतं ...शब्द एव केवलं काव्यमिति केषांचित् वाच्यमेव...पक्षद्वयमपि निरस्तं भवति।"[1] "न शब्दस्यैव रमणीयता विशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्वं नाप्यर्थस्येति।"[2] जिस शब्द और अर्थ के समन्वय में अर्थ की वक्रता है, भंगिमा है; वही काव्य है। कुन्तक स्वभावोक्ति और वार्ता को काव्य नहीं मानते। उन्होंने वैचित्र्य, वक्रताभणिति, और मनोज्ञत्व को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है। वक्रता को स्पष्ट करते हुए "शास्त्रादि प्रसिद्धशब्दार्थो प निबन्ध व्यतिरेकी"[3] कहा है। आचार्य ने वक्रता को कवि-व्यापारक-संभव और आह्लादकारी कहा है। इस प्रकार वक्रोक्तिकार को काव्य के मुख्य तीन तत्त्व मान्य हैं, वक्रता, कवि-व्यापार और आह्लाद।[4] वक्रता का एक-मात्र मानदण्ड सहृदय का आह्लाद है। इस आह्लाद का स्वरूप लोकोत्तर है जो व्यक्तिगत राग-द्वेष की भावना से सर्वथा मुक्त है। यह पार्थिव जगत् का ऐन्द्रिय अथवा अभाव-पूर्ति का आनन्द नहीं है, अपितु रसानुभूति ही है। इसकी लोकोत्तरता सहृदय के सत्वाविष्ट होकर काव्यानन्द प्राप्त करने में ही है, न कि अनुभव की अलौकिकता अथवा स्वर्गीयता में। इसे अलौकिक तो इसलिए कहते हैं कि इस लोक से भिन्न है। इसमें व्यक्तिगत स्वार्थपरायणता का अभाव है। काव्य की भावनाएँ मानव-मात्र की हैं। इस काव्यानन्द का कारण ही द्रष्टा का सत्वाविष्ट होकर अपने योगक्षेम से दूर हो जाना है। प्राचीन आचार्यों ने इस सारे व्यापार को "साधारणीकरण" के नाम से अभिहित किया है। वक्रोक्तिकार का काव्य-लक्षण तो परवर्ती आचार्यों को मान्य नहीं हुआ, ध्वनिकार की विशद विवेचना

---

१. वक्रोक्ति जीवितम्।

२. वही पृष्ठ १०।

३. वही पृष्ठ १४।

४. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी। बन्ध व्यवस्थितौ काव्यं तद-विदाह्लाद कारिणी ॥ ॥ वक्रोक्ति जीवितम् १।७ ॥

ने उसे आत्मसात् कर लिया। लेकिन कुन्तक के विवेचन से काव्य के जिन तत्त्वों का स्पष्टीकरण हुआ है, वे किसी-न-किसी रूप में परवर्ती आचार्यो द्वारा ग्रहण कर लिए गए। साधारण वार्ता को परवर्ती किसी आचार्य ने काव्य नहीं माना है। आह्लाद ही उसका प्रधान तत्त्व है, यह तो सर्वमान्य सिद्धान्त है ही। काव्य-सृजन में कवि-व्यापार ही कारण है। जिस वक्रता को कुन्तक ने आह्लाद का कारण कहा है, वह कवि-प्रतिभा का ही परिणाम है। इससे काव्य-शास्त्र-जगत् को कुन्तक की देन स्पष्ट है।

इस काल में काव्य के जिन तत्त्वों का प्रतिपादन हुआ है वे आज तक मान्य हैं। इस काल के आचार्यो (आनन्दवर्द्धन, अभिनव गुप्त, कुन्तक आदि) ने जिस स्वरूप की प्रतिष्ठा की है, वह ज्यों-का-त्यों ग्रहण हुआ है। ये ही ग्रंथ आगे के आचार्यों के लिए उपजीव्य हैं। संस्कृत-साहित्य के मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन इसी काल में हुआ है, परवर्ती प्रतिभा तो इन्हीं तत्त्वों के विशद विश्लेषण में लगी रही। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि संस्कृत-साहित्य का विकास रुक गया था। आगे के आचार्यों ने रस आदि अनेक तत्त्वों पर प्रौढ़ विचार-धारा को जन्म दिया है। पंडितराज और मम्मट की देन नगण्य नहीं मानी जा सकती।

इस काल के आचार्यों के उपरान्त काव्य का लक्षण करने की एक परम्परा सी हो गई। प्रायः सभी आचार्यों ने काव्य के लक्षण दिये हैं। पर इनमें से केवल तीन ही आचार्यों (मम्मट, विश्वनाथ और पंडितराज) की परिभाषा विशेष उल्लेखनीय है। अन्य लक्षण या तो इनके अनुकरण-मात्र हैं अथवा वे उनके परिमार्जन का परिणाम है। आचार्य मम्मट के पूर्ववर्ती भोज ने अपने 'सरस्वती कंठाभरण' में यद्यपि काव्य की परिभाषा देने का तो प्रयास नहीं किया है, पर उन्होंने काव्य के स्वरूप-वर्णन में जो-कुछ लिखा है उससे उनका काव्य-लक्षण-सम्बन्धी मन्तव्य स्पष्ट है।[1] आचार्य हेमचन्द्र, विद्यानाथ प्रभृति आचार्य, जो मम्मट के परवर्ती हैं, 'काव्य प्रकाश' के काव्य-लक्षण का ही अनुकरण कर रहे हैं।[2] इनमें से कुछ ने तो केवल गुण, दोष, अलंकार के आधार

१. निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ॥ सरस्वतीकंठाभरण १।२ ॥
२. अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम् ।हेमचन्द्रः काव्यानुशासनम्॥
गुणालंकारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितं काव्यम् ॥
विद्यानाथः प्रतापरुद्र-यशोभूषण ॥

पर ही काव्य की परिभाषा दी है। जयदेव के काव्य-लक्षण में इन तत्वों का परिगणन-मात्र है।[1] वाग्भट्ट ने गुण, अलंकार, रीति और रसयुक्त शब्दार्थ को काव्य कहा है।[2] द्वितीय वाग्भट्ट की परिभाषा तो दूसरे शब्दों में मम्मट की ही है। आचार्य विश्वनाथ ने भी अपना काव्य लक्षण शुद्धोदिनी की कारिका पर अधिष्ठित किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि इन दोनों आचार्यों की परिभाषा कोई नवीन नहीं। पंडितराज की परिभाषा एक प्रकार से नवीन कही जाती है। संस्कृत-साहित्य में काव्य की परिभाषा की दृष्टि से विद्वानों का ध्यान इन्हीं आचार्यों की ओर आकृष्ट होता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि ये परिभाषाएँ अपने में कई शताब्दियों के चिन्तन को छिपाए हैं। इतने दिन के विवेचन के उपरान्त काव्य का जो स्वरूप निश्चित-सा हो चुका था, काव्य सामान्य के जो तत्व मान्य हो गए थे, उसी स्वरूप की प्रतिष्ठा, उन्हीं तत्वों का समाहार इन परिभाषाओं में है। संक्षेप में यह कहा जाता है कि ये परिभाषाएँ भारतीय काव्य-चिन्तन का सार रूप हैं। इसीलिए काव्य-लक्षण के क्षेत्र में इन्हें भारतीय विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करने का श्रेय प्राप्त है।

ऐतिहासिक दृष्टि से इन तीनों आचार्यों में सर्वप्रथम स्थान मम्मट का है। उनका 'काव्य प्रकाश' उस काल की रचना है जब साहित्य के सभी सम्प्रदाय निर्मित हो चुके थे। सभी विचार-धाराएँ प्रौढ़ हो गई थीं। वास्तव में यह काल इन विभिन्न विचार-धाराओं और सम्प्रदायों के समन्वय का था। समन्वय का यह प्रयास तो बहुत दिन पहले ही प्रारम्भ हो गया था। पर मम्मट में ही इसके स्पष्ट दर्शन होते हैं। डॉ० दे के अनुसार तो हम इन्हें इस समन्वय-वादी सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य कह सकते हैं। आचार्य का यह समन्वयवादी दृष्टिकोण उनकी काव्य-परिभाषा से भी स्पष्ट है। "तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणौ अनलंकृत पुनः क्वापि" में काव्य के सभी मान्य तत्वों का समाहार है। इतना ही नहीं इस परिभाषा में इन तत्वों के आपेक्षिक संतुलन और महत्त्व का भी प्रतिपादन हुआ है। पूर्ववर्ती प्रायः सभी आचार्यों ने काव्य-लक्षण में रस, गुण, दोष, अलंकार आदि का विचार किया है। वास्तव में मतभेद तो किसी एक

---

१. निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता।
सालंकाररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक्॥ चन्द्रालोक॥

२. साधुशब्दार्थसंदर्भम् गुणालंकार भूषितम्।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये॥ वाग्भटालंकार १।८॥

तत्त्व को अन्य की अपेक्षा महत्त्व प्रदान करने में है; और यही सम्प्रदायों के नामकरण की आधारशिला भी है। मम्मट ने इन तत्त्वों के महत्त्व में जो तारतम्य रखा है, वह अत्यन्त विवेकपूर्ण और तर्कसम्मत है।

इस परिभाषा को अनेक आचार्यों की आलोचना का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इसलिए इसकी अत्यन्त सूक्ष्म व्याख्याएँ हुई हैं और इसके अभिप्राय के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद भी हैं। "अदोषौ" शब्द से कुछ आचार्यों ने "च्युत-संस्कृति" आदि प्रबल तथा काव्यत्व-विघटक दोषों का अभिप्राय लिया है। अन्य आचार्यों ने "दोष सामान्य का अभाव" अर्थ लेना उचित समझा है। यद्यपि ऐसा काव्य अत्यन्त दुर्लभ है, तथापि दोषहीन काव्य की विरलता के कारण ही पहला अर्थ मान्य नहीं हो सकता। दोषाभाव को असंभव कहकर "साहित्य दर्पणकार" ने 'अदोषौ' शब्द का प्रयोग अनुचित माना है। इस सम्बन्ध में वामनाचार्य का अर्थ विशेष समीचीन प्रतीत होता है। उन्होंने "उद्देश्यप्रतीतिप्रतिबन्धकत्व" को दोष माना है। वास्तव में दोष निरपेक्ष वस्तु तो है नहीं। एक ही वस्तु एक प्रसंग में दोष तथा दूसरे में गुण कही जा सकती है। उद्देश्य या प्रतिपाद्य वस्तु की दृष्टि से ही गुण-दोष का निरूपण संभव है। दोष शब्द का यही अर्थ आचार्य मम्मट को भी मान्य है। उन्होंने दोषों के विशेष नाम भी गिनाये हैं तथा उनके शब्द, अर्थ और रस की दृष्टि से भेद भी किये हैं। पर दोष के सामान्य लक्षण में उनको भी यही मत मान्य है। वे दोष का लक्षण देते हुए लिखते हैं: "मुख्यार्थहतिर्दोषो" अर्थात् मुख्यार्थ में अपकर्ष का हेतु ही दोष है। जिससे व्यंग्य या वाच्य के वैचित्र्य में बाधा उत्पन्न हो, उसकी प्रतीति स्पष्ट न हो, वैचित्र्य के आस्वाद की हानि हो, वही दोष है। इसीलिए प्रभा, प्रदीप आदि टीकाओं ने विशिष्ट दोषहीन तथा रस-वैचित्र्यमय काव्य को केवल सामान्य दोष के कारण अकाव्य नहीं माना है।

आचार्य मम्मट गुणों को रस के नित्य धर्म मानते हैं। वे रस के उत्कर्षक, अव्यभिचारी और अचल हैं। "सगुणौ" पद को काव्य के लक्षण में स्थान देकर उन्होंने काव्य के प्रधान तत्त्व रस का निर्देश कर दिया है। लेकिन स्वयं आचार्य और उनके टीकाकारों ने यह भी स्वीकार किया है कि गुण-परम्परा से रस-व्यंजक शब्दार्थ के भी धर्म हैं। इस प्रकार "शब्दार्थौ" का "सगुणौ" को विशेषण बनाकर अपनी परिभाषा को आचार्य ने व्यापक कर दिया है। इससे नीरस स्थलों में भी काव्यत्व की अव्याप्ति नहीं होती। आचार्य-परम्परा अलंकार और वस्तु-ध्वनि को भी काव्य मानती आई है, इसलिए "सगुणौ" के स्थान पर "सरसौ" का प्रयोग इन सालंकार या वस्तु-वैचित्र्य वाले स्थलों

को अकाव्य मानने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता।

इस परिभाषा के आलोचकों का ध्यान सबसे अधिक "अनलंकृति पुनः क्वापि" के अभिप्राय की व्याख्या पर गया है। इस पद के अभिप्राय में पर्याप्त मतभेद भी है। विवरणकार का कहना है कि आचार्य का "अनलंकार" पद से भी सालंकार का ही अभिप्राय है। नरसिंह ठक्कुर आदि 'नञ्" का अर्थ "ईषत्" या "अस्फुट" लेते हैं और उन्हें भी इस पद का अर्थ सालंकार ही मान्य है। प्रदीप, उद्योत आदि टीकाओं को भी यह थोड़े से परिष्कार के साथ मान्य है। उनका कहना है कि आचार्य का अभिप्राय काव्य को सर्वत्र सालंकार मानने में ही है, पर अगर कहीं-कहीं अलंकार अस्पष्ट भी हो तो वहाँ भी काव्यत्व की हानि नहीं माननी चाहिए। अर्थात् अस्पष्ट अलंकार वाले स्थल को काव्य मानने से यह भ्रम भी हो सकता है कि आचार्य नीरस और अस्फुट अलंकार वाले स्थल को भी अकाव्य नहीं मानते। लेकिन इस मत का निराकरण स्वयं टीकाकार ने ही कर दिया है। गम्भीर विचार से यह स्पष्ट भी हो जाता है कि वस्तुतः आचार्य का यह अभिप्राय भी नहीं है। काव्य में चमत्कार के दो ही हेतु हैं, रस और अलंकार। चमत्कार ही काव्य के प्राण हे। यही भारतीय आचार्यों का अभिमत है। इसलिए प्रदीपकार का यह तर्क ठीक है कि केवल अस्फुट अथवा अलंकार-हीन स्थल को काव्य कहना आचार्य को अभिप्रेत है नहीं। काव्य के लिए "सालंकारत्व" या "रसत्व" में एक की तो आवश्यकता है ही।

"शब्दार्थौ" का लक्षण में सन्निवेश करने के कारण पंडितराज ने मम्मट की कटु लेकिन निस्सार आलोचना की है। इस पद का प्रयोग भारतीय परम्परा की अक्षुण्णता और काव्य-स्वरूप के निरूपण की वास्तविकता के लिए आवश्यक था। काव्य में शब्द और अर्थ का समान ही महत्त्व है। इन दोनों के समन्वय को ही साहित्य कहते हैं। साहित्य शब्द की व्याख्या में भोज तथा कुन्तक ने इसी दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है।[1] कुछ आलोचक इस पद के प्रयोग से इस लक्षण में सब प्रकार के काव्यों का समावेश मानते है। उनका कहना है कि शब्द से वाचक, लाक्षणिक, व्यंजक शब्द तथा अर्थ से वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ का ग्रहण होता है। इस प्रकार इसीमें रस, रसाभास, भाव, भावाभास, अलंकार और वस्तु-ध्वनि का संकेत मानते हैं।[2] आचार्य को काव्य

१. डॉ० राघवन, 'शृङ्गार प्रकाश'।

२. संस्कृत-साहित्य का इतिहास भाग २।

परिभाषा में भी हैं। रीति अंग-संघटन रूप है, इसलिए उसका सम्बन्ध आत्मा से नहीं, शरीर से है। रीति को आत्मा कहने वाले वामन का मत भी विश्वनाथ की दृष्टि में तर्क-सम्मत नहीं है। ध्वनि-मात्र को काव्य मानने से व्यंजनापूर्ण साधारण (रसहीन) उक्तियाँ भी काव्य हो जायँगी और यह आचार्यों को अभिमत नहीं है। "वस्तु-ध्वनि" वाले स्थलों को "रस" के या रसाभास के कारण काव्य माना गया है। इस प्रकार उन्होंने ध्वनि-मात्र को काव्य मानने के सिद्धान्त का खंडन कर दिया है। दूसरे उन्होंने ध्वनिकार की द्वितीय कारिका के आधार पर उनमें "वदतोव्याघात" का दोष भी देखा है। इसमें "वाच्यार्थ" को भी काव्य की आत्मा कहा गया है, इसलिए "काव्यस्यात्माध्वनि-रिति" से स्पष्ट विरोध है। इसका उपयुक्त उत्तर पं० शालिग्राम शास्त्री ने अपनी 'साहित्य दर्पण की टीका' में दिया है।[1] प्रथम कारिका में "समाम्नातपूर्व" से यह भी स्पष्ट हो गया है कि आचार्य प्राचीन मत को उद्धृत कर रहे हैं। द्वितीय कारिका में भी प्राचीन मत ही उद्धृत है। प्रथम के साथ "बुधैः" का प्रयोग करके आचार्य ने इस मत को स्वीकार कर लिया है। लेकिन दो प्राचीन मतों के उद्धरणों के अन्तर पर आचार्यों में वदतोव्याघात देखना कहाँ तक उचित है?

जैसा पहले कहा जा चुका है कि 'साहित्य-दर्पण' की परिभाषा नवीन नहीं है। शुद्धोदिनी के काव्य-लक्षण "काव्यं रसादिमद्वाक्यं" के आधार पर "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" कहा है। इन दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। प्रथम लक्षण में "रसादि" से अलंकार, वस्तु आदि का भी ग्रहण हो गया है, विश्वनाथ ने "रस" को इतना प्राधान्य दिया है कि वस्तु और अलंकार वाले स्थल अकाव्य हो जाते हैं। परिभाषा के शब्दों के आधार पर यह आलोचना ठीक प्रतीत होती है। पर संभवतः स्वयं आचार्य ने इस आलोचना की पहले से कल्पना कर ली थी। इसलिए उन्होंने काव्य की व्याख्या में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट कर दिया है। यहाँ पर रस केवल शास्त्रीय अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। उन्होंने "रस्यते इति रसः" कहा है। आगे भाव, भावाभास आदि का भी इसी में समावेश हो जाने का निर्देश किया है। क्या आदि शब्द से वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि का ग्रहण आचार्य को अभिप्रेत नहीं? आचार्य ने काव्य-भेदों में इन्हें स्थान दिया है, इसलिए इन्हें अकाव्य तो वे नहीं मानते। हाँ, इन्हें आत्मा का स्थान देना उचित नहीं समझते। इन स्थलों के लिए

१. [illegible]

काव्य का गौण प्रयोग ही उन्हें अभिप्रेत प्रतीत होता है।

पंडितराज का काव्य-लक्षण नवीन तथा मौलिक है। सबसे पहली मौलिकता तो यह है कि आचार्य-परम्परा शब्द और अर्थ दोनों को काव्य मानती आई थी और उन्होंने केवल शब्द को ही काव्य कहा। वे शब्दार्थ को काव्य मानने का खण्डन करते हैं और प्रश्न करते हैं कि शब्द और अर्थ को पृथक्-पृथक् काव्य मानें अथवा दोनों को मिलाकर। इस प्रकार उन्होंने दोनों पक्षों को दूषित कह दिया है। एक ही पद्य में दो काव्य मानना अथवा दो का एक मानना ये दोनों ही ठीक नहीं। वास्तव में पंडितराज का यह तर्क बाल की खाल खींचना-मात्र है। इसीलिए उनके व्याख्याता नागेश भट्ट ने उसका कोई खंडन नहीं किया। आगे वे शब्द को ही काव्य मानने के पक्ष में गम्भीर तर्क देते हैं। उनका कहना है कि वेद, पुराण आदि की तरह काव्य को भी शब्द ही मानना चाहिए। दूसरे लौकिक व्यवहार में "काव्य सुना" का प्रयोग होता है, जिसका सम्बन्ध शब्द से ही है, अर्थ से नहीं। इसका उत्तर नागेश भट्ट ने दिया है। भट्ट जी का कहना है कि जैसे 'काव्य सुना" लौकिक व्यवहार है वैसे ही "काव्य समझा" भी है। समझना केवल अर्थ का होता है इसलिए अर्थ को ही काव्य क्यों न मान लिया जाय। इस तर्क का अभिप्राय पंडितराज के तर्कों की निस्सारता दिखाना-मात्र है, अर्थ ही काव्य है, ऐसे किसी सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं। वेद, इतिहास, पुराण आदि के लक्षणों में शब्द का प्राधान्य है। काव्य का उन शास्त्रों से भेद ही इस आधार पर किया गया है कि जहां वेदादि में शब्द की प्रधानता है, वहां पर काव्य में शब्द और समन्वय की प्रधानता है। दूसरे वेद को भी शब्द और अर्थ दोनों माना गया है। नागेश ने इसके प्रमाण में महाभाष्यकार पतंजलि को उद्धृत किया है। "तदधीत तद्वेद" की व्याख्या में वेद को शब्द और अर्थ दोनों कहा गया है।

पंडितराज ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य मम्मट की आलोचना करते हुए लिखा है कि काव्य-लक्षण में गुण, अलंकार अथवा दोष का विचार करना ठीक नहीं। गुण और अलंकारों की संख्या निश्चित नहीं है। अनिश्चित वस्तु के आधार पर काव्य का लक्षण देना उचित नहीं। लेकिन इस तर्क का खंडन तो स्वयं पंडितराज ने ही कर दिया है, रस के धर्म होने के कारण गुणों का तथा शोभाकारक होने के कारण अलंकारों का अनुगमन पंडितराज को मान्य है। इसलिए ये उनकी दृष्टि से भी अनिश्चित नहीं। उन्होंने 'काव्य-प्रकाश' के लक्षण का खंडन करते हुए "उदितं मंडलं विधोः" का उदाहरण दिया है। इसके व्यंजित अर्थों का भी स्पष्टीकरण किया है। उनका कहना है कि गुण

और अलंकार के अभाव में भी उस उक्ति को अकाव्य नहीं कह सकते। मम्मट ने गुणों को रस का नित्य धर्म माना है। इसलिए अगर इस उक्ति में ध्वनि के कारण हृदयस्पर्शिता है तो कोई गुण भी है ही। 'प्रसाद' गुण मानना कोई अनुचित नहीं है। पंडितराज ने "अदोषौ" पद का विरोध करते हुए कहा है कि सदोष स्थल भी काव्य ही माना जाता है। पर यहाँ पर भी पंडितराज ने मम्मट के मन्तव्य को बिना समझे ही आलोचना की है। काव्य प्रकाशकार "ईषत्" दोष के कारण अकाव्य नहीं मानते। दोष की परिभाषा ही उन्होंने "मुख्यार्थहृतिर्दोषो" दी है। अभीप्सित वैचित्र्य की व्यंजना न होने पर वह स्थल काव्य नहीं होगा। और उसके लिए काव्य शब्द का प्रयोग होता है। तब भी औपचारिक ही माना जायगा।

साहित्यदर्पणकार की परिभाषा में पंडितराज ने अव्याप्ति दोष देखा है। इसमें वस्तु-वर्णन तथा केवल अलंकार वाले स्थलों का समावेश नहीं होता है। पंडितराज केवल उद्दीपन के लिए इन्हें काव्य मानना नहीं चाहते। इस प्रकार काव्य मानने से तो कोई भी वाक्य काव्य हो सकता है। विभाव, अनुभावादि में से किसी एक से तो उसका सम्बन्ध स्थापित किया ही जा सकता है और इस प्रकार परम्परा से उसका रस से भी सम्बन्ध हो ही जायगा। ऐसे सम्बन्ध-मात्र से काव्यत्व मानना उचित नहीं। पंडितराज ने इन आचार्यों के काव्य-लक्षणों को दुष्ट कहकर फिर अपना लक्षण दिया है। "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" केवल शब्द को ही काव्य मानने पर भी आचार्य अपने लक्षण में अर्थ की अवहेलना नहीं कर सके हैं। इस परिभाषा की विशेषता तो "रमणीयता" के सन्निवेश में है। सौन्दर्य, चमत्कार और आह्लाद ये तीनों तत्त्व आचार्यों को मान्य रहे हैं, पर पंडितराज ने इन तीनों का समाहार इसी एक शब्द में कर दिया है। जिस अर्थ या वस्तु के ज्ञान के बार-बार अनुसन्धान से जो अलौकिक आह्लाद[1] मिलता है, वही रमणीयता है। इस आधार को लौकिक आनन्द से पृथक् बताते हुए उन्होंने एक उदाहरण दिया है। उनका कहना है, "तुम्हारे लड़का हुआ है" इस वाक्य को सुनकर जो आनन्द होता है वह लौकिक है। काव्यानन्द की अलौकिकता वैयक्तिक योगक्षेम की भावना से हीन है, स्वार्थपरायणता-शून्य है। वह

१. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। रमणीयता च लोकोत्तराह्लाद-जनक ज्ञानगोचरता। लोकोत्तरत्वं चाह्लादगत: चमत्कारत्वापरपर्याय: अनुभव साक्षिको जातिविशेषः॥

सांसारिक आनन्द से उसी रूप में भिन्न है। और यही उसकी अलौकिकता है। यह शुक्ल जी के शब्दों में हृदय की मुक्तावस्था है।

संस्कृत के विद्वानों तथा अलंकार-शास्त्र के व्याख्याताओं ने इन तीनों परिभाषाओं में से आचार्य मम्मट की परिभाषा को ही अधिक पूर्ण और निर्दोष बताया है। प्रभा, प्रदीप, उद्योत आदि टीकाकारों के अतिरिक्त 'रस गंगाधर' पर टीका करने वाले नागेश भट्ट ने भी इस लक्षण को "अनुपहसनीय" कहा है। लक्षण में मान्य सभी तत्त्वों का निर्देश होने के कारण निस्सन्देह यह अधिक सरल और व्यावहारिक है। गुणों का रस से नित्य सम्बन्ध और "सगुणत्व" काव्य का अनिवार्य तत्त्व मान लिया गया है, इससे काव्य में आनन्द और हृदयस्पर्शिता की उपस्थिति भी अनिवार्य हो गई है। "शब्दार्थौ" पद में काव्य के कलापक्ष और भावपक्ष का सामंजस्य आचार्य को अभिप्रेत है। इस परिभाषा की सबसे बड़ी विशेषता तो इसकी व्यवहारोपयोगिता है। इन परिभाषाओं में अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। यद्यपि अन्तिम दो काव्य-लक्षण संस्कृत के विद्वत्समाज में मम्मट की परिभाषा के समान आदृत नहीं हुए। इसका मूल कारण तो विश्वनाथ और पंडितराज की अन्य परिभाषाओं की कटु आलोचना है। इनकी इस आलोचना के कारण परवर्त्ती विद्वानों ने भी इन परिभाषाओं पर कठोर आलोचनात्मक दृष्टि ही डाली। इसीलिए दुर्भाग्य से किसी सहृदय समालोचक ने इसकी विशेषताओं का उद्घाटन भी नहीं किया। आधुनिक विद्वानों में इस लक्षण का आदर हो रहा है।

आचार्य विश्वनाथ के लक्षण में सबसे बड़ा दोष तो अव्याप्ति का ही माना गया है। केवल रसात्मक स्थलों को काव्य मानने से वस्तु और अलंकार के चमत्कार वाले स्थल अकाव्य हो जाते हैं। लेकिन जैसा ऊपर निर्देश किया जा चुका है कि यह आलोचना आचार्य के दृष्टिकोण को पूर्णतः ग्रहण न करने के कारण हुई है। रस से उनका तात्पर्य केवल शास्त्रीय रस से नहीं है। जो स्थल सहृदय को तल्लीन कर सके, उसको आह्लाद का आस्वाद करा सके वही स्थल रसात्मक है। जिन स्थलों में सहृदय के हृदय को स्पर्श करने की थोड़ी-सी भी क्षमता है, जो स्थल पाठक को अपनी संकुचित वैयक्तिकता से लोक सामान्य की भावभूमि पर उठा सकते हैं, उन्हें चमत्कृत और आनन्दित कर सकते हैं, वे सब स्थल काव्य हैं। फिर चाहे इस चमत्कार या आह्लाद का कारण रस है या वस्तु अथवा अलंकार। हां, केवल बुद्धि को चमत्कृत करने वाली पद्यबद्ध रचना इस लक्षण के अनुसार काव्य नहीं कही जायगी। और उन्हें काव्य कहने में या तो आचार्यों का अभिप्राय ही नहीं है अथवा यह काव्य शब्द

का केवल औपचारिक प्रयोग-मात्र है। "वाक्य रसात्मकं काव्यम्" में बहुव्रीहि समास के कारण 'वाच्य' शब्द का प्राधान्य होगया है। इसी पर उनके आलोचकों ने इस लक्षण के लिए "विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरं" कहा है। विश्वनाथ द्वारा 'काव्य-प्रकाश' के लक्षण की की गई कटु और सारहीन आलोचना का उत्तर देने के अभिप्राय से तो ठीक है, पर सिद्धान्त-निरूपण की दृष्टि से यह आलोचना केवल कटु-आक्षेप-मात्र ही कही जा सकती है। 'मम्मट' भी 'सगुणों' को नहीं अपितु 'शब्दार्थों' को ही काव्य कह रहे हैं। पंडितराज भी 'शब्द' को ही काव्य कहते हैं। इसका यह तात्पर्य तो नहीं कि उनका संरम्भ अर्थ की रमणीयता अथवा सगुणों में नहीं। ये विशेषण ही तो काव्य को शास्त्र से पृथक् कर रहे हैं, इसलिए इन्हींकी प्रधानता है। जिस माध्यम से रस की अभिव्यक्ति और चर्वणा होती है वही तो काव्य है और वह माध्यय 'वाक्य' ही है। रसानुभूति अथवा लोकोत्तर आह्लाद का कारण तो नाद, नृत्य, चित्र आदि भी हैं, पर उन्हें काव्य नाम से अभिहित नहीं करना है। लक्षण की व्याप्ति संगीत, नृत्य, चित्र आदि कलाओं में न चली जाय, इसी उद्देश्य से आचार्य ने 'वाक्य' शब्द का प्रयोग किया है और वह समीचीन है। रसपूर्ण वाक्य ही काव्य है, रस नहीं।

यहाँ पर यह याद दिला देना अप्रासंगिक नहीं है कि काव्य में 'रस' के प्राधान्य को स्पष्टतया कोई भी अस्वीकार नहीं कर सका है। वामन, दण्डी आदि अलंकारवादी आचार्य भी काव्य में रस का महत्त्व स्वीकार करते हैं, यह पहले दिखाया जा चुका है। भरत तो रस के आदि आचार्य ही हैं। कुन्तक, महिमभट्ट आदि आचार्यो का मतभेद भी रस-सिद्धान्त पर नहीं है। ध्वनिकार और अभिनव गुप्त ने तो स्पष्ट शब्दों में 'रस' का प्राधान्य घोषित किया है। उन्होंने वस्तुतः काव्य की आत्मा 'रस' ही मानी है, वस्तु और अलंकार तो रस के सहायक हैं। उनको आत्मा कहना तो केवल गौण प्रयोग-मात्र है।[1] अभिनव गुप्त ने औचित्य के सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए भी रस के प्राधान्य का ही प्रतिपदान किया है।[2] इस पर इसी अध्याय में पहले-पहले विशद रूप में विवेचन किया जा चुका है। यहाँ पर प्रसंगवश इसका निर्देश भर करना पड़ा है। भोज ने अपने लक्षण में भी 'रस' को स्थान दे दिया है। कहने का तात्पर्य

---

१. "रसादयो हि द्वयोरपि तयोः काव्य-नाटकयोः जीवभूतः"—ध्वन्यालोकः।
तेन रस एव वस्तुतः आत्मा वस्त्वलंकार ध्वनीतु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते।
—'लोचन'।

२. उचित शब्देन रस विषयमौचित्यं भवतीति। —'लोचन'।

यह है कि पहली कई शताब्दियों के चिन्तन ने भारतीय समीक्षा-पद्धति में रस को जो स्थान प्रदान कर दिया था उसके कारण "रस" शब्द को लक्षण घटक न मानना अथवा लक्षण की पदावली में से उसका तिरस्कार आचार्यों को खटक रहा होगा। आचार्य विश्वनाथ ने इसी अभाव की पूर्ति की है। इस प्रकार 'साहित्य दर्पण' के इस लक्षण में शताब्दियों के चिन्तन का सार ही नहीं अपितु आचार्यों के हृदय का रस के प्रति स्पष्ट और उत्कट अनुराग भी अभिव्यंजित हुआ है। परिभाषा की संश्लिष्टता की दृष्टि से यह लक्षण मम्मट के लक्षण की अपेक्षा प्रौढ़ है। मम्मट का लक्षण-काव्य का वर्णन अथवा तत्त्वों का परिगणन अधिक है।

काव्य-लक्षण को "रमणीयता" के आधार पर अधिष्ठित करके पंडितराज ने रस, अलंकार, रीति आदि का साम्प्रदायिक झगड़ा ही मिटा दिया। पूर्व के आचार्य इनमें से किसी एक तत्त्व को प्रधानता देकर उसीको लक्षण घटक मानते थे। पर पंडितराज ने अपने लक्षण को काव्य की मूल आधार-भित्ति पर अधिष्ठित किया है। "रमणीयता" अर्थात् सौंदर्य और तज्जनित आह्लाद ही काव्य के प्राण हैं। "रस" तो इसका एक प्रकार से प्रधान स्वरूप कहा जा सकता है, पर अलंकार, गुण आदि का अस्तित्व भी इसी आह्लाद के लिए है। "ध्वनि-काव्य" की श्रेष्ठता का कारण भी सहृदय का आह्लाद ही है। रमणीयता के समावेश से यह लक्षण अत्यन्त व्यापक हो गया है। सरस, सालंकार आदि शास्त्रीय विशेषताओं से विभूषित स्थलों के अतिरिक्त, वे पद्य भी काव्य माने जायेंगे जो शास्त्रीय शब्दावली की इस परिधि में नहीं आ पाते हैं। कवि-प्रतिभा इन नियमोपनियमों में बँधकर नहीं चल सकती। उसकी अभिव्यंजना अलंकार-शास्त्र की मान्य शैलियों तक सीमित नहीं रह सकती—अलंकार, गुण, रीति, व्यंजना आदि के मान्य कठघरों में बन्द नहीं रह सकती। कवि-प्रतिभा उन्मुक्त और स्वच्छन्द वातावरण में विकसित होती है। रमणीयता द्वारा कवि-प्रतिभा की स्वच्छन्दता स्वीकृत हुई है। दूसरे केवल अलंकार, गुण आदि की भरमार से काव्यत्व नहीं है। काव्यत्व का वास्तविक मानदण्ड तो वही लोकोत्तर आह्लाद है जिसे पंडितराज रमणीयता के नाम से अभिहित करते हैं। इस प्रकार 'रस गङ्गाधर' के काव्य-लक्षण में काव्य के व्यापक मानदण्ड का ग्रहण हुआ है। "रमणीयार्थ" का महत्त्व स्वीकार करके आचार्य ने शब्द और अर्थ के सामंजस्य की ओर परोक्ष रूप में संकेत किया है। अगर इस समन्वय की स्पष्ट स्वीकृति हो पाती, तो इस परिभाषा का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। आज भी यह लक्षण सर्वोत्कृष्ट माने जाने की क्षमता रखता है।

संस्कृत-अलंकार-शास्त्र में काव्य के स्वरूप पर विचार करने का एक दृष्टिकोण चमत्कार भी था। अलंकार, गुण, रस, ध्वनि आदि के आचार्य चमत्कार-तत्त्व का भी निरूपण करते रहे। रस की तरह यह शब्द भी अलंकार-शास्त्र में पाक-शास्त्र से ही आया है। इस क्षेत्र में इनका तात्पर्य आश्चर्य और तज्जनित आनन्द हो गया। काव्यानन्द के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग 'ध्वन्या-लोक' और 'लोचन' में हुआ है। अभिनव गुप्त के शिष्य क्षेमेन्द्र के 'कविकंठाभरण' में चमत्कार पर एक पूरा अध्याय है। नारायण ने चमत्कार शब्द को चित्त-विस्तार के अर्थ में लिया है। इस प्रकार सब रसों का समावेश इसी में कर दिया है। क्षेमेन्द्र के बाद चौदहवीं शताब्दी में विश्वेश्वर ने भी काव्य का अध्ययन चमत्कार की दृष्टि से किया है। उन्होंने इसको सहृदय का आनन्द कहा है। रस, गुण, अलंकार आदि सभी तत्त्वों को चमत्कार का कारण माना है।[1] हरिप्रसाद ने अपने 'काव्यालोक' में चमत्कार को काव्य की आत्मा कहा है।[2] पंडितराज की रमणीयता भी इसी चमत्कार का परिष्कृत और विकसित रूप है। चमत्कार की अपेक्षा इसमें अधिक अर्थ-गाम्भीर्य है। अलौकिक आह्लाद, काव्य के प्राण, इस शब्द से अधिक स्पष्ट है। इसमें सौन्दर्य और आनन्द दोनों का समन्वय है। वास्तव में रमणीयता सुन्दर और आनन्द दोनों के स्थूल तत्त्वों का सम्मिश्रण-मात्र नहीं है। इसमें सौंदर्य की चिर नवीनता का भाव भी सन्निहित है। ये भाव सौन्दर्य और आनन्द शब्द से व्यंजित नहीं होते। पंडितराज ने इसे "लोकोत्तरज्ञानगोचरता" और "लोकोत्तर आह्लाद" कहा है। कवि रमणीयता को स्पष्ट करते हुए कहता है: "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपम् रमणीयतायाः" काव्य के अर्थ का क्षण-क्षण नवीन प्रतीत होना और उससे आनन्द की बढ़ती हुई प्रतीति कितनी आवश्यक है। सहृदय अर्थ का जितना अधिक अनुशीलन करे उतना ही गम्भीर वह होता जाय और अर्थ की गम्भीर और नवीन उद्भावना से उतना ही आनन्द भी बढ़ता जाय, यही काव्य की उत्कृष्टता है। वह काव्य ही क्या जो क्षणिक जिज्ञासा को शान्त भर कर सके, जिसे दूसरी बार पढ़ने का मन हो न करे। क्षणिक कुतूहल की तृप्ति

---

१. चमत्कारस्तु विदुषामानन्दपरिवाहकृत् ।
   गुणं रीतिं रसं वृत्तिं पाकं शय्यामलंकृतिम् ॥
   सप्तैतानि चमत्कारणं ब्रुवते बुधाः ॥

२. विशिष्ट शब्दरूपस्य काव्यस्यात्मा चमत्कृतिः ॥
   उत्पत्तिभूमिः प्रतिभा मनागत्रोपपादितम् ।

करने वाला काव्य केवल मनोरंजन का साधन-मात्र है, उसकी समता ब्रह्मानन्द-सहोदर से नहीं हो सकती। काव्य को साधारण मनोरंजन का साधन-मात्र बनाने का अभिप्राय भारतीय आचार्यों का नहीं रहा है। इससे पंडितराज के काव्य-लक्षण की विशदता, गम्भीरता और समीचीनता स्पष्ट है। रस, अलंकार आदि के विवेचन से आचार्य लोग इसी आह्लाद के स्वरूप तथा साधनों की विवेचना कर रहे थे। पंडितराज ने "रमणीयता" शब्द से विकास को चरम अवस्था पर पहुँचा दिया है। जिस सामंजस्य का प्रयत्न ध्वनिकार ने प्रारम्भ किया वह पंडितराज द्वारा पूर्णता को पहुँचाया गया।

भरत से लेकर पंडितराज के समय तक की इन शताब्दियों में प्रवाहित चिन्तन-धारा अत्यन्त विशद और गहन रही है। काव्य के स्वरूप की प्रतिष्ठा में भारतीय चिन्तकों ने जिन तत्वों का अन्वेषण किया है, उनसे उनकी असाधारण चिन्तनशीलता का परिचय मिलता है। उनका दृष्टिकोण साधारण मनोरंजन तक सीमित नहीं हुआ। वह लोकोत्तर आह्लाद तक पहुँचा है। सौन्दर्य की धारणा भी अलौकिक और विराट् रही है। शब्द और अर्थ काव्य-निर्माण की सामग्री है। सामग्री का जुटा लेना वस्तु नहीं है। सामग्री की विशिष्ट व्यवस्था और क्रम ही वस्तु है। आचार्यों ने शब्द और अर्थ के साधारण संयोग-मात्र को काव्य नहीं कहा। तथ्य-निरूपण काव्य नहीं है। काव्य में विच्छित्ति अत्यन्त ही आवश्यक है। उसमें शब्द और अर्थ के विशिष्ट समन्वय की अनिवार्यता प्रतिपादित हुई। शब्द की सामान्य शक्ति काव्य के उपयुक्त नहीं, उनमें इतनी क्षमता नहीं कि काव्य के लोकोत्तर आह्लाद का आस्वाद करा सके। उसके लिए शब्द और अर्थ की असीम शक्ति चाहिए। यह कार्य अभिधा नहीं व्यंजना ही कर सकती है। ध्वनि-सिद्धान्त इस सत्य को लेकर चला है। व्यंजना की असीमता के कारण ही वह काव्य की आत्मा है। भरत का रस-सिद्धान्त विश्व को एक अनुपम देन है। मानव के सतोगुण से प्रेरित सभी कार्य उसे अनन्त चेतना की सत्ता के समीप ले जाने वाले होते हैं। मानव निजत्व की संकुचित परिधि में से निकलकर आनन्द-स्वरूप व्यापक चेतन से तदाकार होने का प्रयत्न करता है। काव्य भी उसीका एक साधन है। पश्चिम की तरह भारतीय काव्य बेकार समय का मनोरंजन नहीं है, सांसारिक दुःखों से उत्पीड़ित, अत्याचारों से विकल मानवता की विस्मृतिजन्य विश्रान्ति नहीं है। भारतीय काव्य ज्ञान और आनन्द स्वरूप चेतना की अखंड और वेद्यान्तर अनुभूति है। वह क्रूरता, भीषणता और ग्लानि की शिकार मानव की चीत्कार नहीं, वह उसका स्वर्गीय संगीत है। काव्य-पुरुष की कल्पना

कितनी सजीव और प्रौढ़ कल्पना है। ध्वनि के आश्रय से अभिव्यक्त रस रूप आत्मा से प्रकाशित, अनौचित्य से अनुप्राणित रीति ही इस पुरुष की अंग-संघटना है, शब्दार्थमय पुष्ट शरीर है, छन्दों के सुन्दर वस्त्र धारण किये हैं और अलंकारों से विभूषित है।

काव्य-लक्षण के तत्वों में एक निश्चित विकास हुआ है। पहले शब्द और अर्थ के किसी भी सम्बन्ध को काव्य माना गया। धीरे-धीरे शब्द और अर्थ के समन्वय की भावना का विकास हुआ। सौन्दर्य-तत्त्व ही काव्य की विशेषता मानी जाने लगी। "इष्टार्थ" विशिष्ट आदि पदों द्वारा अर्थ की चारुता की ओर आचार्यों का ध्यान आकृष्ट हुआ। "चारुत्वप्रतीतिहिस्तर्हि काव्यस्यात्मा" से यह भी स्पष्ट है। यह भी काव्य का बाह्य पक्ष था। आचार्य लोग अभिव्यंजना के सौन्दर्य को ही काव्य का सर्वस्व मानते रहे। अलंकार, गुण, रीति आदि तत्वों की प्रधानता इसे स्पष्ट कर रही है। अलंकारों की अपेक्षा गुणों को काव्य के आभ्यन्तर के अधिक सन्निकट समझा गया, इसलिए "काव्य शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः" कहा गया। इस प्रकार गुण और अलंकार के अन्तर को स्पष्ट कर लेने की भी आवश्यकता हुई। दंडी ने "शरीर" तथा वामन ने "आत्मा" शब्द के प्रयोग से चिन्तन-धारा की नई सरणी खोल दी थी। काव्य के बाह्य और आभ्यन्तर पक्ष का भेद उन्हें कुछ स्पष्ट होने लगा था। ध्वनिकार ने तो शब्दार्थ को शरीर कहकर इस भेद को पूर्ण स्पष्ट कर दिया। "रस" को सभी आचार्य किसी-न-किसी रूप में स्वीकार करते ही आये थे। ध्वनिकार ने इसे ही काव्य की आत्मा कहकर विकास को आगे बढ़ा दिया। ध्वनि और औचित्य-सिद्धान्त तो इसके स्वाभाविक परिणाम थे ही, अभिनव गुप्त ने "रस" को आत्मा तथा औचित्य को जीव कहकर इसमें भी व्यवस्था ला दी। काव्य-पुरुष की कल्पना ही इस चिन्तन की परिपक्व अवस्था है। परवर्ती आचार्यों ने "रमणीयता" शब्द के द्वारा कुछ मौलिकता का परिचय दिया, पर वह भी "रस" या काव्यानन्द का व्यापक रूप-मात्र है। संस्कृत-समीक्षा-शास्त्र का विकास रस के अलौकिक स्वरूप की धारणा से प्रारम्भ होकर अन्त में उसीमें पर्यवसित हो गया। यह विकास आनन्द और सौन्दर्य के बदलते हुए अहम् का इतिहास-मात्र है। अलंकार, गुण, वक्रोक्ति आदि में काव्य के इस अहम् की भ्रान्ति रही। निरन्तर चिन्तन के फलस्वरूप अन्त में काव्य ने अपने वास्तविक रूप को पहचाना। पहले वह शब्दार्थमय शरीर को ही अहम् समझता रहा पर अन्त में उसकी भी स्वरूप में स्थिति हुई और रस रूप आत्मा की पुनः प्रतिष्ठा हो गई। भ्रान्ति से जिन्हें काव्य की आत्मा कहा गया था, वास्तविक

आत्मा के पहचानने के बाद उनमें भी सामंजस्य स्थापित हुआ। संक्षेप में यही भारतीय समीक्षा-विकास का इतिहास है। ध्वनि और औचित्य के सिद्धान्त ने जिस सामंजस्य को प्रारम्भ किया है, वही रमणीयता के सिद्धान्त द्वारा पूर्णता को पहुँच गया। यह शास्त्र की संकुचित पदावली का अतिक्रमण कर गया। काव्य के ब्रह्म् को स्थापित शरीर, चित्ताभास को घेरकर भी अतिक्रान्त और तुरीय अवस्था में है। रमणीयता रस के शास्त्रीय रूप को मानते हुए भी उससे उच्च और अतिक्रान्त अवस्था की द्योतक है।

संस्कृत के आचार्यों ने काव्य के कारण तथा प्रयोजन पर भी विस्तृत विवेचन किया है। प्रतिभा को काव्य का कारण मानने में आचार्यों का एक मत है। लेकिन कुछ आचार्य प्रतिभा के साथ अभ्यास और व्युत्पत्ति को भी काव्य का कारण मानते हैं। इनमें आचार्यों के दो सम्प्रदाय हैं। कुछ तो केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण मानते हैं तथा दूसरे तीनों को सम्मिलित रूप में। प्रतिभा को ही एक-मात्र काव्य का कारण मानने वाले प्रधान आचार्य हैं भामह, रुद्रट, वामन और पण्डितराज। दूसरे सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य हैं दंडी, वाग्भट्ट, मम्मट आदि। दंडी ने काव्य के कारण की विवेचना करते हुए तीनों को ही काव्य का कारण माना है।[1] इन तीनों कारणों में उन्होंने प्रतिभा को ही प्रधान माना है। प्रतिभा के अभाव में भी शास्त्राभ्यास, श्रवण, मनन आदि से मानव कवित्व-शक्ति उत्पन्न कर सकता है। सरस्वती उस पर भी प्रसन्न हो जाती है।[2] रुद्रट ने केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण कहा है, पर उसके सहजा तथा उत्पाद्या नाम से दो भेद मानकर शास्त्राभ्यास को भी उन्होंने काव्य का कारण मान लिया है।[3] रुद्रट ने प्रतिभा को ईश्वर-दत्तशक्ति कहा है, पर शास्त्राभ्यास और काव्यानुशीलन से उसका विकास भी संभव माना है। आचार्य मम्मट और प्रायः अन्य सभी परवर्ती आचार्यों ने काव्य-कारण में रुद्रट के ही मत को मान्य समझा है। उसकी व्याख्या की है, और कुछ परिष्कार भी किये हैं। एक प्रकार से मम्मट का मत रुद्रट के मत का प्रौढ़ रूप है। 'आचार्य ने स्पष्ट शब्दों में शक्ति, निपुणता और अभ्यास को सम्मिलित रूप से काव्य का हेतु

---

१. नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्य सम्पदः॥ काव्यादर्श १।१०३॥

२. न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥काव्यादर्श १।१०५॥

३. सहोत्पाद्या, च सा द्विविधा भवति।
उत्पाद्यातु कथञ्चिद् व्युत्पत्त्या जायते परया॥ रुद्रट॥

माना है।[1] श्लोक की व्याख्या में भी अपने मन्तव्य को पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है। वे कहते हैं "त्रयः सम्मिलिताः......हेतुर्नहेतवः"। संस्कृत-साहित्य में यह मत प्रायः सर्वमान्य है।

केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण मानने वाले आचार्य भामह, वामन और पंडितराज हैं। भामह ने स्पष्ट शब्दों में प्रतिभा को ही काव्य का कारण घोषित किया है। वे कहते हैं कि मन्दबुद्धि गुरु-प्रसाद से शास्त्राध्ययन में भले समर्थ हो जाय पर काव्य तो केवल प्रतिभावान व्यक्ति का ही कार्य है।[2] वामन ने "कवित्ववीजे प्रतिमानं" कहा है। दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए राजशेखर ने जनमान्ध कुमारदास, मेधाविन् का उदाहरण भी दिया है। द्वितीय वाग्भट्ट ने प्रतिभा को काव्य का हेतु कहकर अभ्यास और शास्त्र-निपुणता को उसका संस्कारक कह दिया है।[3] पंडितराज ने प्रतिभा के दो भेद माने हैं प्रारब्धवशा और उत्पाद्या। इन दोनों को ही पंडितराज ने पृथक् रूप से काव्य के हेतु कहा है।

प्रतिभा के विवेचन में कहा गया है : "बुद्धिर्नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभामता"। काव्य-निर्माण में जिन शब्दों और अर्थों की अपेक्षा है उनकी तत्काल उपस्थिति को ही पंडितराज ने प्रतिभा कहा है। रुद्रट ने भी प्रतिभा के सम्बन्ध में ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं :

मनसि सदा सुसाधिनी विस्फुरमनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौशक्ति॥

प्रतिभा या शक्ति की इस परिभाषा को समझ लेने के बाद काव्य के कारणों की उद्भावना स्पष्ट हो जाती है। मूल रूप में ईश्वर-दत्त प्रतिभा (शक्ति) ही काव्य का कारण है। जितनी उत्कृष्ट रचना नैसर्गिक प्रतिभाशाली कवियों की होती है, उतनी अभ्यास और निपुणता से विकसित प्रतिभा के कारण नहीं। फिर भी व्युत्पत्ति और अभ्यास उपेक्षणीय नहीं हैं। कम प्रतिभा वालों में

---

१. शक्तिर्निपुणता लोककाव्यशास्त्राद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञ शिक्षाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥ काव्य प्रकाश १।३॥

२. गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः॥ भामह, काव्यालंकार॥

३. प्रतिभैव च कवीनां काव्य करणकारणं।
व्युत्पत्त्यभ्यासौ तस्या एव संस्कारकारकौ न काव्य हेतु॥ द्वितीय वाग्भट्ट, 'काव्यालोक' में यही उद्धरण गद्य में हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' से उद्धृत है।

काव्य सृजन की शक्ति तो उनके द्वारा आ ही जाती है। पर प्रतिभाशाली कवियों के लिए भी यह उपादेय है। रचना में लोकोत्तर आह्लाद का उद्रेक तो प्रतिभा से ही हो सकता है, पर उन भावनाओं की अभिव्यक्ति की सफलता के लिए निपुणता और अभ्यास भी अपेक्षित है। इस प्रकार काव्य के तीनों ही कारण हैं, वे भी सम्मिलित ही। इन तीनों में से एक में भी पृथक् रूप में काव्योत्पादन की क्षमता नहीं है। इसलिए मम्मट का मत ही समीचीन है। वामनाचार्य ने मम्मट की व्याख्या करते हुए चक्र, दंड आदि की घट के प्रति सम्मिलित कारणता का उदाहरण दिया है। भावों में मार्मिकता तथा हृदय-स्पर्शिता तो प्रतिभा से आती है, पर उन भावों को सुन्दर भाषा के आवरण में रखने में अभ्यास और निपुणता भी उत्तरदायी है। जिस कवि में इन तीनों में से एक की भी कमी हो उसके काव्य का सौंदर्य कम हो जाता है। इसी कारण बहुत से आचार्यों ने प्रतिभा को स्पष्टता पूर्वक काव्य का कारण प्रतिभा कहा है और शेष दो को उसके संस्कारक। यही दृष्टिकोण भारतीय आचार्यों का सार है, और उनके मत का प्रतिनिधि है।

मानव की कोई भी क्रिया निष्प्रयोजन नहीं है और इसी नियम से काव्य भी सप्रयोजन है। काव्य का सम्बन्ध कवि और सहृदय दोनों से है, इसलिए इसके प्रयोजन पर दोनों व्यक्तियों की दृष्टि से विचार हुआ है। जीवन की सभी क्रियाओं की तरह भारतीय आचार्यों ने काव्य का प्रयोजन भी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष अर्थात् चतुर्वर्ग की प्राप्ति कहा है। भरत ने काव्य के अत्यन्त व्यापक प्रयोजन की उद्भावना की है। उन्होंने काव्य को धार्मिक, नैतिक और दार्शनिक ज्ञान, दुर्विनीत व्यक्तियों का निग्रह तथा वीरों के उत्साह का कारण माना है। काव्य से आर्यजनों को सान्त्वना तथा उद्विग्नों को विश्रान्ति मिलती है।[1] भामह ने धर्मार्थकाममोक्ष के साथ कीर्ति और मनोरंजन को भी काव्य का प्रयोजन कहा है।[2] अनेक आचार्यों ने काव्य को भगवत्प्राप्ति का साधन भी कहा है। इस क्षेत्र में फैली अव्यवस्था का अन्त तो आचार्य मम्मट के विवेचन के पश्चात् ही हुआ है। "काव्यकप्राशकार" ने किसी नवीन प्रयोजन की उद्भावना नहीं की है, पर उनके विवेचन में एक क्रम और व्यवस्था

१. धर्माधर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम्।
निग्रहो दुर्विनीतानाम् विनीतानाम् दमक्रिया॥

२. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्य कलासु च।
करोति कीर्त्ति प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम्॥ भामह॥

है। उन्होंने कवि और सहृदय दोनों की दृष्टि से विचार किया है। अर्थ, लाभ, यश, व्यवहार-ज्ञान, अमंगल-नाश, अलौकिक आह्लाद तथा नैतिक उपदेश मम्मट के मतानुसार यही काव्य के प्रयोजन हैं।[1] इनमें प्रत्येक प्रयोजन पर कवि और सहृदय की दृष्टि से विशद विवेचन हुआ है। "यशसे" और "अर्थकृते" का तो स्पष्टतः ही कवि से सम्बन्ध है। सहृदय के लिए इस प्रयोजन की कल्पना का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। स्वयं ग्रन्थकार ने इस प्रयोजन से काव्य में प्रवृत्त अनेक कवियों के उदाहरण दिये हैं। शेष सभी प्रयोजनों में से कुछ का सम्बन्ध कवि से और कुछ का सहृदय से है, यह तो स्पष्ट ही है। इनमें से कुछ का सम्बन्ध सहृदय की अपेक्षा कवि से अथवा कवि की अपेक्षा सहृदय से अधिक है इस प्रकार का तारतम्य भी प्रतिपादित किया जा सकता है। "व्यवहारविदे" का सम्बन्ध सहृदय से ही अधिक है। कवि तो पहले से ही व्यवहार-कुशल होते ही हैं। शेष का सम्बन्ध सहृदय से ही अधिक है, यह स्पष्ट है स्तोत्र-पाठ मंगल-कामना से किया जाता है। पण्डितराज ने 'गंगा-लहरी' का प्रणयन तथा पाठ दोनों मंगल-कामना से किये थे। इस प्रकार "शिवेतरक्षतये" का सम्बन्ध कवि से भी हो सकता है। इसमें इतिहास प्रमाण है। काव्य-प्रयोजन के इस विवेचन से शिव और आनन्द का समन्वय स्पष्ट है। "कान्तासम्मितयोपदेश" में आचार्य ने एक साथ ही दोनों बातों को स्पष्ट कर दिया है। नैतिक उपदेश के लिए काव्य का सृजन होता है। पाठक के हृदय पर स्थायी प्रभाव डालने के लिए इसमें सौन्दर्य और आनन्द-तत्त्व का सम्मिश्रण कर दिया जाता है। यह "कान्तासम्मित" से स्पष्ट है। ऊपर के "यशसे", "अर्थकृते" आदि प्रयोजन तो गौण हैं। काव्य का वास्तविक प्रयोजन "सद्यः परनिर्वृत्तये" ही है। इसके लिए आचार्य ने "सकलप्रयोजन मौलिभूतं" कहा है। आह्लाद काव्य के प्राण हैं, इसके अभाव में काव्यत्व का ही कोई प्रमाण नहीं है। अर्थ, यश, व्यवहार-ज्ञान के लिए कवि काव्य का सृजन कर सकता है, पर आवश्यक नहीं है कि ये हों ही। ऐसे कवियों के उदाहरणों का अभाव नहीं है जिनको इनमें से एक भी प्रयोजन से प्रेरणा न मिली हो, जिन्होंने केवल "स्वान्तः सुखाय" ही काव्य-सृजन किया है। लेकिन "सद्यः परनिर्वृत्तये" का प्रयोजन तो सर्वत्र रहता ही है। वामनाचार्य ने इस प्रयोजन की प्रमुखता स्पष्ट शब्दों में घोषित की है "सकलेषु यशः प्रभृतिषु प्रयोजनेषु फलेषु मौलिभूतं प्रधानमित्यर्थः।" इस व्याख्या

---

१. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
　　सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥ काव्य प्रकाश ॥

के बाद इसकी प्रधानता में कोई संदेह नहीं रह जाता है। जैसा ऊपर निर्देश किया जा चुका है कि भारतीय आचार्यों के दृष्टिकोण में सौंदर्य, आनन्द और मंगल के समन्वय की प्रधानता है। मम्मट और साहित्य-दर्पणकार दोनों ने ही काव्य का उद्देश्य "रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्" बताया है। कान्ता के उपदेश में माधुर्य, सरसता और मार्दव होता है। पहले वह हृदय को द्रवित कर देती है और फिर अपना अभीप्सित व्यंजित करती है, इसके कारण उसका प्रभाव सहज और अवश्यम्भावी होता है। यही बात काव्य के लिए भी कही जा सकती है। इस उदाहरण के द्वारा आचार्य ने उपयोगिता और आनन्द दोनों का सुन्दर सम्मिश्रण कर दिया है। नैतिकता और आनन्द के इस संतुलन के कारण ही भारतीय समीक्षा-शास्त्र में "उपयोगितावाद", 'कलावाद", "अभिव्यंजनावाद" के विवाद नहीं खड़े हुए। यहाँ पर आनन्द की भावना पश्चिम के मनोरंजन से कहीं गहरी है। वह लोकोत्तर आह्लाद है। इसीलिए इसको आचार्यों ने "वेद्यान्तरसंस्पर्श शून्य" कहा है। यह आनन्द काव्यानुशीलन के समानान्तर है। ज्यों ही पाठक अनुशीलन करने लगता है त्यों ही उसे इस आनन्द का अनुभव होने लगता है। उस समय अन्य किसी विषय की प्रतीति नहीं होती इसलिए इसमें गहरी तल्लीनता की भावना भी व्यंजित है। काव्य-प्रयोजन पर विश्वनाथ और पंडितराज का आचार्य मम्मट से कोई मतभेद नहीं है। 'काव्य प्रकाश' का यह मत संस्कृत-समीक्षा-शास्त्र के तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है।

ऊपर यह निर्देश किया जा चुका है कि काव्य के इन प्रयोजनों में से कुछ का सम्बन्ध केवल सहृदय से है, और कुछ का कवि से। आचार्य मम्मट को यही अभिप्रेत है। उनका यह मन्तव्य "यथायोगं" से स्पष्ट है। बालबोधिनी टीका में भी इसका विवेचन है।[1] "परनिर्वृतये" का सम्बन्ध केवल सहृदय अर्थात् पाठक से ही है अथवा कवि से भी। इस प्रश्न पर अधिक विवेचन की आवश्यकता संस्कृत-आचार्यों ने नहीं समझी है। झलकीकर ने लिखा है: "परनिर्वृतिरपि सहृदयस्यैव। रसास्वादन काले कवेरपि सहृदयान्तः पातित्वात्।" आगे वे प्रदीप को उद्धृत करते हैं: "काव्यास्वादन काले कवेरपि सहृदयान्तः पातितया रसास्वादः"। "रस" का जो शास्त्रीय अर्थ है, उसकी निष्पत्ति तो सहृदय में ही हो सकती है, इसका विवेचन आगे किया जायगा। कवि भी सहृदय समाज में सम्मिलित होकर रसास्वाद करता है। यहाँ पर सहृदय शब्द विचार

---

१. काव्य-प्रकाश, बालबोधिनी पृष्ठ ६।

णीय है। क्या वह शब्द केवल पाठक या दर्शक के लिए ही प्रयुक्त हुआ है, या कारयित्री और भावयित्री दोनों प्रकार की प्रतिभाओं में से किसी एक से सम्पन्न के लिए भी। अगर "सहृदय" शब्द का दूसरा अर्थ लिया जाय तब तो स्पष्टतः ही संस्कृत-आचार्यों को कवि की आनन्दानुभूति भी मान्य है। वस्तुतः कवि को सृजनात्मक आनन्द के साथ ही प्रतिपाद्य विषय की तल्लीनता से जन्य आनन्द का भी अनुभव होता है। कवि की अनुभूति के साथ तादात्म्य कर लेने की क्षमता ही सहृदय का मान है। यह साधारणीकरण के सिद्धान्त से भी सिद्ध होता है, इसलिए पाठक की अनुभूति से कवि के आनन्द का अनुमान होता है। कवि के साथ ही तादात्म्य होता है। उसकी भावानुभूति ही पाठक में भी तत्सदृश अनुभूति जागृत करती है। इसलिए कवि की आनन्दानुभूति ही सहृदय में आनन्दानुभूति जागृत कर सकती है। इस प्रकार कवि में आनन्दानुभूति मानना अनुचित नहीं। जब तक विषय में तल्लीन होकर वह रसानुभूति नहीं करेगा तब तक पाठकों को रस में तल्लीन नहीं कर सकता। पर कवि वस्तु का सम्पूर्ण और संश्लिष्ट चित्र तटस्थ होकर नहीं देखता। वह सृजन करता है, इसलिए नियमों और अभिव्यंजना-कौशल के प्रति अधिक जागरूक रहता है, इसलिए उसे शास्त्रीय रस की अनुभूति न होकर एक निम्न अवस्था के आनन्द की अनुभूति होती है। वह निर्वैयक्तिक अवश्य है, इसलिए उसका भी 'सद्यः परनिर्वृतये' में अन्तर्भाव माना जा सकता है। सहृदय का लक्षण करते हुए ध्वनिकार ने कहा है : "वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयः।" इस लक्षण में वर्णनीय वस्तु से तन्मय-क्षमताके कारण ही सहृदय माना गया है और यह कवि के लिए भी उतना ही सत्य है जितना पाठक के लिए।

डॉ० सुशीलकुमार दे ने 'वक्रोक्ति जीवितम्' की भूमिका में काव्य के वर्ण्य विषय पर संस्कृत-आचार्यों के विवेचन को अपूर्ण बताया है। डॉक्टर-साहब को इस विचार-धारा की प्रेरणा पाश्चात्य-समीक्षा से मिली है। उन्होंने काव्य के वर्ण्य विषय के विवेचन को पश्चिम के सौंदर्य-शास्त्र की प्रधान वस्तु माना है।[1] काव्य और जीवन के सम्बन्ध पर इतना वाद-विवाद होने

---

1. "The Indians theorists have almost neglected, Perhaps the most important part of their task viz,a definition of the nature of the subject of a poem as a product of the mind of the poet, this problem is the main issue of the western aesthetics, only स्वाभाविक and भाविक can be adduced as a proof that the theorists were concious of the problem,but did not attack it in its entirety, treating only some aspect of it."

के कारण पश्चिम के विद्वानों को काव्य के वर्ण्य विषय पर विचार करने का पर्याप्त अवसर मिला है। डॉक्टर साहब के मतानुसार भारतीय आचार्यों ने स्वभावोक्ति और भाविक के निरूपण में इस विषय का थोड़ा-बहुत निरूपण किया है, लेकिन विषय की गहराई तक नहीं गए हैं। संस्कृत-साहित्य में उपर्युक्त दोनों के अतिरिक्त भी इस विषय का प्रतिपादन हुआ है। कवि को ब्रह्मा कहा गया है। इस अपार काव्य-जगत् का निर्माता कवि ही है। उसकी रसज्ञता के कारण उसके द्वारा निर्मित सारा संसार ही रसमय हो जाता है।[1] 'काव्य-प्रकाश' में भी काव्य को नियतिकृत सृष्टि से भिन्न कहा है। कार्य-कारण-परम्परा के निर्वाह की आवश्यकता काव्य-जगत् में नहीं है। काव्य-जगत् में समवायि, निमित्त कारणादि परतन्त्रता नहीं है। बाह्य दृष्टि से भिन्न नियमों द्वारा यह जगत् परिचालित होता है। बाह्य संसार में सर्वत्र आनन्द नहीं है, पर काव्य तो सर्वत्र आनन्दमय है।[2] इस प्रकार यह शेष सृष्टि से नितान्त भिन्न है। इस श्लोक में काव्यप्रकाशकार ने काव्य के विषय का स्वरूप प्रतिपादित किया है। रस-निरूपण आदि में अलौकिक आदि शब्दों द्वारा भी काव्य के वर्ण्य विषय का ही विवेचन है। इसके अतिरिक्त साधारणीकरण और विभाजन-व्यापार के द्वारा तो संस्कृत के आचार्य इस विषय की पर्याप्त गहराई तक पहुँचे हैं। काव्य-जगत् की वस्तु पर व्यक्तिगत राग-द्वेष और योग-क्षेम की भावना का आवरण नहीं रहता है। वह लोक-सामान्य की अनुभूति हो जाती है, यही रस-निष्पत्ति का मूल है। काव्य में वर्णित सभी भाव "मेरे-तेरे" के भेदों से ऊपर उठकर मानव-मात्र के हो जाते हैं। पश्चिम के समीक्षा-शास्त्र में तो इतनी प्रौढ़ता और स्पष्टता है भी नहीं। कवि ही वर्ण्य विषय का साधारणीकृत रूप ग्रहण करता है, अथवा पाठक के हृदय में उसका साधा-रणीकरण होता है. यह प्रश्न कुछ विवादास्पद है। कवि जब अपने राग-द्वेष से मुक्त होकर, केवल मानव-मात्र के राग-द्वेष के आवरण सहित अन्तःकरण से बाह्य जगत् की वस्तुओं का प्रत्यक्ष करता है और उस अनुभूति को भाषा

---

१. अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥

२. नियतिकृत नियम रहिता ह्लादैकमयीमनन्य परतन्त्राम्।
नव रस रुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥
॥ काव्य प्रकाश १।१॥
'वृत्ति' तथा 'बाल बोधिनी' टीका भी द्रष्टव्य है।

का रूप देता है, तभी काव्य का सृजन होता है। अगर ऐसा न होता तो भाव की कोई भी अभिव्यक्ति काव्य में मान ली जाती। सांसारिक करुणा, रति, निर्वेद आदि भी काव्य ही होते। इससे कवि में भी "साधारणीकरण" मानना अधिक समीचीन है। पर संस्कृत के आचार्यों ने स्वभावोक्ति, रसोक्ति, वक्रोक्ति तथा भाविक के विवेचन में काव्य के वर्ण्य विषय का विवेचन और भी गहराई के साथ किया है। हम यहाँ पर स्थानाभाव के कारण उन पर विशद विवेचन नहीं करते हैं। वार्ता को काव्य नहीं माना गया है। स्वभावोक्ति को भी काव्य में स्थान मिलने का कारण वस्तु-वर्णन की स्वाभाविकता का सौन्दर्य है। रसोक्ति का तो स्पष्टतः चित्त की वृत्ति से सम्बन्ध है ही। वचन की वक्रता, विच्छित्ति, सौन्दर्य, मार्मिकता आदि गुणों को काव्य में अनिवार्य मानने से स्पष्ट है कि संस्कृत के आचार्य काव्य के वर्ण्य विषय का निरूपण करना भूले नहीं हैं।

प्रतिहारेन्दुराज ने भाविकत्व का भट्टनायक के भावनाव्यापार से सम्बन्ध स्थापित किया है। उनके मतानुसार यह वह कल्पना है जो कवि और पाठक दोनों में ही होती है और जिसके द्वारा दोनों का सम्बन्ध स्थापित होता है। दूसरे आचार्य भाविक को भूत और भविष्य की वस्तुओं के वर्णन की ऐसी सजीवता कहते हैं जिससे वे वस्तुएँ वर्तमान-सी प्रतीत हों। भाविक के इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि संस्कृत के आचार्यों ने काव्य के वर्ण्य विषय पर विचार किया है। 'साधारणीकरण', विभावन व्यापार, उक्ति स्वभावोक्ति, रसोक्ति और वक्रोक्ति तथा भाविक के निरूपण में संस्कृत के आचार्य काव्य के वर्ण्य विषय की गहराई में पहुँचे हैं। इसलिए यह कहना तो ठीक नहीं कि यह विषय भारतीय आचार्यों द्वारा उपेक्षित है। पर फिर भी इस विवेचन का कवि अथवा सृजन-काल से सम्बन्ध नहीं है। आचार्यों ने साहित्य की प्रेरणा तथा कवि की मानसिक अवस्था का विश्लेषण नहीं किया है। साधारणीकरण के प्रसंग में इसका विशद विवेचन संभव था। पर संस्कृत के आचार्य ने सृजन की अपेक्षा काव्य के प्रभाव अथवा आस्वाद पक्ष का ही अधिक विवेचन किया है। इसलिए डॉक्टर साहब के कथन में सत्यांश अधिक है। पर संस्कृत के आचार्य ने इसकी नितान्त अवहेलना नहीं की है। हाँ, दृष्टिकोण-भेद के कारण पश्चिम के जितना विशद नहीं है।

काव्य के इन विभिन्न पक्षों पर विशद विवेचन करने के अतिरिक्त संस्कृत-आचार्यों ने अनेक तत्वों की उद्भावना की है। उस काव्य में उनके महत्त्व और स्थान पर भी पर्याप्त विचार हुआ है। दीर्घकालीन चिन्तन ने अनेक तत्वों

को निश्चित रूप प्रदान कर दिया। लेकिन बहुत से ऐसे भी तत्व हैं जो प्रौढ़ तर्कों का प्रहार नहीं सह सके और अन्य तत्वों में विलीन हो गए। लक्षण, पाक, शय्या आदि का विवेचन अपेक्षाकृत आधुनिक आचार्यों में उपलब्ध नहीं होता। इनमें कुछ अन्य तत्वों के उपभेदों के रूप में अब भी विद्यमान हैं। 'लक्षण' पर प्राचीन आचार्यों ने कितना विचार किया है और उसके कितने विभिन्न अर्थ उन्हें मान्य रहे हैं उसका दिग्दर्शन अभिनव गुप्त ने अपनी 'अभिनव भारती' में किया है। कुछ आचार्य लक्षण को संध्यंग कहते हैं, कुछ इसे कवि का प्रबन्ध कर्म मानते हैं। कुछ आचार्यों ने गुण और अलंकार के समुचित प्रयोग को लक्षण कहा है, कुछ की दृष्टि से काव्य-शरीर का स्वाभाविक सौन्दर्य ही लक्षण नाम से अभिहित किया जाना चाहिए। इससे लक्षण का गुण और अलंकार से भेद स्पष्ट हुआ है। कहने का तात्पर्य यह है कि लक्षण के स्वरूप और परिभाषा के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों के कई मत हैं। इसके अनिश्चित रूप और भिन्न अर्थों के कारण लक्षण भारतीय समीक्षा-शास्त्र में अपना पृथक् अस्तित्व नहीं बनाये रख सका। यह अपने कुछ अर्थों के साथ नाटक के तत्वों में मिल गया और काव्य-शरीर के सौन्दर्य वाला अर्थ अलंकार ने ग्रहण कर लिया, इसलिए यहाँ भी इसकी पृथक् सत्ता नहीं रही। "तुल्यतर्क" लक्षण में रूपक और उपमा का उल्लेख से सीधा सम्बन्ध है। लक्षण की तरह उपर्युक्त सभी तत्व दूसरों में विलीन हो गए। संस्कृत के आचार्यों ने कुछ ऐसे स्थायी तत्वों की भी उद्भावना की है जो किसी-न-किसी रूप में विश्व के अन्य समीक्षा-शास्त्रों में भी हैं। वहाँ पर इनका अत्यन्त अविकसित रूप मिलता है। पर भारतीय आचार्यों ने शताब्दियों के चिन्तन के उपरान्त इन्हें वह रूप प्रदान कर दिया है, जो चिरन्तन है। ये काव्य के मूलभूत तत्त्व हैं। इनके अभाव में काव्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इनमें से प्रधान है रस, अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि और औचित्य। इनमें अन्य तत्वों का एक अथवा दूसरे में अन्तर्भाव होता है। संस्कृत-आचार्यों ने इस पर भी विचार किया है। यह विवेचन इसी अध्याय में आगे किया जायगा।

रस, अलंकार, गुण आदि चिरस्थायी तत्वों के नाम पर विभिन्न सम्प्रदायों की कल्पना की गई है। निस्संदेह भारतीय आचार्यों का इन तत्वों के प्राधान्य के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद रहा है। कुछ आचार्यों ने अलंकारों को इतना व्यापक समझा कि उनमें रस आदि अन्य तत्वों का भी अन्तर्भाव हो गया। अगर एक आचार्य ने एक गुण माना तो दूसरे ने उसी स्थान पर अनेक माने।

वामन के श्लेष, समाधि और उदार को मम्मट ने "ओज" में ही सन्निविष्ट समझ लिया। किसी ने रस को अनुमित माना, तो किसी ने अभिव्यंजित। कुन्तक और महिमभट्ट को "ध्वनि" मान्य नहीं। वे व्यंजना-शक्ति की कल्पना ही निरर्थक समझते हैं। मम्मट और आनन्दवर्द्धन इस शब्द को ही व्यापक समझते हैं। इस प्रकार संस्कृत-आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। क्योंकि उन्होंने अपने विवेच्य विषय को कई दृष्टियों से देखा और उनका निरूपण किया। पर क्या इस मतभेद के कारण इन आचार्यों को विभिन्न सम्प्रदायों में विभाजित कर लेना समीचीन कहा जा सकता है। डॉ० दासगुप्ता ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर' में इस सम्प्रदाय-विभाजन को पश्चिम का अनुकरण माना है। उनके मतानुसार पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप हमारे विचार करने की पद्धति ही सम्प्रदाय-विभाजनमय हो गई है। दासगुप्ता के मतानुसार भारतीय साहित्य-शास्त्र की चिन्तन-धारा का ऐसा विभाजन समीचीन नहीं है। "रीतिरात्मा काव्यस्य" मानने वाले बहुत आचार्य नहीं हुए हैं। रस, गुण और अलंकार का विवेचन सभी आचार्यों ने किया है। केवल एक ही तत्त्व को काव्य का सर्वस्व मानने वाला कोई आचार्य नहीं हुआ है। इन तथाकथित मत-मतान्तरों के अन्तःस्तल में एक विचार-धारा प्रवाहित हो रही है। काव्य के वास्तविक स्वरूप के अनुसन्धान में आचार्यों ने विभिन्न तत्त्वों की उद्भावना की है। इन तत्त्वों में समन्वय स्थापित करने की आकांक्षा अत्यन्त प्राचीन काल में भी परिलक्षित हो रही है। अन्त में आनन्दवर्द्धन द्वारा यह समन्वय स्थापित भी हुआ है। इस सामंजस्य के बाद अलंकार अथवा रीति को काव्य की आत्मा मानने वाला कोई आचार्य नहीं हुआ। इन सभी तत्त्वों को एक विशिष्ट स्थान दे दिया गया। इस सामंजस्य के आधार पर ही काव्य-पुरुष की कल्पना हुई है और यह काव्य स्वरूप का प्रतिनिधि है। "काव्य क्या है" के प्रश्न पर गम्भीरता पूर्वक चिन्तन करते हुए भारतीय आचार्यों का ध्यान काव्य के विभिन्न तत्त्व, अलंकार, गुण आदि पर गया है। स्वभावतः उन्होंने काव्य के बाह्य स्वरूप को ही पहले काव्य समझा है। उसके बाद वे धीरे-धीरे काव्य की आत्मा की ओर बढ़े हैं। यही कारण है कि अलंकार, जिसका सम्बन्ध काव्य-शरीर से है, अत्यन्त प्राचीन सम्प्रदाय है। गुण इसकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म तथा आत्मा के सन्निकट है इसलिए अपेक्षाकृत नवीन है। इस प्रकार भारतीय चिन्तक "काव्य की आत्मा" के अनुसन्धान में अग्रसर हुआ है। इसी चिन्तन की विभिन्न अवस्थाएँ हैं, गुण, अलंकार आदि का साक्षात्कार तथा उन्हें काव्य की सर्वप्रधान वस्तु मान लेना। यह विकास "रस" और "ध्वनि" के अनुसन्धान तक यों ही

होता रहा और इन तत्वों के साक्षात्कार के अनन्तर सभी तत्वों में एक सामंजस्य स्थापित हो गया। इस प्रकार इन तथाकथित विभिन्न सम्प्रदायों को विकास की अवस्थाएँ कहना अधिक तर्कसंगत है। ये वैसे संप्रदाय नहीं हैं जो अन्त तक एक-दूसरे के विरोधी रहे हैं। एक ही विकासमान सिद्धान्त के विभिन्न स्तर 'स्टेजिज' होने के कारण इन सबका पर्यवसान एक में ही होता है। अगर इस दृष्टिकोण को सम्मुख रखकर इन्हें सम्प्रदाय कहना उचित समझा जाय तो कोई विरोध नहीं है। सम्प्रदाय शब्द के प्रयोग में हमारी कोई आपत्ति नहीं है। हमने भी स्थान-स्थान पर इस शब्द का प्रयोग किया है, लेकिन उसका एक कारण तो अपने मन्तव्य को बोधगम्य करने के लिए प्रचलित और मान्य पारिभाषिक शब्दावली को अपनाना भी है। वहां पर भी सम्प्रदाय शब्द से हमारा तात्पर्य यही है जो ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है।

संस्कृत-साहित्य के भिन्न काव्य-लक्षणों से भी यह स्पष्ट है कि इन्हें विभिन्न सम्प्रदाय मानने की अपेक्षा एक चिन्तन-धारा की अवस्था मानना अधिक समीचीन है। काव्य-लक्षण यह स्पष्ट करते हैं कि पहले आचार्यों का ध्यान काव्य के बहिरंग पर गया है। फिर वे धीरे-धीरे उसके अन्तरंग की ओर बढ़ रहे हैं। अन्त में जब उन्हें काव्य की आत्मा का साक्षात्कार हो गया तो उन्होंने इन सभी तत्वों में सामंजस्य स्थापित कर दिया। यह इसी अध्याय में पीछे काव्य-लक्षण पर लिखते हुए स्पष्ट किया गया है।

संस्कृत में काव्य-विभाजन का निरूपण अत्यन्त विशद है। आलंकारिकों ने इसके कई आधार अपनाये हैं, और इन सभी दृष्टियों से काव्य के अनेक प्रकार के विभाजन स्वीकृत हुए हैं। अत्यन्त प्राचीन भेद तो (जो संभवतः भरत के पूर्व भी मान्य रहता हो) श्रव्य और दृश्य का है। इस भेद का आधार ज्ञान का माध्यम इन्द्रिय है। इसके अनन्तर इन दोनों प्रधान भेदों के अनेक अवान्तर भेद स्वीकृत हुए। संस्कृत-साहित्य का दृश्य-काव्य-निरूपण अत्यन्त प्रौढ़ है। श्रव्य-काव्य के प्रबन्ध, और निर्बन्ध नामक भेद माने गए, तथा इनके भी अनेक अवान्तर भेद प्रतिपादित हुए। भेदों और उपभेदों की संख्या में वृद्धि करते जाना संस्कृत-आचार्यों के विवेचन की प्रमुख विशेषता है। प्रबन्ध के महाकाव्य, एकार्थ काव्य और खंड काव्य ये तीन रूप माने गए। किसी देव, राजा आदि महापुरुष का, धीरोदात्त या धीरललित नायक का वृत्तान्त अनेक सर्गों में वर्णन करने वाला काव्य महाकाव्य कहलाता है। इसमें अनेक रसों का वर्णन होना आवश्यक है।[1] एकार्थ काव्य लिखा तो जाता है महाकाव्य की

१. काव्यादर्श पृष्ठ ११।

शैली पर ही, लेकिन उसमें इतना विस्तार अपेक्षित नहीं है। खंड-काव्य में एक बृहद् घटना का एक अंश लिया जाता है उसमें नायक के चरित्र का एक पक्ष ही चित्रित किया जाता है। अनेक पद्यों में वर्णित कथात्मक अथवा वर्णनात्मक प्रसंग निबन्ध कहलाता है। निबन्ध के दो भेद हैं, मुक्तक और गीत। जिस रचना में रसोद्रेक के लिए विशेष अनुबन्ध की आवश्यकता न हो, स्वच्छन्दता हो, उसे मुक्तक कहते हैं। विशेषतः गेय तथा राग-रागिनी के अनुकूल होने के कारण रचना "गीति-काव्य" कहलाती है। मुक्तक के उपभेद हैं युग्मक, विशेषक, कलापक और कुलक। यह विभाजन छन्दों की संख्या के आधार पर किया गया है। पद्य, गद्य, और मिश्र ये तीन भेद भिन्न आधार को लेकर माने गए। मिश्र को "चम्पू" भी कहते हैं। साहित्य-क्षेत्र में इस दूसरे नाम का अधिक प्रयोग होता है। गद्य के उपभेदों में समास आदि का भी विचार हुआ है। गद्य के प्रसिद्ध भेद हैं, कथा और आख्यायिका।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि संस्कृत-साहित्य में दृश्य काव्य के भेदों और उपभेदों का बहुत ही विस्तृत निरूपण हुआ है, इसके दो प्रधान भेद हैं रूपक और उपरूपक। रूपक के नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, प्रहसन आदि दस तथा उपरूपक के नाटिका, त्रोटक, प्रस्थानक, प्रकरण आदि उन्नीस भेदों का निरूपण हुआ है। रूपक-निरूपण पर संस्कृत में पृथक् ग्रन्थ-रचना हुई है, इसलिए सब आचार्यों ने काव्य के दृश्य भेद और उसके उपभेदों का विचार नहीं किया है, पर काव्य-विभाजन के सामान्य स्वरूप पर प्रायः सभी आचार्यों ने थोड़ा-बहुत विचार किया है। उनमें कहीं-कहीं पारस्परिक मतभेद भी है। हेमचन्द्र ने आख्यायिका को काव्य के प्रधान भेदों में स्थान दिया है। प्रेक्ष्य तथा दृश्य काव्य का पाठ्य और गेय रूप भी स्वीकृत हुआ है। इस प्रकार काव्य-विभाजन में अनेक सूक्ष्म मतभेद हैं, जो इतने लम्बे काल के विवेचन में होने अनिवार्य भी हैं। साहित्यदर्पणकार ने श्रव्य और दृश्य दोनों प्रकार के काव्य-भेदों का निरूपण करते समय अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विवेचन को उपजीव्य बताया है।[1] इसलिए आचार्य विश्वनाथ द्वारा कृत काव्य-विभाग-निरूपण संस्कृत-समीक्षा का प्रतिनिधित्व करता है। 'दृश्य' और 'श्रव्य' दोनों का निरूपण होने के कारण यह अपने-आपमें पूर्ण भी है।

संस्कृत-साहित्य में ध्वनि के आधार पर जो काव्य-विभाजन हुआ है वह अत्यन्त मौलिक और प्रौढ़ है। इसकी सर्व प्रथम उद्भावना ध्वनिकार ने की

---

१. काव्यादर्श, पृष्ठ ११ और साहित्य दर्पण, पृष्ठ ७३।

है। और इसके बाद यह परवर्ती सभी आचार्यों को मान्य रहा है। चि
अथवा चमत्कार के हेतु की दृष्टि से काव्य के तीन भेद हो सकते हैं। आच
ने इन्हें रस-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि और वस्तु-ध्वनि के नाम से अभिहित कि
है। "रस-ध्वनि" में ही शेष दोनों का पर्यवसान मानने से इसका प्राधान्य
स्पष्ट ही है। रसवादी आचार्यों की दृष्टि से तो "वस्तु-ध्वनि" ‹
"अलंकार-ध्वनि" वाले स्थलों का काव्यत्व ही "रस" की व्यंजना में प
रूप से सहायक होने के कारण मान्य है। यही सिद्धान्त ठीक भी है। इ
में संस्कृत-आचार्यों की मूल चिन्तन-धारा का प्रतिनिधित्व भी है। इन दो ‹
के पृथक् अस्तित्व मानने से अलंकार और चमत्कार को भी काव्य की आ
मानने वाले आचार्यों को भी सन्तोष होता है और अलंकार तथा चमत्कार
काव्य में महत्त्व भी स्वीकृत हो जाता है। विवेचन की सूक्ष्मता के लिए
इन दोनों भेदों का निरूपण तर्क-सम्मत है। इसीलिए संस्कृत के सभी आच
ने इन भेदों को स्वीकार किया है, और काव्य का यह विभाजन समीचीन
है। व्यंजना के अभाव में काव्य नहीं माना गया है और इस भेद का आ
भी व्यंजना ही है। इन भेदों को आचार्यों ने उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया
ध्वनिकार ने "रस-ध्वनि" के उदाहरण में आदिकवि के प्रथम श्लोक '
निषाद" को उद्धृत किया है। उसमें करुण रस की व्यंजना मानी गई
मम्मट ने "निश्शेषच्युत चन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो" आदि में रीति
व्यंजना मानी है। पंडितराज ने व्यभिचारियों की व्यंजना का उदाहरण
दिया है।[1] दक्षिण दिशा में सूर्य का तेज भी मन्द हो जाता है, पर वहाँ
भी रघु का तेज पांड्य राजाओं से नहीं सहा गया। रघुवंश के इस श्लोक
व्यतिरेक अलंकार की व्यंजना मानी गई है।[2] साधारण अभिधेयार्थ में प
अलंकार नहीं है। अभिधेयार्थ के समझने के बाद सूर्य के प्रताप की अपे
रघु के प्रताप की अधिकता व्यंजित होती है, और इसे ही "अलंकार-ध्वनि" क
हैं। आचार्यों ने "वस्तु-ध्वनि" के अनेक उदाहरण दिये हैं, इनमें से कुछ ब
ही प्रसिद्ध हैं। एक अत्यन्त प्रसिद्ध उदाहरण अपभ्रंश का है।

---

१. गुरुमध्यगता मया नतांगी निहता नीरजकोरकेण मन्दम्।
दरकुण्डलताण्डवं नतभ्रूलतिकं मामवलोक्य घूर्णिताऽसीत्॥
—रस गंगाधर पृष्ठ ३०।

२. दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि।
तस्यामेव रघोः पांड्याः प्रतापं न विषेहिरे॥ रघुवंश॥

अभिधा और लक्षणा के आधार पर व्यंजना के अभिधा-मूला, और लक्षणा-मूला दो भेद स्वीकृत हुए हैं। अभिधा-मूला के आयन्तर भेद हैं असंलक्ष्य क्रम-ध्वनि और दूसरा संलक्ष्यक्रम-ध्वनि। इनमें से प्रथम में रस-ध्वनि और दूसरे में अलंकार और वस्तु का समावेश है। "रस" को असंलक्ष्य कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि रस की प्रतीति विभावादिक के अनन्तर ही होती है, पर क्रम के अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण वह संलक्ष्य नहीं रहता है, क्रम का अभाव मान्य नहीं है। लेकिन पंडितराज ने इसकी संलक्ष्यता का भी प्रतिपादन किया है। उन्होंने "तुल्यगता पि च सुतनुः" के उदाहरणों द्वारा इसे स्पष्ट किया है।[१] ऊपर व्यतिरेक-ध्वनि में हमने स्पष्ट देखा है कि अभिधेयार्थ और ध्वनि में क्रम अत्यन्त स्पष्ट है, इसलिए आचार्यों ने वस्तु और अलंकार-ध्वनि का समावेश संलक्ष्य-क्रम में किया है। अभिधा-मूला ध्वनि के दो और भेद माने जाते हैं अर्थान्तर-संक्रमित और अत्यन्त-तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि। प्रथम में अभिधेयार्थ दूसरे अर्थ में परिवर्तित हो जाता है, लेकिन दूसरे प्रकार की ध्वनि में अभिधेयार्थ अत्यन्त तिरस्कृत रहता है। इन्हीं को कुछ आचार्यों ने "विवक्षितान्य पर वाच्य" और "अविक्षित वाच्य" कहा है।

मम्मट ने व्यंजना के आधार पर ही काव्य के तीन भेद माने हैं: उत्तम, मध्यम और अधम। इन्हीं तीनों को क्रमशः ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और चित्रकाव्य कहा गया है। जिनमें व्यंग्यार्थ, अभिधेयार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारी और प्रधान हो उसे ध्वनि-काव्य कहते हैं।[२] जहाँ पर व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से अतिशायी न हो वहाँ पर गुणीभूत व्यंग्य होता है।[३] व्यंग्य-काव्य को चित्र अथवा अधम-काव्य के नाम से अभिहित किया गया है।[४] साहित्यदर्पणकार ने काव्य के "ध्वनि" और "गुणीभूत व्यंग्य" नाम से दो ही भेद माने हैं।[५] पंडितराज ने यहाँ पर भी अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। उन्होंने

---

१. देखिये 'रस गंगाधर' 'काव्य के भेद'।

२. इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिबुधैः कथितः।

—काव्य प्रकाश १। ४२॥

काव्यं वाच्यात् अभिधावृत्तिप्रतिपाद्यादर्थात् व्यंग्ये व्यंजना प्रतिपाद्येऽर्थे अतिशयिनी॥ वालबोधिनी॥

३. अतादृशि गुणीभूतव्यंग्येषु मध्यमम्। काव्य प्रकाश। १। ३।

४. काव्यं ध्वनिगुणीभूतव्यग्यं चेतद्विधा मतम्। साहित्य दर्पण॥

५. शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्य त्ववरं स्मृतम्। काव्य प्रकाश १। ४॥

पंडितराज को संभवतः मौलिक रूप से चिन्तन करने की प्रेरणा इसी शब्द से मिली है।

ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य आदि का रस, भाव, वस्तु आदि व्यंग्य अवान्तर भेद अत्यन्त प्रौढ़ और सूक्ष्म निरूपण-क्षमता का परिचायक है। इस प्रकार एक (अर्थात् ध्वनि) के नौ-नौ प्रधान तथा अनेक गौण भेद हो जाते हैं।

व्यंग्य और वाच्य तथा रस, वस्तु, अलंकार के आधार पर काव्य के भेदों के निरूपण की जिस पद्धति को संस्कृत के आचार्यों ने अपनाया है, वह अत्यन्त महत्वपूर्ण और अद्वितीय है। संभवतः विश्व की अन्य किसी भी भाषा में इतना प्रौढ़ और सूक्ष्म विवेचन नहीं है। संस्कृत के आचार्यों ने काव्य के वाह्य स्वरूप, अभिव्यंजना के प्रकार, वर्ण्य-विषय, भाषा आदि की दृष्टि से भी काव्य के भेदोपभेदों का विशद विवेचन किया है। इसका निर्देश हम ऊपर कर चुके हैं, पर इन वाह्य भेदों के जंजाल में उन्होंने काव्य की आत्मा की उपेक्षा नहीं की है। उनके विवेचन का मुख्य आधार "ध्वनि" आदि ही रहा है। इस प्रकार काव्य के बहिरंग से बढ़कर उसके अन्तस्तल तक पहुँचकर उसके उत्कर्ष अथवा अपकर्ष के देखने की प्रवृत्ति और क्षमता अत्यन्त स्पष्ट है। आनन्दवर्द्धनाचार्य ने ध्वनि के आधार पर 'काव्य का भेद केवल रूढ़ि और परम्परा का खंडन करने के लिए ही किया है। उनका तात्पर्य काव्य के वाह्य आकार-सम्बन्धी स्थूल भेदों से हटकर काव्य की आत्मा तक पहुँचकर परीक्षण करने का है। काव्य के आकार-सम्बन्धी भेद कृत्रिम हैं। इस विभाजन द्वारा रूढ़िप्रियता का खंडन किया गया है। काव्य अविभाज्य है, यह अक्षुण्ण धारा के समान प्रवाहित है, इस सत्य का भी निरूपण होता है। आनन्दवर्द्धन का अभिप्राय काव्य-विभाजन में नहीं अपितु रूढ़ि के खंडन में है। उत्तम-मध्यम आदि का भेद भी अत्यन्त स्थूल है। केवल व्यंग्य की प्रधानता के कारण किसी काव्य को सुगम कह देना इन आचार्यों को अभिप्रेत नहीं है। काव्य की उत्तमता के लिए रमणीयता, आह्लाद, हृदय-स्पर्शिता, एक शब्द में "रस" की प्रौढ़ व्यंजना ही अपेक्षित है। आनन्दवर्द्धन तथा परवर्ती सभी प्रधान आचार्यों का यही तात्पर्य है। वस्तु और अलंकार-ध्वनि का तो काव्यत्व भी रस-ध्वनि के कारण ही है। इस प्रकार केवल "व्यंजना" के आधार पर काव्य की उत्तमता की घोषणा में तात्पर्य नहीं है। आचार्य के कथन को स्थूल रूप और अभिधेयार्थ में ग्रहण करके वस्तु-ध्वनि वाले स्थलों को रस के गुणीभूत व्यंग्य वाले स्थलों से उत्कृष्ट मान लेना तो आचार्य-परम्परा के पूर्णतः प्रतिकूल होने के कारण अप-सिद्धान्त हो जायगा।

पंडितराज को संभवतः मौलिक रूप से चिन्तन करने की प्रेरणा इसी शब्द से मिली है।

ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य आदि का रस, भाव, वस्तु आदि व्यंग्य अवान्तर भेद अत्यन्त प्रौढ़ और सूक्ष्म निरूपण-क्षमता का परिचायक है। इस प्रकार एक (अर्थात् ध्वनि) के नौ-नौ प्रधान तथा अनेक गौण भेद हो जाते हैं।

व्यंग्य और वाच्य तथा रस, वस्तु, अलंकार के आधार पर काव्य के भेदों के निरूपण की जिस पद्धति को संस्कृत के आचार्यों ने अपनाया है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और अद्वितीय है। संभवतः विश्व की अन्य किसी भी भाषा में इतना प्रौढ़ और सूक्ष्म विवेचन नहीं है। संस्कृत के आचार्यों ने काव्य के वाह्य स्वरूप, अभिव्यंजना के प्रकार, वर्ण्य-विषय, भाषा आदि की दृष्टि से भी काव्य के भेदोपभेदों का विशद विवेचन किया है। इसका निर्देश हम ऊपर कर चुके हैं, पर इन वाह्य भेदों के जंजाल में उन्होंने काव्य की आत्मा की उपेक्षा नहीं की है। उनके विवेचन का मुख्य आधार "ध्वनि" आदि ही रहा है। इस प्रकार काव्य के बहिरंग से बढ़कर उसके अन्तस्तल तक पहुँचकर उसके उत्कर्ष अथवा अपकर्ष के देखने की प्रवृत्ति और क्षमता अत्यन्त स्पष्ट है। आनन्दवर्द्धनाचार्य ने ध्वनि के आधार पर 'काव्य का भेद केवल रूढ़ि और परम्परा का खंडन करने के लिए ही किया है। उनका तात्पर्य काव्य के वाह्य आकार-सम्बन्धी स्थूल भेदों से हटकर काव्य की आत्मा तक पहुँचकर परीक्षण करने का है। काव्य के आकार-सम्बन्धी भेद कृत्रिम हैं। इस विभाजन द्वारा रूढ़िप्रियता का खंडन किया गया है। काव्य अविभाज्य है, यह अक्षुण्ण धारा के समान प्रवाहित है, इस सत्य का भी निरूपण होता है। आनन्दवर्द्धन का अभिप्राय काव्य-विभाजन में नहीं अपितु रूढ़ि के खंडन में है। उत्तम-मध्यम आदि का भेद भी अत्यन्त स्थूल है। केवल व्यंग्य की प्रधानता के कारण किसी काव्य को सुगम कह देना इन आचार्यों को अभिप्रेत नहीं है। काव्य की उत्तमता के लिए रमणीयता, आह्लाद, हृदयस्पर्शिता, एक शब्द में "रस" की प्रौढ़ व्यंजना ही अपेक्षित है। आनन्दवर्द्धन तथा परवर्ती सभी प्रधान आचार्यों का यही तात्पर्य है। वस्तु और अलंकार-ध्वनि का तो काव्यत्व भी रस-ध्वनि के कारण ही है। इस प्रकार केवल "व्यंजना" के आधार पर काव्य की उत्तमता की घोषणा में तात्पर्य नहीं है। आचार्य के कथन को स्थूल रूप और अभिधेयार्थ में ग्रहण करके वस्तु-ध्वनि वाले स्थलों को रस के गुणीभूत व्यंग्य वाले स्थलों से उत्कृष्ट मान लेना तो भारतीय परम्परा के पूर्णतः प्रतिकूल होने के कारण अप-सिद्धान्त हो जायगा।

व्यंजना की प्रधानता होने के कारण इसे ध्वनि-काव्य मानना पड़ता है। इस दृष्टि से यह उत्तम काव्य है। इसका यह तात्पर्य कभी नहीं है कि वस्तु-ध्वनि का श्लोक रस या भाव वाले स्थल की तुलना में उत्कृष्ट है। कुप्पु स्वामी ने अपनी पुस्तक में इसको "सुवर्ण पुष्पां" तथा "अनुरागवती संध्या" नामक दो श्लोकों के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है।[1] प्रथम श्लोक केवल सूक्ति-मात्र है, पर ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार व्यंजना की प्रधानता होने के कारण उत्तम काव्य कहा जायगा और दूसरा मध्यम। रस काव्य की आत्मा है, उसके किसी भी रूप से वस्तु और अलंकार श्रेष्ठ नहीं हो सकते। अगर काव्य-विभाजन का यह आधार बिलकुल दृढ़ ही मान लिया जाय तो यह निरूपण बिलकुल अवैज्ञानिक और अप-सिद्धान्त होगा। आचार्य को यह अभीप्सित नहीं था, इसका निर्देश भी कुप्पुस्वामी ने कर दिया है।[2] स्वयं आचार्य ने इस विभाजन के पुनः संस्करण की क्षमता को स्वीकार किया है। इतना ही नहीं उन्होंने इसको प्रेरणा भी दी है। आचार्य मम्मट और पंडितराज का विवेचन वस्तुतः इस विभाजन का पुनः संस्कार-मात्र है। पंडितराज ने "अधमाधम" का खंडन "रमणीयता" के आधार पर किया है और उससे सूक्ति वाले स्थलों को व्यंजना-प्रधान होने पर भी उत्तमता का खंडन हो जायगा। पंडितराज ने रमणीयता के अभाव में सूक्ति-मात्र को काव्य मानने को अस्वीकार करके इस विभाजन की स्थूलता का स्पष्टतः खंडन कर दिया है। रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि को काव्य के प्रधान भेद मानकर उनमें उत्तम, मध्यम और अधम की कल्पना करने से उस विभाजन की वैज्ञानिकता स्पष्ट हो जाती है। "रस-ध्वनि" की सर्वोत्कृष्टता में कोई सन्देह ही नहीं है पर "वस्तु-ध्वनि" के स्थल को इसके गुणीभूत व्यंग्य से उत्तम मानना इस सिद्धान्त के बाह्य स्थूल और जड़ रूप का ग्रहण-मात्र है। ऐसा ही आचार्यों को अभिप्रेत है, इसका निर्देश ऊपर हो चुका है। कहने

---

१. सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्॥
× × ×
अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्सरः।
अहो दैवगतिः कीदृक्तथापि न समागमः॥

२. एच० बी० एल० पृष्ठ ४३-४४।
(Highways and Byways of Litirary criticism in Sanskrit)

का तात्पर्य यह है कि रस के गुणीभूत व्यंग्य की वस्तु-ध्वनि से उत्तमता में सन्देह नहीं है। इसी सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए पंडितराज ने अपने काव्य-विभाजन में शब्द-शक्ति और रमणीयता दोनों का सम्मिलित विचार किया है। जिस रसमय स्थल में कवि के असामर्थ्य के कारण व्यंग्य-सम्बन्धी कोई त्रुटि रह गई, उसको उत्तमोत्तम न कहकर उत्तम कह दिया जायगा। पर उसको केवल व्यंग्य की गौणता के कारण न अधम काव्य माना जा सकता है और न वस्तु-ध्वनि आदि से हेय। कुप्पुस्वामी द्वारा उद्धृत दो श्लोकों से यह अत्यन्त स्पष्ट है।

यह विभाजन-पद्धति विश्व के समीक्षा-शास्त्र को काव्य की आत्मा तक पैठने तथा तदुपरान्त काव्य की उत्कृष्टता का निर्णय करने का सन्देश देती है। काव्य वाह्य आकार-प्रकार में उलझकर समीक्षा करना व्यर्थ है। वाह्य स्वरूप के भेद कृत्रिम हैं, उनका कोई महत्त्व नहीं। काव्य के प्राण के स्पन्दन का अनुभव और माप ही वास्तविक काव्य-समीक्षा है।

पीछे हमने काव्य के कुछ प्रधान तत्त्वों का निर्देश किया है। अलंकारादि कुछ स्थायी तत्त्व प्रायः विश्व की प्रत्येक भाषा के समीक्षा-शास्त्र में मान्य हैं। संस्कृत-आचार्यों के प्रौढ़ चिन्तन के फलस्वरूप इन तत्त्वों को अत्यन्त स्पष्ट रूप मिल गया है। इतनी स्पष्टता अन्यत्र दुर्लभ है। यहां पर हम संक्षेप में इन तत्त्वों के विकास तथा स्वरूप पर विचार करेंगे। इन्हीं तत्त्वों के नाम पर कतिपय विद्वान् सम्प्रदाय-विभाजन करते हैं। हम यहाँ पर स्थानाभाव के कारण सम्प्रदायों के विकास पर नहीं लिखेंगे। संस्कृत-साहित्य के सम्प्रदायों के सम्बन्ध में हम अपना मन्तव्य इसी अध्याय में स्पष्ट कर चुके हैं।

रस और अलंकार संस्कृत-समीक्षा-शास्त्र की दो प्रधान वस्तुएँ हैं। इनका निरूपण प्रायः सभी ग्रन्थों में हुआ है। इनमें से कौन प्राचीन है, यह कहना कठिन है। भारतीय समीक्षा-सिद्धान्त के अनुसार काव्य के जो प्रधान तत्त्व हैं, उनके प्रादुर्भाव-काल के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। सभी प्रधान तत्त्वों के बीज वेद में ढूँढ निकालने की प्रवृत्ति है। इन तत्त्वों में प्राचीनता और नवीनता का तारतम्य स्थापित करने की सामग्री उपलब्ध भी नहीं है। संभवतः ऐसा कोई क्रम निश्चित किया भी नहीं जा सकता। काव्य की आत्मा के अनुसंधान में इन तत्त्वों का नामकरण भारतीय आचार्य करता गया है। काव्य में शोभा लाने वाले धर्म अलंकार माने जाते रहे। फिर उनमें से जिनका काव्य-सौन्दर्य से नित्य सम्बन्ध प्रतीत हुआ उन्हें रस का धर्म मानकर गुण कह दिया गया। गुणों का शब्द और अर्थ से सम्बन्ध मानकर

और अन्त में ध्वनिकार के समय में उनकी निश्चित परिभाषा बन गई। भामह आदि आलंकारिकों ने भी शब्द और अर्थ पर ही विचार किया है। उसीको सर्वस्व माना है, इसलिए एक प्रकार से उन्होंने भी परोक्ष रूप में अलंकारों की बहिरंगता स्वीकार कर ली है। अलंकारों को काव्य के शोभा-कारक तत्त्व कहा गया है। बाद में गुणों की भी यह परिभाषा करनी पड़ी। इस प्रकार आलंकारिकों के मस्तिष्क में अलंकार और गुणों के अन्तर को स्पष्ट समझ लेने की आवश्यकता अनुभव होने लगी। इस अन्तर के स्पष्टी-करण में तथा काव्य की आत्मा के अनुसन्धान में काव्य के बहिरंग और अन्तरंग पक्ष की कल्पना करना आवश्यक हो गया। गुणों की अलंकारों से तुलना करने पर अलंकारों की बहिरंगता, अपने-आप ही प्रतिपादित हो गई। इसी बहिरंग और अन्तरंग के विवेचन के द्वारा अलंकारों का स्वरूप निश्चित हो सका। यह कार्य आनन्दवर्द्धन, अभिनव गुप्त और भोज के समय तक पूर्ण हो पाया।

अलंकारों के विशेष और सामान्य दोनों स्वरूपों पर अत्यन्त विशद विवेचन हुआ है। सामान्य स्वरूप के विवेचन से अलंकार शब्द में व्यापक धर्म की प्रतिष्ठा हो गई। उक्ति-वैचित्र्य का कोई भी प्रकार अलंकार नाम से ही अभिहित किया गया। 'व्यक्ति-विवेक' और उसकी व्याख्या में अलंकारों को "भंगिभणिति" कहा गया है। यहाँ पर अलंकार की परिभाषा करते हुए "चारु-त्वमलंकारः" कहा गया है। यह वामन के अलंकार-लक्षण का शब्दान्तर-मात्र है। वामन अलंकार को "सौन्दर्यमलंकारः" कहकर अत्यन्त व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हैं। लेकिन उससे अलंकार के निश्चित स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। इसकी अपेक्षा वक्रोक्तिकार का विवेचन अलंकार को अधिक निश्चित स्वरूप प्रदान करता है। कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा कहा है। वे "भंगिभणिति" को ही अलंकार का सर्वस्व मानते हैं। यही दृष्टिकोण भामह का भी है। वे भी "वक्रोक्ति" को ही अलंकार का सर्वस्व मानते हैं। यह "कोऽलंकारः अनया विना" से अत्यन्त स्पष्ट है। 'व्यक्ति-विवेक' में यही कहा गया है। "शब्दार्थयोर्विच्छित्तिरलंकारः"। नमिसाधु ने भी हृदयग्राही अर्थ-प्रकारों को अलंकार कहा है।[1] 'काव्यादर्श' में अलंकारों को काव्य के शोभाकारक धर्म माना गया है। इन सभी लक्षणों से यह स्पष्ट है कि संस्कृत के आचार्यों ने अलंकार का कितना व्यापक अर्थ लिया है। शब्द

---

१. ततो यावन्तो हृदयावर्जका अर्थप्रकारास्तावन्तो अलंकाराः।

और अर्थ का असाधारणत्व, उक्ति का वैचित्र्य ही अलंकार है। 'गाय वनगाय-जैसी है' और 'मुख चन्द्रमा के समान है', ये दोनों उक्तियाँ आपाततः समान ही प्रतीत होती है। इन दोनों के बाह्य स्वरूप के आधार पर उन्हें 'उपमा' अलंकार के उदाहरण कहना चाहिए।[1] लेकिन प्राचीन आलंकारिकों का विवेचन इतना अप्रौढ़ और स्थूल नहीं है। उनकी व्याख्या इतने बहिरंग तत्वों पर नहीं टिकी है कि उन दोनों उक्तियों की अलंकारता मान्य हो जाय। तथ्य-निरूपण या वस्तु की बौद्धिक प्रतीति काव्य का विषय नहीं है। काव्य का विषय भाव की अनुभूति जाग्रत करना है। उसका क्षेत्र बुद्धि की अपेक्षा हृदय ही अधिक है। काव्य में वस्तु का अर्थ-ग्रहण नहीं अपितु बिम्ब-ग्रहण अपेक्षित है, वस्तु या भाव का साक्षात्कार करा देना काव्य का कार्य है। इस दृष्टि से विचार करने पर दूसरे वाक्य की अलंकारता स्पष्ट हो जाती है। संस्कृत के आचार्यों ने इतना सूक्ष्म विचार किया है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्यों को अलंकारों का काव्य के बाह्य पक्ष से ही सम्बन्ध मान्य है। आनन्दवर्द्धन के पहले तक इसका स्पष्ट निर्देश तो किसी ने भी नहीं किया है, क्योंकि उस समय तक काव्य के शरीर और आत्मा के अन्तर में ही स्पष्टता नहीं आ पाई थी। लेकिन अलंकारों को शब्द और अर्थ से सम्बद्ध मानने, शब्द और अर्थ की विच्छित्ति कहने, उन्हें चारुत्व का हेतु बताने का तात्पर्य ही यह है कि वे इनको काव्य-शरीर का धर्म मानते हैं। काव्यप्रकाशकार ने अलंकार और गुणों का अन्तर स्पष्ट करके अलंकारों की बहिरंगता निश्चित रूप से सिद्ध कर दी है। उन्होंने अलंकारों को शब्द और अर्थ में सौन्दर्य-वृद्धि करके काव्य के अंगीभूत रस का उपकारक कहा है। इनका सीधा सम्बन्ध तो काव्य के शरीर से ही है। अलंकारों और रस का सम्बन्ध व्यभिचारी और ऐच्छिक है। किसी भी अलंकार का किसी विशेष रस से कोई नित्य सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक अलंकार किसी भी रस का उपकारक हो सकता है और अलंकार के अभाव में भी रस की निष्पत्ति होती है। लेकिन गुण रस के नित्य धर्म हैं। उनका रसों से निश्चित सम्बन्ध है। माधुर्य वीभत्स और रौद्र में नहीं रहता। गुणों का भी शब्द और अर्थ से गौण सम्बन्ध है। उन्हें शब्द और अर्थ का धर्म कहना केवल गौण प्रयोग-मात्र है। वे शब्द और अर्थ के सौन्दर्य के हेतु हैं, लेकिन अलंकार उस सौन्दर्य में वृद्धि

१. उपमा हि यथा गौ तथा गवयः। रूपकम् गौः वाहीक इति। न वैभवादि काव्योपयोगीति ॥ लोचन, पृष्ठ २१० ॥

करने वाले हैं। इसीलिए मम्मट ने उनकी तुलना हार, अंगद आदि आभूषणों से की है।[1] आभूषण सौन्दर्य में वृद्धि करते हैं, सौन्दर्य उत्पन्न नहीं कर सकते। यही दृष्टिकोण साहित्यदर्पणकार का भी है।[2]

अलंकार काव्य के बहिरंग हैं, इसका स्पष्ट प्रतिपादन आनन्दवर्द्धन के अनन्तर ही होने लगा था। उनकी बहिरंगता की दृष्टि से जो विवेचन किया गया उसीसे अलंकार-लक्षण में विशेष स्पष्टता आई। ध्वनिकार इन तत्वों के महत्त्व में तारतम्य का निर्देश अंगीभूत औरअंगीभूत शब्दों का प्रयोग करके करते थे। काव्य की आत्मा को अंगी कहा गया था तथा शरीर को अंग। अलंकारों का समावेश निश्चय ही अंग में हुआ। आचार्य मम्मट और साहित्यदर्पणकार ने अलंकारों की तुलना हार आदि आभूषणों से की और इस प्रकार उनको अत्यधिक बहिरंग कह दिया। लावण्य के आकर्षक गुण की वृद्धि में आभूषण सहायक अवश्य होते हैं, पर उनके अभाव में भी लावण्य मनोमुग्धकारी होता है। इन आचार्यों की दृष्टि से अलंकारों का इतना ही महत्त्व रहा। लेकिन अभिनव गुप्त ने अलंकार-प्रयोग को सर्वत्र आभूषणवत् नहीं माना है। रसाक्षिप्त कवि द्वारा प्रयुक्त अलंकारों की तुलना कुङ्कुम-लेपन आदि क्रियाओं से ही करनी चाहिए। इतनी दृष्टि से अलंकार काव्य के लिए अपेक्षाकृत अधिक अन्तरंग हुए। भोज ने इसे और भी स्पष्ट कर दिया। उन्होंने वस्त्र, माला, आभूषण आदि धारण करना, बाल काढ़ना, और स्नान कुङ्कुम-लेपन आदि क्रियाओं को क्रमशः बाह्य, अभ्यन्तर और बाह्याभ्यन्तर कहा है तथा इनकी तुलना शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार से की है। आनन्दवर्द्धनाचार्य का दृष्टिकोण तो और भी विशद है। वे अलंकारों को केवल काव्य के अंगभूत नहीं मानते हैं। जो अलंकार वाच्य होते हैं वे तो अंगभूत हैं, लेकिन व्यंग्य अलंकार-काव्य की आत्मा बन जाते हैं। वे स्वयं अंगीभूत हो जाते हैं।[3] प्रतिभावान कवि के द्वारा अलंकार-प्रयोग स्वतः ही हो जाता है।[4] काव्य की भाषा साधारण बोल-चाल अथवा

---

१. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ काव्य प्रकाश ॥

२. शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा शोभातिकामिनः ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥ साहित्य-दर्पण ॥

३. शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वेन व्यवस्थितम् ।
ते अलंकाराः परां छाया भजन्ति ध्वन्यगता गताः ॥ ध्वन्यालोक, द्वितीय उद्योत ॥

४. अलंकाराणि हि निरूप्यमाण-दुर्घटान्यपि रस-समाहित चेतस. प्रतिभानावत: कवे यह पूर्विकया पराऽपतन्ति ।

उनकी उपादेयता रस-निष्पत्ति के सहयोग में है।[1] अलंकार के लिए अलंकार्य की अपेक्षा है, यही उसका बहिरंगत्व है। 'ध्वनि' होने पर तो यह बहिरंगत्व भी नहीं रह जाता है, अलंकार भी अन्तरंग ही बन जाता है। ऊपर अलंकार के सम्बन्ध में आनन्दवर्धनाचार्य का जो मत उद्धृत हुआ है, वह संस्कृत-साहित्य में सर्वमान्य है। आचार्य मम्मट ने भी गुण और अलंकार दोनों का काव्य से समवाय सम्बन्ध माना है, इससे उसकी अन्तरंगता प्रतिपादित हो गई है। उन्होंने अलंकारों से आभूषणों की तुलना अपूर्ण बताई है। 'काव्य-प्रकाश' के टीकाकार ने अलंकारों को शब्द और अर्थ से अपृथक् सत्ता वाला कहा है।[2] इससे उनके मत में भी अलंकार काव्य-शरीर के अभिन्न अंग हो गए हैं।

अलंकारों के सामान्य आधार के सम्बन्ध में भी संस्कृत-आचार्यों ने पर्याप्त विचार किया है। विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न आधार माने हैं। कुछ आचार्य सब अलंकारों को उपमा का ही भेद मानते हैं। उनका कहना है कि बिना उपमा के किसी भी अलंकार की अलंकारता संभव नहीं। दंडी ने सभी अलङ्कारों के मूल में श्लेष को माना है।[3] भामह को स्वभावोक्ति का अलङ्कारत्व मान्य नहीं है, इसका विवेचन आगे इसी अध्याय में 'वक्रोक्ति' के प्रसंग में किया जायगा। वे सब अलङ्कारों के लिए अतिशयोक्ति की अपेक्षा मानते हैं। भामह ने 'अतिशयोक्ति' और 'वक्रोक्ति' को प्रायः एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है। 'वक्रोक्ति' को अलङ्कारों का मूल आधार मानने के कारण ही उन्होंने सूक्ष्म, हेतु और लेश को अलङ्कार नहीं माना है। भामह को 'वक्रोक्ति-शून्यता' से 'सर्वालङ्काराभाव' ही अभिप्रेत है। कुन्तक ने तो 'वक्रोक्ति' शब्द का बहुत व्यापक अर्थ लिया है। उन्होंने अलङ्कार ही नहीं सारे काव्य की आधार-भूमि ही 'वक्रोक्ति' मान ली है। उनके 'वार्ता' को काव्य मानने का कारण भी यही है। 'वक्रोक्ति' शब्द का तात्पर्य उक्ति-वैचित्र्य के रूप में संस्कृत-आचार्यों को मान्य हो गया और इस रूप में 'वक्रोक्ति' को सभी ने अलंकार-मात्र की आधार-भूमि मान लिया है। इसका और विशद विवेचन आगे किया जायगा।

संस्कृत में समीक्षा-शास्त्र के प्राचीनतम उदाहरण अलंकार-निरूपण के

---

१. तथा हि अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति अलंकार्यस्याभावात्।
यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति अलंकार्यस्य अनौचित्यात्॥
'ध्वन्यालोक', लोचन पृष्ठ ७५।

२. 'काव्य-प्रकाश', बालबोधिनी पृष्ठ ८७०-७१।

३. श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।

रूप में ही प्राप्त होते हैं।[1] सभी आचार्यों ने इस विषय पर थोड़ा विचार तो किया ही है। भेदों और उपभेदों की कल्पना करते जाना संस्कृत-आचार्यों की प्रधान विशेषता रही है। अलंकारों की संख्या-वृद्धि का भी यही कारण है। ईसा की १२ वीं शताब्दी तक यह संख्या १०३ तक पहुँच गई थी और पंडितराज के समय में यह संख्या भी बढ़कर १६३ हो गई। विश्व-साहित्य में अलंकारों का इतना सूक्ष्म विभाजन अन्यत्र शायद ही उपलब्ध हो। अलंकारों की संख्या-वृद्धि की दृष्टि से ईसा की आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक का समय स्वर्ण युग कहा जा सकता है। इस काल में संस्कृत-आचार्यों का ध्यान प्रधानतः इसी तत्त्व पर रहा। प्रधान अलंकारवादी इसी काल में हुए हैं। वैसे तो आनन्दवर्द्धन, अभिनव गुप्त आदि भी इसी काल के आचार्य हैं, इसलिए इन शताब्दियों को अलंकार ही नहीं संस्कृत समीक्षा-शास्त्र के विकास का ही स्वर्ण-युग कहना चाहिए। इसके अनन्तर इस क्षेत्र में अधिक प्रतिभा अवतीर्ण नहीं हुई। जो मौलिक उद्भावनाएं इस काल में हो चुकी थीं उन्हींकी विशद व्याख्या अथवा साधारण परिमार्जन परवर्ती काल में होता रहा। 'रस गंगाधर' संस्कृत-समीक्षा-शास्त्र की सबसे प्रौढ़ और प्रामाणिक रचना है, पर इसके मूल-भूत सिद्धान्तों की उद्भावना नवीं शताब्दी तथा उनसे कुछ परवर्ती काल में हो चुकी थी। संस्कृत-समीक्षा के सभी सम्प्रदाय इस दसवीं शताब्दी के पूर्व ही बन चुके थे। आनन्दवर्द्धन, अभिनव गुप्त, कुन्तक, क्षेमेन्द्र आदि आचार्य प्रायः समकालीन ही हैं। मम्मट भी प्रायः इनके समकालीन ही हैं। इन आचार्यों ने अन्य तत्त्वों के साथ ही अलंकारों पर भी विशद विवेचन किया है। इनका ध्यान भी इन भेदोपभेदों की ओर गया है। प्रत्येक आचार्य ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के अलंकार-निरूपण का उपयोग किया है। उनकी संख्या और परिभाषा में बहुत-कुछ परिवर्तन होता रहा है। अलंकारों की संख्या भी संस्कृत-साहित्य के आलंकारिकों के काल-निर्णय का एक आधार रहा है। एकावली, तद्गुण, पर्याय, परिकर, आदि का विवेचन भामह, दंडी, भट्टी, उद्भट, वामन ने नहीं किया है, और रुद्रट, भोज, मम्मट, रुय्यक आदि आचार्यों ने इनका निरूपण किया है। कुछ अलंकार इन्हीं आचार्यों द्वारा आविष्कृत हुए हैं और इस आधार पर भी ये आचार्य भामह, दंडी, वामन आदि से परवर्ती कहलाते हैं।

अलंकार-विभाजन के कई आधार माने गए हैं। शब्दगत, अर्थगत और

---

१. काव्य-विचार

उभयगत विभाजन तो सर्वमान्य ही है। भोज ने अलंकारों का एक नवीन विभाजन वाह्य, आभ्यन्तर और वाह्याभ्यन्तर नाम से किया है। अलंकार-विभाजन का सर्वप्रथम प्रयास रुद्रट के द्वारा हुआ है। उन्होंने वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष ये पाँच अलंकार-विभाजन के आधार माने हैं। इसके बाद रुय्यक ने सात आधार मान लिए। 'प्रतापरुद्रीय' में निम्न लिखित आधारों का उल्लेख है— साधर्म्य, अध्यवसाय, विरोध, वाक्य-न्याय, लोक-व्यवहार, तर्क-न्याय, शृङ्खला-वैचित्र्य, अपह्नव और विशेष वैचित्र्य। इसमें भी 'साधर्म्य' के कई उपभेद और मान लिये। भेदप्रधान, अभेदप्रधान, भेदाभेद, साधारण। ये आधार विभिन्न समयों में निरन्तर बदलते रहे हैं। अलंकारों का निरन्तर विकास होता रहा। उक्ति-वैचित्र्य के विभिन्न प्रकारों की उद्भावना आलंकारिक करते रहे। इससे विभाजन का कोई भी अध्याय हमेशा के लिए पर्याप्त और सर्वमान्य नहीं रह सका।

काव्य में अलंकारों के महत्त्व के सम्बन्ध में भी आचार्यों का पर्याप्त मतभेद रहा है। भारतीय आचार्य-परम्परा में अलंकारों को काव्य के आवश्यक तत्त्व मानने में किसी को आपत्ति नहीं है। लेकिन इसके महत्त्व पर एकमत्य नहीं हुआ। काव्य की आत्मा का गौरव रस, अलंकार, रीति आदि सभी प्रधान तत्त्वों को प्राप्त हुआ है। आत्मा के विचार से ही अन्य तत्त्वों के महत्त्व का तारतम्य भी प्रतिपादित हुआ। भामह, दंडी आदि ने रस का भी अलंकारों में ही समावेश कर लिया। इस प्रकार वे तो काव्य के लिए अलंकार-विशिष्टता को नितान्त अनिवार्य मानकर ही चले। रस और ध्वनि वालों ने इसे रस का उपकारक मानकर इसे गौण स्थान दिया। काव्य-क्षेत्र में आनन्दवर्द्धन के प्रवेश के साथ काव्य के विभिन्न तत्त्वों में एक विशेष व्यवस्था स्थापित हो गई थी। काव्य की आत्मा के अनुसंधान में इनके पूर्ववर्त्ती आचार्य भी संलग्न थे। ध्वनिकार ने इस कार्य को पूरा किया। उनके समय में ही 'रस' काव्य की आत्मा का गौरव प्रायः सर्वसम्मति से प्राप्त कर चुका था और इस प्रकार रस की दृष्टि से काव्य के अन्य सब तत्त्वों में एक व्यवस्था स्थापित हो गई थी। इसी व्यवस्था अथवा समन्वय के सिद्धान्त का अनुसरण करने के कारण मम्मट आदि परवर्त्ती आचार्यों को समन्वयवादी कहा गया है। लेकिन इस समन्वय के बाद भी अलंकार का महत्त्व घटा नहीं था। काव्य का प्राण चमत्कार माना जाता था और उसका एक हेतु अलंकार भी माना गया। अलंकार शब्द का व्यापक अर्थ लिया गया और उसकी उपस्थिति भी अनिवार्य हो गई। निरलंकार-स्थलों को काव्य मानने में मम्मट को आपत्ति है, इसका

विवेचन पीछे 'काव्य-लक्षण' पर विचार करते समय किया गया है। इससे स्पष्ट है कि अलंकार उक्ति-वैचित्र्य के सामान्य स्वरूप में काव्य में रहेगा ही, चाहे उनके किसी विशेष रूप का विवेचन न हो सके। इससे अलंकारत्व काव्य का लक्षणघटक सिद्ध हो गया। काव्य में अलंकारों के स्थान के सम्बन्ध में कुछ विचार इसी अध्याय में उनकी बहिरंगता पर लिखते समय भी किया गया है। उन्हें काव्य-शरीर का अभिन्न अंग कहा गया है। ध्वनिकार ने अलंकार-ध्वनि को काव्य की आत्मा कहकर तो अलंकारों का महत्त्व और भी बढ़ा दिया है। आनन्दवर्द्धन अलंकारों को काव्य के अंगभूत तो सर्वत्र ही मानते हैं, इस प्रकार उनका प्रयोग काव्य में अपरिहार्य है। जयदेव-जैसे कतिपय ऐसे आचार्य भी हुए हैं,[1] जिन्होंने निरलंकार काव्य मानना 'अनुष्ण अग्नि' कहने से भिन्न नहीं माना।[2] इस विवेचन से काव्य में अलंकार की अनिवार्य उपस्थिति होती है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अलंकारों के विशेष प्रकार भी काव्य में रहने आवश्यक हैं। उक्ति-वैचित्र्य के अभाव में काव्य की कल्पना नहीं हो सकती, यही संस्कृत-आचार्यों को अभिप्रेत है। संस्कृत में अलंकार उक्ति-वैचित्र्य, भंगिभणिति आदि अर्थों में ग्रहण हुआ है।

वक्रोक्ति—अत्यन्त प्राचीन काल में ही कवियों और आचार्यों की यह दृढ़ धारणा बन गई थी कि काव्य में शब्द और अर्थ के एक विशेष सम्बन्ध का ही महत्त्व है। भट्टनायक ने शास्त्र को शब्द-प्रधान, आख्यान को अर्थ-प्रधान और काव्य को इनसे पृथक् दोनों गुणों-सहित व्यापार-प्रधान कहा है। 'अग्नि-पुराण' में भी यही कहा गया है।[3] काव्य में शब्द और अर्थ दोनों का ही महत्त्व सम है, इनके विशेष सम्बन्ध, इन दोनों के समन्वय में ही काव्य है। आचार्यों द्वारा काव्य-सामान्य के लिए साहित्य शब्द का भी पर्याप्त प्रयोग हुआ है और इसके मूल में यही समन्वय की भावना है। कवि-कुल-शिरोमणि कालिदास ने

---

१. शब्द प्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः ।
अर्थे तत्त्वेन युक्ते तु वदन्त्याख्यानमेतयोः ।
द्वयोर्गुणत्वेन व्यापारप्राधान्ये काव्यगीर्भवेत् ॥
'भट्टनायक'

२. अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती: ॥ 'चन्द्रालोक'

३. शास्त्रे शब्दप्रधानत्वमितिहासेषु निष्ठता ।
अभिधायाः प्रधानत्वात् काव्यं ताभ्यां विभिद्यते ॥ अग्नि पुराण

भी "वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये" से इसी समन्वय के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। कवि नीलकंठ ने काव्य के लिए विशेष विन्यास-भव्यता को आवश्यक माना है। राजशेखर ने इसीको 'उक्ति-विशेष' के नाम से अभिहित किया है। काव्य की भाषा साधारण बोल-चाल और शास्त्र की भाषा से भिन्न होती है। उसमें विन्यास की भव्यता, शब्द और अर्थ का वैचित्र्य, और उनका समन्वय रहता है। इसीको प्राचीन आचार्यों ने 'उक्ति' कहा है। यह शब्द काव्य की भाषा के अर्थ में रूढ़ हो गया है। राजशेखर की स्त्री अवन्तीसुन्दरी ने इसीको "विदग्ध-भणितिभंगि" कहा है। उक्ति के इसी स्वरूप में भामह और कुन्तक द्वारा प्रतिपादित वक्रोक्ति के बीज उपलब्ध होते हैं। इन दोनों आचार्यों ने भी 'वक्रोक्ति' की व्याख्या में अवन्तीसुन्दरी द्वारा प्रयुक्त पदावली का ही प्रयोग किया है। 'वक्रोक्ति' का मूल भट्टनायक की विचार-धारा में उपलब्ध होता है। भामह और कुन्तक के समय में इसका स्वरूप निश्चित हो गया।

संस्कृत-साहित्य में वक्रोक्ति शब्द दो पृथक् अर्थों में प्रयुक्त होता है। 'अग्नि पुराण' में वक्रोक्ति को एक शब्दालंकार माना है और उसके 'काकु' तथा 'श्लेष' दो भेद भी किये हैं। इसके अनन्तर रुद्रट ने भी इसे शब्दालंकार ही कहा है। रुद्रट ने इसे उदाहरणों द्वारा अधिक स्पष्ट कर दिया है। परवर्ती आचार्यों को वक्रोक्ति के सम्बन्ध में यही मत अधिक मान्य है। भोज, मम्मट, आदि ने भी उसे शब्दालंकार ही माना है। आचार्य विश्वनाथ ने तो इसे एक अलंकार-मात्र मानकर कुन्तक के काव्य-लक्षण का खंडन ही किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृत-साहित्य में वक्रोक्ति का यह अर्थ अधिक मान्य हुआ है। वामन ने 'वक्रोक्ति' शब्द का सबसे विभिन्न अर्थ किया है। वे इसे एक अर्थालंकार मानते हैं। उन्होंने इसका लक्षण "सादृश्यालक्षणा वक्रोक्ति" दिया है। यह अर्थ संस्कृत-साहित्य के किसी भी अन्य आचार्य को मान्य नहीं है। मम्मट ने इसी 'सादृश्यलक्षणा' को अतिशयोक्ति का एक भेद कहा है।

भामह, कुन्तक आदि आचार्यों ने इन दोनों अर्थों से भिन्न एक तीसरा अर्थ लिया है। भामह ने 'वक्रोक्ति' को अलंकार सामान्य की आधार-भूमि कहा है। उनके मतानुसार 'वक्रोक्ति' के अभाव में काव्य की भी कल्पना नहीं की जा सकती। काव्य अभिव्यंजना का वैचित्र्य ही है। साधारण उक्ति में काव्यत्व नहीं है। यही कारण है कि भामह ने 'वार्ता' को काव्य नहीं माना है। भामह ने 'वार्ता' का उदाहरण देकर उसके काव्यत्व को अस्वीकार किया

है।[1] वैचित्र्य के अभाव के कारण ही भामह स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं मानते हैं। स्वभावोक्ति के अलंकारत्व पर उनके परवर्ती सभी आचार्यों ने विचार किया है। उनमें से अधिकांश व्यक्ति इसे अलंकार मानने के पक्ष में हैं। दंडी ने स्वभावोक्ति को आद्य अलंकार कहा है।[2] दंडी इसमें भी साधारण चमत्कार मानते हैं, इसीलिए उन्होंने उसे अलंकार माना है। वे अलंकारों के दो प्रधान भेद मानते हैं, वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति।[3] दंडी ने भी रस और भाव का समावेश वक्रोक्ति में ही किया है, क्योंकि ये दोनों आचार्य अलंकारवादी हैं और उनके मतानुसार वक्रोक्ति अलंकारत्व का सामान्य पर्याय है। भोज ने रस को पृथक् सत्ता स्वीकार कर ली है और उसको वक्रोक्ति की अपेक्षा स्वभावोक्ति रस के अधिक निकट माना है। उन्होंने काव्य की अभिव्यंजना के तीन विभाग किये हैं, रसोक्ति, स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति। भोज ने वक्रोक्ति को दो अर्थों में प्रयुक्त किया है अलंकार सामान्य तथा उपमा रूपक आदि की आधार-भूमि। वक्रोक्ति को अलंकार सामान्य का लक्षण मानते हुए भी भोज ने इस अर्थ में इसका प्रयोग बहुत कम किया है। इसके लिए उन्होंने अलंकार शब्द का प्रयोग ही उचित समझा है। इससे स्पष्ट पता चलता है कि वक्रोक्ति के दो भिन्न अर्थों का साथ-साथ विकास हुआ है। स्वभावोक्ति के विकास ने वक्रोक्ति अथवा अलंकार सामान्य के स्पष्टीकरण में पर्याप्त सहयोग प्रदान किया है। मम्मट ने 'वक्रोक्ति' को एक शब्दालंकार-मात्र माना है, पर वे भी वक्रता को अलंकार सामान्य की आधार-भूमि मानते हैं। उनके बाद अलंकारों के लक्षण में रस की अपेक्षा से विचार होने लगा था। इनमें चमत्कार की प्रधानता मानी जाने लगी। चमत्कार-तत्त्व भी पंडितराज के समय तक आते-आते 'रमणीयता' के व्यापक रूप में विलीन हो गया। यद्यपि परवर्ती आचार्यों ने अलंकार सामान्य को 'वक्रोक्ति' के नाम से अभिहित तो नहीं किया है, पर चमत्कार, वैचित्र्य आदि उसी वक्रोक्ति के विकसित रूप-मात्र हैं। इस प्रकार वक्रोक्ति के दोनों अर्थ

---

१. गतोऽस्तमर्को भातीन्दु यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते॥ काव्यालंकार॥

२. नानावस्थं पदार्थानां रूप साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा॥ काव्यादर्श २।८॥

३. श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥ काव्यादर्श २।३६२॥

ही भारतीय साहित्य-शास्त्र की स्थायी सम्पत्ति हैं। उन दोनों का पर्याप्त विकास हुआ है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि वामन के द्वारा मान्य अर्थ संस्कृत के अन्य किसी भी आचार्य को मान्य नहीं है, इसलिए उसका विकास भी नहीं हुआ है।

ऊपर उक्ति के सम्बन्ध में भट्टनायक का जो मत उद्धृत किया गया है, उसी में वक्रोक्ति के व्यापक अर्थ के बीज निहित हैं, यह पहले कहा जा चुका है। भट्टनायक ने वैचित्र्य, भव्यता आदि गुणों का निर्देश किया है। ये ही तत्व भामह के 'काव्यालंकार' में विशेष स्पष्ट और विकसित रूप में मिलते हैं। भामह ने अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है। वे अतिशयोक्ति को लोकातिक्रान्त कहते हैं।[1] उसीको उन्होंने 'सैषा सर्वैव वक्रोक्ति रमणीयार्थो विभाव्यते' कहकर वक्रोक्ति कह दिया है। "कः अलंकारः अनया विना" से इसीको अलंकार सामान्य की आधार-भूमि भी कहा गया है।[2] यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि वे वक्रोक्ति को ही काव्य मानते हैं। दंडी भी अतिशयोक्ति के अर्थ में भामह से सहमत हैं। उन्होंने 'लोकातिक्रान्त' के स्थान पर 'लोकसीमातिवर्त्तिनी' कहा है।[3] इन दोनों शब्दों के अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। भामह की तरह दंडी ने भी वक्रोक्ति को अलंकार सामान्य के अर्थ में प्रयुक्त किया है। "श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायः वक्रोक्तिषु श्रियम्" इसकी व्याख्या में यह और भी स्पष्ट कर दिया गया है कि वक्रोक्ति से उपमादि अलंकारों का ग्रहण हो जाता है।[4] वक्रोक्ति का यह अर्थ आनन्दवर्द्धन और अभिनव गुप्त को भी मान्य है। वे भी वक्रता के अभाव में अलंकारत्व नहीं मानते हैं। उनका ध्वनि-सिद्धान्त इतना व्यापक और समीचीन है कि उसके आधार पर सब तत्वों में एक सामंजस्य स्थापित हो सका है। अभिनव गुप्त ने अपनी लोचन व्याख्या में "वक्रोक्ति शून्य शब्देन सर्वालंकाराभावश्च उक्तः" कहा है। महिमभट्ट ने अपनी पुस्तक 'व्यक्ति विवेक' में भी यही मत स्वीकार

---

१. निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तिगोचरम्।
मन्यते अतिशयोक्ति तामलंकारतया यथा ॥ काव्यालंकार २।८४॥

२. वाचां वक्रार्थ शब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते।

३. विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्त्तिनी
असावतिशयोक्तिः स्यादलंकारोत्तमा यथा ॥काव्यादर्श २।२१४॥

४. वाङ्मयस्य द्वैविध्य दर्शयति भिन्नमिति। स्वभावोक्ति आद्यलंकारः वक्रोक्ति शब्देन उपमादयः संकीर्ण-पर्यन्ता अलंकारा उच्यन्ते। काव्यालंकार २।३६२॥

किया है। ये भी सभी अलंकारों को 'वक्रोक्ति' का ही भेद मानते हैं। "भंगि-भणितिभेदानामेव अलंकारत्वोपगमात्" से यह स्पष्ट है। आनन्दवर्द्धन और अभिनव गुप्त ने सौन्दर्य या चारुत्व को अलंकार ही नहीं काव्य का भी मूल माना है। उन्होंने कई-एक स्थानों पर यहां तक कह दिया है कि बिना चारुत्व के 'ध्वनि' भी स्वीकृत नहीं की जा सकती। 'चारुत्वप्रतीतिस्तर्हि काव्यस्य आत्मा स्यात् इति, तदंगीकुर्मएव," "गुणालंकारौचित्यसुन्दरशब्दार्थ-शरीरस्य सति ध्वन्याख्यात्मनि आत्मनि काव्यरूपता व्यवहार". "विविध विशिष्टवाच्यवाचकरचना प्रपंच चारुणः काव्यस्य" अभिनव गुप्त और आनन्दवर्द्धन के इन वाक्यों से काव्य में सौन्दर्य के स्थान के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण स्पष्ट है। अभिनव गुप्त ने यही बात अलंकार-निरूपण के अवसर पर कही है। वे चारुत्व को अलंकार-सामान्य का लक्षण मानते हैं; इन आधारों पर इन दोनों ध्वनिवादी आचार्यों का वक्रोक्ति अथवा वक्रता को अलंकारों का आवश्यक तत्त्व मानना स्पष्ट है।

कुन्तक ने वक्रोक्ति शब्द का वह अर्थ लिया है जो भामह को मान्य रहा है। उन्होंने वक्रोक्ति को "लोकोत्तरचमत्कारकारि" "वार्वैदग्ध्य", "भंगिभणिति" आदि पदों से स्पष्ट किया है। भामह कवि-प्रतिभा के सम्बन्ध में मौन हैं, पर कुन्तक ने कवि-कर्म-कौशल को इसका प्रधान सत्य माना है। कवि-प्रतिभा के बिना, वक्रोक्ति नहीं हो सकती है।[1] कुन्तक वक्रोक्ति को केवल अलंकार सामान्य ही नहीं मानते हैं अपितु ध्वनि, गुण आदि सभी तत्त्वों का समावेश इसीमें कर देते हैं। उन्होंने वक्रोक्ति के ६ भेद किये हैं और उन्हीं-में काव्य के सब तत्त्वों का अन्तर्भाव कर दिया है। अलंकार सामान्य के अर्थ में तो वक्रोक्ति का ग्रहण कुन्तक के पूर्व ही हो चुका था, परन्तु कुन्तक के इस प्रयास से उसे स्थायित्व मिल गया। अगर कुन्तक 'वक्रोक्ति'-सिद्धान्त को इतना महत्त्व न देते तो सम्भवतः वक्रोक्ति का अलंकार सामान्य वाला अर्थ भी धीरे-धीरे क्षीण हो जाता। वक्रोक्ति के अर्थ-प्रसार में आचार्यों का पूरा सहयोग रहा है इसलिए इस अर्थ में यह भारतीय समीक्षा-सिद्धान्त का प्रतिनिधित्व करती है। कुन्तक ने, वक्रोक्ति को भी काव्य का प्राण कहा है। 'वक्रोक्तिःकाव्य-जीवितम्' का सिद्धान्त तो परवर्ती आचार्यों को मान्य नहीं रहा, परन्तु कुन्तक ने अपने इस विवेचन द्वारा भारतीय समीक्षा-शास्त्र

---

१. श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः ॥

को महत्त्वपूर्ण और चिर स्थायी तत्त्व प्रदान किये हैं। उन्होंने साहित्य-समन्वय या सामंजस्य या कवि-कर्म-कौशल-लोकोत्तर आह्लादकादि अनेक मौलिक सत्य प्रदान किये हैं। रीति का कवि के व्यक्तित्व से सम्बन्ध स्थापित करने का श्रेय भी कुन्तक को ही है। इनमें से अनेक तत्त्वों पर हम काव्य की परिभाषा के प्रसंग में विचार कर चुके हैं। प्रसंगानुसार कुन्तक की अन्य मौलिक देनों पर भी विचार किया जायगा।

मानव के रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा आदि की तरह काव्य की अभिव्यंजना के प्रकारों में भी प्रादेशिक प्रभाव पाया जाता है। भरत मुनि ने 'देशगत' भेदों का अध्ययन 'प्रवृत्ति' नाम से किया है। कविवर बाण ने भी काव्य की चार प्रकार की शैलियों का निर्देश किया है। इस विभाजन का आधार प्रादेशिकता ही है। यह विभाजन बाण द्वारा नहीं किया गया है, अपितु तत्कालीन समाज में यह धारणा बनी हुई थी कि दाक्षिणात्यों की अभिव्यंजना-शैली विशेष कोमल और सुन्दर है तथा गौड़ देश के व्यक्तियों में अक्षराडम्बर का बाहुल्य है। बाण ने यह भी कहा है कि सभी शैलियों में अपना एक विशेष सौन्दर्य है जिसका आधार विषयौचित्य है। अपनी सीमा के बाहर निकल जाने पर तो दाक्षिणात्य शैली की कोमलता भी काव्य के लिए भार-स्वरूप हो जाती है। भामह के समय तक धीरे-धीरे इन चार शैलियों में केवल दो ही जीवित रह पाई थीं। शेष दो तो काल के मुख में अन्तर्निहित हो गई थीं। इन दो शैलियों के बारे में उनकी विशेषताओं के कारण आलोचक-समाज एक को अच्छा तथा दूसरे को बुरा कहने लगा था, पर उस समय तो वह अपने शैशव में था : यही कारण है कि बाण का दृष्टिकोण इस विचार-धारा से प्रभावित नहीं होता है और उसने इन चारों शैलियों के समन्वय की ही सलाह दी है, यद्यपि इसकी असंभवना को भी कवि ने स्वीकार कर लिया है। बाण द्वारा निर्दिष्ट गौड़ी शैली तो अपने गुण और नाम सहित ज्यों-की-त्यों बनी रही और दाक्षिणात्य ने वैदर्भी का नाम धारण कर लिया था। भामह के ग्रन्थ में उन गुणों का निर्देश है जो वैदर्भी और गौड़ी रीति में माने जाते हैं। 'काव्यालंकार' से यह भी पता चलता है कि सामान्य धारणा के अनुसार वैदर्भी सुन्दर, कोमल और ग्राह्य शैली मानी जाती थी तथा गौड़ी असुन्दर, कठोर और अग्राह्य। भामह ने अपने ग्रन्थ में इसका विरोध करके एक क्रान्तिकारी दृष्टिकोण का परिचय दिया है। भामह ने काव्य सामान्य का प्राण वक्रोक्ति को ही माना है, इसलिए उनकी दृष्टि से वक्रोक्ति के अभाव में तो वैदर्भी रीति भी सुन्दर नहीं मानी जा सकती और

वक्रोक्ति तथा रीति के सामान्य गुणों से, जिनको भामह ने रीति के लिए आवश्यक माना है, गौड़ी का भी सुन्दर प्रयोग सम्भव है। भामह ने इस प्रकार इस क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। रूढ़िवादी आलोचनात्मक दृष्टिकोण का विरोध करके उनने रीति का भी यह स्वरूप साहित्य-संसार के सम्मुख रखा है जिसमें एक प्रकार से, समीचीन और सम्पूर्ण मापदण्ड होने की क्षमता थी। यद्यपि उस समय तक रीतियों से प्रादेशिकता का रंग पूर्णतः छूट नहीं पाया था, क्योंकि उनके बाद के दंडी में भी इनके लक्षण कुछ स्पष्ट दृष्टिगत होते हैं। पर भामह के विवेचन में इस प्रादेशिकता की गन्ध नहीं है। भामह के द्वारा विवेचित दोनों रीतियाँ अपनी देशगत सीमाओं में बँधी हुई नहीं प्रतीत होती हैं। दंडी ने भी वैदर्भी और गौड़ी इन्हीं दो रीतियों को स्वीकार किया है, पर उनके मत में गौड़ी रीति गर्हित है। इसके बाद वामन का समय आता है। ये गुण और रीति-सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य माने जाते हैं। वामन ने वैदर्भी और गौड़ी के अतिरिक्त 'पांचाली' नाम से एक और रीति को स्वीकार किया है। उन्होंने गौड़ी को दंडी की तरह निन्दित नहीं माना है। कुछ गुणों को छोड़कर उसमें वैदर्भी के सभी गुण विद्यमान हैं। उसमें माधुर्य और सौकुमार्य की अपेक्षा ओज और कान्ति की प्रचुरता है। पांचाली में केवल ओज और कान्ति को छोड़कर वैदर्भी के शेष सभी गुण हैं। इस प्रकार वामन के मत में भी वैदर्भी ही सर्वश्रेष्ठ रीति मानी गई है। रुद्रट ने इन तीनों में 'लाटी' नामक रीति से संख्या में अभिवृद्धि कर दी। रीतियों के नामकरण में प्रदेशों के नामों का ही उपयोग हो रहा था। इससे यह पता चलता है कि रीतियाँ अभी तक अपने प्रादेशिक रंग से पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाई थीं। भोजराज ने इनकी संख्या ६ कर दी। भोजराज के ही प्रायः समकालीन कुन्तक हुए हैं। रीति के सम्बन्ध में भी उनके विचार अत्यधिक क्रान्तिकारी और मौलिक कहे जा सकते हैं। इस क्षेत्र में इन्होंने भामह की अपेक्षा अधिक मौलिकता का परिचय दिया है, इस पर हम आगे विचार करेंगे। कुन्तक ने सुकुमार और विचित्र इन दो मार्गों का निर्देश किया है। ये दोनों मार्ग क्रमशः भामह की वैदर्भी और गौड़ी रीति ही हैं। इस विभाजन का आधार वक्रोक्ति ही है। यद्यपि रीतियों के चार भेद आचार्यों को विशेष मान्य हुए लेकिन वास्तव में मूलतः तो दो ही भेद अधिक तर्क-सम्मत माने गए। प्रायः सभी देशों के साहित्य में मधुर और कठोर अथवा अन्य किन्हीं दो नामों से दो ही शैलियाँ मानी गई हैं। अरस्तू ने भी ऐसा ही माना है। शेष दो तो इन पहली दो के सांकर्य के परिणाम-मात्र हैं। वैसे शैली के इतने भेदों की

कल्पना हो सकती है कि उनके नामकरण की आवश्यकता भी नहीं और संभव भी नहीं है। शैली अथवा रीति के सम्बन्ध में इस दृष्टिकोण के दर्शन कुन्तक में होते हैं। 'काव्य-प्रकाशकार' के पहले तक प्रायः यही उपर्युक्त दृष्टिकोण ही आचार्य-परम्परा को मान्य था। पर 'काव्य-प्रकाशकार' ने रीति के स्थान पर वृत्ति शब्द का प्रयोग किया है।[1] इस समय तक वृत्ति और रीति, जो पहले भिन्न तत्वों के रूप में विकसित हो रहे थे, एक दूसरे के अत्यधिक सन्निकट आ गए थे। इस प्रकार इनका कहीं समान अर्थ में ही प्रयोग भी हुआ है। फिर भी वैदर्भी और गौड़ी रीति अपनी सहायिका वृत्तियों के साथ संस्कृत-साहित्य के रीति-सम्बन्धी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करने वाली कही जा सकती हैं और आज भी इनको यह सम्मान प्राप्त है। धीरे-धीरे इन रीतियों ने अपने प्रादेशिक महत्त्व को खो दिया था। बाद में तो यह भी मान्य हो गया कि एक ही कवि अपने काव्य के विभिन्न स्थलों पर विषय और रस के औचित्य की दृष्टि से इन सब प्रकार की रीतियों का प्रयोग कर सकता है। वास्तव में कवियों ने ऐसा किया भी है और यह आवश्यक और समीचीन भी है।

प्रारम्भ काल से ही रीतियों का गुणों से अभिन्न सम्बन्ध रहा। वास्तव में रीतियों का पारस्परिक भेद गुणों पर ही अधिष्ठित था और उनके विभाजन का मुख्य आधार ही गुण रहे। बाण ने चारों प्रकार की रीतियों की विशेषताओं का उल्लेख किया है। यह पहले उद्धृत श्लोक से एकदम स्पष्ट है। उनके परवर्ती काल में वैदर्भी और गौड़ी की विशेषताओं का परिचय हमें भामह के 'काव्यालंकार' में मिलता है। उस समय विद्वान् 'वैदर्भी' को कोमलत्व, आर्जव, प्रसाद, श्रुतिपेशलत्व, अनतिपोष और अनतिवक्रोक्ति गुणों से विभूषित समझते थे। इसी प्रकार गौड़ी रीति के गुणों का भी निर्देश उसी-में मिलता है। स्वयं भामह ने भी रीति के लिए कुछ गुणों का निर्धारण किया है जिन्हें वे रीति में सौन्दर्योत्पादक समझते हैं और इस प्रकार उनकी दृष्टि से वे आवश्यक भी हैं। भामह ने 'वक्रोक्ति' को काव्य में अत्यधिक प्रधानता दी है। वे रीति में भी वक्रोक्ति को ही उसका प्राण कहते हैं। वे अग्राम्यत्व, अर्थ्यत्व, न्यायत्व, अनाकुलत्व और अलंकारत्व नामक गुणों को प्रत्येक रचना के लिए आवश्यक समझते हैं। दंडी ने तो वैदर्भी को इसीलिए

---

१. एतास्तिस्रो वृत्तयः (उपनागरिका, परुषा, कोमला च) वामनादीनां मते वैदर्भी गौडियां पाञ्चाल्याख्या रीतयः उच्यन्ते।

'काव्य प्रकाश'।

श्रेष्ठ कहा है कि उनके द्वारा निर्दिष्ट सभी गुण उसमें विद्यमान हैं। गौड़ी की निन्दा का कारण भी उन गुणों का अभाव ही है। वामन और रुद्रट ने भी माधुर्य, सौकुमार्य, ओज, कान्ति आदि गुणों के कारण ही रीतियों के पारस्परिक भेदों का निरूपण किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गुणों का रीतियों से कितना अभिन्न सम्बन्ध रहा है। इसके अतिरिक्त दंडी ने रीतियों से शब्दालंकारों का सम्बन्ध स्थापित किया है। वर्ण और समास का विवेचन भी हुआ है। 'अनाकुल' आदि गुणों का संकेत समास की ओर ही है। राज-शेखर ने तीनों रीतियों की विशेषताओं का विचार करते हुए वैदर्भी को असमास और अनुप्रास-सहित कहा है। गौड़ी में समास और अनुप्रास तथा पांचाली में ईषद्समास और ईषदनुप्रास की उपस्थिति आवश्यक मानी है। रीतियों में अनुप्रास अथवा वर्ण आदि का विचार वृत्ति के उस स्वरूप का प्रभाव है जिसमें कोमला, उपनागरिका और परुषा का विवेचन है। गुण, समास और वर्णों के अतिरिक्त रीतियों का सम्बन्ध विषय और रस से भी प्रायः प्रत्येक आचार्य ने माना है। वैदर्भी और गौड़ी को क्रमशः मधुर और कठोर कहने में ही यह भी सन्निहित है कि ये दोनों दो विशेष प्रकार के विषयों के लिए उपयुक्त हैं। इस प्रकार इनके साथ विषयौचित्य का विचार भी हुआ है और विभिन्न रीतियाँ विभिन्न रसों के उपयुक्त समझी गईं। जब इन रीतियों से प्रादेशिकता का प्रभाव हट गया था, उस समय कवि अपने काव्यों के विभिन्न स्थलों में विषय के अनुसार विभिन्न रीतियों का प्रयोग करने लग गए थे।

संस्कृत-साहित्य में रीति के ही कुछ अनुरूप एक और साहित्य-तत्त्व का विकास हुआ है, और वह है वृत्ति। वृत्ति का इतिहास रीति की अपेक्षा कुछ प्राचीन प्रतीत होता है। भरत मुनि ने वृत्तियों का विचार अपने 'नाट्य-शास्त्र' में किया है। उनके द्वारा निर्दिष्ट भारती-वृत्ति श्रव्य-काव्य-क्षेत्र की वस्तु है। वास्तव में कुछ विद्वानों का तो कहना है कि वृत्तियां ही समय की गति के साथ रीतियों में परिणत हो गईं। यह सिद्धान्त तो विवादास्पद है। रीतियों और वृत्तियों के विकास को प्रायः समानान्तर कहना अधिक ठीक है। काव्य-प्रकाशकार और पंडितराज ने रीतियों को वृत्ति कहा है, इस प्रकार अभिन्नता सिद्ध होती है। लेकिन यह इनके उद्भव के चिरकाल बाद की बात है और फिर भी रीतियों का पृथक् अस्तित्व विद्वत्समाज मान रहा था, इसे भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार इस विकास को समानान्तर कहना ही समीचीन है। वृत्तियों का सम्बन्ध प्रारम्भ से ही काव्य के विषय

से रहा है। यह विभाजन विषय की दृष्टि से ही किया गया था। प्रेम, ज्योत्स्ना, संध्या आदि कोमल प्रसंग कैशिकी तथा युद्ध आदि कठोर तथा भयावह प्रसंग आरम्भ से ही वृत्ति के विषय हैं। 'वृत्ति' शब्द अपने एक और अर्थ में अत्यन्त प्राचीन काल से ही प्रयुक्त हो रहा था और उसी अर्थ में उसके कोमला, उपनागरिका और परुषा नाम से तीन भेद आचार्य-परम्परा से हो गए थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत-साहित्य में रीति और वृत्ति के नाम से ही दो पृथक् साहित्य-तत्त्व मान्य हुए। लेकिन जैसा हम पहले देख चुके हैं कि रीतियों का आधार गुण थे और गुणों में अर्थ गुण, शब्द गुण दोनों-ही थे। इससे रीतियों का स्वरूप स्पष्टतः तो एक विशेष प्रकार के शब्द-व्यवहार से ही था। विशेष प्रकार की पद-संघटना को ही, जिसमें अनुप्रास और समास का विशिष्ट प्रयोग था, रीति कहा जाता था। पर परोक्ष रूप में उनका सम्बन्ध अर्थों और विषयों से भी मान्य था। उनके प्रति मृदुलता अथवा कठोरता की भावना बद्धमूल होती जा रही थी। इस प्रकार रीति के उद्भव-काल में ही काव्य-विषय के साथ उसके सम्बन्ध की कल्पना अनिवार्य रूप में ग्रथित थी। पर रीति के उस तत्त्व का विकास वृत्तियों के साहचर्य से हुआ। धीरे-धीरे आचार्यों ने वैदर्भी और गौड़ी रीति का गठबन्धन क्रमशः कैशिकी और आरभटी वृत्ति से कर दिया। इस प्रकार एक रीति एक विशेष विषय और रस के लिए ही उपयुक्त समझी जाने लगी। उसमें भी विषयौचित्य का तत्त्व प्रविष्ट हो गया। 'वृत्ति' का दूसरा स्वरूप भी, जिसमें कोमला, उपनागरिका और परुषा भेदों का विचार हुआ है, रीतियों के साथ ग्रथित हो गया। इस प्रकार वैदर्भी, रीति, कैशिकी वृत्ति, शृंगार रस, करुणा आदि कोमल प्रसंग और कोमल उपनागरिका वृत्ति तथा गौड़ी रीति, आरभटी वृत्ति, रौद्र आदि भयानक रस कठोर काव्य-प्रसंग और परुषा वृत्ति का अनिवार्य साहचर्य आचार्यों को मान्य हो गया। जैसे हमने देखा कि कुछ सांकर्य के फलस्वरूप रीति-क्षेत्र में पांचाली और लाटी रीतियों का प्रवेश हो गया था और इन दोनों ने अपना सम्बन्ध क्रमशः वैदर्भी और गौड़ी से कर लिया था, उसी प्रकार वृत्ति-क्षेत्र में भी दो और वृत्तियाँ प्रविष्ट हो गई थीं। भरत मुनि द्वारा विवेचित अन्य दो वृत्तियाँ भारती और सात्वती भी अपना स्वरूप बदल-कर काव्य के क्षेत्र में पदार्पण कर गई थीं और उन्होंने भी अपनी अग्रजा दो वृत्तियों से अपना सन्निकट का सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। इस प्रकार जिस रीति का स्वरूप पहले केवल पद-संघटना-मात्र समझा जाता था, उसमें वृत्ति के साहचर्य के कारण रस और अर्थ के तत्त्व भी प्रविष्ट हो गए थे और

उसे आचार्य 'रसोचित शब्द-व्यवहार' कहने लगे थे। वृत्ति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उन्होंने इसे 'रसोचितार्थ व्यवहार' कहा है। जिस प्रकार शब्द और अर्थ का अभिन्न सम्बन्ध है उसी प्रकार वृत्ति और रीति का भी अभिन्न सम्बन्ध हो गया और इस नवीन रूप के लिए रीति शब्द का व्यवहार होने लगा।

गुणों का इतिहास भी विकासपूर्ण रहा है। प्राचीन आचार्यों के द्वारा मान्य गुणों की संख्या में पर्याप्त मतभेद रहा है। भरत ने दस गुण माने हैं। 'अग्नि पुराण' में शब्दगत, अर्थगत तथा उभयगत इन तीनों भेदों में उन्नीस गुण माने गए हैं। संख्या की दृष्टि से दंडी ने भरत का ही अनुसरण किया है। कतिपय गुणों की परिभाषा तथा नाम में अवश्य कुछ अन्तर कर दिया है। वामन ने दस शब्द-गुण और दस अर्थ-गुण माने हैं। वामन रीति और गुण-सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य माने जाते हैं। परवर्ती आचार्यों ने प्राचीन मत में इन्हीं का मत उद्धृत किया है। 'काव्य-प्रकाश' और 'रस गंगाधर' में इन्हीं के द्वारा मान्य गुणों का विवेचन तथा खंडन है। इस प्रकार वामन प्राचीन मत का प्रतिनिधित्व करने वाले समझे गए हैं। भोजराज ने इनके द्वारा प्रतिपादित शब्द-गुणों में चौदह और बढ़ा दिए और इस प्रकार उनकी संख्या चौबीस कर दी। भरत से लेकर भोजराज तक के समय में भामह को छोड़कर शेष सभी आचार्य स्थूल रूप से 'दशगुणवाद' के आचार्य कहे जा सकते हैं। इस काल में गुणों की संख्या की अभिवृद्धि होती रही। इसके बाद बहुत दिनों तक आचार्य लोग गुणों में अपने पूर्ववर्ती किसी आचार्य के मार्ग का अनुसरण करते रहे। इन आचार्यों में केवल पीयूष-वर्षन् ही ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने कुछ मौलिकता का परिचय दिया है। उनकी दृष्टि में अर्थ, व्यक्ति और कान्ति क्रमशः प्रसाद, गुण और शृंगार रस में समाविष्ट हैं, इस प्रकार भरत द्वारा मान्य दस गुणों में केवल आठ का ही उल्लेख उन्होंने किया है। इन प्राचीन आचार्यों में भामह ने केवल तीन ही गुण माने हैं प्रसाद, माधुर्य और ओज। काव्यप्रकाशकार ने भी इसी मत का समर्थन किया है। उन्होंने प्राचीनों द्वारा मान्य अन्य गुणों का खंडन भी बहुत सुन्दर ढंग से किया है।

भरत ने गुणों को दोषों के विपरीत वस्तु कहा है।[1] 'अग्नि पुराण' के अनुसार काव्य में शोभा लाने वाली वस्तु ही गुण है।[2] दंडी ने विशिष्ट रचना

---

१. गुणविपर्ययात्मनो दोषः। (भरत)

२. यः काव्ये महतीं छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः ॥अग्नि पुराण॥

के प्राण ही को गुण कहा है। वामन ने तो गुणों को काव्य के लिए आवश्यक ही मान लिया है। उनकी दृष्टि में काव्यत्व ही गुणों पर अधिष्ठित है। काव्य में शोभा करने वाले धर्म को गुण कहा है। इस प्रकार इन प्राचीनों ने उस वस्तु को गुण माना जो शब्द और अर्थ में से किसी एक अथवा दोनों को उत्कृष्ट करने वाली है। गुण और अलंकार में भेद स्पष्ट करते हुए दंडी ने गुणों को काव्य के प्राण तथा अलंकारों को काव्य में शोभा उत्पन्न करने वाला कह दिया। वामन ने अलंकारों को काव्य की शोभा में वृद्धि लाने वाला बताया। काव्य के शोभाकारक धर्म तो उनकी दृष्टि में गुण ही रहे। वास्तव में आचार्य मम्मट के पहले गुणों की संख्या और स्वरूप दोनों में एक प्रकार से अनिश्चितता ही विशेष दृष्टिगत होती है। काव्यप्रकाशकार को यह अराजकता खटकी और उन्होंने इस क्षेत्र में एक विशेष व्यवस्था लाने की चेष्टा की। उन्होंने गुणों को काव्यत्व का कारण नहीं माना। उनकी दृष्टि से जो कि ध्वनिकार के बाद प्रायः सर्वमान्य मत हो गया था रस ही काव्य के प्राण हैं और गुण रस को उत्कृष्ट करने वाले धर्म हैं।[१] अगर रस के अभाव में भी काव्य माना जायगा तब तो पहाड़ में बड़ी आग जल रही है, बहुत धूम निकल रहा है इस उक्ति में भी (जिसमें रस तो नहीं परन्तु ओज गुण है) काव्य मानना पड़ेगा। इस प्रकार उन्होंने प्राचीन आचार्यों के इस मत का खण्डन कर दिया। आचार्य मम्मट ने गुण और अलंकार का भेद अत्यन्त स्पष्ट कर दिया। उन्होंने गुणों को काव्य के आत्मा का नित्य धर्म माना, पर अलंकारों का रस से ऐसा कोई नित्य सम्बन्ध नहीं। जिस प्रकार शूरता आदि आत्मा के नित्य धर्म हैं उसी प्रकार ओज आदि रस के धर्म हैं। नित्य और स्थिर धर्म होने के कारण इन तीन गुणों का विभिन्न रसों से सम्बन्ध है। अलंकारों का ऐसा कोई नित्य सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। अलंकारों का प्रयोग किसी भी रस के साथ किया जा सकता है। इससे गुणों की तरह अलंकार अनिवार्यतः रस के शोभादायक धर्म नहीं हैं। कभी-कभी तो ये रस के लिए भार-स्वरूप भी हैं। यह विवेचन पहले ही किया जा चुका है। गुणों का यही स्वरूप आचार्य विश्वनाथ और पंडितराज को भी मान्य हुआ है। आचार्य मम्मट ने गुणों पर अत्यन्त गम्भीर मौलिक तथा विवेचनात्मक दृष्टि

---

१. ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।

डाली। विभिन्न रसों के आस्वाद के फलस्वरूप चित्त की अवस्था में परिवर्तन होता रहता है। शृंगार, करुण और शान्त रस के आस्वाद से चित्त द्रवीभूत हो जाता है। वीर, रौद्र आदि रस चित्त को दीप्त कर देते हैं। सभी रसों का सामान्यतया तथा शान्त, भक्ति तथा वात्सल्य का विशेषतया चित्त पर प्रशस्तिकरण का प्रभाव पड़ता है। मम्मट ने माधुर्य, ओज और प्रसाद में क्रमशः चित्त की इन्हीं तीन अवस्थाओं के दर्शन किये हैं। उनकी दृष्टि से इन्हीं तीन अवस्थाओं के नाम गुण हैं। माधुर्यादि गुण चित्त की इन अवस्थाओं को उत्पन्न करने का कारण हैं। रस के धर्म होने के कारण माधुर्य आदि गुणों का निर्वचन रचना के सम्बन्ध में करना केवल औपचारिक है। पंडितराज ने भी रस में रहने वाली प्रयोजकता को, जो द्रुति आदि चित्त-वृत्तियों को उत्पन्न करने का कारण है, माधुर्य आदि गुणों से अभिहित किया है। इस प्रयोजकता के कारण ही रसों को मधुर आदि कहते हैं। वास्तव में दूसरे शब्दों में चित्त-वृत्तियाँ ही अपनी प्रयोजकता के स्वरूप में माधुर्य आदि गुणों के नाम से अभिहित हो जाती हैं। इसका तात्पर्य भी वास्तव में यही है कि शृङ्गारादि ही उन गुणों के प्रयोजक हैं। काव्यप्रकाशकार की अपेक्षा यह विचार कुछ विशेष सूक्ष्म और प्रौढ़ हो गया है। वैसे कथन के अतिरिक्त कोई विशेष अन्तर नहीं है। पंडितराज ने यह भी माना कि शब्द और अर्थ में भी यह प्रयोजकता रहती है। इसलिए माधुर्य आदि गुणों को रचना में मानना भी समीचीन ही है। आचार्यों ने माधुर्य आदि गुणों के व्यंजक वर्णों और शब्दों का भी निर्धारण किया है। पर वास्तव में रस के साथी होने से शब्दों के साथ इनका सम्बन्ध केवल औपचारिक ही है। इस प्रकार के वर्णों का प्रयोग इन चित्त-वृत्तियों में वृद्धि का कारण अवश्य होता है, पर जब कभी-कभी उपयुक्त वर्णों के अभाव में भी रसों की व्यंजना होती है और वहाँ पर गुणों की स्थिति मानना भी आवश्यक है तो वर्णों और शब्दों के यह गुण धर्म नहीं माने जा सकते। यह केवल औपचारिक प्रयोग ही कहा जायगा। इस प्रकार गुणों का रीति से सम्बन्ध पूर्णतः स्पष्ट हो गया। डॉ० राघवन ने बहुत संतुलित पदावली में गुण, रीति और वृत्ति का स्वरूप स्पष्ट किया है।[1]

रीति के सम्बन्ध में वर्तमान आलोचक की धारणा प्रायः यह बनी हुई है

---

1. Guna will be the nature of Rasa, Vritti the nature of Vastu or ideas or itivratta and Riti the nature of expression of the first and the second in suitable words.

कि यह पश्चिमी विद्वानों द्वारा मान्य शैली (स्टाइल) से नितान्त भिन्न कोई वस्तु है। डॉ० दे ने भी अपना यही मत स्थिर किया है।[1] इस विचार के मानने वालों का कहना है कि रीति का सम्बन्ध केवल कतिपय गुणों से है तथा पश्चिम में शैली के लिए इस प्रकार कोई निश्चित गुण-तालिका नहीं मानी गई। दूसरे जब कि रीति का सम्बन्ध केवल विवेच्य विषय से ही है, वहाँ पर पश्चिम के विद्वान् शैली को कवि के व्यक्तित्व से सम्बद्ध समझते हैं। यही कारण है कि संस्कृत की तरह उनके शैली के केवल कुछ गिने हुए भेद नहीं हैं, पर कवि के व्यक्तित्व के साथ उसके भेदों की अनन्तता है। उन लोगों का कहना है कि संस्कृत-साहित्य में रीति का यह व्यापक स्वरूप दृष्टि में नहीं रखा गया, इसलिए शैली (स्टाइल) से उसकी किसी प्रकार भी तुलना नहीं की जा सकती। वास्तव में गम्भीरता पूर्वक विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि रीति का यह स्वरूप केवल आंशिक है। कुछ आचार्यों ने रीति के इस विशद स्वरूप का भी प्रतिपादन किया है। जिसमें रीति को शैली के समकक्ष रख सकते हैं और उसका सम्बन्ध कवि के व्यक्तित्व से भी स्थापित किया है। पश्चिम में शैली (स्टाइल) के जो तत्त्व माने जाते हैं प्रायः उन सभी तत्त्वों का निरूपण संस्कृत के रीति-विवेचन में हो गया है। पश्चिम में भी शैली का विभाजन हुआ है तथा वर्ण्य विषय से उसका सम्बन्ध स्थिर किया गया है। इतना ही नहीं अरस्तू तथा उसके परवर्ती आचार्यों द्वारा किया गया विभाजन रीति-विभाजन से बहुत-कुछ समता रखता है। रीति और शैली के सामान्य सिद्धान्त प्रायः एक हैं, इस प्रकार इन दोनों को दो पृथक् वस्तु कहना केवल यहीं तक उचित है कि इन दोनों का दो पृथक् महाद्वीपों और समयों से सम्बन्ध है। दूसरे मूल तत्त्वों तक पहुँचने अथवा तत्त्व-निरूपण करने की पद्धति भिन्न-भिन्न हैं। पर जिन सिद्धान्तों और निर्णयों पर दोनों देशों के विचारक पहुँचे हैं, वे अपने बाह्य आवरण में असमान होते हुए भी उनके आन्तरिक स्वरूप में अभिन्न ही हैं।

---

1. It should be observed that the term Riti is hardly equivalent to the English word 'Style'. But at the same time the Riti is not like the style, the expression of poetic individuality as is generally understood by westen criticism but it is merely outward presentation of its beauty called forth by a harmonious combination of more or less fixed literary excellences.

'Sanskrit Poetics' Page 115-116.

जैसा मैंने अभी कहा कि शैली (स्टाइल) का सम्बन्ध भी वर्ण्य विषयों तथा रचना-सम्बन्धी गुणों से है। इस सम्बन्ध के आधार पर अंग्रेजी साहित्य में शैली का विभाजन भी हुआ है। अरस्तू ने भावों के अनुसार शैली में परिवर्तन माना है। उनका कहना है कि उग्र मनोभावों को व्यक्त करने वाली शैली में समासान्त पदों का प्रयोग हो जाता है। यह शैली ओज-प्रधान और समास-भूयिष्ठ रीति के अतिरिक्त और क्या है। पश्चिम के कई आचार्यों ने माना है कि विशेष विषयों के लिए कुछ विशेष शैलियाँ ही उपयुक्त हैं। 'युद्ध' आदि के वर्णन में 'डेमेट्रियस' ओज-प्रधान शैली को ठीक समझा है। उन्होंने कतिपय अक्षरों को भी ओज-वृद्धि का साधन कहा है। डॉ० राघवन ने इसकी समता आनन्दवर्द्धन की वर्ण-ध्वनि से की है। युद्ध आदि के लिए ओज-प्रधान तथा कोमल प्रसंगों के लिए माधुर्य और प्रसाद-गुण-सम्पन्न शैली को उपयुक्त मानने में स्पष्टतः संस्कृत-आचार्यों को कैशिकी आदि वृत्ति तथा वैदर्भी आदि रीतियों की प्रतिच्छाया दृष्टिगत होती है। एम० मुरे ने अपनी पुस्तिका 'प्रोब्लम ऑफ़ स्टाइल' में शैली का विवेचन करते हुए लिखा है :

"In the course of the approach, I examined two qualities of style which are not infrequently put forward as essential, namely, the musical suggestion of the rhythm and the visual suggestion of the imaginary and I tried to show that these were subordinate. On the positive side, I tried to show that the essential quality of style was precision, that this precision was not intellectual not a precision of definition, but of emotional suggestion."

डॉ० राघवन ने मुरे के विचारों की तुलना संस्कृत के प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य शब्द-गुण, अर्थ-गुण, रसौचित्य आदि रीति-तत्त्वों से की है। उन्होंने स्टीवैन्सन द्वारा स्पष्ट किये गए विचारों को भी संस्कृत-आचार्यों के समता, प्रसाद, विस्मय आदि नामों से अभिहित किया है। 'शोपेनहार' ने शैली के दो स्थूल विभाजन किये हैं और उनका नाम केवल Goob and bad रख दिया है। वेकिन ने इन दो शैलियों के जिन गुणों और तत्त्वों का विवेचन किया है वे हमारे प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य वैदर्भी और गौड़ी रीतियों के तत्त्वों से भिन्न नहीं है। इस विवेचन में दीप्ति, अत्युक्ति आदि गुण, जो दण्डी ने माने हैं, अपने पर्यायों में स्पष्टतः दृष्टिगत होते हैं। शोपेनहार ने शैली की सरलता, प्रसाद-गुण-संपन्नता तथा उसकी संक्षिप्तता को विशेष महत्त्व दिया है, पर उसको उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इन तीनों गुणों का उपभोग काव्य-वस्तु की स्पष्टता के लिए है। अगर

संक्षिप्तता विचारों में अस्पष्टता का कारण है तो वह गुण की अपेक्षा दोष ही अधिक है। इसके विरुद्ध अगर शब्दों का ऐसा आडम्बर कवि कर देता है कि उसके भाव और विचार उनके कारण धुँधले हो जाते हैं तो यह भी कवि की शैली का दोष ही है। ये विचार प्राचीन आचार्यों के मतों से बिलकुल मिलते-जुलते हैं। वामन का 'प्रसाद' भी अर्थवैमल्य है। जिस दोष की ओर पश्चिम के इस विद्वान् ने संकेत किया है, वह 'नेयार्थत्व' के अतिरिक्त और क्या है। इतना ही नहीं पश्चिमी विद्वानों द्वारा शैली का जो विवेचन हुआ है, उसमें सर्वत्र ही हम संस्कृत-आचार्यों की रीति के तत्त्वों के अनुरूप ही तत्त्व पाते हैं। इन दोनों विवेचनों में प्रक्रिया-भेद के अतिरिक्त अन्य कोई अन्तर नहीं है। इस ऊपर के विवेचन से यह भी स्पष्ट हो गया कि पश्चिम के आलंकारिकों ने शैली का सम्बन्ध केवल वर्ण्य विषयों और मनोभावों से ही नहीं किया है, उसमें गुण, अलंकार, समास, वर्ण आदि उन तत्त्वों का भी स्पष्ट विवेचन है जिन पर संस्कृत के रीतिकारों ने अत्यन्त विशद रूप में विचार किया है। पश्चिम में शैली का विभाजन हुआ है और उसके आधार भी ये ही तत्त्व हैं जिनका ऊपर संकेत किया गया है। वास्तव में देखा जाय तो जिन तत्त्वों को दोनों देशों के आचार्यों ने नितान्त आवश्यक माना है, उनका विवेचन पूर्व में ही अधिक स्पष्टता तथा प्रामाणिकता के साथ हुआ है। जिस बात को स्पष्ट करने के लिए पश्चिम के विद्वान् को एक लम्बी-चौड़ी वाक्यावली का प्रयोग करना पड़ा है। उसको यहाँ के विद्वानों ने एक शब्द में कह दिया है। उसका गुणों और रीतियों का विभाजन, उनका वर्ण्य विषय, रस, भाव आदि से सम्बन्ध आदि विवेचन के सभी पक्ष इतने वैज्ञानिक हैं कि उनके निरूपण में एक प्रकार की व्यवस्था और क्रम स्पष्ट लक्षित होता है। पश्चिम के विवेचन में इस क्रम, व्यवस्था और वैज्ञानिकता का इतना सुन्दर रूप नहीं निखर पाया है।

रीति के इतिहास में आचार्य कुन्तक का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके विवेचन से इसमें अत्यधिक विशदता आ गई है। सबसे पहला कार्य आचार्य कुन्तक ने इनकी प्रादेशिकता का अन्त करने का किया है। उनका कहना है कि रीतियाँ विवाह आदि की तरह देशगत नहीं मानी जा सकती हैं। उनका सम्बन्ध मुख्यतः कवि के व्यक्तित्व से है। संस्कृत-साहित्य में संभवतः कुन्तक ही ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने रीतियों का सम्बन्ध कवि के व्यक्तित्व से इतनी स्पष्टतापूर्वक प्रतिपादित किया है। आचार्य ने रीतियों के लिए केवल अर्थगुणों को ही आवश्यक नहीं माना अपितु अलंकार, रस आदि के नियोजन

के दृष्टिकोण पर भी जोर दिया है। यह भी एक प्रकार से कवि के व्यक्तित्व से ही सम्बद्ध है। रीतियों के भौगोलिक नामों तथा प्राचीन आचार्यों द्वारा उनको उत्तम, मध्यम और अधम मानने का विरोध करते हुए रीति का सम्बन्ध कवि की व्युत्पत्ति और शक्ति से बताया है। उन्हें इन वैदर्भी आदि नामों में नहीं अपितु इनके प्रादेशिकता के रंग पर आपत्ति है। उन्होंने इस बात को स्पष्टता पूर्वक स्वीकार किया है कि कवि-स्वभाव पर आधारित होने के कारण रीति के निश्चित भेद नहीं किये जा सकते, उनमें अनन्तता का आ जाना स्वाभाविक है। "यद्यपि कवि-स्वभाव-भेद निबन्धनत्वाद् अनन्तभेद भिन्नत्व-मनिवार्य" इस वाक्य से आचार्य कुन्तक का मत स्पष्ट है। अनादि वासना के कारण कवि-स्वभाव के अनन्त भेद है और कवि-स्वभाव उनकी व्युत्पत्ति और अभ्यास का नियन्त्रण करता है। आचार्य कुन्तक ने कई कवियों के उदाहरण लेकर उनकी शैली के गुण बताये है और इस प्रकार शैली के तीन प्रमुख भेद निश्चित किये है, पर वहां पर रीति के अनन्त भेदों की ओर संकेत किया है। "एवं मार्गोत्रितयलक्षणं दिङ्मात्रमेव प्रदर्शितम्। न पुनस्साकल्येन सत्कवि कौशलप्रकाराणां केनचिदपि स्वरूपमभिधातुं पार्यते ॥" इस प्रकार आचार्य ने एक स्थान पर नहीं अपितु अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवितम्' में अनेकों स्थलों और प्रसंगों में इस दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है, जिससे इसमें कहीं भी संदेह के लिए स्थान नहीं है।

भारत और पश्चिमी देशों में दोनों ही जगह यह बात सिद्धान्त रूप में मान ली गई कि रीति का सम्बन्ध कवि के स्वभाव या व्यक्तित्व से है और इसीलिए उसके अनेक भेद किये जा सकते है। पर फिर भी कुछ मौलिक तथा आधारभूत भेद मानने की आवश्यकता सभी ही ने समझी। जैसे हम पहले ही देख चुके है कि अरस्तू ने आधारभूत दो शैलियां मानी है, यद्यपि उनका कोई विशेष नाम वे न दे पाये, इसीलिए उन्हें good और bad कह गए। इस प्रकार शैली के दो भेदों की आवश्यकता अन्य पश्चिमी और पूर्वी विद्वानों ने भी समझी है। विंचेस्टर ने अपनी 'Some principles of literary critcism' में शैली के सम्बन्ध में लिखा है :

"But while individuality is not to be classified, it may be seen that there are in general, two opposite tendencies in personal experssion. On the one hand to clearness and precision, on the other to largness and profusion.........The one makes upon you the impression of greater delicacy, temperance and charm.

The other, the impression of greater mass, complexity and power."

इन पंक्तियों में विद्वान् लेखक ने शैली की अनन्तता के साथ ही उसके दो प्रमुख एवं आधारभूत भेदों की संभावना तथा समीचीनता को स्वीकार किया है। संस्कृत के आचार्यों में भी इस प्रवृत्ति के स्पष्ट दर्शन होते हैं। भामह और दंडी ने दो ही रीतियां मानी हैं। यद्यपि कुन्तक के जैसी स्पष्टता और विशदता के साथ तो नहीं तथापि दंडी ने भी इसी तथ्य को स्वीकार किया है। उन्होंने कवि के व्यक्तित्व के आधार पर रीति के भेदों की अनेकता को स्वीकार किया है। उनका कहना है कि वैदर्भी और गौड़ी स्थूल भेद हैं और इनके भी कई सूक्ष्म भेद हो सकते हैं। जैसे मिठास की दृष्टि से दूध, गन्ना आदि के एक होने पर भी उनके मिठास में पारस्परिक भेद भी है, उसी प्रकार एक कवि की वैदर्भी दूसरे कवि की इसी रीति से भिन्न मानी जायगी।[1] आचार्य कुन्तक द्वारा मानी गई सुकुमार और विचित्र रीतियाँ, जिन्हें उन्होंने मार्ग का नाम दिया है, ठीक आधारभूत शैली कही जा सकती हैं।" उन्होंने अपने मार्गो की विशेषताएँ बताते हुए कहा है कि सुकुमार मार्ग सहज शोभा, माधुर्य, रसोक्ति और स्वभावोक्ति वाली तथा विचित्र आहार्यशोभा, और वक्रोक्ति का है। यद्यपि दोनोंही मार्ग अपने-अपने स्थान पर उपयुक्त है,पर सुकुमार मार्ग स्वभावतः ही सबके द्वारा श्रेष्ठ माना गया है। विंचेस्टर ने भामह के स्वर-में-स्वर मिलाते हुए कहा है :

"we are not called upon to pronounce either manner absolutely better than the other."

लेकिन उन्होंने अन्यत्र वाह्य सौन्दर्य के आडम्बर, भावुकता की अतिशयता और शाब्दिक जंजाल की अपेक्षा संक्षिप्तता, गम्भीर अनुभूति की अभिव्यंजना की क्षमता तथा भावों और शब्दों के सहज सौन्दर्य को विशेष महत्त्व देकर आचार्य कुन्तक की सुकुमार मार्ग की श्रेष्ठता और लोकप्रियता को स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि रीति और शैली अपने भूत तत्त्वों

---

१. अस्त्यनेको गिरां मार्ग सूक्ष्म भेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्यते प्रस्फुटान्तरौ ॥
इतिमार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात्।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः ॥
इक्षुक्षीरगुडादीनां माधुर्यस्यान्तरं महत्।
तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्यापि शक्यते ॥ दण्डी ॥

की दृष्टि से परस्पर अभिन्न और एक कही जा सकती है। पूर्व विद्वानों ने रीति-विवेचन का कोई कोना अछूता नहीं छोड़ा है। उन्होंने रीति के सम्बन्ध में अत्यधिक प्रौढ़ और व्यापक विचारों की मौलिक उद्भावना की है। उनको किसी प्रकार भी हीन समझना एक प्रकार से विवेक-शक्ति तथा सहृदयता के अभाव का परिचायक-मात्र है। भारतीय चिन्तन ने ज्ञान के जिस क्षेत्र को छुआ है उसीमें असाधारण मौलिकता और विवेचन-क्षमता का परिचय दिया है। साहित्य-क्षेत्र इस सत्य का अपवाद नहीं है। सभी अंगों का उनके द्वारा किया गया निरूपण इसका सजीव प्रमाण है। रीति-विवेचन के लिए भी इतना सब कहना किसी प्रकार की अत्युक्ति नहीं है।

रस शब्द अपने विभिन्न अर्थों सहित भारतीय साहित्यकार तथा पाठक से अत्यन्त प्राचीन काल से ही परिचित है। रस के बहुत से अर्थों का साहित्य-शास्त्र में प्रयुक्त 'रस' के साथ कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध दृष्टिगत नहीं होता। हाँ, परोक्ष रूप में अथवा परम्परा-सम्बन्ध से उनके अर्थों का भी अदृश्य प्रभाव उस पर पड़ता रहा है। तैत्तिरीय उपनिषद में इसका प्रयोग व्यापक चेतन सत्ता तथा 'आनन्द' इन दोनों ही अर्थों में हुआ है।[1] साहित्य-शास्त्र में प्रयुक्त 'रस' मूलतः आनन्द के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और इसमें उपनिषद् द्वारा विवक्षित दूसरे अर्थ का भी संकेत है। पर इससे यह मान लेने में कोई प्रमाण नहीं है कि 'साहित्य' में रस-सम्प्रदाय के बीज उपलब्ध होते हैं। यह कहना अत्यन्त कठिन है कि 'अलंकार-शास्त्र' को सम्प्रदाय रूप में रस किसकी देन है। भारतीय साहित्य के आदिकवि के मुख के प्रथम उद्गार में ही विद्वत्समाज इसका उद्गम मानते हैं। इसमें सन्देह के लिए स्थान है कि 'मा निषाद' के करुण रस का सुन्दर परिपाक हुआ है और "शोकार्त्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा" में ऋषि का आलोचक रूप भी अत्यन्त स्पष्ट है। आनन्दवर्द्धनाचार्य ने आदिकवि के इन पक्षों के स्पष्टीकरण के साथ ही यह भी कह दिया है कि इसी श्लोक तथा कवि-कृत इसकी आलोचना में ही वे तत्त्व हैं जो आगे चलकर 'रस' के महान् सिद्धान्त के रूप में विकसित हुए हैं। लेकिन आदिकवि की विचार-धारा में जो प्रौढ़ता है, उसे देखते हुए तथा विकास-सिद्धान्त को सत्य मान लेने पर 'रस' की परम्परा अपने अस्पष्ट रूप में उनसे पहले भी प्रचलित रही है, यह मान लेने के लिए बुद्धि बाध्य होती है। यह परम्परा मौखिक रही, अथवा विद्वत्समाज के चिन्तन में अलक्षित-

---

१. रसो वै सः, रस ह्येवायंलब्ध्वानन्दी भवति ॥

प्राय होकर मान्य रही, यह कहना कठिन है। फिर भी अन्य प्रमाणों के अभाव में आदिकवि को ही इस तत्त्व का अनुसन्धानकर्त्ता मानना समीचीन है। वैसे प्रत्येक विचार-धारा अपने स्पष्ट और निश्चित रूप में आने से पहले मानव के अवचेतन मन में चिरकालपर्यन्त पनपती है और कभी-कभी उसका क्षीण अथवा अस्पष्ट आभास चेतन मन को हो भी जाता है। लेकिन बुद्धि उसकी सत्ता की घोषणा तभी करती है जब उनका मूर्तिमान रूप अपनी यत्किंचित् इयत्ता, स्पष्टता और निश्चितता के साथ उसके सामने आ पाता है। अस्तु, आदिकवि के उपरान्त भरत मुनि में इसका स्पष्ट और व्यवस्थित रूप हमारे सामने आता है। 'रस' के अब अंग-प्रत्यंग बन चुके थे, उसने अपनी पृथक् सत्ता और इकाई स्थापित कर ली थी। भरत मुनि ने उसके विभिन्न अंगों का स्पष्ट निर्देश ही नहीं अपितु विवेचन किया है। आदिकवि तथा भरत के समयों में कितना अन्तर है, यह प्रश्न विवादास्पद है। पर इतना अवश्य स्पष्ट है कि इस अन्तरिम काल में 'रस' का विकास हुआ है। भरत के पहले के ग्रन्थ तो उपलब्ध नहीं हैं, पर स्वयं मुनि ने कुछ ग्रन्थों का नामोल्लेख कर दिया है। इस विवेचन से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि भरत मुनि के पहले भी 'रस' विकसित होता रहा होगा। 'नाट्य-सूत्र' का समय उनका शैशव-काल है। इसके बाद आनन्दवर्द्धनाचार्य तक यह अपने अंगों का विकास करता रहा। प्रायः सभी आलंकारिकों ने इसे किसी-न-किसी रूप में स्वीकार किया है। भामह, दंडी आदि अलंकार को ही प्रधानता देने वाले आचार्यों ने इसे अलंकारों में अन्तर्हित माना। वामन ने भी, जो कि रीति और गुण को मुख्य मानते थे, रस का कान्ति नामक गुण में समावेश किया। भामह ने 'रस' को 'रसवद्' अलंकार के रूप में ग्रहण किया है। उन्होंने यह भी माना है कि नाटक में सभी रसों के समावेश की आवश्यकता है। उन्होंने इसे नैतिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए तो अत्यन्त उपयुक्त साधन बताया है। दंडी का दृष्टिकोण भी भामह से भिन्न नहीं है। पर भामह की अपेक्षा उन्होंने 'रस' का अधिक विस्तार से निरूपण किया है। 'रसों' के जो उदाहरण इनके ग्रन्थ में दिये गए हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि लेखक को रस की हृदय-स्पर्शिता तथा काव्य में इस तत्त्व की उत्कृष्टता मान्य है। उन्हें स्थायी भाव और रस में भेद भी अत्यन्त स्पष्ट प्रतीत होता है। एक स्थान पर तो उन्होंने रस को काव्य का प्राण कहा है।[1] वामन ने 'दीप्तिरसत्वं कान्तिः' कहकर रस को

---

१. 'कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चति।' काव्यादर्श, १,६२।

काव्य-शैली के सौन्दर्य का कारण माना है। वामन ने दृश्य-काव्य को श्रव्य-काव्य की अपेक्षा इसीलिए श्रेष्ठ माना है कि उसमें रस-परिपाक विशेष सफलता पूर्वक हो सकता है। उद्भट भी अलंकार-सम्प्रदाय के ही आचार्य माने जाते हैं, पर उन्होंने 'रस' पर अन्य आचार्यों की अपेक्षा विशेष मौलिकता के साथ विचार किया है। प्रेयस्, रसवद् और ऊर्जस्विन् इन तीनों अलंकारों ही में रस को सीमित माना है, पर इनकी व्याख्या में यह बात भी पूर्णतः स्पष्ट हो गई है कि ये क्रमशः भाव, रस और आभास हैं। इन्होंने भरत द्वारा मान्य आठ रसों के अतिरिक्त 'शान्त रस' को भी नवें रस के नाम से माना है। रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त का ही निर्देश इन्होंने किया है। रुद्रट ने विप्रलम्भ के पूर्वराग मान और करुणा के भेद भी स्वीकार किये हैं। रस-सिद्धान्त के विकास में कालिदास, भवभूति, बाण आदि कवि भी आलंकारिकों को सहयोग दे रहे थे। इन लोगों ने भी 'रस' के विभिन्न पक्षों पर अपने विचार प्रकट किये हैं। रस का प्राधान्य तो प्रायः इन सभी प्राचीन कवियों को मान्य रहा है। इन्होंने अपने काव्य-ग्रन्थों में प्रसंगवश 'रस' में तादात्म्य-क्षमता, चित्त-वृत्ति आदि तत्वों पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं। कुछ तत्त्व तो इनके अपने मौलिक ही प्रतीत होते हैं।

आदिकाल से लेकर आनन्दवर्द्धन तक रस के विभिन्न पक्षों का क्रमिक विकास हुआ है। उसके बहुत से पक्षों पर गम्भीर विवेचन हुआ। रस-निष्पत्ति, रस की स्थिति, (पात्र, नट अथवा सहृदय में) आलम्बन, संचारी, स्थायी आदि में कौन-सा रस रूप में परिपक्व होता है, आदि अनेकों महत्त्वपूर्ण और गम्भीर विषयों पर पर्याप्त चिन्तन हुआ। लोल्लट, शंकुक और भट्टनायक ने अपने अलग-अलग सम्प्रदायों का प्रतिपादन किया। इस प्रकार इसी काल में रस का बहुमुखी विकास हुआ है। आचार्य आनन्दवर्द्धन ने इस बहुमुखी विकास को एक निश्चित धारा का स्वरूप प्रदान कर दिया। इन सभी तत्त्वों को एक स्थान पर एकत्र करके इनकी अत्यन्त विशद एवं स्पष्ट गम्भीर व्याख्या की। 'रस' का सम्बन्ध काव्य के अन्य विभिन्न मान्य तत्त्वों के साथ स्थापित किया। यह काल सामान्यतया काव्य के सभी तत्त्वों के विकास के लिए स्वर्ण युग रहा। इसमें आनन्दवर्द्धन के अतिरिक्त कुन्तक, भोज, अभिनव गुप्त-जैसी महान् प्रतिभाएँ उत्पन्न हुई। क्योंकि इस काल में समन्वय स्थापित करने का सफल प्रयास हुआ और रस को काव्य की आत्मा का स्थान मिल गया, इसलिए 'रस' के विकास में तो यह काल सबसे अधिक महत्त्व का है। 'लोचन' और 'अभिनव

'भारती' के प्रणेता अभिनव गुप्त ने रस-सिद्धान्त में नवीन प्राण फूँक दिए यद्यपि इन्हें अपनी चिन्तन-सामग्री विशेषतः आनन्दवर्द्धनाचार्य से प्राप्त हुई है। आज रस का जो स्वरूप मान्य है, उसे एक तरह से अभिनव गुप्त द्वारा प्रतिपादित ही कह सकते हैं। मम्मट और पंडितराज ने भी रस पर विशद विवेचन किया है। इनमें उनकी मौलिकता और गम्भीर चिन्तन की स्पष्ट छाप भी है। उन्होंने 'रस-स्वरूप' में कुछ परिष्कार भी किये हैं और उसे अपने अंग-उपांग सहित परिपूर्णता के साथ प्रतिपादित भी किया है। पर कुछ परिष्कारों के अतिरिक्त, जो इस रस-विवेचन में विशेष सूक्ष्मता तथा प्रौढ़ता लाने में सहायक हुए हैं, इन आधुनिक आचार्यों द्वारा विवेचित 'रस' अपना सारा स्वरूप आनन्दवर्द्धन और अभिनव गुप्त के समय में ही बना चुका था। इस प्रकार काव्य के इस महान् सिद्धान्त के विकास का यह संक्षिप्त इतिहास है जिसका प्रारम्भ किसी अज्ञात समय में हुआ, जिसने अपनी गर्भावस्था का विकास आदिकवि की बुद्धि में पाया, जिसने अपना शैशव भरतमुनि की गोद में विताया और भिन्न-भिन्न महान् आलंकारिकों तथा कवियों के बुद्धि-प्रांगणों में अपनी वाल-क्रीड़ा करता हुआ अन्त में आनन्दवर्द्धनाचार्य में अपने पूर्ण यौवन को प्राप्त हो गया। इसने अभिनव गुप्त में अपनी बुद्धि और शरीर की प्रौढ़ता तथा सवलता प्राप्त की और मम्मट, भट्ट एवं पंडितराज ने इसको सूक्ष्म विवेक-शक्ति और महानता प्रदान की।

जैसे हमने देखा कि भरतमुनि के 'नाट्य-शास्त्र' से पूर्व का अलंकार-शास्त्र पर कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, यद्यपि उनके होने की साक्षी तो स्वयं भरत मुनि ही दे रहे हैं। रस-सिद्धान्त के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है, उसका सर्व प्रथम व्यवस्थित रूप, जो अब तक उपलब्ध है, भरत-सूत्र में ही है। "विभावानुभावव्यभिचारी संयोगाद्रसनिष्पत्तिः" की प्रौढ़ता भी इस बात का प्रमाण है कि इसके पहले भी रस के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार हो चुका था और यह सूत्र चिन्तन की उस अवस्था का परिचायक है, जिसमें कुछ परि-पक्वता स्पष्ट है। भरत का यह सूत्र रस-सिद्धान्त के विकास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें पूर्ववर्त्ती गम्भीर और प्रौढ़ चिन्तन का आभास मिलता है और भावी विकास के लिए पर्याप्त प्रेरणा भी। पंडितराज ने 'रस' के सम्बन्ध में अनेकों मत-मतान्तरों का उल्लेख किया है। उनमें से कुछ मत विभाव, अनुभाव और संचारी को पृथक् रूप से अथवा सम्मिलत रूप में रस मानते हैं। कुछ आचार्यों ने कुछ विचार करने के बाद इस बात का प्रतिपादन भी किया कि आलम्बन के ही बार-बार अनुसंधान करने से आनन्द का अनुभव होता है, आलम्बन ही रस है।

अतः उन्होंने कहा 'आलम्बन विभाव एव रसः'। इसके बाद कुछ आचार्यों ने इस मत को असमीचीन समझा और आलम्बन के हाव-भाव और अंग-चेष्टाओं को अर्थात् अनुभावों को 'रस' कहने लगे। कुछ लोगों का ध्यान इस ओर भी गया कि हाव-भाव के मूल में जो चित्त-वृत्ति है, उसीके कारण तो अनुभाव आनन्ददायक होते हैं उसके अभाव में नट के लटके-मात्र तो केवल उपहासास्पद-मात्र हैं। इसलिए उनके मत में व्यभिचारी-भाव रस हुए। इन तीनों पूर्वोक्त मतों की आलोचना के फलस्वरूप आलंकारिकों का ध्यान इनके सम्मिलन स्वरूप की ओर भी गया और उन्होंने 'त्रिषु य एव चमत्कारी स एव रसः अन्यथा तु त्रयोऽपि न' कहा। कुछ लोगों ने तो केवल इनके सम्मिलित रूप को ही रस कह दिया। पंडितराज ने पूर्वोक्त इन पांच तथा अन्य बहुत से मतों (शंकुक आदि के) को उद्धृत किया है। उन्होंने इन सभी मतों के दृष्टिकोण से भरत-सूत्र की व्याख्या भी की है। लेकिन इन पांच मतों में से सबके साथ उस सूत्र का सम्बन्ध स्थापित न कर सके। केवल अन्तिम दो का सम्बन्ध बताया है और शेष तीनों में सूत्र का अर्थ उन्हें भी संगत नहीं लगता है। वे इन तीनों मतों को स्वतन्त्र सम्प्रदाय मानते हैं। वास्तव में पंडितराज ने इस विवेचन में ऐतिहासिक अथवा चिन्तन-विकास के क्रम का ध्यान नहीं रखा। इस दृष्टि से केवल ये ही तीन मत नहीं अपितु शेष दो भी भरत सूत्र के पूर्ववर्ती चिन्तन के विकास की विभिन्न अवस्थाएं हैं, चाहे इन अवस्थाओं में सत्य का इतना अधिक अन्तर न हो। हां, शंकुक आदि आचार्यों का स्पष्टतः भरत-सूत्र से सम्बन्ध है, उनके मत इसी की व्याख्या हैं। इसलिए उन्हें तो हम परवर्ती मानते हैं। भरतमुनि ने अपने सूत्र में 'स्थायी भाव' शब्द का प्रयोग नहीं किया है लेकिन उन्हें स्थायी भाव को रस मानना अभीप्सित है। मुनि ने अपने इस मन्तव्य को दो श्लोकों द्वारा स्पष्ट भी कर दिया है। उन्होंने कहा है कि जैसे भात के रसज्ञ व्यक्ति बहुत से द्रव्यों तथा व्यंजनों से युक्त भात को खाते हैं और उसका स्वाद लेते हैं, उसी प्रकार पंडित लोग भावों और अभिनय से सम्बद्ध स्थायी भावों का मन से आस्वाद करते हैं।[1] इतना ही नहीं उन्होंने इस सूत्र की व्याख्या में अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है कि नाना भावों से मिश्रित स्थायी भाव ही रस है।[2]

---

१. यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम्। आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तविदोजना। भावाभिनय संबद्धान् स्थायिभावांस्तथा बुधाः। आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः।

२. यथा नानाव्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनै

भारती' के प्रणेता अभिनव गुप्त ने रस-सिद्धान्त में नवीन प्राण फूंक दिए यद्यपि इन्हें अपनी चिन्तन-सामग्री विशेषतः आनन्दवर्द्धनाचार्य से प्राप्त हुई है। आज रस का जो स्वरूप मान्य है, उसे एक तरह से अभिनव गुप्त द्वारा प्रतिपादित ही कह सकते हैं। मम्मट और पंडितराज ने भी रस पर विशद विवेचन किया है। इनमें उनकी मौलिकता और गम्भीर चिन्तन की स्पष्ट छाप भी है। उन्होंने 'रस-स्वरूप' में कुछ परिष्कार भी किये हैं और उसे अपने अंग-उपांग सहित परिपूर्णता के साथ प्रतिपादित भी किया है। पर कुछ परिष्कारों के अतिरिक्त, जो इस रस-विवेचन में विशेष सूक्ष्मता तथा प्रौढ़ता लाने में सहायक हुए हैं, इन आधुनिक आचार्यों द्वारा विवेचित 'रस' अपना सारा स्वरूप आनन्दवर्द्धन और अभिनव गुप्त के समय में ही बना चुका था। इस प्रकार काव्य के इस महान् सिद्धान्त के विकास का यह संक्षिप्त इतिहास है जिसका प्रारम्भ किसी अज्ञात समय में हुआ, जिसने अपनी गर्भावस्था का विकास आदिकवि की बुद्धि में पाया, जिसने अपना शैशव भरतमुनि की गोद में बिताया और भिन्न-भिन्न महान् आलंकारिकों तथा कवियों के बुद्धि-प्रांगणों में अपनी बाल-क्रीड़ा करता हुआ अन्त में आनन्दवर्द्धनाचार्य में अपने पूर्ण यौवन को प्राप्त हो गया। इसने अभिनव गुप्त में अपनी बुद्धि और शरीर की प्रौढ़ता तथा सबलता प्राप्त की और मम्मट, भट्ट एवं पंडितराज ने इसको सूक्ष्म विवेक-शक्ति और महानता प्रदान की।

जैसे हमने देखा कि भरतमुनि के 'नाट्य-शास्त्र' से पूर्व का अलंकार-शास्त्र पर कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, यद्यपि उनके होने की साक्षी तो स्वयं भरत मुनि ही दे रहे हैं। रस-सिद्धान्त के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है, उसका सर्व प्रथम व्यवस्थित रूप, जो अब तक उपलब्ध है, भरत-सूत्र में ही है। "विभावानुभावव्यभिचारी संयोगाद्रसनिष्पत्तिः" की प्रौढ़ता भी इस बात का प्रमाण है कि इसके पहले भी रस के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार हो चुका था और यह सूत्र चिन्तन की उस अवस्था का परिचायक है, जिसमें कुछ परि-पक्वता स्पष्ट है। भरत का यह सूत्र रस-सिद्धान्त के विकास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें पूर्ववर्ती गम्भीर और प्रौढ़ चिन्तन का आभास मिलता है और भावी विकास के लिए पर्याप्त प्रेरणा भी। पंडितराज ने 'रस' के सम्बन्ध में अनेकों मत-मतान्तरों का उल्लेख किया है। उनमें से कुछ मत विभाव, अनुभाव और संचारी को पृथक् रूप से अथवा सम्मिलत रूप में रस मानते हैं। कुछ आचार्यों ने कुछ विचार करने के बाद इस बात का प्रतिपादन भी किया कि आलम्बन के ही बार-बार अनुसंधान करने से आनन्द का अनुभव होता है, आलम्बन ही रस है।

अतः उन्होंने कहा 'भाव्यमानो विभाव एव रसः'। इसके बाद कुछ आचार्यों ने इस मत को असमीचीन समझा और आलम्बन के हाव-भाव और अंग-चेष्टाओं को अर्थात् अनुभावों को 'रस' कहने लगे। कुछ लोगों का ध्यान इस ओर भी गया कि हाव-भाव के मूल में जो चित्त-वृत्ति है, उसी के कारण तो अनुभाव आनन्ददायक होते हैं, उनके अभाव में नट के लटके-मात्र तो केवल उपहासास्पद-मात्र हैं। इसलिए उनके मत में व्यभिचारी-मात्र रस हुए। इन तीनों पूर्वोक्त मतों की आलोचना के फलस्वरूप आलंकारिकों का ध्यान इनके सम्मिलन स्वरूप की ओर भी गया और उन्होंने 'त्रिषु य एव चमत्कारी स एव रसः अन्यथा तु त्रयोऽपि' कहा। कुछ लोगों ने तो केवल इनके सम्मिलित रूप को ही रस कह दिया। पंडितराज ने पूर्वोक्त इन पांच तथा अन्य बहुत से मतों (शंकुक आदि के) को उद्धृत किया है। उन्होंने इन सभी मतों के दृष्टिकोण से भरत-सूत्र की व्याख्या भी की है। लेकिन इन पांच मतों में से सबके साथ उस सूत्र का सम्बन्ध स्थापित न कर सके। केवल अन्तिम दो का सम्बन्ध बताया है और शेष तीनों में सूत्र का अर्थ उन्हें भी संगत नहीं लगता है। वे इन तीनों मतों को स्वतन्त्र सम्प्रदाय मानते हैं। वास्तव में पंडितराज ने इस विवेचन में ऐतिहासिक अथवा चिन्तन-विकास के क्रम का ध्यान नहीं रखा। इस दृष्टि से केवल ये ही तीन मत नहीं अपितु शेष दो भी भरत सूत्र के पूर्ववर्ती चिन्तन के विकास की विभिन्न अवस्थाएँ हैं, चाहे इन अवस्थाओं में समय का इतना अधिक अन्तर न हो। हां, शंकुक आदि आचार्यों का स्पष्टतः भरत-सूत्र से सम्बन्ध है, उनके मत इसी की व्याख्या हैं। इसलिए उन्हें तो हम परवर्ती मानते हैं। भरतमुनि ने अपने सूत्र में 'स्थायी भाव' शब्द का प्रयोग नहीं किया है लेकिन उन्हें स्थायी भाव को रस मानना अभीप्सित है। मुनि ने अपने इस मन्तव्य को दो श्लोकों द्वारा स्पष्ट भी कर दिया है। उन्होंने कहा है कि जैसे भात के रसज्ञ व्यक्ति बहुत से शब्दों तथा व्यंजनों से युक्त भात को खाते हैं और उसका स्वाद लेते हैं, उसी प्रकार पंडित लोग भावों और अभिनय से सम्बद्ध स्थायी भावों का मन से आस्वाद करते हैं।[1] इतना ही नहीं उन्होंने इस सूत्र की व्याख्या में अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है कि नाना भावों से मिश्रित स्थायी भाव ही रस है।[2]

---

१. यथा बहुद्रव्ययुतै र्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम्। आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्त विदोजना। भावाभिनय संबद्धान् स्थायिभावांस्तथा बुधाः। आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः।

२. यथा नानाव्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यंजनै

इस प्रकार मुनि को इस सूत्र से विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से स्थायी भाव रस बनता है, यही मान्य है। आगे रस-सिद्धान्त का सारा विकास इसी सूत्र को आधार मानकर हुआ है। आचार्यों ने 'संयोग' और 'निष्पत्ति' इन्हीं दो शब्दों पर विशेष विचार किया है। इन दो शब्दों के विभिन्न अर्थों के कारण ही कई-एक सम्प्रदाय खड़े हुए। इसके अतिरिक्त इस बात पर भी विचार हुआ कि रस की स्थिति किसमें है; नट में, नायक में अथवा सहृदय में। इस पर भी आचार्यों का मतैक्य नहीं रहा। पर्याप्त वाद-विवाद और आलोचना-प्रत्यालोचना के बाद भारतीय आचार्यों को यह मान्य हुआ कि सहृदय में ही रस की स्थिति है। कवि की आनन्दानुभूति पर इसी अध्याय में विचार हो चुका है।

भरत मुनि के इस सूत्र के प्रधान व्याख्याता चार हैं। इन लोगों के मत विशेष सम्प्रदायों के नाम से प्रचलित हैं। अन्य आचार्यों ने तो इन सम्प्रदायों के दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण किया है। इन व्याख्याताओं में सर्व प्रथम हैं आचार्य भट्ट लोल्लट। इन्होंने स्थायी भाव की स्थिति तो नायक-नायिका में ही मानी है, पर सहृदय पाठक जब नट को सुन्दर वेश-भूषा में नायक के हाव-भावों का अनुकरण करता हुआ देखता है तो उसको नायक समझ लेता है। उस पर नायक का आरोप कर लेता है। इस प्रकार वह अनुमान से रस का आस्वाद करता है। इस मत के अनुसार स्थायी भाव आलम्बन विभाव से उत्पन्न होकर उद्दीपन विभाव द्वारा उद्दीप्त किया जाता है तथा अनुभावों द्वारा प्रतीति योग्य बना हुआ, व्यभिचारी भावों द्वारा पुष्ट होकर रस रूप में परिणत हो जाता है। यहाँ पर संयोग शब्द से 'सम्बन्ध' अर्थ लिया गया है और निष्पत्ति का अर्थ है उत्पत्ति। यह मत 'आरोपवाद' के नाम से प्रचलित है। आचार्य शंकुक को यह मत मान्य नहीं हुआ। उन्होंने कहा कि यदि आरोप कर भी लिया जाय तो क्या हुआ। जब तक इसका सम्बन्ध सहृदय से नहीं होता तब तक इसमें आनन्द का कोई कारण नहीं माना जा सकता। नट पर आरोपित रस के ज्ञान-मात्र से आनन्द की उपलब्धि नहीं हो सकती। उन्होंने स्थायी भाव को रस माना है। उनके मत में मूलतः तो यह रस नायक में रहता है, पर नट के कौशल से सहृदय को चित्र-ज्ञान की तरह नट में नायक की प्रतीति होने लगती है। वह नट में नायक का अनुमान कर लेता है। यद्यपि नट में यह सारा

[illegible] षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावाः रसत्वमाप्नुवन्ति ॥

व्यापार कृत्रिम होता है, पर फिर भी सहृदय को यह स्वाभाविक ही प्रतीत होता है। इस प्रकार उनके अनुसार रस की निष्पत्ति अनुमानजन्य है। यद्यपि लौकिक जीवन में आनन्द का अनुभव अनुमान का विषय नहीं है, फिर भी स्थायी भाव, अनुभाव आदि तथा नट की कार्य पटुता के कारण सहृदय इतना प्रभावित हो जाता है कि अनुमान से ही आनन्दित हो उठता है। प्रत्यक्ष दीखने वाले नट को वह दुष्यन्त ही समझता है। सूत्र के तृतीय व्याख्याता हुए हैं आचार्य भट्ट नायक। उन्होंने अपना नया दृष्टिकोण रखा। जैसा कि स्पष्ट है कि आनन्द की अनुभूति में अनुमिति को कारण बताने में केवल खींच-तान है। रस प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है। इसी विरोध के साथ ये आचार्य साहित्य-क्षेत्र में प्रविष्ट हुए। उन्होंने शब्द की तीन शक्तियां मानी हैं। अभिधा काव्य के अर्थ से अवगत कराती है। भावना काव्य के पात्रों तथा उनके भावों की वैयक्तिकता और विशेषता का परिहार करती है। इसके प्रभाव से उनका साधारणीकृत रूप ही पाठक के सामने आता है। अर्थात् देश, काल, पात्र, वय आदि सभी वस्तुओं की विशेषताओं का, जो रस की प्रतीति में अगम्यता का भाव उत्पन्न करने के कारण प्रतिबन्धक हैं, परिहार हो जाता है, और उनका सामान्य स्वरूप ही अवशिष्ट रहता है। और इस प्रकार काव्य आस्वाद योग्य बन जाता है। तीसरी शक्ति है भोग। इसका स्वरूप ही आनन्द का आस्वाद है। "सत्वोद्रेक प्रकाशानन्द संविश्रान्ति" ही भोग है। इस प्रकार सत्वोद्रेक से उत्पन्न प्रकाश-स्वरूप आनन्द का ज्ञान ही भोग है। इस मत को भुक्तिवाद कहते हैं। इस सिद्धान्त में "संयोग" शब्द का अर्थ साधारणीकृत तथा "निष्पत्ति" शब्द का अर्थ भोग लिया गया। भट्ट नायक ने भावकत्व और भोजकत्व के द्वारा 'साधारणीकरण" का एक महान् सिद्धान्त साहित्य-शास्त्र को दिया, जो सब कालों और देशों के काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करने की क्षमता रखता है। यह सिद्धान्त काव्यानुभूति और लौकिक अनुभूति के अन्तर को पूर्णतः स्पष्ट कर देता है। अभिनव गुप्त ने अपने पूर्ववर्ती सभी मतों की परीक्षा की है और उनके गुण-दोषों का विवेचन किया है। इन्हें भट्ट नायक का साधारणीकरण तो मान्य है। ये भी उन विशेषताओं को रस के प्रतिबन्धक मानते हैं, इसलिए उनका परिहार आवश्यक मानते है। इस क्रिया को वे अलौकिक कहते हैं। विभावादि के विभावन-व्यापार द्वारा (जो अलौकिक कहा जाता है) रस की अभिव्यक्ति होती है। चैतन्य विभावादि मिश्रित रीति को प्रकाशित करता है और इस प्रकार रस का आस्वाद होता है। इनका कहना है आनन्द तो पहले से वहां पर विद्यमान है ही, उसका भोग क्या होगा।

स्थायी, संचारी और सात्विक हो सकता है ।[1] वास्तव में प्राचीन आचार्यों के मत में ये भाव चित्त की विशेष अवस्थाओं के नाम-मात्र हैं तथा प्रधान और गौण के भेद से इनको स्थायी (रस-दशा में परिणत होने वाले) और संचारी कहा गया है। जो भाव इस भाव का सहयोगी होकर आता है, व्यभिचारी कहलाता है और दूसरा स्थायी। यह सहयोग की कल्पना व्यभिचारियों में भी की गई है। एक व्यभिचारी दूसरे का सहयोगी हो सकता है। इस प्रकार व्यभिचारियों में भी विशेष परिस्थितियों में प्रधान और गौण का भेद किया जाता है। अभिनव गुप्त ने भरत के इस मत का खंडन किया है और उन्होंने स्थायी का व्यभिचारी होना माना है पर व्यभिचारी का स्थायी नहीं। भरत मुनि के इस दृष्टिकोण ने ही परवर्त्ती आचार्यों को आठ से अधिक रस मानने की प्रेरणा दी। हरिपाल देव ने तेरह रस माने। धीरे-धीरे तो यह प्रवृत्ति हो गई कि जितने भाव थे उतने ही रस भी माने जाने लगे। पंडितराज ने भी रसों की अनेकता स्वीकार की है, पर आचार्य-परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए उन्होंने संख्या नौ तक ही सीमित रखी। इस विवेचन के कारण रस-प्रतिपादिता का स्थान स्वतन्त्र चिन्तन ने ले लिया। रस के स्वरूप की विशद व्याख्या हो गई। कोई भी भाव जब विभावों और अनुभावों द्वारा प्राप्त सत्वाविष्ट अन्तःकरण की एक-मात्र वृत्ति बनकर आनन्द स्वरूप चेतन के साथ आस्वाद्य हो जाता है, उसी अवस्था को रस कहते हैं और उसका नामकरण उन विशेष भावों के भाव के नाम पर हो जाता है। अभिनव गुप्त ने व्यभिचारी भावों के स्थायी बन जाने की संभावना को स्वीकार करके समस्या को सरलता पूर्वक हल कर दिया। इस प्रकार रसों की संख्या एकदम स्वतन्त्रता पूर्वक ही बढ़ती रहती तो संभवतः रस-सिद्धान्त अपनी गम्भीरता ही खो बैठता। वस्तुस्थिति तो यह है कि भरत मुनि तथा कतिपय अन्य आचार्यों ने जिन स्थायी भावों की रस रूप में परिणत होने की संभावना स्वीकार की है, वे मानव की मूल भावनाएं हैं, वे अन्तःकरण की अपेक्षाकृत स्थायी वृत्तियाँ हैं, जो संस्कार रूप में प्रायः प्रत्येक अन्तःकरण में रहती हैं और उपर्युक्त कारण को प्राप्त करके संवेद्य हो जाती है। इसके विरुद्ध आचार्यों द्वारा माने गए व्यभिचारी और

---

१. जुगुप्सां च व्यभिचारित्वेन शृङ्गारे निषेधन्मुनिः भावानां सर्वेषामेव स्थायित्व संचारित्व चिन्तना तावत्वं (चित्तत्व) अनुभावत्वानि योग्यतोपनिबन्धितानि।

सात्त्विक भाव अत्यन्त क्षणिक होते हैं। किसी कारणवश अन्तःकरण उन भावों का रूप धारण कर लेता है, पर वे स्थायित्व नहीं ले पाते और अपने संस्कारों द्वारा अन्य किसी मूल भाव को ही पुष्ट करते हैं। इस प्रकार प्राचीन आचार्यों का यह विवेचन अत्यन्त मनोवैज्ञानिक प्रतीत होता है। हाँ, केवल आठ ही ऐसे मूल भाव नहीं हैं, इनके अतिरिक्त वात्सल्य, भक्ति आदि भावनाएँ भी इस श्रेणी की हैं और वे 'रति' से अपना पृथक् अस्तित्व भी रखती हैं। हमारे आचार्यों का ध्यान विवेच्य विषय के इस पक्ष पर भी गया है और उन्होंने इसका भी सुन्दर विश्लेषण किया है। पंडितराज में भी इस दृष्टिकोण के दर्शन होते हैं।[1] संस्कृत के आचार्यों ने रस की अनेकता पर ही नहीं विचार किया है अपितु उन्होंने इनमें समन्वय स्थापित करने की भी चेष्टा की है। कई आचार्यों ने एक ही रस से अन्य रसों की उत्पत्ति मानी है।[2] भवभूति के सम्बन्ध में तो यह प्रसिद्ध ही है कि वे 'एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्' से करुण को ही सब रसों की आधार-भूमि मानते हैं। वीर राघव नामक व्याख्याता ने इस दृष्टिकोण को और भी स्पष्ट कर दिया है। वे कहते हैं: "यद्यपि शृङ्गार एक एव रस इति शृङ्गारप्रकाशकारादिमतम्, तथापि प्राचुर्याद् रागिविरागि साधारण्यात् करुण एक एव रसः, अन्ये तु तद्विकृतयः।"

'अग्नि पुराण' में भी सब रसों की उत्पत्ति 'रति' से मानी गई है। उनका कहना है कि ज्ञानस्वरूप और प्रकाशमान चैतन्य में आनन्द विद्यमान है और कभी-कभी उसकी अभिव्यक्ति हो जाया करती है। वह रस है। उसी का प्रथम विकार अहंकार है, उससे पहले अभिमान और रति की उत्पत्ति होती है। यही रति सब रसों की मूल है। यही रति, राग, तीक्ष्णता, गर्व और संकोच से क्रमशः शृङ्गार, रौद्र, वीर और बीभत्स का रूप धारण कर लेती है और फिर उनसे शेष चार रसों की उत्पत्ति होती है।[3] इसी प्रकार का विवेचन भोज में भी मिलता है। उन्होंने अहंकार को आत्म-रति माना है और उसीसे रस के

---

१. शब्दार्थबलात्कृष्टानि अनुजानाति। 'अभिनव भारती'

२. देखिये 'रस गंगाधर' का रस-विवेचन।

३. आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तः स तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया॥
आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहंकार इति स्मृतः।
× × × ×
रागाद् भवति शृंगारो रौद्रस्तैक्ष्ण्यात् प्रजायते, ॥ अग्नि पुराण ॥

रति आदि स्थायी भावों की उत्पत्ति भी। भोज के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए डॉ० राघवन ने इसे 'अग्नि पुराण' से भिन्न बनाया है।[1] वैसे इन दोनों में पर्याप्त साम्य है। अन्तर केवल इतना ही है कि भोज अहंकार से अन्य भावों की उत्पत्ति मानते हैं और 'अग्नि पुराण' में अहंकार से अभिमान या ममता और फिर रति। इस प्रकार यद्यपि रति से सब स्थायी भावों की उत्पत्ति मानी गई है, पर वास्तव में यह 'रति' भोज द्वारा मानी गई "आत्म-रति" से भिन्न नहीं है। वास्तव में विकास की कुछ अवस्थाएँ 'अग्नि पुराण' में अधिक हैं। बस, यही अन्तर है। भोज ने सब भावों के अन्तस्थल में प्रेमन् नामक भाव को माना है। उनका कहना है कि प्रत्येक भाव अपनी पहली अवस्था में अहंकार रूप में रहता है, फिर भाव बन जाता है और उसके बाद 'प्रेमन्' में परिणत हो जाता है। इन तीन अवस्थाओं के बाद ही उसका रूप पूर्ण होता है। साहित्यदर्पणकार के किसी पूर्वज (नारायण नामक) ने सभी आनन्दों में विस्मय का तत्त्व आवश्यक माना है। इसी आधार पर आचार्य विश्वनाथ ने सब रसों का मूल अद्भुत रस माना है।[2] वास्तव में इस समन्वय में करुण आदि रसों के कारण व्याघात आता है। अभिनव गुप्त ने सभी रसों की आधार-भूमि शान्त को माना है। इसका स्थायी भाव आत्मन् ही अन्य चित्तवृत्तियों का रूप धारण करता है और वे भाव विभिन्न रसों के स्थायी माने जाते हैं।[3] संस्कृत-साहित्य का यह समन्वयवाद मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रौढ़ता का परिचायक है।

भारतीय आचार्यों ने रस को एक ही माना है। इसके भिन्न-भिन्न नाम केवल बाह्य भेद के कारण हैं। एक ही वस्तु विभिन्न विभावों, अनुभावों, और स्थायी भावों के कारण वीर आदि के रूप में भासित होती है। रस अखंड आनन्दानुभूति है। अन्तःकरण की सात्विक स्थिति ही इसके आस्वाद का कारण है और यह अनुभूति केवल कुछ वासना-रहित सहृदयों को ही होती है। 'रस' केवल चर्वणा रूप है। इसका विभावादि में कार्य-कारण अथवा

---

१. 'दी नम्बर आफ रसाज्' पेज संख्या १७०।

२. रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारित्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः॥
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्।
॥ साहित्य दर्पण, तृतीय परिच्छेद पेज सं० ७० ॥

३. भावा विकारा रत्याद्याः, शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः।
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते ॥नाट्य-शास्त्र ॥

ज्ञाप्य-ज्ञापक सम्बन्ध नहीं है। यह पार्थिव जगत् की आनन्दानुभूति से भिन्न एक अलौकिक अनुभूति है। जिसकी तुलना आचार्यों ने ब्रह्मानन्द से की है। यह वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्य है। इस प्रकार इसकी तुलना समाधि से की जा सकती है। रस की अवस्था निर्विकल्प समाधि से निम्न कोटि की है, क्योंकि रस में अहंकार से उत्पन्न स्थायी भाव बने रहते हैं। विभावादि की पृथक् अनुभूति तो नहीं होती, पर उनकी अनुभूति का अभाव नहीं है। निर्विकल्प समाधि में यह सब-कुछ नहीं रहता। रस दशा में भी ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय के भेद की प्रतीति नहीं रहती। आचार्यों ने भी इसे ब्रह्मानन्द से भिन्न माना है। शान्त और भक्ति रस में आलम्बन परब्रह्म है इसलिए उसे कुछ लोग ब्रह्मानन्द की कोटि में ही रखते हैं। रस में आचार्यों ने आनन्द का तारतम्य भी माना है। कुछ रसों में तो स्पष्टतः दुःख की अनुभूति स्वीकृत की गई है। भोज ने "रसा हि सुखदुःखावस्थारूपाः" कहा है, 'नाट्य दर्पण' में भी "सुखदुःखात्मको रसः" कहा गया है। फिर भी रस को आचार्यों ने एक स्वर से आनन्द रूप ही कहा है, उसमें तारतम्य अवश्य माना जाता है।[1] विभिन्न रसों में आनन्दानुभूति के परिणाम का भेद वास्तव में कुछ स्थायी भावों के कठोर और लौकिक दुःख-रूप होने के कारण ही है। इतनी शताब्दियों के चिन्तन के बाद रस का जो स्वरूप मान्य हुआ, उसका प्रतिपादन एक श्लोक में आचार्य विश्वनाथ ने किया है।[2] रस का यही स्वरूप आचार्य अभिनव गुप्त तथा मम्मट को भी मान्य है। पंडितराज ने इसमें थोड़ा-सा परिवर्तन किया है। वे 'रस' को स्वयं आनन्द स्वरूप चैतन्य मानते हैं, इस चैतन्य पर रति आदि भावों का आवरण रहता है। बस, इसीलिए इसका नाम रस है और यह ब्रह्मानन्द से भिन्न है। इस दृष्टिकोण को हम इसी अध्याय में पहले स्पष्ट कर चुके हैं। यह व्याख्या विशेष सूक्ष्म और प्रौढ़ है। 'रस' का यही स्वरूप आज भी मान्य है।

---

१. सत्वगुणस्य च सुखरूपत्वात् सर्वेषां भावानां सुखमयत्वे अपि रजस्तमोंऽश मिश्रणात् तारतम्यमवगन्तव्यम्, अतो न सर्वेषु रसेषु तुल्य सुखानुभवः।
॥ भक्ति रसायन ॥

२. सत्वोद्रेकादखंड स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदरः॥
लोकोत्तर चमत्कार प्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वे नायमास्वाद्यते रसः॥ 'साहित्य-दर्पण', तृतीय परिच्छेद ॥

ध्वनि-काव्य काव्य के तत्त्व के रूप में कब से मान्य हुआ, यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। इस पर सर्व प्रथम ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' ही है। आनन्द-वर्द्धनाचार्य ही इसके पहले आचार्य हैं। 'ध्वन्यालोक' में कारिकाएँ हैं और उन पर आनन्दवर्द्धन की वृत्ति है। सभी इतिहासकार एक स्वर से ही आनन्दवर्द्धनाचार्य को वृत्तिकार मानते हैं, लेकिन कारिकाओं के सम्बन्ध में मतभेद है। कीथ और दे ने कारिकाकार आनन्दवर्द्धन को नहीं माना है और उन्होंने अपने इस मत के पक्ष में अभिनव गुप्त की लोचन-व्याख्या का ही प्रमाण दिया है। पर कुछ विद्वान् इसी "लोचन" व्याख्या के आधार पर यह भी सिद्ध करते हैं कि ये दोनों एक ही हैं। अस्तु, फिर भी "ध्वनि-सम्प्रदाय" के आचार्य तो ध्वनिकार ही हैं। लेकिन इनके पहले भी साहित्य-संसार में ध्वनि-सिद्धान्त मान्य था। स्वयं ध्वनिकार ने ही अपने ग्रन्थ की प्रथम कारिका में इस मत का प्रतिपादन किया है। "काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः यः समाम्नात पूर्वः" से यह स्पष्ट होता है कि इस ग्रन्थ के पहले भी "ध्वनि" विद्वानों को मान्य थी। 'वृत्ति' में इस सिद्धान्त को "परम्परा" से मान्य कहा है और 'लोचन' में इसी-की व्याख्या में "अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरेवुक्तम्" कहा है। अभिनव गुप्त ने इस सिद्धान्त पर 'ध्वन्यालोक' के पहले किसी पुस्तक का होना स्वीकार नहीं किया है, पर पुस्तक के अभाव में सिद्धान्त-परम्परा मानी है। डॉ० दास गुप्ता और डॉ० दे ने अपने संस्कृत-साहित्य के इतिहास में भी इस परम्परा को स्वीकार किया है। उनका कहना है कि कुछ अलंकारों ने "ध्वनि" का शब्द की एक शक्ति के रूप में प्रतिपादन किया है।[1] वामन और उद्भट आदि पूर्ववर्ती आलंकारिकों को "ध्वनिकार" ने प्रामाणिक माना है। वामन की "वक्रोक्ति" में ध्वनि के तत्त्व स्पष्ट दृष्टिगत होते हैं। उन्होंने यद्यपि स्पष्टता और निश्चयपूर्वक ध्वनि का प्रतिपादन नहीं किया है, परन्तु फिर भी उन्होंने शब्द की अभिधा के अतिरिक्त लक्षणा के नाम से अन्य शब्द-शक्ति को स्वीकार करके ध्वनि को मान लिया है। इस विचारों में ध्वनि अपनी अविकसित अवस्था में विद्यमान थी, उसके बीज थे, जो बाद में अंकुरित होकर वृक्ष का रूप धारण करते गए।[2] किसी ग्रन्थ के रूप में ध्वनि का शृङ्खलाबद्ध और व्यवस्थित विवेचन न मिलने पर भी आनन्दवर्द्धनाचार्य ने इसका

---

१. देखिये डा० दे—'दी हिस्टरी ऑफ संस्कृत लिटरेचर' वोल्यूम फर्स्ट, पेज ६ और डॉ० संकरन—'रस और ध्वनि' पेज ६४।

२. वही, पृष्ठ ६४।

इतना व्यवस्थित, गम्भीर तथा सुन्दर विवेचन किया है कि परवर्ती सभी आचार्यों को यह सिद्धान्त मान्य हो गया। इस विवेचन को ही प्रमाण मानकर उन लोगों ने रस और ध्वनि का प्रतिपादन किया है। इतना नहीं, अलंकार, गुण, रीति आदि विभिन्न काव्य-तत्वों के सम्बन्ध में भी इन आचार्यों ने ध्वनिकार के ही मत का अनुसरण किया है। ध्वनि-सिद्धान्त को अपने प्रारम्भ-काल में ही अनेकों विरोधों और आघातों का सामना करना पड़ा है। अलंकार, गुण, रीति आदि को ही काव्य में प्रमुख स्थान देने वालों ने "ध्वनि"-सिद्धान्त का विरोध किया। "प्रतिहारेन्दुराज" अलंकार-सम्प्रदाय के थे। उन्होंने काव्य में ध्वनि-तत्त्व मानने का विरोध किया है। आनन्दवर्द्धन द्वारा उद्धृत उदाहरणों को ही लेकर उनमें अलंकारों का निर्देश किया है। रस में अभिधेयार्थ का ही प्राधान्य उन्हें स्वीकृत है। भट्टनायक यद्यपि "रस" को ही काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य हैं, पर उन्होंने भी स्थान-स्थान पर ध्वनि का खंडन किया है। वे रस-निष्पत्ति में भावकत्व और भोजकत्व नामक दो शब्द-शक्तियों को कारण मानते हैं। अभिनव गुप्त ने इनके दृष्टिकोण की आलोचना की है। धनंजय और धनिक दोनों रस-सम्प्रदाय के हैं, पर उन्होंने व्यंजना के स्थान पर तात्पर्य शक्ति को स्वीकार किया है। उनके अनुसार रस में "व्यंजयव्यंजक-भाव" नहीं, अपितु "भाव्यभावक-सम्बन्ध" है। कुन्तक ने "वक्रोक्ति" की व्याख्या में शब्द के व्यंग्य अर्थ को स्वीकार किया है। उन्होंने वस्तु, अलंकार और रस में तीन भेद भी माने हैं। अलंकारों के दो भेद अभिधेय तथा व्यंजित स्वीकार किये हैं। उपचारवक्रता अलंकारों में एक विशिष्ट सौन्दर्य ला देती है। उन्होंने "पद-ध्वनि" के उदाहरण के स्वरूप में वही पद्य लिया जो आनन्द-वर्द्धन द्वारा दिया गया था। कुन्तक रस के भी विरोधी नहीं है। उनका ध्वनि के सामान्य स्वरूप से कोई विरोध नहीं प्रतीत होता है। बस, उन्होंने स्पष्टतः उसको स्वीकार न करके काव्य के सभी तत्त्वों की तरह ध्वनि का समावेश भी "वक्रोक्ति" में ही कर लिया है। महिमभट्ट ने कुन्तक और आनन्द-वर्द्धन में बहुत साम्य देखा है।[1] महिम भट्ट ने "ध्वनि" का स्पष्टतः विरोध किया है। उनका मत है कि अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त व्यंजना के नाम से शब्द की एक और शक्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्होंने रसानुभूति को अनुमान का ही कार्य बताया है। "काव्यानुभूति" को एक विशेष प्रकार का अनुमान माना है और उसे ही आनन्द का कारण बताया है।

१, डॉ० संकरन—'रस और ध्वनि,' पृष्ठ ६१।

ध्वनि-सम्प्रदाय के ये सभी विरोधी उसे निर्मूल करने में पूर्णतः असमर्थ हुए। इनमें से "वक्रोक्ति" ही केवल ऐसा सिद्धान्त था जिसमें चिन्तन की कुछ प्रौढ़ता थी। कुन्तक के बाद उसका प्रतिपादन करने वाला कोई आचार्य नहीं हुआ, इसलिए उसकी कोई परम्परा आगे तक बनी न रह सकी। "वक्रोक्ति" का स्पष्टतः ध्वनि से कोई विरोध भी नहीं था। "वक्रोक्ति" की विचार-धारा का संस्कृत-साहित्य के अलंकार-विवेचन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है जिसके स्पष्ट लक्षण हमें परवर्ती आचार्यों में दिखाई पड़ते हैं। जैसा हम देख चुके हैं कि ध्वनि-सिद्धान्त भारतीय चिन्तन की महान् देन रही है और यह आज तक भी मान्य है। इस सिद्धान्त ने काव्य-क्षेत्र के सभी तत्त्वों को नवीन प्राण दिये हैं।

ध्वनि शब्द का प्रयोग आलंकारिकों के पहले वैयाकरण कर चुके थे। महाभाष्य में "प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द उच्यते" लिखा है। ध्वनत से जिस अखण्ड शब्द की व्यंजना होती है, वही स्फोट है और उसीको ध्वनि भी कहते हैं।[१] वर्णों द्वारा अभिव्यंजित स्फोट को भी ध्वनि कहा गया और शब्दों या अर्थों द्वारा अभिव्यंजित अर्थ को भी ध्वनि ही। यह कहना तो असंभव है कि काव्य में ध्वनि मानने की प्रेरणा व्याकरण के स्फोट से ही मिली अथवा स्वतन्त्र रूप में ही इसका विकास हुआ। क्योंकि संस्कृत-साहित्य में ध्वनि की मान्यता अज्ञात समय से चली आ रही है। ध्वनिकार ने किसी मौलिक मत का प्रतिपादन नहीं किया है अपितु चिर परम्परा से आये हुए सिद्धान्त का विश्लेषण भर कर दिया है। फिर भी चाहे स्पष्टीकरण के लिए ही सही, आलंकारिकों ने व्याकरण के स्फोट का काव्य की 'ध्वनि' से सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। स्वयं मम्मटाचार्य 'ध्वनि' को समझाते हुए 'स्फोट' का आश्रय लेते हैं।[२] 'काव्य-विचार' के लेखक दासगुप्ता ने तो स्पष्ट शब्दों में ही इन दोनों का सम्बन्ध स्वीकार किया है।[३] संकरन ने भी ऐसा ही कहा है।[४] 'ध्वनिकार' ने व्यंग्यार्थ को ही काव्य का प्राण कहा है। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा कहा था। इस प्रकार काव्य की आत्मा के साथ उसके शरीर की भी कल्पना आलंकारिक करने लगे थे। आचार्यों

---

१. य संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजायते।
   स स्फोटः शब्दजः शब्दो ध्वनिरित्युच्यते बुधैः। वाक्यपदीय।

२. काव्य-प्रकाश १,१६। बाल बोधिनी।

३. काव्य-विचार।

४. 'रस एण्ड ध्वनि', पेज संख्या ६१।

ने एक तत्त्व को काव्य की आत्मा तथा शेष को शरीर माना। इसी रूपक का आश्रय लेते हुए 'ध्वनिकार' ने भी ध्वनि का स्वरूप स्पष्ट किया है। उन्होंने इसकी तुलना सुन्दरी के लावण्य से की है। जिस प्रकार लावण्य अंगों में विद्यमान अवश्य रहता है, पर उनसे भिन्न है, उसी प्रकार काव्य में शब्द और अर्थ (अभिधा) से भिन्न एक और प्रतीयमान अर्थ होता है, वही काव्य की आत्मा है और उसीको ध्वनि कहते हैं।[1] जैसे लावण्य के अभाव में सुगठित अंगों वाली तथा आभूषणों से विभूषित रमणी भी सुन्दर नहीं प्रतीत होती वैसे ही प्रतीयमान अर्थ अथवा ध्वनि (रस) के अभाव में अलंकार आदि काव्य के शोभाधायक गुण नहीं कहे जा सकते हैं। इस प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त ने काव्य में शब्द की व्यंजना-शक्ति का ही प्राधान्य प्रतिपादित कर दिया। जहां अभिधेयार्थ गौण होकर व्यंग्यार्थ को प्रधान होने का अवसर देता है, वही ध्वनि कहलाती है।[2] ध्वनि में शब्द अपने अभिधेयार्थ को व्यंग्यार्थ का सहायक कर देते हैं। 'ध्वनिकार' ने रस, अलंकार और वस्तु तीनों की व्यंजना स्वीकार की है। पर क्योंकि प्रधानतः रस ही काव्य की आत्मा है, इसलिए वस्तु और अलंकार की व्यंजना में गौण रूप में काव्यत्व स्वीकार किया गया है। 'ध्वनि' को केवल सामान्य दृष्टि से काव्य की आत्मा कह दिया गया है।[3]

"ध्वनि" के बहुत से भेदों की कल्पना हुई। उसके विभाजन के कई आधार स्वीकृत हुए। इस प्रकार यह संख्या इक्यावन तक पहुँच गई। पहले "ध्वनि" के अभिधा और लक्षणा के आधार पर दो भेद माने गए। फिर इनके क्रमशः दो-दो भेद असंलक्ष्यक्रम और संलक्ष्यक्रम तथा अर्थान्तर संक्रमित और अत्यन्त तिरस्कृत हुए। इनके पद, वाच्य, वर्ण, रचना और प्रबन्ध के आधार पर अन्य भेद किये गए। शब्द-शक्ति और अर्थ-शक्ति को तथा दोनों को सम्मिलित रूप में आधार मानकर भी भेद हुए। रस, वस्तु, अलंकार

---

१. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
तत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु। ध्वन्यालोक १,४।

२. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जिनीकृत स्वार्थौ।
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः। ध्वन्यालोक १,१३।

३. तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलंकार ध्वनि तु सर्वथा रस प्रति पर्यवस्यते इति वाच्यादुत्कृष्टौ, इत्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम्।
कुप्पु स्वामी, ध्वन्यालोक, लोचन-व्याख्या, पेज १५।

के नाम से तीन भेद तो बहुत ही मौलिक रूप में स्वीकृत हुए। इसके बाद वस्तु से वस्तु-ध्वनि अथवा अलंकार से वस्तु-ध्वनि आदि पक्षों पर विचार करके भी ध्वनि के अवान्तर भेदों का प्रतिपादन किया गया। इस प्रकार कई आधारों को ध्यान में रखकर "ध्वनि" की एक पर्याप्त लम्बी सूची वाला विभाजन हो गया। ध्वनि के कुछ भेद काव्य सामान्य के भेद के रूप में संस्कृत-साहित्य के आचार्यो को मान्य हो गए थे। उन भेदों का स्पष्टीकरण इसी अध्याय के 'काव्य के भेद' नामक अनुच्छेद में कुछ विशदता के साथ किया गया है। "ध्वनि" के इन भेदों की विस्तृत सूची पंडित रामदहिन मिश्र ने दी है।[1]

"ध्वनि" का काव्य में क्या स्थान है तथा इसका काव्य के अन्य तत्वों से क्या सम्बन्ध माना गया, इसे हम प्रसंगानुसार कई स्थानों पर स्पष्ट कर चुके हैं। "ध्वनि" के द्वारा "रस" की प्रधानता तो निरपवाद रूप से मान्य हो गई। सभी लोगों ने "रस" को काव्य की आत्मा मान लिया। दास गुप्ता[2] ने तो यह भी कहा है कि "ध्वनि"-सिद्धान्त के प्रतिपादन के बाद ही "रस" को काव्य की आत्मा के स्थान पर सर्व सम्मति से विभूषित किया गया। वे यह श्रेय ध्वनिकार को ही देना चाहते हैं। इस सिद्धान्त ने काव्य के सभी तत्वों में एक समन्वय स्थापित कर दिया और इस प्रकार उनके गौण-प्रधान के पारस्परिक झगड़ों का सदा के लिए अन्त हो गया। "ध्वनिकार" के बाद काव्य के सभी अंगों का विकास एक निश्चित दिशा में व्यवस्थित रूप से हुआ जिससे साहित्य के सैद्धान्तिक विवेचन में अतिशय प्रौढ़ता और गम्भीरता आ गई।

"ध्वनि" तथा अन्य अनेकों शब्दों की तरह भारतीय अलंकार-शास्त्र ने औचित्य को भी व्याकरण-शास्त्र से ही लिया है, ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, यह विवादास्पद है। इसमें तो सन्देह नहीं है कि अलंकार-शास्त्र से पहले इस शब्द का प्रयोग व्याकरण-शास्त्र में होने लगा था। भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' में इस शब्द का प्रयोग किया है।[3] लेकिन वहाँ से सीधा यह अलंकार-शास्त्र में नहीं आ पाया। अलंकार-शास्त्र ने सहृदय समाज की उस

---

१. काव्यालोक : द्वितीय उद्योत, पेज २२० व २२१।

२. काव्य-विचार।

३. वाक्यात् प्रकरणाद् अर्थात् औचित्याद् देशकालतः।
शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात् ॥ २३, ५॥

परम्परा से ग्रहण किया है जो चिरकाल तक मौखिक चलती रही और जिसमें इस शब्द का धीरे-धीरे विकास होता रहा। अधिकांश परिभाषिक शब्द शास्त्र में अपने निश्चित अर्थ के साथ आने के पहले बहुत दिनों तक जन-साधारण द्वारा प्रयुक्त होते रहते हैं और इस प्रकार विचारों और भावों के एक संस्कार के साथ साहित्यिक भाषा में प्रविष्ट होते हैं। साहित्य में इस शब्द का प्रयोग संभवतः प्रथम बार यशोवर्मन ने किया है। पर इसके पहले यह सहृदय समाज में प्रयुक्त होता रहा है, इसका परिचय भी यह स्वयं ही दे रहा है। यशोवर्मन ने अपने 'रामाभ्युदय' में नाटक में क्या गुण होने चाहिएँ इसका निर्देश करते हुए इस शब्द का प्रयोग किया है। सर्व प्रथम उन्होंने अभिव्यंजना के औचित्य को गिनाया है।[1] अलंकार-शास्त्र में तो इस शब्द का प्रयोग रुद्रट ने ही सर्व-प्रथम किया है। पर जैसा हम देख चुके हैं कि रुद्रट द्वारा प्रयुक्त होने के पहले सहृदय समाज में यह अपने विशिष्ट अर्थ सहित समीक्षा के एक पारि-भाषिक शब्द के रूप में पूर्णतः मान्य हो चुका था। भारतीय आलोचना में "औचित्य'-'सिद्धान्त अपने व्यवस्थित रूप में तो क्षेमेन्द्र अथवा कम-से-कम आनन्दवर्द्धन के पहले नहीं आ पाया था। क्षेमेन्द्र ही ऐसे प्रथम आचार्य हैं और संभवतः संस्कृत-साहित्य में एक-मात्र आचार्य, जिन्होंने इस सिद्धान्त पर एक स्वतंत्र ग्रन्थ का निर्माण कर दिया है। इनके पहले इस सिद्धान्त पर कई शताब्दियों तक चिन्तन हो चुका था। औचित्य का जो विवेचन औचित्य-विचार-चर्चा में मिलता है, वह एक प्रकार से आनन्दवर्द्धन और अभिनव गुप्त द्वारा 'ध्वन्यालोक' और 'लोचन' में प्रतिपादित सिद्धान्त से भिन्न नहीं कहा जा सकता। क्षेमेन्द्र ने औचित्य-सिद्धान्त पर उपलब्ध सामग्री को एकत्र करके एक ढंग से सजा दिया है। यह उनकी संस्कृत-साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण सेवा है। आचार्य की मौलिकता तो इसी बात में अधिक रही है कि उन्होंने इस सिद्धान्त की बड़ी विशद और गम्भीर व्याख्या कर दी है जिसमें उनकी चिन्तन की प्रौढ़ता का साक्षात्कार हुए विना नहीं रहता। अभिनव गुप्त-जैसे महान् आलोचक के शिष्य में यह प्रौढ़ चिन्तन अत्यन्त स्वाभाविक भी है।

भारतीय समीक्षा-शस्त्र के अन्य सभी तत्त्वों की तरह इस सिद्धान्त के

---

१. औचित्यं वचसां प्रकृत्यनुगतं सर्वत्रपात्रोचिता।
पुष्टिः स्वावसरे रसस्य च कथामार्गे न चातिक्रमः॥
शुद्धिः प्रस्तुत संविधानकविधौ प्रौढ़िश्च शब्दार्थयोः।
विद्वद्भिः परिभाव्यतामवहितैः एतावदेवास्तु नः॥ श्रृङ्गार-प्रकाशः॥

बीज भी भरत के 'नाट्य-शास्त्र' में विद्यमान हैं। मुनि ने वेश-भूषा और संभाषण को रस के उपयुक्त बनाने का आदेश दिया है। औचित्य के इस स्वरूप की ओर तो उन्होंने प्रत्येक महत्त्वपूर्ण विषय पर विचार करते हुए ध्यान आकृष्ट किया है। वे 'रस-प्रयोग' को, जिसको दूसरे शब्दों में "रसौचित्य" कह सकते हैं, सर्वत्र आवश्यक समझते हैं। उनकी दृष्टि में इस औचित्य का उल्लंघन ही काव्य-दोष है। उन्होंने इस दृष्टिकोण को आभूषणों के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है।[1] जिस प्रकार एक स्थान के उपयुक्त आभूषण जब दूसरी जगह धारण किये जाने पर केवल हास्य का ही कारण होते हैं, उसी प्रकार एक भाव अथवा रस के उपयुक्त वेश-भूषा अथवा भाषा अन्य विरोधी भाव या रस के साथ प्रयुक्त होने पर हास्यास्पद हो जाती है।

भरत के इस श्लोक तथा अन्य स्थानों के विवेचन में स्पष्टतः औचित्य शब्द का प्रयोग तो नहीं हुआ, परन्तु औचित्य के प्रायः सभी तत्त्व अपने बीज रूप में विद्यमान हैं। समीचीनता (Prohnites) अनुगुणता (appropriateness) आनुकूल्य (aeoptation) इस श्लोक में ये तीनों ही तत्त्व हैं। आभूषणों को उपयुक्त स्थान पर धारण करने से ही शोभाकारक है। इस प्रकार उपयुक्तता का निर्देश है। माघ कवि ने राजा के लिए अवसर के उपयुक्त कार्य करने की आवश्यकता बताते हुए रस और गुण के औचित्य के सम्बन्ध की ओर निर्देश किया है।[2] यह गुणौचित्य है। भामह और दंडी ने गुणों और दोषों पर विचार करते हुए औचित्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन कर दिया है। उनका कहना है कि कोई भी दोष सर्वत्र दोष नहीं होता है। उपयुक्त अवसर पर यह गुण भी कहा जा सकता है। भामह ने कान्ता के नेत्रों के अंजन का उदाहरण देकर इसे स्पष्ट कर दिया है। उनका कहना है कि अतिशय हर्ष, शोक अथवा भय के समय में पुनरुक्ति भी गुण हो जाती है। ठीक वही दृष्टिकोण दोषों के सम्बन्ध में दंडी का भी है। उन्होंने यथार्थ को उन्नत व्यक्ति के संभाषण में गुण कहा है। वास्तव में दोषत्व और गुणत्व का निर्णय स्थान, भाव, पात्र आदि की दृष्टि से होता है। एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न स्थलों पर गुण या दोष हो सकती है।

---

१. अदेशजो हि वेशस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते॥ नाट्य-शास्त्रः॥

२. तेजः क्षमा वा नैकान्तं कालज्ञस्य महीपतेः।
नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः॥

भोज ने भी गुणों और दोषों पर इस दृष्टि से विचार किया है। उन्होंने ऐसे गुणों को, जो कहीं दोष भी हो जाते हैं, वैशेषिक अथवा दोष-गुण के नाम से पुकारा है। इसीलिए आनन्दवर्द्धन तथा अनेकों अन्य आचार्यों ने दोषों को अनित्य कहा है। लोल्लट ने महाकाव्य अथवा नाटक के प्रत्येक अंग का (कथा-वर्णन अथवा भाव) प्रधान वस्तु अथवा रस की दृष्टि से संतुलित होना आवश्यक समझा है। किसी भी वर्णन का अथवा कथा-भाग का अनावश्यक विस्तार उनके विचार में रस-दृष्टि से दूषण है। नाटक में पताका, प्रकरी और संध्यंगों में रसौचित्य ही कलात्मकता और सौन्दर्य है। रुद्रट ने (जिन्होंने सर्वप्रथम अलंकार-शास्त्र में "औचित्य" शब्द का प्रयोग किया है) अलंकार-नियोजन में रसौचित्य का मानदण्ड स्वीकार किया है। रुद्रट के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अनुकरण की उपयुक्तता सब दोषों को गुणों में परिवर्तित कर देती है। हास्य या व्यंग में न्यूनोपमा और अधिकोपमा भी गुण हो जाते हैं। रुद्रट ने अर्थदोष और रसदोष का आधार भी अनौचित्य ही माना है। यहाँ तक औचित्य-सिद्धान्त-निरूपण करने वाले उन आचार्यों और कवियों पर विचार किया गया है, जिनमें से बहुतों ने औचित्य का विवेचन अज्ञात रूप से कर दिया है। उन्होंने अपने विचारों की समीचीनता को तो समझा है, पर इनको वे औचित्य के नाम पर नहीं रख सके हैं। वास्तव में अब तक बहुतों को तो इस नाम से परिचय भी नहीं था। यह अदृष्ट विचार-धारा स्पष्टतः नाम और रूप के निश्चित आवरण को धारण करके मूर्त नहीं हो पाई थी। रुद्रट-जैसे एक-आध विद्वानों ने इसे अपने इस रूप में पहचान भी लिया हो तो क्या है? वे भी औचित्य का ऐसा विशद और गम्भीर विवेचन नहीं कर पाए थे, जिससे एक स्वतन्त्र सिद्धान्त का रूप देने का श्रेय तो आनन्दवर्द्धन, अभिनव गुप्त और क्षेमेन्द्र के सम्मिलित और उत्तरोत्तर प्रयास को ही है। यह सिद्धान्त भरत के 'नाट्य-शास्त्र' में बीज रूप से अपनी अमूर्तावस्था में विद्यमान था, यशोवर्मन तक आते-आते सहृदय समाज की विचार-वारि-धारा ने इसे अंकुरित कर दिया था। रुद्रट ने तो इसका रूप स्पष्टतः गोचरगम्य भर कर दिया था। लेकिन अब तक इसका पूर्व संस्कार नहीं हो पाया था। यह साहित्य-क्षेत्र में अपना पृथक् अस्तित्व नहीं स्थापित कर पाया था। यह कार्य आनन्दवर्द्धन से शुरू होकर क्षेमेन्द्र में पूरा होता है।

आनन्दवर्द्धन ने औचित्य के सभी अंगों का विश्लेषण किया है। इनकी काव्य-समीक्षा-पद्धति रस और ध्वनि पर ही आश्रित है। अलंकार, रीति, वृत्ति

आदि सभी काव्य-तत्त्वों की उपादेयता आनन्दवर्द्धन ने 'रस' को व्यंजित करने में ही मानी है। जो तत्त्व रस की इस व्यंजना में बाधक होता है, उसीको आचार्य ने काव्य के अनुपयुक्त कह दिया है। इस व्यंजना का जो आधार आनन्दवर्द्धन ने माना है, उसीको दूसरे शब्दों में औचित्य कहा जा सकता है। इसी विचार को अभिव्यक्त करने के लिए कुन्तक ने 'वक्रता' शब्द का प्रयोग किया है और ध्वनिकार ने कहीं-कहीं 'ध्वनि' शब्द का। ध्वनिकार ने अनेकों स्थानों पर औचित्य शब्द का भी प्रयोग किया है और उनके विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी विभिन्न 'ध्वनियाँ' विभिन्न औचित्य-प्रकारों का ही स्पष्टीकरण कर रही हैं, इसलिए उन्हें इनका पर्यायवाची कहना असंगत नहीं है। कुन्तक के विचार भी 'वक्रता' के आवरण में औचित्य-सिद्धान्त का समर्थन कर रहे हैं। यह तो हम पहले (ध्वनि-प्रसंग में) देख आए हैं कि कुन्तक ने वक्रता के नाम से प्रायः वे ही विचार रखे हैं जो ध्वनिकार 'ध्वनि' के आवरण में रख चुके थे। इस प्रकार महिमभट्ट का 'वक्रोक्ति' को प्रच्छन्न ध्वनि-सिद्धान्त कहना सर्वथा उचित है।[1] यहाँ पर यह कह देना भी ठीक है कि वक्रोक्तिकार को रस-सिद्धान्त भी मान्य है। उनकी विच्छित्ति, भंगी भणिति-वैचित्र्य, लोकोत्तरचमत्कारिता आदि सभी तत्त्वों के अन्तस्तल में औचित्य की धारा बह रही है। उनकी सारी चिन्तन-धारा उसीको आधार लेकर चल रही है। इतना सब कहना असमीचीन नहीं है। कुन्तक को यह सब मान्य है। अस्तु, प्रस्तुत विषय यह है कि आनन्दवर्द्धन ने औचित्य-सिद्धान्त का बहुत विशद विवेचन किया है। उनके रस और ध्वनि इन दोनों सिद्धान्तों में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य औचित्य का है। काव्य के विभिन्न तत्त्व भी औचित्य के आधार पर ही विकास और संतुलन को प्राप्त होते हैं। आनन्दवर्द्धन ने अलंकार का औचित्य रस की अपेक्षा से माना है। वास्तव में अलंकारों के लिए ही नहीं, सभी तत्त्वों के लिए ही सभी आचार्यों ने 'रस' को ही औचित्य का मापदण्ड स्वीकार किया है। "ध्वनिकार" ने गुणौचित्य और संघटनौचित्य की ही बात नहीं कही अपितु उन्होंने इस दृष्टि से शब्द, वर्ण, वाक्य-विन्यास आदि सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बातों के सौन्दर्य अथवा उपादेयता को जांचा है। "प्रबन्ध ध्वनि" में आचार्य ने काव्य की वस्तु पर विचार किया है। सारी कथा अथवा वस्तु का निर्माण रस की व्यंजकता की दृष्टि से किया जाना चाहिए। इसलिए वस्तु का वही स्वरूप और परिणाम का औचित्य भी अपेक्षित है

---

१. डॉ० सुशीलकुमार दे, 'वक्रोक्ति जीवितम्' की भूमिका।

जिससे 'रस' की समाचीन अभिव्यक्ति हो सकती है। अनेकों घटनाओं में से उस घटना का निर्वाचन ही कवि को करना है जो रस और भाव के उपयुक्त है। रसानुकूल कथा-परिवर्तन को कुन्तक ने 'प्रकरणवक्रता' का नाम दिया है। मुख्य और गौण घटना में एक प्रकार के संतुलन की आवश्यकता है। गौण घटना अथवा भाव का इतना अधिक विस्तार न हो जाने पाय जिससे या तो वह प्रधान वस्तु के बाधक का कार्य करने लगे अथवा अलग ही लटकते हुए की तरह दूषण का हेतु-मात्र हो। इस प्रकार अंग और अंगी के सम्बन्ध में अनुपात का औचित्य रखने की आवश्यकता पर आनन्दवर्द्धन ने बहुत जोर दिया है। इतना ही नहीं रसों में प्रधान और गौण के ऐसे भेद होने पर भी औचित्य का ध्यान रखना आवश्यक है। गौण रस प्रधान का सहायक होकर ही रहे और वह अपने अनावश्यक विस्तार से प्रधान रस की अनुभूति में बाधा उत्पन्न न करे। सहकारी और विरोधी रसों का विभाजन तो केवल औचित्य के आधार पर ही हो पाया है। भरत ने जिस प्रकृत्यौचित्य का विवेचन किया है, उसको आनन्दवर्द्धन ने भावौचित्य के नाम से कहा है। इसमें उन्होंने विभाव, अनुभाव, संचारी आदि के औचित्य का विवेचन किया है। आनन्दवर्द्धन रस और ध्वनि के सम्बन्ध की कल्पना ही औचित्य बिना नहीं कर पाये हैं। उन्होंने काव्य की आत्मा "रस-ध्वनि" मानी और उसके भंग होने का एक-मात्र कारण अनौचित्य ही माना।[1] रसभंग के अन्य जितने भी कारण माने जाते हैं वे वास्तव में अनौचित्य के ही कारण हैं। उनको अनौचित्य के ही प्रकार कहना चाहिए। "ध्वनिकार" ने कवियों और आलोचकों को लम्बा निर्मित विधान देने की अपेक्षा औचित्य का मापदंड देना अधिक उचित समझा है। उनका कहना है कि कथावस्तु की प्रत्येक घटना का रस और अंगी से सम्बन्ध स्थापित करने में भरत मुनि के आदेशों पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है अपितु रस-व्यंजकता पर ध्यान देने की है। दूसरे शब्दों में आचार्य औचित्य के व्यापक मापदंड को देकर कवि और सहृदय को रूढ़ियों से छुटकारा दिलाता है। उन्हें प्रतिभा-विकास की पर्याप्त स्वतन्त्रता दे रहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आनन्दवर्द्धन ने "औचित्य" पर सभी दृष्टियों से विचार किया है; उसके सभी अंग-प्रत्यंगों का निरूपण अत्यधिक प्रामाणिकता के साथ किया है। वास्तव में "औचित्य" 'ध्वन्यालोक' में काव्य का प्राण माना जा चुका

---

१. अनौचित्यादृते नान्यद् रसभगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥ ध्वन्यालोक ३, १५ ॥

अभिनव गुप्त ने कर दिया या वह सर्वमान्य हो गया था और आज भी वे जहाँ-का-तहाँ मान्य हैं। इनका विरोध करने वाले आचार्यों ने भी औचित्य का कहीं भी विरोध नहीं किया है।

क्षेमेन्द्र ने "औचित्य" पर उपलब्ध तत्त्वों को व्यवस्थित कर दिया। बस, इसी कारण उन्हें इस सिद्धान्त का प्रतिपादक कहा जाता है। अन्यथा तो इसका प्रतिपादन तो पूर्णतः आनन्दवर्द्धन और अभिनव गुप्त का ही किया हुआ है। उन्हींके विचारों को लेकर इन्होंने "औचित्य-विचार-चर्चा" लिख डाली है। इन्होंने "आत्मा" और "जीवभूत" में अन्तर मान लिया है। वैसे औचित्य को काव्य का जीवभूत तो अभिनव गुप्त भी मान चुके थे। पर इन्होंने इनका अधिक स्पष्टीकरण करते हुए "रस" को काव्य की आत्मा तथा औचित्य को उसका प्राण कह दिया है। "औचित्य रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्" द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है। औचित्य की सफलता रस की व्यंजना में ही है। कोई भी शब्द अथवा वस्तु-चित्रण इसलिए आनन्ददायक है कि उसमें औचित्य है अर्थात् उनमें रस-व्यंजना है। इस प्रकार ये तीनों सिद्धान्त एक ही वस्तु के तीन पक्ष हैं। वस्तुत: ये बिलकुल भिन्न नहीं हैं। इनकी अभिन्नता अभिनव गुप्त स्वीकार कर चुके थे।

औचित्य संस्कृत-समीक्षा-शास्त्र का सर्वमान्य सिद्धान्त है। यह विश्व के आलोचना-साहित्य को भारत की महान् देन है। यह इतना विशद है कि इसमें काव्य के सभी तत्त्वों का समावेश हो जाता है। सब विरोधाभासों का सामंजस्य इसमें होता है। भारत के ही नहीं प्रत्युत सभी देशों की काव्य-समीक्षा में औचित्य का सिद्धान्त सन्निहित है। संस्कृत में इस पर अत्यंत व्यापक और सर्वांगीण विचार हुआ है। "रस" तो वह केन्द्र-बिन्दु है जिसके चारों ओर काव्य के सभी तत्त्व घूम रहे हैं। यह वृत्त, जिस पर ये सब तत्त्व परिभ्रमण करते है, औचित्य का ही है। जैसे आत्मा प्राण-शक्ति के द्वारा शरीर पर नियन्त्रण करती है, उसी प्रकार औचित्य के द्वारा रस काव्य-शरीर को शिथिल होने से बचाता है। औचित्य के अभाव में इसकी कल्पना नहीं हो सकती। इसीलिए अनौचित्य को ही रसाभास कहा है। सभी तत्त्व इसीलिए ग्राह्य हैं कि उनमें औचित्य उनको सौन्दर्य प्रदान करने वाला है।[1] यह सिद्धान्त "रस" का विभिन्न तत्त्वों से सम्बन्ध निश्चित करता है। उनमें एक संतुलन, सामंजस्य,

---

१. उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः ॥ क्षेमेन्द्र ॥

आनुपातिक तारतम्य, देश, काल, वस्तु, भाव आदि की दृष्टि से समीचीनता तथा उपयुक्तता लाने का एक-मात्र कारण औचित्य है। संस्कृत के औचित्य शब्द में ऊपर के शब्दों द्वारा व्यंजित सभी भावनाएँ अन्तर्निहित हैं। वे सभी विचार, जो अंग्रेजी के appropriateness' propriety' adaptation' harmony' sympathy आदि पारिभाषिक शब्दों से व्यक्त होते हैं, इस एक शब्द में समाविष्ट है। इस प्रकार इस सिद्धान्त की व्यापकता और विशदता अत्यन्त स्पष्ट है। यही कारण है कि भारतीय आलंकारिकों में तत्त्वों पर पर्याप्त मत-भेद रहा, परन्तु इस सिद्धान्त को तो सभी ने एक स्वर से ही स्वीकार कर लिया। यद्यपि सभी आचार्यों ने इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में एक ही शब्दावली का प्रयोग नहीं किया है, पर उस शब्दावली की भिन्नता में भी चिन्तन की अभिन्नता एकदम स्पष्ट है। सभी व्यक्तियों ने इस सिद्धान्त को अपने चिन्तन से पुष्ट ही किया है। औचित्य का जो व्यापक और विशद स्वरूप हमें आनन्द-वर्द्धन, अभिनव गुप्त तथा क्षेमेन्द्र के सम्मिलित विवेचन में मिलता है, उसका प्रत्यक्ष श्रेय इन्हीं तीनों आचार्यों को है, पर हमें यह भी निर्विवाद स्वीकार करना पड़ता है कि इस स्वरूप की प्रतिष्ठा में संस्कृत-साहित्य के सभी आचार्यों का पर्याप्त सहयोग रहा। औचित्य का जो स्वरूप हमें आज प्राप्त है, जिसे हम अभिनव गुप्त अथवा क्षेमेन्द्र द्वारा प्रतिपादित मानते हैं, वास्तव में वह भारतीय चिन्तन के सम्मिलित प्रयास का ही फल है।

ऊपर जिन तत्त्वों पर विचार किया गया है, वे भारतीय अलंकार-शास्त्र के सभी आचार्यों को मान्य हैं। भरत मुनि से लेकर पंडितराज तक के सभी आचार्यों ने इन तत्त्वों पर चिन्तन किया है और इनके निर्माण में सहयोग दिया है। इन तत्त्वों पर इन चिन्तकों ने अनेकों दृष्टियों से विचार किया है, यही कारण है एक आचार्य ने रसों को अलंकारों में रखा तो दूसरे ने इसकी पृथक् सत्ता स्वीकार की है। दंडी ने अलंकारों को इतना व्यापक कर दिया कि उसमें गुणों का भी समावेश हो सका। एक आचार्य ने एक गुण माना, दूसरे ने उसके स्थान पर कई माने। वामन के श्लेष, समाधि और उदार को मम्मट ने "ओज" में समाविष्ट कर लिया। इस प्रकार इन आचार्यों में पारस्परिक पर्याप्त मतभेद हैं। पर इसी आधार पर इन तत्त्वों के नाम पर विभिन्न सम्प्रदायों का नामकरण करना ठीक नहीं है। कोई भी ऐसा आचार्य नहीं है जिसने केवल अलंकार को ही काव्य का सर्वस्व माना हो। सभी ने किसी-न-किसी रूप में रस, गुण आदि को भी स्वीकार कर ही लिया है। फिर जैसा कि हमने देखा रस और औचित्य को तो एक भी आचार्य ने

अभिनव गुप्त ने कर दिया या वह सर्वमान्य हो गया था और आज भी वे जहाँ-का-तहाँ मान्य हैं। इनका विरोध करने वाले आचार्यों ने भी औचित्य का कहीं भी विरोध नहीं किया है।

क्षेमेन्द्र ने "औचित्य" पर उपलब्ध तत्त्वों को व्यवस्थित कर दिया। बस, इसी कारण उन्हें इस सिद्धान्त का प्रतिपादक कहा जाता है। अन्यथा तो इसका प्रतिपादन तो पूर्णतः आनन्दवर्द्धन और अभिनव गुप्त का ही किया हुआ है। उन्हींके विचारों को लेकर इन्होंने "औचित्य-विचार-चर्चा" लिख डाली है। इन्होंने "आत्मा" और "जीवभूत" में अन्तर मान लिया है। वैसे औचित्य को काव्य का जीवभूत तो अभिनव गुप्त भी मान चुके थे। पर इन्होंने इनका अधिक स्पष्टीकरण करते हुए "रस" को काव्य की आत्मा तथा औचित्य को उसका प्राण कह दिया है। "औचित्य रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्" द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है। औचित्य की सफलता रस की व्यंजना में ही है। कोई भी शब्द अथवा वस्तु-चित्रण इसलिए आनन्ददायक है कि उसमें औचित्य है अर्थात् उनमें रस-व्यंजना है। इस प्रकार ये तीनों सिद्धान्त एक ही वस्तु के तीन पक्ष हैं। वस्तुतः ये बिलकुल भिन्न नहीं हैं। इनकी अभिन्नता अभिनव गुप्त स्वीकार कर चुके थे।

औचित्य संस्कृत-समीक्षा-शास्त्र का सर्वमान्य सिद्धान्त है। यह विश्व के आलोचना-साहित्य को भारत की महान् देन है। यह इतना विशद है कि इसमें काव्य के सभी तत्त्वों का समावेश हो जाता है। सब विरोधाभासों का सामंजस्य इसमें होता है। भारत के ही नहीं प्रत्युत सभी देशों की काव्य-समीक्षा में औचित्य का सिद्धान्त सन्निहित है। संस्कृत में इस पर अत्यंत व्यापक और सर्वांगीण विचार हुआ है। "रस" तो वह केन्द्र-बिन्दु है जिसके चारों ओर काव्य के सभी तत्त्व घूम रहे हैं। यह वृत्त, जिस पर ये सब तत्त्व परिभ्रमण करते हैं, औचित्य का ही है। जैसे आत्मा प्राण-शक्ति के द्वारा शरीर पर नियन्त्रण करती है, उसी प्रकार औचित्य के द्वारा रस काव्य-शरीर को शिथिल होने से बचाता है। औचित्य के अभाव में इसकी कल्पना नहीं हो सकती। इसीलिए अनौचित्य को ही रसाभास कहा है। सभी तत्त्व इसीलिए ग्राह्य हैं कि उनमें औचित्य उनको सौन्दर्य प्रदान करने वाला है।[1] यह सिद्धान्त "रस" का विभिन्न तत्त्वों से सम्बन्ध निश्चित करता है। उनमें एक संतुलन, सामंजस्य,

---

१. उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः ॥ क्षेमेन्द्र ॥

आनुपातिक तारतम्य, देश, काल, वस्तु, भाव आदि की दृष्टि से समीचीनता तथा उपयुक्तता लाने का एक-मात्र कारण औचित्य है। संस्कृत के औचित्य शब्द में ऊपर के शब्दों द्वारा व्यंजित सभी भावनाएँ अन्तर्निहित हैं। वे सभी विचार, जो अंग्रेजी के appropriateness' propriety' adaptation' harmony' sympathy आदि पारिभाषिक शब्दों से व्यक्त होते हैं, इस एक शब्द में समाविष्ट हैं। इस प्रकार इस सिद्धान्त की व्यापकता और विशदता अत्यन्त स्पष्ट है। यही कारण है कि भारतीय आलंकारिकों में तत्वों पर पर्याप्त मत-भेद रहा, परन्तु इस सिद्धान्त को तो सभी ने एक स्वर से ही स्वीकार कर लिया। यद्यपि सभी आचार्यों ने इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में एक ही शब्दावली का प्रयोग नहीं किया है, पर उस शब्दावली की भिन्नता में भी चिन्तन की अभिन्नता एकदम स्पष्ट है। सभी व्यक्तियों ने इस सिद्धान्त को अपने चिन्तन से पुष्ट ही किया है। औचित्य का जो व्यापक और विशद स्वरूप हमें आनन्द-वर्द्धन, अभिनव गुप्त तथा क्षेमेन्द्र के सम्मिलित विवेचन में मिलता है, उसका प्रत्यक्ष श्रेय इन्हीं तीनों आचार्यों को है, पर हमें यह भी निर्विवाद स्वीकार करना पड़ता है कि इस स्वरूप की प्रतिष्ठा में संस्कृत-साहित्य के सभी आचार्यों का पर्याप्त सहयोग रहा। औचित्य का जो स्वरूप हमें आज प्राप्त है, जिसे हम अभिनव गुप्त अथवा क्षेमेन्द्र द्वारा प्रतिपादित मानते हैं, वास्तव में वह भारतीय चिन्तन के सम्मिलित प्रयास का ही फल है।

ऊपर जिन तत्वों पर विचार किया गया है, वे भारतीय अलंकार-शास्त्र के सभी आचार्यों को मान्य हैं। भरत मुनि से लेकर पंडितराज तक के सभी आचार्यों ने इन तत्वों पर चिन्तन किया है और इनके निर्माण में सहयोग दिया है। इन तत्वों पर इन चिन्तकों ने अनेकों दृष्टियों से विचार किया है, यही कारण है एक आचार्य ने रसों को अलंकारों में रखा तो दूसरे ने इसकी पृथक् सत्ता स्वीकार की है। दंडी ने अलंकारों को इतना व्यापक कर दिया कि उसमें गुणों का भी समावेश हो सका। एक आचार्य ने एक गुण माना, दूसरे ने उसके स्थान पर कई माने। वामन के श्लेष, समाधि और उदार को मम्मट ने "ओज" में समाविष्ट कर लिया। इस प्रकार इन आचार्यों में पारस्परिक पर्याप्त मतभेद हैं। पर इसी आधार पर इन तत्वों के नाम पर विभिन्न सम्प्रदायों का नामकरण करना ठीक नहीं है। कोई भी ऐसा आचार्य नहीं है जिसने केवल अलंकार को ही काव्य का सर्वस्व माना हो। सभी ने किसी-न-किसी रूप में रस, गुण आदि को भी स्वीकार कर ही लिया है। फिर जैसा कि हमने देखा रस और औचित्य को तो एक भी आचार्य ने

अस्वीकार नहीं किया है। प्रत्येक आचार्य ने एक-एक तत्त्व को प्रधानता देते हुए भी उनमें औचित्य की तो आवश्यकता स्वीकार कर ही ली है। फिर औचित्य के साथ उन्हें किसी-न-किसी रूप में रस, भाव, या वस्तु को भी अंगीकार करना पड़ा है। जिसकी दृष्टि से उचित अथवा अनुचित का निरूपण किया जाता है। डॉ० दास गुप्ता ने तो अपनी 'दी हिस्टरी ऑफ संस्कृत-लिटरेचर' में इस सम्प्रदाय-विभाजन को केवल पाश्चात्य प्रभाव कहा है। उनका कहना है कि भारतीय-साहित्य-शास्त्र की चिन्तन-धारा का ऐसा कोई भी विभाजन समीचीन नहीं। "रीतिरात्मा काव्यस्य" कहने वाले बहुत आचार्य नहीं हुए हैं। इन सभी मत-मतान्तरों के अन्तःस्तल में एक ही विचार-धारा प्रवाहित हो रही है। उसमें एक प्रकार की अन्विति परिलक्षित होती है। एक सामंजस्य स्थापित करने की भावना ही कार्य कर रही है और अन्त में भारतीय चिन्तन उस प्राप्तव्य पर पहुँचा भी है। आनन्दवर्द्धन और अभिनव-गुप्त ने समीक्षा-शास्त्र के इसी स्वरूप का निरूपण किया है। उनके परवर्ती मम्मट प्रभृति सभी आचार्यों ने भी इसी सैद्धान्तिक सामंजस्य का ही प्रतिपादन किया है। इसमें रस, ध्वनि, अलंकार आदि सभी तत्त्वों के अपने विशिष्ट स्थान हैं, उनके पारस्परिक सम्बन्ध हैं। भारतीय काव्य में सामंजस्य की इस प्रवृत्ति ने इतना अधिक प्रभाव प्राप्त कर लिया कि इन सभी तत्त्वों से निर्मित एक पूर्ण काव्य-पुरुष की कल्पना कर ली गई। इससे उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि इन सभी वस्तुओं की काव्य-पुरुष की पूर्णता के लिए नितान्त आवश्यकता है। इनमें से एक का भी अभाव उसे विकलांग करने का कारण है। फिर भी जैसे मानव-शरीर के कुछ अवयवों के अभाव में भी वह मानव रहता है और कुछ का अभाव उसके मानवत्व का अभाव है, बस ठीक वैसा ही आपेक्षिक महत्त्व इन काव्य-तत्त्वों में मान लिया गया। यह तो भारतीय विकास की अन्तिम अवस्था का चित्रण है। पर पहले सभी आचार्यों का चिन्तन भी इसी सामंजस्य की ओर अग्रसर होता-सा प्रतीत होता है। जब भारतीय समीक्षक के सामने "काव्य क्या है" का प्रश्न उपस्थित हुआ तो उसने उस पर गम्भीरतापूर्वक सोचना शुरू किया। प्रारम्भ से ही उसमें उसके अन्तरतम तक, वास्तविक रहस्य तक पहुँच जाने की आकांक्षा परिलक्षित होने लगी थी। वास्तविक स्वरूप को समझ लेने की आकांक्षा और तज्जनित गूढ़ चिन्तन की विभिन्न अवस्थाओं में भारतीय विचारकों ने अलंकार, गुण आदि इन विभिन्न तत्त्वों का साक्षात्कार किया है। इस प्रकार वे उसके चिन्तन की विशेष अवस्थाओं के प्रतीक-मात्र हैं। स्वभावतः ही उसकी दृष्टि काव्य के

बहिरंग पर ही जाती थी। इसलिए उसने शब्द और अर्थ के समन्वय को ही साहित्य कहा। काव्य की सर्व प्रथम परिभाषा उसने "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" ही दी। फिर धीरे-धीरे "विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्" या "इष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली" कहने लगे। भारतीय आचार्यों ने इसी 'विशिष्ट' और 'इष्टार्थ' पर चिन्तन प्रारम्भ किया है। इस प्रकार उसने पहले 'अलंकरण' में इस विशिष्टता को देखा। फिर उसका ध्यान गुणों पर गया। प्रारम्भ से ही उसका ध्यान सौन्दर्य और आनन्द पर तो था ही। उसने शोभा का कारण गुणों को मानते हुए "काव्य शोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः" कहा। इस प्रकार अलंकार और गुण में भेद करने की आवश्यकता प्रतीत हुई और अलंकारों की अपेक्षा उसने गुणों को अन्तरंग मान लिया। भारतीय चिन्तन का काव्य के वहिरंग से अन्तरंग की ओर बढ़ना भारतीय काव्य-शास्त्र के विकास का इतिहास है। "चारुत्वप्रतीतिस्तर्हि काव्यस्य आत्मा स्यात्" से वह सौन्दर्य के उस स्वरूप को, जिसमें एक प्रकार का चमत्कार है; आनन्द है, काव्य परिभाषा के लिए एक आवश्यक मापदंड मानकर चला। काव्य का कौन-सा तत्त्व उसमें इस प्रकार चारुत्व ला सकता था, यही वह सोच रहा था। वास्तविक आनन्द या चारुत्व का कारण अलंकार है या गुण। वामन ने रीति को आत्मा इसी दृष्टिकोण से कहा था। 'आत्मा' शब्द के व्यवहार के साथ भारतीय चिन्तक ने काव्य के दो भेद स्वीकार कर लिए थे, एक शरीर और दूसरा शरीरी। उसीके अनुसन्धान में वह लगा हुआ था और उसी कार्य में वह धीरे-धीरे सफल होता चला गया। उसकी सफलता की पूर्णता रस, ध्वनि और औचित्य के समन्वित सिद्धान्त में है, जिसके दर्शन उसके पूर्व रूप में तो अभिनव गुप्त में ही होते हैं। विकास-मार्ग की विभिन्न अवस्थाएँ ही भामह, दंडी, वामन आदि आचार्यों के सिद्धान्तों के रूप में निर्दिष्ट हैं। इन्हीं अवस्थाओं को हम अलंकार, गुण, रीति आदि सम्प्रदायों के नाम से अभिहित करते हैं। वास्तव में ये कोई पृथक् सम्प्रदाय नहीं हैं। भारतीय चिन्तक काव्य के वहिरंग पक्ष से अन्तरंग की ओर बढ़ा है और अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का पूरा उपयोग करके उसी मार्ग पर आगे बढ़ा है। यही कारण है कि मम्मट की काव्य-परिभाषा में काव्य के वहिरंग और अन्तरंग दोनों पक्षों का सामंजस्य मिल रहा है। पंडितराज की काव्य-परिभाषा पिछली शताब्दियों के सारे विकास को साथ लेकर चल रही है। 'शब्द' के द्वारा उन्होंने काव्य के वहिरंग तथा उसके आवश्यक सभी तत्त्वों का निर्देश कर दिया है और उनका रमणीयार्थ काव्य के सारे अन्तरंग का परिचय दे रहा है। उसमें सौन्दर्य,

चमत्कार, चारुत्व, आनन्द आदि तत्त्व निहित हैं। 'रमणीयता' में लोकोत्तर आह्लाद-व्यंजकता है, जो स्पष्टतः रस, ध्वनि और औचित्य के रूप-मात्र हैं। इतना ही नहीं मम्मट, विश्वनाथ, पंडितराज आदि आचार्यों के ग्रन्थों में, जिन्हें डॉ० दे समन्वयवादी सम्प्रदाय के आचार्य मानते हैं[1], पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रस, ध्वनि, अलंकार, गुण, रीति, वृत्ति, वक्रोक्ति आदि सभी तत्त्वों का विश्लेषण है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय चिन्तन सम्प्रदायों में नहीं बँटा है। अपितु निरन्तर एक धारा में बहता हुआ विकास करता गया है। उसमें अलंकार आदि के नाम पर सम्प्रदायवाद को देखना केवल पाश्चात्य चिन्तन का अनुकरण-मात्र है।

भारतीय काव्य-शास्त्र में एक और तत्त्व का विशद विवेचन हुआ है और वह है दोष। निर्दुष्ट रचना को काव्य मानने की प्रवृत्ति अत्यन्त प्राचीन है। साहित्य में शब्द और अर्थ के जिस समन्वय की आवश्यकता आलोचकों ने समझी है, उसके लिए प्रथम तत्त्व तो निर्दोषता ही है। काव्य के क्षेत्र में जो चार समन्वय अथवा शब्द और अर्थ के सम्बन्ध माने गए हैं, उनमें से प्रथम दोषहीन है।[2] मम्मट की परिभाषा में 'अदोषौ' शब्द से यह सिद्ध होता है कि वे दोषाभाव को कितना महत्त्व देते हैं। यही नहीं उन्हींके अनुरूप काव्य-परिभाषा देने वाले अन्य आलंकारिकों ने भी इस तत्त्व पर बहुत जोर दिया है। भोज ने भी अपनी परिभाषा में इस तत्त्व का उल्लेख किया है। यह तो उन आचार्यों की बात हुई जिन्होंने स्पष्टतः इस तत्त्व का उल्लेख कर दिया है। पर अन्य सभी आचार्यों के दृष्टिकोण में यह तत्त्व अन्तर्निहित है। यह बात केवल भारतीय आचार्यों के लिए ही नहीं अपितु सभी देशों के आलोचकों तथा काव्य-सिद्धान्तों के बारे में यह निश्शंक निर्वचन हो सकता है। वैसे तो प्रत्येक रचना के लिए, चाहे उसका क्षेत्र काव्य है अथवा शास्त्र, उसका निर्दुष्ट होना अत्यन्त आवश्यक है। पर काव्य के लिए तो यह तत्त्व और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसमें शब्द और अर्थ का एक विशिष्ट सम्बन्ध है। उसमें शब्द का और अर्थ का ही महत्त्व है अपितु इन दोनों के सामंजस्य का और उनसे व्यंजित किसी तीसरी वस्तु का भी है, वह साहित्य की आत्मा है। इसलिए साहित्य में 'दोष' का विवेचन अत्यन्त अनिवार्य है। भारतीय समीक्षा-शास्त्रज्ञों ने इसे पहचाना है।

---

१. डॉ० दे—'संस्कृत पोयटिक्स' वॉल्यूम सेकिण्ड।
२. डॉ० राघवन—'शृङ्गार-प्रकाश' पेज ९४।

'दोष' की परिभाषा आचार्यों ने भिन्न-भिन्न की है। वामन ने गुणों के विरोधी को दोष कहा है।[1] चमत्कार की तत्काल प्रतीति में बाधक दोष है।[2] 'अग्नि पुराण' के अनुसार काव्य-स्वाद में उद्वेग के कारण ही दोष हैं।[3] 'साहित्य-दर्पण' में इन्हें रस-प्रतीति में अपकर्षक का कारण बताया है।[4] काव्यप्रकाश-कार ने मुख्यार्थ को नष्ट करने अथवा बाधा के कारण को दोष कहा है।[5] इनके व्याख्याता वामनाचार्य उद्देश्य की प्रतीति में प्रतिबन्ध के कारण को ही दोष मानते हैं।[6] इस प्रकार हम देखते हैं कि दोष के सम्बन्ध में आचार्यों का आपाततः मतभेद ही परिलक्षित हो रहा है। आनन्दवर्द्धन तथा अभिनव गुप्त की दृष्टि से रस-व्यंजना के बाधक कारण का नाम दोष है। उनके विचार से अनौचित्य ही सबसे बड़ा दोष है। काव्य के जितने भी दोष हैं उनके मूल में यही औचित्य-भंग है। औचित्य के कारण तो दोष भी गुण हो जाता है। ऐसा ध्वनिकार और अभिनव गुप्त ने ही नहीं माना है अपितु दंडी आदि आलंकारिकों का भी यही मत है। इसका विवेचन हम औचित्य-प्रसंग में कर चुके हैं। वस्तुतः दोष एक दृष्टि से अनौचित्य का पर्यायवाची-सा हो गया है। उपर्युक्त सभी परिभाषाओं ने एक मूल तत्त्व की ओर निर्देश किया है। काव्य की मूल वस्तु की, जो रस, चमत्कार अथवा अलौकिक आनन्द है, समीचीन अभिव्यक्ति अथवा उसकी अनुभूति में बाधक हो, वही दोष है। इस प्रकार आपाततः परिलक्षित होने वाले पारस्परिक मतभेद का पर्यवसान औचित्य-सिद्धान्त में हो जाता है। और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यह विरोध केवल विरोधाभास है।

दोषों के विभाजन के कई आधार स्वीकृत हुए। मूलतः शब्दगत, अर्थगत और रसगत दोष ही माने गए। काव्यास्वाद में अवरोध, विलम्ब और विनाश करने वालों की दृष्टि से भी दोष के तीन स्वरूप स्वीकृत हुए। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के दोष (जैसे प्रबन्धगत आदि) भी स्वीकृत हुए। क्योंकि दोष अनौचित्य के सारे क्षेत्र को व्याप्त किये है, इसलिए इसके भेदों की कोई

---

१. गुण विपर्ययात्मनो दोषः।
२. नीरसत्वविलंबित चमत्कारि वाक्यार्थप्रतीति विघातका एवं हेयाः।
३. उद्वेगजनको दोषः।
४. दोषास्तस्यापकर्षकाः।
५. मुख्यार्थहतिर्दोषो।
६. दोषत्वं उद्देश्य प्रतीति प्रतिबन्धकत्वं।

चमत्कार, चारुत्व, आनन्द आदि तत्त्व निहित हैं। 'रमणीयता' में लोकोत्तर आह्लाद-व्यंजकता है, जो स्पष्टतः रस, ध्वनि और औचित्य के रूप-मात्र हैं। इतना ही नहीं मम्मट, विश्वनाथ, पंडितराज आदि आचार्यों के ग्रन्थों में, जिन्हें डॉ० दे समन्वयवादी सम्प्रदाय के आचार्य मानते हैं[1], पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रस, ध्वनि, अलंकार, गुण, रीति, वृत्ति, वक्रोक्ति आदि सभी तत्त्वों का विश्लेषण है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय चिन्तन सम्प्रदायों में नहीं बँटा है। अपितु निरन्तर एक धारा में बहता हुआ विकास करता गया है। उसमें अलंकार आदि के नाम पर सम्प्रदायवाद को देखना केवल पाश्चात्य चिन्तन का अनुकरण-मात्र है।

भारतीय काव्य-शास्त्र में एक और तत्त्व का विशद विवेचन हुआ है और वह है दोष। निर्दुष्ट रचना को काव्य मानने की प्रवृत्ति अत्यन्त प्राचीन है। साहित्य में शब्द और अर्थ के जिस समन्वय की आवश्यकता आलोचकों ने समझी है, उसके लिए प्रथम तत्त्व तो निर्दोषता ही है। काव्य के क्षेत्र में जो चार समन्वय अथवा शब्द और अर्थ के सम्बन्ध माने गए हैं, उनमें से प्रथम दोषहीन है।[2] मम्मट की परिभाषा में 'अदोषौ' शब्द से यह सिद्ध होता है कि वे दोषाभाव को कितना महत्त्व देते हैं। यही नहीं उन्हींके अनुरूप काव्य-परिभाषा देने वाले अन्य आलंकारिकों ने भी इस तत्त्व पर बहुत जोर दिया है। भोज ने भी अपनी परिभाषा में इस तत्त्व का उल्लेख किया है। यह तो उन आचार्यों की बात हुई जिन्होंने स्पष्टतः इस तत्त्व का उल्लेख कर दिया है। पर अन्य सभी आचार्यों के दृष्टिकोण में यह तत्त्व अन्तर्निहित है। यह बात केवल भारतीय आचार्यों के लिए ही नहीं अपितु सभी देशों के आलोचकों तथा काव्य-सिद्धान्तों के बारे में यह निश्शंक निर्वचन हो सकता है। वैसे तो प्रत्येक रचना के लिए, चाहे उसका क्षेत्र काव्य है अथवा शास्त्र, उसका निर्दुष्ट होना अत्यन्त आवश्यक है। पर काव्य के लिए तो यह तत्त्व और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसमें शब्द और अर्थ का एक विशिष्ट सम्बन्ध है। उसमें शब्द का और अर्थ का ही महत्त्व है अपितु इन दोनों के सामंजस्य का और उनसे व्यंजित किसी तीसरी वस्तु का भी है, वह साहित्य की आत्मा है। इसलिए साहित्य में 'दोष' का विवेचन अत्यन्त अनिवार्य है। भारतीय समीक्षा-शास्त्रज्ञों ने इसे पहचाना है।

---

१. डॉ० दे—'संस्कृत पोयटिक्स' वौल्यूम सेकिण्ड।
२. डॉ० राघवन—'शृङ्गार-प्रकाश' पेज ६४।

'दोष' की परिभाषा आचार्यों ने भिन्न-भिन्न की है। वामन ने गुणों के विरोधी को दोष कहा है।[1] चमत्कार की तत्काल प्रतीति में बाधक दोष है।[2] 'अग्नि पुराण' के अनुसार काव्य-स्वाद में उद्वेग के कारण ही दोष हैं।[3] 'साहित्य-दर्पण' में इन्हें रस-प्रतीति में अपकर्षक का कारण बताया है।[4] काव्यप्रकाश-कार ने मुख्यार्थ को नष्ट करने अथवा बाधा के कारण को दोष कहा है।[5] इनके व्याख्याता वामनाचार्य उद्देश्य की प्रतीति में प्रतिबन्ध के कारण को ही दोष मानते हैं।[6] इस प्रकार हम देखते हैं कि दोष के सम्बन्ध में आचार्यों का आपाततः मतभेद ही परिलक्षित हो रहा है। आनन्दवर्द्धन तथा अभिनव गुप्त की दृष्टि से रस-व्यंजना के बाधक कारण का नाम दोष है। उनके विचार से अनौचित्य ही सबसे बड़ा दोष है। काव्य के जितने भी दोष हैं उनके मूल में यही औचित्य-भंग है। औचित्य के कारण तो दोष भी गुण हो जाता है। ऐसा ध्वनिकार और अभिनव गुप्त ने ही नहीं माना है अपितु दंडी आदि आलंकारिकों का भी यही मत है। इसका विवेचन हम औचित्य-प्रसंग में कर चुके हैं। वस्तुतः दोष एक दृष्टि से अनौचित्य का पर्यायवाची-सा हो गया है। उपर्युक्त सभी परिभाषाओं ने एक मूल तत्त्व की ओर निर्देश किया है। काव्य की मूल वस्तु को, जो रस, चमत्कार अथवा अलौकिक आनन्द है, समीचीन अभिव्यक्ति अथवा उसकी अनुभूति में बाधक हो, वही दोष है। इस प्रकार आपाततः परिलक्षित होने वाले पारस्परिक मतभेद का पर्यवसान औचित्य-सिद्धान्त में हो जाता है। और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यह विरोध केवल विरोधाभास है।

दोषों के विभाजन के कई आधार स्वीकृत हुए। मूलतः शब्दगत, अर्थगत और रसगत दोष ही माने गए। काव्यास्वाद में अवरोध, विलम्ब और विनाश करने वालों की दृष्टि से भी दोष के तीन स्वरूप स्वीकृत हुए। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के दोष (जैसे प्रबन्धगत आदि) भी स्वीकृत हुए। क्योंकि दोष अनौचित्य के सारे क्षेत्र को व्याप्त किये हैं, इसलिए इसके भेदों की कोई

---

१. गुण विपर्ययात्मनो दोषः।
२. नीरसत्वविलंबित चमत्कारि वाक्यार्थप्रतीति विघातका एवं हेयाः।
३. उद्वेगजनको दोषः।
४. दोषास्तस्यापकर्षकाः।
५. मुख्यार्थहतिर्दोषो।
६. दोषत्वं उद्देश्य प्रतीति प्रतिबन्धकत्वं।

इयत्ता नहीं मानी जा सकती। अनौचित्य के अनेकों कारण हो सकते हैं। रीति, गुण, अलंकार, वर्ण, समास, शब्द, कथा, रस, भाव आदि सभी तत्त्वों की दृष्टि से अनौचित्य का विवेचन हो सकता है। इन तत्त्वों की उपयुक्तता, समीचीनता, अनुपात, संतुलन आदि सभी दृष्टियों पर हमने औचित्य-प्रसंग में संकेत किया है। इनका अभाव ही अनौचित्य है और उसे ही एक प्रकार से दोष कहना चाहिए। उपर्युक्त स्थूल विभाजन के बहुत से सूक्ष्म विभाजन हुए हैं। विषय-विस्तार के भय से हम उसे यहाँ नहीं दे रहे हैं।

दोषों के विभाजन में यद्यपि बहुत ही सूक्ष्म भेद स्वीकृत हो गए हैं, लेकिन काव्यत्व की हानि तो उन्हीं प्रधान दोषों से माननी चाहिए जो रस-निष्पत्ति अथवा उद्देश्य प्रतीति के विनाशक अथवा प्रबल बाधक हैं। यह बात आचार्यों द्वारा दी गई परिभाषा से एकदम स्पष्ट है। मम्मट तथा उनके व्याख्याताओं ने भी काव्य की परिभाषा पर विचार करते हुए इस बात को स्पष्ट कर दिया है। सभी आलंकारिकों के सामान्य दृष्टिकोण के आधार पर यह निश्शंक कहा जा सकता है।

साहित्य-समीक्षा का मान—साहित्य-दर्शन के सिद्धान्त ही समीक्षा के मान की आधार-भूमि हैं। जिस साहित्य में जितना व्यापक सैद्धान्तिक निरूपण है, उसकी समीक्षा का मान भी उतना ही प्रौढ़ और सार्वदेशीय होता है। संस्कृत-साहित्य के सैद्धान्तिक विवेचन की प्रौढ़ता और व्यापकता ऊपर के विवेचन से पूर्णतः स्पष्ट हो गई है। उसको रूढ़िवादी कहना ठीक नहीं। संस्कृत के आचार्य प्रारम्भ से ही काव्य की आत्मा के अनुसंधान में संलग्न रहे हैं। काव्य के बहिरंग से आभ्यन्तर की ओर बढ़े हैं। काव्य-लक्षण के प्रसंग में हम सैद्धान्तिक निरूपण के इस क्रमिक विकास का विशद विवेचन कर चुके हैं। उसीके साथ भारतीय आचार्य की समीक्षा-सम्बन्धी धारणा भी व्यापक होती गई है। पहले वह काव्य में अलंकारों के सौष्ठव का ही अनुसंधान करता था। रस आदि सभी कुछ अलंकार में ही अन्तर्निहित मानता था। वक्रोक्ति-सिद्धान्त ने भी काव्य के बहिरंग को ही प्रधान माना है। उसका ध्यान भी उक्ति-वैचित्र्य पर ही गया। उसने अलंकार-अलंकार्य का भेद स्वीकार कर लिया, लेकिन उसमें अलंकार्य भी उक्ति ही था, इसलिए काव्य की आत्मा की ओर चिन्तन का विकास अधिक नहीं हुआ। "रीतिरात्मा काव्यस्य" ही संभवतः आत्मा के अनुसंधान का प्रथम प्रयास था। अलंकारों की अपेक्षा गुण काव्य के अधिक आभ्यन्तर तत्त्व थे। बाद में तो गुण रस के नित्य धर्म ही मान लिये गए। चित्त की अवस्थाओं के नाम गुण हो गए। शब्द और अर्थ के साथ

भी उनका गौण सम्बन्ध मान्य हुआ। रस, ध्वनि और औचित्य ने काव्य की आत्मा का पूर्ण प्रकाशन तथा वहिरंग तत्त्वों के साथ उसका सामंजस्य भी स्थापित कर दिया। इस प्रकार भारतीय आचार्य वाह्य और आभ्यन्तर के सामंजस्य की ओर अग्रसर हुए हैं। विभिन्न सम्प्रदाय इसी प्रगति की मंजिल है; यह हम पहले कह चुके हैं। यहाँ पर इसकी पुनः स्मृति दिलाने का एक-मात्र उद्देश्य समीक्षा-सम्बन्धी धारणा के विकास का स्पष्टीकरण है। भारतीय आचार्य वाह्य सौष्ठव से आभ्यन्तर सौष्ठव की ओर अग्रसर हुआ है। उसने भावोत्कर्ष और लोकोत्तर आह्लाद को ही काव्य की आत्मा कहा है, यह रस के विवेचन में स्पष्ट कर दिया गया है। पंडितराज ने तो रमणीयता के सिद्धान्त द्वारा इस विकास को चरम अवस्था पर पहुँचा दिया। इसमें रस, अलंकार आदि सभी काव्य-तत्त्वों का समावेश है। ये सभी काव्य में रमणीयार्थ के हेतु हैं और यही इन सबकी उपादेयता का मानदंड है। मानव ज्यों-ज्यों काव्य का अनुशीलन करता है, त्यों-त्यों वह उसे नवीनतर और आह्लादकारक लगता है। उसके अन्तरतम में प्रविष्ट करना मानो लोकोत्तर आह्लाद की गहराई में पैठना है। इस प्रकार रमणीयता के सिद्धान्त ने केवल काव्य के वहिरंग और आभ्यन्तर, आह्लाद और नैतिकता, कलापक्ष और भावपक्ष के सामंजस्य को ही विकास की चरम कोटि पर नहीं पहुँचाया है, अपितु उनसे भी अतिक्रान्त अवस्था का आभास दिया है। ध्वनिकार ने जिस ओर पैर वढ़ाया था, उसी दिशा में आगे वढ़ते हुए पंडितराज अन्तिम मंजिल को पहुँच गए हैं। वे सारे शास्त्रानुमोदित काव्य-तत्त्वों का आकलन करते हुए भी उनसे अतिक्रान्त अवस्था का निर्देश करने के कारण रूढ़िवादी नहीं हैं। उनमें रूढ़ि और स्वच्छन्दता का पूर्ण सामंजस्य है, इसलिए भारतीय साहित्य-शास्त्र का यह प्रतिनिधि सिद्धान्त समीक्षा के व्यापक और सार्वदेशीय मान की प्रतिष्ठा करता है।

रस, ध्वनि और औचित्य के सिद्धान्त के त्रिकोण पर भारतीय समीक्षा-सिद्धान्त का सामंजस्यवाद अधिष्ठित है। कुप्पुस्वामी और राघवन ने इस सामंजस्य को दो वृत्तों तथा दो त्रिकोणों के चित्र द्वारा स्पष्ट किया है। औचित्य के बृहद् वृत्त में रस, ध्वनि और अनुभूति का त्रिकोण तथा अलंकार और रीति सहित वक्रोक्ति का छोटा वृत्त चित्रित हुआ है। चित्र का तात्पर्य यह है कि काव्य के सभी तत्त्व (अलंकारादि) औचित्य के मार्ग का अवलम्बन करके ध्वनि अथवा अनुभूति के माध्यम से रस की पुष्टि के लिए क्रियाशील हैं। प्रत्येक तत्त्व में रस की दृष्टि से औचित्य देखना भारतीय समीक्षक और कवि

का प्रधान कर्तव्य है। रस अभिधेय वस्तु नहीं है। काव्य शब्द की अभिधा और लक्षणा की अपेक्षा व्यंजना-शक्ति का अधिक उपयोग करता है। उसका उद्देश्य कवि की अनुभूति के समान ही पाठक में अनुभूति जाग्रत करना है। यह कार्य व्यंजना-शक्ति के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता। इसलिए व्यंजना-शक्ति ही काव्य की प्राण है। वक्रोक्ति ही अलंकार, रीति आदि बाह्य तत्त्वों का आधार है और इस चित्र में इनका काव्य के आभ्यन्तर रस से सामंजस्य दिखाया गया है। काव्य में अनुभूति और अभिव्यक्ति का पूर्ण सामंजस्य भारतीय आचार्य को मान्य है। अनुभूति और अभिव्यक्ति को स्पष्टतः पृथक् देखने की प्रवृत्ति बिलकुल नहीं है। कवि की अनुभूति ही कविता बन जाती है। यह सिद्धान्त तो संस्कृत के आदिकवि वाल्मीकि ही प्रतिपादित कर चुके थे। "शोकार्त्तस्य प्रवृतो मे श्लोको भवतु नान्यथा" की व्याख्या में हम इसे पहले भी स्पष्ट कर चुके हैं। अलंकार, रीति आदि काव्य का बाह्य अर्थात् अभिव्यक्ति पक्ष है और रस आभ्यन्तर। इन दोनों का सामंजस्य ही आचार्यों को अभिप्रेत है। काव्य-शरीर के अलंकार, गुण, रीति आदि सभी तत्त्वों का पारस्परिक सामंजस्य वक्रोक्ति-सिद्धान्त तथा काव्य की आत्मा के साथ उनका सामंजस्य औचित्य और व्यंजना द्वारा हो जाता है। इस प्रकार काव्य के बाह्य और आभ्यन्तर, शरीर और आत्मा में पूर्ण सामंजस्य हो जाता है। इसका आधार व्यंजना है। वस्तुतः गूढ़ दृष्टि से देखने से स्पष्ट हो जाता है कि वक्रोक्ति भी व्यंजना के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

संस्कृत में साहित्य शब्द का प्रयोग ही यह स्पष्ट करता है कि भारतीय आचार्य को पूर्ण सामंजस्य मान्य है। "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" तथा "वागर्थाविव संपृक्तौ" में शब्द और अर्थ का सामंजस्य निहित है और इसीमें सब प्रकार के सामंजस्य का अन्तर्भाव है। प्राचीन आचार्य को अलंकार, गुण, रीति आदि के नियमोपनियमों का ऐसा कठोर नियन्त्रण मान्य नहीं है। वह कवि-प्रतिभा को पूर्णतः स्वतन्त्र मानता है। अलंकार-शास्त्र के नियमों में जकड़ा हुआ कवि उन्हीं निर्देशों पर चलकर उत्कृष्ट काव्य का सृजन नहीं कर सकता है। पर वह "निरंकुशाः कवयः" कहता हुआ भी उसकी उच्छृङ्खलता को प्रोत्साहन नहीं देता। रस अथवा रमणीयता का एक सिद्धान्त ऐसा है, जिसका उस पर भी नियंत्रण है। वह उसे दिशा-निर्देश करता है। इस प्रकार भारत का आचार्य शास्त्र-विधि का नियंत्रण मानते हुए भी कवि को स्वातन्त्र्य प्रदान करता है। इसीको सामंजस्य कहते हैं। यहाँ का आलोचक अगर पश्चिम के क्लासिकल आलोचक की तरह विधि-विधान के जटिल नियंत्रण

को मानकर नहीं चलता तो वह प्रभाववादी की तरह काव्य-शास्त्र के नियमों की नितान्त अवहेलना भी नहीं करता है। उसके स्वरूप में दोनों का सामंजस्य ही है और यही संस्कृत की विश्व को देन है। भारतीय आचार्य अलंकार, गुण आदि का सौन्दर्य और उपादेयता काव्य की आत्मा की दृष्टि से मानता है। इसके नियम कवि के आदेश नहीं हैं। अपितु साहित्य-दर्शन के गम्भीर मन्थन के परिणाम-मात्र हैं। कवि-प्रतिभा के नियन्त्रण के लिए जड़ नियम नहीं हैं। कवि भाव और शैली के जिन तत्वों का उपयोग स्वाभाविक रूप से करता है, उन्हींको इन नामों से अभिहित किया गया है। इनके लिए प्रयास अपेक्षित नहीं है। रस-चारुत्व अथवा रमणीयता कविता के प्राण हैं। प्राण-विहीन प्रयास-साध्य रचना के लिए काव्य शब्द का प्रयोग केवल औपचारिक है। चारुत्व के विभिन्न साधनों को ही अलंकार और गुण कहा गया है। "द्विविधं चारुत्वं स्वरूपमात्रनिष्ठं संघटनाश्रितं च। तत्र शब्दानां स्वरूप मात्रकृतं चारुत्वं शब्दालंकारेभ्यः संघटनाश्रितं तु शब्दगुणेभ्यः। एवमर्थानां चारुत्वं स्वरूपमात्र-निष्ठामुपमादिभ्यः संघटनापर्यवसितं तु अर्थगुणेभ्यः॥"[1]

काव्य में रस, रमणीयता, चारुत्व अथवा अलौकिक आह्लाद की प्रतिष्ठा शास्त्रीय नियमों के निर्वाह-मात्र से संभव नहीं है। इसके लिए कवि-प्रतिभा और मौलिक अनुभूति अपेक्षित है। रस-निष्पत्ति के लिए माध्यम रूप में अपेक्षित तत्वों का निर्देश संस्कृत-आचार्य को अभिप्रेत है। इस पद्धति के आलोचक का उद्देश्य काव्य की आत्मा का (रस का) अनुसन्धान तथा अलंकारादि तत्वों का निर्जीव संकेत-मात्र आलोचना नहीं है। संस्कृत-अलंकार-शास्त्र द्वारा अनुमोदित आलोचक केवल शास्त्रीय और वैधानिक तत्वों का स्पष्टीकरण नहीं करता, वह स्वयं रसास्वाद करता है और अपने विवेचन से पाठकों के रसास्वाद में सहायक होता है। इस प्रकार इस दृष्टिकोण में रूढ़ि और मौलिकता एवं विधि और स्वातन्त्र्य का सामंजस्य है।

कला के उद्देश्य के सम्बन्ध में पाश्चात्य देशों में पर्याप्त वाद-विवाद रहा है और अब भी उसका अन्त नहीं हुआ है। इसीके आधार पर पश्चिम में "कला-कला के लिए", "कला-जीवन के लिए" आदि अनेक मत-मतान्तर बन गए हैं। कुछ कला का उद्देश्य एक-मात्र सौन्दर्य-सृजन ही मानते हैं। उनकी दृष्टि से कला-सौन्दर्य स्वयं ही एक उपयोगिता है, उसमें किसी बाह्य और नैतिक उपयोगिता का ढूंढना व्यर्थ ही नहीं अपितु कला को हीन करना है। पर दूसरा दल

---

१. लोचन, पृष्ठ ४।

साहित्य को जीवन की व्याख्या कहता है तथा उसमें जीवन के लिए नैतिक उपदेश देखने का इच्छुक है। उसकी दृष्टि से साहित्य का जीवन से अपना कोई पृथक् महत्त्व नहीं है। उसका महत्त्व जीवन की उपयोगिता की दृष्टि से ही आँका जा सकता है। लेकिन भारतीय आचार्य ने इतनी स्थूल दृष्टि से कभी नहीं देखा। उसे सुन्दर और मंगल का सामंजस्य मान्य है। रस को ब्रह्मानन्द-सहोदर कहकर उन्होंने परम मंगल और सौन्दर्य का सामंजस्य कर दिया है। बाह्य आवरण में आपाततः अश्लील प्रतीत होते हुए भी अगर वह रस-निष्पत्ति का हेतु है तो भारतीय आचार्य उस स्थल को अश्लील कहकर उपेक्षा नहीं करेगा। वह 'अनैतिक' कहकर उसका बहिष्कार नहीं करता। नैतिकता का स्थूल और रूढ़िवादी रूप उसे मान्य नहीं है। रस चित्त की सात्विक अवस्था में ही अनुभूत होता है, इसलिए बाह्यतः अश्लील और आपाततः अनैतिक होते हुए भी वह प्रभाव में श्लील और नैतिक ही है। वह तो परम मंगल में एकाकार हो जाता है, इसलिए अश्लील और अनैतिक कहा ही नहीं जा सकता। भारतीय आचार्य रस के औचित्य और अनौचित्य के मानदंड से ही आँकता है, स्थूल नैतिकता से नहीं। वह काव्य का उद्देश्य तो "रामादिवत् प्रवर्तितव्यम् न रावणादिवत्" ही मानता है। पर कवि धर्म-शास्त्र का उपदेशक नहीं है। उसका उपदेश भी कान्ता की तरह होता है। उसमें वह व्यंजना का उपयोग करता है। आपाततः अश्लील प्रतीत होने वाली वस्तु भी साधन रूप से प्रयुक्त होकर रस में मंगल रूप हो जाती है। इस प्रकार भारतीय आचार्य का दृष्टिकोण नैतिक होते हुए भी स्थूल उपयोगिता-वादी नहीं है। यही कारण है कि आनन्दवर्द्धनाचार्य कालिदास के शंकर-पार्वती के संयोग शृंगार को अनुचित मानते हुए भी कालिदास को सर्वश्रेष्ठ कवियों में स्थान देते हैं। "शून्य वासगृहे" आदि आपाततः नग्न और अश्लील होते हुए भी श्रेष्ठ काव्य के उदाहरण माने गए हैं। इससे स्पष्ट है कि भारतीय आचार्य ने संकुचित दृष्टिकोण से विचार नहीं किया है। वे काव्य में सौन्दर्य और मंगल का सामंजस्य मानते हैं। वस्तुतः जिसमें रस व्यंग्य है, वह काव्य हृदय को सत्वाविष्ट करता है, इसलिए कभी अमंगलकारक नहीं हो सकता, वह अश्लील भी नहीं हो सकता। यहाँ पर भी उन्होंने सामंजस्यवादी दृष्टिकोण को ही अपनाया है। यही कारण है कि यहाँ पर काव्य के उद्देश्य के नाम पर वाद-विवाद खड़े नहीं हुए। भारत में काव्य को नीति-शास्त्र, समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान आदि के सिद्धान्तों पर मापने के प्रयत्न के भी दर्शन नहीं होते। साहित्य को विशुद्ध साहित्य की दृष्टि से देखना और उसका मूल्यांकन करना

ही यहाँ के आचार्यों को अभीप्सित रहा है। इसीलिए भारतीय प्राचीन आलोचक ऐतिहासिक अथवा मनोवैज्ञानिक आलोचक नहीं हैं। वह विशुद्ध साहित्य-समालोचक-मात्र हैं। उसे चाहें तो सौष्ठववादी कह सकते हैं। हिन्दी में भी सौष्ठववादी समीक्षा का दृष्टिकोण मान्य हुआ है और इसीका विकास हो रहा है। हिन्दी का भी वाद-विवादों के अधिक झंझट में न पड़ने का संस्कार ही है।

संस्कृत के आचार्यों ने आलोचक के स्वरूप पर भी विचार किया है। उन्होंने पश्चिम की तरह कवि और आलोचक को पारस्परिक विरोधी नहीं माना है। एक ही प्रतिभा के दो स्वरूपों की प्रतिष्ठा कवि और आलोचक में होती है। "सा च द्विधा कारयित्री भावयित्री च। कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री। ...भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री। सा हि कवेः श्रममभिप्रायं च भावयति।... कः पुनरनयोर्भेदो यत्कविर्भावयति भावकश्च कविः।"[1] इससे यह सिद्ध हुआ कि आलोचक के लिए भी प्रतिभावान् होना आवश्यक है। कवि जो-कुछ सृजन करता है, भावक भी अपनी प्रतिभा द्वारा उसको प्रत्यक्ष करके उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। उसका रसास्वाद करने की क्षमता ही भावक की प्रधान योग्यता है। कवि-कल्पना को पूर्णतः आत्मसात् कर लेना, उसके तात्पर्य एवं शब्द-गुम्फन के रहस्य को समझना तथा रसास्वाद करना ही भावक का कार्य है।[2] राजशेखर ने कवि की सूक्तियों तथा अभिव्यंजना का आनन्द लेना ही भावक का प्रधान कार्य बताया है। उनकी दृष्टि से आलोचक कवि की प्रशंसा ही नहीं करता है, अपितु उसके दोषों का निवारण भी करता है। वह कवि को यह भी बतलाता है कि अमुक भाव को इस प्रकार व्यंजित करना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृत-साहित्य में आलोचक के स्वरूप की धारणा हमेशा ही कवि का अनुगामी बनने की नहीं है अपितु कभी-कभी वह कवि का पथ-निर्देशक भी बन जाता है। सहृदयता उसका प्रधान गुण है। उसे पथ-निर्देश भी काव्य-सौष्ठव, रमणीयता, रस और औचित्य की दृष्टि से ही करना है, अन्य किसी दृष्टि से नहीं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है भारत में भावक के ऐतिहासिक

---

१. 'काव्य-मीमांसा', चतुर्थ अध्याय, राजशेखर।

२. शब्दानां विविनक्ति गुम्फनविधीनामोदते सूक्तिभिः।
सान्द्रं लेढि रसामृतं विचिनुते तात्पर्यमुद्रां च यः॥
'काव्य-मीमांसा', चतुर्थ अध्याय।

के आधारप र उनका ऐसा नामकरण हुआ है। पूर्णतः आरोचिकी तो आलोचक ही नहीं हो सकता है। जब तक वह विवेक द्वारा सार का ग्रहण और असार का परित्याग न करे तब तक आलोचक कैसा। इससे इस विवेचन को आलोचकों के विभाजन की अपेक्षा उनकी मनोवृत्ति अथवा मानसिक विकास की अवस्थाओं का विभाग मानना अधिक ठीक है। इसके अतिरिक्त राजशेखर विभिन्न दृष्टियों से आलोचना करने वाले आलोचकों के कई भेदों का भी निरूपण करते हैं।[1] कुछ आलोचक तो केवल वाणी की ही आलोचना करते हैं और कुछ काव्य के हृदय, भाव, रस आदि का भी विवेचन करते हैं। यहाँ पर राजशेखर ने काव्य के कलापक्ष और भावपक्ष के नाम से दो पक्ष स्पष्टतः स्वीकार किये हैं। उन्होंने आलोचक के रुचि-वैचित्र्य की ओर भी संकेत किया है। यह रुचि-वैचित्र्य का ही परिणाम है कि कुछ का ध्यान अभिव्यक्ति पक्ष की ओर तथा कुछ का भावपक्ष की ओर अधिक जाता है। कुछ लोग भावपक्ष में भी रुचि-वैचित्र्य के कारण साहित्यिक भाव, अनुभाव आदि में से किसी एक का ही निरूपण करते हैं। कुछ लोग गुण-दोषों को भी साथ ही अलग-अलग करते चलते हैं और कुछ ऐसा नहीं कर पाते। काव्य के विभिन्न तत्त्वों के विश्लेषण की प्रवृत्ति के आधार पर आलोचक के भेदों का निरूपण करने का तात्पर्य उसकी अनेकता का दिग्दर्शन तथा प्रवृत्ति-भेद की स्वाभाविकता का निरूपण-मात्र है। आचार्य भेदोपभेदों को गिनाकर अनावश्यक विस्तार नहीं करना चाहते हैं। इस श्लोक के "वाग्भावको" और "हृदयभावको" पदों का एक दूसरा अर्थ भी कुछ लोगों को मान्य है। वे "हृदयभावक" पद द्वारा उस भावक की ओर संकेत मानते है जो काव्य-सौष्ठव का अनुभव तो करता है, पर उसे वह हृदय में ही रखता है, वाणी से अभिव्यक्त नहीं करता। पर 'वाग्भावक' अनुभव भी करता है तथा अपने अनुभव को वाणी द्वारा दूसरों पर प्रकट भी करता है। इस अर्थ को मान लेने में भी कोई आपत्ति नहीं है। इससे भावक के ही दो स्वरूपों का निर्देश हो जाता है। कुछ लोग सहृदय होते है, और वे काव्य-सौष्ठव का रसास्वाद कर सकते हैं, पर उनमें अनुभूति को पाठक तक पहुँचाने की क्षमता नहीं होती है। ऐसे व्यक्ति भावक

---

१. 'वाग्भावको भवेत्कश्चित् कश्चित् हृदय भावकः।
सात्त्विकैराङ्गिकैः कश्चिदनुभावैश्च भावकः ॥
गुणादान परः कश्चिद्दोषादान परोऽपरः।
गुणदोषाहृति त्याग परः कश्चन भावकः।' 'काव्य-मीमांसा', पृष्ठ ५३ ॥

होते हुए भी आलोचक नहीं हैं। इससे इस तथ्य की और भी पुष्टि हो जाती है कि आलोचक के लिए सहृदय होना नितान्त आवश्यक और अपरिहार्य है और रसास्वाद करना भी उसका एक प्रधान कार्य है।

इतना प्रौढ़ सैद्धान्तिक निरूपण होते हुए भी संस्कृत-साहित्य में आलोचना का प्रयोगात्मक रूप इतना कम क्यों उपलब्ध है यह प्रश्न कुछ विचारणीय है। पश्चिम में प्रयोगात्मक आलोचना का उसके सैद्धान्तिक निरूपण की अपेक्षा अधिक विकास हुआ है। प्रयोगात्मक आलोचना कलाकार और कला-कृति के महत्त्व के मूल्यांकन का वैयक्तिक प्रयास है। उसमें आलोचक की यह आकांक्षा और आशा अवश्य अन्तर्हित होती है कि मेरे विचारों से दूसरे भी सहमत होंगे, इसीलिए वह आलोचना में ऐसी शैली का उपयोग अवश्य करता है। इस दृष्टि से प्रयोगात्मक आलोचना को साधारण पाठक के लिए कला-कृति के सौन्दर्य का उद्घाटन भी कह सकते हैं। इस आलोचना का प्रधान उद्देश्य पाठकों को कृति के सौन्दर्य का आस्वाद कराना तथा उसके महत्त्व का मूल्यांकन करना है। फिर भी ये प्रयास व्यक्तिगत ही होते हैं, यही कारण है कि दो आलोचकों की एक ही कवि की आलोचना कितनी भिन्न हो जाती है। दूसरे से प्रयोगात्मक आलोचनाएँ साहित्य-सम्बन्धी कतिपय सिद्धान्तों तक पहुँचाने के मार्ग भी हैं। साहित्य-समीक्षा के कई प्रयोगों के निगमन से कुछ ऐसे सिद्धान्त स्थिर हो जाते हैं जो साहित्य-क्षेत्र की अपेक्षाकृत स्थायी वस्तु हैं। प्रयोग वैयक्तिक, सामयिक और साधन रूप होने के कारण कालान्तर में अपना महत्त्व खो देते हैं तथा स्वभावतः शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, पर सिद्धान्त सार्वजनिक, सार्वकालिक और साध्य होने के कारण अधिक जीवित रहते हैं। उनमें अपेक्षाकृत प्राण-शक्ति अधिक होती है। दूध की अपेक्षा घृत में प्राण-शक्ति अधिक है वह अधिक दिन तक उपयोगी रह सकता है। साहित्य-दर्शन साहित्य का केन्द्र-बिन्दु है। साहित्य का सार-तत्त्व उसमें संकलित होता-रहता है और वह साहित्य का कुछ नियन्त्रण भी करता रहता है। दिशा-निर्देश करना और प्रेरणा देना भी इसका कार्य है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रयोगात्मक आलोचना का एक प्रधान उद्देश्य सिद्धान्तों को स्थिर करते जाना भी है। प्रत्येक प्रकार की आलोचना साहित्य-दर्शन की प्रगति में सहायक भी होती है और साहित्य-दर्शन के द्वारा नियन्त्रित भी। आलोचना के इन दोनों स्वरूपों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। भारतीय चिन्तन-धारा की एक प्रधान विशेषता यह है कि उसमें वस्तु की आत्मा के अनुसन्धान की प्रवृत्ति अधिक है। यह उस तत्त्व का साक्षात्कार करती है जिसके कारण

वस्तु वस्तु है। इस अनुसंधान-कार्य में जिन साधनों और मार्गों का वह अवलम्बन करती है, उनका बहुत अधिक लेखा-जोखा रखना भारतीय प्रकृति के विरुद्ध है। यही क्रम साहित्य-दर्शन के विकास में रहा प्रतीत होता है। साहित्यिक कृतियों का आलोचनात्मक अध्ययन विद्यार्थियों और जन-समाज में होता रहा होगा, उनसे समीक्षा-तत्त्वों का निरूपण भी हुआ होगा। पर यह प्रक्रिया प्रायः मौखिक ही रही होगी। विद्यार्थियों को समझाने के लिए भी आलोचनात्मक विवेचन होते रहे होंगे, पर ऐसे प्रयासों का लिखित रूप या तो रहा ही न हो अथवा कुछ साधारण-सा रहा भी हो तो आज वह अनुपलब्ध हो गया है। आज की तरह प्राचीन काल में कलाकार के व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक तथा उसकी परिवृत्तियों के ऐतिहासिक अध्ययन की प्रवृत्ति नहीं थी। ऐसी समीक्षा-पद्धतियों में काव्य-ग्रन्थ और कवियों पर पृथक् पुस्तकाकार रचना अधिक हो सकती है और वे ही अपेक्षाकृत स्थायी भी होती हैं। इन्हीं सब कारणों से संस्कृत-साहित्य में प्रयोगात्मक आलोचना का रूप बहुत कम मिलता है।

भारतीय प्राचीन साहित्य में आलोचना का प्रधान रूप टीका ही है। सिद्धान्त-ग्रन्थों पर भाष्य भी लिखे गए। इस प्रकार आलोचना की प्रवृत्ति थी, पर आधुनिक रूप से सर्वथा भिन्न रूप में। टीका में प्रत्येक श्लोक को पृथक् देखने की प्रवृत्ति ही अधिक है। टीकाकारों का ध्यान इस ओर बहुत कम गया है कि आलोच्य श्लोक का प्रबन्ध की धारा में क्या स्थान है। सारे ग्रन्थ पर सामूहिक रूप में अथवा कलाकार के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर विचार करने की प्रवृत्ति बहुत कम थी। कुछ सूक्तियों के रूप में इस प्रकार की प्रवृत्ति के दर्शन अवश्य होते हैं। ऐसी कतिपय सूक्तियों पर विचार किया जायगा। यहाँ पर हमारा उद्देश्य टीका-पद्धति की आलोचना के सम्बन्ध में विचार कर लेना है। टीका में भाषा-सम्बन्धी व्याख्या और आलोचना के अतिरिक्त अलंकार, गुण, रीति आदि शास्त्रीय तत्त्वों का भी निर्देश होता है। आलोच्य वस्तु के निगूढ़ अर्थों का उद्घाटन भी किया जाता है। टीकाकार उससे सम्बद्ध और बहुत सी अन्य बातों का भी विचार कर लेते हैं। शास्त्रीय तत्त्वों के निर्देश के अतिरिक्त स्थल-स्थल की रमणीयता को भी स्पष्ट करते हैं। उनसे आह्लादित होकर अनुभूतिव्यंजक वाक्यों का प्रयोग भी होता रहा है जो पाठ्य को भी उस स्थल से आह्लादित होने का अवसर प्रदान करते हैं। ऐसे स्थल कभी-कभी प्रशंसात्मक वाक्यों का रूप भी धारण कर जाते हैं। संस्कृत के टीकाकारों ने रस और औचित्य की दृष्टि से काव्य का विचार किया है। प्रसंगानुसार शास्त्र के

उद्धरण भी देते चले हैं। कहीं-कहीं सिद्धान्तों की सूक्ष्म व्याख्या कर दी है। कहने का तात्पर्य यह है कि टीका-पद्धति में आलोचक के प्रौढ़ रूप के दर्शन होते हैं। मल्लिनाथ-जैसे व्यक्ति किसी भी समालोचक के समकक्ष माने जा सकते हैं।

सभी आचार्य अपने सिद्धान्त-ग्रन्थों में श्लोकों, ग्रन्थों और कवियों की प्रसंगानुसार पर्याप्त आलोचना करते रहे हैं। श्लोकों को उत्तम, मध्यम आदि भेदों में स्थान देते समय वे काव्य की आत्मा की ओर संकेत करते हैं तथा अपने पक्ष के समर्थन में प्रौढ़ तर्क उपस्थित करते हैं। इस प्रकार उनमें प्रौढ़ और सूक्ष्म आलोचक के रूप बिलकुल स्पष्ट हैं। जहाँ वे आचार्य अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि आदि तत्त्वों का विवेचन और निर्देश करते हैं, वहाँ तो उनकी तलस्पर्शिता और सूक्ष्म विश्लेषण-शक्ति आश्चर्य-चकित करने वाली है। एक ही श्लोक की भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं। उन्होंने तरह-तरह से उसके भावोत्कर्ष और अभिव्यंजना-सौष्ठव को देखने का प्रयत्न किया है। इन आलंकारिकों ने कवि के सम्पूर्ण व्यक्तित्व तथा वर्ण्य विषय के औचित्य पर भी विचार किया है। आनन्दवर्द्धनाचार्य ने महाभारत को 'शांत रस' का महाकाव्य माना है। वे वाल्मीकि, व्यास और कालिदास को ही वास्तविक कवि मानना चाहते हैं।[1] कालिदास के शंकर-पार्वती के संभोग शृङ्गार के वर्णन को अनुचित बतलाकर उन्होंने काव्य के वर्ण्य विषय पर औचित्य और नैतिकता की दृष्टि से विचार किया है।[2] इसके अतिरिक्त वे कई स्थानों पर कवियों के पथ-निर्देशक भी हैं और इस प्रकार वे आलोचक के उत्तरायित्त्व का पूर्णतः निर्वाह कर रहे हैं। आनन्दवर्द्धनाचार्य की सूक्ष्म आलोचनात्मक दृष्टि से महाकवियों के दोष भी नहीं छिप सके हैं। कालिदास को महाकवि स्वीकार करते हुए भी उनके दोषों का संकेत करना ध्वनिकार की निष्पक्षता और सूक्ष्म विश्लेषण-शक्ति का पुष्ट प्रमाण है।

संस्कृत का आलोचक शास्त्रीय शब्दावली का प्रयोग अधिक करता है। इसलिए उसकी शैली अनुभूति-व्यंजक नहीं प्रतीत होती है। आज का पाठक उस आलोचना को वैधानिक, निर्णयात्मक और परम्परायुक्त ही मानना चाहता है। यह आलोचना भी विशिष्ट, सुसंस्कृत पाठक के लिए ही होती है। जब तक पाठक अलंकार-शास्त्र के तत्त्वों तथा पारिभाषिक शब्दों के अर्थ

---

१. ध्वन्यालोक, तृतीय उल्लास।
२. ध्वन्यालोक, पृष्ठ २७।

से पूर्णतः परिचित नहीं होता तब तक उसे समझ भी नहीं पाता। इसलिए यह समीक्षा उसे रूढ़िग्रस्त भी प्रतीत होती है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि अनुभूतिव्यंजक शैली को न अपनाने के कारण यह आलोचना नीरस और रूढ़िगत सी प्रतीत होती है। पर इसमें आधुनिक समालोचना की अपेक्षा बहुत अधिक यथार्थता और स्पष्टता होती है। आलोचक जो कुछ कहना चाहता है, उसे उन्हीं शब्दों में कहता है जिनके अर्थ निश्चित हैं। अस्पष्ट और अनिश्चित पदावली के प्रयोग की वह आवश्यकता नहीं समझता। आधुनिक समालोचक वस्तु की गहराई में बैठकर 'कानी कौड़ी' निकालने का प्रयत्न करने लगता है। इस प्रयास में वह बहुत से अस्पष्ट और अनिश्चित अर्थ वाले शब्दों और वाक्यों का भी प्रयोग कर जाता है। उनकी इस रहस्यमयी शैली से आलोच्य वस्तु की रमणीयता से अभिभूत होने की अपेक्षा पाठक शैली की गूढ़ता से आश्चर्य-चकित अधिक होता है। फिर भी यह मानना पड़ता है कि संस्कृत की आलोचना व्यक्तित्वशून्य अवश्य है। उसमें आज की-सी सजीवता और वैयक्तिकता के दर्शन नहीं होते। आलोचक हमेशा ही अपने भावों को शास्त्रीय शब्दावली में नहीं प्रकट करना चाहता है। इससे उसको अभिव्यक्ति का क्षेत्र सीमित प्रतीत होता है। आलोचक की प्रतिभा पारिभाषिक शब्दों के बन्धन में कुण्ठित हो जाती है। पर फिर भी उसके तात्पर्य की स्पष्टता और यथार्थता के लिए शास्त्रीय पदावली आवश्यक है। पारिभाषिक पदावली की बहुलता से संस्कृत-साहित्य के सैद्धान्तिक निरूपण की प्रौढ़ता का ही परिचय मिलता है। औपचारिक वक्रता, मानवीकरण, अमूर्त्त का मूर्त्त विधान आदि अभिव्यंजना की विशेषताओं के विभिन्न स्वरूपों को स्पष्ट करने के लिए आज का समालोचक बहुत लम्बा वाग्जाल करता है। पर इन्हीं विशेषताओं के लिए संस्कृत में गुण, अलंकार आदि के विशेष नाम हैं। "कुमुदानि निमीलन्ति कमलान्युमिषन्ति च" में कमल और कुमुद पर जो मानव-चेष्टाओं का आरोप है, तथा प्रस्तुत के द्वारा जिस अप्रस्तुत की व्यंजना हो रही है, उसको स्पष्ट करने के लिए आधुनिक आलोचकों को बहुत से वाक्य लिखने पड़ते हैं। पर संस्कृत का आलोचक इसमें 'समाधिगुण' का निर्देश करके इसके सौन्दर्य को व्यक्त कर देता है। छायावाद ने शैली के जिन विभिन्न प्रकारों का प्रयोग किया है, उनका अन्तर्भाव हमारे यहाँ के समासोक्ति, अन्योक्ति आदि अलंकारों, समाधि आदि गुण वक्रता के अनेक प्रकारों तथा शब्द-शक्तियों के सूक्ष्म भेदों में हो जाता है। इससे संस्कृत के सैद्धान्तिक निरूपण की प्रौढ़ता और पूर्णता स्पष्ट होती है। निश्चित अर्थ वाली प्रचुर पारिभाषिक पदावली के कारण आलोचना अनिश्चित नहीं होती। हिन्दी-

समीक्षा के लिए इस पदावली का उपयोग अपेक्षित है। इस पदावली का अनुभूति-व्यंजक शैली में उपयोग करने से आलोचक की प्रतिभा की अपेक्षित स्वतन्त्रता का अपहरण भी नहीं होता है। हिन्दी-समीक्षा के लिए इस सामंजस्य को अपनाना श्रेयस्कर है।

संस्कृत की प्रचलित समीक्षात्मक सूक्तियों से उसकी गुण-दोष-विवेचन की प्रवृत्ति अत्यन्त स्पष्ट है। ये वाक्य शास्त्रीय तत्वों पर आश्रित हैं, इसलिए वैधानिक, तुलनात्मक और निर्णयात्मक आलोचना के तत्व इनमें स्पष्ट हैं। "उपमा कालिदासस्य"[1] आदि उक्तियों में कवियों की विशेषताओं का उल्लेख शास्त्रीय पदावली में किया गया है। इसके साथ ही इनकी पारस्परिक तुलना भी है। इन सूक्तियों में हमेशा ही एक कवि को श्रेष्ठ और दूसरे को हीन कहने की प्रवृत्ति नहीं है। कौन सी पुस्तक का कौन सा अंग पुष्ट और रोचक है, यह भी बतलाया गया है। इन आलोचनाओं में वर्ण्य विषय, भाषा, शैली, रचना-कौशल आदि का विचार होता है। "नवसर्गं गते माघे नवशब्दं न लभ्यते" इसमें आलोच्य रचना को शब्दों का भंडार कहा गया है। उसमें इतने शब्दों का प्रयोग है कि एक भी नवीन शब्द नहीं मिलता। ये सूक्तियां कभी-कभी गम्भीर अध्ययन और सूक्ष्म विवेचन की परिचायक होती हैं इनके निर्णय भी कभी-कभी वैयक्तिक रुचि की अपेक्षा तर्क पर अधिक अधिष्ठित रहते हैं। पर कभी-कभी अनुप्रास के लोभ में ही अथवा यों ही किसी उक्ति पर मुग्ध होकर भी कह दी गई हैं। ऐसे वाक्यों में समीक्षक की प्रौढ़ता की अपेक्षा निन्दा-स्तुति की ही प्रवृत्ति अधिक परिलक्षित होती है।

संस्कृत ने समीक्षा का बहुत ही प्रौढ़ एवं व्यापक मानदंड दिया है। उन्होंने काव्य के सब पक्षों पर इतना विस्तृत और बहुमुखी विचार किया है कि उसके आधार पर किसी भी भाव, भाषा, शैली आदि की विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से सफल आलोचना हो सकती है। इसके मान में सार्वकालिक सार्वदेशिक और चिरन्तन तत्व हैं। व्यर्थ के मत-मतान्तरों और वाद-विवाद की प्रवृत्ति न होने के कारण भारत का आचार्य काव्य की आत्मा का ठीक-ठीक निरूपण कर सका है। सहृदय और भावक के विवेचन में भारतीय आचार्य

---

१. नैषधे पद-लालित्यं किराते त्वर्थगौरवम्।
उपमा कालिदासस्य माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥
उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थ गौरवम्।
दंडिनः पद लालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

ने आलोचक और आलोचना के जिस स्वरूप की प्रतिष्ठा की है, वह विशुद्ध साहित्य के क्षेत्र की वस्तु होने के कारण सर्वमान्य सी है। समीक्षा की आधुनिक प्रगति इसी ओर अग्रसर हो रही है। स्पिन्गर्न आलोचक और आलोचना के जिस समन्वयवादी रूप की ओर संकेत करते हैं, उसके विकसित और प्रौढ़ रूप की प्रतिष्ठा तो भारतीय आचार्य 'भावक' और 'सहृदय' की व्याख्या में कई शताब्दियों पूर्व ही कर चुका था। इतनी प्रौढ़ धारणाओं के होते हुए भी संस्कृत में प्रयोगात्मक आलोचना की विभिन्न शैलियों और सरनियों का विकास नहीं हुआ। संभवतः सैद्धान्तिक निरूपण की अपेक्षा समीक्षा के प्रयोगात्मक रूप को उन्होंने बहुत कम महत्त्व की वस्तु समझा है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि प्रयोगात्मक आलोचना अपेक्षाकृत अल्पजीवी होती है। उसका महत्त्व भी दूसरों की अपेक्षा रखता है।

प्राचीन समीक्षा-पद्धति और सैद्धान्तिक निरूपण अत्यन्त प्रौढ़ और समृद्ध रहा है। यह भारतीय चिन्तकों का शताब्दियों का श्रम है। आज के भारतीय साहित्य के लिए यह पैतृक सम्पत्ति है। उसे यह विकसित परम्परा प्राप्त हुई है। भारतीय पाठक के मस्तिष्क में यह चिन्तन-धारा संस्कार के रूप में विद्यमान है। भारतीय समीक्षा के भावी विकास का मूलाधार यही हो सकती है। भारत इस पद्धति का अनुसरण करके, इन तत्त्वों का उपयोग करके ही विश्व की इस क्षेत्र में अमूल्य वृद्धि कर सकता है। हिन्दी-साहित्य को इस पद्धति ने बहुत अधिक प्रभावित किया है। रीति काल का सारा विवेचन तो इसकी पुनरावृत्ति-मात्र ही है। आधुनिक समीक्षा की भी यह चिरन्तन आधार-शिला है। पाश्चात्य तत्त्वों का उपयोग भी हुआ है और भावी विकास के लिए यह अपेक्षित भी है। प्राचीन भारत का यह चिन्तन आज की हिन्दी तथा सभी प्रान्तीय भाषाओं की समीक्षा के व्यक्तित्व का विशिष्ट अंश है। यह वह अंश अथवा आधारशिला है जिस पर बाह्य प्रभावों के संस्कार बनते हैं। जो तत्त्व इसके अनुकूल बनाकर ग्रहण किये जायेंगे, वे ही हमारी समीक्षा के स्थायी अंश हो सकते हैं और विकास में सहायक हो सकते हैं, शेष नहीं। आज तक की हिन्दी-समीक्षा के लिए स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है। उसके लिए भारतीय चिन्तन आधारभूमि का कार्य कर रहा है। रीति काल तो इसकी उद्धरणी-मात्र ही है। आधुनिक समीक्षा का सैद्धान्तिक रूप तथा मान भी इससे बहुत अधिक प्रभावित है। अब तक प्रायः इसीको आधार-भूमि मानकर पाश्चात्य तत्त्वों को समन्वय की भावना से ग्रहण करने की प्रवृत्ति है।

इसी में हिन्दी-समीक्षा के स्वस्थ विकास की संभावना है। यही कारण है कि प्रस्तुत निबन्ध में संस्कृत-समीक्षा पर इतना सब-कुछ लिखने की आवश्यकता हुई है। हिन्दी-समीक्षा को अच्छी तरह समझने के लिए इस पृष्ठभूमि का ज्ञान अनिवार्य है।

: ३ :

हिन्दी में रीति-ग्रन्थ और साहित्य-समीक्षा

जैसा कि हम देख चुके हैं, संस्कृत में कई शताब्दियों से रीति-ग्रन्थों का प्रणयन हो रहा था। अनेक आचार्यों ने लक्षण-ग्रन्थ लिखे, जिनमें विषय का सूक्ष्म विवेचन अत्यन्त प्रौढ़ और तर्कपूर्ण प्रणाली में हुआ है। अनेकों शताब्दियों तक अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित होने के बाद धीरे-धीरे यह धारा अत्यन्त क्षीण होती गई। विषय का प्रौढ़ चिन्तन, सूक्ष्म विवेचन और तर्कपूर्ण प्रतिपादन यहाँ से भी विदा होने लगा था। आनन्दवर्द्धन, मम्मट आदि आचार्यों की विश्लेषण-प्रणाली का स्थान जयदेव की वस्तु-परिचय की संक्षिप्त शैली ने ले लिया था। पंडितराज ने अपने सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण में स्वनिर्मित उदाहरणों का उपयोग किया था। इस प्रकार संस्कृत में ही आचार्य और कवि के सम्मिलित व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं। 'चन्द्रालोक' में एक ही श्लोक में अलंकार का लक्षण और उदाहरण दोनों हैं। इसमें प्राचीन प्रौढ़ विवेचन का अभाव है। मौलिक चिन्तन का तो कोई प्रश्न ही अब नहीं रह गया था। प्राचीन आचार्य जो कुछ कह चुके थे उसीका पिष्टपेषण अब हो रहा था। पर प्रायः उसमें भी गम्भीरता का अभाव ही था। वस्तु का अधूरा प्रतिपादन ही हो पाता था। संस्कृत के आचार्यों का उद्देश्य भी काव्य-रीति के साधारण परिचय-मात्र में ही सीमित हो गया था। अब वे अभिनव गुप्त,आनन्दवर्द्धन, मम्मट आदि की तरह सूक्ष्म तर्कों के द्वारा विषय के आभ्यन्तर में प्रविष्ट होना नहीं चाहते थे। उसकी बाह्य परीक्षा-परीक्षा भी क्या सिंहावलोकन-मात्र से ही उन्हें सन्तोष था। मौलिकता और गूढ़ विश्लेषण के अभाव में संस्कृत-समीक्षा-सिद्धान्तों की यह शव-परीक्षा-मात्र अवशिष्ट रह गई थी। संस्कृत की इसी निर्जीव शैली का अनुकरण प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं में भी हुआ और इसीका अनुकरण हिन्दी के रीतिकारों ने भी किया। यद्यपि हिन्दी-भाषा प्राकृत, अपभ्रंश आदि कई विकास-अवस्थाओं को पार करने के बाद का रूप है। भाषा की दृष्टि से

उसका सीधा नहीं, अपितु परम्परागत सम्बन्ध ही संस्कृत से है। उस पर इन सभी विकास की अवस्थाओं की अमिट छाप है। लेकिन हिन्दी-भाषा ने साहित्यिक रूप धारण करके भी संस्कृत से जितनी प्रचुर मात्रा में पदावली ली है उससे भी कहीं अधिक उसकी साहित्यिक परम्पराओं को अक्षुण्ण रूप में ग्रहण करना पड़ा है। यह अत्यन्त प्राचीन काल से अर्थात् अपने साहित्यिक रूप के उद्भव-काल से संस्कृत से पदावली और साहित्यिक परम्परा दोनों ही ले रही है। विद्यापति ठाकुर की कविता जयदेव के 'गीत गोविन्द' के आदर्श पर चली है। भाषा की दृष्टि से विद्यापति की कविता सन्धि-काल की है। यह वह काल है जिस समय हिन्दी अपभ्रंश से विकसित होकर अपना निश्चित रूप धारण कर रही थी। एक ही अपभ्रंश से कई आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास हुआ है, इसलिए कुछ दिन पूर्व तक साहित्यिक क्षेत्र में यह विवाद भी चलता रहा कि विद्यापति बंगला के कवि हैं अथवा हिन्दी के। इसी वाद-विवाद से उनका सन्धि-काल में होना प्रमाणित है। विद्यापति की यह परम्परा आगे सूर और रीति-कवियों में भी चली। इसकी धारा अन्तस्तल में जलती ही रही है। यह विद्यापति पर जयदेव का व्यक्तिगत प्रभाव-मात्र का परिणाम नहीं था। यह तो संस्कृत-काव्य की एक विशेष धारा ही भाषा में आ गई थी। हाँ, तो कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दी-भाषा विकास की दृष्टि से संस्कृत से विकास अवस्थाओं के द्वारा दूर होते हुए भी साहित्यिक परम्पराओं को ग्रहण करने में अत्यन्त सन्निकट रही है। उसकी रीति-परम्परा अपभ्रंश-प्राकृत आदि के मार्गों को पार करती हुई नहीं आई अपितु संस्कृत-समीक्षा का विकास हिन्दी के रीति-काल तक पहुँच जाता है। पण्डितराज का समय लगभग वही है। दूसरे, भाषा के इतने विकास के बाद भी विद्वत्समाज में संस्कृत का ही प्रचार अधिक था; अब भी है और भविष्य में भी यही संभावना है। लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण विद्वत्समाज ही करता है। हिन्दी में भी पहले-पहल उन्हीं व्यक्तियों ने लक्षण-ग्रन्थ लिखे हैं जिन्हें संस्कृत का गम्भीर ज्ञान रहा है। केशव के घर के दास भी संस्कृत बोलते थे। इसलिए यह स्वाभाविक था कि आचार्य संस्कृत की शैलियों का ही अनुकरण करते और अपने विषय-प्रतिपादन के लिए संस्कृत के ग्रन्थों को ही उपजीव्य बनाते, उन्होंने ऐसा किया भी। दूसरे समीक्षा-शास्त्र अपभ्रंश भाषाओं में इतना विकसित भी नहीं हो पाया। उन भाषाओं ने भारतीय समीक्षा-पद्धति के विकास में सहयोग तो अवश्य दिया लेकिन बहुत कम। इस क्षेत्र में भी संस्कृत की निधि ही अमूल्य है। भारत का प्रतिनिधित्व करने वाली यही भाषा है। कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दी में लक्षण-ग्रन्थों

की परम्परा सीधी संस्कृत के अनुकरण से आई वह भी विशेषतः पतन-काल की शैली का ही अनुकरण हुआ। ऐसा प्रायः सभी भाषाओं के साहित्य में होता है। समृद्ध साहित्य की भाषा ही सबसे अधिक प्रभावित करती है। बंगला का प्रभाव हिन्दी पर अधिक है, बिहारी का बहुत कम। अंग्रेजी ने भी साहित्य और समीक्षा की परम्परा ग्रीक, लैटिन आदि से ली है, केल्टिक से नहीं।

पालि, अपभ्रंश आदि भाषाएँ कई शताब्दियों तक देश के जन-साधारण की बोल-चाल की भाषा रही हैं। उसमें साहित्य-सृजन भी पर्याप्त मात्रा में हुआ है, उनके साहित्य की प्रौढ़ता, सौष्ठव और लोकप्रियता इसीसे सिद्ध है कि संस्कृत के अनेक आचार्यों ने अपने लक्षण-ग्रन्थों में उनकी गाथाओं और पद्यों का उपयोग किया है। उसमें से अनेक उत्तम काव्य के उदाहरण माने गए हैं। इतनी साहित्यिक प्रौढ़ता होने पर भी यह कहना बहुत कठिन है कि ये भाषाएँ कभी जन साधारण की शिक्षा का माध्यम रही हैं या नहीं। इनमें प्रधानतः धर्म-ग्रन्थों का ही प्रणयन होता था। ये धर्म-प्रचार की साधन रही हैं। कलात्मक मनोरंजन बौद्ध दृष्टि से तो वर्जित ही था। संभवतः पालि में इसी कारण से कविता, नाटक आदि का अपेक्षाकृत अभाव रहा है। यही अपभ्रंश के सम्बन्ध में भी सत्य हो सकता है। अपभ्रंश का संस्कृत के नाटककार उपयोग अवश्य करते रहे हैं। इन्हीं सब कारणों से इन भाषाओं में अलंकार-शास्त्र के प्रणयन की आवश्यकता नहीं हुई। आज भी हमारी विभाषाओं का साहित्य कई दृष्टियों से समृद्ध कहा जा सकता है; पर उनमें भी अलंकार-ग्रन्थों के प्रणयन की आवश्यकता नहीं हुई है। इन विभाषाओं के बोलने कवि भी काव्य-शास्त्र के ज्ञान के लिए हिन्दी, संस्कृत अथवा अन्य किसी भाषा के मुखापेक्षी हैं। संभवतः यही अवस्था इन भाषाओं की भी रही है। इन भाषाओं में अलंकार-शास्त्र के विशद और मौलिक विवेचन का तो कोई प्रमाण नहीं मिलता। पर फिर भी इसका नितान्त अभाव भी नहीं रहा है। पालि और अपभ्रंश में ऐसे एक-आध ग्रन्थ रहे हैं, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। इन ग्रन्थों में संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों का अनुकरण-मात्र था। कहीं-कहीं कुछ साधारण भेद भी रहा है, पर कोई विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। अपभ्रंश ने इस विवेचन में बहुत साधारण-सा सहयोग भी दिया है। शान्त रस के स्थायी भाव का विवेचन अपभ्रंश के 'अनुयोगदारसुत' में मिलता है।[1] इस पर जैन-

---

१. निद्दोसमणसमाहाणसंभवो जो पसंतभावेण ।

धर्म के सिद्धान्तों की छाप भी स्पष्ट है। इस विवेचन की साधारण मौलिकता का एक कारण धार्मिक मान्यताएँ भी हैं। लेकिन इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भारतीय काव्य-शास्त्र की विकास-परम्परा में उन भाषाओं ने महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया है। इनकी कोई स्थायी और मौलिक देन नहीं है। हिन्दी-भाषा ने अपने रीति-ग्रंथों में इनसे कुछ भी ग्रहण नहीं किया है। इनका हिन्दी-रीति-ग्रंथों से सीधा सम्बन्ध न होने के कारण इन भाषाओं के काव्य-शास्त्र के निरूपण का इतना-सा परिचय देना ही पर्याप्त है।

हिन्दी में रीति शब्द का अर्थ काव्य-रचना के नियमों और सिद्धान्तों से है। संस्कृत की वैदर्भी, गौड़ी आदि रीतियों के अर्थ में भी आज यह शब्द प्रयुक्त होता है, पर विशेषतः यह शब्द प्रथम अर्थ में रूढ़ हो गया है।[२] रीति-काल के कवियों ने इसका यही अर्थ लिया है। हिन्दी के इस काव्य का नामकरण भी इसी विशेष अर्थ के कारण हुआ है। इस काल में लक्षण-ग्रन्थ अधिक लिखे गए, इसलिए ऐतिहासिकों ने इस विशिष्ट नाम से भी इसको अभिहित किया है। प्रत्येक भाषा में जब लक्ष्य ग्रन्थों का बाहुल्य हो जाता है और भाषा में सूक्ष्म विवेचन के उपयुक्त पर्याप्त प्रौढ़ता आ जाती है तभी उसमें लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण होता है। हिन्दी भी रीति-परम्परा के पूर्व ही पर्याप्त प्रौढ़ हो चुकी थी। अनेकों कवियों द्वारा परमार्जित होकर उसने अपना एक साहित्यिक रूप निश्चित कर लिया था। उस समय तक विद्यापति ठाकुर की सरस पदावली, चन्द के ओजस्वी कवित्तों, जायसी की प्रेम-गाथाओं, कबीर की रहस्यमयी वाणी, तुलसी के भक्तिपूर्ण अनुपम उद्गारों

अविकारलक्खणो सो रसो पसंततोति णायव्वो ॥
सव्भावनिव्विगारं उवसंतयसंतसोमदिट्ठीअम्।
ही जेह मुनिणो सोहइ मुहकमलं पीवरसिरीअम् ॥
(राघवन— The Numbar of Rasas से उद्धृत)

२. काव्य की रीति सिखी सुकवीन सों,
देखी सुनी बहु लोक की बातें
दास—'काव्य-निर्णय'

× × ×

कवित - रीति कछु कहत हूँ
व्यंग - अर्थ चित लाय
प्रतापसाहि—'व्यंगार्थ कौमुदी'

और सुस्निग्ध पीयूष-धारा से अभिसिंचित करने वाले सूर के पदों से हिन्दी की साहित्य-निधि में अतुलनीय वृद्धि हो चुकी थी। अब हिन्दी-भाषा-भाषी के पास अनेकों अमूल्य रत्न थे जिनकी वह परीक्षा करके उनमें स्वर्गीय आभा देखकर आह्लादित हो सकता था। भाषा भी अत्यन्त प्रौढ़ और सबल हो गई थी। मुसलमानों के अत्याचारों का भी प्रायः अभाव-सा ही हो गया था। वे भी शान्ति पूर्वक राज्य-वैभव का उपभोग करना चाहते थे, इसलिए धीरे-धीरे विलासी हो गए थे। विलासिता की एक धारा हिन्दी-क्षेत्र में सर्वव्यापी-सी हो गई थी। यह शान्ति-काल हिन्दी-कलाकारों के लिए अपनी निधि के परीक्षण का काल सिद्ध हुआ। उन्हें इस कार्य के लिए सिद्धान्तों और मानदंडों का अभाव-सा प्रतीत होने लगा था। वे कवि-कर्म का विधान तैयार करना चाहते थे। उनके सामने संस्कृत-समीक्षा की अपार रत्न-राशि थी। ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक ही था कि उनका ध्यान उस राशि की ओर जाता। उन्होंने उस रत्न-राशि में से कुछ थोड़ा-सा उधार ले लिया था। उस रत्न-भंडार का द्वार सबके लिए उन्मुक्त था, पर हिन्दी का रीतिकार उसमें से अमूल्य रत्न नहीं ले पाया। उसने तो अपने लिए साधारण कोटि के जवाहिरात ही चुने। स्वर्गीय आभा से देदीप्यमान हीरों ने उनकी आँखों में चकाचौंध उत्पन्न कर दी थी। उस तेज को उनकी क्षीण आँखें सहन नहीं कर सकीं। हिन्दी का रीतिकार विशेषतः जयदेव और भानुदत्त के मार्ग पर ही चल सका, मम्मट आदि के मार्ग पर नहीं। कहीं अगर गया भी तो थोड़ी दूर जाकर लौट आया। आगे बढ़ने का संभवतः साहस नहीं था। उसके पास इतने लम्बे मार्ग के उपयुक्त पाथेय नहीं था। हिन्दी के रीतिकार ने अपने ही साहित्य का विश्लेषण करके अपने लक्ष्य ग्रन्थों का अध्ययन करके लक्षण-ग्रन्थों का प्रणयन बहुत कम किया है। उनके आधारभूत मौलिक सिद्धान्तों की उद्भावना बहुत कम हुई। उन्होंने कवि-रीति के अभाव की पूर्ति संस्कृत-साहित्य के अलंकार-ग्रन्थों के पतन-काल की परम्परा का अनुकरण करके ही की है। विलासिता और बुद्धि-शैथिल्य के काल में यही संभव भी था। रीति-निरूपण भी एक प्रकार से मनोविनोद था।

जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया है, हिन्दी के रीतिकारों ने संस्कृत-ग्रन्थों का अनुकरण किया है। वे उस अनुकरण में भी विशेष सफल नहीं हुए, इसलिए वे विषय का गम्भीर विवेचन नहीं कर सके। इसके कई कारण थे। पहले तो हिन्दी में गद्य इतना विकसित नहीं था जिसमें इतना सूक्ष्म विवेचन हो पाता। दूसरे इस काल में कवि और आचार्य दोनों बनने का मोह उनसे छूटना नहीं था। इन रीतिकारों में बहुत कम ऐसे व्यक्ति थे जिनमें

आचार्यत्व के उपयुक्त सूक्ष्म विवेचन की क्षमता हो। विशेषतः इनमें कवि ही अधिक थे। लेकिन समय के प्रवाह के कारण इन्हें तो आचार्यत्व का वाना पहनना पड़ा। उससे वे आचार्य तो हो नहीं सके, उनके काव्य-सृजन में भी वाधा ही पड़ी। अनेकों रीतिकार यदि केवल काव्य-सृजन में ही अपनी प्रतिभा का उपयोग करते तो साहित्य का उनसे अधिक उपकार होता। भूषण और मतिराम-जैसे व्यक्ति स्वभावतः कवि ही थे। उन पर अगर समय का प्रवाह आचार्यत्व का वोझ न लादता तो उनके कवि का अधिक स्वच्छन्द विकास होता। दास,कुल पति, केशव-जैसे कुछ एक व्यक्तियों को छोड़कर, जिनमें प्राचीन आचार्यो की-सी सूक्ष्म विवेचन और तर्कपूर्ण शैली के दर्शन होते हैं शेष सभी रीतिकार साधारण कोटि के हैं। उन्होंने विषय का गम्भीर अध्ययन भी नहीं किया था। उनके लक्षण प्रायः अधूरे और अपरिपक्व अवस्था के द्योतक हैं। शुक्ल जी के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उनके अपर्याप्त लक्षण साहित्य-शास्त्र का सम्यक् वोध कराने में असमर्थ हैं। 'देव'-जैसे कुछ प्रतिभाशाली व्यक्तियों में कवि और आचार्य दोनों का सुन्दर सामंजस्य भी मिलता है, पर ऐसे व्यक्ति वहुत नहीं हुए। फिर सूक्ष्म विवेचन, तर्कपूर्ण खण्डन और मौलिक उद्‌भावनाओं की कमी तो इस काल की प्रधान विशेषताएँ कही जा सकती हैं। पद्य में रचना करने के कारण प्रौढ़ विवेचन संभव भी नहीं था। फिर भी अगर गद्य का सम्यक् विकास भी हो जाता तव भी इसके काल के रीतिकारों में आचार्यत्व के उपयुक्त प्रतिभा का विकास नहीं हो पाया था। वे संस्कृत की अमूल्य निधि का तो पूरा उपयोग कर ही नहीं पाये थे, साथ ही वे हिन्दी की प्रकृति का भी ध्यान नहीं रख सके। इसीलिए अनेकों स्थानों पर वे संस्कृत का अन्धानुकरण कर गए हैं और हिन्दी की प्रकृति की विरुद्ध अलंकारों का भी विवेचन हो गया है। संस्कृत की तरह रस, अलंकार, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि के सम्प्रदाय नहीं वन सके। ध्वनि और शब्द-शक्ति पर लिखने वाले आचार्यों का तो प्रायः अभाव-सा ही रहा। अलंकार और रस पर ही अधिकांश व्यक्तियों ने लेखनी चलाई है। पर रस के क्षेत्र में तो वे शृङ्गार तक ही सीमित हो गए हैं। अलंकारों का स्थान अथवा अलंकारों की आधार-भूमि, उनका अलंकारत्व रस की दृष्टि से औचित्य आदि सूक्ष्म विषयों के विवेचन का प्रायः अभाव ही है। काव्य के साधारणीकरण, रस-निष्पत्ति के विभिन्न सम्प्रदाय आदि पर तो अधिकांश आचार्यों ने लेखनी ही नहीं उठाई है। काव्य के दृश्य-भेद के विवेचन का भी अभाव है। कहने का

तात्पर्य यह है कि हिन्दी के रीति-काल में संस्कृत के अनुरूप प्रौढ़ता नहीं आ पाई। उन्होंने विषय की बाह्य-सीमाओं का ही स्पर्श किया है। उसके अन्तरतम की गूढ़ता में उनका प्रवेश नहीं है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि संस्कृत-समीक्षा-शास्त्र के विभिन्न पक्षों का नितान्त अभाव ही है। अपवाद स्वरूप ऐसे आचार्य भी हुए हैं जिन्होंने मम्मट की प्रणाली को अपनाया है। एक-आध पंक्तियों द्वारा संस्कृत-समीक्षा के अधिकांश पक्षों का निर्देश हो गया है। यह हम आगे इसी अध्याय में देखेंगे। वास्तव में अभाव तो सूक्ष्म विश्लेषण और मौलिक प्रतिभा का है। यह बात सारे रीति-काल के लिए सामान्यतया कही जा सकती है। इतना सब भी हमें इसलिए कहना पड़ता है कि हिन्दी-रीतिकारों के समक्ष संस्कृत की अमूल्य रत्न-राशि थी, उसका पूरा उपभोग उनसे नहीं हो पाया। उन रत्नों के उज्ज्वल प्रकाश में उनके कार्यों का झीना प्रकाश धूमिल-सा लगता है। अन्यथा उनका प्रयास स्तुत्य है। हम यह देख चुके हैं कि प्राकृत आदि भाषाओं में भी अलंकार-शास्त्र पर कुछ साहित्य रचा गया था। जब धीरे-धीरे संस्कृत बहुत कम बोधगम्य हो गई थी, उस समय कवियों की भाषा में रीति-ग्रन्थों की आवश्यकता का अनुभव होने लगा था। इसी के फलस्वरूप लोक-भाषाओं में भी इस शास्त्र का सृजन होने लगा। इस सृजन का स्वरूप तो प्रायः संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद अथवा अनुकरण-मात्र ही रहा। मौलिकता का अभाव ही था। हिन्दी में भी रीति-ग्रन्थों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से ही मिलती है पर उसकी अक्षुण्ण धारा प्रवाहित नहीं रह सकी। पुष्य नामक कवि ने अलंकार-शास्त्र पर भाषा में एक ग्रन्थ का प्रणयन किया है, ऐसी कुछ विद्वानों की धारणा है। वह ग्रन्थ तो अभी तक कहीं उपलब्ध हुआ नहीं है। शुक्ल जी अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में इसके सम्बन्ध में लिखते हैं: "जनश्रुति संवत् ७७० में भोज के पूर्व पुरुष राजा मान के सभासद् पुष्य नामक किसी बन्दीजन का दोहों में एक अलंकार-ग्रन्थ लिखना बताते हैं, पर इसका कहीं कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।" 'शिवसिंह सरोज' में भी इसका उल्लेख है। इसी ग्रन्थ के आधार पर अन्य लेखक भी पुष्य का अलंकार-शास्त्र पर ग्रन्थ लिखना मानते हैं। पुष्य का राजा भोज से पहले होना माना गया है, अतः यह स्पष्ट है कि उस समय तक हिन्दी का अपभ्रंश से पूर्णतः विकास नहीं हो पाया था। पुरानी हिन्दी के नाम से हिन्दी के साहित्यिक रूप के स्पष्ट दर्शन शुक्ल जी के मत से संवत् १०५० के लगभग ही होते हैं, इसलिए पुष्य का समय तो प्रायः सन्धि-काल कहा जा सकता है।

तब प्राकृताभास हिन्दी का जन्म हो रहा था और वह अपभ्रंश से अपना पृथक् अस्तित्व स्थिर कर रही थी। इस प्रकार यदि पुष्य नामक कवि ने कोई अलंकार-ग्रन्थ लिखा भी हो तो उससे तो केवल इतना ही सिद्ध होता है कि रीति-ग्रन्थों की परम्परा के दर्शन हिन्दी के उद्भव-काल में हो जाते हैं। संभवतः उस समय अपभ्रंश में भी अलंकार-ग्रन्थों का प्रणयन होता रहा हो, जिससे पुष्य को प्रेरणा मिली। पर हिन्दी को अपने उद्भव-काल से आगे कई शताब्दियों तक अनेकों विदेशी आक्रमणों, राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक हलचलों का सामना करना पड़ा है। देश की इस अशान्त अवस्था में रहकर कभी संभव नहीं था कि अलंकार-शास्त्र-जैसे गम्भीर विषय की ओर जन-साधारण का ध्यान आकृष्ट होता। उस समय या तो विदेशी आक्रान्ताओं का विरोध करने वाले राजपूतों के यशोगान अथवा त्रस्त और भयभीत जनता में धैर्य, उत्साह और वीरता का संचार करने का ही उपयुक्त अवसर था। बाद में मुसलमानों के यहाँ राज्य स्थापित कर लेने पर दो जातियों में पारस्परिक मैत्री और प्रेम-स्थापन की चेष्टा भी दोनों जातियों के कवियों ने की। निरवलम्ब हिन्दू जनता को राम और कृष्ण का आधार देकर अधीर जनता में पुनः आत्म विश्वास उत्पन्न करने की भी चेष्टा की गई। लेकिन सूर और तुलसी के पूर्व तक न देश में पर्याप्त शान्ति स्थापित हो पाई थी और न हिन्दी का साहित्य ही इतना प्रौढ़ हो पाया था कि हिन्दी-भाषा-भाषी जनता का ध्यान रीति-ग्रन्थों की ओर जाता। इसलिए पुष्य नामक किसी भाट ने अलंकार-शास्त्र पर अगर कोई ग्रन्थ लिखा भी होगा तब भी यह परम्परा हिन्दी-साहित्य में पूर्ण रूप से चल नहीं सकी और प्रायः आठ-नौ शताब्दी तक इस विषय पर ग्रन्थ-रचना का कोई विशेष प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है। किसी-किसी कवि ने अपने काव्य-ग्रन्थों में ही अपने अलंकार-शास्त्र के ज्ञान का परिचय कहीं-कहीं दे दिया है। परिचय का आभास भी अत्यन्त स्पष्ट रूप में तो सूर और तुलसी में ही मिलता है, जो विक्रम की १७ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुए हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि रीति-ग्रन्थों की परम्परा की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य के प्रदुर्भाव-काल से लेकर १६ वीं शताब्दी तक का काल अन्ध-कार-युग कहा जा सकता है। १६ वीं शताब्दी के अन्त में अथवा १७ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में एक-दो ग्रन्थों का प्रमाण मिलता है। पर वास्तविक अक्षुण्ण परम्परा तो इस शताब्दी के अन्त में प्रारम्भ हुई थी जो किसी-न-किसी रूप में अब तक चल रही है। इस प्रकार हम हिन्दी में रीति-ग्रन्थों की व्यक्त परम्परा को अपेक्षाकृत अत्यन्त अर्वाचीन कह सकते हैं। पर अन्तस्तल में यह

स्वरूप का निर्देश किया है, वह भी उनके आलोचक के रूप को स्पष्ट कर रहा है। उन्होंने 'अरसिक' की 'दादुर' से तथा 'रसिक' की 'भंवर' और 'चांटा' से तुलना की है। इसीसे उनके विषय-ज्ञान की स्पष्टता और विवेचन की प्रौढ़ता स्पष्ट है।

कवि विलास रस कँवला पूरी, दूरि सो नियरि नियरि सो दूरी।
नियरे दूर, फूल जस काँटा, दूरि सो नियरे जस गुड़ चाँटा।
भँवर आइ वन खंड सन, लेइ कँवल के वास।
दादुर वास न पावई, मलेहि जो आछे पास ॥[१]

तुलसी की कविता अलंकार-शास्त्र के ज्ञान का स्पष्ट परिचय देती है। प्रसंगवश उन्होंने जो सैद्धान्तिक विवेचन किया है, वह अत्यन्त प्रौढ़ है। उन उक्तियों से यह स्पष्ट है कि कवि सिद्धान्त के गूढ़ रहस्यों का साक्षात्कार किये हुए हैं। संस्कृत-साहित्य के प्रौढ़ विद्वानों के लिए यह स्वाभाविक भी है। पंडितराज-जैसे प्रौढ़ विद्वान् उसी काल में इतनी उत्कृष्ट रचना कर सकते हैं तो हिन्दी कवि के लिए अलंकार-शास्त्र के गम्भीर ज्ञान में क्या बाधा हो सकती है। 'रामचरितमानस' के प्रारम्भ में ही कवि ने अपनी रचना के प्रयोजन को स्पष्ट किया है। इसमें काव्य के "शिवेतरक्षतये" और "सद्यः परनिर्वृ त्तये" दोनों प्रयोजनों का सुन्दर सामञ्जस्य है। "स्वान्तः सुखाय" होते हुए भी यह ग्रन्थ "नाना पुराण निगमागम सम्मत"[२] है। इस प्रकार कवि ने अपने आनन्द के लिए ही इसे लिखा है, पर इसमें सर्व-साधारण के तादात्म्य की क्षमता भी है। उनके कल्याण की भावना भी है। उनकी "रामादिवत् प्रवर्त्तितव्यम्" की कामना भी सन्निहित है।[3] तुलसीदास जी काव्य में कारयित्री और भावयित्री प्रतिभाओं के महत्त्व को स्पष्टतः समझ रहे हैं। वे काव्य की रसानुभूति का पूर्ण अधिकारी भावक को ही मानते हैं। काव्य के पूर्ण सौन्दर्य के दर्शन भावक को ही होते हैं। इस सिद्धान्त का उन्होंने बहुत ही स्पष्टता पूर्वक प्रतिपादन किया है। इतने सुन्दर उदाहरण का प्रयोग है कि वर्ण्य-विषय पाठक को पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है।[४] कवि को तो केवल

१. पद्मावत।

२. नानापुराणनिगमागम सम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषा निबन्धमति मंजुलमातनोति ॥

३. जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं। सो स्रम बादि बाल कवि करहीं।
कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुर-सरि सम सब कहँ हित होई॥

४. मनि-मानिक मुकुता छवि जैसी, अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी।

रस के छींटों का ही अनुभव होता है, रस की सुधा-धारा से तो सहृदय ही अभिषिञ्चित हो सकता है। इसी बात को कवि ने गज-मुक्ता और मणि के उदाहरण द्वारा कितना स्पष्ट कर दिया है। मुक्ता और मणि में अपना एक विशिष्ट सौन्दर्य है, वे प्रत्येक स्थान पर सुन्दर ही हैं पर विशेष स्थानों पर उनका सौन्दर्य और भी बढ़ जाता है। मणि सूर्य में उतनी सुन्दर नहीं प्रतीति होती जितनी तरुणी के तन पर। बस काव्यानन्द के बारे में भी यही सत्य है, वह कवि की अपेक्षा भावक के लिए अधिक स्पष्ट एवं मधुर हो जाता है। कवि भाव, रस, गुण, दोष आदि तत्त्वों के ज्ञान का भी परिचय देता है। इसके अतिरिक्त वह इनकी अनेकता और अनन्तता के सिद्धान्त को स्वीकार करके काव्य-शास्त्र के अपने गूढ़ ज्ञान और मौलिकता का आभास दे रहे हैं।[२] उन्होंने शब्द और अर्थ की अभिव्यक्ति तथा सामंजस्य का प्रतिपादन किया है।[3] तुलसीदास ने पिंगल-ज्ञान का भी परिचय दिया है। वे गुणों के शुभाशुभ फलों से अवगत हैं। प्रसंगानुसार उन्होंने इसकी ओर निर्देश भी किया है। *इसके अतिरिक्त अन्य कवियों के काव्यों से भी यह स्पष्ट होता है कि वे* अलंकार-शास्त्र के सिद्धान्तों से पूर्णतः परिचित थे। कवि को विधि से बड़ा रहना "कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः" की प्राचीन उक्ति या स्मरण करा रहा है।[४] उनके तत्त्वों का यत्र-तत्र अंगुलि-निर्देश इस बात के परिचायक हैं कि कवि और पाठकों में अलंकार-शास्त्र की चर्चा बराबर रहती थी और रीति-काल उसीका प्रौढ़, शृङ्खलापूर्ण और लिखित प्रयास है। सारांश यह है कि जब एक विचार-धारा बहुत दिनों तक जनता के अन्तस्तल में प्रवाहित हो लेती है, उसकी एक मौखिक परम्परा भी कुछ दिन तक चलती रहती है, इस प्रकार

वय किसोर तरुणी तन पाई, लहहिं सकल सोभा अधिकाई ॥
तैसेहिं सुकवि कवित बुध कहहिं, उपजत अनत अनत छवि लहहिं।

२. भाव भेद रस भेद अपारा। कवित दोष गुन विविध प्रकारा ॥
गुननि अलंकारनि सहित, दूषन रहित जो होय।
शब्द अर्थजुत हैं जहाँ, कवित कहावत सोय ॥

३. छन्द चरण भूषण हृदय, करमुख भाव अनुभाव।
चख थाई श्रुति संचरी, काव्य सुअंग सुभाव ॥

४. विधि से कवि सब विधि बड़े, या मे संशय नाहि।
षट्रस विधि की सृष्टि में, नौ रस कविता माँहि ॥
गिरा अर्थ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।

उसे कुछ-कुछ निश्चित स्वरूप प्राप्त हो जाता है, तब कहीं वह साहित्य में लेखनी और कागज का आश्रय ग्रहण करती है।

पीछे यह संकेत किया जा चुका है कि हिन्दी का जन्म जिन परिस्थितियों में हुआ था वे रीति-निरूपण के उपयुक्त थीं। उस काल के संस्कृत-साहित्य में यह भी प्रमुख धारा थी। हिन्दी की भी अपनी पूर्ववर्ती भाषाओं से यह परम्परा पैतृक सम्पत्ति के रूप में उपलब्ध हुई थी। शिवसिंह सेंगर तथा शुक्लजी ने पुष्य नामक एक रीतिकार के होने काउ ल्लेख किया है। उसकी कृति अब उपलब्ध नहीं है, अतः उसके सम्बन्ध में निश्चय पूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। फिर भी अगर यह मान लिया जाय कि ऐसा कोई व्यक्ति हुआ है तो यह भी मानना पड़ता है कि हिन्दी के जन्म-काल से ही उसके साहित्य की एक प्रमुख धारा रीति-निरूपण भी थी। इसका एक प्रभाव तुलसी, सूर-जैसे प्रतिभा-सम्पन्न कवियों का 'वरवै रामायण' एवं 'साहित्य-लहरी'-जैसी-कृतियों का सृजन भी है। इन दोनों कृतियों का साहित्यिक महत्त्व की अपेक्षा रीति-निरूपण-सम्बन्धी महत्त्व अधिक है। ये कृतियाँ भी यह भी प्रभावित करती हैं कि परिस्थितियों ने इन कवियों को इस प्रकार की रचना करने के लिए वाध्य कर दिया था। इसके अतिरिक्त रीति काल के प्रारम्भ होने के बहुत पहले से ही ऐसे आचार्य कवियों के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं जिन्होंने अलंकार, नायिका-भेद आदि का निरूपण किया हैं। चिन्तामणि से इस परम्परा का वास्तविक प्रारम्भ तो हमें दो कारणों से मानना पड़ता है। एक तो उनके पूर्व ऐसी किसी अक्षुण्ण परम्परा के दर्शन नहीं होते। दूसरे इनके पूर्व के आचार्यों ने संस्कृत-साहित्य के अत्यन्त प्राचीन आचार्यो के विचारों की छाया लेकर ग्रन्थों का सृजन किया। संस्कृत के प्रौढ़ और विकसित अलंकार-शास्त्र की अवहेलना की है। विभिन्न आचार्यो ने संस्कृत के विभिन्न ग्रन्थों का आधार लिया। इस प्रकार वे किसी निश्चित परम्परा को जन्म नहीं दे सके। हिन्दी के अलंकार-शास्त्र के क्षेत्र में मौलिक चिन्तन करने वाली प्रतिभाओं का प्रायः अभाव रहा है। अतः यह संभव नहीं था कि भामह, उद्भट आदि की परम्परा को लेकर उनके लिए वे उसका स्वतन्त्र विकास करते। इसीलिए उनके लिए अपने साहित्य का अनुशीलन करने के लिए विकसित परम्परा का अपनाना और भी अधिक अपेक्षित था। इन्हीं सब कारणों से हिन्दी-साहित्य के इतिहास-कारों ने चिन्तामणि को ही प्रथम आचार्य कह दिया है। इस विवेचन से हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि हिन्दी में चिन्तामणि से पूर्व भी रीति-निरूपण हुआ है। उसकी अक्षुण्ण परम्परा तो नहीं रही, पर वह परवर्ती परम्परा का

पूर्वाभास प्राप्त है और इसने प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में हिन्दी की परवर्ती रीति-परम्परा को प्रभावित भी किया है।

सं० १५९८ में कृपाराम ने 'हित तरंगिणी' नामक एक शृंगार रस का ग्रन्थ रचा था। चरखारी के मोहनलाल मिश्र ने 'शृङ्गार सागर' नामक एक ग्रन्थ की रचना की थी। करनेस ने भी, जो अकबर का दरबारी कवि था, 'कर्णाभरण' 'श्रुति भूषण' और 'भूप भूषण' नामक तीन अलंकार-ग्रन्थ लिखे हैं।[1] कृपाराम ने अपनी 'हिततरंगिणी' में एक दोहा लिखा है जिससे यह स्पष्ट होता है कि अलंकार-शास्त्र पर ग्रन्थ-रचना की परम्परा उस समय प्रचलित थी और बहुत से कवि विभिन्न छन्दों में इस शास्त्र पर रचना कर रहे थे।[2] इसके कुछ ही काल उपरान्त केशवदास ने संस्कृत-साहित्य के विभिन्न अंगों का पूर्ण परिचय देने वाले दो ग्रन्थ 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' नाम से लिखे। इन ग्रन्थों का आधार संस्कृत की अत्यन्त प्राचीन विकास अवस्था के दंडी, उद्भट आदि आलंकारिकों के काव्य हैं। परवर्ती मम्मट प्रभृति आचार्यों के ग्रन्थों का उपयोग नहीं किया गया है। केशव के पश्चात् प्रायः पचास वर्ष बाद चिन्तामणि ने रीति-परम्परा को जन्म दिया। उनका आधार 'काव्य-प्रकाश', 'साहित्य-दर्पण' और 'चन्द्रालोक' थे। हिन्दी-साहित्य में रीति की अक्षुण्ण परम्परा वास्तव में इसी पद्धति पर चली और इसलिए इस परम्परा के प्रथम आचार्य चिन्तामणि कहे जा सकते हैं। यद्यपि इनके पहले के कवि कृपाराम आदि के ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। 'हित तरंगिणी' का रचना-काल संदिग्ध है।[3] उसके काव्यसूचक दोहे में पाठान्तर की कल्पना की गई है। इस पाठान्तर से इस पुस्तक का रचना-काल प्रायः दो शताब्दी बाद का मानना पड़ता है। अगर पाठान्तर की कल्पना न भी की जाय और मूल दोहे के अनुसार ही इसका रचना-काल मान लिया, जाय; तब भी इससे अक्षुण्ण परम्परा नहीं चली। इसीलिए रीति-परम्परा का प्रारम्भ चिन्तामणि से ही माना पड़ता है। इनके बाद हिन्दी-साहित्य में इन रीति-ग्रन्थों की एक बाढ़-सी आ गई थी। प्रायः प्रत्येक कवि आचार्य का भी कार्य करता था। काव्य-सृजन की यह विशेष शैली ही बन गई थी। रीति काल का कवि पहले काव्यांगों का लक्षण करता था और

---

१. देखिए पं० रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृ० २३२।

२. बरनत कवि शृङ्गार रस छन्द बड़े विस्तारि।
बरण्यों दोहानि बिच, यातें सुघर बिचारि॥ 'हित तरंगिणी'॥

३. देखिये डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'हिन्दी-साहित्य'।

बाद में स्वरचित कविताओं को उदाहरण-स्वरूप रख देता था। उसके कवि का विकास और उसकी कवित्व-शक्ति का प्रदर्शन इन्हीं उदाहरणों में होता है। रीति काल में प्रबन्ध की धारा के लुप्त हो जाने तथा मुक्तक के विकास का यह भी एक कारण था। कुछ आचार्यों ने अपने काल के अन्य कवियों की कविताओं का भी उदाहरणों में उपयोग किया है। पर ऐसा बहुत कम हो सका है। इस काल में कवि और आचार्य का व्यक्तित्व-एक हो गया था। इस कारण से जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, आचार्यत्व और कवित्व दोनों के स्वच्छन्द विकास में बाधा रही। फिर भी इस काल में रीति-ग्रन्थों का प्रचुर मात्रा में प्रणयन हुआ। संस्कृत के अनेकों ग्रन्थों की छाया लेकर आचार्य लोग हिन्दी-क्षेत्र में आये। उन्होंने प्रायः काव्य के सभी अंगों पर स्थूल रूप से विचार प्रकट किये। संस्कृत-समीक्षा-शास्त्र की कई शैलियों का भी अनुकरण हुआ है। कुछ वाद भी प्रचलित हुए, जिन पर हम आगे विचार करेंगे। पर इस सारे विवेचन में प्रायः मौलिकता, गूढ़ चिन्तन और सूक्ष्म विवेचन का अभाव ही रहा। संस्कृत से अनभिज्ञ कवियों के लिए काव्य-शास्त्र के ज्ञान के लिए साधारण कोटि की सामग्री ही उपस्थित हो सकी। रीतिकाल के अधिकांश रीतिकार कवि ही अधिक थे। वे आचार्यत्व की कोटि में नहीं आ सके। गूढ़ विवेचन के अभाव का एक प्रबल कारण गद्य की अविकसित अवस्था भी है। उस काल में गद्य-रचना की परम्परा ही न थी।

चिन्तामणि से जो रीति की परम्परा चली थी, उसके पूर्व हिन्दी-साहित्य में 'रीति' का क्या स्वरूप था इस पर पीछे थोड़ा संकेत किया गया। यहाँ पर कुछ थोड़ा-सा विस्तार के साथ उस स्वरूप पर विचार कर लें। चिन्तामणि के पूर्व इस क्षेत्र में बहुत कम कवि आये हैं। कृपाराम, करनेस, केशव आदि के अतिरिक्त कोई भी रीतिकार अथवा आचार्य की कोटि में नहीं आ सकता। पर फिर भी रीति-ग्रन्थों के प्रणयन की प्रवृत्ति जागृत हो चुकी थी और उसी प्रवृत्ति ने केशव को उत्पन्न किया था। केशव ने काव्यांगों के लक्षण देकर उन्हें स्पष्ट करने के लिए उदाहरण दिये हैं। इसलिए उन्हें हमें मूलतः रीतिकार ही मानना पड़ता है। पर उस काल के तुलसीदास, सूरदास, रहीम आदि ने भी इस क्षेत्र में पदार्पण किया है यह हम देख चुके हैं। अब्दुर्रहीम खानखाना ने 'बरवै' छन्दों में 'नायिका-भेद' लिखा है। तुलसीदास ने भी अपने इस मित्र के आग्रह पर अलंकारों के उदाहरण के लिए 'बरवै रामायण' बनाई है। बरवै छन्दों में एक बहुत छोटा-सा अवधी भाषा का ग्रन्थ है। इसमें भी जायसी की तरह ठेठ अवधी माधुर्य है। 'रामचरितमानस' के बाद काव्य की दृष्टि

से इस ग्रन्थ का कोई विशेष महत्त्व नहीं रह जाता। इस ग्रन्थ में भावगत सौन्दर्य की अपेक्षा कवि का अलंकार-ज्ञान तथा उनका सुन्दर प्रयोग ही अधिक दर्शनीय है इसमें उनके कलापक्ष की चमत्कारी मनोवृत्ति ही पर विशेष ध्यान जाता है। जैसा शुक्ल जी मानते हैं कि यह ग्रन्थ रहीम के आग्रह पर बनाया गया है।[1] यही कारण विशेष उचित जान पड़ता है कि अलंकारों के उदाहरण प्रस्तुत करने की इच्छा से ही बनाया गया है। इसमें अलंकारों का कोई विशेष क्रम नहीं प्रतीत होता है। एक अलंकार कई छन्दों में है। इसमें शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों ही का प्रयोग हुआ है। निदर्शना, व्यतिरेक, स्वभावोक्ति आदि कई अलंकार तो कई छन्दों में हैं। विशेष क्रम का अभाव तो है, पर कवि ने प्रचलित मुख्य सभी अलंकारों का समावेश अपने इस ग्रन्थ में कर दिया है। उपमा, रूपक, व्यतिरेक, निदर्शना, प्रतीप, देहरी, दीपक, उन्मीलित, सूक्ष्म, उत्प्रेक्षा, व्याजस्तु, अपन्हुति, विभावना, तुल्ययोगिता, श्लेष, छेकानुप्रास, वृत्यानुप्रास, लाटानुप्रास आदि प्रायः सभी प्रचलित अलंकार आ गए हैं। अलंकारों के इन उदाहरणों से कवि के अलंकार-ज्ञान की गम्भीरता और प्रौढ़ता का स्पष्ट पता चल जाता है। तुलसीदास ने अपने अलंकार-शास्त्र के ज्ञान की गम्भीरता अन्यत्र भी कई स्थानों पर प्रकट की है। यह पहले देख चुके हैं। कवि का क्षेत्र व्यापक होता है। जीवन और ज्ञान का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं जहां पर वह स्वच्छन्दता पूर्वक नहीं विचरता हो वह अपने प्रत्येक प्रकार के ज्ञान का उपयोग कर सकता है। कवि अपने ढंग से काव्य-रीति के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण करते आये हैं। पहले हम कालिदास, वाल्मीकि, बाण आदि कवियों के उदाहरण देख चुके हैं। ऐसे उदाहरणों का अभाव किसी भी देश और काल में नहीं है, क्योंकि यह कवि की सहज प्रकृति के अनुकूल है।

केशव को हम हिन्दी-साहित्य का सर्वप्रथम आचार्य कह सकते हैं। उनके पहले कुछ कवियों ने रीति-ग्रन्थों की ओर हाथ तो बढ़ाया पर वे आचार्य की कोटि में न आ सके। कुछ व्यक्तियों में लक्षणों का नितान्त अभाव ही रहा, वे केवल उदाहरण भर ही दे सके। कुछ कवियों ने लक्षण और उदाहरण दोनों ही दिये, पर संस्कृत का ज्ञान न होने के कारण वे अत्यन्त साधारण कोटि के ही रह गए। 'पुण्य, गोरा' आदि कतिपय कवियों की रचना आज उपलब्ध ही नहीं है इसलिए उनके आचार्यत्व के सम्बन्ध में तो एक शब्द भी नहीं कहा जा सकता। कृपाराम और करनेस की रचनाएँ प्राथमिक प्रयास हैं

१, देखिए पं० रामचन्द्र शुक्ल—'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' पृष्ठ १६२।

और नायिका-भेद के ग्रन्थ हैं। इस प्रकार केशव ही ऐसे व्यक्ति हैं जिनको हिन्दी के प्रथम आचार्य होने का सौभाग्य प्राप्त है। केशव संस्कृत-भाषा के प्रौढ़ विद्वान् थे। उनके घर में संस्कृत भाषा का प्रयोग होता था। पं० विश्वनाथ-प्रसाद ने लिखा है कि उनके घर के दास भी संस्कृत जानते थे। संस्कृत के अच्छे विद्वान् होने के कारण वे अलंकार-शास्त्र का निरूपण हिन्दी में करने में सफल हुए। उन्होंने 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' में अलंकार-शास्त्र के प्रायः सभी विषयों का प्रतिपादन किया है। इनमें विभिन्न काव्यांगों के लक्षण-मात्र ही नहीं हैं अपितु कहीं-कहीं कुछ सूक्ष्म विवेचन भी है। केशव की 'रामचन्द्रिका' को स्पष्टतः लक्षण-ग्रन्थ नहीं कह सकते, लेकिन डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल आदि कतिपय आलोचकों की दृष्टि से यह भी एक प्रकार से लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा में आ जाती है। उनका कहना है कि विभिन्न अलंकारों तथा काव्यांगों के उदाहरणों का संग्रह 'राम चन्द्रिका' के नाम से कर दिया गया है। इसको संस्कृत-छन्दों के हिन्दी-उदाहरणों का संग्रह भी कहा जा सकता है। इस ग्रन्थ के जितने स्वल्प समय में रचे जाने की बात हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों में प्रचलित है उससे भी यह स्पष्ट अनुमान किया जा सकता है कि कवि ने पहले काव्यांगों के उदाहरणों के रूप में कुछ छन्द बना रखे थे, उन्हींका संग्रह उन्होंने 'राम चन्द्रिका' के नाम से कर दिया है। बहुत से छन्द 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' में भी मिलते हैं। कवि का यह ग्रन्थ केवल छन्दों, अलंकारों और अन्य काव्यांगों के उदाहरणों का ही संग्रह नहीं कहा जा सकता, अपितु कवि ने इस रूप में प्रबन्ध काव्य के शास्त्रीय रूप का भी एक उदाहरण हिन्दी-साहित्य के सामने उपस्थित कर दिया है। संस्कृत में प्रबन्ध काव्य की जो शास्त्रीय व्याख्या है, उसमें जिन नियमों का निर्वाह आवश्यक समझा गया है उन सबका निर्वाह इसमें हुआ है। उस व्याख्या के अनुसार इसको प्रबन्ध-काव्य कहा जा सकता है। नियम-निर्वाह के फलस्वरूप प्रबन्ध-काव्य का एक निर्जीव शरीर-मात्र खड़ा किया जा सकता है। यह इसका एक सुन्दर उदाहरण है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि 'राम चन्द्रिका' में काव्यगत विशेषताओं का नितान्त अभाव ही है। यह अपनी विशेषताओं से शून्य नहीं है। फिर भी हमें इस ग्रन्थ में केशव के कवि की अपेक्षा आचार्य के ही दर्शन अधिक होते हैं। 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' तो काव्य-तत्वों के निरूपण के उद्देश्य से ही रचे गए हैं।

सं० १६१५ के आस-पास 'राम-भूषण' और 'अलंकार-चन्द्रिका' नाम से गोपा ने दो अलंकार-ग्रन्थ लिखे। कारनेस बन्दीजन ने 'कर्णाभरण,' 'श्रुति भूषण'

और 'भूप-भूषण' नामक तीन ग्रन्थ लिखे थे। पर इन ग्रन्थों के अप्राप्य होने के कारण इनके विवेचन के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। ये कवि केशव से कुछ ही पूर्व हुए हैं अतः शायद केशव पर इनका कुछ प्रभाव पड़ा हो। हिन्दी में 'अलंकारवाद' की जो प्रतिष्ठा केशव ने की है शायद उसका पूर्व-रूप इन कवियों में रहा हो। लेकिन केशव के पहले काव्यांगों के विस्तृत विवेचन करने वाली कोई पुस्तक नहीं मिलती। केशव की 'कविप्रिया' ही ऐसा पहला ग्रन्थ है जिसमें काव्यांगों का विशद विवेचन है। इनकी 'रसिकप्रिया' का विषय 'रस' है। इसमें शृङ्गार को ही प्रधानता दी गई है। 'कविप्रिया' में भी अलंकार-निरूपण ही अधिक विस्तार के साथ किया गया है। लेकिन इनके साथ ही आचार्य ने काव्य-दोष, कवि-भेद और कवि-रीति पर भी कई अध्यायों में विवेचन किया है। केशव ने अध्याय के स्थान पर 'प्रभाव' शब्द का प्रयोग किया है। प्रथम चार प्रभावों में से प्रथम कवि-वंश, अपने आश्रयदाता तथा उसके दरबार की वेश्याओं की कुछ बातें लिखकर शेष भाग में कवि-रीति, काव्य-दोष आदि पर विवेचन किया गया है। केशव ने अपने इस ग्रन्थ द्वारा अपने आश्रयदाता के अतिरिक्त उनके दरबार की कतिपय वेश्याओं प्रवीणराय तानातरंग तथा पतिराम सुनार को अमर कर दिया है। 'प्रवीणराय' तो इनकी शिष्या ही थी, उसीके लिए इस ग्रन्थ की रचना हुई थी।

केशव अलंकारवादी थे इसलिए उन्होंने अपने ग्रन्थ का आधार संस्कृत-साहित्य के प्राचीन आलंकारिक दंडी, राजानक, रुय्यक आदि के ग्रन्थों को ही रखा है। संस्कृत की चिन्तन-धारा मम्मट और पंडितराज तक आते-आते अत्यन्त प्रौढ़ हो गई है। पंडितराज तो संस्कृत-समीक्षा-शास्त्र के अन्तिम आचार्य हैं। वे तो केशव के बाद के ही है, पर केशव के लिए आनन्दवर्द्धन, मम्मट और विश्वनाथ की बहुमूल्य चिन्तन-निधि तो उपलब्ध थी ही। केशव ने अपने अलंकार-निरूपण में इनसे कोई सहायता नहीं ली है। केशव के इन ग्रन्थों में इस बात का भी कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता कि उन्होंने इन ग्रन्थों का अध्ययन भी किया था या नहीं। अस्तु केशव ने अपने अलंकार-निरूपण में 'दंडी' के 'काव्यादर्श' को ही आधार माना है। इसके अतिरिक्त जैसा कि शुक्ल जी लिखते हैं कि बहुत सी बातें अमर-रचित 'काव्य-कल्प-लता-वृत्ति' तथा केशव मिश्र के 'अलंकार-शास्त्र' से भी ली गई हैं। अलंकार-निरूपण के अतिरिक्त आचार्य ने अपने ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध में जो काव्य-दोष, कवि-भेद और कवि-रीति का विवेचन किया है उसके आधार के सम्बन्ध में निश्चय पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। केशव ने यह सामग्री संस्कृत-साहित्य के अनेकों ग्रन्थों से बटोरी

होगी, जो आज उपलब्ध नहीं है। इन्होंने 'सामान्यालंकार' पर भी जो-कुछ लिखा है उसके आधार के विषय में भी कुछ नहीं कहा जा सकता। लाला भगवानदीन ने 'प्रिय प्रकाश' की भूमिका में लिखा है: "केशव ने यह ग्रन्थ किस ग्रन्थ के आधार पर लिखा है ? इसकी छान-बीन करते समय हमें यह पता चला है कि इसके प्रथम आठ प्रभाव तो केशव ने निज कल्पना से लिखे हैं अथवा ऐसे ग्रन्थ के आधार पर रचे हैं जिसका संस्कृत-साहित्य में अब अभाव-सा है।[1] पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र इस कवि-शिक्षा के प्रसंग का आधार अमर-कृत 'काव्य-कल्प-लता-वृत्ति' मानते हैं।[2] शुक्ल जी भी अपने इतिहास में संकेत करते हैं। संस्कृत में कवि-रीति और काव्य-दोष का पर्याप्त प्रौढ़ विवेचन है। 'कवि-रीति' का विकास तो संस्कृत-साहित्य में भी बहुधा कुछ पीछे हो हुआ है। फिर भी प्राप्त ग्रन्थों का 'कवि-रीति' का निरूपण ऐसा शिथिल कहीं नहीं है जैसा केशव का है। इससे लाला भगवानदीन का विचार अत्यन्त उपयुक्त प्रतीत होता है। या तो केशव ने यह सामग्री हिन्दी के साधारण कोटि के ग्रन्थों से संगृहीत की है जो प्रौढ़ चिन्तन और सूक्ष्म विवेचनपूर्ण शैली के अभाव के कारण अल्पजीवि रहे हों अथवा यह केशव की ही मौलिक चिन्तन है। अस्तु, चाहे कुछ भी हो, इतना अवश्य है कि इसमें प्रौढ़ चिन्तन का नितान्त अभाव है।

केशव ने दोष की कोई परिभाषा नहीं की है। दोष-भेदों का निरूपण करने से पूर्व यह आवश्यक था कि वे दोष का सामान्य परिचय दे देते, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया है। दीन जी ने अपनी 'प्रिया प्रकाश' में जिस मूल पाठ का शीर्षक 'दोष-लक्षण' दिया है, उसमें तो दोषों के नाम-भर गिना दिये गए हैं। दीन जी भी क्या करते ? केशव ने इन भेदों को गिनाकर ही दोष-सामान्य का लक्षण दिया है। लेकिन वास्तव में इसे लक्षण कहना ठीक नहीं। उन्होंने अन्ध, वधिर, पंगु, नग्न और मृतक इन पाँच प्रकार के काव्यों को वर्जित कहा है। लेखक ने भेदों के भी उदाहरण-मात्र ही दिये हैं, कोई परिभाषा नहीं दी है।[3] यद्यपि इनका विवेचन तो नहीं किया गया, पर 'अर्थहीन मृतक' 'अलंकार हीन नग्न' आदि जिन कोष्ठकों का प्रयोग दीन जी ने अपनी पुस्तक में किया है, उससे केशव के काव्य-सिद्धान्तों पर कुछ थोड़ा प्रकाश पड़ता है। केशव अर्थहीन को मृतक काव्य मानकर काव्य में अर्थ की महत्ता को स्पष्ट स्वीकार कर रहे

---

१. देखिये 'पद्माकर-पंचामृत', आमुख पृष्ट ३३।
२. शुक्ल जी—'हिन्दी साहित्य का इतिहास', केशव का विवेचन।
३. दीन जी —'प्रिया-प्रकाश', पृष्ट २८ से ३२ तक।

है। अर्थ की यह महत्ता प्राचीन आचार्यों के अनुरूप है। छन्दहीन को पशु तथा अलंकारहीन को नग्न कहकर छन्द और अलंकार के महत्त्व और सामान्य स्वरूप का कुछ निर्देश भर कर दिया है। यद्यपि अलंकारवादी होने के कारण 'अलंकारों' को तो उन्होंने सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। केशव ने इन पांच दोषों के अतिरिक्त तेरह दोष और माने हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—१. अगण, २. हीन रस, ३. यतिभंग, ४. व्यर्थ, ५. अपार्थ, ६. हीनक्रम, ७. कर्णकटु, ८. पुनरुक्ति, ९. देश-विरोध, १०. काल-विरोध, ११. लोक-विरोध, १२. न्याय-विरोध, १३. आगम-विरोध।[1] इन सभी के उदाहरण दिये गए हैं। इसमें गुणों के शुभाशुभ फलों पर भी विचार किया गया है। कहीं-कहीं पर आचार्य दोष की सामान्य व्याख्या के अनुरूप उदाहरण नहीं दे पाये हैं। उनके लक्षणों में विवेचन का अभाव तो है ही इसके साथ ही जहां उपयुक्त उदाहरण भी नहीं दिये जा सके हैं, वहां पर तो विषय संदिग्ध और अपूर्ण ही रह गया है। 'हीन रस' का लक्षण एक रस में उसकी विरोधी सामग्री का समावेश माना गया है, पर केशव ने जो उदाहरण दिया है वह इसके लक्षण के अनुकूल नहीं है। उनके द्वारा किये गए उदाहरण में आलम्बन-विभाव का तो वर्णन है पर अनुभाव और संचारी का अभाव है और इसी आधार पर उन्होंने इसको 'हीन रस' का उदाहरण मान लिया है। यह उनके लक्षण के अनुरूप उदाहरण नहीं हो सका, क्योंकि इस उदाहरण में शृङ्गार-रस की विरोधी सामग्री नहीं है।[2] काव्य-दोष के सूक्ष्म विवेचन का अभाव तो अवश्य है, पर दोष-विभाजन का आधार औचित्य प्रतीत होता है। संस्कृत-साहित्य में अनौचित्य ही दोष का मूल माना गया है। केशव की विचार-धारा भी इस सिद्धान्त से प्रभावित है, यह स्पष्ट है।[3] विभाजन में रस, देशकाल, विषय, शास्त्र आदि के औचित्य का ध्यान अवश्य रखा गया है, पर विभाग में ऐसे किसी क्रम का ध्यान नहीं है।

---

१. अगन न कीजै हीनरस, अरु केशव यतिभंग।
व्यर्थ अपारथ कवि कुल तजौ प्रसंग ॥ कवि प्रिया ॥
वर्ण प्रयोग न कर्ण कटु, सुनहु सकल कविराज।
सर्व अर्थ पुनरुक्ति छाँड़हु सिगरे साज ॥
देश-विरोध न बरतिये काल-विरोध निहारि।
लोक न्याय आगमन के तजौ विरोध विचारि ॥

२. बरनत केशवदास रस, जहाँ निरस ह्वै जाय।
ता कवित्त सों हीनरस, कहत सबै कविराय ॥ कविप्रिया ॥

३. देखिए दीन जी का 'प्रिया-प्रकाश', पृष्ठ ४१, ३९।

केशव ने वर्ण्य-विषय की दृष्टि से कवि के तीन भेद किये, हरि-गुण-गान करने वाला उत्तम, मानव-चर्चा करने वाला मध्यम तथा परनिन्दा करने वाला अधम। कवि की तीन शैलियों का भी वर्णन है। पर वास्तव में यह भी एक प्रकार से वर्ण्य विषय के ही भेद हैं। प्रथम शैली में कवि-परम्परा में कुछ बातें लोक में जिस रूप में सत्य होती हैं उससे विरुद्ध वर्णित की जाती हैं। दूसरी में कुछ असत्य बातों का सत्य रूप में वर्णन किया जाता है। तीसरी शैली में वस्तु-वर्णन की भी एक कवि-परम्परा बन जाती है और प्रायः उसीके अनुकूल कवि वर्णन करता है। आचार्य का यह विवेचन न आज की दृष्टि से शैली का निरूपण कहा जा सकता है और न प्राचीन काल की रीति का। इसी प्रसंग में उन्होंने कुछ कवि-परम्परागत वस्तुओं के वर्णन द्वारा अपने मन्तव्य को थोड़ा स्पष्ट भी कर दिया है।

केशव की 'कविप्रिया' का सबसे प्रमुख और महत्त्वपूर्ण स्थल है अलंकार-विवेचन। जैसे हम पहले देख चुके हैं कि ये दंडी आदि प्राचीन अलंकारवादी आचार्यों के अनुगामी हैं जिन्होंने रीति, गुण, रस आदि सभी काव्य-तत्त्वों का समावेश अलंकार में कर लिया है। 'कविप्रिया' तथा केशव के अन्य सभी ग्रन्थों में अलंकारों की प्रमुखता तो स्वीकृत हुई है पर अलंकार शब्द की इतनी व्यापक व्याख्या नहीं हो सकी कि उसमें रीति आदि का समावेश हो सकता। रीति, गुण आदि का कहीं विवेचन भी नहीं हुआ है। यह कहना तो ठीक नहीं कि उन्हें काव्य के रस, ध्वनि, गुण आदि तत्त्वों से परिचय नहीं था। काव्य में अलंकार के महत्त्व का प्रतिपादन करते समय उन्होंने इन तत्त्वों की तरफ संकेत किया है। "जदपि" वाले छन्द[1] का भावार्थ दीन जी ने इस प्रकार किया है "यद्यपि कविता ध्वनिमय हो, सुस्पष्ट हो, सुलक्षणयुक्त हो, रसानुकूल हो, सुन्दर वर्णन भी उसमें हो, रस की पूर्ण सामग्री उसमें हो तथा सुन्दर छन्द में कही गई हो पर बिना अलंकार के शोभित नहीं होती।" इस छन्द में 'जाति' शब्द से आनन्दवर्द्धन, मम्मट आदि के द्वारा मान्य काव्य-विभाजन की ओर संकेत है, इसीलिए दीनजी ने इसका अर्थ 'ध्वनिमय' किया है। यहाँ पर लक्षण शब्द को उस शास्त्रीय अर्थ में तो नहीं समझा जा सकता जिसको प्राचीन आचार्यों ने काव्य-शरीर का धर्म कहा है। कवि शब्द और अर्थ का चयन इस

---

१. जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजई, कविता, बनिता, मित्त॥
'प्रिया प्रकाश' पंचम प्रभाव प्रथम छन्द॥

प्रकार करता है कि काव्य-शरीर में स्वाभाविक लावण्य आ जाता है। इस प्रकार लक्षण को गुण और अलंकार दोनों से भिन्न माना गया है।[1]

केशव को संभवतः 'लक्षण' शब्द का यह अर्थ अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि इसका कोई संकेत नहीं है। फिर 'लक्षण' अपना पृथक् व्यक्तित्व बहुत पहले ही काव्य के अन्य तत्वों में खो चुका था। इसका विवेचन इसी पुस्तक के 'संस्कृत-साहित्य में समीक्षा का स्वरूप' वाले अध्याय में हो चुका है। यहाँ पर 'लक्षण' द्वारा आचार्य गुण का अर्थ लेना चाहते हैं। अस्तु, यद्यपि इस छन्द में रीतिकालीन अस्पष्टता तो है, पर फिर भी इतना तो अवश्य मानना पड़ेगा कि केशव को काव्य के रस, गुण, ध्वनि आदि तत्वों से पूर्ण परिचय था और उन्होंने इनका संकेत भी किया है। पर इनके विवेचन की आवश्यकता उन्होंने नहीं समझी। केशव के अलंकार-निरूपण में सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि उसमें अलंकार और अलंकार्य का भेद स्पष्ट नहीं हो पाया है और इसका कारण भी है। उन्होंने संस्कृत-समीक्षा की उस प्राचीन परम्परा का अनुकरण किया है जिसमें सभी तत्वों का अलंकार में समावेश हो गया है। उसमें काव्य के शरीर और आत्मा का प्रश्न नहीं था। काव्य-तत्वों के पृथक् व्यक्तित्व का पूर्णतः निर्माण नहीं हो पाया था। इसीलिए केशव ने काव्य के वर्ण्य-विषय का समावेश भी अलंकार में ही कर लिया है और वे अलंकर के दो मुख्य भेद मानकर चले हैं, समान्य और विशेष। केशव के विशेषालंकार ही वस्तुतः आज की परम्परा के तथा संस्कृत-समीक्षा के अनुकूल अलंकार कहे जा सकते हैं। आज का समालोचक केशव के समान्यालंकारों को वर्ण्य-विषय के नाम से अभिहित करना अधिक समीचीन समझेगा। सामान्यालंकारों के आधार के सम्बन्ध में निश्चय-पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। इस निरूपण के लिए उन्होंने किसी ग्रन्थ का आश्रय लिया है अथवा यह उनकी मौलिक उद्भावना है, यह कहना भी कठिन है। विशेषालंकारों का आधार तो संस्कृत के आचार्य दंडी ही हैं। कहीं-कहीं पर इनमें भी कुछ मौलिकता का परिचय केशव ने दिया है, जिस पर आगे विचार किया जायगा। सामान्यालंकार मुख्यतः चार प्रकार के माने गए हैं: १. वर्ण, रंग आदि २. वर्ण्य आकार, ३. भूमिश्री-प्राकृतिक वस्तु, ४. राजश्री-राज से सम्बद्ध वस्तु। केशव ने फिर इसके आवान्तर भेद किये हैं। यह भी निर्देश किया गया है कि कवि किस प्रसंग में किन-किन वस्तुओं का वर्णन करे। केशव की 'कविप्रिया' में विशेषालंकार को छोड़कर प्रायः कवि-शिक्षा ही

---

1. Some concepts of Alankar Shastra (History of Laksana,) by Dr. Raghvan.

अधिक है। कहीं-कहीं काव्य-सामान्य के तत्त्वों का निर्देश भर कर किया गया है, लेकिन मूल उद्देश्य कवि-शिक्षा का ही प्रतीत होता है।

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, केशव में भी अन्य रीतिकारों की तरह काव्यांगों के सूक्ष्म विवेचन का अभाव है। 'कविप्रिया' में विशेषालंकारों का वर्णन करने के पहले अलंकार-सामान्य की परिभाषा अथवा उसके आधार के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया है और अलंकारों के विभाजन में किसी आधार का ध्यान भी नहीं रखा गया है। वास्तव में विभाजन नहीं है केवल नाम-मात्र गिना दिये हैं। वस्तुस्थिति तो यह है कि यह ग्रन्थ भी साधारण विद्यार्थी के प्रारम्भिक ज्ञान के लिए ही लिखा गया है। इस रूप में इस ग्रंथ का हिन्दी-भाषा-भाषियों में पर्याप्त सम्मान भी हुआ है। कुछ दिनों तक इसके अध्ययन के विना अलंकार-ज्ञान ही अधूरा समझा जाता रहा। यह ग्रन्थ कवि-शिक्षा के उद्देश्य से लिखा गया है, काव्यांगों के सूक्ष्म विवेचन के लिए नहीं। काव्यांगों के सूक्ष्म विवेचन का दृष्टिकोण तो हिन्दी-रीतिकारों में बहुत ही कम मिलता है। अस्तु, 'कविप्रिया' में मुख्य ३७ अलंकारों का निरूपण है। कुछ अवान्तर भेद होने से संख्या ३७ तक ही सीमित नहीं है। इसमें पहले अलंकार का लक्षण दे दिया गया है और फिर स्वरचित उदाहरण। रीतिकाल में आगे तक यह परिपाटी चलती रही है। अन्य कवियों की रचनाओं को उदाहरणों के रूप में प्रयोग करने की प्रणाली एक-दो आचार्यों ने ही कहीं-कहीं अपनाई है। संस्कृत-समीक्षा के उत्तर काल की शैली के अनुकरण के कारण यह हुआ कि एक ही व्यक्ति कवि और आचार्य दोनों होने लग गया। केशव का अलंकार-निरूपण अत्यन्त प्रौढ़ नहीं कहा जा सकता। यह तो स्पष्ट है कि उन्होंने दंडी का अनुकरण किया है, पर कई स्थानों पर लक्षणों और उदाहरणों में समीचीनता नहीं रह गई है। केशव के रूपक अलंकार के निरूपण के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में लिखते हैं : "केशव ने रूपक के तीन भेद दंडी से लिये हैं अद्भुत-रूपक, विरुद्ध-रूपक और रूपक-रूपक। इनमें से प्रथम का लक्षण भी स्वरूप व्यक्त नहीं करता और उदाहरण भी अधिकतः रूप्य-रूपक का हो गया है। विरुद्ध-रूपक भी दंडी से नहीं मिलता और रूपकातिशयोक्ति हो गया है।" शुक्ल जी का यह कथन बिलकुल ठीक है। 'अद्भुत-रूपक' के लक्षण से उसका स्वरूप बिलकुल स्पष्ट नहीं है। "सदा एक रस वरनिये, जाहि न और समान" यही पंक्ति अद्भुत रूपक का लक्षण है। दीनजी ने इसको विशेष स्पष्ट कर दिया है। 'मुख कमल' न कहकर उसमें कुछ विलक्षण की कल्पना करना इस रूपक

का लक्षण है। केशव ने इसका जो उदाहरण दिया है, उसमें भी 'व्यतिरेक' की व्यंजना है, इसके अभाव में केशव के इस भेद का उदाहरण ठीक नहीं हो सकता है।[1] विरुद्ध-रूपक में 'अनमिल' शब्द का अर्थ ही स्पष्ट नहीं है। दीनजी ने इसका अर्थ "उपमान-मात्र का कथन" लिया है। इससे तो यह रूपकातिशयोक्ति हो जाता है। उदाहरण से यह स्पष्ट ही "रूपकातिशयोक्ति" है। "रूपक-रूपक" में उपमान और उपमेय का सनातन सम्बन्ध नहीं रहता। उसमें नवीन उपमानों की कल्पना होती है। केवल इसीके आधार पर एक रूपक की कल्पना कोई विशेषता नहीं रखती। कवि-प्रतिमा इस प्रकार की नवीन उद्भावना तो प्रायः सर्वत्र ही करती है। इस प्रकार उनके सब रूपक इसी भेद में आ जायेंगे। अलंकारों के लक्षण एवं उनके भेदों का निरूपण अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों से मुक्त नहीं है। यह विषय का अत्यन्त प्रौढ़ और तर्क-सम्मत निरूपण नहीं कहा जा सकता है। इस विवेचन का अभाव केवल केशव में ही नहीं, रीतिकाल के सभी आचार्यों में न्यूनाधिक रूप से है। केशव में इसका निर्देश दीनजी ने भी कई स्थानों पर किया है। सच बात तो यह भी है कि 'काव्यादर्श' के बाद संस्कृत के अलंकार-निरूपण में बहुत प्रौढ़ता आ गई है। यहां तक कि मम्मट आदि की अपेक्षा भी 'रस गंगाधर' का विषय-निरूपण अधिक तर्कसम्मत और समीचीन कहा जा सकता है। 'रस गंगाधर' इसी बात की रचना है, पर नैयायिक की क्लिष्ट शैली में लिखे होने के कारण हिन्दी-रीतिकारों ने इसको उपजीव्य नहीं बनाया।

हिन्दी के प्रायः सभी इतिहासकार रीति का प्रथम आचार्य चिंतामणि को मानते हैं, क्योंकि उनसे रीति-ग्रन्थों की अविरल धारा दो शताब्दियों तक बहती रही है और वह अब भी सूख नहीं गई है। हाँ, उसने अपना मार्ग अवश्य बदल लिया है। अब तो वह और भी विस्तीर्ण और गहरी हो गई है। केशव ने जिस पद्धति के अनुकरण पर 'कविप्रिया' की रचना की है, वह संस्कृत के अत्यन्त प्राचीन काल का अनुकरण था। इसके बाद संस्कृत-समीक्षा का रूप बहुत विकसित हो चुका था। इसके विपरीत हिन्दी के रीति-ग्रन्थों को केशव के आधारभूत उद्भट, दंडी आदि से नहीं अपितु मम्मट आदि से प्रेरणा मिली है। दास, देव, श्रीपति, कुलपति आदि ने मम्मट और विश्वनाथ का अनुकरण किया है। इस प्रकार यह कहना तो बिलकुल ठीक है कि हिन्दी के

---

१. 'प्रिया प्रकाश', पृष्ठ ३२८

रीति-ग्रन्थों की धारा केशव द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से नहीं चल सकी। उसने एकदम नवीन मार्ग अपनाया और उसके मार्ग के प्रथम पथिक हैं चिन्तामणि। इसलिए ये हिन्दी-रीतिकारों के पथ-निर्देशक होने के नाते प्रथम आचार्य कहे जा सकते हैं। पर इससे केशव के आचार्यत्व में कोई कमी नहीं आती। वे आचार्य तो हैं ही। हिन्दी-साहित्य पर उनका प्रभाव भी कम नहीं पड़ा है। बहुत दिनों तक केशव की 'कविप्रिया' के ज्ञान के बिना अलंकार-ज्ञान अधूरा ही समझा जाता रहा है। शैली की दृष्टि से केशव का निरूपण भी रीति-परम्परा में ही है। रीतिकाल में वस्तु के सामान्य परिचय-मात्र को लक्षण नाम से अभिहित किया गया है। वस्तु के स्पष्टीकरण के स्वनिर्मित उदाहरण भी इस काल की प्रमुख विशेषता हैं। अलंकार, शृङ्गार रस तथा नायिका-भेद का निरूपण भी रीतिकाल की दो प्रधान धाराएँ हैं और इन दोनों के दर्शन केशव में होते हैं। केशव ही नहीं अपितु कृपाराम और करनेस भी रीतिकाल की ही परम्परा में आते हैं। कृपाराम की 'हित तरंगिनी' जिस शैली में लिखी गई है उसका अनुकरण परवर्ती काल में हुआ है। कृपाराम का यह ग्रन्थ नायिका-भेद का है। पर पहले इसमें शृंगार रस का बहुत ही सामान्य वर्णन है। उसमें आलम्बन और उद्दीपन का निर्देश है। यही परम्परा बाद में भी अपनाई गई। केशव की 'रसिकप्रिया' भी इसी परम्परा का ग्रन्थ है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र भी केशव को रीति-परम्परा से अलग नहीं मानना चाहते।[1]

चिन्तामणि से हिन्दी-साहित्य में जिस रीति-परम्परा का प्रारम्भ माना जाता है, उसमें काव्य के लक्षण, उसके प्रयोजन, भेद आदि काव्य के सामान्य स्वरूप का आधार मम्मट का 'काव्य-प्रकाश' तथा विश्वनाथ का 'साहित्य दर्पण' हैं। 'साहित्य दर्पण' का आश्रय तो बहुत कम आचार्यों ने लिया है, प्रायः हिन्दी-रीतिकारों ने 'काव्य-प्रकाश' से ही सामग्री एकत्र की है। लेकिन अलंकार-निरूपण में जयदेव का 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' की परिपाटी का ही अनुकरण हुआ है। 'रस तरंगिणी' और 'रस मंजरी' का आश्रय लेकर भी अनेकों कवि चले हैं। इस प्रकार संस्कृत-साहित्य के विभिन्न आचार्यों का विषय और शैली में अनुकरण करने के कारण हिन्दी के रीतिकार भी प्रायः चार भागों में बँट गए। उनमें भी हमें स्पष्टतः चार प्रकार की शैलियों के दर्शन होते हैं— १. 'काव्य-प्रकाश' की विवेचनात्मक शैली। इस

---

१. 'हिमालय', सं० २००२ तीसरी पुस्तक

शैली के आचार्यों ने प्रायः सभी काव्यांगों का विवेचन 'काव्य-प्रकाश' और 'साहित्य दर्पण' के आधार पर किया है। २. 'शृंगार तिलक' और 'रस-मंजरी' के अनुकरण पर केवल शृंगार रस और नायिका-भेद के विवेचन वाली शैली। इस पद्धति के आचार्यों ने शृंगार रस को ही प्रधानता दी है इसलिए उन्होंने 'शृंगार रस' के साथ नायिका-भेद का भी विस्तृत विवेचन किया है। ३. अलंकार-निरूपण की संक्षिप्त शैली। इसमें 'चन्द्रालोक' का अनुकरण किया गया है। एक ही छन्द में अलंकार का लक्षण और उदाहरण दोनों का समावेश कर देने की प्रक्रिया जयदेव ने अपनाई है और उसीका अनुकरण हिन्दी में भी हुआ है। इसी परम्परा में आगे जाकर 'कुवलयानन्द' का भी अनुकरण हुआ है। इन प्राचीन शैलियों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी साहित्यकार हुए हैं, जिनमें आचार्यत्व और कवित्व का एक नवीन प्रकार का मिश्रण हुआ है। इसमें आचार्यत्व की अपेक्षा कवित्व के ही अधिक दर्शन होते हैं। वास्तव में तो ये कवि ही थे, पर रीतिकाल की परम्परा ने इनको रीति-परम्परा में सहयोग देने के लिए बाध्य किया है। ऐसे व्यक्तियों में भूषण और मतिराम प्रधान हैं। भूषण के ग्रन्थों में उनके अलंकार-ज्ञान की प्रौढ़ता नहीं झलकती। उनका यह निरूपण साधारण कोटि का ही है। कहीं-कहीं लक्षणों के अनुकूल उदाहरण भी नहीं हो पाए हैं। भूषण की अपेक्षा मतिराम इस कार्य में अधिक सफल हुए हैं। भूषण ने सभी अलंकारों के उदाहरण शिवाजी के जीवन पर रखे हैं, इस प्रकार विषय-संकोच के कारण भी उनको इस कार्य में अधिक सफलता नहीं मिल पाई। भूषण के सम्बन्ध में यह धारणा कि उन्होंने काव्य-रचना के उपरान्त अपने छन्दों को अलंकारों की दृष्टि से संगृहीत कर दिया है, विशेष समीचीन प्रतीत होती है। उनका महत्त्व रीतिकार की अपेक्षा कवि की दृष्टि से ही अधिक है। उनका रीतिकार होने का मोह तो उनके कवित्व-विकास में बाधक रहा है। वैसे भूषण और मतिराम दोनों ने ही 'कुवलयानन्द' की शैली का अनुकरण किया है। इन दोनों ने प्रायः दोहों में अलंकारों के लक्षण दिये हैं और बाद में उनके उदाहरण विभिन्न छन्दों में रखे हैं। इस प्रकार इनकी गणना भी संक्षिप्त अलंकार-निरूपण-शैली में ही की जायगी, पर इनमें आचार्यत्व की अपेक्षा कवित्व का अत्यधिक महत्त्व होने के कारण इस परम्परा के अन्य आचार्यों की अपेक्षा स्पष्टतः पृथक् प्रतीत होते हैं। शुक्ल जी अपने इतिहास में मतिराम के सम्बन्ध में लिखते हैं : "ये यदि समय की प्रथा के अनुसार रीति की बँधी लीकों पर चलने के लिए विवश न होते, अपनी स्वाभाविक प्रेरणा के अनुसार चलते जाते तो और भी स्वाभाविक

का उपयोग किया है।[1] उन्होंने इन तीनों ग्रन्थों से लक्षण भी हिन्दी में अनूदित किये हैं। लेकिन अन्य सभी आचार्यों ने भी जो कुछ लिखा है वह सब संस्कृत-ग्रन्थों की छाया-मात्र है। कोई मौलिक विवेचन नहीं है। 'काव्य प्रकाश' और 'साहित्य दर्पण' के अनुवाद भी हुए हैं। कुलपति मिश्र का 'रस-सहस्य' 'काव्य-प्रकाश' का छायानुवाद है। अलंकारों को छोड़कर शेष सभी काव्यांगों के लक्षण और उदाहरण दोनों मम्मट से लिये गए हैं। संस्कृत का अच्छा ज्ञान होने के कारण कुलपति और श्रीपति का विवेचन रीतिकाल के अन्य कई आचार्यों की अपेक्षा बहुत प्रौढ़ है। श्रीपति के 'काव्य-सरोज' में सभी काव्यांगों का विशद विवेचन है। प्रायः इस काल के आचार्यों में स्वरचित पद्यों को ही उदाहरण के रूप में रखने की प्रवृत्ति है जिससे आचार्यत्व के साथ ही उनके कवित्व का भी प्रदर्शन हो जाय; पर श्रीपति ने दोष-विवेचन में केशव और सेनापति के छन्दों का उपयोग किया है।[2] इनके अतिरिक्त अन्य कुछ आचार्यों ने भी अपने पूर्ववर्ती कवियों की कृतियों से उदाहरण लिये हैं। ऊपर जिन तीन प्रधान शैलियों की बात कही गई है, उनके अनुसार रीतिकाल के आचार्यों का विभाजन नहीं हो सकता अपितु उनके ग्रन्थों का ही हो सकता है। कुछ आचार्य अवश्य ऐसे हैं जिन्हें हम एक विशेष शैली का कह सकते हैं। प्रतापसाहि, दास, कुलपति, श्रीपति आदि कई-एक आचार्य हैं जिन्हें हम प्रथम शैली का ही आचार्य मानते हैं। वास्तव में इस शैली के प्रधान प्रतिनिधि ही चिन्तामणि, कुलपति, श्रीपति और दास कहे जा सकते हैं। कुछ ऐसे आचार्य भी हैं जिनकी गणना दो शैलियों में की जा सकती है। देव, मतिराम, केशव आदि इसी प्रकार के आचार्यों में है। इस प्रकार उपर्युक्त शैली-विभाजन में कवियों की अपेक्षा ग्रन्थों को ही अधिक कहा जा सकता है। इस शैली में लिखे गए प्रधान ग्रन्थ निम्न लिखित हैं—१. चिन्तामणि : कवि-कुल-कल्पतरु, काव्य-विवेक। २. सेनापति : काव्य-कल्पद्रुम। ३. देव : शब्द-रसायन। ४. सूरत मिश्र : काव्य-सिद्धान्त। ५. कुलपति : रस-रहस्य।

सुकवि प्रताप विचारि चित्त, कीन्हों काव्य-विलास ॥
प्रतापसाहि—'काव्य-विलास' हस्तलिखित प्रति काशी नागरी प्रचारिणी सभा।

१. देखिये दास,—'काव्य-निर्णय' पृष्ठ २. ३।

२. लगत कुटज मयंक पलास वन, फूली सब साखा जो हरति अति चित्त है
सेनापति ॥

या में कुटज पद कलि-विरोधी है। श्रीपति ॥

६. भिखारीदास : काव्य-निर्णय। ७. प्रतापसाहि : काव्य-विलास। ८. श्रीपति : काव्य-सरोज। ९. सोमनाथ : रस-पीयूष-निधि।

इस शैली के ग्रन्थों में दृश्य-काव्य को छोड़कर शेष सभी काव्यांगों का वर्णन हुआ है। शब्द-शक्ति, काव्य की परिभाषा, काव्य के भेद, काव्य का प्रयोजन, काव्य का हेतु, सहृदय की परिभाषा, रस, भाव, भाव-भेद, रसाभास, गुण, रीति, वृत्ति, अलंकार आदि आलोचना के प्रायः सारे सिद्धान्त पक्ष का विवेचन हुआ है। दृश्य-काव्य-निरूपण को रीतिकाल के सभी आचार्यों ने छोड़ दिया है, इसका कारण संभवतः हिन्दी में उस समय के नाटकों का अभाव ही है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, रीतिकाल का यह सिद्धान्त-निरूपण प्रायः विषय के साधारण-ज्ञान कराने के लिए ही हुआ है। इसीलिए उसमें गम्भीर विवेचन का भी अभाव है और दृश्य-काव्य का तो निरूपण किया ही नहीं गया।

दूसरी शैली के ग्रन्थों में शृङ्गार-रस के वर्णन की प्रधानता है। अन्य रसों का तो कहीं-कहीं निर्देश-मात्र है। केशव ने अपनी 'रसिकप्रिया' में मित्र और अमित्र दोनों प्रकार के रसों का समावेश शृङ्गार में ही कर दिया है। देव ने वीर, करुण, रौद्र और भयानक रसों के शृङ्गार-मिश्रित रूप का वर्णन किया है। मतिराम ने अन्य रसों की उपेक्षा की है। इस शैली के आचार्यों ने नायिका-भेद और शृङ्गार रस को ही प्रधान रूप से वर्ण्य विषय बनाया है। शृङ्गार में भी संयोग शृङ्गार के वर्णन की ही अधिकता है। इसका कारण स्पष्टतः तत्कालीन व्यापक विलासिता की भावना है। रीतिकाल की कविता राजाओं और बादशाहों के लिए मनोरंजन और उद्दीपन सामग्री भर रह गई थी। इस प्रकार वे अन्य साधनों की तरह कविता का उपयोग भी अपनी काम-वासना की तृप्ति के लिए करते थे। वियोग शृङ्गार में वियोग की सभी अवस्थाओं का चित्रण हुआ है। पूर्वानुराग, मान, प्रवास, चित्र-दर्शन से प्रेम, प्रत्यक्ष-दर्शन से प्रेम, मानमोचन, हाव, भाव आदि शृङ्गार रस के सभी अंग-प्रत्यंगों का विशद वर्णन हुआ है। यह रीतिकाल का सबसे अधिक प्रिय विषय रहा है। इसकी दृष्टि से शुक्ल जी ने इस काल को शृङ्गार काल कहना अधिक समीचीन समझा है। इस काल के कवियों ने शृङ्गार रस के विभिन्न पदों के इतने सुन्दर उदाहरण उपस्थित किये हैं कि अन्य भाषाओं में ऐसे हृदयस्पर्शी मुक्तकों का इतना बड़ा भंडार मिलना प्रायः असम्भव-सा है। रीतिकाल का कवि मानव-हृदय के इस पक्ष का कोना-कोना झाँक आया है। इसका कोई भी स्वरूप उसकी सहृदयता और मार्मिकता से बच नहीं पाया है। इस शैली की विशेष उल्लेखनीय पुस्तकें निम्न लिखित हैं —

१. केशव : रसिक-प्रिया। २. देव : भाव-विलास, रस-विलास। ३. दास : रस-निर्णय। ४. पद्माकर : जगद्विनोद। ५. बेनी प्रवीन : नवरस-तरंग। ६. तोष : सुधानिधि।

जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है कि इस शैली की पुस्तकों का उद्देश्य केवल शृङ्गार-रस-निरूपण है। शेष रसों का तो उल्लेख-मात्र है। विषय के लक्षणों का तो साधारण निर्देश भर किया गया है। आचार्यों की प्रतिभा के दर्शन तो उदाहरणों मे ही दृष्टिगत होते हैं। रस-निरूपण में तो यह कमी और भी अधिक अखरती है। इन आचार्यों ने एक-आध पंक्ति में लक्षण का निर्देश भर कर दिया है। मतिराम ने तो अपने 'रसराज' का अधिकांश भाग नायक-नायिका-भेद में ही व्यतीत कर दिया है; शृङ्गार रस के मूल विषय पर तो बहुत ही कम लिखा है। मतिराम और पद्माकर ने भी पहले नायिका-भेद ही का निरूपण किया है। देव ने भी अपने 'भाव विलास' का अधिक अंश इसी पर व्यय किया है। मतिराम ने विभाव, अनुभाव, स्थायी, संचारी आदि रस के अंगों के लक्षण नहीं दिये। उन्होंने उद्दीपन[१], हाव, भाव आदि का नामोल्लेख भर कर दिया है। देव और पद्माकर इस विषय में कुछ अधिक चिन्तन-प्रधान कहे जा सकते हैं। देव ने अपने 'भाव विलास' में रस, भाव, स्थायी, संचारी हाव-हेला आदि सभी के लक्षण दिये हैं। देव ने स्थायी भाव को 'रस' का अंकुर माना है। इस प्रकार प्राचीन साहित्य-शास्त्र के वासना-सिद्धान्त की ओर निर्देश कर रहे हैं। उन्होंने "रति" और "शृंगार" के लक्षण भी दिये हैं।[२] देव ने संचारी भाव के दो भेद किये हैं। इन्होंने संचारी भाव में प्राचीन आचार्यो द्वारा निरूपित सात्विक भाव और संचारी दोनों का समावेश कर दिया है।[३] देव की अपेक्षा भी पद्माकर के रस-निरूपण मे विशेष प्रौढ़ता है। उन्होंने रस की व्याख्या भी की है। अत्यन्त संक्षेप में संस्कृत के आचार्यों द्वारा मान्य रस के स्वरूप का थोड़ा दिग्दर्शन भर करा दिया गया है। फिर भी रस के कुछ तत्त्वों का स्पष्ट निर्देश हो गया है।

---

१. चन्द कमल चन्दन अगर, ऋतु बन बाग बिहार।
उद्दीपन शृङ्गार के जे उज्जल संभार ॥मतिराम—'रसराज' २८४ ॥

२. 'भाव-विलास' देव, पृष्ठ ६।

३. ते सारीर रु आंतर, विविध कहत भरतादि।
स्तंभादिक सारीर अरु आन्तर निरवेदादि ॥
'भाव-विलास,' पृ० २।

उन्होंने स्थायी भाव का रस रूप में परिणत हो जाना स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त 'जगद्विनोद' में "रस" को ब्रह्मानन्द स्वरूप भी कह दिया गया है।[1] शृङ्गार का लक्षण भी दिया गया है। यह लक्षण अत्यन्त साधारण कोटि का है। इसमें "देव" के लक्षणों से कोई विशेषता नहीं है। हाँ, पद्माकर ने शृङ्गार के आलम्बन, उद्दीपन आदि का भी परिगणन कर दिया है।[2] बेनीप्रवीन ने भी अपने 'नवरस तरंग' में शृङ्गार का साधारण परिचय भर दिया है। शृङ्गार को रसराज तो माना गया, पर संस्कृत-साहित्य की तरह उसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नहीं किया गया। केवल कह भर दिया गया।[3]

'चन्द्रालोक' के अनुकरण पर अलंकार-निरूपण-शैली का प्रारम्भ तो बहुत पहले से ही हो चुका था। अकबर के दरबारी कवि करनेस ने इस विषय पर तीन ग्रन्थ लिखे थे, पर इस शैली की वास्तविक प्रतिष्ठा तो राजा 'जसवन्तसिंह' के द्वारा ही हुई। उन्होंने जयदेव के'चन्द्रालोक'की शैली में ही दोहों में इस ग्रन्थ की रचना की है। एक ही दोहे की प्रथम पंक्ति में अलंकार का लक्षण है तथा दूसरी पंक्ति में उसका उदाहरण। अलंकार-निरूपण की दूसरी शैली है, जिसमें एक छन्द द्वारा उसका उदाहरण दिया गया है। यह शैली 'कुवलयानन्द' की शैली का अनुकरण कही जा सकती है। 'भाषा-भूषण' और 'चन्द्रालोक' की शैली अत्यन्त संश्लिष्ट है। लेकिन यह दूसरी शैली कवि और आचार्यों के लिए अधिक सरल है। इस शैली में विवेचन की अधिक स्पष्टता और पूर्णता भी आ जाती है। रीतिकाल में प्रायः इसी शैली में अलंकार-निरूपण अधिक हुआ है। इसमें लक्षण और लक्ष्य दोनों की विशदता के लिए स्थान है। 'पद्माकर' ने अपने

---

१. मिलि विभाव अनुभाव पुनि संचारिन के वृन्द।
परिपूरन थिर भाव सों सुख स्वरूप आनन्द॥
ज्यों पय पाय विकार कछु ह्वै ऋषि होत अनूप।
तैसे ही थिरभाव को बरनत कवि रस रूप॥
'पद्माकर-पंचामृत' 'जगत्-विनोद' पृष्ठ ६०४, ६०५।

२. पद्माकर—'जगत्विनोद' पृष्ठ २००। देव—'भाव-विलास' पृ० ५।

३. सबको केशवदास हरिनायक है सिंगार। 'रसिकप्रिया'॥
विमल शुद्ध सिंगार रस देव प्रकास अनन्त।
उड़ि-उड़ि खग ज्यों और रस न पावत अन्त॥
× × ×
रसनि सार सिंगार रस प्रेम सार शृङ्गार। देव–'शब्द-रसायन'।

'पद्माकर-भूषण' में इस शैली का अनुकरण किया है। 'भाषा-भूषण' की अपेक्षा इस ग्रन्थ का अलंकार-निरूपण अधिक स्पष्ट और प्रौढ़ भी कहा जा सकता है। पर जसवन्तसिंह का 'भाषा-भूषण' रीतिकाल के अनेकों आचार्यों के लिए आधार-भूत ग्रन्थ वन गया था। इसमें यद्यपि उदाहरणों का सौन्दर्य नहीं है, पर एक ही पंक्ति में अलंकारों के लक्षण अत्यन्त स्पष्ट हैं। पाठ्य-पुस्तक के रूप में प्रयुक्त होने के उपयुक्त ग्रन्थ हैं। हरिहरनाथ ने अपने ग्रन्थ में पहले कुछ छन्दों में सब अलंकारों के लक्षण दे दिए हैं और बाद में उनके उदाहरण दिये हैं। जसवन्तसिंह के 'भाषा-भूषण' में अत्यन्त संक्षेप में सब अलंकारों के लक्षण और उदाहरण याद करने के योग्य शैली में लिखे गए हैं। इसका उद्देश्य अलंकारों का तर्कपूर्ण निरूपण नहीं था। रीतिकाल के कुछ आचार्यों में यह प्रौढ़ और तर्कपूर्ण अलंकार-विवेचन भी मिलता है। शम्भुनाथ ने गद्य में वार्त्तिक भी लिखा है। वंशीधर और दलपति ने अपने अलंकार-निरूपण में अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ़ता लाने के लिए गद्य का भी पर्याप्त प्रयोग किया है। पर उस समय तक गद्य का इतना विकास नहीं हो पाया था। इसीलिए उन्हें इस कार्य में इतनी सफलता नहीं मिल सकी। वास्तव में व्रजभाषा में बहुत दिनों से पद्य-रचना की परम्परा ही चली आ रही थी इसलिए वह पद्य के ही अधिक उपयुक्त हो चुकी थी। सिद्धान्त-निरूपण के लिए जिस सवलता और यथार्थ की निरूपण-क्षमता की आवश्यकता होती है उसका पद्य की भाषा में प्रायः अभाव ही रहता है। पद्य में काव्योपयोगी माधुर्य ही अधिक रहता है। यही कारण है कि संस्कृत-आचार्यों को भी गद्य का पर्याप्त आश्रय लेना पड़ा है। रीतिकाल के कुछ आचार्यों ने भी गद्य का प्रयोग किया और इस प्रकार उसमें निरूपण की प्रौढ़ता भी आई, पर अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन नहीं हो सका। फिर भी दलपति, वंशीधर आदि कुछ आचार्यों का विवेचन पर्याप्त प्रौढ़ है। उन्होंने उदाहरणों के स्थान पर स्वरचित पद्यों के अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य के अनेक कवियों की रचनाओं का उपयोग किया है। इन्होंने केशव, गंग, बिहारी, मतिराम आदि के छन्दों के उदाहरण दिये हैं और अलंकारयुक्त अंशों का निर्देश कर दिया है। इस प्रकार ऐसे अंशों का निर्देश कर देना विवेचन की प्रौढ़ता का स्पष्ट परिचायक है। रीतिकाल का सबसे प्रधान विषय अलंकार और नायिका-भेद-निरूपण था। केवल अलंकार का निरूपण करने वाले आचार्य भी नायिका-भेद को नहीं भूल पाए हैं। 'भाषा-भूषण' में सर्वप्रथम थोड़ा-सा नायक-नायिका-भेद-निरूपण ही किया गया है। जिन आचार्यों ने सब काव्यांगों के साथ अलंकार-निरूपण किया है उन्होंने भी अन्य काव्यांगों की अपेक्षा अलंकार-निरूपण

को ही अपने ग्रन्थ में अधिक स्थान दिया है। यह बात हम केशव की 'कविप्रिया' में देख चुके हैं।

इस शैली में लिखी हुई निम्न लिखित पुस्तकें विशेष उल्लेखनीय हैं—
१. करनेस : श्रुति-भूषण। २. सूरति मिश्र : अलंकार माला। ३. भूपति : कर्णाभरण। ४. जसवन्तसिंह : भाषा भूषण।

रीतिकाल की यह प्रधान शैली थी, इसलिए इस शैली के ग्रन्थ-निर्माण में प्रायः सभी रीतिकालीन आचार्यों ने सहयोग दिया है। जैसा कि निर्देश हो चुका है कि इस काल के कुछ आचार्य वस्तुतः कवि ही थे। उनकी प्रतिभा का विकास काव्य-सृजन में ही हुआ है। पर काल की परम्परा ने उन्हें आचार्य का भी कार्य करने के लिए बाध्य किया है। ऐसे आचार्यों में मतिराम और भूषण का नाम विशेष उल्लेखनीय है। मतिराम का 'ललित-ललाम', भूषण का 'शिवराज-भूषण' दूलह का 'कविकुल कर्णाभरण', ग्वाल का 'रसिकानन्द', प्रतापसाहि का 'अलंकर-चिन्तामणि' ये सब उसी शैली के कहे जा सकते हैं। वास्तव में यह कोई विशेष भिन्न शैली तो नहीं कही जा सकती है। इसको भी हम 'कुवलयानन्द' की शैली के अनुकरण के अन्तर्गत ही ले सकते हैं। पर केवल अन्तर यही है कि इन्होंने अलंकार-निरूपण की दृष्टि से अपने ग्रन्थों की रचना नहीं की प्रतीत होती है। मुक्तक छन्दों की रचना के उपरान्त अलंकार-लक्षण का एक-एक छन्द लिखकर उदाहरणों के रूप में अपने मुक्तकों का संग्रह कर दिया प्रतीत होता है। यही कारण है कि इस परम्परा के कवि अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दोनों की दृष्टि से इतने सफल नहीं हुए हैं। इन्होंने अलंकारों के उदाहरण देने के लिए काव्य-रचना नहीं की थी। स्वाभाविक रूप में अलंकार प्रयुक्त हो गए हैं। फिर भी मतिराम-जैसे एक-दो व्यक्तियों का ज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म है, इसलिए उनका निरूपण भी अन्य कवियों की अपेक्षा कुछ प्रौढ़ है।

इस बात में किसी प्रकार का सन्देह नहीं कि रीतिकाल की समीक्षा संस्कृत का अनुकरण-मात्र थी। प्राचीन आचार्यों ने जिन काव्यांगों का निरूपण किया है, उन्हीं का स्थूल निर्देश-मात्र इस काल के आचार्यों ने कर दिया है। सूक्ष्म और गम्भीर विवेचन का अभाव तो अवश्य है, पर काव्य के प्रायः सभी अंगों की झलक अवश्य आ गई है। इसलिए शुक्ल जी का इस काल के सिद्धान्त-निरूपण को संस्कृत-साहित्य की उद्धरणी कहना बिलकुल ठीक है। हमें यह देखना है कि काव्य के विभिन्न अंगों के सम्बन्ध में रीतिकालीन आचार्यों का क्या दृष्टिकोण रहा है काव्य की परिभाषा-जैसे महत्त्वपूर्ण तथा गूढ़ विषय पर

रीतिकाल के आचार्यों ने अपनी लेखनी का अपेक्षाकृत कुछ कम प्रयोग किया है। संस्कृत में इस विषय पर जितना विवेचन है, उसकी तरफ इन आचार्यों का ध्यान ही नहीं जा सकता। एक प्रकार से काव्य का यह अंग उपेक्षित-सा ही रहा है। फिर भी रीतिकाल के आचार्यों में यत्र-तत्र रस, ध्वनि, अलंकार आदि पर जो विचार प्रकट किये हैं, जिस प्रकार का सामंजस्य इन्हें मान्य हुआ है, उससे इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उन्हें काव्य के प्रायः वे ही तत्त्व मान्य हैं जिनका उल्लेख मम्मट के 'काव्य प्रकाश' में है। दास, देव, कुलपति आदि कुछ आचार्यों ने काव्य के प्रधान तत्त्व रस, शब्द, अर्थ, अलंकार और दोषभाव माने हैं। वैसे ये तत्त्व संस्कृत-साहित्य के सभी आचार्यों को किसी-न-किसी रूप में मान्य हो गए थे। पर क्योंकि मम्मट ने इनका कुछ थोड़ा स्पष्ट निर्देश कर दिया था और रीतिकाल के प्रायः सभी आचार्यों ने मम्मट का ही अनुकरण किया, इसलिए रीतिकालीन 'काव्य-परिभाषा' पर भी उनका ही प्रभाव कहना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। इस काल के सभी आचार्यों ने 'रस' को ही काव्य की आत्मा कहा है। संस्कृत-साहित्य में 'काव्य पुरुष' के रूपक का राजशेखर आदि आचार्यों ने निर्देश किया है। उसीकी छाया इन आचार्यों में मिलती है। इनमें से केशव आदि एक-दो आचार्यों ने अलंकार को विशेष महत्त्व दिया है, यद्यपि काव्य में रस को इन्होंने भी प्राण ही कहा है। शेष सभी आचार्यों ने 'काव्य पुरुष' का वही प्राचीन रूपक लिया है और इस प्रकार काव्य के तत्त्वों में वही परम्परा-प्राप्त समन्वय उन्हें मान्य है। इसी समन्वय में रीतिकालीन आचार्यों ने काव्य-स्वरूप का संकेत भर कर दिया है।[1] केशव ने 'सुवरण' और 'सुवृत' कहकर सुन्दर वर्ण और छन्दों का भी काव्य-स्वरूप में समाहार कर लिया है।

रीतिकाल के आचार्यों ने केवल काव्य-तत्त्वों के द्वारा काव्य-लक्षण का

---

१. व्यंग जीव ताको कहत, शब्द अर्थ है देह।
गुन गुन भूषन भूषने दूषत दूषन देह ॥ 'रस-रहस्य', कुलपति ॥
रस कविता को अंग, भूषत है भूषन सकल।
गुन स्वरूप औ रंग, दूषन करै कुरूपता ॥ काव्य-निर्णय ॥
कविता वनिता रसभरी, सुन्दर सोई सुलाल।
बिन भूषन नहीं भूषही, गहै जगत् की साल ॥ उत्तमचन्द : अलंकार ॥
जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिना बिराजई कविता, वनिता, मित्त ॥ 'केशव' ॥

निर्देश नहीं किया है। प्रतापसाहि ने अपने काव्य-लक्षण में मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों के लक्षणों के अनुवाद दिये हैं। ये छायानुवाद कहे जा सकते हैं। इनमें प्रायः उन आचार्यों के मत का सारांश आया है। कहीं-कहीं लक्षण में जो बात नहीं कही गई है, उसका भी समावेश प्रतापसाहि ने कर लिया है। साहित्यदर्पणकार के काव्य-लक्षण के नाम से जो लक्षण दिया गया है।[1] वह 'साहित्य दर्पण'के लक्षण का अनुवाद नहीं है। पर जिन तत्त्वों का समावेश लेखक ने किया है, उनको आचार्य विश्वनाथ की दृष्टि से भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसी तरह उन्होंने मम्मट के काव्य-लक्षण में रमणी शब्द का प्रयोग किया है, जो उनके मूल लक्षण में कहीं नहीं है।[2] 'काव्य-विलास' के लेखक ने 'काव्य-प्रदीप' का लक्षण भी दिया है।[3] इन तीनों लक्षणों में सामंजस्य स्थापित करके किसी एक निश्चय पर पहुँचने की प्रवृत्ति नहीं है। कुलपति ने काव्य-प्रकाशकार के मत के साथ ही अपना काव्य-लक्षण भी दिया है।[4] इस लक्षण में लेखक अनेक ग्रन्थों के मन्यन का संकेत कर रहा है। सोमनाथ ने 'रस-पीयूषनिधि' में अपने काव्य-लक्षण में कवि-कर्म और पिंगल-मत-अनुरूपता का भी उल्लेख किया है। काव्य के विभिन्न तत्त्वों की परिगणना से उसके स्वरूप का वर्णन-मात्र है।[5]

दास ने अपने 'काव्य-निर्णय' में यश और अर्थ-प्राप्ति को काव्य का प्रयोजन कहा है और तुलसी-जैसे महान् कवियों के लिए ही यश को ही काव्य का प्रयोजन माना है। इस प्रकार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चतुर्वर्ग की प्राप्ति ही का

---

१. रसयुत व्यंग प्रधान शब्द अर्थ शुचि होई।
उक्ति युक्ति भूषण सहित काव्य कहावे सोई॥ प्रतापसाहि—'काव्य-विलास'॥
पृष्ठ १ : २ हस्तलिखित प्रति। काशी नागरी प्रचारणी सभा।

२. गुणयुत सब दूषन रहित काव्य-अर्थ रमणीय।
स्वल्प अलंकारयुत काव्य को लच्छण कहि कमनीय॥ वही॥

३. अद्भुत वातन ते जहाँ उपजत अद्भुत अर्थ।
लोकोत्तर रचना जहाँ कहीं सुकाव्य समर्थ॥ वही॥

४. दोष-रहित अरु गुण सहित कहुँ अल्पालंकार।
शब्द अरु अर्थ सो कवित्त है ताको करो विचार॥ कुलपति-'रस-रहस्य'॥

५. सगुन पदारथ दोष बिनु पिंगल मत्त अविरुद्ध।
भूषन जुत कवि कर्म जो सो कविता कहि शुद्ध॥
सोमनाथ—'रस पीयूषनिधि'हस्तलिखित प्रति,काशी नागरी प्रचारिणी सभा।

साधन कहने की परम्परा, रीतिकाल में भी रही है। कुलपति अपने 'रस-रहस्य' में काव्य के उन्हीं प्रयोजनों का संकेत कर रहे हैं जो मम्मट को मान्य हैं। पर वह प्रौढ़ता और स्पष्टता नहीं है।[1] आचार्य भिखारीदास ने शक्ति, निपुणता, और अभ्यास तीनों के सम्मिलित रूप में काव्य का हेतु कहा है। उन्होंने रथ के रूपक द्वारा अपने इस मन्तव्य को बिलकुल स्पष्ट कर दिया है। जैसे एक चक्र से रथ नहीं चलता उसी प्रकार एक से काव्य-सृजन नहीं होता। काव्य के प्रधान प्रयोजन आनन्द पर भी विचार हुआ है। काव्य-सृजन और अनुशीलन दोनों ही में आनन्द है।

काव्य में रस को जो गौरव प्राप्त हो चुका था, उसमें रीतिकाल में न्यूनता आ जाना संभव नहीं था और न कभी संभव होगा। रीतिकाल के आचार्यों ने भी रस का पर्याप्त विवेचन किया है। रसों की संख्या में वृद्धि अथवा कमी तो इस काल के आचार्यों द्वारा नहीं हो सकी। यह काल मौलिक उद्भावना और प्रौढ़ विवेचन का काल तो था नहीं। इस काल की तथाकथित मौलिक उद्भावना पर आगे विचार किया जायगा। यहाँ पर तो हमें रीतिकालीन आचार्यों द्वारा रस-स्वरूप का जो प्रतिपादन हुआ है इसी पर विचार करना है। रस की परिभाषा बहुत कम आचार्यों द्वारा दी गई है। इस काल तक "रस" शब्द अपने विशिष्ट अर्थ में इतना रूढ़ हो गया था कि संभवतः आचार्य इसके स्वरूप-निरूपण को पिष्टपेषण समझने लगे थे। वस्तुतः ऐसे गम्भीर विषय पर लेखनी उठाना इस काल के आचार्य का काम भी नहीं था। फिर भी कतिपय आचार्यों में इस विषय का भी विवेचन किया है। यद्यपि यह कहने की भी कोई आवश्यकता नहीं है कि यह निरूपण भी संस्कृत-साहित्य की छाया-मात्र है। "रस" की परिभाषा के सम्बन्ध में रीतिकालीन आचार्यों का क्या मत है, इसका कुछ थोड़ा-सा दिग्दर्शन इसी अध्याय में पहले हो चुका है।[2] रस की अनुभूति केवल सहृदय व्यक्ति को ही होती है, इसका संकेत दास ने अपने 'काव्य-निर्णय' में तथा देव ने 'शब्द-रसायन' में किया है।[3]

---

१. जस संपति आनन्द अति दुरितन डारे खोइ ॥ कुलपति—'रस-रहस्य' ॥

२. सक्ति कवित्त बनाइबे को जेहि जन्म नक्षत्र में दीन्हो विधाते।
काव्य की रीति सिखी सुकवीन्ह सों देखी-सुनी बहु लोक की बातें।
दास हैं जामैं एकत्र ये तीनि बनै कविता मनरोचक तातै ॥
'काव्य-निर्णय' पष्ठ ५ ॥

३. काव्य-निर्णय (दास), पृष्ठ ४।

देव ने रस के इस शास्त्रीय पक्ष की और भी विशद व्याख्या की है। जन्मगत संस्कार तथा विधिगत कृपा का फल कहा है। वृक्ष के रूपक का आश्रय लिया है। स्थायी, संचारी आदि सभी तत्त्वों से परिपक्व होकर रस-रूपी फल कैसे टपकता है, देव ने स्पष्ट कर दिया है।[1] इसमें शास्त्रीय प्रामाणिकता है। देव ने अपने 'शब्द-रसायन' में विभावों को रस को उत्पन्न करने वाले, अनुभावों को अनुभव कराने वाले तथा सात्विकों को रस झलकाने वाले कहा है। इस प्रकार रस का अपने इन हेतुओं से क्या सम्बन्ध है, यह भी उन्होंने स्पष्ट कर दिया है।[2] देव ने स्थायी भाव का ही रस के रूप में परिणित हो जाना स्वीकार किया है। उन्होंने अपने 'शब्द-रसायन' में "रति चढ़ि होत सिंगार रस" आदि लिखा है।[3] 'कवि-कुल-कल्पतरु' में चिन्तामणि ने वासना-रूप स्थायी-भाव का ही रस-रूप में अभिव्यक्त होना माना है।[4] कुलपति भी अपने

---

१. चित थापित थिर बीज विधि होत अंकुरित भाव।
'चितव दलित दल फूलि फल बरनत सरस सुभाव॥
खेत बीज अकुर सलिल साखा दल फल फूल।
आठ् अंग रस अपर तरु चुवत अमीरस मूल॥
खेत पात्र प्रारब्ध विधि बीज सुअंकुर जोग।
सलिल नेह भाव सुविटप छंद पात्र परिभोग॥
अलकार शब्दार्थ के फूल-फलनि आमोद।
मधुर सुजस रस अमर तरु अमी-रस मोद॥ देव—'शब्द रसायन', पृष्ठ २८।

२. रस अंकुर थाई विभाव रस के उपजावन,
रस अनुभव अनुभाव सात्विकी रस झलकावन,
छिन-छिन नाना रूप रसनि संचारी उझकै,
पूरन रस संजोग विशद रस रंग समुझकै,
ये होत नायकादीन में, रत्यादिक रसभाव पट,
उपजावत श्रृङ्गारादि रस गावत नाचत सुकवि नट॥
देव—'शब्द रसायन' पृष्ठ २६॥

३. रति चढ़ि होत सिंगार रस हाँसि चढ़ि कै हास।
करुण सोक चढ़ि ऐंउ रस, रिस चढ़ि करत प्रकास॥
देव—'शब्द रसायन', पृष्ठ २६

४. थाई सो भाव यह कहिए बसत वासना रूप।
व्यक्ति विभावादिकनि मिलि रस ह्वै लसत अनूप॥

'रस-रहस्य' में 'इस मत का समर्थन कर रहे हैं। वे कहते हैं कि विभाव, अनुभाव द्वारा अभिव्यक्त जो स्थायी भाव है, वही रस कहलाता है।[1] कुलपति का यह विवेचन प्राचीन आचार्यों के मत का अधिक प्रौढ़ और सूक्ष्म निरूपण है। गुलाम नबी ने भी अपने 'रस प्रबोध' में यही माना है।[2] प्रतापसिंह ने भी शूरमत को उद्धृत करते हुए विभावादिक से अभिव्यक्त स्थायी भाव को ही रस कहा है।[3] रीतिकाल के आचार्यों ने मम्मट का मत ही अपनाया है। रसगंगाधरकार के प्रौढ़ विवेचन की ओर उनका ध्यान नहीं गया है। रीतिकाल का आचार्य इस विवेचन में बहुत गहराई तक नहीं जा सका। वह यह प्रतिपादन कर पाया कि चैतन्य ही स्थायी भाव के आवरण से रस रूप में भासित होता है अथवा चैतन्य के आनन्द में स्थायी भाव ही आनन्दरूप हो जाता है। रसिक गोविन्द ने रस-निरूपण में विशेष चिन्तन और विश्लेषण का परिचय दिया है। इन्होंने गद्य का प्रयोग किया है। गद्य का विकास नहीं हो पाया था, इसलिए विषय-निरूपण की गम्भीरता के उपयुक्त भाषा में सबलता और अभिव्यंजना की सफलता तो नहीं आ पाई है। पर फिर भी रीतिकालीन अन्य आचार्यों की अपेक्षा इनका निरूपण पर्याप्त प्रौढ़ कहा जा सकता है। इन्होंने अपने मत में भरत, मम्मट आदि के प्रमाणों का भी आश्रय लिया है, उनके मतों का निर्देश किया है, तथा अन्त में रस को विशुद्ध, अखण्ड, सत्वप्रकाश, वेद्यान्तर-संस्पर्श-शून्य, ब्रह्मास्वाद, सहोदर आनन्द कहकर उसके परम्परा से मान्य स्वरूप को स्पष्ट कर दिया है। रस का यह स्वरूप संस्कृत के सभी आचार्यों को मान्य है, 'साहित्य-दर्पण' के "सत्वोद्रेकात्" की तो इसमें स्पष्ट छाया ही है।[4] रस के

---

१. मिलि विभाव अनुभाव अरु संचारी सु अनूप।
   व्यंग कियो थिर भाव जो सोई रस सुख भूप॥
२. भावहि ते रस होत है समुझि लेहि मन माँहि।
३. मिलि-मिलि विभाव-अनुभाव मिलि-मिलि संचारी भाव।
   व्यंग होत थाई तहाँ रस कहि सो कवि राव॥
   'काव्य विलास' हस्तलिखित प्रति काशी नागरी प्रचारिणी सभा॥
४. अन्य ज्ञान रहित जो आनन्द सो रस। प्रश्न : अन्य ज्ञान रहित आनन्द तो निद्रादि हैं। उत्तर : निद्रा जड़ है यह चेतन। भरत आचार्य सूत्र कर्ता का मत, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के जोग में रस सिद्धि। अन्य काव्य-प्रकास को मत कारण काज सहायक है जो लोक में इन ही की नाट्य में काव्य में विभाव संज्ञा अथ है। टीका कर्ता का मत तथा साहित्य-दर्पण

आनन्द-स्वरूप का निर्देश कुलपति भी करते हैं। वे अभिनव गुप्त का रस-सम्बन्धी दृष्टिकोण उद्धृत कर रहे हैं। रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में संस्कृत में कई सम्प्रदाय थे। उनमें चार तो अत्यन्त प्रसिद्ध ही हैं। रीतिकाल के आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में कहीं-कहीं उनका भी संकेत किया है। उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, मुक्तिवाद, और अभिव्यंजनावाद—इन चारों ही सम्प्रदायों का साधारण-सा परिचय मिल जाता है। सरदार कवि ने 'मानस-रहस्य' में ये चारों मत उद्धृत किये हैं। वे इनके सम्बन्ध में 'सभाप्रकाश' नामक संस्कृत-ग्रन्थ का मत उद्धृत करते हैं। गद्य में इन मतों का कुछ थोड़ा-सा आलोचनात्मक निरूपण तथा अनुमति आदि वादों का खंडन भी है।[1] उपर्युक्त पुस्तक के लेखक ने अभिनव गुप्त के अभिव्यक्तिवाद को सर्वसम्मत कहा है। इससे वे भी इस मत का समर्थन करते प्रतीत होते हैं। रीतिकाल के आचार्यों ने स्पष्टतः किसी मत का अपने-आपको अनुयायी नहीं कहा है। कुलपति, दास, चिन्तामणि, प्रतापसाहि आदि प्रथम शैली के प्रायः सभी आचार्य अभिनव गुप्त के सिद्धान्त को मानने वाले हैं। यद्यपि इन्होंने स्पष्टतः इसको कहीं भी स्वीकार नहीं किया है परन्तु उनका ध्वनि-सिद्धान्त का समर्थक होना ही इस अनुमान के लिए पर्याप्त कारण है। देव भट्ट लोल्लट के उत्पत्तिवाद का समर्थक है। विभावों को रस की 'उद्भावना' कहा गया है। देव ने विभावादिक नायिका आदि में रस की स्थिति मानी है। नट के अभिनय में कौशल से रस की उत्पत्ति होती है।[2] प्रतापसाहि द्वारा उद्धृत शूरमत को हम पहले देख चुके हैं, वे भी अभिव्यंजना के समर्थक

का सत्व, विशुद्ध, अखंड, स्वप्रकाश, आनन्द चित्त आत्मज्ञान।
'रसिक गोविन्द', हस्तलिखित प्रति से।

१. तामें कोई कहत उत्पन्न होत है तहाँ कोई ऐसी उत्पत्ति होय तो लीला राम देखि फेर राम देखने की चाह नाहीं चाही अरु रस दृश्य पदार्थ चाही याने अनुमान होत है, लीलाराम ते राम अनुमान भयो ऐसे ही विभाव आदि ते अनुमान है। तहाँ आन कही अनुमान ते कारज नाहीं होत जैसे पर्वत में धूम देखि अग्नि अनुमान कीनो तहाँ पाकादिक्रिया नाहीं सिद्ध है। लीलाराम ते जो सादृश्य रूप हृदय में आव तो कारज होय है ऐसे ही रस जैसे स्वयंभू मनु को लीलाराम देखि राम प्राप्ति भये, वामे कोई कहे देखना कहाँ लिखा तो गुसाई लिखो "विधि हरिहर तप देखि अपारा......... :"
—वही।

२. देव—'शब्द-रसायन', पृष्ठ २६

प्रतीत होते हैं। लेखक ने अपने 'काव्य-विलास' में इन वादों के नाम गिना दिये हैं।[1] रीतिकाल के प्रायः सभी आचार्यों को "नव रस" का ही सिद्धान्त मान्य हुआ है। पर कुछ आचार्यों ने भेदों और उपभेदों द्वारा इस संख्या को बढ़ाने की भी चेष्टा की है। केशव ने अपनी 'रसिकप्रिया' में दो मूल भेद माने हैं, प्रच्छन्न और प्रकाश। इन भेदों की दृष्टि से उन्होंने भाव, नायक, नायिका आदि के भी उदाहरण दिये हैं। लेकिन केशव का यह विभाजन किसी प्रकार भी महत्त्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। परवर्ती किसी भी आचार्य ने इसका अनुकरण नहीं किया। देव ने अवश्य माना है।[2] देव में रस के भेदोपभेद मानने की प्रवृत्ति बहुत अधिक है। उन्होंने प्रधान रस नाटक में आठ और काव्य में नौ माने हैं।[3] पर इनके कई और भेद कर दिए हैं। "करुण रस" के पांच भेद[4] तथा वीभत्स के दो भेद माने हैं।[5] 'भवानी विलास' में उन्होंने शान्त रस के भी भेद कर दिए हैं, शुद्ध शान्त और भक्ति शान्त।

संस्कृत-साहित्य में अत्यन्त प्राचीन काल से ही एक रस को प्रधान तथा अन्य सभी को गौण मानने की प्रवृत्ति बहुत से आचार्यों में रही है। इसका दिग्दर्शन पीछे हो चुका है। रीतिकाल के आचार्यों ने इसमें संस्कृत के आचार्यों

---

१. 'काव्य विलास' हस्तलिखित प्रति, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, पृष्ठ ३३-३४।

२. देव कहैं प्रच्छन्न सो, जाकी दूरि विलास।
जानत जाको सकल जन, बरनै ताहि प्रकास॥
शुभ संयोग वियोग पुनि, दोऊ शृङ्गार की जाति।
पुनि प्रच्छन्न प्रकास करि, दोऊ द्वै-द्वै भाँति॥
केशव—'रसिक प्रिया'।

३. यहि भाँति आठ विधि कहत कवि, नाटक मत भरतादि सब।
अस सात मतन मत काव्य के, लौकिक रस के भेद नव॥
देव—'भाव विलास', तृतीय विलास, पृ० ६८।
नाटक मत, आठै बिन सात, समै-समै भावनि ते निकसे।
देव—'शब्द रसायन', पृ० २६।

४. करुना, अति करुना महा करुन लघु हेत।
एक कहत है पाँच ये, दुख में सुखहि समेत॥ देव—'शब्द रसायन' पृ० ३८॥

५. निंद्य कर्म करि, निंद्य गति, सुनै कि देखे कोय।
तन संकोच मन संभ्रमन, द्विविधि जुगुप्सन होय॥ 'शब्द रसायन', पेज ४४॥

का अनुकरण किया है। उसमें से अधिकांश ने शृङ्गार को ही प्रधान माना है और उसीमें अन्य रसों का समावेश कर दिया है। संस्कृत में तो शृङ्गार के अतिरिक्त शान्त, करुण आदि रसों से भी अन्य रसों की उत्पत्ति अथवा उन्हीं में पर्यवसान का प्रतिपादन हुआ है। पर रीतिकाल में यह गौरव केवल शृंगार को ही प्राप्त हो सका है। देव ने शृङ्गार, वीर, रौद्र और वीभत्स ये चार प्रधान रस माने हैं और इन्हीं से शेष चार रसों की उत्पत्ति मान ली है। उपर्युक्त चार प्रधान रसों से क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक की उत्पत्ति मानी है।[1] शान्त स्वतन्त्र है। बाद में तो इन नौ रसों में से केवल तीन ही प्रधान रह गए, शृंगार, वीर और शान्त तथा इन्हींमें शेष रसों का समाहार कर लिया गया।[2] 'भवानी विलास' में तो वीर और शान्त रस का भी शृङ्गार में ही समावेश कर लिया गया है। 'शब्द रसायन' की दृष्टि से संयोग शृङ्गार में हास्य, वीर और अद्भुत तथा शेष सभी का वियोग में अन्तर्भाव है। वीभत्स और शान्त दोनों में आ सके हैं।[3] शृङ्गार के "रसराजत्व" को रीतिकाल के आचार्यों ने संस्कृत के आचार्यों से भी अधिक बढ़ा दिया। वे "रसनिसार सिंगार रस" कहकर ही नहीं रह गए, अपितु उन्होंने प्रकृति-पुरुष के शृङ्गार में भी रसों का समावेश मान लिया।[4]

---

१. होत हास्य सिंगार ते, करुन रौद्र ते जानु।
   वीर जनित अद्भुत कही, वीभत्स से भयानक॥

२. तीनि मुख्य नव ही रसनि, द्वै-द्वै प्रथमनि लीन।
   प्रथम मुख्य तिनन में, दोऊ तेहि अधीन॥
   हाव भाव सिंगार रस, रुद्र करुन रस वीर।
   अद्भुत अरु वीभत्स संग, सातों बरनत धीर॥
   देव—'शब्द रसायन', पेज ३१।

३. सो संयोग वियोग भेद, शृङ्गार दुविध कहु,
   हास्य, वीर, अद्भुत संयोग के संग संग लहु,
   अरु करुना, रौद्र, भयान भये, तीनों वियोग अंग।
   रस वीभत्स एक सांत दोऊ दुहून संग,
   यह सूक्ष्म रीति जानत रसिक, जिसके अनुभव सब रसनि।
   नवहूँ सुभाव भावनि सहित, रहत मध्य शृङ्गारननि॥
   देव—'शब्द रसायन', पेज ५८

४, प्रकृति-पुरुष-शृङ्गार में नौरस की संचार

देव ने शृङ्गार को आकाश तथा अन्य रसों को पक्षी कहा है। वे सब इसी में आश्रय लेते हैं। वेनी प्रवीन भी इसे रसराज कहते है।[1] दास ने शृङ्गार रस के साथ वात्सल्य, मुनि-रति, देव-रति आदि का भी निरूपण किया है। पर प्राचीन आचार्यों की परम्परा के अनुकूल इनको भाव की कोटि में ही रखा है, रस-कोटि में नहीं। दास ने भी हास्य के स्मित आदि प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य भेद नहीं दिये हैं। उन्होंने अपने 'काव्य-निर्णय' में रसाभास, भावाभास, भावसन्धि, भावशान्ति, भावोदय और भावशबलता पर भी विचार किया है। इनके सामान्य लक्षण तथा उदाहरण भर दे दिये गए हैं।[2] विवेचन का तो सर्वत्र अभाव है ही। दोषों के सम्बन्ध में केशव ने जो-कुछ लिखा है, उसका निरूपण इसी अध्याय में पहले हो चुका है। दोष की सामान्य व्याख्या नहीं हुई है। दास, देव आदि कतिपय आचार्यों ने "रस-दोष" पर भी विचार किया है। देव ने तो केवल कुछ दोषों के नाम गिनाकर उदाहरण दे दिये हैं।[3] दास ने अपने ग्रन्थ में "रस-दोष" पर प्राचीन परम्परा के अनुकूल विचार किया है। उन दोषों के लक्षण भी दिये हैं। रस और भाव की शब्द-वाच्यता, विभाव, अनुभाव की क्लिष्ट कल्पना, भावादिक की रस की दृष्टि से प्रतिकूलता, अंग का अंगी की अपेक्षा अधिक वर्णन, असामयिक वर्णन, प्रकृति-विपर्यय आदि दोषों के सामान्य लक्षण तथा उदाहरण दिये हैं।[4] देव ने अपने 'शब्द-रसायन' में मित्र और अमित्र रसों का भी विचार किया है।[5] रीति-काल में रसों के सभी अंगों पर विशद विवेचन अवश्य हुआ है, पर रस की

जैसे यह आकाश में घटत अकास प्रकास
जगत मुख्य शृङ्गार में नवरस झलकत यत्र
ज्यों कुंकन मनि कंकन को ताहि में नदरत्म
बाहेर भीतर भाव ज्यों रसनि करत संचार।
त्यों ही रस भावन सहित संचारी सिंगार। देव—'शब्द-रसायन' पेज ५८।

१. देव—'शब्द-रसायन'। वेनी प्रवीन—'नवरस-तरंग'।
२. दास—'काव्य निर्णय', पेज ३१:४२।
३. सरस निरस सन्मुख विमुख स्वपर निष्ट पहिचानि
मीत अमीत उदास चित उचित सुचित बखानि। देव —'शब्द-रसायन' पेज ५०।
४. दास—'काव्य-निर्णय' पृष्ठ २७२:२८२।
५. देव—'शब्द रसायन' पृष्ठ ४७।

स्थिति, रस और स्थायी के सम्बन्ध का जो निरूपण संस्कृत-साहित्य में हुआ है, उसके गम्भीर विवेचन की तरफ इन आचार्यों का ध्यान नहीं जा सका। यही कारण है कि 'भरत-सूत्र' के व्याख्याताओं के जो अनेक सम्प्रदाय बन गए थे उनकी झलक-मात्र ही आ सकी। "रस-व्याख्या" में 'भरत सूत्र' का संकेत 'रसिक-गोविन्द' ने किया है। रस के उत्पत्ति, अनुमिति, मुक्ति अथवा अभिव्यक्ति आदि किसी वाद का विश्लेषणात्मक समर्थन या खंडन कहीं नहीं हुआ। साधारण संकेत भर हैं; दूसरे का निरूपण पहले हो चुका है। रीतिकाल इतने गम्भीर विवेचन के लिए उपयुक्त काल नहीं था। उन्होंने भाव को रस के अनुकूल विकार और हृदय की वासना कहा है।

इस काल में स्थायी, संचारी, अनुभाव, हाव हेला आदि पर भी आचार्यों ने बहुत-कुछ लिखा है। कुछ आचार्यों ने भाव के लक्षण भी दिये हैं।[1] संस्कृत के आचार्यों में शान्त के स्थायी भाव के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद भी रहा है। स्थायी और संचारी के सामान्य लक्षण का भी पर्याप्त गम्भीरता पूर्वक विश्लेषण हुआ है। ये नौ ही स्थायी भाव क्यों माने जायें, क्या, सभी संचारी भाव स्थायी की कोटि में आकर रस रूप में परिणत नहीं हो सकते आदि अनेक मौलिक प्रश्नों पर विचार हुआ है। पंडितराज ने रसों की अनेकता स्वीकार भी की है। पर केवल आचार्य-परम्परा को अक्षुण्ण रखने के लिए उनकी संख्या नौ ही रखी है। रीतिकाल के आचार्य समीक्षा की उसी परिपाटी को लेकर चले हैं, लेकिन इतने गम्भीर प्रश्नों की तरह उनका ध्यान ही नहीं जा सका। इसलिए इस काव्य में स्थायी संचारी आदि पर बहुत साधारण-सा विवेचन हुआ है। उनका परिचय भर दे दिया गया है। संचारियों की संख्या ३३ मानी गई है। देव ने 'छल' को मानकर ३४ कर दी है। पर स्वयं देव ने ही अपने 'शब्द-रसायन' में यह संख्या ३३ ही रखी है। आचार्य शुक्ल भी उसे उचित नहीं समझते। छल का समावेश अवहित्थ में हो जाता है। देव ने संचारी के दो मूल भेद किये हैं शारीरं और आंतर।[2] 'शारीर' से उनका सात्विक भावों से तात्पर्य है और आंतर संचारी वे ही परम्परागत संचारी भाव हैं। इनमें कोई

---

१. थाई सो भाव यह बसत वासना रूप। चिंतामणि—'कविकुल कल्पतरु' ॥
रस अनुकूल विकार जु होत तासों भाव कहत कवि लोग। सोमनाथ—'रस-पीयूषनिधि' ॥

२. ते सारीर रु आंतर, द्विविध कहत भरतादि।
स्तंभादिक सारीर अरु, आंतर निरवेदादि॥ देव—'भाव विलास' २१ ॥

नवीनता नहीं है, इनका आगे विवेचन किया जायगा।

अलंकार—अलंकार और नायिका-भेद रीतिकाल के सबसे प्रिय विषय प्रतीत होते हैं। प्रायः सभी आचार्यों ने इन दो विषयों पर अपनी लेखनी चलाई है। इस काल में अलंकार-निरूपण में शैली और सामग्री दोनों ही दृष्टियों से 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' का अनुकरण हुआ है। केशव ने दंडी को आधार मानकर अपनी 'कविप्रिया' की रचना की थी, लेकिन परवर्ती आचार्यों ने दंडी के 'काव्यादर्श' की अपेक्षा जयदेव के 'चन्द्रालोक' को आधार बनाना अधिक समीचीन समझा। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि रीतिकाल के आचार्यों ने संस्कृत का अक्षरशः अनुवाद कर दिया है। उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों की छाया-मात्र ली है। वैसे तो अगर ये आचार्य संस्कृत-ग्रन्थों का अनुवाद कर देते तो हिन्दी को अधिक प्रौढ़ समीक्षा-शैली प्रदान कर जाते। इस छाया-मात्र के ग्रहण करने के कारण अपेक्षित गाम्भीर्य और प्रौढ़ता नहीं आ पाई है। केशव की 'कविप्रिया' के अलंकार-निरूपण के सम्बन्ध में हम पहले विचार कर चुके हैं। रीतिकाल में अलंकार-निरूपण केशव की 'कविप्रिया' के आधार पर न होकर सीधा 'चन्द्रालोक' के अनुकरण पर हुआ। यशवंतसिंह का 'भाषा-भूषण' एक प्रकार से 'चन्द्रालोक' का अनुवाद ही है। आगे पद्माकर आदि ने 'भाषा-भूषण', 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' तीनों से ही सहायता ली है। 'भाषा-भूषण' के सम्पादक ने आलोचकों के इस मत का खंडन किया है कि उक्त ग्रन्थ 'चन्द्रालोक' का अक्षरशः अनुवाद है। उनका यह कहना ठीक है कि 'भाषा-भूषण' के लेखक के सामने संस्कृत के और भी ग्रन्थ थे और उन्होंने स्वतन्त्र चिन्तन से भी काम लिया है। जयदेव ने अपह्नुति के केवल चार भेद माने हैं और यशवंतसिंह ने छै। कहीं-कहीं 'चन्द्रालोक' से साधारण-सा भेद तो है, पर प्रायः उसी की वस्तु और शैली का अनुकरण है। ब्रजरत्नदास ने जितने उदाहरण दिये हैं, उनमें वैषम्य की अपेक्षा साम्य ही अधिक है। भ्रांतापह्नुति तथा पर्यस्तापह्नुति के लक्षणों से तो अनुवाद स्पष्ट ही है।[1] इनके उदाहरणों में भी साम्य है।

अलंकार शब्द के अर्थ में अभिनव गुप्त तथा मम्मट से पूर्व प्रायः एक

---

१. भ्रांतापह्नुतिरन्यस्य शंकया तथ्यनिर्णये।
शरीरे तव सोत्कर्पं ज्वरः किं न सखि स्मरः॥ चन्द्रालोक॥
भ्रांति अपह्नुति वचन सों भ्रम जब पर को जाइ।
ताप करत है ज्वर नहीं सखी मदन तप आइ॥ यशवन्तसिंह—भाषा-भूषण॥

अव्यवस्था-सी थी। उसका एक व्यापक अर्थ लिया जाता था। अलंकार और अलंकार्य में कोई विशेष अन्तर नहीं समझा जाता रहा। बाद में धीरे-धीरे अलंकार और अलंकार्य का भेद कुछ विशेष स्पष्ट भी होने लगा था, पर फिर भी अलंकार शब्द में अर्थ की बहुत व्यापकता थी। कुन्तक और भामह ने वक्रोक्ति को ही इनका आधार मानकर तथा वक्रोक्ति को काव्य का प्राण मानकर अलंकार का बहुत विशद अर्थ दे दिया था। उसमें गुण, रीति, वृत्ति यहाँ तक कि रस तक का समावेश हो गया था। ध्वनिकार और अभिनव गुप्त के प्रौढ़ विवेचन ने काव्य के अन्य तत्वों के साथ अलंकार का भी काव्य में एक विशिष्ट स्थान निश्चित कर दिया। रस, गुण, रीति आदि अलंकार से निकलकर अपना पृथक् अस्तित्व बना चुके थे। पर फिर भी अलंकार एक शैली विशिष्ट के रूप में अवशिष्ट रह गया था। इस प्रकार उसके अर्थ में पर्याप्त व्यापकता अब भी अवशिष्ट थी। लेकिन मम्मटाचार्य ने स्पष्टतः इसको "हारादिवत" कहकर इनके क्षेत्र को बहुत-कुछ सीमित कर दिया। गुणों और अलंकारों का भेद मम्मट ने ही इतना अधिक स्पष्ट किया था। गुणों का रस से अभिन्न और नित्य सम्बन्ध है तथा अलंकारों का केवल अनित्य और आकस्मिक। यह प्रतिपादन मम्मट ने ही इतनी स्पष्टता से किया है। इसी आधार पर अलंकार काव्य-शरीर के वाह्य सौन्दर्य में अभिवृद्धि करने के साधन-मात्र रह गए थे। उनके बिना भी काम चल सकता है। यद्यपि मम्मट ने अलंकार का व्यापक अर्थ भी ग्रहण किया है और काव्य के लिए एक प्रकार से अनिवार्य भी माना है।[1] पर समीक्षा-शास्त्र की परवर्ती परम्परा में मम्मट के इस कथन के अनुकरण पर अलंकारों का यहाँ "हारादिवत" रूप ही ग्रहण हुआ है। लेकिन संस्कृत के जयदेव आदि कुछ आचार्यों ने अलंकार की काव्य में एक बार पुनः अनिवार्यता की घोषणा कर दी थी। हिन्दी में जयदेव का ही अनुकरण हुआ, पर अलंकार के सम्बन्ध में जिस नीति का अनुसरण हिन्दी के अधिकांश आचार्यों ने किया वह मम्मट का "हारादिवत" वाला ही रूप है। 'भाषा भूषण', 'पद्माभरण', 'शिवराज भूषण'-जैसे 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' के अनुकरण पर अलंकार-निरूपण-शैली में लिखे गए ग्रन्थों में अलंकार-सामान्य पर कोई विशेष विवेचन है ही नहीं। इसलिए जयदेव के अलंकारवादी दृष्टिकोण का

---

१. इसी पुस्तक का दूसरा अध्याय 'संस्कृत साहित्य में समीक्षा का स्वरूप' पृष्ठ ४७ 'काव्यप्रकाश' में बालबोधिनीटीका की 'काव्य-परिभाषा' तथा 'अलंकार-परिभाषा'।

निर्वाह अलंकार की परिभाषा में नहीं हो सका। केशव तो अत्यन्त प्राचीन दृष्टिकोण को लेकर चले थे, जब अलंकार और अलंकार्य का भेद स्पष्ट नहीं था। उन्होंने अवश्य सब तत्त्वों को अलंकार के नामों से अभिहित किया है, पर उन्होंने भी अलंकार की ऐसी व्यापक व्याख्या नहीं की जिससे अलंकार ही काव्य का सर्वस्व सिद्ध हो जाता। तत्कालीन परिपाटी को ग्रहण करके वर्ण्य विषय को भी अलंकार कह दिया है। शेष सभी आचार्यों ने इस क्षेत्र में मम्मट के "हारादिवत" वाले मत का ही अनुसरण किया है। देव ने अपने 'शब्द-रसायन' में कविता को कामिनी कहा है और आभूषणों से उसके सौन्दर्य में वृद्धि मानी है।[1] दास ने काव्य में अलंकार, रस और गुण इन तीनों को आवश्यक कहा है। यह मम्मट का ही प्रभाव है।

अलंकारवादी परम्परा का अनुकरण करने वाले आचार्यों ने भी अलंकार के स्वरूप, आधार आदि पर विचार नहीं किया है, इससे उनके विवेचन में भी अलंकार के व्यापक स्वरूप के दर्शन नहीं होते जिसमें सभी काव्यांगों का अन्तर्भाव हो पाता। प्रायः इन्होंने रीति, गुण आदि का निरूपण ही नहीं किया है और रस का पृथक् अस्तित्व मान रहे हैं। उसका अलंकार में अन्तर्भाव नहीं किया है। आचार्य सोमनाथ 'रस पीयूषनिधि' में गुण और अलंकार का भेद-निरूपण करते हुए कहते हैं : "गुन सदा एक रस हैं और अलंकार कहुँ रस को पोषत हैं कहुँ उदास हैं यह भेदु" (पृष्ठ ८९) इनके उदाहरण भी दिये गए हैं। इसके अतिरिक्त लेखक रस के पोषक अलंकारों का भी संकेत करते हैं। पर गुणों से भेद करते हुए उनका निर्देश करना यह स्पष्ट करता है कि वे अलंकारों का अस्तित्व ही रस की अपेक्षा से मानते हैं। यही रसवादी दृष्टिकोण है। 'मानस-रहस्य' में 'काव्य-कलाधर' से अलंकार का लक्षण भी उद्धृत है।[2]

इससे अलंकार-लक्षण की प्रवृत्ति का थोड़ा आभास मिलता है।

दास ने रसवत, प्रेयस् आदि अलंकारों को अपरांग गुणीभूतव्यंग में रखा है, जो बिलकुल समीचीन है।[3] यह भी स्वभावतः मम्मट का ही प्रभाव है।

---

१. कविता कामिनि सुखदप्रद सुबरन सरस सुजाति।
अलंकार पहिरे अधिक अद्भुत रूप लखाति॥ 'शब्द रसायन', पृष्ठ ४४।

२. रस औरु विंग दुहुन ते न्यारो होय।
अर्थ चमत्कृत शब्दहि भूषण सोय॥

३. दास—'काव्य निर्णय' अपरांग-वर्णन, पृष्ठ ४३ और गुणीभूतव्यंग-वर्णन, पृष्ठ ६४।

लेकिन केशवदेव, पद्माकर आदि आचार्यों ने इन्हींको अलंकारों में रख दिया है। देव ने अपने 'शब्द-रसायन' में इन अलंकारों की कोई व्याख्या नहीं की है।[1] केवल नाम गिनाकर उदाहरण-भर दिये हैं। केशव तो अलंकारवाद की अत्यन्त प्राचीन परम्परा का अनुकरण कर रहे हैं, इसलिए उन्होंने इन अलंकारों का भी पर्याप्त वर्णन किया है। "रसवत" आदि सभी रसों की दृष्टि से उदाहरण दिये है।[2] पद्माकर ने अपने 'पद्माभरण' में रसवत, प्रेयस और ऊर्जस्वित को अलंकार कहा है। उनके लक्षण और उदाहरण दोनों ही दिये गए हैं। पद्माकर ने भावाभास, भावशवलता, भावोदय, भावशान्ति आदि का भी अलंकारों में ही समावेश कर लिया है।[3] कुछ आचार्यों ने इन रसवत आदि अलंकारों का निर्देश किया ही नहीं है। सोमनाथ आदि ने इनको असंलक्ष्य क्रम काव्य में रखा है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सम्पूर्ण काव्यांगों का वर्णन करने वाले आचार्यों ने अलंकारों का "हारादिवत" वाला दृष्टिकोण ही रखा है। यह दृष्टिकोण सामान्यतः रीतिकालीन सभी आचार्यों का है, पर अलंकार-निरूपण में उन्होंने चमत्कारवादी 'चन्द्रालोक' का अनुसरण किया है। रसवत आदि को गुणीभूतव्यंग न मानकर अलंकार मानना अलंकारवादी परम्परा का स्पष्ट अनुकरण है। अर्थात् वे इनको अलंकार न मानकर रस और भाव में ही मानना चाहते हैं।[4]

संस्कृत के आचार्यों ने जैसे अलंकारों के विभिन्न आधारों का निरूपण किया है, वैसा विवेचन रीतिकाल के आचार्य नहीं कर सके। देव ने अपने 'शब्द रसायन' में उपमा और स्वभाव को अन्य अलंकारों की अपेक्षा प्रधानता दी है। इनका प्रभाव शेष सभी अलंकारों पर माना है। इसका अगर और भी विशद विश्लेषण किया जाता तो देव के सम्बन्ध में यह अधिक निश्चय पूर्वक कहा जा सकता था कि उन्हें उपमा और स्वभाव अलंकार सामान्य के मूल आधार के रूप में मान्य हैं या नहीं। वामन की तरह भूषण ने भी उपमा को प्राधान्य दिया है। अलंकारों का एक विभाजन 'रस पीयूषनिधि' में अर्थालंकारों के विवेचन एवं उपमान और उपमेय के आश्रय पर ही हुआ है। एक दूसरा शब्द, अर्थ और उभय भी है। इसके अतिरिक्त अर्थालंकारों का भी

---

१. देव—'शब्द रसायन', पृष्ठ ११६।

२. केशव—'कवि प्रिया', ११वाँ प्रभाव।

३. पद्माकर—'पद्माभरण' पंचदश अलंकार प्रकरण

४. 'रसपीयूषनिधि' हस्तलिखित प्रति।

एक विभाजन हो सकता है, पर इसके सुस्पष्ट विभाजन की ओर रीतिकालीन आचार्यों का ध्यान विशेष आकृष्ट नहीं हुआ। केशव ने अलंकार के सामान्य और विशेष दो प्रधान भेद किये। पर इस भेद को अलंकारों का नहीं अपितु अलंकार और अलंकार्य का भेद कहना चाहिए। इसके अतिरिक्त बहुत से आचार्यों ने अलंकार-निरूपण में एक क्रम का ध्यान अवश्य रखा है। एक प्रकार के अलंकारों का निरूपण एक साथ करने में भी विभाजन की एक पद्धति का अनुसरण परोक्ष रूप में हो गया है। दास ने अपने 'काव्य-निर्णय' में इस विषय में एक विशेष व्यवस्था स्थापित कर देने का सफल प्रयास किया है। उन्होंने उपमा, उत्प्रेक्षा, और अन्योक्ति आदि क्रम से अलंकार-निरूपण किया है। प्रत्येक वर्ग में साधारणतः समानता रखने वाले अलंकारों का निरूपण हुआ है। दास की इस व्यवस्था के अतिरिक्त अन्य आचार्यों के निरूपण में किसी प्रकार का क्रम अथवा व्यवस्था नहीं है। दास ने अलंकारों को वाच्य और व्यंग दोनों कहा है।[1]

रीतिकाल में अलंकार-निरूपण-प्रधान विषय तो अवश्य रहा, पर इसमें भी आचार्यों का दृष्टिकोण केवल याद करने योग्य तथा व्यवहारोपयोगी लक्षण-मात्र दे देना है। यही कारण है कि इस काल के अत्यन्त प्रिय विषय का आचार्योपयोगी प्रौढ़ विवेचन नहीं हुआ। 'चन्द्रालोक' का अलंकार-निरूपण भी इसी दृष्टि से ही किया गया था। 'कुवलयानन्द' में कुछ साधारण सी अधिक स्पष्टता कर दी गई थी। 'भाषा भूषण', 'पद्माभरण' आदि सभी ग्रन्थ इसी कोटि के हैं। कई अलंकारों की तो परिभाषा तक नहीं दी गई है, केवल यही कह दिया गया है कि ये अपने नाम से ही स्पष्ट हैं। दास ने भी संशय, भ्रम आदि अलंकारों में इस प्रणाली को अपनाया है।[2] अन्य सभी अलंकारों का भी परिचय-मात्र है। केशव में प्रधानतः ३७ अलंकारों का उल्लेख है। प्रायः यही संख्या देव, दास, यशवंतसिंह आदि में रही है। लेकिन इनके भेदोपभेदों तथा सभी गौण अलंकारों को मिलाकर संख्या बहुत बढ़ जाती है। देव ने इन प्रधान अलंकारों का उल्लेख किया है। 'शब्द रसायन' में ४० प्रधान तथा ३० गौण अलंकारों का निर्देश है। इनके अनेक भेदों की सम्भा-

---

१. कहूँ बचन कहुँ व्यंग में परै अलंकृत आई। 'काव्य-निर्णय', पृष्ठ २३

२. सुमिरन भ्रम संदेह को लच्छन प्रगटै नाम। दास—'काव्य-निर्णय', पेज ४४
सुमिरन भ्रम संदेह ए लच्छन नाम प्रकास। यशवंतसिंह—'भाषा-भूषण' पेज ८

वना की भी स्वीकृति हुई है।[1] रीतिकाल में भेदोपभेदों की वृद्धि में आचार्यों ने बहुत रुचि का परिचय दिया है। कहीं-कहीं तो अलंकार अपना स्वाभाविक स्वरूप तक खो बैठा है। 'चन्द्रालोक' में लुप्तोपमा के केवल आठ भेद स्वीकृत हुए हैं, पर हिन्दी वालों ने इनकी संख्या बढ़ाकर १५ कर दी। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'पद्माकर पंचामृत' की भूमिका में इन भेदों की उपयुक्तता पर विचार किया है। यदि इन लुप्तोपमाओं का विश्लेषण किया जाय तो पता चलेगा कि कई लुप्तोपमाएँ ऐसी हैं जिनमें किसी प्रकार का चमत्कार रह नहीं सकता, अलंकार बने तो कैसे बने। जैसे 'उपमेयलुप्ता, उपमेयोपमानलुप्ता, धर्मोपमानोपमेयलुप्तोपमा, वाचकोपमेयोपमानलुप्ता, वाचकधर्मोपमेयलुप्ता।' इसी ग्रन्थ में आगे इस विभाजन में यह दोष भी बताया गया है कि उपमा-उपमेय वर्ण्य विषय होने के कारण लुप्त नहीं हो सकते। इस प्रकार की लुप्तोपमा की कल्पना करके आचार्यों ने अलंकारों की प्रकृति तक का भी ध्यान नहीं रखा है। कहीं-कहीं अन्धानुकरण की प्रवृत्ति इतनी बढ़ गई है कि आचार्यों ने हिन्दी-भाषा की प्रकृति की भी उपेक्षा की है। हिन्दी-आलंकारिकों ने कहीं-कहीं अलंकारों के लक्षणों और उदाहरणों में भी असावधानी की है। आचार्य केशव पर विचार करते समय इसका कुछ निर्देश किया जा चुका है। भूषण में भी यह दोष कहीं-कहीं मिलता है। "विकल्प" अलंकार का उदाहरण "निश्चय" का हो गया है, इसका निर्देश 'भूषण ग्रन्थावली' की भूमिका में किया गया है। भूषण में अलंकार-ज्ञान की प्रौढ़ता का अभाव तो था ही इसके अतिरिक्त उन्होंने सभी अलंकारों के उदाहरण शिवाजी के जीवन पर ही देने की चेष्टा की है। इससे भी उदाहरण कहीं अलंकारों के लक्षणों के अनुरूप नहीं हो पाए है।

रस, अलंकार आदि काव्यांगों के अतिरिक्त गुण, दोष, रीति, शब्द-शक्ति आदि तत्त्वों पर भी विचार हुआ है। इन अंगों का वर्णन रीतिकालीन

---

१. अलंकार मुख उनतालीस हैं देव कहैं येई पुराननि मुनि मतनि में पाइये।
आधुनिक कविन के संयत अनेक और, इन्हीं के भेद और विविधि बताइये॥
देव—'भाव-विलास', पेज १४१।

मुख्य जौन विधि भेद है अर्थालंकार
मुख्य कहो चालीस विधि, जौन सुतीस प्रकार।
मुख्य जौन के भेद मिलि, मिश्रित होत अनन्त॥
देव—'शब्द-रसायन', पृष्ठ ६४।

आचार्यों ने बहुत कम किया है। 'शब्द शक्ति' को तो दास, सोमनाथ, प्रताप-साहि-जैसे आचार्यों को छोड़कर किसी ने छुआ भी नहीं है। प्रतापसाहि, सोमनाथ और सरदार कवि ने शब्द-शक्ति का विशद वर्णन किया है। यह मम्मट के अनुवाद पर ही है। भेदों के लक्षण और उदाहरण दोनों हैं। दास ने शब्द की अभिधा, लक्षणा और व्यंजना तीन शक्तियों का उल्लेख किया है। देव ने इन तीन शब्द-शक्तियों के अतिरिक्त 'तात्पर्य शक्ति' को भी माना है। यह चतुर्थ शक्ति इन तीनों में अन्तर्हित है।[1] इन तीनों शब्द-शक्तियों के अवान्तर भेद भी किये गए हैं। इनमें 'काव्य प्रकाश' का अनुकरण-मात्र है। 'शब्द-शक्ति' को स्पष्ट करने के लिए साधारण लक्षण और उदाहरण दे दिये गए हैं। देव को प्रत्येक शब्द में इन तीनों शक्तियों की विद्यमानता स्वीकृत है।[2] प्राचीन आचार्यों को केवल अभिधा और व्यंजना की व्यापकता मान्य है। अभिधा-शक्ति तो सर्वथा रहती ही है। मम्मट ने व्यंजकता की व्यापकता का उल्लेख किया है "सर्वेषां प्रायशोऽर्थानाम् व्यंजकतापयीष्यते।" लक्ष्यार्थ की सर्वत्र विद्यमानता नहीं निरूपित हुई है। देव ने ऐसा अवश्य किया है। तीनों शक्तियों को एक ही शब्द में मानने के कारण देव को 'अभिधा में अभिधा'-जैसे भेदों का उल्लेख भी करना पड़ा है।[3] देव ने जिस "तात्पर्य शक्ति" का निर्देश किया है, वह उनकी मौलिकता नहीं है, संस्कृत के प्राचीन आचार्यों को भी यह मान्य हुई है।

दास ने गुण के दोनों-प्राचीन और अर्वाचीन मतों का उल्लेख किया है।[4] प्राचीन आचार्य दस गुण मानते थे। 'काव्य-निर्णय' में पहले इन्हींका निरूपण है। फिर इन सबका समावेश प्रसाद-माधुर्य और ओज में कर दिया गया है। दास ने प्राचीन दस गुणों का इन अर्वाचीन तीन गुणों में तर्कयुक्त विश्लेषण द्वारा समावेश नहीं दिखाया है, अपितु मम्मट का मत उद्धृत कर

---

१. दास—'काव्य-निर्णय', पृष्ठ ७ : २२।

२. निज निज कारन शब्द इक तीन अर्थ तिहुं भाँति।
देव प्रकासत चित्त गति अपनी-अपनी भाँति॥
॥ देव—'शब्द रसायन', पृष्ठ ३॥

३. देव—'शब्द-रसायन', द्वितीय प्रकाश, पृष्ठ १३ : १९॥

४. दस विधि के गुन कहत हैं, पहले सुकवि सुजान।
पुनि तीनै गुन गनि रच्यौ, सब तिनके दरम्यान॥
॥ दास—'काव्य-निर्णय', पृष्ठ १९१॥

किया है।[1] प्राचीन मत के दस गुणों की परिभाषा में वर्णों का विचार किया गया है। वर्णों की मधुरता और कठोरता के भेद पर ये गुण आश्रित हैं।[2] कुछ गुणों की व्यवस्था में अर्थ के गाम्भीर्य, अर्थ की स्पष्टता तथा समास की विरलता अथवा बाहुल्य पर भी विचार किया गया है।[3] कौन से गुण किस रस के धर्म हैं, यह विवेचन भी हो गया है। पर सर्वत्र ही एक व्यवस्था का अभाव है। किसी गुण की परिभाषा केवल रस की दृष्टि से ही दी गई है, किसी की वर्ण और समासों की जटिलता अथवा सरलता के आधार पर, किसी-किसी गुण की पहचान में केवल अर्थ की अभिव्यक्ति पर भी विचार किया गया है। एक क्रम का निर्वाह नहीं है। 'काव्य-प्रकाश' में गुणों को चित्त की अवस्था कहा है। तीन गुणों में प्राचीन सभी गुणों का अन्तर्भाव है। दास ने मम्मट का अनुकरण किया है, पर वे न तो गुणों की परिभाषा में चित्तवृत्तियों का निर्देश कर सके हैं और न दस गुणों का तीन में तर्कपूर्ण अन्तर्भाव ही। दास ने श्लेष, समता और कान्ति का समावेश प्रसाद में किया है तथा उसको शृङ्गार, हास्य और करुण के उपयुक्त कहा है। श्लेष, समाधि और उदारता का अन्तर्भाव ओज में हो जाता है। यह सब मम्मट का ही अनुकरण है।[4]

---

१. माधुर्योज प्रसाद के सब गुन हैं आधीन।
ताते इनहीं को गन्यो, मम्मट सुकवि प्रवीन॥
॥ दास—'काव्य-निर्णय', पृष्ठ १९९ ॥

२. अनुस्वारजुत वर्णजुत, सबै वर्ग अटवर्ग।
अच्छर जामैं मृदु परै, सो माधुर्ज निसर्ग॥
॥ दास—'काव्य-निर्णय', १९२ ॥

३. जानु अर्थ अति ही प्रगट नहिं समास अधिकाऊँ।
अर्थ व्यक्त गुन नाम ज्यों बोलै बालक सुभाऊँ॥ काव्य-निर्णय, १४४॥
बहु शब्दन को एक कै कीजै जहाँ समास।
ता अधिकाई श्लेष गुन गुन मध्यम लघुदास॥ काव्य-निर्णय, १९५॥

४. श्लेषो मध्य समास को समता कान्ति विचार।
तीन्हि गुन माधुर्य जुत करुना दास सिंगार॥ काव्य-निर्णय, पृष्ठ १४९॥
आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणं॥
॥ काव्य-प्रकाश, बालबोधनी, पृष्ठ ४७४॥
श्लेष समाधि उदारता सिथिल ओज गुन रीति।
रुद्र भयानक वीर अरु रस बिभत्स सों प्रीति॥ काव्य-निर्णय, पृष्ठ १९७॥

दास की परिभाषाओं और विवेचन से यह स्पष्ट है कि वे मम्मट की तरह प्रौढ़ता का निर्वाह नहीं कर सके हैं। प्रतापसाहि ने गुणों में चित्त की अवस्थाओं का तथा समासादि अन्य तत्त्वों का निर्देश किया है। उन्होंने इन गुणों का रसों से सम्बन्ध भी बतलाया है।[1] दास ने उपनागरिका, कोमला और परुषा वृत्तियों का भी उल्लेख किया है।[2] देव ने कैशिकी, आरभटी, भारती और सात्वती वृत्तियों का भी उल्लेख किया है और इनका रसों से सम्बन्ध भी बतलाया है। इनकी विशद व्याख्या नहीं है, केवल नाम गिना दिये गए हैं। प्रत्येक वृत्ति का तीन-तीन रसों से सम्बन्ध है।[3] देव ने गुण और रीति में कोई अन्तर नहीं माना है। वे वैदर्भी, गौड़ी के स्थान पर प्रसाद आदि का रीति के नाम से उल्लेख करते हैं। 'शब्द-रसायन' में रीति को काव्य की अभिव्यंजना का माध्यम कहा गया है। पंडितराज की तरह शब्द और अर्थ दोनों में गुणों की स्थिति मान ली गई है। यमक और अनुप्रास की भी गुणों में गणना है। प्रत्येक गुण के नागर और ग्राम्य नाम से दो भेद किये गए हैं। नागर में सुरुचि तथा ग्राम्य में रस की प्रधानता होती है। सुरुचि द्वारा काव्य-कलाविदों की रुचि की ओर संकेत किया गया है। जिस काव्य-रीति और शास्त्रीय पद्धति के अनुकरण पर 'वचन-वक्रता' तथा अलंकारों का नियोजन किया जाता है, जिसके अनुशीलन के लिए शास्त्रीय ज्ञान की आवश्यकता होती है ऐसे काव्य में नागर गुणों की स्थिति मानी गई है। इसके विपरीत स्वाभाविक और साधारण शब्दों से ही जहाँ उत्कृष्ट भाव-व्यंजना रस की स्थिति तक पहुँच

यः श्लेपः यश्चारोहावरोहक्रमरूपः समाधिः या च विकटत्व लक्षणा उदारता यश्चौजोमिश्रित शैथिल्यात्मा प्रसादः तेपामोजस्यंतर्भावः।

|| काव्य-प्रकाश, बालबोधिनी, पष्ठ ४७६ ||

१. प्रथम गनत माधुर्ज गुण, ओज प्रसाद बखानि।
आश्लेपादिक दश गुनै इनके अन्तर जानि॥
द्रवत चित्त जाके सुनत आनन्द बढ़त अथाह।
रस सिंगार माधुर्ज गुन करुणा सान्त रस माह॥
उतवर्गा न नहिं रेफ युत ठवर्गादि नहिं वर्ण।
लघु समास पद वर्ण जँह गुण माधुर्ज सुकर्ण॥

|| प्रतापसाहि—'काव्य-विलास', पष्ठ ७२ ||

२. दास—'काव्य-निर्णय', पृष्ठ १९९ : २०० ।

३. देव—'शब्द-रसायन', पष्ठ ५५ : ५७ ।

जाती है और इनमें वह बारीकी नहीं होती जिसके लिए शास्त्रीय ज्ञान अपेक्षित है, ऐसा काव्य ग्राम्य गुणों से विभूषित माना गया है। देव के इस विवेचन पर कुन्तक के विचित्र और सुकुमार मार्ग का प्रभाव प्रतीत होता है। देव ने गुणों के विवेचन में दंडी का ही अनुकरण किया प्रतीत होता है, कहीं-कहीं क्रम-परिवर्तन अवश्य है। समाधि गुण की परिभाषा तो 'काव्यादर्श' से अनूदित ही है। अन्य सभी गुणों के विवेचन पर भी दंडी का ही प्रभाव है। श्लेष में दंडी और देव दोनों ने ही शिथिल अक्षरत्व और शिष्टता का उल्लेख किया है। इस प्रकार रीतिवाद का विवेचन संस्कृत-अलंकार-शास्त्र की अनुवर्ती बन गया है।

रीतिकाल में काव्य-भेद पर आचार्यों ने बहुत कम लिखा है। दास ने अपने 'काव्य-निर्णय' में व्यंजना के आधार पर प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य तीन भेदों का उल्लेख किया है। ध्वनि-काव्य को उत्तम, गुणीभूत व्यंग को मध्यम तथा चित्र-काव्य को अवर कहा है। इसी प्रसंग में दास ने अलंकार-ध्वनि तथा वस्तु-ध्वनि का भी विवेचन कर दिया है। इनके अवान्तर भेदों का भी वस्तु-ध्वनि अलंकार से वस्तु-ध्वनि आदि का उल्लेख कर दिया गया है।[1] गुणीभूत-व्यंग के भी आठ भेदों पर विचार हुआ है। चित्र-काव्य के भेदों-अर्थ-चित्र और वाक्य-चित्र अर्थात् शब्द-चित्र का भी निर्देश है।[2] दास ने काव्यांगों के निरूपण में 'काव्य प्रकाश' को ही आधार रखा है। बहुत से स्थानों पर तो उसका अविकल अनुवाद ही है। अपने 'काव्य-निर्णय' के प्रारम्भ में दास ने भी मम्मट तथा अन्य आचार्यों को अपने ग्रन्थ-निर्माण का आधार होना स्वीकार किया है। गुणीभूत व्यंग के आठ भेद तो ठीक 'काव्य-प्रकाश' के ही हैं।[3] 'प्रकाश' शब्द द्वारा स्वयं दास भी इसका संकेत कर देते हैं। रसवद आदि को प्राचीन दंडी आदि आचार्यों ने अलंकारों में ही रखा था, पर मम्मटाचार्य ने गुणीभूत व्यंग के भेद अपरांग में इनका विवेचन किया

---

१. दास—'काव्य-निर्णय' पृष्ठ ४९ : ६६।

२. वचनारथ रचना जहाँ व्यंग न नेकु लखाई।
सरल जानि तिहि काव्य सो अवर कहैं कविराइ॥ काव्य-निर्णय, ६८।
देखिये—वाच्य चित्र और अर्थ चित्र के उदाहरण, पृष्ठ ६६।

३. गन अगूढ़ अपरांग, तुल्य प्रधानो अस्फुटहिं।
काकु वाच्य सिद्धांग, संदिग्धौ असुन्दरी॥
आठौं भेद प्रकास, गुणीभूतव्यंगहिं गने। काव्य-निर्णय, पृष्ठ ६४।

है। दास ने भी मम्मट का अनुकरण किया है। दास ने ध्वनि के विवक्षित और अविवक्षित भेद भी 'काव्य-प्रकाश' से ही लिये हैं। 'कवि-कुल-कल्पतरु', 'मानस-रहस्य', 'काव्य विलास' और 'रसपीयूषनिधि' में भी ध्वनि के आधार पर काव्य-भेदों का निरूपण है। इनमें ध्वनि के अनेक भेदों का भी निरूपण है। इन्होंने भी मम्मट और ध्वनिकार के विवेचन को ही आधारभूत माना है। वस्तु से वस्तु-ध्वनि, अलंकार से वस्तु-ध्वनि आदि का उल्लेख है। गुणीभूत-व्यंग को मध्यम काव्य कहा गया है। उसके अपरांग आदि आठ भेदों का भी निरूपण है। ये भी दास की परम्परा के ही ग्रन्थ हैं। काव्य भेद में ध्वनिकार और मम्मट दोनों मतों के मिले-जुले रूप का ग्रहण होने लगा था। यही परम्परा रीतिकाल में अपनाई गई।

रीतिकाल के आचार्यों ने काव्य के श्रव्य-भेद पर ही लिखा है। दृश्य-काव्य का जितना विशद विवेचन प्राचीन आचार्यों ने किया था, उसका उपयोग इसके काल में नहीं किया गया। इसका एक कारण स्पष्ट है कि रीतिकाल के आचार्यों ने काव्य-सिद्धान्तों का निरूपण केवल काव्यानुशीलन तथा काव्य-सृजन को अधिक सरल कर देने के लिए ही किया था। संस्कृति के आचार्यों की तरह गूढ़ चिन्तन द्वारा किसी विशेष सत्य के अनुसन्धान की आकांक्षा से नहीं। यही कारण है कि साधारण ज्ञान के उपयुक्त सामग्री ही उपलब्ध की है। रीतिकाल का आचार्य मौलिक उद्भावनाओं में अधिक सफल नहीं हो सका। उस समय तक हिन्दी-गद्य का विकास नहीं हो पाया था। उसमें गद्य-रचना का प्रायः अभाव ही था। कवियों और भक्तों के परिचय कुछ गद्य में अवश्य थे, पर उनका साहित्यिक महत्त्व बहुत कम रहा। उनको काव्य की मान्य विधाओं में से किसी एक में रखना संभव नहीं था। इस दृष्टि से विचार भी नहीं हुआ। उस काल के आचार्यों को इस प्रकार उन पर विचार करने की आवश्यकता ही नहीं हुई। नाटक का विकास तो हिन्दी में बहुत बाद का है। इन सब कारणों से रीतिकाल के आचार्यों ने दृश्य काव्य पर कुछ नहीं लिखा। काव्य के उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त आख्यायिका, प्रबन्ध काव्य, खण्ड काव्य आदि भेदों पर इस काल के आचार्यों ने नहीं लिखा।

संस्कृत-साहित्य में काव्य के सभी प्रधान तत्त्वों के नाम पर एक-एक सम्प्रदाय का जन्म हो गया था। सैद्धान्तिक समीक्षा तथा सम्प्रदाय के विकास में आनन्दवर्द्धन का 'ध्वन्यालोक' विभाजन की एक रेखा का कार्य करता है। इसलिए अलंकार और रीति-सम्प्रदाय ध्वनि के पूर्व के हैं। वक्रोक्ति-सम्प्रदाय ऐतिहासिक दृष्टि से आनन्दवर्द्धन के समकालीन होते हुए भी ध्वनि के पूर्व

का माना जायगा। पर रस और औचित्य के सम्प्रदायों को ध्वनि के उत्तर काल का माना जाना अधिक समीचीन होगा। औचित्य का सिद्धान्त तो स्पष्टतः ही उत्तरकालीन है। इसकी विद्यमानता बीज रूप में पहले से थी अवश्य, पर इसका स्पष्ट और निश्चित स्वरूप अभिनव गुप्त तथा विशेषतः राजशेखर द्वारा ही दिया गया है। रस-सम्प्रदाय ध्वनि के पूर्व का अवश्य है, पर इसका स्वरूप पूर्णता को बाद में ही प्राप्त हुआ है। ध्वनि के पूर्व तथा उत्तरकाल के रस-सम्प्रदाय में पर्याप्त अन्तर होने के कारण वास्तविक रस-सम्प्रदाय, जो विश्वनाथ आदि आचार्यों का है, ध्वनि का उत्तरकालीन माना जाना चाहिए। इस सम्प्रदाय पर ध्वनि का पर्याप्त प्रभाव भी पड़ा है। वस्तुतः बिना ध्वनि-निरूपण के इसका विवेचन ही अधूरा समझा जायगा। वस्तुस्थिति तो यह है कि संस्कृत-समीक्षा के इतिहास में ध्वनि के पदार्पण ने क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिए थे। इसके कारण सभी काव्यांगों के स्वरूप और परिभाषा भी निश्चित हो गई थी। काव्य के सभी तत्त्वों ने काव्य में अपना स्थान निश्चित कर लिया था। इसलिए रीति, वक्रोक्ति और अलंकार-सम्प्रदाय ध्वनि के बाद अधिक दिन जीवित नहीं रह सके। उनको ध्वनि-विवेचन ने प्रायः पूर्णतः आत्मसात् कर लिया। अलंकार-सम्प्रदाय में प्राण-शक्ति अपेक्षाकृत अधिक थी इसलिए वह बहुत दिनों तक जीवित रह सका। संस्कृत-समीक्षा-शास्त्र के संध्याकाल में जयदेव-जैसे आचार्यों ने उसकी प्रधानता की घोषणा कर दी थी। मम्मट-जैसे आचार्यों को भी अलंकारों की प्रधानता रस और ध्वनि को छोड़कर अन्य तत्त्वों की अपेक्षा अधिक माननी पड़ी। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं था कि ध्वनिकार के ही प्रयास के फलस्वरूप काव्यांगों में एक सामंजस्य स्थापित करने की प्रवृत्ति जाग्रत ही नहीं हो गई थी पर यह आनन्दवर्द्धन के समय में ही बहुत-कुछ प्रबल भी हो चुकी थी। अभिनव गुप्त ने इस ओर बहुत ही स्पष्ट और सफल प्रयास किया है। मम्मट तो इस समन्वयवादी दृष्टिकोण के प्रधान आचार्य हैं। उनके परवर्ती प्रायः सभी आचार्यों में इसी-का प्राधान्य पाया जाता है। काव्य के सभी सम्प्रदाय इस धारा में विलीन होकर अपने पृथक् व्यक्तित्व को खो चुके थे। संस्कृत-साहित्य के विकास का यही रूप, जो 'रस गंगाधर' में अपनी प्रौढ़ता की चरम सीमा तक पहुँच चुका था, रीतिकालीन आचार्यों को प्राचीन परम्परा से प्राप्त थाती के रूप में मिला था। संस्कृत के सम्प्रदायों के इस विवेचन का तात्पर्य केवल यह दिखाना है कि जिस परम्परा में हिन्दी-रीति-ग्रन्थों का प्रणयन प्रारम्भ हुआ था, वह सामंजस्यवादी ही था; इसलिए अन्य सम्प्रदायों के बनने के उपयुक्त परिस्थितियाँ नहीं थीं।

काव्य के सभी अंगों का निरूपण करने वाले प्रायः सभी आचार्यों ने मम्मट का ही अनुकरण किया है। इससे यह स्पष्ट है कि यही रस-ध्वनिवादी दृष्टि-कोण ही रीतिकालीन आचार्यों में भी प्रधान रहा। अलंकार-निरूपण में 'चन्द्रालोक' की शैली का अनुकरण तो अवश्य हुआ, पर अलंकारों का काव्य में जो स्थान उसने माना, उसके प्राधान्य की जो घोषणा की उसके स्वर-में-स्वर रीतिकालीन आचार्य नहीं मिला सके। इस शैली में अलंकारों का निरूपण करने वाले आचार्यों ने अलंकार-सामान्य का विवेचन नहीं किया है। इसलिए सम्प्रदाय की दृष्टि से उनके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अलंकार-सम्प्रदाय की परम्परा अक्षुण्ण बनाये रखने वाले प्रधान व्यक्ति केशव ही थे।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि रीतिकाल को जो परम्परा संस्कृत से प्राप्त हुई थी, उसमें रीति और वक्रोक्ति-सम्प्रदाय अपने अस्तित्व को प्रायः पूर्णतः विलीन कर चुके थे। इसलिए इन सम्प्रदायों के दर्शन रीतिकाल में न होना कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं है। गद्य के अभाव तथा प्रौढ़ और तर्कपूर्ण विवेचन के अभाव में नवीन सम्प्रदायों का बनना प्रायः असंभव ही था, परम्परा-प्राप्त सम्प्रदायों का भी प्रौढ़ रूप नहीं मिलता है। किसी भी आचार्य को किसी एक विशेष सम्प्रदाय का विशुद्ध अनुगामी नहीं कह सकते। दास, श्रीपति, कुलपति, सोमनाथ आदि आचार्यों ने मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' का अनुकरण किया है। उन्होंने प्रायः सभी विषयों का उसीके अनुरूप निरू-पण किया है। इसलिए इन सभी को रस-ध्वनिवादी कहा जा सकता है। देव में ध्वनि को इतना प्राधान्य नहीं दिया गया है इसलिए उनका विशुद्ध रसवादी दृष्टिकोण भी माना जा सकता है। पर इनके काव्यांग-निरूपण में भी सम्प्रदाय की दृष्टि से अन्विति नहीं कही जा सकती। देव ने गुण-विवेचन में ध्वनि-काल के पूर्ववर्ती दंडी का आदर्श ग्रहण किया है। केशव भी रस की प्रधानता को अस्वीकृत नहीं कर सके हैं। रस और चमत्कार दोनों की समान रूप से प्रधानता होने के कारण रीतिकालीन आचार्य विशुद्ध रूप से न रसवादी ही रह सके और न अलंकारवादी। वास्तव में रीतिकाल का निरूपण विषय के साधारण ज्ञान की दृष्टि से ही किया गया है। उसमें आचार्यों के उपयुक्त प्रौढ़ता और गम्भीरता का अभाव है। इसलिए उनका विवेचन इस कोटि तक पहुँचता ही नहीं कि उनको किसी एक सम्प्रदाय का व्यक्ति कहा जा सके। आज जैसे विद्वान् परीक्षोपयोगी पुस्तक में रस-अलंकार आदि तत्त्वों का गम्भीर विवेचन करता हुआ भी किसी सम्प्रदाय विशेष का नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार रीतिकाल के आचार्य में कहीं-कहीं मौलिक विवेचन की प्रौढ़ता

होने पर भी निरूपण में सामान्यतया गम्भीरता का अभाव है। इसलिए उनमें भी सम्प्रदायों का वह प्रौढ़ रूप, जो संस्कृत-साहित्य में मिलता है, देखना समीचीन नहीं। कौन-सा आचार्य किस सम्प्रदाय का है, इसका पता तो उसके काव्य की परिभाषा, उसके सामान्य स्वरूप, उसकी आत्मा, उसके विभिन्न तत्त्वों में सापेक्षिक प्रधानता की दृष्टि से क्रम-निरूपण आदि काव्य के मूलभूत पक्षों पर किये गए विवेचन से लगता है। रीतिकाल में काव्य-स्वरूप के इस पक्ष पर आचार्य प्रायः मौन ही रहे हैं। उनका उद्देश्य किसी सम्प्रदाय-विशेष का प्रतिनिधित्व न करके काव्य-रीति और काव्यांगों के साधारण विश्लेषण से था। इस प्रकार यद्यपि संस्कृत-साहित्य के प्रौढ़ मानदंड के आधार पर रीतिकालीन विवेचन सम्प्रदायों में नहीं बाँटा जा सकता, फिर भी निरूपण-शैली तथा दृष्टिकोण का पारस्परिक अन्तर कई आचार्यों में एकदम स्पष्ट है। इस दृष्टि से रीतिकालीन आचार्य तीन सम्प्रदायों में बाँटे जा सकते हैं और उनका क्रमशः प्रतिनिधित्व करने वाले हैं केशव, दास और देव। अगर चाहें तो इनको हम क्रमशः अलंकार, रस, ध्वनि और रस-सम्प्रदाय के नाम से पुकार सकते हैं। इन सम्प्रदायों को उपर्युक्त आचार्यों के नाम से ही अभिहित करना अधिक तर्क-सम्मत है, क्योंकि जैसा हम ऊपर कह चुके हैं कि इनमें संस्कृत-साहित्य का-सा विशुद्ध और प्रौढ़ दृष्टिकोण उपलब्ध नहीं है। उस प्रतिमान (Standard) से तो ये सम्प्रदाय की कोटि में आते ही नहीं। फिर भी विवेचन की अन्विति के लिए अलंकार, रस, ध्वनि और रस-सम्प्रदाय का प्रयोग किया जायगा।

अलंकार-सम्प्रदाय—आचार्य केशवदास इस सम्प्रदाय के प्रमुख प्रतिनिधि हैं। उन्होंने अपनी 'कविप्रिया' में अलंकारों का ही विशद वर्णन किया है। केशव इस ग्रन्थ में पूर्वध्वनि-काल की परम्परा का अनुकरण कर रहे हैं। यही कारण है कि वे अलंकार और अलंकार्य का भेद नहीं रख सके हैं। काव्य के वर्ण्य विषयों को भी उन्होंने अलंकारों में रख लिया है। 'कविप्रिया' में पांचवें प्रभाव से लेकर आठवें प्रभाव तक सामान्यालंकार का निरूपण है। इसमें ऋतु-वर्णन, वस्तु-वर्णन, स्थान-वर्णन, मानसिक अवस्थाओं का वर्णन आदि सभी वस्तुएँ अलंकारों के अन्तर्गत मान ली गई हैं। "रसवत अलंकार" को केशव ने किसी एक रस का अन्य रस अथवा भाव का अंग होना नहीं माना, अपितु रस-वर्णन को ही रसवत अलंकार कहा है।[1] केशव

---

१. रसमय होय सुजानिये, रसवत केशवदास।
नवरस को संक्षेप ही, समुझौ करत प्रकाश॥ प्रिय प्रकाश, पृष्ठ, २७३॥

ने उदाहरण भी ठीक इसी दृष्टिकोण के अनुरूप दिये हैं। अलंकार तथा अलंकार्य में भेद न करना और रसवत आदि अलंकारों की यह व्याख्या दोनों ही विशुद्ध अलंकारवादी दृष्टिकोण है। केशव ने इसमें दण्डी का अनुकरण किया है। दण्डी ने भी अपने 'काव्यादर्श' में रसवत अलंकार की परिभाषा करते हुए उसे "रस पेशलम्" कहा है। इस प्रकार वे काव्य-शरीर के सौन्दर्य का कारण जब रस होता है, तब उसे रसवत अलंकार कहते हैं।[1] केशव ने अलंकारों का प्राधान्य काव्य के अन्य सभी तत्त्वों की अपेक्षा अधिक निरूपित कर दिया है। उन्होंने अपने "जदपि" वाले प्रसिद्ध छन्द में कविता को सुजाति, सरस, सुवृत वाली होते हुए अलंकार से अधिक सुन्दर हो जाने की बात कही है।[2] यहाँ पर इन शब्दों द्वारा केशव ध्वनि और रस को भी काव्य-तत्त्व स्वीकृत कर रहे हैं। इनकी अपेक्षा अलंकारों को अधिक महत्त्व दे देना ही उनका अलंकारवादी होने का सफल प्रमाण है। आलोचकों का कथन है कि केशव संस्कृत के बड़े उच्च पंडित थे। उन्हें काव्य के सभी तत्त्वों के सम्बन्ध में पर्याप्त ज्ञान था। यह मानना तो उचित नहीं कि उन्हें संस्कृत के उत्तर-ध्वनिकालीन विकास का ज्ञान न हो। ध्वनि, रस आदि सभी सिद्धान्तों का पूर्णतया ज्ञान होने पर भी उन्होंने दण्डी के 'काव्यादर्श' को ही आधार माना है जो पूर्व-ध्वनिकालीन विकास की रचना है। इससे स्पष्ट है कि वे वस्तुतः अलंकारवादी ही हैं। अगर ऐसा न होता तो केशव-जैसे विद्वान् के लिए मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' अथवा आनन्दवर्द्धन के 'ध्वन्यालोक' को ही आधार मानकर ग्रन्थ-प्रणयन करना अधिक उपयुक्त था। इन्हीं तर्कों के आधार पर आज का आलोचक उन्हें विशुद्ध अलंकारवादी कहता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि केशव को काव्य के क्षेत्र में आलंकारिक चमत्कार ही अधिक प्रिय है। इस तथ्य की पुष्टि उनके रीति-ग्रन्थ ही नहीं अपितु उनके काव्य-ग्रन्थ भी कर रहे हैं। 'रामचन्द्रिका' में उनकी प्रतिभा का प्रदर्शन बौद्धिक और आलंकारिक चमत्कारपूर्ण स्थलों में अधिक हुआ है। उनकी अलंकार-योजना की प्रवृत्ति तो अत्यधिक बढ़ी हुई है। कई स्थलों पर तो अलंकार-नियोजन में सुरुचि, पात्र तथा अवस्था की उपयुक्तता का भी ध्यान उन्हें नहीं रह पाता है।

---

१. प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवद्रसपेशलम्।
ऊर्जस्वि रूढ़ालंकारमुक्तोत्कर्षं च तत् त्रयम्॥ काव्यादर्श, २।२७५॥

२. जदपि सुजाति सुलच्छणी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न बिराजई, कविता, बनिता, मित्त॥ प्रिय प्रकाश, पृष्ठ ५६॥

'रामचन्द्रिका' के अधिकांश स्थलों का काव्यगत सौन्दर्य केवल इसी चमत्कार की प्रवृत्ति पर निर्भर है। इतना सब होते हुए भी हम केशव में विशुद्ध अलंकारवादी दृष्टिकोण के स्पष्ट दर्शन नहीं कर पाते हैं। उन्होंने 'रसिक-प्रिया' में रस का निरूपण किया है। उसमें कहीं भी यह स्पष्ट नहीं होता कि वे रस को अलंकार का ही एक अंग मानते हैं। रस को गौण और अलंकार को प्रधान मानने की प्रवृत्ति उस रीति-ग्रन्थ से तो कहीं सिद्ध भी नहीं हो पाती है। इसका कहीं निर्देश तक भी नहीं है। इसी ग्रन्थ में केशव ने आरम्भ ही से इन वृत्तियों का भी विवेचन किया है। देव ने अपना वृत्ति-निरूपण केशव से ही लिया है। केशव ने जैसे उनका रसों से सम्बन्ध स्थापित कर दिया है, उसीको देव ने ग्रहण कर लिया है। केशव ने 'कविप्रिया' में तो गुण रीति और वृत्ति का निरूपण किया ही नहीं। 'रसिकप्रिया' में भी उन्होंने अलंकार के अन्तर्गत समाविष्ट करने की कोई चेष्टा नहीं की। केशव के समय तक तो अलंकारवादी दृष्टिकोणों का पर्याप्त विरोध हो चुका था। किसी भी अलंकार-सम्प्रदाय के स्थपित को पूर्व पक्ष के रूप में उन तर्कों को रखकर अपने विषय का ठोस प्रतिपादन करना चाहिए था। ऐसा केशव ने ही नहीं रीतिकाल के किसी आलंकारिक ने नहीं किया है। जयदेव ने अलंकारों की काव्य में प्रधानता भी निरूपित करते हुए काव्य से उनका वही सम्बन्ध स्थापित किया है जो अग्नि का उष्णता से है। जिस प्रकार उष्णता और अग्नि का अभिन्न सम्बन्ध सर्व-मान्य है, उसी प्रकार का काव्य और अलंकार का सम्बन्ध जयदेव को मान्य था। जयदेव ने चाहे अपने दृष्टिकोण को तर्कों द्वारा पुष्ट न किया हो, पर कम-से-कम इतनी लम्बी रस और ध्वनिवादी परम्परा को चुनौती तो थी। उन्होंने अपना दृष्टिकोण पूर्णतः स्पष्ट कर दिया। केशव ऐसा भी न कर सके। उन्होंने कविता-कामिनी वाले रूपक में अलंकारों को आभूषणों का ही स्थान दिया। वे कामिनी के नैसर्गिक सौन्दर्य के साथ उसकी समता नहीं कर सके। स्वाभाविक लावण्यमयी सुन्दरी की कमनीयता आभूषणों से बढ़ अवश्य जाती है, पर उनका अभाव उसके कामिनीत्व की अस्वीकृति नहीं है। केशव इस रूपक को लेकर आगे नहीं बढ़े अन्यथा तो उनके प्रतिपादन की असारता और भी स्पष्ट हो जाती। अगर कविता और कामिनी में सुजाति, सरस और सुवृत्त का गुण नहीं है तब भी क्या केवल आभूषण उसमें रमणीयता उत्पन्न कर सकते हैं। क्या शव को आभूषणों से ढक देने अथवा कुरूपा को भी आभूषणों से लादने पर उनमें मंगल और लावण्य की सृष्टि हो सकती

है। केशव को यह मान्य नहीं है। कविता का सुजाति और सरस होना उन्हें अनिवार्यत: ही मान्य प्रतीत होता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि उनका तात्पर्य काव्य के अन्य सभी तत्त्वों की अपेक्षा अलंकार की प्रधानता प्रतिपादित करना अथवा काव्य के सभी मान्य तत्त्वों का अलंकार में ही समावेश करने में नहीं प्रतीत होता है। इन्होंने 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' का प्रणयन किसी विशेष सम्प्रदाय का समर्थन करने के लिए नहीं किया है। अपनी शिष्या प्रवीणराय को काव्य-रीति और काव्य-तत्त्वों की शिक्षा भर देने के लिए कर दिया है। उनका प्रधान उद्देश्य तो कवि-रीति का निरूपण है। यही कारण है कि वे तात्विक विश्लेषण में नहीं पड़े, अपितु उन्होंने बाग, ऋतु, मानसिक अवस्था आदि के उदाहरण ही अधिक दिये हैं। रीतिकाल के सभी आचार्यों ने विषय के सामान्य ज्ञान के लिए व्यवहारोपयोगी पुस्तकों का प्रणयन किया है, इसलिए उनको किसी भी सम्प्रदाय के विशुद्ध अनुयायी नहीं कह सकते हैं। रीतिकालीन अलंकार-सम्प्रदाय के अन्य अनुयायियों के सम्बन्ध में तो यह और भी अधिक सत्य है। यशवंतसिंह ने अपने 'भाषा भूषण' में अलंकार सामान्य पर कुछ लिखा ही नहीं है। रस, नायिका-भेद आदि का भी प्रारम्भ में ही थोड़ा-सा निरूपण कर दिया है।[1] उनका अलंकार से कोई सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा उन्होंने नहीं की। रसवत आदि अलंकारों का तो कहीं उल्लेख भी नहीं है। "रसवत" की जो व्याख्या दंडी और केशव में हुई है, वह तो अलंकार-सम्प्रदाय की प्रमुख विशेषता है, पर 'भाषा भूषण' में तो यह भी नहीं है। पद्माकर ने "रसवत" आदि अलंकारों की परिभाषा ही दूसरी की है। यह परिभाषा रस-ध्वनिवादी मम्मट के गुणीभूतव्यंग के रसवत से मिलती है, अलंकारवादी दंडी से नहीं। एक रस जब अन्य रस का अंग होकर आता है, तभी रसवत अलंकार होता है। यह परिभाषा आज भी इसी रूप में मान्य है। यह उत्तर-ध्वनिकाल की वस्तु है। दंडी ने तो रसमय स्थल को ही रसवत का उदाहरण मान लिया है। 'साहित्य-दर्पण' को भी रसवत की प्रथम परिभाषा ही मान्य है। कहने का तात्पर्य यह है कि रीतिकाल के यशवंतसिंह, पद्माकर, भूषण, मतिराम आदि प्रधान आलंकारिक भी, जो प्रमुखतः 'अलंकार-सम्प्रदाय' के माने जाते हैं, विशुद्ध रूप में उस सम्प्रदाय के अथवा किसी भी सम्प्रदाय के अनुयायी नहीं हैं। 'चन्द्रालोक' से अलंकारों की परिभाषा ही

---

१. कविता, वनिता रसभरी सुन्दर सोई सुजान ।
बिन भूषन नहिं भूषहीं, यहै जगत् की बान ॥ उत्तमचन्द ॥

ग्रहण की। इसमें अलंकार का सामान्य विवेचन तथा काव्य में उसके स्थान वाला दृष्टिकोण ग्रहण नहीं कर सके। उनका अभिप्राय भी सम्प्रदाय का समर्थन नहीं अपितु साधारण ज्ञान के उपयुक्त पुस्तकें देना था। केशव की तरह उत्तमचन्द ने भी अपने अलंकार-ग्रन्थ में अलंकारों की प्रधानता घोषित की है। यह भी केशव के उपर्युक्त छन्द का छायानुवाद ही है। इसमें भी उन्होंने कामिनी और कविता का ही रूपक लिया है और अलंकारों की आभूषणों से ही तुलना की है। इसमें वे भी "रस" का उल्लेख करना नहीं भूले हैं। कोई मौलिक दृष्टिकोण नहीं है। केशव के भाव की ही कुछ भिन्न शब्दों में पुनरावृत्ति-मात्र है।[1] अलंकार और आभूषण का प्रायः यही रूपक देव में भी मिलता है। केशव की तरह उन्होंने "जदपि" के प्रयोग द्वारा अन्य तत्त्वों की गौणता प्रतिपादित नहीं की है।

रस-सम्प्रदाय—संस्कृत-साहित्य में अत्यन्त प्राचीन काल से ही रस का प्राधान्य हो गया था। अलंकारवादी आचार्य भी रस का उल्लेख करना नहीं भूले हैं। मम्मट और विश्वनाथ के समय में उसका प्राधान्य सर्वमान्य हो गया था। इसी प्रभाव के फलस्वरूप रीतिकाल में भी इस तत्त्व को कोई अस्वीकृत नहीं कर सका। सभी आचार्यों ने इसकी पृथक् सत्ता ही नहीं स्वीकार की है अपितु सभी तत्त्वों में इसकी प्रमुखता भी प्रतिपादित की है। इस काल के सभी कवियों तथा अधिकांश आचार्यों का झुकाव रस की ओर है। देव, मतिराम, बेनीप्रवीन, रसलीन आदि आचार्य कवियों को भी रस-सम्प्रदाय के समर्थक कह सकते हैं। इन सबमें देव ही प्रमुख हैं। उन्होंने काव्य-तत्त्वों का सर्वांगीण विवेचन किया है। अन्य सभी या तो कवि हैं अथवा उन्होंने कुछ थोड़ा-सा रस-निरूपण कर दिया है। देव ने रस के प्रायः सभी पक्षों पर विचार किया है। उनने रस की उत्पत्ति पर जो विचार किया है उसका निर्देश हम इसी अध्याय में पीछे कर चुके हैं। देव रस को ब्रह्मानन्द-सहोदर कहते हैं तथा इस आनन्द की अनुभूति कवि और पाठक दोनों में मानते हैं।[2] देव ने रस की प्रमुखता प्रतिपादित की है। इसी प्रमुखता के आधार पर उन्हें रसवादी कहा जा

---

१ कविता, कामिनी, सुखद पद, सुबरन, सरस, सुजाति।
अलंकार पहिरे अधिक, अद्भुत रूप लखाति॥

शब्द-रसायन, पृष्ठ ६४।

२. कहत लहत उमहत हियो, सुनत चुनत नित प्रीति।

वही पृष्ठ ७२।

सकता है। इन्होंने रस को काव्य का सार कहा है। अन्य सभी तत्त्वों को उससे गौण मान लिया है।[1] अलंकारों के सम्बन्ध में देव ने भी केशव के रूपक का ही आश्रय लिया है। लेकिन उसमें भी उनका रसवादी दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट है। केशव ने जदपि शब्द द्वारा काव्य के अन्य तत्त्वों को गौण करने का प्रयत्न किया है। पर देव ने केवल अलंकारों को 'अद्भुत रूप' प्रदान करने का साधन-मात्र कहा है। इससे यहाँ पर भी इनका रसवादी दृष्टिकोण स्पष्ट है। शब्दालंकारों का अनावश्यक बोझ, जिससे अर्थ की स्पष्टता में भी बाधा होती है, अधम काव्य का कारण है। देव यहाँ पर भी रस को काव्य में आनन्द का कारण मानते हैं। उन्होंने यहाँ पर "प्रवीन" शब्द का प्रयोग करके रस के प्रति अपना पक्षपात बिलकुल स्पष्ट कर दिया है।[2] "सरस काव्य" को भगवत्प्रेम का कारण बताया है। देव का दृष्टिकोण सर्वत्र ही रसवादी है। रसवत आदि अलंकारों का निरूपण न करके उन्होंने उस रूप का निर्वाह किया है। जिन लोगों को सरस काव्य की अपेक्षा शब्द-चित्र प्रिय प्रतीत होता है, उसको देव ने वायस का चाम-चवाना कहा है।[3] लेकिन देव भी प्राचीन रसवादी आलंकारिकों की तरह काव्य के सभी तत्त्वों का विवेचन 'रस-सम्प्रदाय' की दृष्टि से नहीं कर सके हैं। गुणों का निरूपण तो अत्यन्त प्राचीन परम्परा के अनुरूप हुआ है। यह विश्लेषण रीति-वादी आचार्यों का अनुकरण है। उन्होंने रस को काव्य में प्रमुख स्थान तो दिया है, पर रस को उसकी आत्मा कहकर उसकी सर्वप्रधानता की स्पष्ट घोषणा नहीं कर सके हैं। प्राचीन आचार्यों ने जो काव्य-पुरुष का रूपक दिया था, उसका उपयोग देव ने नहीं किया है ऐसा करने पर संभवतः उन्हें रस को काव्य की आत्मा कहकर अन्य सभी तत्त्वों का स्थान-निर्धारण करने का

---

१. काव्य सार शब्दार्थ को, रस तिहि काव्यासार,
सो रस बरसत भाव बस, अलंकार अधिकार।
ताते काव्या मुख्य रस जामें दरसत भाव।
अलंकार शब्दार्थ के, छन्द अनेक सुभाव॥ शब्द-रसायन, पृष्ठ १८।

२. अलंकार जे शब्द के, ते कहि काव्य सुचित्र।
अर्थ समर्थ न पाइयत, अच्छर बरन विचित्र॥
अधम काव्य ताते कहत, कवि प्राचीन नवीन।
सुन्दर छन्द अमन्द रस, होत प्रसन्न प्रवीन॥

३. सरस काव्य पद अर्थ तजि, शब्द-चित्र समुदात।
दधि घृत मधु पायस जिन, वायस चाम चबात॥ वही

अवसर मिल जाता और फिर उनका विशुद्ध रसवादी रूप और भी निखर उठता। प्रायः सभी रसवादी आचार्यों ने "ध्वनि काव्य" को उत्तम कहा है तथा रस को व्यंग ही माना है। पर देव ने रस को अभिधेय माना है।[1] देव ने 'शब्द-रसायन' में शब्द-शक्ति का निरूपण तो किया है पर सिद्धान्ततः रस को व्यंग न मानने के कारण रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि, और अलंकार-ध्वनि का निरूपण नहीं हो पाया है। दास, श्रीपति, कुलपति आदि रीतिकालीन आचार्यों से देव का एक-मात्र विरोध व्यंजना का है। वे रस को व्यंग मानते हैं पर देव नहीं। यही कारण है कि उनको रस-ध्वनिवादी कहना पड़ता है। देव और दास में यह अन्तर होने के कारण ही रस और रस-ध्वनि नाम से दो वाद मानने पड़ते हैं। अन्यथा तो रस और ध्वनि दोनों का चिर सहयोग ही संस्कृत के आचार्यों को मान्य रहा है। देव ने "अमर तरु" के रूपक में रस को उसका फल बताकर उसकी प्रधानता प्रतिपादित कर दी है। स्थायी भाव, जो बीज के समान हैं, वे ही रस रूपी फल में परिणत हो जाते हैं। इसको अमीरस कहकर देव ने ब्रह्मानन्द की ओर संकेत किया है। इस रूपक में काव्य के अन्य सभी तत्वों को रस से गौण तथा रस-परिपाक में सहायक कहा गया है।[2]

रस-ध्वनि—जिन रीतिकालीन आचार्यों ने काव्य-तत्वों का सर्वांगीण तथा प्रौढ़ विवेचन किया है, उन्होंने मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' को आधार माना है। इस काल में 'काव्य-प्रकाश' के छायानुवाद तथा अविकल अनुवाद भी हुए हैं। सेवक ने 'काव्य-प्रकाश' और 'साहित्य दर्पण' दोनों का ही अनुवाद किया है। चिन्तामणि, सेनापति, कुलपति, श्रीपति, दास आदि इस कोटि के सभी आचार्यों का प्रधान उपजीव्य 'काव्य-प्रकाश' ही है। मम्मट का 'काव्य-प्रकाश' डॉ० सुनीतिकुमार के अनुसार समन्वयवादी सम्प्रदाय का कहा जा सकता है। समन्वयवाद का तात्पर्य है कि उन्होंने रस और ध्वनि के आधार पर काव्य-स्वरूप का निरूपण किया है। वे रस को व्यंग मानते हैं और ध्वनि-काव्य को श्रेष्ठ। इसी दृष्टिकोण का अनुकरण करने के कारण दास, श्रीपति, कुलपति, आदि रीतिकाल के प्रथम श्रेणी के आचार्य रस-ध्वनि-सम्प्रदाय के समर्थक माने जा सकते हैं। इस सम्प्रदाय के आचार्य काव्य के सभी तत्वों को विशेष स्थान प्रदान कर देते हैं और इस प्रकार उनमें सामंजस्य स्थापित हो जाता

---

१. शब्द-रसायन, पृष्ठ २८

२. वही पृष्ठ २८

सकता है। इन्होंने रस को काव्य का सार कहा है। अन्य सभी तत्त्वों को उससे गौण मान लिया है।[1] अलंकारों के सम्बन्ध में देव ने भी केशव के रूपक का ही आश्रय लिया है। लेकिन उसमें भी उनका रसवादी दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट है। केशव ने जदपि शब्द द्वारा काव्य के अन्य तत्त्वों को गौण करने का प्रयत्न किया है। पर देव ने केवल अलंकारों को 'अद्भुत रूप' प्रदान करने का साधन-मात्र कहा है। इससे यहाँ पर भी इनका रसवादी दृष्टिकोण स्पष्ट है। शब्दालंकारों का अनावश्यक बोझ, जिससे अर्थ की स्पष्टता में भी बाधा होती है, अधम काव्य का कारण है। देव यहाँ पर भी रस को काव्य में आनन्द का कारण मानते हैं। उन्होंने यहाँ पर "प्रवीन" शब्द का प्रयोग करके रस के प्रति अपना पक्षपात बिलकुल स्पष्ट कर दिया है।[2] "सरस काव्य" को भगवत्प्रेम का कारण बताया है। देव का दृष्टिकोण सर्वत्र ही रसवादी है। रसवत आदि अलंकारों का निरूपण न करके उन्होंने उस रूप का निर्वाह किया है। जिन लोगों को सरस काव्य की अपेक्षा शब्द-चित्र प्रिय प्रतीत होता है, उसको देव ने वायस का चाम-चबाना कहा है।[3] लेकिन देव भी प्राचीन रसवादी आलंकारिकों की तरह काव्य के सभी तत्त्वों का विवेचन 'रस-सम्प्रदाय' की दृष्टि से नहीं कर सके हैं। गुणों का निरूपण तो अत्यन्त प्राचीन परम्परा के अनुरूप हुआ है। यह विश्लेषण रीति-वादी आचार्यों का अनुकरण है। उन्होंने रस को काव्य में प्रमुख स्थान तो दिया है, पर रस को उसकी आत्मा कहकर उसकी सर्वप्रधानता की स्पष्ट घोषणा नहीं कर सके हैं। प्राचीन आचार्यों ने जो काव्य-पुरुष का रूपक दिया था, उसका उपयोग देव ने नहीं किया है ऐसा करने पर संभवतः उन्हें रस को काव्य की आत्मा कहकर अन्य सभी तत्त्वों का स्थान-निर्धारण करने का

---

१. काव्य सार शब्दार्थ को, रस तिहि काव्यासार,
सो रस बरसत भाव बस, अलंकार अधिकार।
ताते काव्या मुख्य रस जामें दरसत भाव।
अलंकार शब्दार्थ के, छन्द अनेक सुभाव ॥ शब्द-रसायन, पृष्ट १८।

२. अलंकार जे शब्द के, ते कहि काव्य सुचित्र।
अर्थ समर्थ न पाइयत, अच्छर बरन विचित्र ॥
अधम काव्य ताते कहत, कवि प्राचीन नवीन।
सुन्दर छन्द अमन्द रस, होत प्रसन्न प्रवीन ॥

३. सरस काव्य पद अर्थ तजि, शब्द-चित्र समुहात।
दधि घृत मधु पायस जिन, वायस चाम चबात ॥ वही

अवसर मिल जाता और फिर उनका विशुद्ध रसवादी रूप और भी निखर उठता। प्रायः सभी रसवादी आचार्यों ने "ध्वनि काव्य" को उत्तम कहा है तथा रस को व्यंग ही माना है। पर देव ने रस को अभिधेय माना है।[1] देव ने 'शब्द-रसायन' में शब्द-शक्ति का निरूपण तो किया है पर सिद्धान्ततः रस को व्यंग न मानने के कारण रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि, और अलंकार-ध्वनि का निरूपण नहीं हो पाया है। दास, श्रीपति, कुलपति आदि रीतिकालीन आचार्यों से देव का एक-मात्र विरोध व्यजना का है। वे रस को व्यंग मानते है पर देव नहीं। यही कारण है कि उनको रस-ध्वनिवादी कहना पड़ता है। देव और दास में यह अन्तर होने के कारण ही रस और रस-ध्वनि नाम से दो वाद मानने पडते हैं। अन्यथा तो रस और ध्वनि दोनों का चिर सहयोग ही संस्कृत के आचार्यों को मान्य रहा है। देव ने "अमर तरु" के रूपक में रस को उसका फल बताकर उसकी प्रधानता प्रतिपादित कर दी है। स्थायी भाव, जो बीज के समान है, वे ही रस रूपी फल में परिणत हो जाते हैं। इसको अमीरस कहकर देव ने ब्रह्मानन्द की ओर संकेत किया है। इस रूपक में काव्य के अन्य सभी तत्त्वों को रस से गौण तथा रस-परिपाक में सहायक कहा गया है।[2]

रस-ध्वनि—जिन रीतिकालीन आचार्यों ने काव्य-तत्त्वों का सर्वांगीण तथा प्रौढ़ विवेचन किया है, उन्होंने मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' को आधार माना है। इस काल में 'काव्य-प्रकाश' के छायानुवाद तथा अविकल अनुवाद भी हुए हैं। सेवक ने 'काव्य-प्रकाश' और 'साहित्य दर्पण' दोनों का ही अनुवाद किया है। चिन्तामणि, सेनापति, कुलपति, श्रीपति, दास आदि इस कोटि के सभी आचार्यों का प्रधान उपजीव्य 'काव्य-प्रकाश' ही है। मम्मट का 'काव्य-प्रकाश' डॉ० सुनीतिकुमार के अनुसार समन्वयवादी सम्प्रदाय का कहा जा सकता है। समन्वयवाद का तात्पर्य है कि उन्होंने रस और ध्वनि के आधार पर काव्य-स्वरूप का निरूपण किया है। वे रस को व्यंग मानते हैं और ध्वनि-काव्य को श्रेष्ठ। इसी दृष्टिकोण का अनुकरण करने के कारण दास, श्रीपति, कुलपति, आदि रीतिकाल के प्रथम श्रेणी के आचार्य रस-ध्वनि-सम्प्रदाय के समर्थक माने जा सकते हैं। इस सम्प्रदाय के आचार्य काव्य के सभी तत्त्वों को विशेष स्थान प्रदान कर देते हैं और इस प्रकार उनमें सामंजस्य स्थापित हो जाता

---

१. शब्द-रसायन, पृष्ठ २८

२, वही पृष्ठ २८

है। शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर कहा गया है, व्यंग उसमें जीवभूत है, गुण उसके धर्म हैं तथा अलंकार आभूषण हैं।[1] यह रूपक संस्कृत की अत्यन्त प्राचीन परम्परा से लिया गया है। कुलपति ने अपने पूर्वोक्त छन्द में रस शब्द का प्रयोग तो नहीं किया है, परन्तु व्यंग शब्द से उनको रस ही अभिप्रेत है। लेकिन दास ने इसे बिलकुल स्पष्ट ही कर दिया है। वे रस को ही काव्य का जीव कहते हैं, शेष सभी तत्त्वों के निरूपण में ये दोनों आचार्य समान हैं।[2] दोषों का देह से ही सम्बन्ध मान लिया है। मम्मट ने दोष की जो परिभाषा दी है, उसके अनुसार वह देह तक ही सीमित है। उद्देश्य-प्रतीति में प्रतिबंधक होना ही उसका लक्षण है और उसका सम्बन्ध काव्य के बाह्य की अपेक्षा आभ्यन्तर से ही अधिक है। दोषों की स्थिति देह में मानने का कारण गम्भीर चिन्तन का अभाव ही है। दास ने काव्य के भेद व्यंजना के आधार पर किये हैं। रसवत, प्रेयस आदि को अलंकारवादियों ने अलंकार माना है। पर रस और ध्वनि के आधार पर काव्य-स्वरूप का विशद विवेचन होने के बाद इनका अलंकारत्व ही आचार्यों को मान्य नहीं हुआ, लेकिन आनन्दवर्द्धन, अभिनव गुप्त, मम्मट आदि समन्वयवादी आचार्यों ने इनको गुणीभूतव्यंग में ही स्थान दे दिया था। यही समीचीन भी है। दास ने भी अपने 'काव्य-निर्णय' में इनका निरूपण "अपरांग" में ही किया है। 'काव्य-निर्णय' में "ध्वनि काव्य" को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।[3] प्रतापसाहि भी अपनी 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' में "व्यंग जीव" वाले काव्य को उत्तम कहते हैं।[4] लेकिन दास केवल रसमय स्थल को ही काव्य नहीं मानना चाहते हैं। उन्होंने काव्य के रस-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि और वस्तु-ध्वनि-भेदों का भी संकेत किया है। इतना ही नहीं मम्मट की तरह इन्होंने रसहीन अलंकार-स्थल में भी

---

१. काव्य जीव ताको कहत, शब्द अर्थ है देह।
गुन-गुन भूषन भूषनै दूषन दूषत देह॥ कुलपति 'रस-रहस्य'॥

२. रस कविता को अंग, भूषन है भूषन सकल।
गुन सरूप औ रंग, दूषन करै कुरूपता॥ काव्य-निर्णय, पृष्ठ ५॥

३. वाच्य अर्थ तें व्यंग में, चमत्कार अधिकाइ।
ध्वनि ताही को कहत हैं, उत्तम काव्य विचार॥ वही पृष्ठ ४९॥

४. व्यंग जीव कवित्त में शब्द, अर्थ गति अंग।
सोई उत्तम [illegible] है वरनैं व्यंग प्रसंग॥
॥ प्रतापसाहि—'व्यंग्यार्थ कौमुदी'॥

काव्यत्व की प्रतिष्ठा मानी है। रीतिकाल में किसी भी तत्त्व का निरूपण अत्यन्त स्पष्टता तथा गम्भीरता के साथ नहीं हो पाया है। यही कारण है कि दास अपने मन्तव्य को पूर्णतः स्पष्ट नहीं कर पाए हैं। उन्होंने रसहीन अलंकार-काव्य का उदाहरण दिया है।[1] पर सैद्धान्तिक विवेचन में अलंकार का महत्त्व ही प्रतिष्ठित हो गया है। उन्होंने अलंकार के अभाव में रस तथा रस की अनुपस्थिति में अलंकार हो सकता है, इस तथ्य का प्रतिपादन किया है।[2] मम्मट की तरह अलंकार द्वारा अत्यन्त व्यापक अर्थ का ग्रहण न करने के कारण वे काव्य में अलंकार के उस महत्त्व का प्रतिपादन नहीं कर सके जो 'काव्य प्रकाश' में हुआ।[3] दास ने उत्तम कविता की विशेषताओं का निर्देश करते हुए अलंकार को भी उनमें समाविष्ट किया है। दास ने अपने 'काव्य-निर्णय' में भाव, भावाभास, गुण, अलंकार आदि काव्य-तत्त्वों का विशद विवेचन किया है, उनका काव्य में स्थान और महत्त्व भी दिखा दिया गया है। पर उन सबको स्पष्टतः गौण बता दिया गया है। इन सबकी उपादेयता रस-व्यंजना में ही है।[4] इस प्रकार इनका दृष्टिकोण स्पष्टतः रस-ध्वनिवादी है। इस कोटि के सभी आचार्यों ने काव्य-तत्त्वों में समन्वय स्थापित किया है। गुण और अलंकारों के अन्तर का स्पष्टीकरण किया गया। रीति को भी काव्य में एक स्थान दे दिया गया। इतने सारे विवेचन से यह स्पष्ट है कि इन आचार्यों का दृष्टिकोण समन्वयवादी है और इस समन्वय का आधार है रस और ध्वनि; इसीलिए इनको रस-ध्वनिवादी कहना भी समीचीन है। 'काव्य-प्रकाश' 'साहित्य दर्पण' आदि संस्कृत-साहित्य की प्रौढ़ तथा सर्वांगीण रचनाओं को उपजीव्य बनाने के कारण इन आचार्यों का विवेचन बहुत-कुछ आचार्यत्व की कोटि का कहा जा सकता है। इसीलिए रीतिकाल के अन्य आचार्यों को

---

१. चोंच रही गहि सारसी, सारस हीन मृनाल।
प्रान जात जनु द्वार में, दियो अरगला डाल॥
इसमें उत्प्रेक्षा अलंकार है, रस नहीं है। काव्य-निर्णय, पृष्ठ २०४॥

२. अलंकार बिनु रसहुँ है, रसौ अलंकृत छाँडि।
सुकवि वचन रचनान सों, देत दुहुन को माँडि॥ वही पृष्ठ २०५॥

३. रुचिर हेतु रस बहुरि, अलंकारजुत होय।
चमत्कार गुनयुक्त है, उत्तम कविता सोय॥ वही पृष्ठ ७०॥

४. भिन्न-भिन्न यद्यपि सकल, रस भावादिक दास।
रस व्यंगि सबको कह्यौ, ध्वनि का जहाँ प्रकास॥ वही पृष्ठ ४३॥

अपेक्षा सम्प्रदायवाद की दृष्टि से इनका विवेचन अधिक प्रौढ़ है। फिर भी इन आचार्यों का उद्देश्य भी काव्य-सिद्धान्तों का सामान्य ज्ञान-मात्र करा देना है। वादों की प्रतिष्ठा तथा समर्थन के उपयुक्त प्रौढ़ और गम्भीर विवेचन इसमें भी नहीं है। यही कारण है कि दास-जैसे आचार्य भी गुण का निरूपण, अलंकार और गुण का अन्तर, रस-निष्पत्ति, रस-स्थिति, रसानन्द का स्वरूप आदि अत्यन्त प्रौढ़ विषयों का निरूपण गम्भीरता और प्रामाणिकता के साथ नहीं कर पाए हैं। इतना प्रौढ़ विवेचन तो किसी भी आचार्य में नहीं मिलता है। इसीलिए ये सभी विषय रीतिकालीन आचार्यों द्वारा प्रायः अस्पष्ट ही हैं। फिर भी रीतिकाल के अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा रस-ध्वनि-सम्प्रदाय का प्रतिपादन अधिक प्रौढ़ और प्रामाणिक है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। दास के अतिरिक्त इस सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य हैं, प्रतापसाहि, चिन्तामणि, कुलपति और सोमनाथ। प्रतापसाहि ने अपने 'काव्य विलास' में अनुभाव, स्थायी, संचारी आदि सभी की ध्वनि पर विचार किया है। इनके ग्रन्थ में "ध्वनि" की दृष्टि से अधिक विचार हुआ है। ये भी रस-ध्वनि के समन्वय के प्रतिपादक हैं। रीति काल के समन्वयवादी आचार्यों ने औचित्य का विचार नहीं किया है।

मौलिक उद्भावनाएँ—रीतिकाल के आचार्यों का बहुत-सा विवेचन मौलिक प्रतीत होता है, पर वास्तव में उसमें से अधिकांश मौलिक नहीं है। आज के विद्वत्समाज में संस्कृत-साहित्य के जिन ग्रन्थों का अधिक पठन होता है, रीतिकाल के आचार्यों ने उन ग्रन्थों के अतिरिक्त भी संस्कृत के अनेकों ग्रन्थों से सहायता ली है। इन अपरिचित ग्रन्थों से जो सामग्री रीतिकाल के आचार्यों ने ग्रहण कर ली है आज का आलोचक प्रायः उन वस्तुओं को मौलिक कह देता है। कुछ ऐसे सिद्धान्तों के और भेदों का भी प्रतिपादन हुआ है, जो नवीन अवश्य हैं। उनके आधार अज्ञात हैं। पर अत्यन्त गम्भीर विवेचन के अभाव में वे सिद्धान्त न प्रामाणिक हो सके हैं और न इतने तर्क-सम्मत। आचार्य लोग उनमें चिरकाल तक जीवित रहने के उपयुक्त प्राणों की प्रतिष्ठा नहीं कर पाए हैं।

रीतिकालीन आचार्यों ने शृंगार का रसराजत्व माना है। केशव, देव, मतिराम आदि सभी आचार्यों को यह मान्य है। रीतिकाल तो एक प्रकार से शृंगार-काल ही कहा जा सकता है। शृंगार का यह रसराजत्व किसी प्रकार भी नवीन और मौलिक नहीं है। इसके पहले संस्कृत के अनेकों आचार्य यह कर चुके थे। 'अग्नि पुराण', भोज का 'शृङ्गार प्रकाश', भानुदत्त की 'रस तरंगिणी'

इस क्षेत्र को पहले ही प्राप्त कर चुके थे। उन्हींका प्रभाव इस काल के आचार्यों पर भी है। इस काल में जीवन पर ही विलासिता का व्यापक प्रभाव था। कवियों को अपनी विलासिता की तृप्ति का अवसर इसी शृंगार के बहाने मिल गया है। यही कारण है कि अन्य रसों का निरूपण रस की स्थिति तक नहीं पहुँच सका था। शृङ्गार की इस प्रधानता का कारण उस काल के जीवन का दृष्टिकोण था। फिर भी सैद्धान्तिक जगत् में यह वस्तु मौलिक नहीं है। संस्कृत का आचार्य बहुत पहले "शृङ्गारीचेत् कविः काव्यं जातं रसमयं जगत्" की घोषणा कर चुका था। 'अग्नि पुराण' में शृङ्गार में ही सब रसों के पर्यवसान का उल्लेख हुआ है। रीतिकाल में इनका प्रभाव पड़ा और इसीके अनुकरण पर उन्होंने सभी रसों का समावेश शृङ्गार में किया। पर वे प्राचीन आचार्यों की प्रौढ़ता का निर्वाह नहीं कर सके। 'अग्नि-पुराण' में 'रति' शब्द का व्यापक अर्थ लेकर विशद मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा रति का ही विभिन्न अवस्थाओं और सम्मिश्रणों से सभी स्थायी भावों में परिणत होना माना।[1] इतना तर्कपूर्ण निरूपण रीतिकाल का आचार्य नहीं कर सका। उसने तो सीधे-सीधे शब्दों में अन्य रसों की गौणता का प्रतिपादन कर दिया है। इतना ही नहीं देव तो इस प्रवृत्ति में और भी आगे बढ़े हैं, कुछ रसोंको संयोग शृङ्गार का और कुछ को वियोग शृङ्गार का उपभेद मानते हैं।[2] यह केवल नवीनता के लिए है। परवर्ती आचार्यों द्वारा मान्य होने के उपयुक्त इसमें प्रौढ़ता कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार केशव का प्रच्छन्न और प्रकाश भेद भी नवीन अवश्य है, पर इसमें भी स्थायित्व का अभाव है। इसके द्वारा केशव ने 'रस-सिद्धान्त' के किसी नवीन पक्ष को स्पष्ट करके विकास में सहायता नहीं दी है। देव ने 'भाव-विलास' में रस के लौकिक और अलौकिक दो भेद किये हैं। फिर अलौकिक के स्वाभाविक मानोरथिक और औपनायिक अवान्तर भेद माने हैं। साहित्य-शास्त्र द्वारा मान्य नवरस लौकिक के भेद हैं। रसों का यह विभाजन देव को भानुदत्त से मिला है यह 'रस तरंगिणी' का अनुकरण है।[3] देव ने

---

१. देखिये इसी पुस्तक का दूसरा अध्याय, पृष्ठ ११७।

२. देव—'शब्द-रसायन', पृष्ठ ५८। इसी अध्याय का पृष्ठ १६४। उद्धरण संख्या ३

३. लौकिक और अलौकिकादि, द्वैविधि कहत बखानि।
कहत अलौकिक तीन विध, प्रथम स्वापनिक भानु।
मनोरथ कवि देव अस, औपनायक बखानु॥

प्रच्छन्न और प्रकाश नामक भेद केशव से लिये हैं। प्रेम भक्ति, शुद्ध भक्ति और शुद्ध प्रेम ये भक्ति-ग्रन्थों के हैं। इनका अन्तर्भाव शान्त रस में करना भी उनका ही प्रभाव हैं। यह संस्कृत में ही होने लगा था। देवकालीन रसों को प्रधान मानना और शेष का उन्हींमें समावेश करना कोई विशेष महत्त्व की बात नहीं। इससे रस-सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं होता, इसीलिए यह परवर्ती विद्वानों द्वारा उपेक्षित ही रहा।

भाव के क्षेत्र में भी कुछ नवीनता प्राप्त होती है। देव ने 'भाव-विलास' में संचारी के दो भेद किये हैं—शारीर और आंतर। लेकिन स्वयं देव ही इसे भरत आदि द्वारा मान्य कहते हैं इसलिए यह भी उनकी मौलिकता नहीं है। देव ने 'छल' को एक और संचारी माना है। वे वितर्क के अवान्तर भेद कहते हैं, विप्रतिपत्ति, विचार संशय और अध्यवसान।[१] इनमें से एक भी वस्तु देव की नहीं है। ये भानुदत्त के अनुकरण-मात्र हैं। आचार्य शुक्ल इसका अवहित्था में अन्तर्भाव करते हैं: "देव कवि का संचारियों के बीच छल बढ़ा देना कुछ लोगों को नई सूझ समझ पड़ी है। उन्हें समझना चाहिए कि देव ने जैसे और सब बातें संस्कृत की 'रस-तरंगिणी' से ली हैं वैसे ही यह छल भी। सच पूछिये तो छल का अन्तर्भाव अवहित्था में हो जाता है।" दास ने हावों की संख्या में दस और बढ़ा दिए हैं। इसमें वे भी विश्वनाथ के आभारी हैं। रीति काल के लंबे नायिका-भेद-निरूपण का श्रेय भी विश्वनाथ और भानुदत्त को ही है। यह प्रेरणा उन्हींसे मिली।

अलंकारों में भी मौलिकता के दर्शन होते हैं। केशव के अलंकार-निरूपण पर विचार हो चुका है। भूषण ने भाविक छवि और सामान्य-विशेष नामक दो नवीन अलंकारों की उद्भावना की है। भाविक का आधार समय की दूरी है, इसीके अनुकरण पर स्थान की दूरी को आधार मानकर भूषण ने भाविक छवि की उद्भावना की है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र इसका भाविक में ही अन्तर्भाव मानते हैं। भूषण का दूसरा अलंकार अप्रस्तुत प्रशंसा में अंतर्भूत हो जाता है।

रीतिकाल में मौलिक उद्भावना की प्रवृत्ति है, पर गूढ़ चिन्तन और

"स च रसो द्विविधः लौकिकोऽलौकिकश्चेति।
अलौकिक रसस्त्रिधा स्वाप्निको मनोरथिको औपनायकश्चेति।"
॥ भानुदत्त—'रस-तरंगिणी', तरंग ६ ॥

१. भाव-विलास, पृष्ठ ५७।

विषय के शास्त्रीय एवं यथार्थ ज्ञान के अभाव में ये उद्भावनाएँ प्रचीन आचार्यों से मतभेद प्रकट करने के मोह अथवा विषय की अनभिज्ञता के परिणाम-मात्र हैं। इसीलिए यह समीक्षा के विकास में कोई सहायता नहीं देते। दास-जैसे एक-दो आचार्यों ने हिन्दी की प्रकृति का ध्यान रखकर भी नवीन अलंकारों की उद्भावना की है, जैसे अन्त्यानुप्रास और तुक। दास ने अलंकारों में एक व्यवस्था स्थापित की है पर वे भी विभाजन की नवीन पद्धति में सफल नहीं हुए। प्रत्यक्षालंकार में सभी इन्द्रियों के उदाहरण देना भी उनकी मौलिकता है।

संस्कृत-साहित्य में प्रयोगात्मक समीक्षा के तीन प्रधान रूपों के दर्शन होते हैं — १. स्फुट छन्दों में कवि की विशेषताओं का वर्णन, २. सिद्धान्त-ग्रन्थों में कवियों और काव्य-ग्रन्थों की प्रसंगवश आलोचना, और ३. टीका-पद्धति। ऊपर का विवेचन यह स्पष्ट करता है कि रीतिकाल का सारा विवेचन संस्कृत-समीक्षा की संक्षिप्त उद्धरणी-मात्र है, जिसमें प्रधानतः सामान्य परिचय का दृष्टिकोण ही प्रबल रहा है। रीति काल की प्रयोगात्मक आलोचना के भी प्रधानतः ये तीन ही रूप हैं। आलोचनात्मक सूक्तियों का आधार शास्त्रीय मान की अपेक्षा वैयक्तिक रुचि ही अधिक रहती है। फिर भी उनमें कवियों की विशेषताएँ शास्त्रीय तत्वों के आवरण में ही रखी जाती हैं। रीतिकाल में इस प्रकार की सूक्तियों का प्रचार रहा है। ये सूक्तियाँ प्रायः अज्ञातकुल-जन्मा होती हैं, इसलिए इनका निर्माण-काल अनिश्चित है। इनमें तुलनात्मक दृष्टिकोण की ही प्रायः प्रधानता है। यह तुलना किन्हीं गम्भीर शास्त्रीय आधारों पर नहीं होती है। प्रायः वैयक्तिक रुचि के कारण अथवा किसी एक शास्त्रीय तत्व की दृष्टि से ही एक कवि को दूसरे से ऊँचा अथवा नीचा बता दिया जाता है। "सूर सूर तुलसी शशी" के वास्तविक आधार के सम्बन्ध में निश्चय पूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। विभिन्न विद्वानों ने इसके विभिन्न आधारों की कल्पना की है। इस उक्ति के अभिप्राय को गम्भीरता पूर्वक समझने का प्रयत्न हुआ है। आधुनिक विद्वानों के विवेचन का यह आधार भी रहा है। पर इस उक्ति की प्रेरणा इसमें भी अनुप्रास-प्रेम में ही प्रतीत होती है।

"सार-सार कबीरा कहिगो, सूरा कही अनूठी।
रही सही कठमलिया कहिगो, और कही सब जूठी॥"

इसमें आलोचक ने अपनी वैयक्तिक रुचि को ही प्रतिमान बनाया है। इसमें भी कोई प्रौढ़ और तर्कपूर्ण आधार की कल्पना प्रतीत नहीं होती है।

लेखक सार-वस्तु किसे मानता है। इसका स्पष्टीकरण ही नहीं हो पा रहा है।

रीतिकाल के आचार्यों ने अपने समकालीन हिन्दी के कवियों पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डाली है। काव्य के विभिन्न प्रयोजनों का सम्बन्ध उन्होंने तुलसी, केशव और भूषण से स्थापित किया है।[1] दास ने तुलसी और गंग कवि की कविता में अनेकों भाषाओं के मिलने की भी बात कही है।[2] अपने काल के अन्य कवियों का भी ब्रजभाषा के प्रसंग में उल्लेख किया है।[3] भाषा-सम्बन्धी विचारों से दास में आलोचना की क्षमता का परिचय मिलता है। दास ने अन्त्यानुप्रास तथा हिन्दी में विभिन्न बोलियों के शब्दों की उपस्थिति[4] की बात कहकर अपनी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति का प्रदर्शन किया है। आलोचना की इस प्रवृत्ति के दर्शन उन आचार्यों में भी होते हैं जिन्होंने अलंकार के उदाहरण अपने ही समकालीन कवियों से दिये हैं। दलपतिराय और वंसीधर ने अपने 'अलंकार रत्नाकर' में भी अन्य कवियों के उदाहरण दिये

---

१. एक लहैं तपपुञ्जन्ह के फल, ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाईं।
एक लहैं बहु सम्पति केशव, भूषन ज्यों बरबीर बड़ाई।
एकन्ह को जस ही सों प्रयोजन, है रसखानि रहीम की नाईं॥
॥ काव्य-निर्णय, पृष्ठ ४ ॥

२. तुलसी गंग दुओ भये, सुकविन्ह के सरदार।
इनकी काव्यन्ह में मिली, भाषा विविध प्रकार ॥ वही पृष्ठ ६ ॥

३. सूर कैसी मंडन बिहारी कालिदास ब्रह्म,
चिन्तामणि मतिराम भूषन से जानिये।
लीलाधर सेनापति निपट नेवाज निधि,
नीलकंठ सुकदेव देव मानिये॥
आलम, रहीम, रसखानि रसलीन, और,
सुन्दर सुमति भये कहां लौं बखानिये।
ब्रजभाषा हेतु ब्रजवास ही न अनुमानों,
ऐसे ऐसे कविन्ह की बानिहू से जानिये॥ वही पृष्ठ ६ ॥

४. भाषा ब्रजभाषा रुचिर, कहैं सुकवि सब कोइ।
मिलै संस्कृत पारसिहु, पै अति प्रगट जु होइ॥
ब्रज मागधी मिलै अमर नाग जवन भाषानी।
सहज पारसीहू मिलै षट् विधि कवित बखानी॥ वही पृष्ठ ६ ॥

है और उनमें घटाकर अलंकारों को समझाया है। केशव के छन्दों के दोषों को उदाहरण स्वरूप रखने का उल्लेख ऊपर हो चुका है।

टीकाओं का अर्थ मूल पाठ का अर्थ स्पष्ट करना है, इसलिए व्यापक अर्थ में ही यह आलोचना मानी जा सकती है। संस्कृत-साहित्य में टीका भी आलोचना का स्वरूप था। हिन्दी में इसका भी अभाव नहीं है। अनेकों ग्रन्थों पर ऐसी टीकाएँ रीतिकाल में भी लिखी गईं। आधुनिक काल के प्रारम्भ से तो अन्य क्षेत्रों की तरह इसमें भी पर्याप्त विकास हो रहा है। आलोचना अपने इस स्वरूप में भी प्रौढ़ता को प्राप्त हो चुकी है। लेकिन इसका अभाव रीति-काल में भी नहीं था। राजस्थान की महान् कृति 'क्रिसमन रुक्मणि री वेलि' की कई टीकाएँ लिख गई हैं। इनमें से कई तो इस दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट और प्रौढ़ कही जा सकती हैं। इनमें से कुछ राजस्थानी गद्य में भी हैं। इसमें कई स्थानों पर अलंकार-निर्देश तथा काव्यगत सौन्दर्य का विश्लेषण भी है। संस्कृत में शब्दों के भाषा-विज्ञान और व्याकरण-सम्बन्धी विवेचन की विशेष आवश्यकता थी। इसलिए इन टीकाओं में आलोचना के अन्य स्वरूपों के साथ ही इसका भी पर्याप्त विकास हुआ है। लेकिन हिन्दी और राजस्थानी की अवस्था अपेक्षाकृत कुछ भिन्न थी; इसीलिए आलोचना के अन्य स्वरूप ही अधिक विकसित हुए हैं। पर अलंकार, गुण, भाव, सौन्दर्य, रस-निष्पत्ति आदि विशेषताओं के आधार पर की जाने वाली आलोचना की दृष्टि से ये टीकाएँ संस्कृत-टीकाओं के समक्ष रखी जा सकती हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आलोचना का यह प्रकार और उसका प्रतिमान एकदम शास्त्रीय है। इनमें भी संस्कृत के प्रतिमानों का ही ग्रहण हुआ है। संस्कृत-टीकाओं में कहीं-कहीं सिद्धान्त-निरूपण आदि होता है। और सैद्धान्तिक समीक्षा की दृष्टि से इनका महत्त्व कम नहीं है हिन्दी-साहित्य के टीकाकारों में इस मनोवृत्ति के दर्शन प्रायः नहीं होते हैं। बहुत सी टीकाएँ पद्यबद्ध हैं। इनकी विशेषता आलोच्य वस्तु के अर्थ का स्पष्टीकरण ही अधिक है। इनमें काव्यगत सौन्दर्य का निर्देश सफलता पूर्वक नहीं हो पाता। ऐसी टीकाओं की विशेषता कभी-कभी आलोचना की अपेक्षा स्वतन्त्र काव्य-सौन्दर्य में अधिक दिखाई पड़ती है। आलोच्य वस्तु के भाव को पल्लवित करते समय स्वयं टीकाकार का कवि मुखर हो उठता है। जहाँ कहीं ऐसे काव्य-सौन्दर्य के दर्शन होते हैं, वहाँ पर कहीं-कहीं तो ऊबा देने वाला पिष्टपेषण अथवा "मघवापाठ विडौजा-टीका" की जटिलता तथा नीरसता का कटु स्वाद भी चखना पड़ता है। टीका के लिए गद्य ही अधिक उपयुक्त है। पद्य में यह कार्य विशेष सफलता पूर्वक सम्पादित नहीं हो पाता

लेखक सार-वस्तु किसे मानता है। इसका स्पष्टीकरण ही नहीं हो पा रहा है।

रीतिकाल के आचार्यों ने अपने समकालीन हिन्दी के कवियों पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डाली है। काव्य के विभिन्न प्रयोजनों का सम्बन्ध उन्होंने तुलसी, केशव और भूषण से स्थापित किया है।[1] दास ने तुलसी और गंग कवि की कविता में अनेकों भाषाओं के मिलने की भी बात कही है।[2] अपने काल के अन्य कवियों का भी व्रजभाषा के प्रसंग में उल्लेख किया है।[3] भाषा-सम्बन्धी विचारों से दास में आलोचना की क्षमता का परिचय मिलता है। दास ने अन्त्यानुप्रास तथा हिन्दी में विभिन्न बोलियों के शब्दों की उपस्थिति[4] की बात कहकर अपनी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति का प्रदर्शन किया है। आलोचना की इस प्रवृत्ति के दर्शन उन आचार्यों में भी होते हैं जिन्होंने अलंकार के उदाहरण अपने ही समकालीन कवियों से दिये हैं। दलपतिराय और बंसीधर ने अपने 'अलंकार रत्नाकर' में भी अन्य कवियों के उदाहरण दिये

---

१. एक लहैं तपपुञ्जन्ह के फल, ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाईं।
एक लहैं बहु सम्पति केशव, भूषन ज्यों बरबीर बड़ाई।
एकन्ह को जस ही सों प्रयोजन, है रसखानि रहीम की नाईं॥
॥ काव्य-निर्णय, पृष्ठ ४॥

२. तुलसी गंग दुऔ भये, सुकविन्ह के सरदार।
इनकी काव्यन्ह में मिली, भाषा विविध प्रकार॥ वही पृष्ठ ६॥

३. सूर कैसी मंडन बिहारी कालिदास ब्रह्म,
चिन्तामणि मतिराम भूषन से जानिये।
लीलाधर सेनापति निपट नेवाज निधि,
नीलकंठ सुकदेव देव मानिये॥
आलम, रहीम, रसखानि रसलीन, और,
सुन्दर सुमति भये कहां लौ बखानिये।
व्रजभाषा हेतु व्रजबास ही न अनुमानौं,
ऐसे ऐसे कविन्ह की बानिहू से जानिये॥ वही पृष्ठ ६॥

४. भाषा व्रजभाषा रुचिर, कहैं सुकवि सब कोइ।
मिलै संस्कृत पारसिहु, पै अति प्रगट जु होइ॥
व्रज मागधी मिलै अमर नाग जबन भाषानी।
सहज पारसीहू मिलै षट् विधि कवित बखानी॥ वही पृष्ठ ६॥

हैं और उनमें घटाकर अलंकारों को समझाया है। केशव के छन्दों के दोषों को उदाहरण स्वरूप रखने का उल्लेख ऊपर हो चुका है।

टीकाओं का अर्थ मूल पाठ का अर्थ स्पष्ट करना है, इसलिए व्यापक अर्थ में ही यह आलोचना मानी जा सकती है। संस्कृत-साहित्य में टीका भी आलोचना का स्वरूप था। हिन्दी में इसका भी अभाव नहीं है। अनेकों ग्रन्थों पर ऐसी टीकाएँ रीतिकाल में भी लिखी गई। आधुनिक काल के प्रारम्भ से तो अन्य क्षेत्रों की तरह इसमें भी पर्याप्त विकास हो रहा है। आलोचना अपने इस स्वरूप में भी प्रौढ़ता को प्राप्त हो चुकी है। लेकिन इसका अभाव रीति-काल में भी नहीं था। राजस्थान की महान् कृति 'क्रिसमन रुक्मणि री वेलि' की कई टीकाएँ लिख गई हैं। इनमें से कई तो इस दृष्टि से वहुत उत्कृष्ट और प्रौढ़ कही जा सकती हैं। इनमें से कुछ राजस्थानी गद्य में भी हैं। इसमें कई स्थानों पर अलंकार-निर्देश तथा काव्यगत सौन्दर्य का विश्लेषण भी है। संस्कृत में शब्दों के भाषा-विज्ञान और व्याकरण-सम्बन्धी विवेचन की विशेष आवश्यकता थी। इसलिए इन टीकाओं में आलोचना के अन्य स्वरूपों के साथ ही इसका भी पर्याप्त विकास हुआ है। लेकिन हिन्दी और राजस्थानी की अवस्था अपेक्षाकृत कुछ भिन्न थी; इसीलिए आलोचना के अन्य स्वरूप ही अधिक विकसित हुए हैं। पर अलंकार, गुण, भाव, सौन्दर्य, रस-निष्पत्ति आदि विशेषताओं के आधार पर की जाने वाली आलोचना की दृष्टि से ये टीकाएँ संस्कृत-टीकाओं के समक्ष रखी जा सकती हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आलोचना का यह प्रकार और उसका प्रतिमान एकदम शास्त्रीय है। इनमें भी संस्कृत के प्रतिमानों का ही ग्रहण हुआ है। संस्कृत-टीकाओं में कहीं-कहीं सिद्धान्त-निरूपण आदि होता है। और सैद्धान्तिक समीक्षा की दृष्टि से इनका महत्त्व कम नहीं है हिन्दी-साहित्य के टीकाकारों में इस मनोवृत्ति के दर्शन प्रायः नहीं होते हैं। वहुत सी टीकाएँ पद्यवद्ध हैं। इनकी विशेपता आलोच्य वस्तु के अर्थ का स्पष्टीकरण ही अधिक है। इनमें काव्यगत सौन्दर्य का निर्देश सफलता पूर्वक नहीं हो पाता। ऐसी टीकाओं की विशेपता कभी-कभी आलोचना की अपेक्षा स्वतन्त्र काव्य-सौन्दर्य में अधिक दिखाई पड़ती है। आलोच्य वस्तु के भाव को पल्लवित करते समय स्वयं टीकाकार का कवि मुखर हो उठता है। जहाँ कहीं ऐसे काव्य-सौन्दर्य के दर्शन होते हैं, वहाँ पर कहीं-कहीं तो ऊबा देने वाला पिष्टपेपण अथवा "मघवापाठ विडौजा-टीका" की जटिलता तथा नीरसता का कटु स्वाद भी चखना पड़ता है। टीका के लिए गद्य ही अधिक

है। पद्य-शैली की असुविधाओं के कारण भी इसका स्वरूप गद्य की अपेक्षा कम प्रौढ़ है।

हिन्दी में रीति की अक्षुण्ण परम्परा के अविकल रूप से प्रवाहित होने के पूर्व ही भक्तों के जीवन, विचार, भक्ति और शक्ति से परिचित कराने वाले ग्रन्थ लिखे जाने लगे थे। ये वार्ता-साहित्य के नाम से हिन्दी में विख्यात हैं। इनमें भक्ति आदि के अतिरिक्त उनकी कविता के सम्बन्ध में भी कहीं-कहीं विचार हुआ है। वैसे तो भक्त कवियों के जीवन, विचार आदि सभी वस्तुओं का आलोचना की दृष्टि से महत्त्व है, पर कविता पर विचार करने वाले स्थान तो स्पष्टतः आलोचना के उदाहरण हैं। कहीं-कहीं ये विचार बहुत ही गम्भीर और प्रौढ़ हैं। इनमें काव्य के वर्ण्य-विषय और शैली-सम्बन्धी विशेषताओं के अतिरिक्त काव्य का जन-साधारण पर पड़ने वाले प्रभाव का भी विवेचन हुआ है। इनमें भी वैयक्तिक रुचि के दर्शन होते हैं। इनमें प्रशंसात्मक दृष्टिकोण की ही प्रधानता है। 'भक्तमाल' में सूर के सम्बन्ध में जो विचार हुआ है, वह इस पद्धति का प्रौढ़ उदाहरण है।[1] भक्त कवियों की भक्ति-पद्धति और दार्शनिक विचार-धारा भी उन कवियों की आलोचना ही है। इस काल में ये प्रयास बहुत विशद नहीं हुए हैं। इन ग्रन्थों के लेखकों का ध्यान भक्तों के जीवन-चरित्र, उनके सम्बन्ध में प्रचलित चमत्कारपूर्ण किम्वदन्तियों की ओर ही अधिक गया है। वस्तुतः ये आलोचनात्मक दृष्टिकोण से नहीं लिखे गए। उस समय इस प्रकार की आलोचनात्मक चेतना इतनी स्पष्ट और विकसित नहीं हो पाई थी कि इसी दृष्टिकोण को प्रमुख रखकर किसी ग्रन्थ की रचना होती। फिर भी इसके आलोचनात्मक महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

संस्कृत-साहित्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ आलोचनात्मक सम्मति के लिए प्रसिद्ध आचार्यों और कवियों के पास भेजे जाते थे, इस प्रकार के प्रभाव उपलब्ध हैं। लोक-रुचि के साथ ही समीक्षा में विद्वत्‌रुचि का भी महत्त्व स्वीकृत था। पुस्तक के महत्व को विद्वत्‌समाज द्वारा स्वीकृति लेखक के लिए सम्मान की वस्तु समझी जाती थी। यह प्रणाली उन युगों के साहित्यिक पाठकों की समीक्षा-

---

१. उक्ति चोज अनुप्रास बरन-अस्थिति अति भारी।
बचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुक धारी॥
प्रतिबिम्बित दिवि दिष्टि हृदय हरिलीला भासी।
जनम करम गुन रूप रसना पर कासी॥ भक्तमाल, पृष्ठ १६१॥

चेतना की परिचायक है। मुद्रण के अभाव में पुस्तक-प्रचार का यह बहुत बड़ा साधन था। फिर साहित्य-सृष्टा पर एक नियन्त्रण भी था। कवियों के लिए यह आलोचक-समाज प्रेरणा और प्रोत्साहन का कार्य करता था। जन-साधारण में भी आलोचनात्मक चेतना (Critical Consciousness) और विद्वानों की सम्मति का मान था। ऐसी प्रथा वाल्मीकि और भरत के समय में थी। भरत के पास नाटककारों की कृतियाँ अभिनय के लिए आती थीं। यह उनकी अभिनेता और रस-निष्पत्ति-क्षमता की परीक्षा थी। पुस्तकें साहित्यिक उत्कर्ष को जाँचने और मूल्यांकन के लिए ही भेजी जाती थीं। इस परम्परा के दर्शन हिन्दी-साहित्य के रीति-काल में भी होते हैं। जब आलोचक-समाज का क्षेत्र ऋषियों के आश्रमों से हटकर राज-दरबार में आ गया था। राज-दरबार के कवि और विद्वान् लोग विभिन्न कृतियों की उत्कृष्टता पर अपनी सम्मति प्रकट किया करते थे। 'वेलि क्रिसन रुकमणिरी' की तुलना 'रुक्मिणी हरण' से अकबर के दरबार में हुई, और अकबर ने वेलि की अपेक्षा हरण को अच्छा बताया, ऐसी किम्वदन्ती प्रचलित है। यह किम्वदन्ती असत्य ही प्रतीत होती है, क्योंकि वेलि की साहित्यिक उत्कृष्टता में किसी को कोई सन्देह नहीं है। यह निर्विवाद रूप से माहेरा से श्रेष्ठ है। पर इससे इतना अवश्य पता चलता है कि राज-दरबारों में इस प्रकार की आलोचनाएँ हुआ करती थीं। कवियों की कविता पर पुरस्कार प्रदान करना भी इसका दूसरा प्रमाण है। भक्त कवियों का राज-दरबार से कुछ सम्पर्क नहीं था, इसलिए उनकी कृतियाँ उस क्षेत्र की प्रशंसात्मक अथवा निन्दात्मक आलोचना से मुक्त रही हैं। लेकिन ये लोग जब परस्पर मिलते थे, उस समय इस प्रकार की चर्चा प्रायः हुआ करती थी। वयोवृद्ध कवि अपने से छोटों की कविता के गुण-दोषों का निर्देश उन्हें प्रोत्साहन देने की शुभेच्छा से किया करते थे। इस प्रकार के निर्देश प्रायः भक्ति-सम्बन्धी ही हुआ करते थे। स्वयं वल्लभाचार्य ने सूर की प्रारम्भिक विनय-प्रधान रचनाओं को घिघियाना कहकर उन्हें कृष्ण की प्रेम-लीला गाने का प्रोत्साहन दिया है। यह आलोचना के विशुद्ध क्षेत्र की वस्तु नहीं है। दर्शन और भक्ति से ही इनका सीधा सम्बन्ध है। पर फिर भी सूर की कविता की दार्शनिक व्याख्या तो कही जा सकती है। वल्लभाचार्य ने सूर की भक्ति और कविता पर प्रसंगवश जो कुछ कहा है, उसमें आलोचना के तत्त्व निहित हैं, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस काल के कवि अपने समकालीन कवियों की कविता का अध्ययन आलोचनात्मक दृष्टि से किया करते थे और तत्पश्चात् उनके साहित्यिक सौष्ठव पर अपनी सम्मति देते थे।

इसके भी कुछ प्रमाण मिल जाते हैं। 'वेलि' के सौष्ठव पर उसी काल के कवियों ने विचार किया है।[१]

'वेलि' को पंचम वेद और उन्नीसवां पुराण कहा गया है,[२] एक दूसरे राजस्थानी कवि ने निम्नलिखित रूपक से प्रशंसा की है। इसमें ग्रन्थ के शीर्षक की सार्थकता का विवेचन हुआ है। 'वेलि' के रूपक के आश्रय से आलोचक ने इसके महत्त्व का प्रतिपादन किया है।[३]

सरदार कवि-कृत 'मानस-रहस्य' में सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक दोनों प्रकार की आलोचनाओं का बहुत ही सुन्दर मिश्रण है, इस ग्रन्थ में लेखक ने 'काव्य-विलास', 'रस-रहस्य', 'सभा प्रकाश' आदि अनेक सिद्धान्त-ग्रन्थों का उपयोग किया है। काव्यांगों के लक्षण इन ग्रन्थों से उद्धृत किये गए हैं, और उन लक्षणों के अनुसार 'मानस' की व्याख्या की गई है। लक्षणों के उदाहरण 'मानस' से दिये हैं और बाद में उन स्थलों की गद्य में व्याख्या भी कर दी गई है। लेखक ने 'मानस' के स्थल उद्धृत करके उनमें काव्यांगों का निर्देश किया है, सूक्ष्म विवेचन नहीं है।

"निज कर भूषन राम बनाये,
सीता हि पहिराये प्रभु सादर।

"यहाँ राम जानकी परस्पर आलंबन विभाव कटाक्षादि अनुमान हर्ष संचारी रति स्थायी यामे शृंगार है," (पृष्ठ ८) काव्यांगों के निरूपण की दृष्टि से यह ग्रन्थ सर्वांगीण है, इसमें काव्य-लक्षण, काव्य का प्रयोजन, शब्द-शक्ति, रस, वस्तु और अलंकार-व्यंजना के आधार पर काव्य-भेद रस, के सम्प्रदाय, अलंकारों

---

१. 'वेलि कृष्ण रुकमणी री' की भूमिका, पृष्ठ ४९।

२. रुकमणि गुण लखण गुण रचावण
वेलि तासु कुण करै वखान,
पांचमो वेद भाख्यौ पीथल,
पुनियौ उगीसवों पुराण,

३. वेद बीज जल विमल सकति जित रोपी सद्धर,
पत्र दोहा गुण पुहप, वास लोभी लखमीवर,
पसरी दीप प्रदीप, अधिक गहरी आडम्बर,
जिके शुद्ध मन जपै, तेउ फल पामै अम्मर,
विस्तार कीध जुग-जुग विमल धन्य कृष्ण कहनार धन,
अमृत वेलि पीथल अचल, तैं रोपी कल्याण तन,

के पारस्परिक भेद आदि गम्भीर विषयों पर विचार हुआ है। लेखक ने इन प्रसंगों पर अनेक प्रसिद्ध आचार्यों के मत उद्धृत किये हैं। कहीं-कहीं गद्य में भी विवेचन है, जहां पर लेखक ने किसी अन्य आचार्य का नाम-निर्देश नहीं किया है यह लेखक का अपना है, इन लक्षणों में भी कहीं-कहीं पर्याप्त स्पष्टता है, "अर्थ और रस मिलो रहै सो अर्थान्तर संक्रमित और जहां विंग (व्यंग्य) अधिकाई कहिबे को वाचक अपनो अर्थ छोड़ि देय अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि।" (पृष्ठ ४)। लक्षण के अनन्तर उसी आधार पर मानस की पंक्ति की शास्त्रीय व्याख्या करने में इसी शैली का निर्वाह लेखक ने सर्वत्र किया है, "रस अनुकूल विकार को भाव कहत कविराज" यथा "कंकण किंकिणि नुपुर धुनि सुनि, कहत लखन सन राम हृदय गुनि," "इहां धुनि सुनि मे सिंगार अनुकूल विकार उपजो" "...अंभोज अंबक अंब उगंग सुअंग पुन्यकायनी छाई, इहां अनुप्रास को चमत्कार है, "नमामि भक्तवत्सलम" ग्राम्य अर्थ अलंकृत है, "दीपक दीपका-वृद्धि प्रति वस्तूपमा में भेद, दीपक मे इक धर्म नाहीं दीपका वृत्ति में नेम नाहीं प्रति-वस्तु उपमा में दोइ हैं", "भलो भलाई पै लहै लहै निचाई नीच" प्रति वस्तूपमा का उदाहरण है।'

'मानस-रहस्य' रीतिकालीन समीक्षा के आदर्श के अनुकूल शास्त्रीय आलोचना का प्रौढ़ उदाहरण है, सैद्धान्तिक विवेचन के उपरान्त उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर आलोच्य वस्तु का विश्लेषण आधुनिक समीक्षा की एक प्रधान विशेषता है, वर्तमान समीक्षा सूत्र रूप में केवल सामान्य निर्देश-मात्र तक सीमित न रहकर विशद विवेचन और विश्लेषण-शैली को अपनाती है। रीतिकाल का यह ग्रन्थ सूत्र-शैली में लिखा गया है, रीतिकाल में विश्लेषण-शैली का विकास नहीं हो पाया था। इसमें सिद्धान्त-निरूपण और प्रयोगात्मक आलोचना दोनों अभिप्राय सिद्ध हो रहे हैं, इसमें युग की आलोचनात्मक चेतना अत्यन्त स्पष्ट है, रीतिकाल और आधुनिक काल की शास्त्रीय समीक्षा में शैली का अन्तर होते हुए भी निश्चित मानदंड का उपयोग दोनों में होता है, इसी आधार पर यह मानना समीचीन प्रतीत होता है कि रीतिकालीन आलोचनात्मक चेतना ही आधुनिक समीक्षा-पद्धति के नवीन रूप में विकसित हो रही है। यह चेतना आधुनिक काल की चेतना में ही अन्तर्भूत हो गई है, 'मानस-रहस्य' रीतिकालीन आदर्श की वस्तु-निर्देशात्मक : क्लासिकल क्रिटीसिज्म शैली का अच्छा उदाहरण है।

रीतिकाल का विवेचन 'संस्कृत-समीक्षा-शास्त्र' की प्रौढ़ता की तुलना में अत्यन्त सामान्य है। इसमें विषय-प्रतिपादन की गम्भीरता का अभाव है। इसकी

कई कारण थे। गद्य की अविकसित अवस्था और युग-व्यापी बुद्धि-शैथिल्य के कारण संस्कृत की-सी प्रौढ़ता सम्भव नहीं थी। रीति काल का विवेचन भी क्रमशः प्रौढ़ होता गया है। केशव और चिन्तामणि की अपेक्षा सोमनाथ, प्रताप-साहि, सरदार कवि और गोविन्दानन्द घन का विवेचन अधिक गम्भीर और प्रौढ़ है। इनमें सूक्ष्म विवेचन तथा विषय के अपेक्षाकृत अधिक यथार्थ निरूपण की क्षमता है। इन लेखकों ने काव्य के गम्भीर विषयों का विवेचन किया है। अपने काल के ग्रन्थों की आलोचना भी वर्द्धमान समीक्षा-शक्ति का प्रमाणहै। इस काल में 'मानस-रहस्य'-जैसे प्रौढ़ प्रयास हुए, जिनमें शास्त्रीय तत्त्वों के अतिरिक्त चरित्र-वस्तु आदि के औचित्य का भी विवेचन हुआ, यह प्रयास आधुनिक और रीतिकाल की सन्धि में हुआ है। इससे यह अनुमान होता है कि रीतिकाल की आलोचनात्मक चेतना ही विकसित होकर नवीन रूप धारण कर गई। इस चेतना ने आधुनिक समीक्षा के विकास में सहयोग और प्रेरणा प्रदान की है, यह भी स्वीकार करना पड़ता है, इसके इस स्वरूप पर आगे विशद विचार किया जायगा।

चिरकाल की परिचित जीवन-प्रणाली, धर्म और समाज की परम्परागत रूढ़ धारणाओं की नींव हिल गई। भारतीय जनता भी अपने अतीत और रूढ़िवादिता की रक्षा के लिए उद्यत हो गई। उसने सम्मिलित होकर इस विदेशी विचार-धारा को उखाड़कर फेंकने में अपनी पूरी शक्ति लगा दी। सिपाही-विद्रोह के स्वातंत्र्य-संग्राम के साथ ही पाश्चात्य अनुकरण पर आधारित नवीन विचार-धारा के विरुद्ध प्राचीनता का भी विद्रोह था। सिपाही-विद्रोह के परिणाम ने भारतीयों को हतप्रभ कर दिया। इसकी विफलता भारतीय विचार-धारा का पाश्चात्य चिंतन के समक्ष आत्म-समर्पण था। राजा राजमोहन-राय-जैसे व्यक्तियों ने पाश्चात्य विचारों का स्वागत किया। देश में नवीन शिक्षा-प्रणाली का प्रसार प्रारम्भ हो गया। अंग्रेज भारतीयों को राजनीतिक परतंत्रता के साथ बौद्धिक दासता का भी पाठ पढ़ाना चाहते थे। ये नवीन विद्यालय इसी उद्देश्य से खोले गए थे। इस कार्य में उनको सफलता भी मिली। इन शिक्षण-संस्थाओं से निकला हुआ स्नातक अंग्रेजियता का भारतीय संस्करण-मात्र था और आज भी उसमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं है। पाश्चात्य शिक्षा और अंग्रेजों के संपर्क ने भारत में नवीन बौद्धिक जागृति ला दी और उन्हें समाज-सुधार तथा देश की सर्वतोमुखी उन्नति के लिए प्रेरित किया। भारतीय भी अपने जीवन और साहित्य पर नवीन दृष्टि से विचार करने लगा। उसे मूल्यांकन का नवीन मापदण्ड प्राप्त हो गया था। इसीसे वह अपनी प्रत्येक वस्तु और प्रत्ययों का मूल्यांकन करने लगा। इसके कुछ दुष्परिणाम भी अवश्य हुए, पर उसमें चिंतन की प्रवृत्ति जाग गई। वह अपने साहित्य, कला आदि को पश्चिम से प्राप्त नये प्रकाश में देखने लगा। भारतीय भाषाओं का साहित्य अंग्रेजी की अपेक्षा कम विकसित था। अपने साहित्य की इस हीनता की प्रतीति ने कुछ लोगों को अतीत की ओर तथा कुछ को पश्चिम के अन्धानुकरण की ओर आकृष्ट किया। इन दोनों प्रवृत्तियों में सामंजस्य भी स्थापित हुआ, जो भारतीय साहित्य-चिन्तन और जीवन के लिए श्रेयस्कर सिद्ध हुआ। आज भी इसीमें भारत का कल्याण है। इन सब कारणों से भारत में पुनः बौद्धिक जागृति का युग आ गया। शताब्दियों की घोर निद्रा के उपरान्त वह जाग उठा और युद्ध के क्षेत्र में बड़ी तेजी से आगे बढ़ने लगा। पश्चिम के अनुकरण पर उसमें साहित्य और कला की नवीन शैलियों और विज्ञान की नवीन सरणियों का अवलंबन प्रारम्भ हो गया। अब भारतीय अपने साहित्य का भी मूल्यांकन करने लगा। हिन्दी में भी काव्य की नवीन विधाओं के प्रयोग प्रारम्भ हो गए।

पाश्चात्य शैली की नवीन आलोचना भी प्रारम्भ हो गई। हिन्दी-भाषा-

भाषी भी अपने साहित्य और साहित्यकारों का नवीन शैली पर अध्ययन करने लगे। पाश्चात्य समीक्षा से उनको इस कार्य के लिए पर्याप्त प्रेरणा प्राप्त हो रही थी। अंग्रेजी साहित्य की तुलना में अपनी भाषा की साहित्य-समीक्षा उन्हें निम्न कोटि की प्रतीत हुई। इससे प्रेरित होकर उन्होंने नवीन प्रयोग प्रारम्भ कर दिए। बौद्धिक जागृति और पाश्चात्य अनुकरण के वातावरण में आधुनिक समीक्षा-पद्धति का जन्म और विकास हुआ है। इसमें नवीन शैली पर काव्य-सिद्धान्तों का निरूपण और समीक्षा की नवीन पाश्चात्य प्रणालियों का ग्रहण हुआ। आधुनिक हिन्दी-साहित्य-समीक्षा की यह प्रधान विशेषताएँ हैं जिनके दर्शन भारतेन्दु-काल के प्रारम्भ से ही होते हैं। इस काल में इन प्रवृत्तियों में विकास भी हुआ है। इसी विकास का अध्ययन इस अध्याय का प्रतिपाद्य विषय है।

आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में प्रारम्भ से ही कई विषयों को पाठ्य-क्रम में स्थान मिला था। इनमें से एक विषय हिन्दी भी थी। हिन्दी-उर्दू के बहुत गहरे संघर्ष और विरोध के होते हुए भी कई कारणों से हिन्दी पाठ्य-क्रम में अपना स्थान बनाये रख सकी। वस्तुतः यह भारत के जन-साधारण की भाषा थी, इसलिए राजनीतिक चालें भी उसको अपदस्थ नहीं कर सकीं। विरोधों ने उसे अधिक शक्तिशाली बना दिया। फोर्ट विलियम कालेज में ही हिन्दी के अध्यापक नियुक्त किये। उन्हें गद्य में पुस्तकें लिखने की प्रेरणा मिली और इस प्रकार धीरे-धीरे गद्य का विकास हुआ। उसकी एक निश्चित शैली बन गई और विभिन्न विषयों की पाठ्य पुस्तकें भी लिखी जाने लगीं। गद्य का विकास भी आधुनिक समीक्षा-प्रणाली के उद्भव और विकास का सहायक कारण हुआ। आधुनिक समीक्षा के उद्भव के प्रधान कारणों पर ऊपर विचार हो चुका है। पाश्चात्य साहित्य का सम्पर्क और बौद्धिक जागृति ही इसके प्रधान कारण हैं। कालेजों में अंग्रेजी और हिन्दी दोनों साथ-साथ पढ़ाई जाती थीं। हिन्दी के अध्यापकों और साहित्यकारों को समीक्षा का अभाव खटकता था। अंग्रेजी में यह साहित्य बहुत समृद्ध था इसलिए इन साहित्यकारों का ध्यान अपनी हीनता की अनुभूति के कारण भी साहित्य-समीक्षा की ओर आकृष्ट हो गया। भारतेन्दु और द्विवेदी-काल के लेखकों ने अपने साहित्य की अंग्रेजी से तुलना करते हुए कई बार इस हीनता को स्वीकार किया है। यह भी आधुनिक समीक्षा के कारणों में से एक है। इसने भी साहित्यकारों को समीक्षा की पर्याप्त प्रेरणा दी है। हिन्दी का साहित्यकार भी अपनी भाषा में प्रौढ़ प्रयोगात्मक आलोचना का दर्शन करना चाहता था इसके लिए पश्चिम ही उसके समक्ष

आदर्श था। इसलिए उसने पश्चिम का अनुकरण प्रारम्भ कर दिया। उसने समीक्षा की शैली और सिद्धान्त दोनों ही अपनाये। इसके लक्षण भारतेन्दु-काल के प्रारम्भ से ही स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। शैली तो पूर्णतः पाश्चात्य ही रही लेकिन सिद्धान्त अधिकतर भारतीय ही अपनाने पड़े। हिन्दी के पास काव्य-सिद्धान्तों की अमूल्य निधि थी। फिर भी हिन्दी के साहित्यकारों ने पश्चिम के काव्य-सिद्धान्तों को बहुत-कुछ आत्मसात् किया है। यह प्रयत्न भी भारतेन्दु-काल से ही प्रारम्भ हो गया। लेखक हिन्दी में अंग्रेजी के समीक्षा-सिद्धान्तों का अविकल अनुवाद करने लगे थे। यह अनुकरण का ही परिणाम था कि 'नागरी-प्रचारणी-पत्रिका' में पोप के 'ऐसे ऑन क्रीटिसिज़्म' का पद्यबद्ध अनुवाद प्रकाशित हुआ था।[1] गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने पत्रिका के प्रथम अङ्क में समालोचना के सम्बन्ध में जो-कुछ लिखा था वह भी पश्चिम का अनुकरण ही था। यह दोनों लेख कुछ बाद की रचनाएँ हैं। इनके पूर्व साहित्य-समीक्षा के जो प्रयास हुए वे भी अनुकरण के प्रभाव से वंचित नहीं हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आधुनिक समीक्षा के प्रारम्भ में पाश्चात्य अनुकरण भी इसके विकास की प्रधान शक्तियों में से एक था।

साहित्य के सर्वतोमुखी विकास की प्रेरणा में ही समाचार-पत्रों का प्रकाशन भी अन्तर्हित है। गत ईसवी शताब्दी के पिछले वर्षों में हिन्दी में भी समाचार-पत्रों का प्रकाशन प्रारम्भ हो गया था। मुद्रण-कला के विकास और राजनीतिक जागृति के साथ ही समाचार-पत्रों का प्रकाशन भी अनिवार्य था। मुद्रण के वैज्ञानिक साधनों के सुलभ हो जाने पर पुस्तकों का प्रकाशन भी प्रचुर मात्रा में होने लगा। जनता तक इन पुस्तकों को पहुँचाने के लिए विज्ञापन की आवश्यकता अनुभव होने लगी। समाचार-पत्र इनके प्रधान साधनों में से थे। पुस्तकों के विज्ञापन में पाठकों में रुचि उत्पन्न करने के लिए उनके वाह्य रूप, आकार, प्रकार और मुद्रण के सौंदर्य के साथ ही वर्ण्य-विषय की चित्ताकर्षकता और सजीवता पर भी विचार होता था। इस प्रकार इन विज्ञापनों में पश्चिम के 'बुक रिव्यू' का अनुकरण प्रारम्भ हो गया। इन विज्ञापनों में हिन्दी का लेखक ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से आधुनिक नवीन समीक्षा-प्रणाली के बीज बो रहा था। विकास-क्रम की दृष्टि से नवीन समीक्षा-पद्धति का यह प्रारम्भिक उदाहरण है। इस प्रकार मुद्रण-कला के विकास और समाचार-पत्रों के प्रकाशन ने भी आधुनिक समीक्षा-पद्धति के विकास में सहयोग

---

१. यह अनुवाद रत्नाकर जी द्वारा किया गया था।

दिया है। समाचार-पत्रों में 'बुक रिव्यू' का एक पृथक् स्तम्भ भारतेन्दु-काल से ही है। इसमें भी समालोचना का विकास हुआ है।

मुद्रण-कला और साहित्य-सृजन की नवीन प्रेरणा के फल स्वरूप हिन्दी में भी पुस्तकों की आशातीत वृद्धि प्रारम्भ हो गई। एक-एक विषय पर अनेक छोटी-मोटी पुस्तकें प्रकाशित होने लगीं। उपन्यास, कविता, कहानी, निबन्ध आदि की भरमार हो गई। जनता के पास इन सब पुस्तकों को पढ़ने और खरीदने के लिए पर्याप्त समय और अर्थ का अभाव था। इसी कारण से स्वभावतः उसमें ग्रहण और त्याग की प्रवृत्ति जाग गई थी। न तो वह सब-कुछ ग्रहण कर सकती थी और न सबका त्याग ही उसके लिए संभव था। पाठक में पुस्तकों की उपादेयता को आंकने की आकांक्षा प्रबल हो उठी। यह आकांक्षा भी समीक्षा के लिए प्रेरक शक्ति का कार्य करने लगी। उपादेय वस्तु का ग्रहण और निरर्थक का त्याग उसे आवश्यक प्रतीत होने लगा। साहित्य की निर्बाध वृद्धि से कहीं साहित्य का क्षेत्र कूड़े-करकट से अवरुद्ध न हो जाय; अमूल्य रत्न उनमें दबकर उपेक्षित न हो जायें। साहित्यकारों और जन-साधारणों की यह चिन्ता बढ़ती चली जा रही थी। इसके फल-स्वरूप आलोचना की प्रवृत्ति का जागना और तीव्र होना स्वाभाविक था। ऐसे भी आलोचनात्मक चेतना इस काल की प्रधान विशेषता है। साहित्य को कूड़े-करकट से मुक्त करने की आकांक्षा से कभी-कभी आलोचक को कटु आक्षेपों का भी आश्रय लेना पड़ा है। आलोचना के प्रारम्भ-काल में निन्दा-स्तुति की अधिकता होती है। भारतेन्दु-काल की आलोचना में यही हुआ।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि गत शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सारे देश की परिस्थिति के साथ ही हिंदी-क्षेत्र की अवस्थाओं में भी आमूल परिवर्तन हो गया था। इन परिवर्तनों के कारण नवीन बौद्धिक जागृति आई और आधुनिक समीक्षा-प्रणाली के उपयुक्त वातावरण तैयार हो गया। यह पद्धति हिन्दी के लिए ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भारत की भाषाओं के लिए नई थी। प्रयोगात्मक आलोचना की इस प्रवृत्ति का विकास भारत में पहले नहीं हुआ था। यह यूरोप की वस्तु है और भारत ने इसकी प्रेरणा वहीं से ली है। संस्कृत के आचार्यों का ध्यान सिद्धान्त-निरूपण की ओर ही अधिक गया। प्रयोगात्मक आलोचना के दर्शन तो टीकाओं, सूक्तियों तथा लक्षण-ग्रन्थों में यत्र-तत्र ही होते हैं। सार्वदेशिक और चिरन्तन मानदण्ड के उपयुक्त सिद्धान्तों और प्रौढ़ आलोचनात्मक चेतना के विकसित होने पर भी प्रयोगात्मक आलोचना की इस आधुनिक शैली का जन्म नहीं हुआ था। साहित्य अथवा कलाकार की

विशेषताओं का निरूपण पृथक् पुस्तक में उस समय नहीं होता था। यह आधु-निक शैली है। जब तक समालोचक फुटकर छन्दों के सौन्दर्य का ही अधिक विवेचन करता था; सम्पूर्ण ग्रन्थ और लेखक पर समष्टि रूप से बहुत कम कलाकार के व्यक्तित्व का विशद विवेचन आधुनिक समीक्षा की प्रधान विशेषत है। हिन्दी में भी उस शैली का विकास आधुनिक काल में ही हुआ है। रीति काल तो संस्कृत की अलंकार-परम्परा की उद्धरणी-मात्र रहा है। रीतिकाल में तो संस्कृत का-सा प्रौढ़ विवेचन मिलता भी नहीं, संस्कृत के आलोचकों ने तो कहीं-कहीं पर प्रसङ्गवश कवि के व्यक्तित्व, काव्य की उपादेयता, नैतिकत आदि गम्भीर विषयों पर भी विचार किया है। रीतिकाल में तो इसका भं प्रायः अभाव ही रहा। 'मानस-रहस्य'-जैसे ग्रन्थों में एक काव्य-ग्रन्थ की आलो चना मिलती है। यह मानस की आलोचना है, पर इसमें भी लेखक सैद्धान्तिः निरूपण ही अधिक करता है। इनमें भी आधुनिक आलोचना-शैली के दर्शः नहीं होते। संस्कृत के प्रौढ़ विवेचन की छाया ग्रहण करके रीतिकाल में जो कुछ प्रयास हुए उन्होंने आधुकि हिन्दी-साहित्य तक संस्कृत के सिद्धान्तों कं पहुँचाने भर का कार्य किया है। आधुनिक विद्वानों का ध्यान संस्कृत-अलंकार ग्रन्थों की तरफ बहुत अधिक गया है, इसका कुछ श्रेय रीतिकाल को भी है पाश्चात्य अनुकरण से आलोचना को पर्याप्त प्रौढ़ शैली प्राप्त हुई है। व 'मानस-रहस्य' की तरह शास्त्रीय और संकेतात्मक-मात्र नहीं है, उसमें विश्ले-षण की प्रधानता है। आज की आलोचना में कला-कृति पर जीवन की दृषि से विचार होता है। तत्कालीन परिस्थितियों का कला-कृति पर प्रभाव, कलाका के व्यक्तित्व से उसका सम्बन्ध, जीवन-धारा के स्वाभाविक प्रवाह में सहयो आदि गूढ़ प्रश्नों पर विचार होता है। अंग्रेजी का विद्वान् पश्चिम की नई-न आलोचना-शैलियों से परिचित होकर उनका प्रयोग अपनी भाषा में भ करना चाहता है। इसके फलस्वरूप हिन्दी में भी आलोचना व अनेक शैलियाँ बन गईं। जिनको अंग्रेजी का पूरा ज्ञान नहीं था औ इसलिए जो समीक्षा की शैलियाँ सीधी पश्चिम से नहीं ले पाते थे उनको भ युग से चेतना मिली और उन्होंने भी पाश्चात्य शैलियों का उपयोग किया है आधिनिक हिन्दी-साहित्य में भारत के प्राचीन अलंकार-ग्रन्थों का नवीन मनं वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन हुआ। पाश्चात्य समीक्षा-तत्त्वों के साथ-साथ उनव सामंजस्य भी स्थापित हुआ और इस प्रकार एक नवीन प्रौढ़ शैली का जन हो गया। प्राचीन और नवीन शैलियों के तुलनात्मक अध्ययन को प्रस्तुत कर का तात्पर्य नवीन शैली के महत्त्व को स्पष्टकरता है। भारतेन्दु-काल में समीक्

का इतना प्रौढ़ रूप नहीं मिल पाया। उसमें इतनी शैलियों का विकास भी नहीं हुआ है। लेकिन इतना तो निश्चय है कि इस नवीन समीक्षा के बीज भारतेन्दु-काल में थे, भावी विकास का पूर्वाभास इसी काल में मिलने लगा। यही भारतेन्दु-काल का महत्त्व है। इस काल के कुछ आलोचनात्मक प्रयास महत्त्वपूर्ण विकास की क्षमता का आभास देते हैं। स्पष्ट रूप से इस काल की आलोचना सामान्य परिचय के ही स्तर की है।

भारतेन्दु-काल में आलोचना के आधुनिक रूप का विकास किस प्रकार हुआ और उसका क्या स्वरूप रहा इन सब बातों का निरूपण करने के पूर्व कुछ पुस्तकों की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है। ये पुस्तकें भारतेन्दु जी से बहुत पुरानी नहीं हैं। इन्हें उनके समकालीन कहना भी अनुचित नहीं है। लेकिन समीक्षा-शैली की दृष्टि से इनको भारतेन्दु-काल के पूर्व की विकास-अवस्था को मानना पड़ता है। श्री मानसीनन्दन पाठक-कृत 'मानस संकावली', श्री शिवलाल पाठक द्वारा सम्पादित 'मानस-मयंक' तथा श्री शिवरामसिंह-कृत 'मानस तत्त्व प्रबोधिनी'—इन तीनों पुस्तकों की ओर मैं ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। विस्तृत अर्थ में ये तीनों पुस्तकें टीका कही जा सकती हैं। इनमें शंका-समाधान वाली शैली का अनुकरण हुआ है। 'मानस संकावली' इस शैली का प्रधान ग्रन्थ है। 'मानस-मयंक' पद्यबद्ध टीका है। इसे और भी स्पष्ट करने के लिए इन्द्रनाथ ने एक तिलक लिखा है। सारे ग्रन्थ पर क्रमिक टीका नहीं है। अपितु कुछ विशेष स्थलों पर ही है। टीका मूल से कहीं अधिक क्लिष्ट है, "मघवा मूल बिडौजा टीका" वाली कहावत चरितार्थ हो रही है। टीका में बहुत दूर की गम्भीर बातों को मूल से निकालने की चेष्टा की गई है। इन ग्रन्थों में कवि की दार्शनिक विचार-धारा तथा उनकी भक्ति-पद्धति के निरूपण का प्रयास है। यह प्रयास फुटकर छन्दों के आधार पर ही हुआ है। इन लेखकों का उद्देश्य छन्दों के अर्थ को स्पष्ट करने की अपेक्षा उनकी आलोचना करने का ही है। 'मानस-मयंक' में भी विश्लेषण की प्रवृत्ति अधिक है। कवि के दार्शनिक विचार और भक्ति-पद्धति के आधार पर विभिन्न स्थलों की व्याख्या की गई है। लेखक ने दशरथ की मुक्ति न होने का कारण उनका भक्त होना बताया है। इस तथ्य का निर्देश करके लेखक तुलसी की भक्ति-परम्परा के ज्ञान और उसके निर्वाह का विवेचन कर रहा है। 'मानस-मयंक' में भी इस प्रकार के विचारों का बाहुल्य है। इस ग्रन्थ के भूमिका-लेखक ने भी इसका उल्लेख किया है। इन

ग्रन्थों में प्रधान रस का भी विवेचन हुआ।[1] वात्सल्य की प्रधानता मानकर लेखक ने बाल की खाल निकालने का प्रयत्न किया है। उक्तियों में ईर्ष्या आदि भावों की व्यञ्जना का निर्देश हुआ है। इन ग्रन्थों के लेखकों ने कवियों की विचार-धारा, भावोत्कर्ष का रूढ़ियों से मुक्त सहृदयतापूर्ण विवेचन, कथा-भाग और उक्तियों का चरित्र आदि की दृष्टि से औचित्य-जैसे गूढ़ प्रसंगों का निरूपण किया है। कवियों की भक्ति पर तो रीतिकाल के पूर्व भी विचार होता रहा है, पर आलोचना के ऐसे गूढ़ प्रश्नों पर पहले कभी विचार नहीं हुआ। इस गम्भीरता में आधुनिक काल की समीक्षा का पूर्वाभास मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो प्राचीन शैली में नवीन विषयों पर विचार हुआ है। इन ग्रंथों पर पाश्चात्य प्रभाव के लक्षण नहीं हैं। इस प्रभाव के अभाव में भी इन गूढ़ प्रश्नों का भी विश्लेषण यह सिद्ध करता है कि आधुनिक समीक्षा-पद्धति केवल पश्चिम का अनुकरण-मात्र नहीं है। यह युग की चेतना ही थी जिसको अनुकरण ने मार्ग-निर्देश कर दिया। यही कारण है कि सन्धि-काल के टीकाकारों ने भी इन गूढ़ प्रश्नों पर विचार किया है। इन युग की आलोचनात्मक चेतना का जो आभास इन ग्रन्थों में मिलता है उससे स्पष्ट है कि नवीन समीक्षा-पद्धति के सूक्ष्म तन्तु पहले से ही विद्यमान थे। बौद्धिक जागृति के साथ-साथ साहित्य-समीक्षा की आकांक्षा भी प्रबल होती गई। आधुनिक शिक्षा ने इस प्रवृत्ति के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार कर दिया। आलोचक का मस्तिष्क नवीन समीक्षा-शैली को ग्रहण करने के लिए तैयार था। साहित्य की धाराओं का विकास क्रमिक होता है। कोई भी साहित्यिक धारा अपने पूर्वकाल की धाराओं से पूर्णतः असम्बद्ध नहीं होती। नवीन परिस्थितियों में उसका स्वरूप नवीन हो जाता है। लेकिन अन्तस्तल में प्रवाहित धारा एक तथा अक्षुण्ण रहती है। यह सिद्धान्त आधुनिक नवीन समीक्षा-पद्धति के लिए ही पूर्णतः सत्य है।

साहित्य की प्रत्येक प्रवृत्ति का निरन्तर विकास होता रहता है, लेकिन थोड़े काल में इसका स्पष्ट रूप नहीं दृष्टिगत होता। क्षीण आभास भर भले ही स्पष्ट

---

1. The word "Mayank" literally means "the moon" and it substantially throws a charming light in explaining the dogmas of the "Ram Charit Manas" and is specially intended for the solution of "Manas Theology" The "Mayank" explains the real and it has decided with unquestionable arguments that the system of "Bhakti" is superior to all.

हो जाय। साहित्य का विकास वर्षों में नहीं युगों में आँका जाता है। भारतेन्दु-काल भी साहित्य की लम्बी परम्परा की दृष्टि से एक छोटा-सा काल है। इसमें समीक्षा का विकास तो हुआ है लेकिन उसको स्पष्ट अवस्थाओं में नहीं बाँटा जा सकता। सारे काल की समीक्षा विकास की एक अवस्था में ही सन्निविष्ट हो जाती है। साहित्य के युगों का विभाजन इसी आधार पर होता है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के इस छोटे से काल को हिन्दी के इतिहासकारों ने जिन युगों में बाँट दिया है उसकी आधार-भित्ति यही है। इस निबन्ध में भी शुक्ल जी द्वारा निर्दिष्ट युगों की काल-सीमाओं को ज्यों-का-त्यों ही अपनाने की चेष्टा की गई है। भारतेन्दु-काल की समीक्षा की विकास की कई-एक अवस्थाओं में नहीं बाँट सकते हैं, लेकिन क्रमिक विकास को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। विज्ञापन की हल्की समीक्षा से प्रारम्भ होकर कला-कृति के काव्य-सौष्ठव, कलाकार के व्यक्तित्व तथा उसकी परिस्थितियों के गम्भीर विवेचन वाली समीक्षा-पद्धति तक के दर्शन इसमें होते हैं। पुस्तकों के विज्ञापन और परिचय में उनके गुण-दोषों की चर्चा अनिवार्य थी। पुस्तक की उत्कृष्टता के साथ समीक्षक का गम्भीर होना भी स्वाभाविक ही था। धीरे-धीरे विज्ञापनों ने निष्पक्ष आलोचना का रूप धारण कर लिया। प्रेमघन जी और भट्ट जी ने अपनी पत्रिकाओं में पुस्तकों की जो आलोचनाएँ की थीं उसका दृष्टिकोण विज्ञापन का नहीं अपितु विशुद्ध साहित्य-समीक्षा का ही था। 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' में भागवत का विज्ञापन निम्न प्रकार से प्रकाशित हुआ था : "इस पुस्तक में मूल श्लोक के साथ विस्तार पूर्वक सरल और साधु भाषा में अनुवाद लिखने के सिवाय उचित और आवश्यक स्थलों पर सुन्दर मनोरंजक और हृदय-ग्राहक ५६० से अधिक दृष्टान्त दिये गए हैं।" इसमें आलोचना की प्रवृत्ति के स्पष्ट दर्शन होते हैं। लेकिन 'संयोगिता स्वयंवर की आलोचना'[1] का-सा विशुद्ध समीक्षात्मक दृष्टिकोण नहीं है; इसीलिए वैसी प्रौढ़ता का भी अभाव है। इसमें आलोच्य पुस्तक के दोषों की उद्भावना की गई है। कहीं-कहीं लेखक कटु व्यंग्यों का आश्रय भी लेता है। लेकिन इसमें साहित्य में सुरुचि-प्रचार की सद्भावना है। आलोचक के कठोर कर्तव्य के निर्वाह के लिए ऐसा करना पड़ा है। उपर्युक्त विज्ञापन और इस आलोचना का अन्तर विकास के क्रम को स्पष्ट कर देता है। विज्ञापन में विद्यमान आलोचना के क्षीण तन्तु ही इस आलोचना में प्रौढ़ हो गए हैं। पुस्तक-परिचय के अतिरिक्त प्राचीन कवियों

१. देखिए, इसी अध्याय में 'सच्ची समालोचना' का उद्धरण।

और आचार्यों के परिचय भी प्रकाशित हुए। उनमें जीवन-सम्बन्धी तथ्यों का उल्लेख तथा उनके साहित्य के उत्कर्ष पर विचार भी हुआ है। प्राचीन अलङ्कार आदि तत्वों के निर्देश भी हुए तथा काव्य-सौन्दर्य को प्रकट करने वाली सहृदयता का आश्रय ग्रहण करके प्रभावात्मक शैली का भी उपयोग हुआ है। इसी काल में कवियों और कलाकारों की भाषा,चमत्कार-प्रियता,और स्वाभाविक उक्तियों के प्रयोग की प्रवृत्ति जन-साधारण का प्रेय, चरित्र-चित्रण आदि कई-एक दृष्टियों से विचार आरम्भ हो गया। शास्त्रीय विश्लेषण तो कम ही हुआ। इस काल की आलोचना में निर्णयात्मक तत्व की प्रधानता रही है। काव्य के पाश्चात्य और भारतीय दोनों समीक्षाओं के तत्वों का उपयोग हुआ है। उनमें साधारण सामंजस्य स्थापित करने की प्रवृत्ति भी रही है। कलाकार के व्यक्तित्व पर भी सामान्य विचार हुआ है। काव्य के आधार पर तत्कालीन जीवन का अनुमान भी कुछ आलोचकों ने किया है। यह सब आगे उद्धरणों से स्पष्ट हो जायगा। सूर की कविता में आलोचक ने भारत के जातीय जीवन के दर्शन किये हैं आलोचक के कर्तव्य तथा तत्कालीन आलोचना के स्वरूप का विश्लेषण भी प्रारम्भ हो गया था। इस काल का आलोचक भी साहित्य के चिरंतन स्वरूप के दर्शन का इच्छुक है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस काल की समीक्षा में क्रमिक विकास हुआ है और वह उस अवस्था तक पहुँच गई है जिसमें आधुनिक समीक्षा के प्रधान तत्व स्पष्ट हो गए हैं। जिस दिशा में इस समीक्षा का विकास हुआ है उसका पूर्वाभास भारतेन्दु-काल में ही मिल जाता है। यही इस काल का महत्त्व है।

भारतेन्दु-युग से हिन्दी-साहित्य में क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रारम्भ हो गए। हिन्दी को विगत युग के साहित्य से ही सामग्री नहीं मिल रही थी अपितु वर्तमान प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य से भी उसने पर्याप्त सामग्री ग्रहण की है। पाश्चात्य साहित्य तो इस काल की प्रधान प्रेरणा ही रहा है। इस प्रकार आधुनिक साहित्य कई शक्तियों से प्रेरणा ग्रहण करके हिन्दी के विगत युगों के साहित्य से पर्याप्त रूप में भिन्न हो गया। ऐतिहासिक परिस्थितियों ने हिन्दी को नवीन दिशा का अवलम्बन करने को वाध्य कर दिया। जीवन के दृष्टिकोण के साथ ही साहित्य की धारणाओं में भी आमूल परिवर्तन हो गया। रीतिकाल की तरह अब साहित्य-सृजन मनोविनोद की वस्तु नहीं रहा। सहित्य का उद्देश्य जीवन का यथार्थ चित्रण तथा उसको मंगल की ओर अग्रसर करना माना जाने लगा। साहित्य में नग्न विलासिता का तीव्र विरोध प्रारम्भ हो गया। सुरुचि और नैतिकता साहित्य की मूल प्रेरणा हो

गई। साहित्य राज-दरबारों से निकलकर जन-साधारण के क्षेत्रों की वस्तु बन गया। शब्दाडम्बर और आलंकारिक चमत्कार का स्थान रागात्मक तत्त्व ने ले लिया। जीवन की व्याख्या के रूप में काव्य का लक्षण प्रायः सर्वमान्य हो गया। इस तरह उसमें बौद्धिक तत्त्व की भी प्रधानता हो गई। हिन्दी-साहित्य के आधुनिक युग के अंतस्तल में साहित्य की यही धारणा प्रवाहित हो रही है। सुरुचि, नैतिकता और बौद्धिकता इस काल की प्रधान प्रेरणाएँ हैं। भारतेन्दु-काल के प्रारम्भ से ही यह धारणा बन गई थी। साहित्यिक धारणा काव्य का स्वरूप निर्दिष्ट करती है, इसलिए इसको भी आलोचना के अंतर्गत ही माना गया है। साहित्य का पथ-निर्देश करने वाली आलोचनात्मक चेतना के उपर्युक्त तत्त्व भारतेन्दु-काल में भी उपलब्ध होते हैं। सुरुचि और नैतिकता इस काल से ही आलोचना का मूलभूत आधार हो गए। आलोचक साहित्य में स्वाभाविकता और रागात्मकता को महत्त्व देने लगा, चमत्कार को नहीं। साहित्य-सम्बन्धी इस धारणा ने भारतेन्दु-काल के सृजन और भावन-दोनों को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है। श्रेष्ठ काव्य की यही कसौटी ग्रहण कर ली गई। जो काव्य इस कसौटी पर खरे नहीं उतरे उनकी निन्दा हुई। इस काल की दोषोद्भावनापूर्ण आलोचना की मूल प्रेरणा भी सुरुचि ही थी, व्यक्तिगत राग-द्वेष नहीं। परवर्ती काल में तो यह आलोचना व्यक्तिगत कटु व्यंग्यों का रूप धारण कर गई। भारतेन्दु-काल से ही राष्ट्र-प्रेम, समाज-सुधार आदि वर्ण्य विषयों का उपयोग प्रारम्भ होने का मूल कारण भी यही साहित्यिक धारणा है। इस प्रकार इसका आलोचनात्मक महत्त्व स्पष्ट है।

पुस्तक-परिचय वाली शैली ही समसामयिक पुस्तकों की विस्तृत आलोचनाओं के रूप में विकसित हुई है। 'आनन्द-कादम्बिनी' की 'संयोगिता-स्वयंवर' और 'बंग-विजेता' तथा 'हिन्दी-प्रदीप' की 'सच्ची समालोचना' इसी शैली के प्रौढ़ उदाहरण हैं। इनमें पुस्तक-परिचय का हल्कापन नहीं है। सत् साहित्य को प्रोत्साहन तथा असत् के बहिष्कार की सदिच्छा ही प्रधान है। इसलिए ये समीक्षाएँ गम्भीर और विश्लेषणात्मक हैं। कुछ कटूक्तियाँ भी हैं, जो समीक्षा की गरिमा के लिए अनुपयुक्त और अशोभनकारी हैं। फिर भी सदिच्छा के कारण ये क्षम्य हैं। 'आनन्द-कादम्बिनी' में 'बंग-विजेता' के सब परिच्छेदों पर क्रमशः विशद आलोचना हुई है। लेकिन फुटकर स्थलों पर ही विचार हुआ है, पुस्तक के समष्टि रूप पर नहीं। इतनी विस्तृत और पूर्ण समालोचना उस काल में दूसरी नहीं प्रकाशित हुई है। 'संयोगिता-

स्वयंवर' की आलोचना में दोषोद्भावना ही अधिक है। इन दोनों नाटकों पर आलोचक ने कथानक, चरित्र-चित्रण, उक्तियाँ, ऐतिहासिक नाटकों की प्रकृति आदि अनेकों दृष्टियों से विचार किया है। लेखक का ध्यान प्रधानतः स्वाभाविकता और औचित्य पर ही है। ऐतिहासिक नाटक की क्या विशेषताएँ हैं, पात्रों के व्यक्तित्व का चित्रण प्रभावोत्पादक कैसे हो, कौन से चरित्र स्वाभाविक होते हैं आदि अनेकों सिद्धांतों पर विवेचन किया गया है और उन्हीं सिद्धांतों के आधार पर नाटक की परीक्षा हुई है। कुछ आक्षेपों और विश्लेषण के स्थान पर संकेतात्मक शैली के अधिक प्रयोग के कारण आलोचना के ये प्रभाव प्रारम्भिक ही माने जायँगे; पर इनमें समीक्षा के प्रौढ़ तत्त्व गर्भित हैं। यह निम्न लिखित उद्धरण से स्पष्ट है: "संयोगिता-स्वयंवर' दिल्ली-निवासी लाला श्रीनिवासदास-रचित एक ऐतिहासिक नाटक है। लालाजी यदि बुरा न मानिये तो एक बात आपसे धीरे पूछें, वह यह कि आप ऐतिहासिक नाटक किसको कहेंगे, क्या केवल किसी पुराने समय के ऐतिहासिक पुनरावृत्ति की छाया लेकर नाटक लिख डालने से ही वह ऐतिहासिक हो गया......... किसी समय के लोगों के हृदय की क्या दशा थी, उनके आभ्यन्तरिक भाव किस पहलू पर ढलके हुए थे अर्थात् उस समय-मात्र के भाव (स्प्रिट ओफ दी टाइम्स) क्या थे; इन सब बातों को ऐतिहासिक रीति से पहले समझ लीजिये तब उसके दर्शाने का भी यत्न नाटकों द्वारा कीजिये। केवल क्लिष्ट श्लेष बोलने ही से तो ऐतिहासिक नाटक के पात्र—वरन् एक प्राकृतिक मनुष्य की भी पदवी हम आपके पात्रों को नहीं दे सकते। बल्कि मनुष्य के बदले आपके नाटक पात्रों को नीरस रूखे-से-रूखे अर्थान्तरन्यास गढ़ने की कल कहें तो अनुचित न होगा...यहाँ तक कि संयोगिता बिचारी भी अपना पांडित्य ही प्रकाश करने के यत्न में हैरान...कविता के मीठे रस के बदले नैयायिकों के के सदृश कोरा तर्क-वितर्क करना भाव का गला घोंटना है...पृथ्वीराज संयोगिता से क्यों अलग हुआ; क्योंकि नीति-शास्त्र में लिखा है। राजा जयचंद और पृथ्वीराज में क्यों मेल-मिलाप हो गया ? केवल इस इसी कारण से कि अन्त को पछताके किसी तरह जयचंद के मन में महाभारत के घोर युद्ध का कारण बन गया। अहा, अहा तनिक और ज्यादा धँस जाता तो काहे को आपको नाटक लिखने का कष्ट सहना पड़ता ..हमने जहाँ तक नाटक देखे उनमें पात्रों की व्यक्ति (Chonadinrs sation) के भिन्न-भिन्न होने ही से नाटक की शोभा देखी, पर आपके पात्र सब-के-सब एक ही रस में सम उपदेश देने में लथर-पथर पाये गए है ..नाटक में पांडित्य नहीं वरन् मनुष्य के हृदय से आपको

यह स्पष्ट है कि उस समय भी आलोचकों में साहित्य को एक धारा के रूप में देखने की प्रवृत्ति जाग्रत हो गई थी। वे साहित्य का केवल व्यक्ति से ही नहीं अपितु युग से भी सम्बन्ध मानते थे। पर उनका ध्यान काव्य के अत्यन्त बाह्य और स्थूल रूप पर ही था। वे काव्य के आभ्यन्तर भाव-जगत् में प्रविष्ट होकर विश्लेषण नहीं कर पाए हैं। भाषा, अलंकार, चमत्कार और स्वभावोक्ति तक ही सीमित रहे हैं। भावों की हृदयस्पर्शिता को मधुर आदि प्रभावाभिव्यंजक शब्दों में व्यक्त कर पाए हैं। भाषा-सम्बन्धी आलोचना प्रशंसात्मक और आत्म-प्रधान ही अधिक है। भारतीय अलंकार-शास्त्र अथवा पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र के सिद्धान्तों का उपयोग प्रायः कम नहीं हुआ है। 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' में एक स्थान पर कालिदास की कविता को कन्द में सना हुआ मक्खन का लड्डू कहा है।[1] राष्ट्र-प्रेम इस काल के साहित्य की प्रधान विशेषताओं में है। आलो-

---

१. ऐसा विचार है कि हिन्दी-कविता प्राकृत भाषा से बिगड़ती हुई बनी होगी परन्तु इसमें कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। केवल हिन्दी-कविता में बहुत-से प्राकृत शब्द मिलते हैं इससे निश्चय हो सकता है; जैसे कित्ति कान्ह कव्व इत्यादि···। चन्द की कविता प्राकृत भाषा की-सी है।···परन्तु मलिक मुहम्मद जायसी ने जो 'पदमावत' बनाई है वह कविता उस काल के पीछे की कविता कही जा सकती है। यह कविता मीठी और सीधी बनी है·····इस काल तक (अर्थात् कबीर तक) कविता की कोई बँधी भाषा नहीं थी सब लोग सीधी बोली में कविता करते थे। उस समय में हिन्दी-कविता में ब्रज-भाषा मिल गई थी, परन्तु ब्रज-भाषा में कविता करने का नियम सूरदासजी ने बाँधा है·····ये भाषा के कवियों के मुकुटमणि और महाराज थे; प्रायशः नये कवियों की कविता में वही उपमा और वही युक्तियाँ मिलती हैं जो सूरदास जी प्रदान कर गए हैं।··· सूरदासजी ने तो स्वभावोक्ति बहुत कही है पर और भाषा के कवियों का ध्यान इधर न रहा और मुसलमानी राज्य के ठीक समय में होने के कारण उन लोगों में बड़ी लम्बी-लम्बी उपमा और अक्षर-मैत्री और बड़े-बड़े शब्द कविता में भर दिये।···ब्रज भाषा ही कविता की मुख्य भाषा रही और 'काव्यादर्श' इत्यादि ग्रंथों का मत लेकर हिन्दी-कविता के शास्त्र भी बने, परन्तु जैसा कवियों ने अलंकार और नायका-भेद में जी लगाया वैसा व्याकरण की ओर न झुके और यही कारण है कि मनमानी भाषा और मनमाने शब्द कविता में मिल गए।·· इस समय (रीतिकाल का परार्द्ध) के कवियों का चित्त स्वभावोक्ति पर

चनाओं में भी राष्ट्रीय दृष्टिकोण के दर्शन होते हैं। 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' जुलाई-अगस्त सन् १८९८ ई० में एक उपन्यास की आलोचना करते समय आलोचक ने हिन्दू-मुस्लिम-समस्या की दृष्टि से विचार किया है। वे दोनों जातियों के पारस्परिक मेल का समर्थन करते हैं। "वह महादोष यह है—मुसलमानों के चरित्र का ऐसा चित्र खींचना कि जिससे यह भान होने लगे कि संसार की मनुष्य जाति-भर में सबसे नीच, दुष्ट, अत्याचारी, विश्वास-घातक ये ही होते हैं।"

"हिन्दू-मुसलमानों का मेल कराना तो दूर रहा, इस प्रकार दिन-दिन दोनों में परस्पर घृणा और द्वेष बढ़ाया जा रहा है। (पृष्ठ १९) इसी युग में साहित्य को सुरुचि और सुनीति के प्रचार का प्रधान साधन मानने की प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। साहित्य मानव का चारित्रिक उत्थान करता है। उपर्युक्त उपन्यास की आलोचना में घोर पापी को सच्चरित्र बनाने की बात कही गई है। युग और व्यक्ति दोनों की दृष्टि से साहित्य की उपयोगिता का बहुत ही सामान्य विचार हुआ है। इन तत्त्वों का निर्देश करने का तात्पर्य भावी विकास के तत्त्वों का स्पष्टीकरण-मात्र है। इस काल की आलोचना केवल प्रारम्भिक प्रयास-मात्र है; यह कई बार कहा जा चुका है। पर आलोचक की चेतना जागृत होने लगी थी, इसमें सन्देह नहीं है।

भारतेन्दु से पूर्व का युग रीतिकाल सैद्धांतिक निरूपण का काल था। इसलिए भारतेन्दु-काल में इस धारा का अचानक बन्द हो जाना कभी संभव

तनिक नहीं जाता था केवल बडे-बडे शब्दाडम्बर करते थे और इन शब्दाडम्बर वालों का पद्माकर राजा है और इसने वर्ण-मैत्री के हेतु अनेक व्यर्थ शब्द अपने काव्य मे भर दिये और फारसी के भी बहुत शब्द मिला दिये हैं और इसकी देखा-देखी और कवि भी ऐसा करने लगे। केशवदास ने तब भी कविता की मर्यादा बाँधी और उसकी मर्यादा को बहुत लोग अब तक मानते है। उस समय वृन्दावन मे अनेक अच्छे कवि हुए हैं और उनकी कविता सीधी स्वभावोक्ति के लिए और रस-भरी होती थी जिनमें नागरीदास जी बडे अच्छे हुए हैं। ···इस काल मे नाटक एक-दो बने, जिनमें एक 'हास्यार्णव' था। यद्यपि यह शुद्ध नाटक की चाल से नहीं है तथापि कुछ नाटक की चाल छूकर बना है पर बहुत असभ्य शब्दों से भरा है। इसीसे कवि ने उसमें अपना नाम नहीं रखा है पर अनुमान होता है कि रघुनाथ कवि का नाम है।" —'कवि वचन सुधा', अगस्त १८८२।

इस काल में पुस्तक-परिचय तथा अन्य समीक्षात्मक निबन्धों के लेखक के रूप में ही हमें आलोचक के दर्शन मिलते हैं। ऐसे कई-एक विद्वान् थे। काशीनाथ आदि का नाम 'कविवचनसुधा' में बहुत बार आया है। पर प्रधान समालोचक तीन ही हैं — भारतेन्दुजी, बदरीनारायणजी चौधरी और बालकृष्ण

---

description,but its difficulties are very dissatisfactorily elucidated. His Characters live and move with all the dignity of a heroicage. For sustained and varied dramatic interest I suppose that Ramayan is his best work, but there are fine passages in his other poems. What can be more charming than the description of Rama's boyhood and boyhood in the commencement of the Gitabali or the dainty touches of colour given to the conversation of the village women as they watch Ram......We can hear the cracking of the flames and the crash of the falling houses, the turmoil and confusion amongst the men, and the cries of the helpless women as they shrick for water......Still even Tulsi Das was not able to rise altogether superior to the dense cloud which fashion had imposed upon Indian poetry. I must confess that his battle descriptions are often luridly repulsive and sometimes overstap the border which separates the tragic from the ludicrous." Grierson : The Modern Vernacular Literature of Hindustan.

There can, of course be no comparison between the polished phraseilogy of classical Sanskrit and the rough colloquil idioms of Tulsi Das Vernacular......It is also less wordy and diffuse than the Sanskrit original and probably in consequence of its modern date is less disfigured by wearisome interpolations and repititions ; while, if it never soars so high as Valmiki in some of his best passages, it maintains a more equable level of poetic diction and seldom sinks with him into such dreary depths of unmitigated prose. (Intro. P. 1)......His theological and metaphysical views are pantheistic in character, being best for the most part on the teaching of the later Vedantists as formulated in Vedant-Sar and more elaborate expounded in Bhagwat Gita ...The whole of Tulsi Das Ramayan is a passionate protest against the vertual atheism of philosophical Hindu theology.

भट्ट। ये तीन तो इस युग के प्रधान पुरुष और युग-निर्माता हैं। साधारणतः हिन्दी-विद्वानों की यह धारणा बनी हुई है कि प्रेमघनजी ही हिन्दी के सर्व प्रथम समालोचक हैं। इसमें इतनी ही समीचीनता है कि पुस्तक के गुण-दोषों का जैसा तटस्थ और साहित्यिक विश्लेषण उन्होंने किया है वैसा उनके पूर्व तथा उनके युग में भी हिन्दी का कोई समालोचक न कर सका। पर जैसे साहित्य के अन्य क्षेत्रों में भारतेन्दु ही नवीन क्रान्ति के अग्रदूत हैं, वैसे ही हमें उन्हें इस क्षेत्र की जागृति का श्रेय भी देना पड़ता है। भारतेन्दु जी की आलोचनाओं के पहले उदाहरण उद्धृत किये गए हैं। उनसे यह पूर्णतः स्पष्ट है कि वहाँ जिन विशेषताओं का परिचय दिया गया है वे सारी युग और समीक्षा की तत्कालीन अवस्था की द्योतक हैं। ये प्रवृत्तियाँ तो इस युग के सभी समालोचकों में मिलेंगी। इसके अतिरिक्त इन तीनों महापुरुषों की वैयक्तिक विशेषताओं पर विचार हो सकता है।

भाषा-विज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर हिन्दी-साहित्य के अध्ययन की प्रवृत्ति भारतेन्दुजी में अपेक्षाकृत अधिक है। वे इस शैली में साहित्य के बाह्य सौष्ठव तथा उसकी जीवन-सम्बन्धी उपादेयता और चिरन्तनता पर भी विचार कर लेते हैं। गुणों और अलंकार-नियोजन की प्रवृत्ति का विवेचन भी उनकी प्रधान विशेषता है। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतेन्दुजी का ध्यान अपने सम-सामयिक साहित्य की किसी पुस्तक की आलोचना की अपेक्षा साहित्य के प्राचीन विकास के अध्ययन की ओर अधिक गया है। वे साहित्य को विकास-शील रूप में देखते हुए भी उसके चिरन्तन स्वरूप की खोज में हैं। उन्होंने

(Page—13). The sentiments that the poet depicts and the figures that he employs to illustrate them, appear with irrestible force to the Hindu imagination and if for no other reason than this, they would be interesting to the English student for the insight they afford into traditional sympathies and antipathies of the people. The constant repetition to a few stereotyped phases such as "lotus feet, streaming eyes, quivering frame" are irritating to modern European taste. (Page—19)...Inspite of all drawbacks the Hindi Ramayan has many passages that are instinct with a genuine poetic feeling, which appeals to Universal humanity......The characters also of the principle actors in the Drama are clearly and consistently drawn. (Page—20)

F. S. Grouse : Ramayan of Tulsi Das (Introduction)

कई-एक स्थानों पर सैद्धान्तिक निरूपण भी किया है। पर प्रेमघन जी और भट्ट जी ने सैद्धान्तिक विवेचन का उपयोग अपनी प्रयोगात्मक आलोचना में ही किया है। वे रचना की समीक्षा के मानदण्ड का उल्लेख इन सिद्धान्तों के रूप में पहले कर देते हैं और फिर उसी आधार पर कृति का मूल्यांकन करते हैं। भट्ट जी की 'सच्ची समालोचना' इनका सुन्दर उदाहरण है। समालोचना की इसी पद्धति के विकसित रूप के दर्शन शुक्ल जी में होते हैं। हिन्दी में इस पद्धति की धारा बराबर प्रवाहित हो रही है। द्विवेदी जी और मिश्रबन्धुओं की आलोचनाओं में यह कहीं-कहीं तिरोहित अवश्य हो गई है। प्रेमघनजी भी भारतेन्दु जी की शैली पर साहित्य के विकास का अध्ययन करते हैं। उसमें उन्होंने भी भाषा, गुण और अभिव्यक्ति के विकास पर ही विचार किया है।[1] लेकिन पुस्तकों की विशद और मार्मिक आलोचना का सूत्रपात करने का श्रेय उन्हींको है। ये आलोचनाएँ कथानक, चरित्र-चित्रण साहित्य-सौष्ठव आदि सभी दृष्टियों से सर्वाङ्गीण हैं। भट्टजी कबीर आदि के परिचय में तो तटस्थ,

---

[1] "कुछ दिन पहले हमारी हिन्दी की स्थिति ऐसी हो गई थी कि उसका विचार-क्षेत्र में अग्रसर होना कठिन दीख पड़ता था। बने-बनाये समास, जिनका व्यवहार हजारों-वर्ष पहले हो चुका था, लाकर भाषा अलंकृत की जाती थी। किसी परिचित वस्तु के लिए जो-जो विशेषण बहुत काल से स्थिर थे, उनके अतिरिक्त कोई और लाना मानो भारत-भूमि के बाहर पैर बढ़ाना था। यहाँ तक उपमाएँ भी स्थिर थीं।...यह भाषा की स्तब्धता है, विचारों की शिथिलता है और जाति की मानसिक अवनति का चिह्न है।...इस प्रकार अनुप्रास से टँकी हुई शब्दों की लम्बी-लम्बी लड़ी इस बात को सूचित करती है कि लेखक का ध्यान विचारों की अपेक्षा शब्दों की ध्वनि की ओर अधिक है...आज सैकड़ा पीछे कितने आदमी मतिराम, भूषण और श्रीपति, सुजान के कवित्तों को अनुराग से पढ़ते तथा उनके द्वारा किसी आवेग में होते हैं। पर वहीं सूर, तुलसी, केशव, रहीम और बिहारी आदि की कविता हमारे जातीय जीवन के साथ हो गई है। उनकी एक-एक बात हमारे किसी काम में होने या न होने का कारण होती है। उपमा का कार्य सादृश्य दिखलाना भावना को तीव्र करना है।...जब भाषा का यह हाल है तब फिर इस प्रकार की आंगिक भावनाओं का क्या कहना है, उनका अनुभव तो हम पार्थिव पदार्थों के ही गुण और व्यापार के अनुसार करते हैं। ('आनन्द कादम्बिनी' संवत् १९६४)

संयत, गम्भीर और विश्लेषणात्मक हैं, पर पुस्तकों की आलोचना में कहीं-कहीं मीठी चुटकियां भी ले लेते हैं। पर इन व्यङ्गों के अन्तस्थल में वही सुरुचि-प्रचार की कामना कार्य कर रही है। भट्टजी की आलोचना भी सभी दृष्टियों से उत्कृष्ट कही जा सकती है। आलोचक के कठोर रूप के दर्शन तो इन दोनों में ही होते हैं। भट्टजी की शैली व्यङ्ग-प्रधान है। आलोचना की यह व्यङ्गात्मक शैली द्विवेदी जी और मिश्र-बन्धुओं के समय में तो कटु और व्यक्तिगत आक्षेपों में ही परिणत हो गई : "याज्ञिक जी महाराज उधर तो आपने व्यर्थ ही सर उठाया। वह आपकी समझ से बहुत दूर की बात है। वहां आपके लिए अंगूर खट्टे हैं। .... शावाश पट्ठे शावाश ! आखिरकार श्रीमती एलोपैथीजी के पेट से एक बच्चा तो ऐसा निकला जिसने जरा चें-चें करना शुरू किया।"[1] ऊपर का कथन इस उद्धरण से पुष्ट होता है। वे लोग भट्ट जी का-सा संयम नहीं रख सके हैं। शिष्ट परिहास और व्यंग तो भट्टजी की ही प्रधान विशेषता है।

भारतेन्दु-काल में आधुनिक समीक्षा-पद्धति का प्रारम्भ ही हुआ था। प्रायः उसमें प्रशंसा और परिचय का हल्कापन ही है, आलोचना की गम्भीरता और प्रौढ़ता के दर्शन तो यत्र-तत्र हो जाते हैं। विश्लेषणात्मक समीक्षा-शैली का विकास तो बहुत बीच की वस्तु है : इस काल में तो उसका आभास-मात्र मिलता है। भारतेन्दु-काल की समीक्षा का महत्व समीक्षा की प्रौढ़ शैली के कारण नहीं अपितु उन तत्वों के कारण है, जो भावी विकास का स्वर्णिम और उज्ज्वल संदेश लेकर आए हैं।

---

[1] 'साहित्य समालोचक' संवत् १९८३ हेमन्त-अंक।

: ५ :

द्विवेदी-काल में आलोचना का स्वरूप

आधुनिक हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ उस समय होता है जब भारत की जनता एक नवीन जागृति का अनुभव करने लगती है। इस जागृति के कारणों पर पिछले अध्याय में विचार हो चुका है। दासता ने भारतीय जनता के चिरकाल से सोये हुए स्वाभिमान और विवेक को जगा दिया था। इसके फलस्वरूप जाति अपने विश्वासों और कार्यों की जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आलोचना करने लग गई थी। नवीनता की आकांक्षा ने प्राचीन अन्ध-विश्वासों और रूढ़ियों के विरुद्ध प्रतिक्रियात्मक असन्तोष और क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी। सदाचार, नीति, कर्तव्य आदि की प्राचीन रूढ़िगत धारणाओं की आलोचना नवीन मानदण्डों से होने लगी थी। रीतिकालीन साहित्य तथा साहित्यिक रूढ़ियों और परम्पराओं के विरुद्ध इसलिए हिन्दी-क्षेत्र में व्यापक प्रतिक्रिया के दर्शन होते हैं। काट-छाँट, विश्लेषण और आलोचना तो इस युग की मूलभूत प्रेरणा है। भारत का मानव धीरे-धीरे मध्यकालीन भावुकता से आधुनिक बुद्धिवाद की ओर बढ़ रहा है। जीवन के सभी क्षेत्रों में बुद्धिवाद की प्रधानता होती जा रही है। उसका दृष्टिकोण धीरे-धीरे उपयोगितावादी हो रहा है। वह जीवन के सभी प्रत्ययों को इसी उपयोगितावाद की कसौटी पर कसना चाहता है। साहित्य भी केवल भाव और कल्पना का क्षेत्र नहीं रह गया है, वह अब बुद्धि और यथार्थ के अधिक सन्निकट आ रहा है। भक्ति-काल के साहित्य में भाव की प्रधानता रही। रीति-काल में उसका स्थान कल्पना ने ले लिया, पर आधुनिक काल में तो साहित्य भी बुद्धि-प्रधान होता जा रहा है। शेष तीनों तत्त्व तो उसके सहायक-मात्र रह गए हैं। जीवन की व्याख्या के रूप में साहित्य का स्वरूप प्रायः स्वीकृत हो चुका है। साहित्य-समीक्षा के अन्य वाद तो इसका विरोध करके इस धारणा को और भी दृढ़ कर रहे हैं। "कला कला के लिए" वाला वाद तो रीति-काल की मान्य धारणा कही जा सकती

है। छायावादी कवियों में तो इसके विदा होते हुए रूप के दर्शन होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जीवन के सभी क्षेत्रों की तरह साहित्य में भी सहृदय पाठक का दृष्टिकोण मूलतः समीक्षात्मक ही हो गया है। आधुनिक काव्य-धारणाओं का मार्ग-प्रदर्शन आलोचनात्मक प्रवृत्ति ही कर रही है। आलोचना इस युग की मूल प्रेरणा है। साहित्य-समालोचना की प्रवृत्ति जन-साधारण में जाग्रत हो गई है। पिछले अध्याय में यह स्पष्ट हो चुका है कि साहित्य की वृद्धि के साथ-साथ समीक्षा की आवश्यकता का अधिक अनुभव होने लगा था।

भारतेन्दु-काल में हिन्दी-आलोचना का जो प्रारम्भ हुआ था उसका मूल उद्देश्य साहित्य में सुरुचि का प्राधान्य करना था। उस काल की आलोचना का उद्देश्य सत्साहित्य को प्रोत्साहन देना तथा असत्साहित्य के प्रचार का अवरोध था। उस काल का आलोचक इस कार्य में कुछ सफल भी हुआ। इस काल में आलोचना की कतिपय प्रवृत्तियाँ भी स्पष्ट हो गई थीं। भाषण के विकास के आधार पर साहित्य के विकास और उसकी मूल धाराओं का सामान्य परिचय नैतिक उपयोगिता की दृष्टि से विचार, शास्त्रीय तत्त्वों तथा सहृदय की रुचि से निरूपण, आलोचना की ये ही मूल प्रवृत्तियाँ थीं, जो बहुत ही अविकसित अवस्था में थीं। लेकिन हिन्दी-समीक्षा के विकास की दिशा का निर्देश करने के लिए पर्याप्त थीं। इस काल के प्रयास प्रारम्भिक ही थे। धीरे-धीरे काव्य-ग्रन्थ की अपेक्षा कवि का व्यक्तित्व ही आलोचना का विषय बनता गया। उसमें भी सद्भावना का स्थान वैयक्तिक राग-द्वेष और कटु प्रहारों ने ले लिया। आलोचना का तात्पर्य निन्दा-स्तुति हो गया। भारतेन्दु-काल की साहित्यिक गोष्ठी साहित्यिकों को काव्य-प्रेरणा प्रदान करती थी, उनका दिशा-निर्देश करती थी। पर यही जब कवि-सम्मेलनों का वृहद् स्वरूप धारण कर गई तो इसका आलोचनात्मक महत्त्व नहीं रह गया। कवियों ने इनको आत्म-श्लाघा और आत्म-प्रचार का साधन बना लिया। आलोचना के प्रहार उनकी सुकुमार मति सह नहीं सकती थी। आलोचक भी तटस्थ रहकर स्वस्थ आलोचना कम करने लगा। उसने व्यंगों को ही आलोचना समझ लिया। पक्षपात-शून्य आलोचना की जगह दोषोद्भावना ने ले ली। कुछ लोग तो आलोचना को साहित्य की स्वच्छन्द प्रगति में बाधक ही समझने लगे; द्विवेदीजी की आलोचना का भी पहले-पहल इसी कारण बहुत विरोध हुआ। 'कालिदास की निरंकुशता' पर अपना मत प्रकट करते हुए एक लेखक ने अपने पत्र में इसको साहित्य के मार्ग में बाधक बताया है :

"Your criticism will after all become a great obstacle in the way of our dear literature."

दोषोद्भावना की प्रवृत्ति के आधिक्य के कारण जीवित और अतीत दोनों ही कवियों की आलोचना असह्य हो गई। प्राचीन कवियों के प्रति जो श्रद्धा थी वह उनके दोषों की आलोचना में बाधक थी। इस कारण भी द्विवेदी जी को कई कटु प्रहार सहने पड़े। इन प्रहारों के भय से बहुत से व्यक्ति आलोचना के क्षेत्र में आये ही नहीं। बाबू श्यामसुन्दरदास जी का द्विवेदी जी को लिखा गया पत्र तत्कालीन अवस्था पर प्रकाश डाल रहा है: "लोगों को प्रसन्न रखना बड़ा कठिन है, अप्रसन्न करने में विलम्ब नहीं लगता। समालोचनाओं को यथार्थ रूप में ग्रहण करने से हम किसी को संतुष्ट नहीं कर सकेंगे, यद्यपि इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसा करने से लाभ होगा। फिर मेरा यह विश्वास है कि हमारे समाज में गिनती के ही दो-एक लोग हैं जो निरपेक्षता पूर्वक आलोचना कर सकें। इन सब बातों का विचार करके हम लोगों ने अभी आरम्भ नहीं किया—परन्तु इसकी आवश्यकता जरूर स्वीकार करते हैं और एक स्वतन्त्र पत्र निकालकर इस अभाव की पूर्ति का विचार रखते हैं।" पत्र का यह अंश तत्कालीन परिस्थितियों पर प्रकाश डाल रहा है। हिन्दी की निधि में विगत युग का ही साहित्य अधिक था। कुछ अनुवादों और साधारण मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त आधुनिक युग के साहित्य में कुछ नहीं था। दोषोद्भावना की प्रवृत्ति के कारण विगत युग के साहित्य की आलोचना भी भय से मुक्त नहीं थी। आलोचना युग की चेतना अवश्य थी पर वह भस्मावृत हो गई थी। उसको बुझाने की शक्तियाँ भी प्रबल हो रही थीं।

ऊपर के शब्दों से स्पष्ट होता है कि द्विवेदी जी ने जिस समय साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया वह समय समालोचना के उपयुक्त तो था। वह तो युग की मूल प्रेरणा ही थी, पर कतिपय रूढ़िवादी धारणाएँ, अन्ध-विश्वास और साहित्यिक क्षेत्र का व्यक्तिगत राग-द्वेष उसके स्वच्छन्द विकास का अवरोध कर रहे थे। समीक्षा की ऐसी प्रणाली और मानदण्ड भी साहित्यिक जगत् के समक्ष नहीं था जिसका विकास हो सकता। इसलिए जन-साधारण की भावना प्रतिकूल और विरोधी तत्त्वों के नीचे दब-सी रही थी। इन सभी प्रतिकूल वस्तुओं को आलोचना के स्वच्छन्द विकास के मार्ग से हटा देने का कार्य आचार्य द्विवेदी ने किया है। इनकी स्पष्टवादिता और निडरता के कारण सभी विरोधी तत्त्व शान्त हो गए। अनेक विद्वानों को इस क्षेत्र में पदार्पण करने का प्रोत्साहन भी मिला। जनता और साहित्यकारों में सुरुचि-उत्पादन,

तथा साहित्य-समीक्षा की एक निश्चित पद्धति चलाने के अतिरिक्त द्विवेदी जी का यह कार्य भी महान् था। इनके अभाव में तो उपर्युक्त दोनों ही बातें संभव ही न थीं।

हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि आलोचना का प्रारम्भ तो भारतेन्दु-काल से ही हो गया था। बदरीनारायण चौधरी और बालकृष्ण भट्ट इस काल के प्रधान आलोचक थे। पर इस काल की आलोचना केवल पुस्तक-परिचय और दोषोद्भावना तक ही सीमित थी। द्विवेदी-युग में भी यह प्रणाली चलती रही। पर 'काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका', 'सरस्वती' और 'समालोचक' के प्रकाशन से इस क्षेत्र में नवीन जागृति आ गई।

द्विवेदी से पूर्व बदरीनारायण चौधरी तथा बालकृष्ण भट्ट ने गुण-दोष दिखाने वाली आलोचना का प्रारम्भ किया था। द्विवेदी-काल में भी आलोचना की मूल भित्ति यही रही, पर उसका पर्याप्त विकास हुआ। अपने पूर्ववर्ती आलोचकों की तरह द्विवेदी जी ने पुस्तकों के साधारण परिचय-मात्र से संतोष नहीं किया अपितु उन्होंने सामयिक लेखकों को कवि-कर्म का आदेश देना भी प्रारम्भ कर दिया। वे उनके काव्य-सम्बन्धी दोषों का निर्देश करने के अतिरिक्त उनको कवित्व के विकास का मार्ग-प्रदर्शन भी करते रहते थे। हिन्दी-साहित्य में उन्होंने अपने काल में एक सजग और कठोर निरीक्षण का कार्य किया है। वे साहित्य में सुरुचि के पक्षपाती थे, इसलिए वे किसी भी कला को जन-साधारण की अभिरुचि को दूषित करने की स्वतन्त्रता प्रदान नहीं कर सकते थे। कलाकारों और समालोचकों की साधारण-सी भूल पर वे अपनी समीक्षा का कठोर प्रहार कर देते थे, जिससे भविष्य में किसी को भी ऐसी भूल करने का साहस ही नहीं होता था। इससे सब लोग सजग रहते थे। उन्होंने कवियों और जनता दोनों में ही सुरुचि जाग्रत करने का प्रयत्न किया और वे इस कार्य में पर्याप्त रूप से सफल भी हुए। द्विवेदी जी-जैसे कठोर निरीक्षक के अभाव में रीति-काल का गन्दा नाला अब तक बहकर सारे साहित्य को आप्लावित कर देता। इस प्रकार द्विवेदी जी की आलोचना की मूल प्रेरणा सुरुचि और सत्साहित्य का निर्माण है। उनकी कटु आलोचना में भी उनका विध्वंसक रूप नहीं अपितु विधायक रूप ही झाँक रहा है। द्विवेदी जी के आदर्श का स्पष्टी-करण वाजपेयी जी इस प्रकार करते हैं: "यही कारण है कि द्विवेदी जी अपनी आलोचनाओं में स्थान-स्थान पर कवियों को आदेश देते रहते हैं। यह आदेश केवल शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण करके कवि-कर्म तक ही सीमित नहीं रहता अपितु इसमें काव्य के वर्ण्य विषय, छन्दों, भाषा आदि

के चुनाव तथा स्वरूप का निर्देश भी है।" द्विवेदी जी गद्य और पद्य की भाषा को एक कर देने, हिन्दी में अतुकान्त कविता के प्रारम्भ आदि कई-एक नवीन आन्दोलनों के जन्मदाता हैं। हिन्दी में पुस्तकाकार में आलोचना का सूत्रपात करने वाले प्रथम व्यक्ति द्विवेदी जी ही हैं। काव्यांगों की पाश्चात्य शैली पर पृथक् निबन्धों के रूप में निरूपण भी द्विवेदी जी ने ही प्रारम्भ किया है।

द्विवेदी जी ने कविता का उद्देश्य मनोरंजन तो माना है, द्विवेदी के इस शब्द में भी आनन्द की गम्भीरता सन्निहित है। 'भारतीय चित्र कला' नामक निबन्ध में उन्होंने आनन्द को ही कला का उद्देश्य कहा है[1] वे काव्य में सरलता, स्पष्टता और सरलता को महत्त्व दे देते हैं। रस ही कविता का सबसे बड़ा गुण है।[2] अपने मनोनीत अर्थ को इस प्रकार व्यक्त करना चाहिए कि पत्र को पढ़ते-पढ़ते ही उसे तत्क्षण हृदयंगम कर सकें, क्लिष्ट कल्पना अथवा सोच-विचार करने की आवश्यकता न पड़े।[3] उन्होंने काव्य में चमत्कार की आवश्यकता मानी है। कविता में दुरूहता और जटिलता के कारण बुद्धि को पर्याप्त प्रयास करना पड़ता है और इससे उसकी आह्लादकता का ह्रास होता है, इसीलिए द्विवेदी जी ने उसमें सरलता और स्पष्टता पर बहुत जोर दिया है। चमत्कार और सरसता भी आनन्द-तत्त्व की ओर ही संकेत कर रहे हैं। पर द्विवेदी जी मनोरंजन या आह्लाद के लिए भी सुरुचि का परित्याग सहन नहीं कर सकते हैं इसीलिए उन्होंने ऐसे श्लोक उद्धृत नहीं किये हैं और अगर किये हैं तो उनका अर्थ नहीं दिया। कुत्सित वर्ण्य-विषयों में आह्लाद की क्षमता तो उन्हें मान्य ही नहीं पर निम्न स्तर के व्यक्तियों के मनोरंजन के लिए भी वे काव्य-जगत् में कुरुचिपूर्ण और कुत्सित वर्ण्य-विषयों को अपनाने की स्वतन्त्रता कवि-समाज को नहीं देना चाहते। काव्य के वर्ण्य-विषय पर लिखते हुए उन्होंने अपनी विचार-धारा स्पष्ट कर दी है।[4] उन्होंने कवि का

---

१. देखिए 'विक्रम-चरित्र-चर्चा', पृष्ठ ५६ और 'आलोचनांजलि' प्रथम निबन्ध।

२. 'रसज्ञ-रञ्जन' पृष्ठ ११।

३. वही, पृष्ठ ६।

४. कविता का विषय मनोरंजन और उपदेशजनक होना चाहिए। · लेकिन कौतूहल का अद्भुत वर्णन बहुत हो चुका है। न परकीया पर प्रबन्ध लिखने की आवश्यकता है और न स्वकीयाओं की गतागत की पहेली बुझाने की।

—वही पृष्ठ १५

कार्य उच्च-आदर्श का निर्माण मानता है और यह कार्य तभी हो सकता है जब उसके वर्ण्य-विषय में जीवन की उच्चता और गम्भीरता हो। द्विवेदी जी को 'कला-कला के लिए' का सिद्धान्त मान्य नहीं है। उन्होंने कवि को अवतार माना है। वे उसको इस प्रकार ईश्वर के समकक्ष रखकर मंगल-विधायक के रूप में देखना चाहते हैं। ईश्वर का अवतार भी धर्म की स्थापना के लिए होता है और कवि भी इसीलिए उत्पन्न होता है "स्वाभाविक कवि भी एक प्रकार से अवतार है '''पहुँचे हुए पंडितों का कथन है कि कवि भी 'धर्म-संस्थापनार्थाय' उत्पन्न होते हैं।"

काव्य में सरलता और स्पष्टता के समर्थक होने के कारण द्विवेदी जी अलंकारों के बहुत अधिक प्रयोग का विरोध करते हैं। अलंकारों से सौंदर्य की वृद्धि होती है इस बात को तो वे अस्वीकार नहीं करते परन्तु यह निर्देश करना भी नहीं भूलते कि स्वभावोक्ति में हृदय को आह्लादित और चमत्कृत करने की अधिक क्षमता है। उन्होंने शब्दालंकारों को काव्य का अनिवार्य तत्त्व नहीं माना है: "अनुप्रासादि शब्दालंकारों से कुछ आनन्द मिलता है यह सत्य है, परन्तु सहृदयता-व्यंजक और सरस स्वाभावोक्तियों से जितना चित्त प्रसन्न और चमत्कृत होता है उतना इन बाह्य आडम्बरों से कदापि नहीं होता।''''' अनुप्रास और यमक आदि शब्दाडंबर कविता के आधार नहीं हैं, जो उनके न होने से कविता निर्जीव हो जाय या उससे कोई अपरिमेय हानि पहुँचे।" सरलता, स्पष्टता और प्रभावोत्पादकता के लिए काव्य का जीवन से घनिष्ठ सम्बंध होना आवश्यक है। कवि को अपने वर्ण्य-विषय का पर्याप्त और निकट-तम ज्ञान होना चाहिए। तीव्र अनुभूति काव्य की प्राण है, उसके अभाव में काव्य में अर्थ-गौरव नहीं आ सकता। अर्थ-सौरस्य के लिए विषय से कवि के तादात्म्य की अनिवार्यता पर विचार करते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं: "कवि जिस विषय का वर्णन करे उस विषय से उसका तादात्म्य हो जाना चाहिए। ऐसा न होने से अर्थ-सौरस्य नहीं आ सकता। विलाप-वर्णन करने में कवि के मन में यह भावना होनी चाहिए कि वह स्वयं विलाप कर रहा है ''''' प्राकृतिक वर्णन लिखने के समय उसके अंतःकरण में यह दृढ़ संस्कार होना चाहिए कि वर्ण्यमान नदी, पर्वत अथवा वन के संमुख वह स्वयं उपस्थित होकर उनकी शोभा देख रहा है।"[१] द्विवेदी जी कलाकार की कल्पना का

१. कविता लिखते समय कवि के सामने एक ऊँचा उद्देश्य अवश्य रहना चाहिए। केवल कविता के लिए कविता करना एक तमाशा है—'रसज्ञ-रंजन', पृष्ठ १५

उपयोग करने की उतनी ही स्वतन्त्रता प्रदान करना चाहते हैं जितनी वर्ण्य-विषय को मनोरम बनाने के लिए आवश्यक है। वे कल्पना के महत्त्व को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि "इसीकी बदौलत वह भूत और भविष्य को हस्तामलकवत् देखता है, वर्तमान की तो कोई बात ही नहीं। इसीकी कृपा से वह संसारिक बातों को एक अजब निराले ढंग से बयान करता है जिसे सुनकर सुनने वाले के हृदयोदधि में नाना प्रकार के सुख-दुःख-आश्चर्य आदि विकारों की लहरें उठने लगती है।"[1] उन्हें कवि-प्रतिभा की स्वतंत्रता मान्य है। उनका काव्य में स्वाभाविकता से तात्पर्य मानव-जीवन की संभवनीयता से ही है, वे काव्य को इतिहास बनाने के पक्षपाती नहीं हैं : "असलियत से मतलब यह नहीं कि कविता एक प्रकार का इतिहास समझा जाय और हर बात में सचाई का खयाल रखा जाय।''' असलियत से सिर्फ इतना ही मतलब है कि कविता बे-बुनियाद न हो। उसमें जो उक्ति, हो वह मानवी मनोविकारों और प्राकृतिक नियमों के आधार पर कही गई हो। स्वाभाविकता से उसका लगाव छूटा न हो।"[2] द्विवेदी जी सादगी असलियत और जोश को उत्तम काव्य के गुण मानते हैं। इन तीनों की उपस्थिति काव्य को आदर्श रूप प्रदान कर देती है यह मिलन को मान्य है। द्विवेदी जी ने मिलटन के Simple, sensuous, impassionate को ही सादगी, असलियत और जोश कहा है। द्विवेदी जी को मिलटन का यह दृष्टिकोण पूर्णतः मान्य है। आदर्श कविता की यह ही विशेषता है। पर प्रायः इनमें से किसी-न-किसी गुण का अभाव रह ही जाता है। भाव, भाषा, शब्द-चयन, छन्द, कथा विस्तार आदि के औचित्य को ही द्विवेदीजी काव्य का सर्वस्व मानते हैं। औचित्य-सम्बन्धी यह विचार-धारा द्विवेदी जी के साहित्य में बिखरी हुई है। उनके 'कवि और कविता' नामक निबन्ध में प्रसंगवश कई स्थानों पर इस विवेचन के दर्शन होते हैं।

द्विवेदी जी ने आलोचना में सहृदयता की आवश्यकता पर जोर दिया है। उन्होंने भावुक की सहृदयता के सम्बन्ध में विचार करते हुए एक स्थान पर उसकी सौन्दर्यानुभूति की क्षमता कवि से भी अधिक बना दी है। कालिदास के एक श्लोक की आलोचना करते हुए उन्होंने अपना यह मत स्पष्ट किया है। यक्ष के द्वारा अपनी प्रेयसी के चित्र बनाने में गेरू के प्रयोग की सार्थकता और सौन्दर्य का विवेचन करते हुए एक आलोचक का मत उद्धृत

---

१. 'रसज्ञ-रंजन', पृष्ठ ५१

२. वही, पृष्ठ ५६

किया है। शोध अथवा वियोग दोनों ही अवस्थाओं में मुद्राकृति का अरुण हो जाना स्वाभाविक ही है। इसी कल्पना में कलात्मक सौन्दर्य है। द्विवेदी जी कहते हैं कि संभवतः यक्ष द्वारा मेघ का प्रयोग कराते समय कालिदास की दृष्टि भी इतनी तीक्ष्ण नहीं रही होगी। उन्हें भी इस सौन्दर्य का ध्यान नहीं रहा होगा। द्विवेदी जी का तात्पर्य इस विवेचन में कवि और भावुक की प्रतिभा की तुलना करके कवि को आलोचक से हीन करने में नहीं था। वे केवल यही प्रतिपादित करना चाहते हैं कि भावुक की दृष्टि इतनी तीव्र होनी चाहिए कि वह आलोच्य वस्तु के अन्तरतम तक पहुँचकर उन गुण-दोषों का विवेचन कर सके, जिनकी ओर काव्य-सृजन के समय कवि का भी ध्यान न रहा हो। इस प्रकार उन्होंने भावुक और आलोचक की एकता प्रतिपादित कर दी है और काव्य के बहिरंग की अपेक्षा अन्तरंग की परीक्षा को अधिक महत्त्व दिया है। भावुक में सौन्दर्यानुभूति की क्षमता का ही सबसे अधिक महत्त्व है, द्विवेदी जी ने आलोचक की तुलना निष्पक्ष न्यायाधीश से की है। आलोचना में व्यक्तिगत राग-द्वेष आलोचक के अपने हृदय की आकांक्षाओं और भावनाओं को देखने की चेष्टा को वे अनुचित कहते हैं।[1]

द्विवेदी जी ने संस्कृत और हिन्दी दोनों ही के ग्रन्थों और कलाकारों की आलोचना की है। पर इन दोनों में उनके दृष्टिकोण भिन्न रहे हैं। वे हिन्दी के परम भक्त और सच्चे सेवक थे। उनके हृदय में हिन्दी-साहित्य के उत्कर्ष की तीव्र और सच्ची आकांक्षा थी। वे इसमें सत्साहित्य को प्रोत्साहन देना चाहते थे। इसीलिए द्विवेदीजी ने अपने सम्पादन-कार्य के प्रथम वर्ष में ही दुर्दशा के चित्र प्रकाशित किये। साहित्य-सभा, शूर-समालोचक, नायिका-भेद का पुरस्कार, कला-सर्वज्ञ आदि इन सबमें व्यंग और कटाक्षपूर्ण समालोचनाएँ थीं, जिनका उद्देश्य साहित्य का पथ-प्रदर्शन ही था। बाद में भी 'सरस्वती' में जो पुस्तक-परिचय प्रकाशित होते रहे उनमें भी आलोचक की विधायक आकांक्षा स्पष्ट होती रही। काव्य के वर्ण्य-विषय में सुरुचि होने पर वे उस पुस्तक की प्रशंसा करते थे। द्विवेदी जी संस्कृत-ग्रन्थों का परिचय हिन्दी के पाठकों से कराना चाहते थे, उसमें उनका उद्देश्य प्राचीन साहित्य के प्रति प्रेम ही उत्पन्न कराना था; इसलिए उन्होंने 'नैषध-चरित्र-चर्चा' और 'विक्रमांक देव चरित्र-चर्चा' में उनके गुणों का दिग्दर्शन कराते हुए प्रशंसा भी की है। उनमें भी यत्र-तत्र दोषों का संकेत है, पर बहुत कम, प्रायः नगण्य। इन ग्रन्थों की

---

१. 'सरस्वती' सन् १९११।

काव्य-वस्तु से हिन्दी के पाठकों का परिचय भी वे उसमें उनके प्रति प्रेम उत्पन्न कराने के लिए ही कराते हैं। इन ग्रन्थों का अनुवाद-कार्य भी एक विशेष महत्त्व का है। अनुवाद की असफलता से पाठक के हृदय में मूल ग्रन्थ के प्रति भी अरुचि उत्पन्न होती है। वस्तुतः अनुवाद का उद्देश्य मूल वस्तु को स्पष्ट करने तथा उसके सौन्दर्य द्वारा मूल वस्तु के अध्ययन के लिए पाठक की रुचि उत्पन्न करना है। द्विवेदी जी के सम्मुख भी यही उद्देश्य था। इसीलिए उन्होंने लाला सीताराम बी० ए० के अनुवादों की इतनी कटु आलोचना की थी। अनुवादों के सम्बन्ध में द्विवेदी जी अपना मन्तव्य भी एक स्थान पर स्पष्ट कर देते हैं : "एक भाषा की कविता का दूसरी भाषा में अनुवाद करने वालों को यह बात स्मरण रखनी चाहिए। बुरा अनुवाद करना मूल कवि का अपमान करना है, क्योंकि अनुवाद के द्वारा उसके गुणों का ठीक-ठीक परिचय न होने के कारण पढ़ने वालों की दृष्टि में वह हीन हो जाता है। इसीलिए किसी पुस्तक का अनुवाद करने से पहले अनुवादक को अपनी योग्यता का विचार कर लेना नितान्त आवश्यक है। सच तो यह है कि जो अच्छा कवि है, वही अच्छा अनुवाद करने में समर्थ हो सकता है।"[1] 'विक्रमांकदेव-चरित्र-चर्चा' की भूमिका में उन्होंने संस्कृत कवियों की आलोचना का अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया है। उनका उद्देश्य दोष-दर्शन और पाठकों के हृदय में उनके प्रति अरुचि उत्पन्न करने का नहीं है अपितु उन कवियों का परिचय देकर उनके प्रति अनुराग उत्पन्न करने का ही है। द्विवेदीजी यही चाहते थे कि पाठक उस साधारण परिचय को पढ़कर स्वयं उन ग्रन्थों का अध्ययन करें। "किसी की रचना की आलोचना करने में समालोचक यदि शुद्ध हृदय से अपनी सम्मति प्रकट करे तो उससे उसकी अप्रतिष्ठा नहीं होती। विल्हण की अप्रतिष्ठा या निन्दा करने का विचार तो दूर रहा, उलटा हमने उनका परिचय हिन्दी जानने वालों से कराकर उनकी ख्याति बढ़ाने का प्रयत्न किया है।"[2]

द्विवेदीजी के पूर्व दोष-दर्शन ही आलोचना की प्रमुख विशेषता मानी जाने लगी थी। यही प्रवृत्ति द्विवेदीजी की आलोचनाओं में दीख पड़ती है। उनकी आलोचना में आलोच्य वस्तु के गुणों की तरफ भी ध्यान गया है। उन्होंने उसमें साहित्यिक सौन्दर्य भी देखा है। वे लिखते हैं : "इसमें सन्देह नहीं कि विल्हण की कविता बहुत सरस है और सरस होकर सरल भी।" उन्होंने

---

१. 'रसज्ञ रंजन,' पृष्ठ १४।

२. 'विक्रमांकदेव-चरित्र-चर्चा' भूमिका।

कालिदास की उपमाओं के सौन्दर्य का विशद विवेचन भी किया है और उस सौन्दर्य को हृदयगम्य कराने की चेष्टा भी की : "उपमालंकार में और कोई कवि कालिदास की बराबरी नहीं कर सकता। कालिदास ने अपनी उपमाओं में उपमान और उपमेय का ऐसा सादृश्य दिखलाया जैसा और किसी की उपमाओं में नहीं पाया जाता। इनकी उपमाओं में लिंग और वचन-सम्बन्धी भेद प्रायः कहीं नहीं देखा जाता। उपमा से इनकी वर्ण्य वस्तु इतनी विशद भाव से हृदय में अंकित हो जाती है कि इनकी कविता का रसास्वाद कई गुना अधिक आनन्ददायक हो उठता है।"[1] इस काल का आलोचक कवि और कलाकार का पथ-प्रदर्शन करना चाहता था। यह कार्य तो प्रत्येक युग और साहित्य का कलाकार करता है, पर इस काल का आलोचक इसमें आदेशात्मक शैली को ही अपनाकर चला है। इसलिए द्विवेदीजी ने 'कवि-कर्म' के विवेचन में 'कवि को यह करना चाहिए और यह नहीं करना चाहिए' की ही बातें अधिक कही हैं। वे दोषों का निर्देश करके कलाकार को उनसे बचाना चाहते हैं। दोष दिखाने की इस प्रवृत्ति में सुरुचि उत्पन्न करने के साथ ही कवि को कतिपय जड़ नियमों में बाँध देने की प्रवृत्ति भी है। इस दोषोद्भावना का आधार वैयक्तिक रुचि नहीं अपितु शास्त्रीयता, सहृदयता और उपयोगिता है। इनकी आलोचना का आधार शास्त्रीय है। उन्होंने संस्कृत-ग्रन्थों की आलोचना में अलंकार, रीति, रस और प्रबन्ध के औचित्य की दृष्टि से विचार किया है। इसकी प्रेरणा उन्हें प्राचीन आलंकारिकों और आलोचकों से ही मिली है। 'कालिदास की निरंकुशता' में उन्होंने जिन दोषों की उद्भावना की है, उनका निर्देश उनके पूर्व ही बहुत से प्राचीन तथा अन्य भाषाओं के अर्वाचीन विद्वान् कर चुके थे। एक प्रकार से यह सारा ग्रन्थ इन्हींके विचारों का सारांश-मात्र है। 'मनसाराम' तथा कतिपय अन्य आलोचकों द्वारा द्विवेदीजी की उपर्युक्त पुस्तक की कटु आलोचना होने पर उन्होंने स्वपक्ष-समर्थन करने के लिए 'प्राचीन कवियों की दोषोद्भावना' नामक विस्तृत लेख लिखा था। उसमें उन्होंने यह स्वीकार किया है कि उनके द्वारा बताये गए दोषों का निर्देश उनके पूर्ववर्ती विद्वान् कर चुके हैं। महाकाव्य पर दण्डी के मत का आश्रय लेते हुए उन्होंने 'नैषध-चरित' के सर्गों को बहुत अधिक विस्तृत बताया है। प्रबन्ध के अनौचित्य की दृष्टि से भी कई काव्यों का विवेचन है। वे विल्हण-रचित 'विक्रमांक देव-चरित-चर्चा' के चौदहवें सर्ग के शरद्-वर्णन को प्रबन्ध

---

१. 'कालिदास की निरंकुशता'।

की धारा की दृष्टि से अनुचित बताते हैं : "चौदहवें सर्ग में कहाँ तो विक्रम जयसिंह की शत्रुता का विचार करके युद्ध रोकने का प्रयत्न कर रहा था, कहाँ बीच में विल्हण ने शरद् लाकर खड़ी कर दी और उसीका आम वर्णन करने लगे। ऐसे अवसर में इस प्रकार का वर्णन अनुचित जान पड़ता है।"[१] द्विवेदीजी का मत है कि उस काल में अगर कवि प्रबन्ध के औचित्य का ध्यान रखता तो इतने सर्गों के लिखने की आवश्यकता ही न थी। नायक के चरित्र की अपेक्षा, जो ग्रन्थ का प्रधान वर्ण्य विषय है, लेखक ने अन्य वस्तुओं को अधिक विस्तार दिया है। उनको द्विवेदीजी व्यर्थ मानते हैं : "इस काव्य में १८ सर्ग हैं, उनमें यदि कवि अप्रासंगिक बातों का वर्णन न करता तो आठ-नौ सर्ग में पुस्तक समाप्त हो गई होती। सातवें से तेरहवें सर्ग तक की कोई आवश्यकता न थी, उनके न होने से विक्रमांक के चरित्र-वर्णन में कुछ भी न्यूनता नहीं आती।" यहाँ पर द्विवेदीजी का दृष्टिकोण अत्यधिक उपयोगितावादी हो गया है। प्रकृति के विस्तृत आलंकारिक वर्णन को अप्रासंगिक करने का भी यही तात्पर्य है। केवल चरित्र से सम्बद्ध बातें तो इतिहास का क्षेत्र हैं। उक्त ग्रन्थ की शैली अथवा रीति पर विचार करते हुए द्विवेदी जी कहते हैं कि "विल्हण ने विक्रमांकदेव चरित को वैदर्भी रीति में लिखा है।"[२] 'कालिदास की निरंकुशता' नामक ग्रन्थ में जिन दोषों की उद्भावना की गई है उन सबका आधार तो स्पष्टतः औचित्य ही है, पर अन्य ग्रन्थों की आलोचना में भी उनका ध्यान इसीकी ओर अधिक रहा है। यह बात ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है। 'कालिदास की निरंकुशता' के बहुत से स्थल तो क्षेमेन्द्र की 'औचित्य-विचार-चर्चा' से हैं, इसीलिए उसमें औचित्य के नाम से ही सब-कुछ लिखा गया है। उद्वेगजनक उक्ति कहकर जिस प्रसंग की आलोचना द्विवेदी जी ने की है, वह भी वस्तुतः औचित्य की ही दृष्टि है। इस प्रकार द्विवेदी जी की सम्पूर्ण आलोचना का आधार सरसता, औचित्य और सरलता है। उन्होंने अपने सम्मुख अलंकार-शास्त्र के कतिपय सिद्धान्तों को ही रखा है। इस प्रकार उनकी आलोचना कुछ शास्त्रीय आलोचना की परिधि में आ जाती है।

शास्त्रीय आलोचना में आलोचक के व्यक्तित्व अथवा उसकी सहृदयता के परिचय का अवसर नहीं है। कवि की अनुभूति से तादात्म्य स्थापित करके

---

१. 'विक्रमांकदेवचरित चर्चा' पृष्ठ ६५।

२. वही, पृष्ठ ७४, च्युत संस्कृति दोष की ओर निर्देश परिशिष्ट पृष्ठ १ विक्रमांकदेव चरित चर्चा'।

उसके प्रति अपने हृदय की प्रति संवेदना पाठक तक पहुँचाने की स्वतन्त्रता तो प्रभाववादी आलोचक ही ले पाता है। कहीं-कहीं द्विवेदीजी का यह रूप भी दिखाई पड़ता है, पर अत्यन्त क्षीण और अस्पष्ट ही। उन्होंने अपने हृदय के प्रभाव को कवि-कृति से उत्पन्न भाव-समवेदना को स्वाभाविक, सरल, सरस आदि शब्दों द्वारा व्यक्त कर दिया है, इसलिए उनके इस स्वरूप में भी पाठक को तन्मय कर देने की क्षमता नहीं रही। यह आलोचना भी एक प्रकार से शास्त्रीय शब्दावली की जड़ता की प्रतिच्छाया में निर्णय-मात्र ही प्रतीत होती है। "अस्वाभाविक वर्णन का कहीं नाम तक नहीं। समस्त काव्य सरस, सरल और नैसर्गिक है।" द्विवेदीजी में कहीं-कहीं तुलनात्मक अथवा ऐतिहासिक समालोचना के क्षीण तत्त्व भी दिखलाई पड़ जाते हैं। कवियों और कलाकारों के अन्तःसाक्ष्य पर उनके जीवन-चरित्र लिखने की प्रवृत्ति हिन्दी में भी आ गई थी। पुस्तकों का अनुसन्धान और अन्वेषण-कार्य प्रारम्भ हो चुका था। काशी-नागरी-प्रचारिणी के तत्वावधान में बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही अनेक विद्वान् इस खोज में लग चुके थे। 'पृथ्वीराज-रासो' की प्राभाविकता को लेकर अनेक पुरातत्त्ववेत्ताओं में भी पारस्परिक वाद-विवाद चलने लगा था। ग्रन्थों के काल-निर्णय तथा उन्हें एक विशेष परम्परा में रखने की प्रणाली चल गई थी। इसमें ही कवि-वर्णनों से ही तत्कालीन परिस्थितियों के अनुमान की भी प्रवृत्ति थी। द्विवेदीजी अपनी समसामयिक विचार-धारा से वंचित नहीं रह सके और उनकी आलोचनाओं में भी इसके दर्शन हो जाते हैं। पर द्विवेदी जी का प्रधान लक्ष्य अनुसन्धान-कार्य नहीं था। यह तो अन्य विद्वानों का उत्तरदायित्व था। 'विक्रमांकदेव चरित चर्चा' के वर्णन के आधार पर द्विवेदी जी ने उस काल के राजाओं के साथ युद्ध में उनके अन्तःपुर के साथ जाने की प्रथा का अनुमान किया है। समुद्र-वर्णन के आधार पर कवि के गौड़-प्रदेश जाने का अनुमान है। "समुद्र-वर्णन और गौड़ेश्वर की प्रशस्ति-रचना से अनुमान होता कि श्रीहर्ष कान्यकुब्जनरेश के यहाँ से गौड़ देश को गये होंगे। क्योंकि वहाँ गये बिना वहाँ के राजा और समुद्र का वर्णन युक्तिसगत नहीं कहा जा सकता। गौड़ जाने पर ही समुद्र के दर्शन हुए होंगे और दर्शन होने ही पर उसका वर्णन लिखने की इच्छा श्रीहर्ष को हुई होगी।" (नैषध-चरित चर्चा)। इस प्रकार के अनुमान में ऐतिहासिक समालोचना के क्षीण तन्तुओं के दर्शन हो जाते हैं। द्विवेदीजी ने दो कवियों की तुलना नहीं की है। पर कहीं-कहीं एक कवि की आलोचना करते हुए दूसरे कवि की कतिपय विशेषताओं का निर्देश कर दिया गया

है।[1] 'नैषध चरित चर्चा' में कालिदास की कतिपय विशेषताओं का भी निर्देश है। यह परोक्ष रूप में तुलना ही है। कहीं-कहीं पर एक से दूसरे की किसी विशेष दृष्टिकोण से श्रेष्ठता का प्रतिपादन भी हुआ है। ऐसा प्राचीन प्रचलित वाक्यों की समीक्षा करते हुए किया गया है। 'उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व भारविः' के आधार पर 'किरात' और 'शिशुपाल-वध' से नैषध की श्रेष्ठता प्रतिपादित है। ऊपर के सारे विवेचन का केवल इतना ही तात्पर्य है कि निकटस्थ परवर्ती काल में जिस आलोचना-पद्धति और शैली का विकास होने वाला था, उसके कुछ बीजांकुर उनकी आलोचना में भी यत्र-यत्र बिखरे हुए अविकसित, अप्रौढ़ और अस्पष्ट दशा में मिल जाते हैं।

संस्कृत-ग्रन्थों की आलोचना करते हुए द्विवेदीजी ने उनके सुन्दर श्लोकों के बहुत-से उद्धरण दिये हैं। उनकी यह प्रतिक्रिया अपने विचारों की पुष्टि में श्लोकों को उद्धृत करने की नहीं है। ग्रन्थ के अन्त में कतिपय चुने हुए सुन्दर श्लोकों की व्याख्या दी गई है, जिससे पाठक स्वयं उस ग्रन्थ के काव्यात्मक सौन्दर्य का रसास्वाद कर सकें। इसमें द्विवेदीजी ने प्राचीन टीका-पद्धति का अनुसरण किया है। अर्थ के स्पष्टीकरण के साथ ही उन्होंने अलंकार, रस अथवा अन्य प्रकार के काव्य-सौन्दर्य का निर्देश भी कर दिया है। इन टीकाओं में द्विवेदीजी को स्वभावतः कुछ अधिक प्रभाववादी हो जाना पड़ा है। "मदेव, पुत्रा जननी जरातुरा"-जैसे सुन्दर श्लोक की बड़ी विशद व्याख्या हुई है। उसमें अलंकार और काव्यात्मक सौन्दर्य का निर्देश इतनी सजीवता से किया गया है कि पाठक इस श्लोक के सौन्दर्य से अभिभूत हो जाता है, वह भी आनन्द-विभोर हो उठता है।[2] यही प्रभाववादी की सफलता है।

द्विवेदीजी की प्रमुख साहित्यिक देन है खड़ी बोली को व्यवस्थित और व्याकरण-सम्पन्न करना। यह कार्य उन्होंने अपनी समालोचना द्वारा ही किया है। उनकी 'सरस्वती' में भाषा-सम्बन्धी लेख और वाद-विवाद बराबर छपते रहते थे। 'भाषा-विज्ञान' और व्याकरण का तो विशेष स्तम्भ ही था। यही कारण है कि प्रायः कोई-न-कोई ऐसा लेख अवश्य रहता था जिसमें भाषा के किसी स्वरूप पर विचार होता था। इस प्रकार के लेखों का एक यह भी कारण था कि उस काल के विद्वानों में भाषा-सम्बन्धी वाद-विवाद

---

१. देखिए 'नैषध-चरित चर्चा', पृष्ठ ६६

२. वही, पृष्ठ ७७

काव्य के सिद्धान्तों का विवेचन प्रत्येक कवि का एक विशेष कार्य हो गया था। यह सैद्धान्तिक विवेचन हिन्दी के आधुनिक काल में भी चलता रहा, पर इसके आदर्श और प्रणाली में परिवर्तन होते रहे। गद्य के विकास तथा अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन के प्रभाव से इस विवेचन ने एक नवीन रूप धारण कर लिया था। संक्षेप में सूत्रों का निर्देश करके उनकी व्याख्या अथवा उद्धरणों द्वारा स्पष्टीकरण की प्रणाली अब प्रायः लुप्त-सी हो रही थी। इसी शैली में लिखा हुआ जगन्नाथप्रसाद 'भानु कवि' का 'काव्य प्रभाकर' बहुत ही सुन्दर ग्रन्थ है। इसमें काव्य के सभी अंगों का विशुद्ध विवेचन है। भारतीय अलंकार-शास्त्र के कतिपय शब्दों का अंग्रेजी अनुवाद भी दिया गया है। इससे लेखक अंग्रेजी पढ़े-लिखे व्यक्तियों के लिए भी अपने ग्रन्थ को बोधगम्य करना चाहते हैं, पर इस अनुवाद के अतिरिक्त इस दिशा में उन्होंने और कोई प्रयत्न नहीं किया है। ग्रन्थ-रचना की यह अत्यन्त प्राचीन शैली है। हिन्दी में स्वतन्त्र गल्प-रचना में इस शैली का उपयोग धीरे-धीरे कम होता गया और आज तो प्रायः इसका नितान्त अभाव ही है। केवल प्राचीन ग्रन्थों की टीका के लिए इस रूप का आज भी उपयोग होता है। यह ग्रन्थ भारतेन्दु और द्विवेदी-काल की सन्धि-काल की रचना है।[1] साहित्य-सिद्धान्तों के विवेचन के लिए विश्लेषण की शैली अपनाई गई थी। इसी शैली में सब प्रकार की समालोचना और वैज्ञानिक साहित्य का भी सृजन हुआ है। इन विषयों के लिए यही सर्वमान्य शैली है। भारतेन्दु-काल में 'कवि-कर्म' और काव्यांगों पर पृथक् रूप में बहुत ही कम लिखा गया। 'पुस्तक-परिचय' अथवा अन्य निबन्धों में प्रासंगिक रूप में काव्य का सैद्धान्तिक निरूपण भी कहीं-कहीं हो गया है। इस प्रकार इस काल की नवीन सैद्धांतिक समालोचना का प्रारम्भ भी द्विवेदीजी से होता है।[2] कवि-कर्म और कविता-सम्बन्धी कतिपय निबन्ध तथा 'नाट्य-शास्त्र' नामक छोटी-सी पुस्तिका तक ही यह साहित्य सीमित है।

द्विवेदी जी के कुछ लेख तो ऐसे हैं जिनमें किसी प्राचीन आचार्य के मत का ही अपने शब्दों में स्पष्टीकरण-मात्र किया गया है, जैसे : 'कवि बनने के लिए सापेक्ष साधन।' लेकिन अधिकांश ऐसे हैं जिनके तात्विक विवेचन पर पाश्चात्य और पूर्वी दोनों परम्पराओं का प्रभाव स्पष्ट है। इस प्रकार के लेखों में लेखक के स्वतन्त्र चिन्तन का भी महत्त्व है। यह दूसरे प्रकार का विवेचन

१. यह लेख 'क्षेमेन्द्र' के विचारों का स्पष्टीकरण है।

२. सन् १६०३ में इसका प्रकाशन हुआ है।

ही आधुनिक सैद्धान्तिक निरूपण-शैली का प्रतिनिधि है। द्विवेदीजी के परवर्ती-काल में आज तक इसी शैली का विकास हुआ है। प्रत्येक लेखक का मौलिक और स्वतन्त्र रूप से लिखते समय अपने हर प्रकार के संस्कार का उपभोग स्वाभाविक है। द्विवेदी जी के विवेचन पर किन पूर्वी और पाश्चात्य समालोचकों का प्रभाव पड़ा है, यह स्पष्ट नहीं है। कहीं-कहीं उन्होंने कुछ व्यक्तियों के नामों के निर्देश भी कर दिए हैं, उनके उद्धरण भी दिया है। शेष स्थानों पर उन चिन्तकों से जो कुछ भी द्विवेदीजी ने लिया है, उसे उन्होंने ऐसा आत्मसात् कर लिया है कि उस पर उनकी निरूपण-शैली और व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। दण्डी, क्षेमेन्द्र, मम्मट आदि कतिपय भारतीय आचार्यों के वे ऋणी हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। उन्होंने अपने 'कवि और कविता' नामक निबन्ध में काव्य के कारणों पर विचार करते हुए आचार्य दण्डी और मम्मट को उद्धृत किया है। इसी प्रसंग में वे हाली का मत भी उद्धृत करते हैं। वस्तुत: यह लेख शम्स-उल-उल्मा हाली के 'मुकद्दमा' नामक लेख के आधार पर ही लिखा हुआ है। पर इसमें द्विवेदीजी की मौलिकता का अभाव नहीं है। द्विवेदी जी का समर्थन प्राप्त होने ही के कारण इस लेख का विचार द्विवेदी जी का ही दृष्टिकोण माना जायगा अन्यथा द्विवेदी-जैसा निर्भीक व्यक्ति जब कालिदास की खबर ले सकता है तब हाली किस खेत की मूली हैं। वे उनके विचारों का अवश्य खण्डन कर देते। अंग्रेजी समालोचकों के नाम और उद्धरण तो द्विवेदीजी के लेखों में नहीं मिलते, पर उनके विवेचन से उनका प्रभाव स्पष्ट है। मिल्टन के नाम से तो उन्होंने कविता के सादगी, असलियत और जोश नामक तीन गुणों का विवेचन ही किया है।[1] शेष कई-एक स्थानों पर भी यह प्रभाव स्पष्ट है। द्विवेदीजी ने कविता और गद्य की भाषा को एक कर देने का जो आन्दोलन चलाया था उसकी प्रेरणा वर्डस्वर्थ के विचारों से मिली है। इतना ही नहीं उनके कविता-सम्बन्धी भाषा के विचार बहुत-कुछ वर्डस्वर्थ से मिलते-जुलते हैं। यद्यपि वर्डस्वर्थ ने बाद में अपनी भूल में संशोधन भी कर लिया था, पर द्विवेदीजी को ऐसा अवसर नहीं मिला। वस्तुतः द्विवेदीजी का काव्य-सम्बन्धी अपना कोई विशेष सम्प्रदाय अथवा मत तो था नहीं, जिसमें काल-क्रम से संशोधन और परिवर्तन होते। वे तो साहित्य के विद्यार्थियों की ज्ञान-वृद्धि के लिए परिचयात्मक लेख लिखते थे।

---

१. ये तीन शब्द क्रमश: Simple, Sincere, Ippassionate का अनुवाद हैं।

इसमें कुछ विचारों को द्विवेदीजी की स्वीकृति और समर्थन भी प्राप्त हो जाता था। द्विवेदीजी ने अनुभूति, कल्पना आदि तत्त्वों का जो विवेचन किया है, वे स्पष्टतः पश्चिम की ही देन हैं। उन्होंने कविता और पद्य के अन्तर को समझाने के लिए Poetry और Verse शब्दों का आश्रय लिया है।[1] सभ्यता और कविता के सम्बन्ध की कल्पना भी पश्चिमी विचार-धारा की ही देन है। इस प्रकार द्विवेदीजी के बहुत-से विचारों और निरूपण-शैली पर पश्चिम का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। यही बात उनकी आलोचना के मानदण्ड के सम्बन्ध में कही जा सकती है। उसमें दोनों का सम्मिश्रण है। अलंकार, काव्य-भेद आदि के निरूपण के अतिरिक्त, जो स्पष्टतः भारतीय परम्परा की वस्तुएँ हैं, कवि के व्यक्तित्व, उसके राजनीतिक अथवा अन्य प्रकार के विचारों का विवेचन आदि कई-एक मान पश्चिम से ही आये हैं। जीवन की व्याख्या के रूप में साहित्य का ग्रहण पाश्चात्य प्रभाव है और द्विवेदी जी की साहित्य-समीक्षा पर इसका प्रभाव भी स्पष्ट है। व्याख्या की प्रणाली और मान भारतीय है।

द्विवेदी का सैद्धान्तिक विवेचन कवि-कर्म-निरूपण की कोटि में ही आता है। उसमें विश्लेषण और तर्क द्वारा किसी तथ्य पर पहुँचने की प्रवृत्ति कम है; अपितु कुछ मान्य सिद्धान्तों और तथ्यों का कवियों को आदेश अधिक। यही कारण है कि द्विवेदीजी का निरूपण प्रायः सर्वत्र ही 'यह चाहिए अथवा यह नहीं चाहिए' की शैली को ही अपनाता है। इसका तात्पर्य उनकी निरूपण की गम्भीरता का निषेध करना कदापि नहीं है, उनमें काव्य के वर्ण्य विषयों और अभिव्यंजना के प्रकारों की गणना-मात्र नहीं है। वे कवि को कविता की मूल प्रकृति से परिचित करना चाहते हैं। इसीलिए वे इस शैली में भी कविता के व्यापक सिद्धान्तों का निरूपण करने में समर्थ हुए हैं। उन्होंने यह आदेश नहीं दिया कि कवि को अमुक छन्दों का प्रयोग करना चाहिए, वे तो छन्द और विषय की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता पर विचार करते हैं तब कवि को विषयानुकूल छन्द-प्रयोग की सम्मति प्रदान करते हैं।[2] इसी प्रकार काव्य की भाषा, विषय आदि की मूल प्रकृति का विवेचन करते हैं। भाषा की स्वाभा-

---

१. 'रसज्ञ रंजन', 'कवि और कविता' पृष्ठ ३६

२. जो सिद्ध कवि हैं वे चाहे जिस छन्द का प्रयोग करें उनका पद्य अच्छा ही होता है, परन्तु सामान्य कवियों को विषय के अनुकूल छन्दोयोजना करनी चाहिए। 'रसज्ञ-रंजन', पृष्ठ २।

कता, सरलता और विषयानुकूल अर्थ के सौरस्य तथा गम्भीरता एवं विषय की उपयोगिता और मनोरंजकता पर विचार किया गया है। यही कारण है कि कवि-कर्म-निर्देशक शैली में भी द्विवेदीजी की काव्य-सम्बन्धी मान्यताओं और उनके प्रतिपादन की गम्भीरता का परिचय मिल जाता है। द्विवेदीजी की बुद्धि सैद्धान्तिक निरूपण में ही अधिक रमती हुई प्रतीत होती है, पर कुछ तो तत्कालीन प्रचलित शैली होने तथा कुछ लेखक-निर्माण-कार्य करते-करते अपनी ही प्रकृति के आदेशात्मक हो जाने के कारण द्विवेदीजी को यह शैली अपनानी पड़ी। इस शैली के कारण द्विवेदी जी का विवेचन कुछ ही विषयों तक सीमित रहा है और उसका स्वरूप भी परिचयात्मक ही है।

द्विवेदी जी का सैद्धान्तिक निरूपण सामान्य परिचय से आगे नहीं बढ़ पाता। उस पर अधिक गम्भीरता से विचार करने पर ये सिद्धान्त तर्क के सम्मुख लड़खड़ाने लगते हैं। द्विवेदीजी ने काव्य की वर्ण्य वस्तु के साथ कवि के व्यक्तित्व का इतना तादात्म्य माना है कि कवि को वह वस्तु अपनी ही प्रतीत होने लगे। यहां पर लेखक यह भूल जाते हैं कि काव्य के अत्यधिक वैयक्तिक, कवि के ही सुख-दुःख, राग-द्वेष, योग-क्षेम का वर्णन होने से वह काव्य पद का अधिकारी ही नहीं रह जाता है। काव्य में पाठक कवि की रीति, प्रेम, ईर्ष्या, करुणा को देखने का इच्छुक नहीं है वह तो उसमें मानव-समाज के भावों का आनन्द लेना चाहता है। इसलिए जिस वैयक्तिकता का समर्थन द्विवेदीजी अपने अतिशयोक्तिपूर्ण शैली तथा जोश के कारण कर जाते हैं; वह काव्य के लिए अग्राह्य है। यही बात द्विवेदी जी के भाषा-सम्बन्धी मत के लिए भी कही जा सकती है। उनका तात्पर्य तो केवल इतना ही है कि काव्य की भाषा व्रज और गद्य की खड़ी बोली होने से साहित्य का समुचित और सर्वांगीण विकास नहीं हो सकता, इसलिए दोनों के लिए एक ही भाषा हो। पर वे जोश में साधारण व्यवहार तथा काव्य की भाषा के अन्तर को ही मिटा देना चाहते हैं। वे काव्य के लिए भी ऐसी भाषा के समर्थक बन जाते हैं जो जन-साधारण की बोल-चाल की भाषा है।[1] यहां पर भी काव्य की मूल प्रकृति की ही अवहेलना

---

१. मतलब यह कि भाषा बोल-चाल की हो, क्योंकि कविता की भाषा बोल-चाल से जितनी ही दूर जा पड़ती है उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है। बोल-चाल से मतलब उस भाषा से है जिसे खास और आम सब ... लेते हैं, विद्वान् और अविद्वान् दोनों ही जिसे काम में लेते हैं।

'रसज्ञ-रंजन', पृष्ठ ८

हो गई है। बोल-चाल की भाषा का प्रायः उद्देश्य अर्थबोध होता है, बिम्बग्रहण की प्रवृत्ति तो बहुत ही कम होती है; इसीलिए उस भाषा में अभिधेयार्थ की प्रधानता होती है। पर काव्य की भाषा में व्यंग्यार्थ का ही महत्त्व है। वस्तुतः काव्य और साधारण जीवन का अन्तर ही व्यंजना पर आश्रित है। इसलिए काव्य की भाषा की प्राण व्यंजना है। इसलिए कविता और गद्य (निबन्ध, विज्ञान आदि) की भाषा में भी एक अन्तर मानना पड़ता है। कविता की भाषा में एक विशेष ध्वनि और लय की अपेक्षा है जिसकी गद्य में अवहेलना की जा सकती है। वर्ड्स्वर्थ ने इसीलिए अपना मत बाद में बदल दिया था। संभवतः द्विवेदी जी का तात्पर्य इतनी गहराई से सोचने का नहीं था। सैद्धान्तिक समालोचना के निबन्ध भी पाठकों की ज्ञान-वृद्धि अथवा कवि-कर्म के लिए ही लिखे गए हैं, किसी विशेष सिद्धान्त के तात्त्विक विश्लेषण की दृष्टि से नहीं। उसका विवेचन युग की आवश्यकता के अनुकूल है। द्विवेदी जी के सिद्धान्त-निरूपण-सम्बन्धी लेख बाह्य प्रेरणाओं के फल हैं। इनमें से अधिकांश निबन्ध मराठी, संस्कृत, उर्दू आदि भाषाओं के लेखों के आधार पर लिखे गए हैं। इससे उनको मौलिक चिन्तन की पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं मिल सकी। यही कारण है कि एक ही तत्त्व का निरूपण इन्हें कई स्थानों पर करना पड़ा है और उनके बौद्धिक स्तर में पर्याप्त अन्तर है। कवि की अनुभूति अथवा काव्य के वर्ण्य विषय से कवि का तादात्म्य तथा कविता की परिभाषा इन दोनों विषयों पर द्विवेदी जी को कई बार लिखने की आवश्यकता हुई है और इनमें चिन्तन-स्तर का अन्तर भी स्पष्ट है। अनुभूति के सम्बन्ध में इसी लेख में प्रसंगवश हमें कई बार लिखना पड़ा है। एक और उदाहरण देने से यह अन्तर स्पष्ट हो जाता है।[1] यह पहले उद्धरण की अपेक्षा और तर्कसम्मत है। यह अन्तर कविता की परिभाषा से तो और भी स्पष्ट हो जाता है।[2] इन दोनों परिभाषाओं में से दूसरी परिभाषा में कला

---

१. कवियों का यह काम है कि वे जिस पात्र अथवा जिस वस्तु का वर्णन करते हैं, उसका रस अपने अन्तःकरण में लेकर उसे ऐसा शब्द स्वरूप देते हैं कि उन शब्दों के सुनने से वह रस सुनने वाले के हृदय में जागृत हो उठता है। 'रसज्ञ-रंजन', पृष्ठ ५३।

२. किसी प्रभावोत्पादक और मनोरंजक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है। 'रसज्ञ-रंजन' पृष्ठ ३९।

... ...

के उद्गार का और विस्तार है। इनकी परिभाषा अत्यन्त शिथिल है। मार्मिकता का अभाव स्पष्ट है। इनमें कतिपय आलोचक द्विवेदी जी की मौलिकता और सूक्ष्म चिन्तन की क्षमता में भी सन्देह कर सकते हैं, पर यह अनुपयुक्त है। हाँ, इतना ही कहा जा सकता है कि लेखक ने सत्य के अन्वेषण को भी पूर्ण रूप [illegible] रूप में ही ग्रहण किया है। उन्हें निरपेक्ष सत्य-निरूपण का आग्रह नहीं। काव्य-सिद्धान्त में इस प्रकार की निरपेक्षता की कल्पना नहीं की जा सकती। सत्य के सापेक्षिक रूप का ग्रहण ही संभव है। वस्तु की अपेक्षा व्यक्ति का महत्त्व होने के कारण गणित के सिद्धान्तों का-सा ठोस और अटल रूप इसे नहीं मिल सकता। कविता की अनेक परिभाषाओं का होना और उनमें सभी सत्यांश की स्वीकृति इसी बात का अनुमोदन कर रही है। काव्य की कोई भी परिभाषा पूर्ण नहीं है। उसकी पूर्णता केवल सापेक्षिक और आरम्भिक होती है। इस तारतम्य में द्विवेदी जी के लेखों की कुछ पंक्तियाँ पंडितराज जगन्नाथ के निरूपण की उच्चता को छूती हुई-सी प्रतीत होती हैं। कविता की सुन्दरतम भ्रान्ति और विस्मृति पढ़कर लेखक पंडितराज के स्वर-में-स्वर मिलाता हुआ प्रतीत होता है।[1]

द्विवेदी जी ने युगान्तरकारी व्यक्तित्व के साथ हिन्दी-साहित्य में प्रवेश किया है। नवोत्थान, पुनर्जागरण के चिह्न तो भारतेन्दु-काल में ही दृष्टिगोचर होने लगे थे। पर उस समय का प्रयास शैशव-काल का ही रहा। भारतेन्दु जी ने यह कार्य प्रारम्भ करके निर्माण का सूत्र द्विवेदी जी के हाथ में दे दिया और उसको पूर्ण यौवन के विकास तक पहुँचा देने का श्रेय द्विवेदी जी को है। उन्होंने इस मार्ग को इतना प्रशस्त कर दिया था कि परवर्ती कलाकारों को इस मार्ग का अवलम्बन करके साहित्य और जीवन में नूतन प्राण फूंक देने में पूर्ण सफलता मिली। भारतेन्दु जी से लेकर आज तक का सारा काल हिन्दी-साहित्य का पुनरुत्थान-काल कहा जायगा। इसमें शताब्दियों से सोई हुई भारतीय आत्मा नवीन प्रगति के लिए जाग गई है। द्विवेदी जी की शंख-ध्वनि ने ही उसे जगाया है। उसके नेत्र अलसाये हुए थे। पर द्विवेदी जी के

अन्तःकरण की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है। नाना प्रकार के विकारों के योग से उत्पन्न हुए मनोभाव जब मन में नहीं समाते तब वे आप-ही-आप मुख के मार्ग से बाहर निकलने लगते हैं, अर्थात् वे मनोभाव शब्दों का स्वरूप धारण करते हैं। यह कविता है।

१. देखिये 'रसज्ञ रंजन', पृष्ठ ५८।

पैंतीस-चालीस वर्ष के अथक परिश्रम और निर्बाध शंख-ध्वनि ने इसे फिर से सोने नहीं दिया। हिन्दी-साहित्य को बाध्य होकर जागना और नवीन जीवन-प्रवाह में अपने-आपको डालना पड़ा। द्विवेदी जी तथा उनके समसामयिक अन्य साहित्यकारों को, जो जागृति का संदेश लेकर आये थे, पर्याप्त विरोध का सामना करना पड़ा। इनको अपनी शक्ति का अधिकांश तो केवल भाषा-निर्माण में ही लगा देना पड़ा। अपनी शेष शक्ति का उपयोग इन्होंने काव्य के वर्ण्य विषय और शैली के नवीन संस्करण में किया।

भाषा को व्याकरण-सम्मत बनाने के अतिरिक्त द्विवेदी जी ने कविता और गद्य की भाषा को एक करने के बृहत् आन्दोलन को जन्म दिया। भारतेन्दु जी उत्थान के इस पथ का अवलम्बन नहीं कर पाए थे, इसलिए इस कार्य-क्षेत्र में द्विवेदी जी की मौलिकता का एकाधिपत्य है। किसी भी देश के साहित्य में गद्य और पद्य में दो भिन्न भाषाओं का प्रयोग नहीं होता है, यह केवल हिन्दी का ही वैचित्र्य था। इस बात की ओर द्विवेदीजी ने हिन्दी-साहित्य-समाज का ध्यान कई बार आकृष्ट किया।[1] द्विवेदी जी को अपने इस आन्दोलन में पूर्ण सफलता मिली। शताब्दियों से काव्य के लिए गृहीत ब्रज-भाषा को कुछ ही वर्षों में अपदस्थ कर दिया गया।

यह युग की आकांक्षा थी और द्विवेदी जी थे इसकी पूर्ति के माध्यम। युग की चेतना को पहचानना ही आलोचक की योग्यता है। द्विवेदी जी की सफलता की कुंजी यही है। अन्यथा रत्नाकर जी-जैसे प्रतिभाशाली कवियों की मधुर, परिमार्जित और भाव सौन्दर्य-समन्वित ब्रजभाषा के समक्ष नीरस, कठोर और केवल कथा-प्रवाह को लेकर चलने वाली खड़ी बोली के स्वागत की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि द्विवेदी जी ने अपने

---

१. गद्य और पद्य की भाषा पृथक्-पृथक् न होनी चाहिए। हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जिसके गद्य में एक प्रकार की और पद्य में दूसरे प्रकार की भाषा लिखी जाती है। सभ्य समाज की जो भाषा हो उसी भाषा में गद्य-पद्यात्मक साहित्य होना चाहिए। 'रसज्ञ-रंजन', पृष्ठ ७।

... ...

बोलना एक भाषा और कविता में प्रयोग करना दूसरी भाषा, प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध है। जो लोग हिन्दी बोलते हैं और हिन्दी ही के गद्य-साहित्य की सेवा करते हैं उनके पद्य में ब्रजभाषा का आधिपत्य बहुत दिनों तक नहीं रह सकता। —'रसज्ञ-रंजन,' पृष्ठ ८।

समसामयिकों के सहयोग से खड़ी बोली को काव्य की भाषा बना देने का आन्दोलन जिस समय प्रारम्भ किया था उस समय खड़ी बोली में काव्योपयोगी गुणों का अभाव ही था। ब्रजभाषा-जैसी मधुरता और कोमलता तो उसमें थी ही नहीं। जीवन के विभिन्न स्वरूपों के चित्रण के उपयुक्त शब्द-कोष का भी अभाव ही था। ऐसी अवस्था में ब्रज-जैसी भाषा को चुनौती देना एक आश्चर्य की ही बात थी। पर युग की परिवर्तनशील आकांक्षा के सम्मुख ब्रजभाषा न ठहर सकी। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी का यह कथन बिलकुल समीचीन है : "रत्नाकर की मधुर बीन के सामने द्विवेदी जी के समय के कवियों का शंखनाद कर्कश अवश्य था, किन्तु स्वागत उसीका किया गया। नया जीवन-प्रवाह उसीमें पाया गया। ब्रजभाषा मँजकर कोमल, मधुर और शृंगार-प्रधान भावों के उपयुक्त हो गई थी, पर उसमें जीवन की गम्भीरता, कटुता और बौद्धिकता के उपयुक्त कठोरता और प्रौढ़ता नहीं आ पाई थी। उसमें प्रौढ़ विचारों के अभिव्यक्त करने की क्षमता का अभाव था। यही कारण है कि इतनी शताब्दियों में भी उसका गद्य अविकसित ही रहा और जीवन की नवीन बौद्धिक आवश्यकताओं के लिए खड़ी बोली को अपनाना पड़ा।"

द्विवेदी जी की भाषा-सम्बन्धी यह विचार-धारा साहित्य-विकास के प्राकृतिक नियमों पर अवलम्बित है। भाषा का विकास इन्हीं नियमों पर होता है। जब एक भाषा जन-साधारण की बोल-चाल की भाषा से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेती है, उसके साहित्य में भी जब एक कृत्रिमता आ जाती है तब स्वभावतः ही वह अपदस्थ होने लगती है और उसका स्थान जन-साधारण की बोल-चाल की भाषा ले लेती है। जिस भाषा में जीवन की यथार्थता नहीं रह जाती, वह संकुचित होकर मरने लगती है। ब्रज-साहित्य ने युग की भावनाओं से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था, इसलिए वह प्राचीन युग की भाषा बनकर धीरे-धीरे साहित्य-क्षेत्र से लुप्तप्राय-सी हो गई है। द्विवेदी जी के इन विचारों का प्रत्येक देश का इतिहास समर्थन कर रहा था। भारत में प्राकृत, अपभ्रंश आदि विभिन्न भाषाओं का विभिन्न समयों में साहित्य की मान्य भाषा होकर लुप्त हो जाने का इतिहास द्विवेदी जी की शंख-ध्वनि में स्वर मिला रहा है। इनके खंडहर प्रत्येक भाषा को सचेत कर रहे हैं। जो इनके मूक सन्देश से शिक्षा ग्रहण करके समय के अनुरूप विकास नहीं कर पाती उनकी भी यही गति होती है। ब्रजभाषा ने इस मार्ग का अवलम्बन किया था।

द्विवेदी जी के आलोचना-क्षेत्र का दूसरा आन्दोलन था काव्य के वर्ण्य विषयों में आमूल परिवर्तन। कवियों का क्षेत्र नायिका-भेद, हाव-भाव,

रसकेलि, अभिसार आदि तक ही सीमित है; ऐसा द्विवेदी जी नहीं मानते हैं। इन विषयों पर पर्याप्त रचना हो चुकी थी, इसलिए इन विषयों को छोड़-कर जीवन के अन्य क्षेत्रों की ओर वे कवि-समाज का ध्यान आकृष्ट करना चाहते थे।[1] काव्य के नवीन वर्ण्य विषय को अपनाना युग-धर्म था। इसलिए प्रायः प्रत्येक कलाकार और आलोचक का इसी ओर झुकाव हो गया था। लेकिन द्विवेदी जी तो इस आन्दोलन के प्रमुख नेताओं में से थे। द्विवेदी जी ने अपने सम्पादन-काल के प्रथम वर्षों में हिन्दी-साहित्य की दुर्दशा पर कुछ व्यंग्य-चित्र प्रकाशित किये थे। इन चित्रों से साहित्य-क्षेत्र में एक क्रान्ति-सी आ गई और प्राचीन ढंग के आलोचक और कवि क्षुब्ध हो उठे थे। बाद में इस व्यापक क्षोभ और विरोध के कारण उन्हें यह व्यंग-चित्रावली बन्द भी करनी पड़ी। द्विवेदी जी इसे उपादेय समझते थे। वस्तुतः इसने साहित्य में खलबली मचा दी थी। समस्या-पूर्ति करने वाले, नायिका-भेद, अलंकार आदि पर लिखने वाले कवियों का द्विवेदी जी ने घोर विरोध किया। द्विवेदी जी के प्रयत्न से ही मुक्तकों का स्थान प्रबन्ध-काव्य ने ले लिया। प्रायः शताब्दियों से अवरुद्ध प्रबन्ध की धारा फिर से प्रवाहित हो उठी। काव्य के सर्वतोमुखी विकास के लिए रीतिकालीन काव्य-धारा का विरोध आवश्यक था। उसकी भाषा-शैली, वर्ण्य विषय आदि सभी वस्तुओं को काव्य-क्षेत्र से निकालकर फेंक देने की आवश्यकता थी और यही कार्य द्विवेदी जी ने किया था। रत्नाकरजी-जैसे मध्यकालीन प्रवृत्तियों और शैली में सृजन करने वाले व्यक्तियों पर भी इस क्रान्ति का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। उन्होंने भक्तिकालीन वर्ण्य विषयों को ही अपना क्षेत्र बनाया। उन्होंने अपनी भाषा को भी रीतिकालीन कृत्रिमता से मुक्त कर दिया था। उसमें लाक्षणिकता, वैचित्र्य, चमत्कार-प्रियता आदि तो रहे, पर भक्तिकालीन सरसता और भाव-व्यंजकता ने उन सबमें स्वाभा-

---

१. यमुना के किनारे केलि-कौतूहल का अद्भुत-अद्भुत वर्णन बहुत हो चुका। न परकीयाओं पर प्रबन्ध लिखने की अब कोई आवश्यकता है और न स्वकीयाओं के "गतागत" की पहेली बुझाने की। चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, अनन्त पर्वत सभी पर कविता हो सकती है, सभी से उपदेश मिल सकता है।...फिर क्या कारण है कि इन विषयों को छोड़कर कोई-कोई कवि स्त्रियों की चेष्टाओं का वर्णन करना ही कविता समझते हैं। —'रसज्ञ-रंजन' पृष्ठ ११।

विकता ला दी थी। कहने का तात्पर्य यह है कि इस आन्दोलन का कवि, पाठक और आलोचक सभी पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। यही कारण है कि इस युग को "पुनरुत्थान काल" कहा जा सकता है।

द्विवेदी जी ने रीतिकालीन सोरठा, कवित्त आदि कतिपय छन्दों के स्थान पर कई अन्य छन्दों के प्रयोग की प्रेरणा दी। उन्होंने संस्कृत और उर्दू के वृत्तों के प्रयोग का तो जोरदार शब्दों में समर्थन किया।[1] अतुकान्त छन्दों में कविता करने के तो एक आन्दोलन को ही जन्म दे दिया था। इसके फल-स्वरूप हिन्दी-कविता अपने सीमित क्षेत्र से निकलकर उन्मुक्त और स्वच्छन्द वातावरण में आ गई थी। प्रबन्ध, मुक्त, और गीति-काव्य के सर्वांगीण विकास के लिए इस बात की बहुत अधिक आवश्यकता थी। द्विवेदी जी अपने काव्य-सम्बन्धी विचारों में पूर्णतः स्वच्छन्दतावादी थे। वे प्रतिभा को नियमों में जकड़ देने के विरोधी थे।[2] आधुनिक काल में जो स्वच्छन्दतावादी धारा आई, उसके प्रारम्भिक विकास के स्पष्ट लक्षण द्विवेदी जी में मिलते हैं। कविता और पद्य के अभिन्न सम्बन्ध की बद्धमूल धारणा को द्विवेदी जी ने उखाड़कर फेंक दिया था। उनके द्वारा गद्य-काव्य को भी काव्य माने जाने की स्वीकृति प्राप्त हो गई थी। इस प्रकार साहित्य का क्षेत्र कतिपय गीतों तक ही सीमित नहीं रहा। प्रत्युत उसमें अनन्त विधाओं की संभावना स्वीकार कर ली गई। उन्होंने गद्य-काव्य के कवित्व को मुक्तकंठ से उद्घोषित कर दिया। इस गद्य-पद्य के कृत्रिम भेद के लुप्त हो जाने पर उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि को भी स्वीकृति प्राप्त हो गई थी। आज तो विधाओं का कोई महत्त्व ही नहीं रहा। कवि-प्रतिभा उनमें बँधकर नहीं चल सकती। द्विवेदी जी ने भी कवि-प्रतिभा की स्वच्छन्दता स्वीकार की है। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वे कवि को देश-काल के प्रभाव से भी सर्वथा मुक्त समझते थे। देश-काल का महत्त्व स्वीकार करते हुए उन्होंने प्रत्येक काल के कवि के लिए आलोचना के भिन्न-भिन्न मानदण्डों को स्वीकार किया है। देव, मतिराम आदि का सामयिक महत्त्व ही है, इसलिए उनकी आलोचना करते समय तत्कालीन परिस्थितियों का ध्यान रखना आवश्यक है। लेकिन तुलसीदास जी का चिरन्तन महत्त्व भी द्विवेदी जी को स्वीकृत है।

द्विवेदी जी युग-प्रवर्तक थे। वे नवीन युग के आदि पुरुष हुए हैं, इसीलिए

---

१. देखिये 'रसज्ञ-रंजन' पृष्ठ ३-५।

२. देखिये 'समालोचना-समुच्चय' में "हिन्दी-नवरत्न" नामक निबन्ध।

वे सब क्षेत्रों में नवीनता के समर्थक थे। वाजपेयी जी द्विवेदी जी के बारे में लिखते हैं: "द्विवेदी जी का व्यक्तित्व मूलतः सुधारक और प्रवर्त्तक व्यक्तित्व है। उन्होंने समस्त प्राचीन को ताख पर रखकर नवीन अभ्यास और नये अनुभवों का रास्ता पकड़ा। हिन्दी की किसी भी प्राचीन परम्परा के वे कायल न थे। संस्कृत से उनका प्रेम अवश्य था, पर वह भी उतना ही जितना नवीन हिन्दी को स्वरूप देने के लिए आवश्यक था। इसीलिए द्विवेदी जी की शैली में सम्पूर्णतः नवीनता के दर्शन होते हैं।"[1] इस प्रकार द्विवेदी जी को आधुनिक स्वच्छन्दतावादी युग के आदि-प्रवर्तक मानने के पर्याप्त कारण हैं।

ऊपर द्विवेदी जी की समीक्षा-सम्बन्धी धारणाओं और मानों का विवेचन हुआ। उनकी व्यावहारिक और सैद्धान्तिक समालोचनाओं की कतिपय विशेषताओं का भी उल्लेख हो गया है। समष्टि रूप में इन आलोचनाओं का स्वरूप केवल परिचयात्मक या वर्णनात्मक ही है। उनमें गूढ़ चिन्तन का नितान्त अभाव है। यद्यपि द्विवेदी जी की आलोचना-सम्बन्धी धारणाएँ अत्यन्त प्रौढ़, समीचीन और समयानुकूल थीं। उनमें विकास के बीज भी सन्निहित हैं, पर द्विवेदी जी उनका व्यावहारिक प्रयोग उतनी ही सफलता से नहीं कर सके हैं। व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में उनका उद्देश्य साहित्य-निर्माण की ओर ही अधिक रहा है। इसलिए उन्होंने अपना ध्यान भाषा और व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियों को ठीक करने में ही अधिक लगाया। उन्होंने मिश्रबन्धु-कृत 'हिन्दी नवरत्न' की आलोचना करते हुए उन दृष्टियों का उल्लेख किया है जिनसे तुलसी की समालोचना हो सकती थी।[2] वे तो प्रौढ़ समालोचना-शैली की विशेषताएँ हैं, पर उन दृष्टियों का उपयोग तो लेखक ने अन्यत्र कहीं भी नहीं किया है। उसी लेख में तुलसी का समर्थन करते हुए इस प्रौढ़ शैली की आलोचना का तात्पर्य उस काल तक भी केवल दोष-दर्शन में ही अधिक रहा प्रतीत होता है, इसलिए 'हिन्दी नवरत्न' की आलोचना में लेखक ने ग्रन्थ के गुणों का बहुत सूक्ष्म रूप से संकेत किया है। 'अकबर के राजत्व-काल में हिन्दी' नामक निबन्ध में लेखक ने साहित्य-

---

१. 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं सदी', भूमिका पृष्ठ ६।

२. तुलसीदास की विशेषता, तुलसीदास की उपमाएँ, तुलसीदास का चरित्र-चित्रण, तुलसीदास के प्राकृतिक दृश्य, तुलसी की राजनीति, तुलसीदास की साधारण रीति, तुलसीदास की वर्णित देश-भक्ति, पितृ-भक्ति और पति-भक्ति आदि पर लिखने की बहुत सामग्री है।

विकास के कारणों पर विचार किया है। उसकी आलोचना करते हुए द्विवेदी जी ने कवि और काल के सम्बन्ध को अस्वीकार कर दिया। वे सूर और तुलसी की उस काल में उत्पत्ति एक आकस्मिक घटना मानते हैं। स्वयं द्विवेदी जी काल और कवि का सम्बन्ध मानते थे, पर यहाँ पर उन्होंने अस्वीकार कर दिया। वस्तुतः इस काल में आलोचना का एक आवेश होता था और उसमें कभी-कभी तत्व वस्तु का ध्यान भी नहीं रह पाता था। प्रायः आलोचना-प्रत्यालोचना में तो इस आवेश के दर्शन हो ही जाते थे। प्रत्यालोचना की शैली भी आलोच्य वस्तु की-सी होती थी। 'कालिदास की निरंकुशता' की प्रत्यालोचना करते हुए मनसाराम ने यही किया है। स्वयं द्विवेदी जी भी ऐसा कर सकते थे। इस काल की आलोचना में व्यंग्य, वैयक्तिक आक्षेपों का अभाव नहीं। यह तो एक प्रकार से काल की शैली का एक तत्व ही प्रतीत होता है। आलोचक से न्यायाधीश की तुलना तो द्विवेदी जी ने कर दी, पर उसका सर्वत्र निर्वाह नहीं है।

सामयिक प्रचलित शैली के कारण कुछ साधारण कमियाँ उपेक्षणीय हैं। द्विवेदी जी ने इस क्षेत्र में महान् कार्य किया है। उनकी आलोचना-सम्बन्धी धारणाएँ इस युग की प्रतिनिधि हैं। प्रयोगात्मक आलोचनाओं की अपेक्षा उनके द्वारा किये गए साहित्यिक आन्दोलन अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इन आन्दोलनों का युगान्तरकारी प्रभाव पड़ा है, सारा आधुनिक साहित्य इन्हींका परिणाम है। साहित्य पर इतना प्रभाव अन्य किसी का नहीं पड़ा। द्विवेदी जी के आलोचक का यही सबसे महत्त्वपूर्ण अंश है, जिसकी समता हिन्दी का अन्य कोई आलोचक नहीं कर पाता। अग्रदूत होने के कारण उनका महत्त्व अधिक है। उन्होंने 'सरस्वती' द्वारा आलोचना का विस्तृत क्षेत्र तैयार कर दिया। तत्कालीन आलोचनाओं में तुलनात्मक, ऐतिहासिक, शास्त्रीय, स्वच्छन्दतावादी कतिपय विभिन्न आलोचनाओं के बीज निहित हैं, जिनका काल-क्रम से विकास हुआ है। द्विवेदी जी का महत्त्व तो स्वरचित साहित्य के लिए ही नहीं अपितु अपने काल के सारे साहित्य के लिए है। इस सारे साहित्य में द्विवेदी जी की मूल प्रेरणा ही कार्य कर रही है। काव्य-क्षेत्र में तो द्विवेदी जी ने इतिवृत्तात्मक नाम से एक नवीन काव्य-शैली को ही जन्म दे दिया था, पर आलोचना में उन्होंने सुरुचि के द्वारा आदर्शवादी, एवं नीतिवादी प्रवृत्ति की जड़ जमा दी, जो शुक्ल जी तक तो स्पष्टतः विकसित होती रही और परवर्ती काल के लेखक और आलोचक भी उसको आसानी से उखाड़कर फेंक नहीं सके हैं। आज का आलोचक कलात्मकता के महत्त्व को स्वीकार करता

हुआ भी इस नीतिवाद की नितान्त अवहेलना नहीं कर सकता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो इस प्रवृत्ति में चिरन्तन तत्त्व है, अथवा कम-से-कम इस युग को तो मान्य धारणा है ही। यही कारण है कि जब बख्शी जी द्विवेदी जी का महत्त्व उसके काल के सारे साहित्य के कारण समझते हैं। वे कहते हैं: "यदि कोई मुझसे पूछे कि द्विवेदी जी ने क्या किया, तो मैं उसे समग्र आधुनिक साहित्य दिखलाकर कह सकता हूँ कि यह सब उन्हींकी सेवा का फल है। कुछ लेखक ऐसे होते हैं जिनकी रचना पर ही महत्ता निर्भर है। कुछ ऐसे होते हैं, जिनकी महत्ता उनकी रचनाओं से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। द्विवेदी जी की साहित्य-सेवा उनकी रचनाओं से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। उनके व्यक्तित्व का प्रभाव समग्र साहित्य पर पड़ा है। मेघ की तरह उन्होंने विश्व से ज्ञान-राशि संचित करके और उसकी वर्षा करके समग्र साहित्योद्यान को हरा-भरा कर दिया। वर्तमान साहित्य उन्हींकी साधना का सुफल है।"

द्विवेदी-युग का आदर्श बतलाते हुए वाजपेयी जी लिखते हैं: "द्विवेदी जी और उनके अनुयायियों का आदर्श, यदि संक्षेप में कहा जाय तो समाज में एक सात्विक भाव की ज्योति जगाना था। दीनता और दरिद्रता के प्रति सहानुभूति, समय की प्रगति का साथ देना, शृंगार के विलास-वैभव का निषेध ये सब द्विवेदी-युग के आदर्श हैं।"

भारतेन्दु-काल से ही हिन्दी में पत्र-पत्रिकाओं द्वारा समालोचना-साहित्य की अभिवृद्धि प्रारम्भ हो गई थी। आज भी पत्र-पत्रिकाओं द्वारा हिन्दी की यह सेवा हो रही है। भारतेन्दु और द्विवेदी-काल की सन्धि में भी ऐसी पत्रिकाएँ थीं, जिनका प्रधान कार्य-क्षेत्र समालोचना ही था। जैसे 'समालोचक', 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', और 'साहित्य-समालोचक' आदि। हिन्दी पर अंग्रेजी, बंगला, मराठी आदि साहित्यों का प्रभाव भी पड़ रहा था। हिन्दी इतनी तीव्र गति से उन्नति-पथ पर अग्रसर हो रही है कि उसमें काल-क्रम का निरूपण प्रायः असम्भव-सा हो गया है। द्विवेदी जी के समसामयिक कतिपय लेखक थे जिनकी आलोचना में कुछ गम्भीरता के दर्शन प्रारम्भ हो चुके थे। द्विवेदी जी की आलोचना में जहाँ परिचयात्मकता ही अधिक है, वहाँ पर उन कतिपय आलोचकों की शैली निर्णयात्मक होती जा रही थी। द्विवेदी जी के व्यक्तित्व द्वारा इतना विकास नहीं हुआ, पर इस काल में अन्य बहुत से लेखक इस क्षेत्र में दर्शनीय कार्य कर चुके थे। बाबू श्यामसुन्दरदास जी भी द्विवेदी के समकालीन हैं, पर इनकी आलोचना निर्णयात्मक-पथ को लेकर काफी आगे बढ़ गई। विकास की दृष्टि से दोनों समालोचनाएँ एक अवस्था की नहीं कही

जा सकती। कहने का तात्पर्य यह है कि विकासशील और प्रगतिमय साहित्य में एक ही समय में साहित्य-विधाओं के विकास की विभिन्न अवस्थाओं के दर्शन होते हैं। इसका कारण केवल प्रतिभाओं की अनेकता है।

यही कारण है कि 'सरस्वती' में जब पुस्तक-परिचय के स्तर की अनेक आलोचनाएँ प्रकाशित होती रहीं, उसी समय 'नागरी प्रचारिणी' ने ऐतिहासिक शोध का कार्य अपने हाथ में ले लिया था। उसमें कई प्रकार की आलोचनाएँ प्रकाशित होती रहीं। द्विवेदी जी के कई आलोचनात्मक निबन्ध भी उसीमें प्रकाशित होते थे। बाबू राधाकृष्णदास, श्यामसुन्दरदास, ग्रीव्स आदि भी अपना अनुसन्धान-कार्य उसी पत्रिका द्वारा कर रहे थे। 'सरस्वती' में भी सूर्यनारायण दीक्षित ने शेक्सपियर आदि पर जो कुछ लिखा है, अंग्रेजी के प्रभाव से उसमें पर्याप्त गम्भीरता है। चारित्रिक विश्लेषण, काव्य-सौंदर्य आदि का अध्ययन विश्लेषणात्मक और प्रौढ़ है। हिन्दी-कालिदास की प्रत्यालोचना में जिन विद्वानों ने लिखा है उनमें से कुछ विवेचन बहुत-कुछ संयत, तर्कपूर्ण और गम्भीर भी है। 'गुलेरीजी' ने मनसाराम और द्विवेदी जी दोनों की ही आलोचना की है, पर शैली की दृष्टि से यह नितान्त भिन्न है। इसमें वैयक्तिक आक्षेप व्यंग्य और सारहीन तर्कों का आश्रय नहीं लिया गया, जैसा कि उपर्युक्त दोनों आलोचकों की आलोचना में मिलता है। गुलेरीजी के पास अपने मत के प्रतिपादन के लिए गम्भीर तर्क और प्रौढ़ शैली है। उनमें अपने ही मत को ठीक मानने का दुराग्रह भी नहीं है। स्वतन्त्र चिन्तन का वे सदा ही स्वागत करते हुए प्रतीत होते हैं। काल-क्रम से यह आलोचना द्विवेदी जी की आलोचनाओं की अपेक्षा बहुत ही आधुनिक है। इसके अतिरिक्त 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में जो समालोचनाएँ प्रकाशित होती रहीं, वे पूर्णतः भिन्न दिशा में प्रगति कर रही थीं। उनका प्रधान उद्देश्य तो ऐतिहासिक अनुसंधान था। कवि की काल तथा जन्म-सम्बन्धी घटनाओं का निर्णय करना ही उनकी समालोचनाओं की प्रधान विशेषता थी। पर काव्य-सौन्दर्य और कवि के व्यक्तित्व का विश्लेषण भी पर्याप्त प्रौढ़ है। आलोचना के इस स्वरूप का विकास, जिसके कुछ चिह्न 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' की प्रारम्भिक प्रतियों में भी मिल जाते हैं, शुक्ल जी के समय में ही हुआ और इसका बहुत-कुछ श्रेय भी शुक्लजी को ही है। जीवन-चरित-सम्बन्धी ऐतिहासिक अनुसन्धान, जिसका आधार अन्तःसाक्ष्य और बहिःसाक्ष्य दोनों ही रहे हैं यह तो इन सभी निबन्धों की सामान्य विशेषता है।[1] लेकिन कवि के व्यक्तित्व, जीवन और दर्शन का

१. देखिये 'नागरी प्रचारणी पत्रिका' १८९८ ई०, श्री नागरीदासजी का जीवन-चरित्र

दृष्टिकोण, काव्य में नाटकीयता आदि तत्त्वों पर भी कतिपय लेखकों ने उसी समय विचार करना प्रारम्भ कर दिया था। ये तत्त्व परवर्ती काल में ही अधिक विकसित हुए। इस शताब्दी के प्रथम दशक तक तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो इनका केवल आकस्मिक संकेत-मात्र है, पर बाद में धीरे-धीरे ये तत्त्व आलोचना के मानों का स्वरूप धारण कर गए थे। इस समीचीन शैली के ठीक दर्शन तो शुक्लजी में ही होते हैं।

द्विवेदी जी ने गुण दोष-विवेचन की परिचयात्मक शैली को अपनाया था, जिसमें वे तर्क के साथ कभी-कभी कटाक्ष और व्यंग्य भी करते थे। व्यंग्य और कटाक्ष उस काल की प्रमुख विशेषता रही है। इस शताब्दी के प्रारम्भ में यह प्रायः सभी में मिलती है। द्विवेदी जी ने भी 'भाषा और व्याकरण' वाले लेख की प्रत्यालोचना में इसका पर्याप्त प्रयोग किया है। ऐसी कटाक्षपूर्ण शैली में दोष-दर्शन कराने वाली आलोचनाओं में प्रौढ़ता का अभाव है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। पर द्विवेदी जी की आलोचना विकासशील रही है। 'हिन्दी-नवरत्न' की आलोचना में अनेक स्थानों पर उनकी प्रौढ़, गम्भीर और तर्कपूर्ण शैली के भी दर्शन हो जाते हैं। यह साधारण परिचयात्मक कोटि की आलोचना नहीं है, अपितु कुछ विश्लेषणात्मक हो गई है। इसका कारण भी स्पष्ट है। हिन्दी-साहित्य का विकास अब परिचयात्मक आलोचनाओं से प्रौढ़ विश्लेषणात्मक शैली को बढ़ा रहा था और द्विवेदी जी यहाँ पर सन्धि की कड़ी-सी प्रतीत होते हैं। तुलसीदास और मतिराम को एक कोटि में रख देने के कारण द्विवेदी जी का भारतीय संस्कृति और मानव के उच्च आदर्शों का प्रेम यह आघात प्राप्त करके जाग गया था। इसने उनको गम्भीरता पूर्वक चिन्तन करने के लिए बाध्य कर दिया था और यही कारण है कि वे इस आलोचना में इतने गम्भीर हो गए हैं। यह निबन्ध उनके विकासमान व्यक्तित्व की परिचायक है। इसमें उनके प्रौढ़ आलोचनात्मक दृष्टिकोण का व्यावहारिक उपयोग हुआ है, पर यह प्रत्यालोचना-मात्र है। इसीलिए उन्हें स्वतन्त्रता पूर्वक आलोच्य कवियों की विशेषताओं के निर्देश का अवसर नहीं मिल पाया। यहाँ भी उनका ध्यान भाषा-सम्बन्धी आलोचना अथवा पुस्तक और लेखक के बाह्य आकार-प्रकार की प्रशंसा पर ही अधिक रहा। इससे उनके सामान्य आलोचक स्वरूप में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। आलोचना में जो अभाव खटकता रहा, उसकी पूर्णतः पूर्ति नहीं होती।

'हिन्दी-कालिदास की आलोचना' हिन्दी में आलोचना-साहित्य की पुस्तक

मानी जाती है।[1] पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कवियों और ग्रंथों की काव्य-सम्बन्धी विशेषताओं का आलोचनात्मक अध्ययन हुआ ही नहीं था। ग्रियर्सन की आलोचना पर हम पहले विचार कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त रासो की प्रामाणिकता पर मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या आदि पहले ही लिख चुके थे। ये सन् १८८६ और १८८७ में ग्रन्थाकार भी प्रकाशित हुए। इनके पूर्व भी कुछ आलोचनात्मक ग्रन्थ प्रकाशित हुए थे।[2] द्विवेदी जी का उपर्युक्त ग्रन्थ सन् १९०१ में लिखा गया था। पर कवि पर अपेक्षाकृत सर्वाङ्गीण विचार करने वाली प्रथम पुस्तक के रूप में यह हमेशा मान्य रहेगी।

वैयक्तिक कटु आलोचनाओं के कारण इस काल में आलोचना की गति अवरुद्ध रही। उसमें विकास की शक्तियाँ अन्तर्हित थीं। यह द्विवेदी जी के साहित्य-आन्दोलनों से अत्यन्त स्पष्ट है। सुरुचि, भाषा, कवि-स्वातन्त्र्य तथा नवीन वर्ण्य विषयों और शैली को अपनाने के आन्दोलनों के अन्तस्तल में आलोचनात्मक चेतना ही प्रवाहित हो रही थी। इस आन्दोलन में तत्कालीन सभी आलोचकों ने सहयोग दिया है। इसमें उस काल की समालोचना की गति-विधि समालोचक की प्रवृत्तियों तथा सत्समालोचक के गुणों पर गम्भीर विचारात्मक निबन्ध प्रकाशित हुए हैं। उन लेखों में साहित्य की जघन्य, निन्दित, सारहीन और अहितकारी पुस्तकों तथा लेखों के कूड़े-कर्कट को दूर करने के लिए समालोचना की आवश्यकता पर विचार हुआ है। साहित्य की प्रगति और समस्याओं पर विचार होता था। ब्रजभाषा और खड़ी बोली का पारस्परिक विवाद पद्य की भाषा, उपन्यास और नाटक के विकास आदि सामयिक प्रश्नों पर लेख होते थे। सत्साहित्य के प्रचार के लिए समालोचना का तटस्थ, निष्पक्ष और सुरुचिपूर्ण होना नितान्त आवश्यक था। इसके लिए समालोचकों की कुछ सभाएँ स्थापित हुई थीं। इस समिति में द्विवेदी जी और प्रेमघनजी आदि भी थे। 'समालोचक' में ऐसी कई-एक समितियों का उल्लेख है। आरा में भी ऐसी एक समिति थी। इन समितियों की आलोचनाएँ वैयक्तिक राग-द्वेष से तो शून्य होती थीं, पर ये शास्त्रीय जड़ता से आक्रान्त भी रहती थीं। आलोचना का एक बँधा हुआ ढाँचा था उसमें सब कृतियों को ढालने का प्रयत्न होता था। इसमें प्रसादादि गुण, अनुबन्ध चतुष्टय आदि का ही निर्देश होता था। सुरुचि तो इस काल की आलोचना की आधार-भित्ति थी ही,

---

१. देखिये शुक्ल जी का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृष्ठ ५८३।

२. डॉ० माताप्रसाद गुप्त—'हिन्दी-पुस्तक-साहित्य', पृष्ठ ३४४।

: ६ :

मिश्रबन्धुओं की समीक्षा-पद्धति

विशुद्ध आलोचनात्मक दृष्टि से द्विवेदीजी के निबन्धों और पुस्तकों में अपेक्षित प्रौढ़ता का अभाव है। वे प्रारम्भिक युग की साधारण परिचयात्मक रचनाएँ हैं, जिनका उद्देश्य विश्लेषण के द्वारा आलोच्य वस्तु का साहित्यिक सौन्दर्य अथवा वर्तमान जीवन के लिए उन रचनाओं के महत्त्व को प्रतिपादन करने की अपेक्षा उनका सामान्य परिचय-मात्र दे देना था। साहित्यिक सौन्दर्य का निर्देश भी उस काल का लेखक केवल जनता में उस रचना के अध्ययन की रुचि जाग्रत करने के लिए ही करता था। दोषों की ओर अधिक ध्यान जाने का कारण भी केवल साहित्य को अपने विशुद्ध रूप में विकास कर देने का अवसर प्रदान करना और यथा संभव प्रोत्साहन देना था। लेकिन द्विवेदीजी ने साहित्य-समालोचना की जिस शैली और जिन मापदंडों को अपनाया था, उनमें स्थायित्व है। इसमें वे अपने युग का प्रतिनिधित्व करते हैं। वस्तुतः द्विवेदीजी तो अपने काल की भावनाओं और विचारों का मूर्तिमान रूप थे। वे अपने काल के पथ-प्रदर्शक रहे। इसीलिए सुरुचि, जीवन की अनुभूति, रस, अलंकार आदि के मानदंड तथा कवियों के जीवन-संबन्धी अनुसन्धान, तत्कालीन स्थिति पर विचार, तुलना, साहित्यिक सौन्दर्य पर साधारण-सा प्रकाश डालने वाली परिचयात्मक शैली इन दोनों ही का तत्कालीन आलोचकों ने स्वागत किया। यद्यपि धीरे-धीरे हिन्दी का आलोचक परिचय के सामान्य धरातल से उठकर गम्भीर और सूक्ष्म विश्लेषण के उच्च स्तर की ओर बढ़ रहा है। आलोचक अपने व्यक्तित्व को भी धीरे-धीरे निरपेक्ष और तटस्थ कर रहा है। वह पहले की अपेक्षा बहुत कुछ प्रभाववादी तो हो गया है, संभवतः होता जा रहा है, पर वह अपनी अनुभूति, आनन्द और रचना का जीवनगत मूल्य जनता तक पहुँचाता है। पाठक को स्वच्छन्दता पूर्वक उस आनन्द का आस्वाद लेने और कवि की विचार-धारा का जीवन-सम्बन्धी महत्त्व आँकने का पूर्ण अवसर प्रदान करता है, वह उसमें

सहायक होता है। अपने निर्णय को पाठक पर थोप नहीं देना चाहता है। यह सारा विकास क्रमशः हुआ है और द्विवेदीजी इसके विकास की प्रथम कड़ी हैं। परवर्ती आलोचक उनकी युक्ति आदि को लेकर बढ़ा है, उसमें परिमार्जन अवश्य करता गया है। इसी विकास की दूसरी अवस्था के प्रतिनिधि मिश्रबन्धु हैं। इनकी आलोचना में साहित्यिक सौन्दर्य, कवि का जीवन-दर्शन आदि गम्भीर वस्तुओं का बहुत-कुछ प्रौढ़ विवेचन है। दोषों की अपेक्षा कवि के गुणों को देखने की प्रवृत्ति अधिक है। इस प्रकार इनका प्रयास स्पष्टतः ही द्विवेदीजी की अपेक्षा प्रौढ़तर है।

हिन्दी-साहित्य में मिश्रबन्धुओं के नाम से रचना करने वाले व्यक्ति एक नहीं हैं, यह तो इस नाम से ही स्पष्ट है। पहले ये तीनों भाई पं० गणेश-विहारी, रायबहादुर पं० श्यामविहारी और रायबहादुर पं० शुकदेवविहारी मिश्रबन्धुओं के नाम से साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए थे। इन तीनों द्वारा हिन्दी-साहित्य को 'हिन्दी-नवरत्न' और 'मिश्रबन्धु-विनोद' नामक दो आलोचना-ग्रन्थ प्राप्त हुए। अपने काल में ये ग्रन्थ अपने क्षेत्र के अद्वितीय थे। आज भी उस दृष्टि से इनका महत्त्व कम नहीं है। इन मिश्रबन्धुओं में से ज्येष्ठ भ्राता के

ने अपनी आलोचना प्रारम्भ की थी, उस समय दो स्पष्ट शैलियाँ प्रचलित थीं। एक द्विवेदीजी की प्रमुखतः दोषान्वेषिणी परिचयात्मक तथा दूसरी नागरी प्रचारिणी की ऐतिहासिक और साधारण विश्लेषणात्मक। मिश्रबन्धुओं में इन दोनों परम्पराओं का स्पष्ट सम्मिश्रण मिलता है। प्रौढ़ और गम्भीर विश्लेषणात्मक शैली के विकास के उपयुक्त अवसर में ऐतिहासिक दृष्टि से कतिपय वर्षों की देर थी। पर द्विवेदीजी की दोषान्वेषिणी प्रवृत्ति से भी हिन्दी के पाठक, कवि और आलोचक तीनों ही ऊब-से गए थे। इस शैली के विकास में हिन्दी-आलोचना का स्वर्णिम भविष्य अन्धकारमय हो जाने की पूरी संभावना थी। 'समालोचक' के लेखों से यह स्पष्ट हो गया है। मिश्रबन्धुओं ने द्विवेदी जी की आलोचना से तुलना, सुरुचि आदि की प्रवृत्ति तो ग्रहण कर ली थी, पर दोष-दर्शन को तो उन्होंने प्रायः समालोचना-क्षेत्र से मानो खदेड़ ही दिया। उसके स्थान पर उल्टी प्रशंसात्मक प्रणाली अपना ली गई थी। अगर यह दोष-दर्शन की प्रवृत्ति द्विवेदी जी तक ही सीमित न रहती तो हिन्दी-आलोचना के विकास का मार्ग ही अवरुद्ध हो जाता। दूसरे मिश्रबन्धुओं में कवि की कला, भाव, भाषा और विचार-धारा पर कुछ तटस्थ और आलोचनात्मक दृष्टि डालने की प्रवृत्ति के भी दर्शन होने लगे। जिनका द्विवेदीजी की आलोचना में प्रायः अभाव ही था। द्विवेदीजी ने साहित्य-समालोचना के मानदंड का निरूपण करने में स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण के प्राथमिक स्वरूप को अपनाया है, पर वे इनका व्यवहार में निर्वाह में नहीं कर सके। मिश्रबन्धुओं की आलोचना के व्यावहारिक पक्ष में भी कहीं-कहीं इस रूप के अस्पष्ट दर्शन हो जाते हैं, इसका विवेचन यथावसर आगे किया जायगा। हिन्दी-समालोचना क्रमशः प्रौढ़, गम्भीर, विश्लेषणात्मक और स्वच्छन्दतावादी होती गई है और इसमें इनकी आलोचना विकास की दूसरी सीढ़ी मानी जा सकती है।

मिश्रबन्धुओं का दृष्टिकोण भी प्रायः गुण-दोष-निरूपण का ही रहा। उन्होंने इसको आलोचना का विशेष गुण माना है। "फिर भी कवियों की योग्यतानुसार लेखों में उनके गुण-दोष दिखलाने का यथासाध्य प्रयत्न किया गया है। वर्तमान समय के लेखकों की रचनाओं पर समालोचना लिखने का कुछ भी प्रयत्न नहीं किया गया। उनके ग्रंथों के नाम और मोटी रीति से दो-एक अति प्रकट गुण-दोष लिखने पर ही हमने सन्तोष किया है।" इन शब्दों से उनका दृष्टिकोण स्पष्ट है। फिर भी उन्होंने इस विवेचन का आधार केवल शास्त्रीय ही नहीं माना। काव्य की विशेषताओं का निरूपण प्रधानतः रस, अलंकार, गुण, छन्द आदि परम्परागत शास्त्रीय मानदंडों के आधार पर

सहायक होता है। अपने निर्णय को पाठक पर थोप नहीं देना चाहता है। यह सारा विकास क्रमशः हुआ है और द्विवेदीजी इसके विकास की प्रथम कड़ी हैं। परवर्ती आलोचक उनकी सुरुचि आदि को लेकर बढ़ा है, उसमें परिमार्जन अवश्य करता गया है। इसी विकास की दूसरी अवस्था के प्रतिनिधि मिश्रबन्धु हैं। इनकी आलोचना में साहित्यिक सौन्दर्य, कवि का जीवन-दर्शन आदि गम्भीर वस्तुओं का बहुत-कुछ प्रौढ़ विवेचन है। दोषों की अपेक्षा कवि के गुणों को देखने की प्रवृत्ति अधिक है। इस प्रकार इनका प्रयास स्पष्टतः ही द्विवेदीजी की अपेक्षा प्रौढ़तर है।

हिन्दी-साहित्य में मिश्रबन्धुओं के नाम से रचना करने वाले व्यक्ति एक नहीं हैं, यह तो इस नाम से ही स्पष्ट है। पहले ये तीनों भाई पं० गणेश-बिहारी, रायबहादुर पं० श्यामबिहारी और रायबहादुर पं० शुकदेवबिहारी मिश्रबन्धुओं के नाम से साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए थे। इन तीनों द्वारा हिन्दी-साहित्य को 'हिन्दी-नवरत्न' और 'मिश्रबन्धु-विनोद' नामक दो आलोचना-ग्रन्थ प्राप्त हुए। अपने काल में ये ग्रन्थ अपने क्षेत्र के अद्वितीय थे। आज भी उस दृष्टि से इनका महत्त्व कम नहीं है। इन मिश्रबन्धुओं में से ज्येष्ठ भ्राता के निधन के उपरान्त भी ये हिन्दी-क्षेत्र में कार्य करते रहे। 'साहित्य-पारिजात' के लेखकद्वय में से तो केवल एक ही भाई रह गया था। पर 'मिश्रबन्धु' का नाम इन प्रथम दो रचनाओं से इतना विख्यात हो गया था कि वे प्रायः अपनी सभी रचनाओं में इसी नाम से हिन्दी-संसार में प्रसिद्ध हो गए हैं। कुछ निरूपण-शैली में एक विशेषता है, जो इन परिवर्तनों के उपरान्त भी अपने पिछले स्वरूप को बनाये हुए है। यद्यपि इनके विवेचन में विकास हुआ है पर फिर भी यह मानने का पर्याप्त कारण है कि 'हिन्दी-नवरत्न' और 'मिश्रबन्धु-विनोद' इनके आलोचनात्मक दृष्टिकोण और पद्धति दोनों का प्रतिनिधित्व करते हैं। मिश्रबन्धु द्विवेदीजी के समसामायिक हैं। द्विवेदीजी ने जिस परिचयात्मक और निर्णया-त्मक आलोचना-शैली को जन्म दिया था, उसीका अनुसरण करके मिश्रबन्धुओं ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थों का निर्माण किया है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की पत्रिका अपने गवेषणात्मक लेखों द्वारा कवियों के जीवन का प्रामाणिक और ऐतिहासिक विवरण उपस्थित कर रही थी। यह निरूपण-शैली की दृष्टि से अत्यन्त प्रौढ़ और बाह्य तथा अन्तः दोनों साक्ष्यों पर अधिष्ठित थी। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' ने कतिपय लेखों द्वारा कवि के जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण, दार्शनिकता, कला और भावगत सौन्दर्य आदि का निरूपण करने वाली प्रौढ़ शैली का भी सूत्रपात कर दिया था। इस प्रकार जब मिश्रबन्धुओं

ने अपनी आलोचना प्रारम्भ की थी, उस समय दो स्पष्ट शैलियां प्रचलित थीं। एक द्विवेदीजी की प्रमुखतः दोषान्वेषिणी परिचयात्मक तथा दूसरी नागरी प्रचारिणी की ऐतिहासिक और साधारण विश्लेषणात्मक। मिश्रबन्धुओं में इन दोनों परम्पराओं का स्पष्ट सम्मिश्रण मिलता है। प्रौढ़ और गम्भीर विश्लेषणात्मक शैली के विकास के उपयुक्त अवसर में ऐतिहासिक दृष्टि से कतिपय वर्षों की देर थी। पर द्विवेदीजी की दोषान्वेषिणी प्रवृत्ति से भी हिन्दी के पाठक, कवि और आलोचक तीनों ही ऊब-से गए थे। इस शैली के विकास में हिन्दी-आलोचना का स्वर्णिम भविष्य अन्धकारमय हो जाने की पूरी संभावना थी। 'समालोचक' के लेखों से यह स्पष्ट हो गया है। मिश्रबन्धुओं ने द्विवेदी जी की आलोचना से तुलना, सुरुचि आदि की प्रवृत्ति तो ग्रहण कर ली थी, पर दोष-दर्शन को तो उन्होंने प्रायः समालोचना-क्षेत्र से मानो खदेड़ ही दिया। उसके स्थान पर उल्टी प्रशंसात्मक प्रणाली अपना ली गई थी। अगर यह दोष-दर्शन की प्रवृत्ति द्विवेदी जी तक ही सीमित न रहती तो हिन्दी-आलोचना के विकास का मार्ग ही अवरुद्ध हो जाता। दूसरे मिश्रबन्धुओं में कवि की कला, भाव, भाषा और विचार-धारा पर कुछ तटस्थ और आलोचनात्मक दृष्टि डालने की प्रवृत्ति के भी दर्शन होने लगे। जिनका द्विवेदीजी की आलोचना में प्रायः अभाव ही था। द्विवेदीजी ने साहित्य-समालोचना के मानदंड का निरूपण करने में स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण के प्राथमिक स्वरूप को अपनाया है, पर वे इनका व्यवहार में निर्वाह में नहीं कर सके। मिश्रबन्धुओं की आलोचना के व्यावहारिक पक्ष में भी कहीं-कहीं इस रूप के अस्पष्ट दर्शन हो जाते हैं, इसका विवेचन यथावसर आगे किया जायगा। हिन्दी-समालोचना क्रमशः प्रौढ़, गम्भीर, विश्लेषणात्मक और स्वच्छन्दतावादी होती गई है और इसमें इनकी आलोचना विकास की दूसरी सीढ़ी मानी जा सकती है।

मिश्रबन्धुओं का दृष्टिकोण भी प्रायः गुण-दोष-निरूपण का ही रहा। उन्होंने इसको आलोचना का विशेष गुण माना है। "फिर भी कवियों की योग्यतानुसार लेखों में उनके गुण-दोष दिखलाने का यथासाध्य प्रयत्न किया गया है। वर्तमान समय के लेखकों की रचनाओं पर समालोचना लिखने का कुछ भी प्रयत्न नहीं किया गया। उनके ग्रंथों के नाम और मोटी रीति से दो-एक अति प्रकट गुण-दोष लिखने पर ही हमने सन्तोष किया है।" इन शब्दों से उनका दृष्टिकोण स्पष्ट है। फिर भी उन्होंने इस विवेचन का आधार केवल शास्त्रीय ही नहीं माना। काव्य की विशेषताओं का निरूपण प्रधानतः रस, अलंकार, गुण, छन्द आदि परम्परागत शास्त्रीय मानदंडों के आधार पर

ही किया गया है। देव तथा अन्य बहुत-से कवियों के छन्दों की विस्तृत आलोचना इसी आधार पर हुई है। पर इन्होंने अपनी आलोचना के मानों का विवेचन करते हुए यह भी कह दिया है कि समालोचक को रस, ध्वनि, गुण, अलंकार आदि के अतिरिक्त अन्य बहुत-सी बातों का भी विचार करना पड़ता है। आलोचक शील एवं 'भारी' वर्णनों के सम्मिलित प्रभाव की दृष्टि से भी आलोच्य वस्तु को देखता है।[1] 'हिन्दी-नवरत्न' के कवियों की आलोचना में उन्होंने इसी दृष्टिकोण से विचार किया है। उन्होंने कवि के संदेश और उनकी अभिव्यक्ति के सौष्ठव को भी आलोचना का आधार माना है। इस साहित्य-समीक्षा के आधार काफी व्यापक हैं। मिश्रबन्धुओं के पूर्व हिन्दी में इतनी व्यापक दृष्टि से कवियों पर किसी ने विचार नहीं किया था।

इनकी आलोचना की सबसे बड़ी विशेषता है श्रेणी-विभाजन। " 'हिन्दी-नवरत्न' का मूल आधार यही है। इस ग्रन्थ में हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवियों पर इसी दृष्टि की आलोचना हुई है। इन कवियों को इस ग्रन्थ में काल-क्रम से स्थान नहीं मिला है, पर काव्योत्कर्ष के आधार पर इन कवियों में ऊँच-नीच का भेद कर लिया गया है।"[2] लेखकों में वृहत्त्रयी, मध्यत्रयी और लघुत्रयी की कल्पना की है और प्रत्येक श्रेणी में तीन-तीन कवियों को स्थान दिया गया है जैसा कि इस नामों से ही स्पष्ट है। प्रथम में सूर, तुलसी और देव, दूसरी में विहारी, भूषण और केशव तथा तीसरी में मतिराम और हरिश्चन्द्र हैं। लेखकों की दृष्टि से मध्यत्रयी और लघुत्रयी में जिस क्रम से कवियों के नाम दिये हैं, उसी क्रम से उनमें काव्योत्कर्ष और श्रेष्ठता भी है। पर वृहत्त्रयी के तीनों कवि समान ही हैं। ये तीनों काव्य के विभिन्न गुणों में एक दूसरे से बढ़कर हैं, पर कुल मिलाकर इन तीनों में कोई छोटा-बड़ा नहीं है, सब बराबर हैं। वृहत्त्रयी के कवियों में भी श्रेणी और उत्कर्षापकर्ष निश्चित करने का प्रयत्न लेखकों ने कई बार किया है, इसमें उनका मत बराबर बदलता गया। पहले ये लोग देव को ही काव्य-गुणों की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट मानते रहे, पर बाद में उन्होंने यह विचार छोड़ दिया। अन्त में उनका विश्वास तुलसी, सूर और देव को इसी क्रम से श्रेष्ठ मानने में जागा।[3] इन्हें देव को तुलसी और सूर से उत्कृष्ट कवि मानने में हिचकिचाहट का अनुभव होने लगा।[4]

१. 'मिश्रबन्धु विनोद,' भूमिका पृष्ठ १३।
२. 'हिन्दी नवरत्न', भूमिका पृष्ठ ३४।
३. वही, भूमिका पृष्ठ ३४।
४. वही, पृष्ठ ३०५।

बाद में उन्होंने स्पष्टतः तुलसी को हिन्दी-साहित्य का सर्वोत्कृष्ट कवि घोषित किया।[1]

कवियों के श्रेणी-विभाजन के कारणों का निर्देश हुआ है। मिश्रबंधु स्वयं इस बात को स्वीकार करते हैं कि उनके पूर्ववर्ती 'शिवसिंह सरोज' आदि इतिहासकारों ने बिना किसी प्रकार के श्रेणी-विभाजन के ही कवियों की प्रशंसा की है। इस प्रकार श्रेणी-सम्बन्धी यह प्रयास उनका अपना मौलिक है। कवि के गुण-दोषों के विशद विवेचन से बचने के लिए उन्होंने ऐसा किया है। प्रत्येक श्रेणी के प्रतिनिधि काव्य-गुणों का निर्देश कर देने के उपरान्त उन्होंने उस श्रेणी के शेष कवियों के सम्बन्ध में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं समझी है। विशेष श्रेणी में होने के कारण उन सब बातों का ग्रहण श्रेणी के प्रत्येक कवि के लिए हो जाता है। 'हिन्दी नवरत्न' के त्रयी निर्माण और उसमें कवियों को स्थान देने में लेखकों को बहुत ऊहापोह करनी पड़ी है। उन्हें समय-समय पर कई कवियों में काव्योत्कर्ष प्रतीत होता जा रहा है। लेखकों ने अपनी मानसिक ऊहापोह का निर्देश 'हिन्दी नवरत्न' की भूमिका में स्वयं कर दिया है। पहले वे मतिराम को भूषण से अच्छा समझते रहे। बाद में उनके इस मत में परिवर्तन हो गया। भूषण और बिहारी की तुलना करने पर उन्हें भूषण की बिहारी की अपेक्षा प्रौढ़ता में सन्देह होने लगा। फिर से तो उनको बिहारी की श्रेष्ठता में पूरा विश्वास हो गया। कुछ दिनों तक जायसी की कविता में उन्हें सौन्दर्य प्रतीत होता रहा, पर बाद में बहुत अधिक अनुशीलन करने के बाद उन्हें जायसी का कवित्व फीका प्रतीत होने लगा। उन्हें जायसी 'तोष' की श्रेणी के उपयुक्त प्रतीत हुए। इसके बाद तो कवियों की अन्तिम श्रेणी 'हीन' ही आती है। सेनापति का काव्य-सौन्दर्य भी मतिराम की अपेक्षा हल्का प्रतीत हुआ। इसलिए उन्हें नवरत्नों में स्थान नहीं दिया जा सका।[2] 'हिन्दी नवरत्न' में जिन कवियों को स्थान नहीं दिया जा सका उन कवियों को 'मिश्रबन्धु-विनोद' में कुछ श्रेणियों में बाँट दिया गया है। इनमें पहले दो मुख्य श्रेणी मान ली गईं और फिर उनके अवान्तर भेदों का उल्लेख किया गया। कथा-प्रसंग वाले कवियों को उन्होंने लाल, छत्र और मधुसूदन नामक तीन श्रेणियों में बाँट दिया और कथा-प्रसंग से सम्बन्ध न रखने वालों को १. सेनापति २. दास ३. पद्माकर ४. तोष ५. साधारण और ६ इस प्रकार मिश्रबन्धुओं ने

१. 'हिन्दी नवरत्न', पृष्ठ २४६।

२. वही, पृष्ठ २३।

ही किया गया है। देव तथा अन्य बहुत-से कवियों के छन्दों की विस्तृत आलोचना इसी आधार पर हुई है। पर इन्होंने अपनी आलोचना के मानों का विवेचन करते हुए यह भी कह दिया है कि समालोचक को रस, ध्वनि, गुण, अलंकार आदि के अतिरिक्त अन्य बहुत-सी बातों का भी विचार करना पड़ता है। आलोचक शील एवं 'भारी' वर्णनों के सम्मिलित प्रभाव की दृष्टि से भी आलोच्य वस्तु को देखता है।[1] 'हिन्दी-नवरत्न' के कवियों की आलोचना में उन्होंने इसी दृष्टिकोण से विचार किया है। उन्होंने कवि के संदेश और उनकी अभिव्यक्ति के सौष्ठव को भी आलोचना का आधार माना है। इस साहित्य-समीक्षा के आधार काफी व्यापक हैं। मिश्रबन्धुओं के पूर्व हिन्दी में इतनी व्यापक दृष्टि से कवियों पर किसी ने विचार नहीं किया था।

इनकी अलोचना की सबसे बड़ी विशेषता है श्रेणी-विभाजन। "'हिन्दी-नवरत्न' का मूल आधार यही है। इस ग्रन्थ में हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवियों पर इसी दृष्टि की आलोचना हुई है। इन कवियों को इस ग्रन्थ में काल-क्रम से स्थान नहीं मिला है, पर काव्योत्कर्ष के आधार पर इन कवियों में ऊँच-नीच का भेद कर लिया गया है।"[2] लेखकों में वृहत्त्रयी, मध्यत्रयी और लघुत्रयी की कल्पना की है और प्रत्येक श्रेणी में तीन-तीन कवियों को स्थान दिया गया है जैसा कि इस नामों से ही स्पष्ट है। प्रथम में सूर, तुलसी और देव, दूसरी में बिहारी, भूषण और केशव तथा तीसरी में मतिराम और हरिश्चन्द्र हैं। लेखकों की दृष्टि से मध्यत्रयी और लघुत्रयी में जिस क्रम से कवियों के नाम दिये हैं, उसी क्रम से उनमें काव्योत्कर्ष और श्रेष्ठता भी है। पर वृहत्त्रयी के तीनों कवि समान ही हैं। ये तीनों काव्य के विभिन्न गुणों में एक दूसरे से बढ़कर हैं, पर कुल मिलाकर इन तीनों में कोई छोटा-बड़ा नहीं है, सब बराबर हैं। वृहत्त्रयी के कवियों में भी श्रेणी और उत्कर्षापकर्ष निश्चित करने का प्रयत्न लेखकों ने कई बार किया है, इसमें उनका मत बराबर बदलता गया। पहले ये लोग देव को ही काव्य-गुणों की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट मानते रहे, पर बाद में उन्होंने यह विचार छोड़ दिया। अन्त में उनका विश्वास तुलसी, सूर और देव को इसी क्रम से श्रेष्ठ मानने में जागा।[3] इन्हें देव को तुलसी और सूर से उत्कृष्ट कवि मानने में हिचकिचाहट का अनुभव होने लगा।[4]

---

१. 'मिश्रबन्धु विनोद,' भूमिका पृष्ठ १३।

२. 'हिन्दी नवरत्न', भूमिका पृष्ठ ३४।

३. वही, भूमिका पृष्ठ ३४।

४. वही, पृष्ठ ३०५।

कहा है। चन्द और चासर की एवं शेक्सपीयर और तुलसी की तुलना हुई है। तुलसी और शेक्सपीयर की तुलना में इन दोनों कवियों पर कई दृष्टियों से विचार हुआ है। यहाँ पर भी लेखक तुलसी को शेक्सपीयर से ऊँचा कहकर श्रेणी-विभाग के लोभ का संवरण नहीं कर सके हैं। "विंटर्सटेल" के प्रेम की, सीता के प्रेम-वर्णन से, आमगी की धूर्त्तता की भानुप्रताप कथान्तर्गत कपटी मुनि से कार्नोलिया के पितृ-प्रेम एवं गानरिल और रोगन की चालाकी की कैकेयी की कुटिलता और श्रीराम पितृ-प्रेम से तुलना हुई है। इस प्रकार के अनेक कई समानान्तर प्रसंगों का उल्लेख दोनों कवियों की कृतियों से कर दिया गया है।[1] तुलसी द्वारा वर्णित प्रसंगों को अधिक सुन्दर कह दिया गया है, पर कारणों का निर्देश नहीं है।

निसर्ग, मानवीय प्रकृति भाव, रस आदि की दृष्टि से तुलसी और शेक्सपीयर की जो तुलनात्मक आलोचना कुछ पंक्तियों में हुई है, वह पर्याप्त गम्भीर है। इस प्रसंग में तुलनात्मक आलोचना के समीचीन स्वरूप के कुछ दर्शन होते हैं।[2] इन पंक्तियों में भी इन दोनों कवियों में से एक को ऊँचा और दूसरे को हीन बताने की प्रवृत्ति है। अलग-अलग दृष्टि से दोनों को ऊँचा कहा गया है। अगर उसका अभाव होता तो ये पंक्तियाँ तुलनात्मक आलोचना के अच्छे और सुन्दर उदाहरणों में गिनी जा सकती थीं। इनमें दोनों कवियों की मौलिक विशेषताओं का अच्छा निरूपण हुआ है। इन पंक्तियों में आलोचक की गम्भीरता और सूक्ष्म दृष्टि के स्पष्ट दर्शन होते हैं। शेक्सपियर पर भी रसादि की दृष्टि से विचार हुआ है। आलोचक यह अवश्य भूल जाते हैं कि ये दोनों कलाकार दो भिन्न संस्कृतियों की देन हैं, इसलिए इनमें ऊँचे-नीचे का निरूपण करना अनधिकार और अनुपयुक्त चेष्टा-मात्र है। ऐसे कवियों की तुलना तो उनकी विशेषताओं का निर्देश करके उनके अन्तर को स्पष्ट कर देने-भर में है। मिश्रबंधुओं द्वारा दी गई अन्य बहुत-सी तुलनाओं से यह अधिक गम्भीर, प्रौढ़ और तर्क-सम्मत कही जा सकती है। इनके आलोचनात्मक महत्व को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता है। केशव और मिल्टन की तथा पद्माकर और स्काट की पारस्परिक तुलना का कोई पुष्ट आधार ही नहीं है। मिल्टन को लैटिन अधिक प्रिय थी और केशव को संस्कृत, केवल इतनी-सी बात को तुलना

---

१. 'मिश्रबन्धु विनोद', पृष्ठ ११४।

२. 'मिश्रबन्धु विनोद', पृष्ठ ११७।

अपने दोनों ग्रन्थों में श्रेणी-विभाजन को ही आलोचना का मूल उद्देश्य समझा है। कवियों की सारी विशेषताओं का अनुशीलन कर लेने के बाद उस कवि को किसी श्रेणी में रख देने में ही इनको आलोचना की पूर्णता प्रतीत होती है। जैसा कि कई स्थानों पर मिश्रबन्धुओं ने निर्देश किया है कि यह श्रेणी-विभाजन एक प्रकार का निर्वाचन अथवा परीक्षण-प्रणाली-सी है। दो कवियों के एक-एक छन्द की उत्कृष्टता और हीनता पर लेखकों ने विचार किया है और जिसके अधिक उत्कृष्ट छन्द हुए उसको ऊँची श्रेणी में स्थान मिल गया। उन्होंने यह निर्देश किया है कि किस प्रकार छन्दों की तुलना और श्रेष्ठ छन्दों की गणना से उन्होंने भूषण, को मतिराम और केशव की अपेक्षा श्रेष्ठ माना है।[1]

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो गया है कि श्रेणी-विभाजन का मूल तुलना ही है। इस प्रकार कवियों को विभिन्न श्रेणियों में रखकर तुलनात्मक प्रणाली से उनका पारस्परिक अन्तर और श्रेष्ठता समझने में ही इन आलोचकों का तात्पर्य है। तुलना भी इनकी आलोचन-पद्धति की प्रधान विशेषताओं में से एक है। इन्होंने श्रेणी-विभाजन के लिए जो तुलना की है और उसके आधार पर जिस निर्णय पर पहुँचे हैं, वह तो उनके मन तक ही सीमित है। उस सारी प्रक्रिया का नहीं अपितु परिणाम का ही उल्लेख लेखकों ने किया है। 'मिश्रबन्धु विनोद' की भूमिका में देव, बिहारी, तुलसी के कतिपय छन्दों की विस्तृत आलोचना है। शास्त्रीय ढंग की यह बहुत ही प्रौढ़ विशद विद्वत्तापूर्ण आलोचना है। पर तीनों कवियों की श्रेष्ठता और श्रेणी-विभाजन में उन गुणों का उल्लेख नहीं हुआ है जिनके कारण देव अथवा तुलसी को बिहारी और और अन्य कवियों से ऊँचा स्थान मिला हो। उन्होंने केवल इतना ही निर्देश किया है कि हमने यह प्रणाली अपनाई है, पर इस प्रणाली के आधार पर यह निष्कर्ष कैसे निकल आया जिस पर मिश्रबन्धु पहुँचे हैं इन सब बातों में मिश्रबन्धु मौन हैं।[2] इसके अतिरिक्त भी इनकी आलोचना में तुलना की प्रवृत्ति कई स्थानों पर स्पष्ट है। उन्होंने हिन्दी के कवियों की अंग्रेजी कवियों से तथा हिन्दी-साहित्य के विशेष काल की अंग्रेजी के विशेष काल से तुलना की है। हिन्दी-कविता के भक्ति-काल के लेखकों ने अंग्रेजी के रिनाँसा और रिफार्मेसन काल के कवियों से तुलना की है। रीति-काल को 'आगस्टन एज'

---

१. 'हिन्दी नवरत्न', पृष्ठ ३२।

२. 'मिश्रबन्धु-विनोद', भूमिका पृष्ठ ३८-५५।

द्वारा मान्य श्रेष्ठ काव्य के उदाहरण हैं। इन आलोचकों ने इन छन्दों के उत्तम काव्यत्व के कारणों पर प्रकाश डाला है। ये छन्द समान नहीं अपितु भिन्न कारणों से उत्तम कहे गए हैं। इस प्रकार की सर्वाङ्गीण आलोचना-पद्धति का अनुसरण इन आलोचकों ने अपने दोनों आलोच्य ग्रन्थों में सर्वत्र नहीं किया है। केवल बिहारी, देव और तुलसी के कतिपय छन्दों की आलोचना इस पद्धति पर हुई है। सर्वत्र इसका अनुसरण संभव भी नहीं था। काव्यांग-निरूपण की यह पद्धति फुटकर छन्दों की समीक्षा के ही अधिक उपयुक्त है। इन्हीं तत्त्वों के आधार पर कवियों के समष्टिगत काव्य-सौष्ठव का निर्देश भी होता है। शुक्ल जी तथा अन्य परवर्ती आलोचकों ने अलंकारादि के सम्बन्ध में कवियों की सामान्य प्रवृत्तियों का विवेचन किया है। मिश्रबन्धुओं ने भी अपने 'हिन्दी नवरत्न' के कवियों के काव्य-सौष्ठव का विवेचन फुटकर छन्दों में ही काव्यांग-निर्देश करके नहीं किया है अपितु इस सम्बन्ध में उनकी सामान्य प्रवृत्ति की ओर भी इनका ध्यान गया है। संयोग शृंगार में रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के तथा वियोग में समासोक्ति के प्रयोग की अतिशयता पर इनका ध्यान गया है। पर कवियों के काव्य-सौष्ठव का गम्भीर, प्रौढ़ और तर्कपूर्ण विवेचन नहीं है। केवल साधारण निर्देश-मात्र है, जिसमें शास्त्रीय प्रामाणिकता की अपेक्षा वैयक्तिक रुचि का प्राधान्य है। अगर उन फुटकर छन्दों की आलोचना के समान गम्भीर, और सूक्ष्म विवेचन का निर्वाह सर्वत्र हो सकता तो मिश्रबन्धुओं की रचनाएँ शास्त्रीय पद्धति की प्रौढ़ आलोचना का उत्कृष्ट उदाहरण हो जातीं। पर ऐसा हुआ नहीं। काव्यांगों की दृष्टि से बिहारी, देव, मतिराम आदि रीतिकालीन कवियों की बहुत ही सुन्दर आलोचना हो सकती थी। रीतिकालीन कवियों के लिए यह शास्त्रीय मानदंड ही सबसे उपयुक्त है। मिश्रबन्धुओं ने प्रबन्ध शैली के संस्कृत

सकतीं।...थोड़ा ही-सा गात छूने से क्रोध करने का भाव नायिका का मुग्धात्व प्रकट करता है।...यहाँ 'सुभाय' एवं 'मुसकाय' शब्द जुगुप्सा को बचाते हैं, क्योंकि यदि नायक अप्रसन्न होकर उठता तो वीभत्स रस का संचार हो जाता, जो शृङ्गार-विरोधी है। . निशि खोने एवं प्रात पाने में रूढ़ि लक्षणा है। 'गोरी गोरी मुख आज ओरों सो बिलानो जात' गौणी सारोपा प्रयोजनवती लक्षणा एवं पूर्णोपमालंकार है। 'भरि भरि गोरो गोरो...' वीप्सित पद है। वीप्सा का अच्छा चमत्कार है। इस छन्द में पूर्ण शृङ्गार रस है। 'नेकु छुयो जात' में रति स्थायी भाव है।

का आधार मानना ठीक नहीं।[1] रुकाट और पद्माकर एक ही समय में मरे थे, दोनों की भाषा उड़ती हुई है, इसलिए इनकी परस्पर तुलना हुई है।

मिश्रबन्धुओं ने श्रेणी-विभाजन का आधार काव्योत्कर्ष माना है। इसमें लेखक ने काव्यांगों की दृष्टि से विभिन्न कवियों के कतिपय छन्दों की तात्विक समीक्षा की है। रस-अलंकार आदि के निर्देश की परम्परा इस देश में अत्यन्त प्राचीन है। आज भी टीकाओं और आलोचनाओं में इस पद्धति का थोड़ा-बहुत अनुसरण होता ही है। इन लेखकों ने इस पद्धति पर कतिपय छन्दों की बहुत विशद व्याख्या की है। यह व्याख्या टीकाओं की श्रेणी में तो नहीं रखी जा सकती, क्योंकि लेखक का अभिप्राय छन्द के अर्थ-स्पष्टीकरण में नहीं अपितु काव्य-सौष्ठव के निर्देश में है। यह शास्त्रीय आलोचना का बहुत अच्छा उदाहरण है। द्विवेदी जी ने भी "मदेक पुत्रा जननी जरातुरा" आदि कतिपय छन्दों में काव्यांगों के निर्देश द्वारा उन छन्दों के काव्य-सौष्ठव का प्रतिपादन किया है। पर वहां पर इन काव्यांगों का निरूपण तर्क और विवेचन-प्रधान नहीं हुआ है। द्विवेदी जी ने छन्दों के अर्थ तथा प्रभाववादी आलोचना के द्वारा उनके सौन्दर्य की अनुभूति पाठक में जाग्रत की है। इसलिए वह विवेचन पूर्णतः शास्त्रीय नहीं है। पर मिश्रबन्धुओं की यह आलोचना विशुद्ध शास्त्रीय समीक्षा का प्रौढ़तर उदाहरण मानी जा सकती है। इसमें छन्द, रस, अलंकार, नायक-नायिका, संचारी, हाव, भाव, अनुभाव, दोष आदि सभी दृष्टियों से समीक्षा हुई है। यह इस पद्धति की सर्वाङ्गीण आलोचना है। छन्द, भाव, अलंकार-सम्बन्धी अत्यन्त सूक्ष्म गुण-दोषों और विशेषताओं पर लेखक का ध्यान गया है। इनका निरूपण भी अत्यन्त तर्क-सम्मत है।[2] ये मिश्रबन्धुओं

---

१. 'मिश्रबन्धु विनोद' पृष्ठ १४०।

२. यह रूप घनाक्षरी छन्द है, जिसमें ३२ वर्ण होते हैं और प्रथम यति सोलहवें वर्ण पर रहती है। 'एक चरन को बरन जहँ दुतिय चरन में लीन। सो यति भंग कवित्त है, करै न सुकवि प्रवीन' यहाँ 'रिसानी' शब्द का 'रि' अक्षर प्रथम चरण में है और 'सानी' दूसरे में। इस हेतु छन्द में यतिभंग दूषण है। '...को जाने री बीर' में कई गुरु वर्ण साथ-साथ एक स्थान पर आ गए हैं जिनसे जिह्वा को क्लेश होने से प्रबन्ध-योजना अच्छी नहीं है। यहाँ 'गुरु सोच' से गुरुजनों से सम्बन्ध रखने वाला शोक नहीं माना जा सकता, क्योंकि एक तो शब्द गुरुजनों को प्रकट नहीं करते और दूसरे उनके सम्मुख गात्र-स्पर्श आदि बाह्य रति-सम्बन्धिनी भी कोई क्रियाएँ नहीं हो

का आधार मानना ठीक नहीं।[1] स्काट और पद्माकर एक ही समय में मरे थे, दोनों की भाषा उड़ती हुई है, इसलिए इनकी परस्पर तुलना हुई है।

मिश्रबन्धुओं ने श्रेणी-विभाजन का आधार काव्योत्कर्ष माना है। इसमें लेखक ने काव्यांगों की दृष्टि से विभिन्न कवियों के कतिपय छन्दों की तात्विक समीक्षा की है। रस-अलंकार आदि के निर्देश की परम्परा इस देश में अत्यन्त प्राचीन है। आज भी टीकाओं और आलोचनाओं में इस पद्धति का थोड़ा-बहुत अनुसरण होता ही है। इन लेखकों ने इस पद्धति पर कतिपय छन्दों की बहुत विशद व्याख्या की है। यह व्याख्या टीकाओं की श्रेणी में तो नहीं रखी जा सकती, क्योंकि लेखक का अभिप्राय छन्द के अर्थ-स्पष्टीकरण में नहीं अपितु काव्य-सौष्ठव के निर्देश में है। यह शास्त्रीय आलोचना का बहुत अच्छा उदाहरण है। द्विवेदी जी ने भी "मदेक पुत्रा जननी जरातुरा" आदि कतिपय छन्दों में काव्यांगों के निर्देश द्वारा उन छन्दों के काव्य-सौष्ठव का प्रतिपादन किया है। पर वहां पर इन काव्यांगों का निरूपण तर्क और विवेचन-प्रधान नहीं हुआ है। द्विवेदी जी ने छन्दों के अर्थ तथा प्रभाववादी आलोचना के द्वारा उनके सौन्दर्य की अनुभूति पाठक में जाग्रत की है। इसलिए वह विवेचन पूर्णतः शास्त्रीय नहीं है। पर मिश्रबन्धुओं की यह आलोचना विशुद्ध शास्त्रीय समीक्षा का प्रौढ़तर उदाहरण मानी जा सकती है। इसमें छन्द, रस, अलंकार नायक-नायिका, संचारी, हाव, भाव, अनुभाव, दोष आदि सभी [illegible] समीक्षा हुई है। यह इस पद्धति की सर्वाङ्गीण आलोचना [illegible] अलंकार-सम्बन्धी अत्यन्त सूक्ष्म गुण-दोषों और विशेषताओं [illegible] ध्यान गया है। इनका निरूपण भी अत्यन्त तर्क-सम्मत है।[2] ये

---

१. 'मिश्रबन्धु विनोद' पृष्ठ १४० ।

२. यह रूप घनाक्षरी छन्द है, जिसमें ३२ वर्ण होते हैं और प्रथम यति [illegible] वर्ण पर रहती है। 'एक चरन को वरन जहँ दुतिय चरन में लीन। यति भंग कवित्त है, करै न सुकवि प्रवीन' यहाँ 'रिसानी' शब्द का [illegible] अक्षर प्रथम चरण में है और 'सानी' दूसरे में। इस हेतु छन्द में यतिभंग दूषण है। '...को जाने री बीर' में कई गुरु वर्ण साथ-साथ एक स्थान पर आ गए हैं जिनसे जिह्वा को क्लेश होने से प्रबन्ध-योजना अच्छी नहीं है। यहाँ 'गुरु मौन' से गुरुजनों से सम्बन्ध रखने वाला शोक नहीं माना जा सकता, क्योंकि एक तो शब्द गुरुजनों को प्रकट नहीं करते और दूसरे उनके सम्मुख गात्र-स्पर्श आदि बाह्य रति-सम्बन्धिनी भी कोई क्रियाएँ नहीं हो

द्वारा मान्य श्रेष्ठ काव्य के उदाहरण हैं। इन आलोचकों ने इन छन्दों के उत्तम काव्यत्व के कारणों पर प्रकाश डाला है। ये छन्द समान नहीं अपितु भिन्न कारणों से उत्तम कहे गए हैं। इस प्रकार की सर्वाङ्गीण आलोचना-पद्धति का अनुसरण इन आलोचकों ने अपने दोनों आलोच्य ग्रन्थों में सर्वत्र नहीं किया है। केवल बिहारी, देव और तुलसी के कतिपय छन्दों की आलोचना इस पद्धति पर हुई है। सर्वत्र इसका अनुसरण संभव भी नहीं था। काव्यांग-निरूपण की यह पद्धति फुटकर छन्दों की समीक्षा में ही अधिक उपयुक्त है। इन्हीं तत्त्वों के आधार पर कवियों के समष्टिगत काव्य-सौष्ठव का निर्देश भी होता है। शुक्ल जी तथा अन्य परवर्ती आलोचकों ने अलंकारादि के सम्बन्ध में कवियों की सामान्य प्रवृत्तियों का विवेचन किया है। मिश्रबन्धुओं ने भी अपने 'हिन्दी नवरत्न' के कवियों के काव्य-सौष्ठव का विवेचन फुटकर छन्दों में ही काव्यांग-निर्देश करके नहीं किया है अपितु इस सम्बन्ध में उनकी सामान्य प्रवृत्ति की ओर भी इनका ध्यान गया है। संयोग शृंगार में रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के तथा वियोग में समासोक्ति के प्रयोग की अधिकता पर इनका ध्यान गया है। पर कवियों के काव्य-सौष्ठव का गम्भीर, प्रौढ़ और तर्कपूर्ण विवेचन नहीं है। केवल साधारण निर्देश-मात्र है, जिसमें शास्त्रीय प्रामाणिकता की अपेक्षा वैयक्तिक रुचि का प्राधान्य है। अगर उन फुटकर छन्दों की आलोचना के समान गम्भीर, और सूक्ष्म विवेचन का निर्वाह सर्वत्र हो सकता तो मिश्रबन्धुओं की रचनाएँ शास्त्रीय पद्धति की प्रौढ़ आलोचना का उत्कृष्ट उदाहरण हो जातीं। पर ऐसा हुआ नहीं। काव्यांगों की दृष्टि से बिहारी, देव, मतिराम आदि रीतिकालीन कवियों की बहुत ही सुन्दर आलोचना हो सकती थी। रीतिकालीन कवियों के लिए यह शास्त्रीय मानदंड ही सबसे उपयुक्त है। मिश्रबन्धुओं ने अपनी शैली के संस्कृत

सकतीं।...थोड़ा टीका भाल हूने ने बीच पड़ने का भाव नायिका का मुस्कान प्रकट करता है।...यहाँ 'मुसान' एवं 'मुसकान' शब्द माधुर्य को बनाते हैं, क्योंकि यदि नायक अप्रसन्न होकर उठता तो बीभत्स रस का संचार हो जाता, जो शृङ्गार-विरोधी है। . लिखि सोने पर स्याम पाने में रूढ़ि लक्षणा है। 'गोरी गोरी मुख आज ओरी सो बिलानो जात' गौणी सारोपा प्रयोजनवती लक्षणा एवं पूर्णोपमालंकार है। 'अति भति गोरे गोरे...' वीप्सित पद है। वीप्सा का अच्छा चमत्कार है। इस छन्द में पूर्ण शृङ्गार रस है। 'नेक हँसो न्यारे' में रति स्थायी भाव है।

का आधार मानना ठीक नहीं।[1] स्काट और पद्माकर एक ही समय में मरे थे, दोनों की भाषा उड़ती हुई है, इसलिए इनकी परस्पर तुलना हुई है।

मिश्रबन्धुओं ने श्रेणी-विभाजन का आधार काव्योत्कर्ष माना है। इसमें लेखक ने काव्यांगों की दृष्टि से विभिन्न कवियों के कतिपय छन्दों की तात्विक समीक्षा की है। रस-अलंकार आदि के निर्देश की परम्परा इस देश में अत्यन्त प्राचीन है। आज भी टीकाओं और आलोचनाओं में इस पद्धति का थोड़ा-बहुत अनुसरण होता ही है। इन लेखकों ने इस पद्धति पर कतिपय छन्दों की बहुत विशद व्याख्या की है। यह व्याख्या टीकाओं की श्रेणी में तो नहीं रखी जा सकती, क्योंकि लेखक का अभिप्राय छन्द के अर्थ-स्पष्टीकरण में नहीं अपितु काव्य-सौष्ठव के निर्देश में है। यह शास्त्रीय आलोचना का बहुत अच्छा उदाहरण है। द्विवेदी जी ने भी "मदेक पुत्रा जननी जरातुरा" आदि कतिपय छन्दों में काव्यांगों के निर्देश द्वारा उन छन्दों के काव्य-सौष्ठव का प्रतिपादन किया है। पर वहां पर इन काव्यांगों का निरूपण तर्क और विवेचन-प्रधान नहीं हुआ है। द्विवेदी जी ने छन्दों के अर्थ तथा प्रभाववादी आलोचना के द्वारा उनके सौन्दर्य की अनुभूति पाठक में जाग्रत की है। इसलिए वह विवेचन पूर्णतः शास्त्रीय नहीं है। पर मिश्रबन्धुओं की यह आलोचना विशुद्ध शास्त्रीय समीक्षा का प्रौढ़तर उदाहरण मानी-जा सकती है। इसमें छन्द, रस, अलंकार, नायक-नायिका, संचारी, हाव, भाव, अनुभाव, दोष आदि सभी दृष्टियों से समीक्षा हुई है। यह इस पद्धति की सर्वाङ्गीण आलोचना है। छन्द, भाव, अलंकार-सम्बन्धी अत्यन्त सूक्ष्म गुण-दोषों और विशेषताओं पर लेखक का ध्यान गया है। इनका निरूपण भी अत्यन्त तर्क-सम्मत है।[2] ये मिश्रबन्धुओं

---

१. 'मिश्रबन्धु विनोद' पृष्ठ १४०।

२. यह रूप घनाक्षरी छन्द है, जिसमें ३२ वर्ण होते हैं और प्रथम यति सोलहवें वर्ण पर रहती है। 'एक चरन को वरन जहँ दुतिय चरन में लीन। सो यति भंग कवित्त है, करै न सुकवि प्रवीन' यहाँ 'रिसानी' शब्द का 'रि' अक्षर प्रथम चरण में है और 'सानी' दूसरे में। इस हेतु छन्द में यतिभंग दूषण है। '...को जाने री बीर' में कई गुरु वर्ण साथ-साथ एक स्थान पर आ गए हैं जिनसे जिह्वा को क्लेश होने से प्रबन्ध-योजना अच्छी नहीं है। यहाँ 'गुरु सोच' से गुरुजनों से सम्बन्ध रखने वाला शोक नहीं माना जा सकता, क्योंकि एक तो शब्द गुरुजनों को प्रकट नहीं करते और दूसरे उनके सन्मुख गात्र-स्पर्श आदि बाह्य रति-सम्बन्धिनी भी कोई क्रियाएँ नहीं हो

कवियों की अलंकारिक शैली और तुलसीदास जी की मुख्य कथा कहने की सर्वांगीण शैली—ये दो प्रधान भेद माने हैं। इनमें से दूसरी उन्हें अधिक सुन्दर लगती है।[१] तुलसीदास जी ने प्रबन्ध-रचना में विभिन्न छन्दों का प्रयोग नहीं किया है इसलिए उनकी यह शैली अरुचिकर प्रतीत होती है। केशव ने विभिन्न छन्दों के उपयोग से शैली को अधिक हृदयस्पर्शी बना दिया है।[२] इस प्रकार के ये दोनों निर्णय केवल व्यक्तिगत रुचि के ही परिचायक हैं। इसमें काव्य की आत्मा 'रस' की भी स्पष्ट अवहेलना है। छन्दों की विभिन्नता के कारण पाठक का जी ऊबता नहीं, इस स्थूल और जड़ नियम को मानकर यह आलोचना हुई है। पद-पद पर छन्दों के बदलने से भी जी ऊब जाता है। न काव्य में प्रवाह आ पाता है और न पाठक को रस-धारा में अवगाहन करने का ही अवसर मिलता है। एक वस्तु के रसास्वादन के पूर्व ही दूसरी सामने आ जाती है, इस प्रकार एक का भी आनन्द नहीं आता। ऐसे विचारों में तर्क की प्रौढ़ता का अभाव है।

संस्कृत और हिन्दी के रीति-ग्रन्थ हिन्दी जनता से कुछ दूर होते जाते हैं। भानुकवि ने आधुनिक काल में उसका पुनरुद्धार भी किया था, पर मिश्रबन्धुओं ने भी भाव, रस, गुण, दोष, अलंकार, पिंगल, गणागण, शब्द-शक्ति आदि काव्य-तत्वों का बहुत संक्षिप्त-सा परिचय 'मिश्रबन्धु विनोद' की भूमिका में दिया है। यह विवेचन केवल नाम-गणना की कोटि का ही है। स्थानाभाव से वे इसका सूक्ष्म निरूपण नहीं कर सके हैं।[3] उनके विवेचन से स्पष्ट है कि वे रस को ही काव्य की आत्मा मानने के पक्ष में हैं।[४] इस सम्बन्ध में इन लेखकों को अपनी कोई निश्चित धारणा बनाने की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई है। प्राचीन आचार्यों द्वारा व्यंग को जीव माने जाने पर भी उन्हें कोई विशेष विरोध नहीं है। बिहारी के दोहे की आलोचना में उन्होंने 'दोहे' की उत्तमता का आधार 'व्यंग' ही माना है।[५] इसके पहले देव के छन्द की

---

१. 'हिन्दी नवरत्न', ४०२, ४०३।

२. 'हिन्दी नवरत्न', ४०२।

३. देखिये 'मिश्रबन्धु विनोद', पृष्ठ ५८ : ६५।

४. इस मत में व्यंग्य को जीव मानना सर्वसम्मत नहीं है। यदि वाक्य को देह कहकर कवि अर्थ को मस्तिष्क और रस को जीव बतलाता तो उसके कथन में शायद सर्वसम्मति की मात्रा बढ़ जाता।

५. देखिये 'मिश्रबन्धु विनोद', पृष्ठ ८७। और संदर्भ सं० ११ (यही अध्याय)

कवियों की अलंकारिक शैली और तुलसीदास जी की मुख्य कथा कहने की सर्वांगीण शैली—ये दो प्रधान भेद माने हैं। इनमें से दूसरी उन्हें अधिक सुन्दर लगती है।[1] तुलसीदास जी ने प्रबन्ध-रचना में विभिन्न छन्दों का प्रयोग नहीं किया है इसलिए उनकी यह शैली अरुचिकर प्रतीत होती है। केशव ने विभिन्न छन्दों के उपयोग से शैली को अधिक हृदयस्पर्शी बना दिया है।[2] इस प्रकार के ये दोनों निर्णय केवल व्यक्तिगत रुचि के ही परिचायक हैं। इसमें काव्य की आत्मा 'रस' की भी स्पष्ट अवहेलना है। छन्दों की विभिन्नता के कारण पाठक का जी ऊबता नहीं, इस स्थूल और जड़ नियम को मानकर यह आलोचना हुई है। पद-पद पर छन्दों के बदलने से भी जी ऊब जाता है। न काव्य में प्रवाह आ पाता है और न पाठक को रस-धारा में अवगाहन करने का ही अवसर मिलता है। एक वस्तु के रसास्वादन के पूर्व ही दूसरी सामने आ जाती है, इस प्रकार एक का भी आनन्द नहीं आता। ऐसे विचारों में तर्क की प्रौढ़ता का अभाव है।

संस्कृत और हिन्दी के रीति-ग्रन्थ हिन्दी जनता से कुछ दूर होते जाते हैं। भानुकवि ने आधुनिक काल में उसका पुनरुद्धार भी किया था, पर मिश्रबन्धुओं ने भी भाव, रस, गुण, दोष, अलंकार, पिंगल, गणागण, शब्द-शक्ति आदि काव्य-तत्वों का बहुत संक्षिप्त-सा परिचय 'मिश्रबन्धु विनोद' की भूमिका में दिया है। यह विवेचन केवल नाम-गणना की कोटि का ही है। स्थानाभाव से वे इसका सूक्ष्म निरूपण नहीं कर सके हैं।[3] उनके विवेचन से स्पष्ट है कि वे रस को ही काव्य की आत्मा मानने के पक्ष में हैं।[4] इस सम्बन्ध में इन लेखकों को अपनी कोई निश्चित धारणा बनाने की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई है। प्राचीन आचार्यों द्वारा व्यंग को जीव माने जाने पर भी उन्हें कोई विशेष विरोध नहीं है। बिहारी के दोहे की आलोचना में उन्होंने 'दोहे' की उत्तमता का आधार 'व्यंग' ही माना है।[5] इसके पहले देव के छन्द की

---

१. 'हिन्दी नवरत्न', ४०२, ४०३।
२. 'हिन्दी नवरत्न', ४०२।
३. देखिये 'मिश्रबन्धु विनोद', पृष्ठ ५६ : ६५।
४. इस मत में व्यंग्य को जीव मानना सर्वसम्मत नहीं है। यदि वाक्य को देह कहकर कवि अर्थ को मस्तिष्क और रस को जीव बतलाता तो उसके कथन में शायद सर्वसम्मति की मात्रा बढ़ जाता।
५. देखिये 'मिश्रबन्धु विनोद', पृष्ठ ८७। और संदर्भ सं० ११ (यही अध्याय)

केवल आनुषंगिक ही प्रतीत होता है।[1] शैली और काव्य-सौष्ठव-सम्बन्धी आधुनिक गुणों का प्राचीन काव्यांगों से सामंजस्य स्थापित कर देने से आधुनिक हिन्दी-समालोचना-पद्धति को अपेक्षाकृत अधिक निश्चित रूप मिलेगा। कुछ शैली-सम्बन्धी अनिश्चित अर्थ वाली पदावली के प्रयोग से समालोचना में बहुत-कुछ शिथिलता रह जाती है। आलोचना जब तक विचारों की निश्चित सरणी का आश्रय लेकर नहीं बढ़ेगी तब तक उसका विकास-मार्ग बहुत-कुछ अवरुद्ध रहेगा। हिन्दी-आलोचना के भावी विकास के लिए पाश्चात्य और प्राचीन भारतीय शैली के भावी सामंजस्य की नितान्त-आवश्यकता है। पर मिश्रबन्धुओं के समय तक हिन्दी-साहित्य का कलाकार और आलोचक चिन्तन की इस प्रौढ़ता को नहीं प्राप्त कर पाया था कि उसका ध्यान सामंजस्य की ओर जाता। उस समय तो वह प्रायः अन्धकार में ही अपना मार्ग खोज रहा था। अनेक मार्गों को अपनाकर कहीं पहुँच जाने की प्रवृत्ति थी। कहाँ पहुँच जाता है, यह भी वह निश्चय नहीं कर पाया था। यही कारण है कि मिश्रबन्धु इस सामंजस्य का बहुत ही अस्पष्ट निर्देश कर पाए हैं। यह विचार-धारा उनके समय तक शैशव में ही थी।

'मिश्रबन्धु-विनोद' और 'हिन्दी नवरत्न' में आलोचना-पद्धति के आधुनिक स्वरूप के भी स्पष्ट दर्शन होते हैं। संदेश और उसकी सफल अभिव्यक्ति को तो इन लेखकों ने आलोचना का प्रधान आधार ही माना है[2] इसलिए उन्होंने 'हिन्दी नवरत्न' में समाविष्ट प्रायः सभी कवियों के संदेश का निर्देश किया है।[3] सूर, तुलसी, कबीर और भूषण के संदेश का अच्छा निरूपण है। भूषण की कविता में लेखक ने जातीयता और राष्ट्रीयता के दर्शन किये हैं।[4] कुछ कवियों की आलोचना में लेखकों ने तत्कालीन परिस्थितियों का भी सूक्ष्म विश्लेषण किया है और इस प्रकार कवि पर अपने समय के

---

१. 'मिश्रबन्धु विनोद', पृष्ठ १६३:२००।
२. देखिये 'हिन्दी नवरत्न', पृष्ठ २३ : २४।
३. वही, पृष्ठ २३ : २६।
४. भूषण ने जातीयता का संदेश दिया "आपकी जातीयता में भारतीयता का भाव कम आता है, हिन्दूपन का विशेष। फिर भी यह कहना पड़ता है कि उस समय हिन्दूपन का ही सन्देश एक प्रकार से भारतीयता का संदेश था, क्योंकि मुसलमान बहुत करके विदेशी थे। 'वही', पृष्ठ २५ भूमिका।

प्रभाव अथवा कवि के सुधारवादी रूप का भी विवेचन हो गया है। तुलसीदास जी के पूर्व तथा उनके समय तक भारत की धार्मिक और सामाजिक अवस्था तथा उन परिस्थितियों में तुलसी के धार्मिक मतभेदों को दूर करने के श्रेयस्कर कार्य का संक्षेप में विवेचन हुआ है। "कबीर ने हिन्दू और मुसलमानों के वैमनस्य को दूर करने के लिए एकेश्वरवाद का आधार लिया था, जो हिन्दू और मुसलमान दोनों को मान्य हुआ। लेकिन तुलसीदास जी ने इन दोनों भिन्न धर्मावलम्बी जातियों में पारस्परिक गठबन्धन करने का प्रयत्न नहीं किया, अपितु हिन्दू-धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों की कटुता को धोकर उनमें मेल स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इस कार्य में उनको पर्याप्त सफलता भी मिली। इसी प्रसंग में लेखकों को तुलसी के दार्शनिक विचारों पर भी कुछ कह देने का अवसर मिल गया है।[1] 'हिन्दी नवरत्न' और 'मिश्रबन्धु विनोद' में बहुत-से कवियों के जीवन-सम्बन्धी अथवा दार्शनिक विचारों का सूक्ष्म निर्देश है। पर इस पद्धति की आलोचना का अवसर इन लेखकों को कबीर पर लिखते समय अधिक मिला है। वस्तुतः कबीर की आलोचना में इसीका विशेष महत्त्व भी है। कबीर में मिश्रबन्धुओं के शब्दों में अभिव्यक्ति की कलात्मकता की अपेक्षा संदेश की गम्भीरता और प्रौढ़ता ही अधिक महत्त्वपूर्ण है, इसलिए आलोचक का ध्यान उस ओर अधिक आकृष्ट होना स्वाभाविक ही है।[2] मिश्रबन्धुओं ने कबीर के ईश्वर, माया, गुरु, अवतार आदि से सम्बद्ध विचारों का निरूपण और विवेचन उन्हींकी कविता के बहुत-से उदाहरण देकर किया है।[3] उनके सूफी मत में होने का प्रमाण उन्हींकी रचनाओं से मिलता है। परमात्मा और जीवात्मा का जो दाम्पत्य-सम्बन्ध कबीर को स्वीकृत था उसका भी लेखकों ने निरूपण किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि कवि के संदेश और जीवन-सम्बन्धी विचारों की आलोचना करने की प्रवृत्ति इन लेखकों में सर्वत्र ही पाई जाती है, पर अन्य कवियों की अपेक्षा इस कवि की आलोचना में इनको अधिक स्थान मिला है और यह विवेचन अपेक्षाकृत प्रौढ़ भी है। इसके कारण का हम ऊपर निर्देश कर चुके हैं। बहुत-से कवियों का तो कोई विशेष संदेश होता ही नहीं है, उनका महत्त्व, उनकी अभिव्यंजना-शैली के सौन्दर्य में ही है। ऐसे कवियों के संदेश की बात ही निरर्थक है, पर मिश्रबन्धु

---

१. 'हिन्दी नवरत्न', पृष्ठ २४।

२. वही, पृष्ठ ५०८ : ५०६ 'कबीर का विवेचन'।

३. वही, पृष्ठ २५।

तो संदेश खोजने के लोभ का संवरण वहां भी नहीं कर सके हैं। देव और विहारी के संदेश को गौण कहते हुए भी आचार्यत्व और भाषा का संदेश मानने की प्रवृत्ति है ही। ऐसी एक-आध अत्युक्ति के अतिरिक्त इनका यह विवेचन तर्कपूर्ण और प्रौढ़ कहा जा सकता है। लेखक राधाकृष्ण के नाम आ जाने से रीतिकालीन कवियों में भक्ति का संदेश मानने के लिए तैयार नहीं। केशव में भक्ति का संदेश खोजने का भी उन्होंने विरोध किया है।

पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति ने भारतीय भाषाओं के आलोचकों को भी अपने साहित्य और कलाकारों का ऐतिहासिक विवेचन करने की प्रेरणा प्रदान कर दी थी। इतिहास लिखने की परम्परा पहले नहीं थी। कभी-कभी कोई आचार्य अपने पूर्ववर्त्ती वादों का साधारण निर्देश कर दिया करता था पर वह कोई सर्वमान्य पद्धति नहीं थी। दूसरे उसमें विशद विचार भी नहीं होता था। ये विचार तो आनुषंगिक और आकस्मिक ही हुआ करते थे। ऐतिहासिक विवेचन पृथक् विचार-पद्धति के रूप में आधुनिक काल में ही प्रारम्भ हुआ है। इनके ग्रंथों में हिन्दी-साहित्य के विभिन्न काव्यों का अच्छा विवेचन हुआ है। लेखकों ने तत्कालीन परिस्थितियों, साहित्यिक विशेषताओं तथा भाषा और कवियों का संक्षेप में अच्छा परिचय दिया है। विभिन्न कालों में कविता तथा उसकी भाषा के स्वरूप में किस प्रकार विकास हुआ है, इसका थोड़े में परिचय दिया गया है। 'मिश्रबन्धु विनोद' में तो प्रारम्भ में ही 'संक्षिप्त इतिहास प्रकरण' में इस विकास का अध्ययन हुआ है। उसके बाद प्रत्येक काल के प्रारम्भ में भी उस काल की विशेषताओं का निरूपण हुआ है। 'हिन्दी नवरत्न' का सम्बन्ध भी ऐतिहासिक विकास से है, इसलिए लेखकों ने इसकी भूमिका में संक्षिप्त इतिहास दे दिया है। इसमें तो उन्होंने कवियों के नाम अधिक गिनाए हैं, पर कहीं-कहीं परिस्थितियों और साहित्य-परम्पराओं का निरूपण भी है। इस विवेचन के द्वारा लेखक ने अपने आलोच्य कवियों को तत्कालीन परिस्थिति में रखकर देखने की चेष्टा की है, जिससे उनकी विशेषताओं और महत्त्व के सम्बन्ध में किसी प्रकार का भ्रम न हो जाय। इन कवियों की साहित्यिक विशेषताओं और पारस्परिक अन्तर को समझने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक भी है। आज का आलोचक कवि को उसके काल से पृथक् करके नहीं देखना चाहता। इस ऐतिहासिक अनुसन्धान की प्रणाली के साथ ही कवियों की जीवनी तथा उनके विचारों का विवेचन अन्तःसाक्ष्य के आधार पर करने की प्रवृत्ति भी जाग गई थी। 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' की मुखपत्रिका ने इसका सूत्रपात बहुत पहले ही कर दिया था। मिश्रबन्धुओं ने कवियों की

जीवनी का वाह्य और अन्तः साक्ष्य के आधार पर ही निरूपण किया है, तुलसीदास जी के वाहु-मूल में पीड़ा होना, फिर उसका ठीक हो जाना, सूकर-क्षेत्र में राम-कथा सुनना आदि अनेक घटनाओं का उल्लेख अन्तःसाक्ष्य के आधार पर हुआ है। अन्तःसाक्ष्य के आधार पर ही यह विवेचन भी हुआ है कि तुलसी स्मार्त वैष्णव थे अथवा शैव वैष्णव। मिश्रवन्धुओं ने कवियों की जीवनी में दोनों साक्ष्यों से जो वात ठीक प्रतीत होती है, उसीको ग्रहण किया है।

द्विवेदी जी की भाषा-सम्बन्धी आलोचना की विशेषता अशुद्धियों का निर्देश करने में थी। कहीं-कहीं ओज आदि गुणों का संकेत भी कर दिया जाता था। पर वस्तुतः व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियों का निर्देश करना आलोचना का बहुत ही गौण कार्य है। भाषा और भाव में कवि कितना सामंजस्य स्थापित कर सका है, उसके वर्ण्य विषय को अभिव्यंजना-शैली और भाषा ने मर्मस्पर्शी और प्रभावोत्पादक बनाने में कितनी सहायता दी है, भाषा की साहित्यिक प्रौढ़ता किस कोटि की है, लेखक का व्यक्तित्व उसकी भाषा में कितना प्रति-बिम्बित हो सका है, आदि प्रश्नों पर विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से विचार करना भाषा-सम्बन्धी आलोचक का कार्य है। प्रसंगवश अगर उसे भाषा की अशुद्धियों का निर्देश भी करना पड़े तो कोई आपत्ति नहीं है। साहित्य की प्रारम्भिक अवस्था में भाषा भी अपना स्वरूप निश्चित करती है, इसलिए आलोचक का कर्तव्य उसमें यथा सम्भव सहायता प्रदान करना है। लेकिन भाषा के साहित्यिक रूप के निश्चित हो जाने पर उस पर व्याकरण-शास्त्र का अनावश्यक नियन्त्रण रखने में उसकी स्वच्छन्द गति और उन्मुक्त-विकास में वाधा होती है। भाषा का निर्माण साहित्यकार और जन-समाज करता है। वह विकासशील है। वैयाकरण का कार्य तो केवल थोड़ी व्यवस्था भर कर देना है। द्विवेदी-काल में भाषा-सम्बन्धी कई वाद-विवाद खड़े हुए थे। उसमें उस काल के प्रायः सभी विद्वानों ने भाग लिया। इस वाद-विवाद में मिश्रवन्धुओं ने भी अपने भाषा-सम्बन्धी विचार प्रकट किये हैं। उनके विचार अधिक प्रगतिशील हैं। वे भाषा के स्वच्छन्द विकास को ही साहित्य के लिए श्रेयस्कर समझते हैं। द्विवेदी जी भी भाषा के स्वच्छन्द विकास के विरोधी नहीं थे जैसा कि पहले कहा जा चुका है। पर उन्हें व्याकरण के नियंत्रण का अभाव सह्य नहीं था। मिश्रवन्धु भाषा की अव्यवस्था के पक्षपाती नहीं हैं। वे भाषा में "मनमानी" और "घर जानी" नहीं देखना चाहते। इससे तो वे साहित्य का विकास ही सम्भव नहीं मानते। भाषा की प्रकृति स्थिर हो जाने पर और एक विशेष दिशा अपना लेने पर ही साहित्य का विकास होता है। पर मिश्रवन्धु

उसे व्याकरण के नियमों में जकड़ना भी नहीं चाहते हैं। "अगर मातृ-भाषा भी दस-पाँच वर्ष तक व्याकरण पढ़े बिना नहीं लिखी जा सकती तो वह मातृ-भाषा न रहकर विद्वत्भाषा ही बन जाती है। मिश्रबन्धु हिन्दी को विद्वत्भाषा बनाने के पक्ष में नहीं थे। वे हिन्दी-लेखकों की स्वतंत्रता के पक्षपाती थे। उन्होंने स्वयं "नायिका" के स्थान पर "नायक" का प्रयोग किया है। बाद में "नायिका" प्रयोग भी करने लगे थे। "नायिका" के स्थान पर "नायक" का प्रयोग कोई बहुत सुन्दर और हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल नहीं है, पर केवल संस्कृत से हिन्दी की स्वतन्त्र सत्ता की घोषणा-भर कर देने में इसका महत्त्व है। मिश्र-बन्धुओं का यह कहना अत्यन्त तर्क-सम्मत है कि अगर हिन्दी पर संस्कृत-व्याकरण का नियन्त्रण रखने की चेष्टा की जायगी तो यह हिन्दी न रहकर संस्कृत हो जायगी। फिर तो "गच्छति" और "करोति" के प्रयोग-भर की देर रहेगी। 'हरिऔध' की भाषा ने 'प्रिय प्रवास' में कई स्थानों पर यह रूप ग्रहण कर लिया है। मिश्रबन्धु "मधुरा भाषा" लिखने के पक्षपाती नहीं हैं। सभा को 'प्रचारक' ही कहना चाहते हैं,"प्रचारिणी" नहीं। प्रशंसनीय के आधार पर सराहनीय को भी शुद्ध साहित्यिक रूप मान लेने की स्वतन्त्रता से हिन्दी को वंचित कर देना उन्हें अभीप्सित नहीं है। हिन्दी-भाषा की स्वच्छन्दता-सम्बन्धी यह दृष्टिकोण बहुत समीचीन है।[1]

मिश्रबन्धु द्विवेदी जी की तरह कवियों की भाषा में व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियों को ढूँढ निकालने के फेर में नहीं पड़े हैं। हर कवि को इसी दृष्टि से देखना तो वे आलोचना की "छीछालेदर" मानते हैं। मिश्रबन्धुओं ने भाषा-सौष्ठव और उसकी भाव-वर्ण्य-विषय आदि से अनुरूपता पर ही विचार किया है। कवियों के द्वारा प्रयुक्त विभिन्न भाषाओं के शब्दों का संकेत है। बिहारी की भाषा में लेखक ने प्रांतीय और इतर भाषाओं के प्रयोगों के बहुत उदाहरण दिये हैं। उन्होंने बहुत-से शब्दों को तोड़ने-मरोड़ने की प्रवृत्ति की ओर भी पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। बिहारी ने "चिलक" शब्द का प्रयोग "चमक" के अर्थ में किया है। पर यह शब्द कई-एक स्थान पर दर्द के अर्थ में प्रयुक्त होता है। मिश्रबन्धु ऐसे प्रयोग अनुचित और अशिष्ट मानते हैं।[2] शब्दों की तोड़-मरोड़, प्रान्तीय, फारसी आदि के प्रयोगों, अर्थ-दूषण के बहुत-से उदाहरण मिश्रबन्धुओं ने इकट्ठे किये हैं।[3] कई-एक स्थानों पर आलोचना-

१. देखिये 'मिश्रबन्धु विनोद', पृष्ठ ६६:७५ 'हिन्दी नवरत्न', २९:२३।
२. 'हिन्दी नवरत्न', पृष्ठ ३४८।
३. 'वही', ३४३ : ३५२।

क्षेत्र के वाद-विवाद का संकेत भी हुआ है । स्वयं मिश्रबन्धु भी कई जगह वाद-विवाद में पड़े हैं । बिहारी की भाषा-सम्बन्धी आलोचना वाला भी एक ऐसा ही स्थल है । मिश्रबन्धुओं का ध्यान कवि के गुणों पर भी गया है । उन्होंने बिहारी के भाषा-सम्बन्धी व्यापक ज्ञान की प्रशंसा की है । यमक और पद-मैत्री के कारण भाषा में जो सौंदर्य आ गया है, उसकी उपेक्षा मिश्रबन्धुओं ने नहीं की ।[1] बिहारी की भाषा की सजीवता पर भी आलोचक का थोड़ा ध्यान गया है । यद्यपि इतना ही पर्याप्त तो नहीं कहा जा सकता । "जगमगात", "झलमलात" आदि शब्दों में सजीवता के दर्शन आलोचकों को भी हुए हैं ।[2] बिहारी के शब्द और अर्थ का चमत्कार, अर्थ-गाम्भीर्य, व्यंग्य, एक ही दोहे में सारी रस-सामग्री को एकत्र कर देने की क्षमता के कारण भाषा की प्रौढ़ता, एक साथ कई-एक अलंकारों का प्रयोग आदि बहुत-सी प्रमुख विशेषताओं की ओर इन आलोचकों का ध्यान नहीं जा सका । यह भी केवल वैयक्तिक रुचि का ही परिचायक है । इनकी दृष्टि बिहारी के काव्य-सौष्ठव की परख में कुण्ठित हो गई । भाषा के गुणों और अलंकारों का निर्देश प्रायः सभी कवियों की आलोचना में हुआ है । मम्मट द्वारा मान्य माधुर्य, ओज और प्रसाद तक ही ये सीमित नहीं रहे हैं । अपितु पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा मान्य समता, समाधि, अर्थ-व्यक्ति, उदारता आदि का भी संकेत है ।[3] कवियों की यमक, अनुप्रास आदि रखने की प्रवृत्ति का निर्देश तो बहुत जगह हुआ है । तुकान्त के लिए निरर्थक शब्दों के प्रयोग की ओर भी इनका ध्यान गया है । भाषा के सामान्य सौंदर्य को "ललित" "मधुर" आदि शब्दों द्वारा कई स्थानों पर व्यक्त किया गया है । इन आलोचकों का ध्यान इस ओर भी गया है कि अलंकार के [illegible] से कवि अपने भाव के निर्वाह में असफल तो कहीं नहीं हुआ है ।[4]

---

१. 'हिन्दी नवरत्न', पृष्ठ ३५३ ।

२. वही, पृष्ठ ३५४ ।

३. प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थ-व्यक्ति, समाधि, कान्ति [illegible] उदारता नामक गुण देव की रचना में पाये जाते हैं । कहीं-कहीं ओज [illegible] भी चमत्कार है । पर्यायोक्ति, सुधर्मिता, सुशब्दता, संक्षिप्तता, प्रसन्नता [illegible] गुणों की आपकी रचना में बहार है । कहीं-कहीं अर्थ-काठिन्य भी प्र[illegible] है । वही, पृष्ठ २६४ ।

४. इनकी भाषा में अनुप्रास और यमक भरे पड़े हैं । आप जो शब्द उ[illegible] थे प्रायः उसी प्रकार के कई और शब्द उसके पीछे रखते चले जाते [illegible]

प्रकार मिश्रबन्धुओं में भाषा-सम्बन्धी प्रौढ़ और गम्भीर आलोचना के कर्म
उदाहरण मिलते हैं। ये उदाहरण बिखरे हुए हैं। मिश्रबन्धु एक अंग प
लेकर अपना मन्तव्य एक ही स्थान पर व्यक्त नहीं कर देते हैं इसलिए कु
बिखरा हुआ रहता है। उसमें संश्लिष्टता का अभाव खटकता है।

मिश्रबन्धुओं की आलोचना में कवियों की विशेषताओं और गुण-दोष
निरूपण में विश्लेषणात्मक पद्धति का अवलम्बन तो अवश्य हुआ है। पर फि
भी इनके ग्रन्थों की प्रमुख विशेषता परिचय ही है। हिन्दी-कवियों का अध्ययन
अभी इतना व्यापक नहीं हुआ था कि आलोचना परिचय की परिधि से बाह
निकल जाती। 'हिन्दी नवरत्न' में तुलसी, सूर, देव आदि सभी कवियों के ग्रन्थ
का आलोचनात्मक परिचय दिया गया है। उनकी काव्यगत विशेषताओं
पाठक को परिचित कराने के लिए लेखकों में विश्लेषण की गम्भीरता के दर्श
कहीं-कहीं अवश्य हो जाते हैं। पर इसका सर्वत्र निर्वाह नहीं हुआ है। आलो
चकों का मुख्य उद्देश्य तो कवियों की विशेषताओं का सामान्य परिचय तथ
उनको किसी विशेष श्रेणी में रखना है। यही कारण है कि इनकी आलोचन
की गूढ़ और विश्लेषणात्मक उक्तियों में सर्वत्र संश्लिष्टता नहीं पाई जाती
बीच-बीच में प्रौढ़ विचार-धारा के दर्शन हो जाते हैं। इनकी आलोचना क
दूसरी प्रधान विशेषता निर्णयात्मकता है। कवियों की भाव और कला-सम्बन्ध
विशेषताओं के अन्तस्तल में भी श्रेणी-विभाग की प्रवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित होत
है। आलोचक उनके गुण-दोषों का विवेचन करते हुए यह कहना कभी नह
भूलता है कि ये गुण अन्यत्र कहीं नहीं मिलते हैं, इसलिए यह कवि सर्वोत्कृष्ट
है। 'हिन्दी नवरत्न' का निर्माण तो श्रेणी-विभाग के आदर्श को अपने सम्मुख
रखकर हुआ ही है। इस ग्रन्थ में तुलसी, सूर और देव को परस्पर एक-
दूसरे से ऊँचा बताने की प्रवृत्ति भी छिपी नहीं रहती। इस सम्बन्ध में
मिश्रबन्धुओं का अपना मत कई बार बदला है। 'मिश्रबन्धु विनोद' यद्यपि इति-

---

और जब वह श्रेणी छोड़ते थे, तब उसीके शब्दों का कोई और अक्षर-
क्रम उठाकर उसकी समता के शब्द रखने लगते थे, इस प्रकार एक साथ
आप कई भांति के अनुप्रास रख जाते थे। पर ये गुण लाने के वास्ते
इनको निरर्थक पदों का व्यवहार नहीं करना पड़ा और प्रायः
कहीं भी अपना भाव नहीं बिगाड़ना पड़ा। ऐसे बढ़िया भाव लाकर भी
अनुप्रास की सर्वोत्कृष्ट प्रधानता रखने में केवल देव ही कृतकार्य हो
सके हैं।

हास-ग्रन्थ है। उसमें इस प्रकार के श्रेणी-विभाग के लिए न कोई स्थान था और न आवश्यकता ही। पर फिर भी लेखकों ने कवियों पर विचार प्रकट करने में इस शैली का अनुसरण किया है। श्रेणी-विभाजन के लिए जो तुलनात्मक अध्ययन कवियों का हुआ है उसमें विश्लेषण, तर्क और प्रौढ विवेचन का अभाव है। लेखकों ने तुलसी, देव, बिहारी आदि के कुछ छन्दों की शास्त्रीय आलोचना की है। उसमें गम्भीरता भी है, इसमें कोई सन्देह नहीं। पर यह आलोचना तो केवल नमूने का कार्य कर रही है। लेखकों ने यह कह तो दिया है हमने इसी पद्धति का अनुसरण करके इन कवियों के स्थान का निर्णय किया है। पर उनकी पुस्तकों में इस विवेचन के कहीं दर्शन नहीं होते। यह श्रेणी-विभाग तो लेखकों ने अपने मन में कर लिया था और उस क्रम से कवियों को इस ग्रन्थ में रख दिया गया है। बीच-बीच में इन कवियों की प्रशंसा में सर्वोत्कृष्ट शब्द का प्रयोग करते गए हैं। जिस शास्त्रीय पद्धति और शैली का अवलम्बन मिश्रबन्धुओं ने किया है, वह स्फुट छन्दों की आलोचना के उपयुक्त मानदंड है। उसका उपयोग कवियों की समष्टिगत विशेषताओं और रस-अलंकार-सम्बन्धी प्रवृत्तियों के निरूपण में भी किया जा सकता है। मिश्रबन्धुओं ने भी इस आधार पर कवियों की सामान्य विशेषताओं का विवेचन किया है, पर वे इसके तुलनात्मक रूप का निर्वाह नहीं कर सके। शास्त्रीय आधार की तुलना का मापदण्ड बनाने से पूर्व काव्यांगों के महत्त्व में भी श्रेणी-विभाग की आवश्यकता होती है। रस, ध्वनि, अलंकार आदि में से किसी एक को काव्य की आत्मा का स्थान देना पड़ता है और फिर उसीके आधार पर कवियों का श्रेणी-विभाग हो सकता है। यह श्रेणी-विभाग भी अत्यन्त स्थूल और जड़ आधार पर ही आश्रित कहा जाता है, पर मिश्रबन्धुओं ने तो यह भी नहीं किया। उन्होंने रस, अलंकार आदि सभी तत्त्वों को अपने ध्यान में रखा। सैद्धान्तिक रूप से इनका तारतम्य स्वीकार करते हुए भी व्यवहार में उनका निर्वाह नहीं किया है। मिश्रबन्धु देव के शब्द-चमत्कार, और उक्ति-वैचित्र्य के चकाचौंध से तुलसी, सूर, कबीर आदि के साहित्यिक महत्त्व का निर्णय नहीं कर सके। वाह्याडम्बर की सज-धज और तड़क-भड़क से मुग्ध होकर वे काव्य की वास्तविक आत्मा को ही खो बैठे। सूर और तुलसी के काव्य में जीवन के चिरन्तन-स्वरूप को देखने और उसके मूल्य परखने की क्षमता लेखकों में नहीं रह गई। बाद में उन्होंने इन दोनों कवियों में जीवन का स्थायित्व देखा तो सही। पर वह तो साधारण और अस्पष्ट झलक-मात्र थी। उसमें देव के प्रति उत्पन्न मोह को भंग करने की प्रखरता का अभाव था। यही कारण है कि इस निर्णय का

प्रभाव उनकी आलोचना पर कुछ भी नहीं हुआ। इस सारे विभाजन के पीछे केवल व्यक्तिगत रुचि ही कार्य कर रही है। पुष्ट आधार का नितान्त अभाव है। किन्हीं व्यक्तिगत कारणों से मिश्रबन्धुओं को देव की कविता अत्यन्त प्रिय है, किसी दूसरे को मतिराम की हो सकती है; पर आलोचना के क्षेत्र में इस वैयक्तिक रुचि का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। दो भिन्न कालों और परम्पराओं की कविता की पारस्परिक तुलना का कोई महत्त्व नहीं है, पन्त और चन्द वरदाई की तुलना आलोचना के विकास में क्या सहयोग प्रदान कर सकती है। देव और तुलसी की तुलना द्वारा भी किसी विशेष प्रगति की संभावना नहीं थी। यदि शास्त्रीय आधार लेकर कुछ प्रौढ़ विवेचन किया जाता तो दोनों कवियों की विशेषताओं और महत्त्व को समझने के एक सुन्दर प्रयास के रूप में साहित्य-क्षेत्र में इनका पर्याप्त सम्मान होता। मिश्रबन्धुओं की आलोचना का जितना आज सम्मान है उससे कहीं अधिक हो सकता था। मिश्रबन्धुओं ने कई स्थानों पर तो वैयक्तिक रुचि और तुलना के आवेश में आकर असहृदयता का भी परिचय दे दिया है। तुलसीदास जी द्वारा बारम्बार राम के ईश्वरत्व का स्मरण कराते रहने में राम के अलौकिक और सर्वशक्तिमान रूप का चित्रण हुआ है। भक्ति की यह महत्ता मिश्रबन्धुओं के ध्यान में नहीं आ सकी। राधा और गोपियों के मुख से सूर ने सुन्दर उपालम्भ दिलाकर जिस भक्ति और शृङ्गार का रस प्रवाहित किया है, उसे मिश्रबन्धु कृष्ण के कार्यों की निन्दा मानते हैं। "सूरदास प्रभु के अति खोटे, यह उनहूँ ते अति ही खोटी" और "सूरदास सरबसु जो दीजै कारो कृतहि न मानै" में कृष्ण-निन्दा मानना असहृदयता और विचित्र वैयक्तिक रुचि के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। सूर की भाषा को क्लिष्ट बताना भी ऐसी विचित्र वैयक्तिक रुचि का ही उदाहरण है। किसी एक कूट पद के आधार पर कवि के सम्पूर्ण काव्य की भाषा पर कोई निर्णय नहीं दिया जा सकता। दूसरे स्वयं मिश्रबन्धु सूर की भाषा को मधुर और ललित भी कह चुके हैं। "सूरदास की भाषा शुद्ध व्रजभाषा है······परन्तु इनकी भाषा ऐसी ललित और श्रुति-मधुर है कि वैसी इनके पीछे वाले कवियों तक में बहुत कम पाई जाती है। ······आपने महलात का भी प्रयोग किया है। इनकी कविता में मिश्रित वर्ण बहुत कम आते हैं। उनमें माधुर्य और प्रसाद गुण प्रधान हैं। ओज की मात्रा इनकी कविता में बहुत कम है। कहीं यमक आदि के लिए इन्होंने अपना भाव नहीं बिगाड़ा। इनके पद ललित और अर्थ-गम्भीरता से भरे हुए हैं।" इस प्रकार के वदतोव्याघात का एक कारण यह भी है कि बृहद्काय ग्रन्थ तीन

व्यक्तियों द्वारा रचे गए हैं।

इतने कवियों की काव्यगत विशेषताओं का विशद परिचय देने का यह प्रथम प्रयास है। इतिहास के क्षेत्र में तो बहुत दिनों तक 'मिश्रबन्धु विनोद' के अतिरिक्त अन्य कोई ग्रन्थ ही नहीं था। हिन्दी-साहित्य के विभिन्न कालों में सामान्य विशेषताओं का आलोचनात्मक परिचय देने वाला हिन्दी का यह प्रथम बृहद्काय ग्रन्थ है। 'हिन्दी नवरत्न' की आलोचना का प्रमुख उद्देश्य कवियों की विभिन्न श्रेणियाँ बनाना ही रहा है। इसके आवरण में कवियों के वर्ण्य-विषय, भाव, दर्शन, भक्ति, निसर्ग और मानव-प्रकृति का चित्रण, कला, अलंकार, भाषा, शैली आदि अनेक पक्षों पर इतना विशद विचार करने का यह अवसर भी मिल गया है। इसके विवेचन की प्रौढ़ता को तत्कालीन विकास को ध्यान में रखकर अस्वीकार नहीं किया जा सकता। सूर और कबीर दोनों सखा भाव के भक्त माने गए हैं। सूर में जीवात्मा और परमात्मा का निरूपण गौण और शृङ्गार की प्रधानता मानी गई है। इस प्रकार के विचारों में चिन्तन की प्रौढ़ता और सूक्ष्म विवेचन का अभाव ही कहा जा सकता है। भक्ति और रहस्यवाद के सूक्ष्म अन्तर को समझ लेने के बाद मिश्रबन्धुओं के निरूपण में इतनी शिथिलता के लिए स्थान नहीं था। पर संदेश खोज निकालने के मोह ने ऐसा नहीं होने दिया। सभी कवियों की आलोचना स्वतंत्र मानदंड लेकर हुई हैं। कबीर, देव, बिहारी आदि की काव्यगत विशेषताओं का निरूपण एक ही दृष्टि से नहीं हुआ है। कबीर में दार्शनिक विवेचन ही अधिक है। देव और बिहारी के भाषा, भाव और अलंकार के सौष्ठव पर अधिक विचार हुआ है। द्विवेदी जी के समसामयिक आलोचकों में जो व्यक्तिगत राग-द्वेष का प्राधान्य हो गया था, जिससे आलोचक अपने प्रकृत मार्ग से पथ-भ्रष्ट हो गए थे। मिश्र-बन्धुओं के इन ग्रन्थों ने आलोचकों को इन व्यक्तिगत राग-द्वेष और आक्षेपों से ऊपर उठकर साहित्य की प्रगति पर गम्भीरता पूर्वक सोचने के लिए बाध्य कर दिया था। अब आलोचना का रूप केवल वाद-विवाद नहीं रह गया था। पर आलोचक इसे गम्भीर चिन्तन और पर्याप्त उत्तरदायित्व का कार्य समझने लगे थे। आलोचना को वास्तविक वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय इन्हींको है। यही कारण है कि प्रसिद्ध अंग्रेजी मासिक पत्रिका 'माडर्न रिव्यू' ने 'हिन्दी नवरत्न' को (Eproch of marking) नवीन युग का प्रवर्त्तक कहा है। 'माडर्न रिव्यू' का यह मत पूर्णतः सत्य है। इन ग्रन्थों की आलोचना वैयक्तिक, निर्णयात्मक रूढ़िगत और अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसात्मक ही मानी जायगी। कवि की विशेषताओं का कई दृष्टियों से निरूपण होने पर भी उसमें अपेक्षित विश्लेषणात्मक प्रौढ़ता

प्रविष्ट होकर उनके कलागत सौन्दर्य की यथार्थ अनुभूति में सहायक होता है। यह प्रक्रिया महत्त्व-सम्बन्धी भ्रान्ति के निवारण का प्रधान साधन है। साहित्य-समीक्षा में तुलनात्मक प्रणाली के समीचीन उपयोग की उपेक्षा नहीं की जा सकती। सूक्तियाँ आलोचना की अत्यन्त प्राचीन उदाहरण हैं। इनमें से अधिकांश में एक कवि की अपेक्षा दूसरे को श्रेष्ठ कहा गया है। कहीं-कहीं दो कवियों की दो भिन्न-भिन्न विशेषताओं का उल्लेख है। इस प्रकार इनका मूल आधार तुलना ही है। माघ के पूर्व तक ही भारवि का यश था, बाद में तो उसका यश माघ की धूप की तरह धूमिल हो गया।[1] पद-लालित्य, अर्थ-गौरव और उपमा की दृष्टि से माघ सर्वश्रेष्ठ कवि हैं, क्योंकि अन्य कवियों में इनमें से किसी एक ही गुण का सौन्दर्य है और माघ में ये तीनों हैं।[2] हिन्दी के प्रसिद्ध प्रवाद-वाक्यों में भी तुलनात्मक आलोचना के स्पष्ट दर्शन होते हैं। सूर को सूर और तुलसी को चन्द्रमा कहना तुलना के अतिरिक्त और क्या है।[3] कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्य-समीक्षा में तुलनात्मक पद्धति अत्यन्त प्राचीन है। आलोचना में प्रयुक्त प्रमुख प्रक्रियाओं में से तुलना भी एक है, इसलिए समीक्षा में यह तत्त्व ज्ञात अथवा अज्ञात रूप में विद्यमान रहता ही है। आपाततः तुलनात्मक न प्रतीत होने वाली समीक्षा के अन्तस्तल में भी तुलनात्मक प्रवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित हो जाती है। एक कवि को अन्य से अलग करते समय अथवा उसकी विशेषताओं का निर्देश करते समय आलोचक का अचेतन अथवा सचेतन मन इस प्रक्रिया का आश्रय लेता है। चाहे उसकी आलोचना के कलेवर में इसके दर्शन न होते हों, पर उस कलेवर की आधार-भूमि का एक तत्त्व तो यह है ही। अभिप्राय केवल इतना ही है कि आलोचना के विशद रूप का एक तत्त्व तुलना भी है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य-समीक्षा के प्रादुर्भाव-काल से ही इसके दर्शन होते हैं। द्विवेदीजी ने इस पद्धति का अनुसरण कई स्थानों पर किया है, इसका निर्देश उनके प्रसंग में हो चुका है। प्रारम्भिक पत्र-पत्रिकाओं में जो अप्रौढ़ समीक्षा उपलब्ध है, उसका आधार भी

---

१. तावद् भा भारवेः भाति यावन्माघस्य नोदयः।
उदिते नु माघे भारवेः भा रवेरिव ॥

२. दंडिनः पद-लालित्यं भारवे रर्थगौरवम्।
उपमा कालिदासस्य माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥

३. सूर-सूर तुलसी शशी, उडुगन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ-तहँ करत प्रकास ॥

कहीं-कहीं तुलना हो रहा है, इसे भी हम देख चुके हैं। मिश्रबन्धु भी इसी श्रेणी-विभाजन की भित्ति पर खड़े हैं। उसके प्राण तो तुलना ही हैं। इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। जिस प्रक्रिया से आलोचक श्रेणी-विभाग में समर्थ हुआ है, वह भी तुलना ही है और उनकी इस आलोचना का मूल अभिप्राय भी तुलना ही है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आचार्य पद्मसिंह शर्मा, कृष्णबिहारी मिश्र आदि के पूर्व भी यह तुलनात्मक प्रणाली हिन्दी-साहित्य में अपने बीज रूप में ही विद्यमान ही नहीं थी, अपितु धीरे-धीरे विकसित होने लगी थी।

हिन्दी-साहित्य में व्यवस्थित और प्रौढ़ तुलनात्मक पद्धति का प्रवर्तन तो आचार्य पद्मसिंह शर्मा की 'बिहारी-सतसई' नामक पुस्तक से हुआ। उनकी यह पुस्तक 'बिहारी-सतसई' के भाष्य की भूमिका है। इसमें उस साहित्यिक परम्परा और शैली का निरूपण हुआ है जिसका अनुसरण बिहारी ने किया है। सातवाहन द्वारा संगृहीत प्राकृत की 'गाथा-सप्तशती' और गोवर्धनाचार्य द्वारा प्रणीत 'आर्या-सप्तशती' (संस्कृत में) ये दो ग्रन्थ साहित्य-संसार के प्रसिद्ध रत्न थे। संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के प्रायः सभी प्रमुख आचार्यों ने अपने रस, अलंकार, व्यंग्य आदि के निरूपण में इन दोनों ग्रन्थों से उदाहरण उद्धृत किये हैं और उनको कई स्थानों पर उत्तम काव्य (ध्वनि-काव्य) कहा है। इनके कई-एक छन्द तो ऐसे हैं जिनका उपयोग आनन्दवर्द्धनाचार्य, मम्मट विश्वनाथ और पण्डितराज सभीने अपने ग्रन्थों में किया है। इससे इन ग्रन्थों का साहित्यिक प्रौढ़ता और प्रसिद्धि में कोई सन्देह नहीं रह जाता है। ये दोनों ग्रन्थ विषय और शैली की दृष्टि से 'बिहारी-सतसई' के अनुरूप ही हैं। वस्तुतः बात तो यह है कि अपनी सतसई के प्रणयन के समय बिहारी के समक्ष ये दोनों ग्रन्थ आदर्श के रूप में थे और उसने इन्हींकी मुक्तक शैली में शृङ्गार-प्रधान काव्य रचा है। बिहारी के अधिकांश दोहे भाव और निरूपण-शैली में इन ग्रन्थों के छन्दों से साम्य रखते हैं। अनेक स्थानों पर तो भावापहरण-सा प्रतीत होता है, जिसके आधार पर हिन्दी के कतिपय समालोचक बिहारी पर चोरी का आरोप लगाने में भी नहीं चूकते। आचार्य ने इन्हीं ग्रन्थों की शैली को समक्ष रखकर 'बिहारी सतसई' का अध्ययन किया है। इन ग्रन्थों के छन्दों का तुलनात्मक अध्ययन करके उन्होंने बिहारी को चोरी के आरोप से मुक्त किया है और अनेक स्थानों पर तो इन ग्रन्थों से भी बिहारी की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। वे कितने निरपेक्ष और पक्षपात-शून्य दृष्टि से विचार कर सके हैं इसका निरूपण तो हम यथावसर करेंगे। यहाँ पर तो हमारा अभिप्राय यह दिखाने का है कि आचार्य ने बिहारी की

प्रविष्ट होकर उनके कलागत सौन्दर्य की यथार्थ अनुभूति में सहायक होता है। यह प्रक्रिया महत्व-सम्बन्धी भ्रान्ति के निवारण का प्रधान साधन है। साहित्य-समीक्षा में तुलनात्मक प्रणाली के समीचीन उपयोग की उपेक्षा नहीं की जा सकती। सूक्तियाँ आलोचना की अत्यन्त प्राचीन उदाहरण हैं। इनमें से अधिकांश में एक कवि की अपेक्षा दूसरे को श्रेष्ठ कहा गया है। कहीं-कहीं दो कवियों की दो भिन्न-भिन्न विशेषताओं का उल्लेख है। इस प्रकार इनका मूल आधार तुलना ही है। माघ के पूर्व तक ही भारवि का यश था, बाद में तो उसका यश माघ की धूप की तरह धूमिल हो गया।[1] पद-लालित्य, अर्थ-गौरव और उपमा की दृष्टि से माघ सर्वश्रेष्ठ कवि हैं, क्योंकि अन्य कवियों में इनमें से किसी एक ही गुण का सौन्दर्य है और माघ में ये तीनों हैं।[2] हिन्दी के प्रसिद्ध प्रवाद-वाक्यों में भी तुलनात्मक आलोचना के स्पष्ट दर्शन होते हैं। सूर को सूर और तुलसी को चन्द्रमा कहना तुलना के अतिरिक्त और क्या है।[3] कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्य-समीक्षा में तुलनात्मक पद्धति अत्यन्त प्राचीन है। आलोचना में प्रयुक्त प्रमुख प्रक्रियाओं में से तुलना भी एक है, इसलिए समीक्षा में यह तत्त्व ज्ञात अथवा अज्ञात रूप में विद्यमान रहता ही है। आपाततः तुलनात्मक न प्रतीत होने वाली समीक्षा के अन्तस्तल में भी तुलनात्मक प्रवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित हो जाती है। एक कवि को अन्य से अलग करते समय अथवा उसकी विशेषताओं का निर्देश करते समय आलोचक का अचेतन अथवा सचेतन मन इस प्रक्रिया का आश्रय लेता है। चाहे उसकी आलोचना के कलेवर में इसके दर्शन न होते हों, पर उस कलेवर की आधार-भूमि का एक तत्त्व तो यह है ही। अभिप्राय केवल इतना ही है कि आलोचना के विशद रूप का एक तत्त्व तुलना भी है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य-समीक्षा के प्रादुर्भाव-काल से ही इसके दर्शन होते हैं। द्विवेदीजी ने इस पद्धति का अनुसरण कई स्थानों पर किया है, इसका निर्देश उनके प्रसंग में हो चुका है। प्रारम्भिक पत्र-पत्रिकाओं में जो अप्रौढ़ समीक्षा उपलब्ध है, उसका आधार भी

---

१. तावद् भा भारवेः भाति यावन्माघस्य नोदयः।
उदिते तु माघे भारवेः भा रवेरिव ॥

२. दंडिनः पद-लालित्यं भारवे स्वर्थगौरवम्।
उपमा कालिदासस्य माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥

३. सूर-सूर तुलसी शशी, उडुगन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ-तहँ करत प्रकास ॥

कहीं-कहीं तुलना ही रहा है, इसे भी हम देख चुके हैं। मिश्रबन्धु भी इसी श्रेणी-विभाजन की भित्ति पर खड़े हैं। उसके प्राण तो तुलना ही हैं। इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। जिस प्रक्रिया से आलोचक श्रेणी-विभाग में समर्थ हुआ है, वह भी तुलना ही है और उनकी इस आलोचना का मूल अभिप्राय भी तुलना ही है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आचार्य पद्मसिंह शर्मा, कृष्णबिहारी मिश्र आदि के पूर्व भी यह तुलनात्मक प्रणाली हिन्दी-साहित्य में अपने बीज रूप में ही विद्यमान ही नहीं थी, अपितु धीरे-धीरे विकसित होने लगी थी।

हिन्दी-साहित्य में व्यवस्थित और प्रौढ़ तुलनात्मक पद्धति का प्रवर्तन तो आचार्य पद्मसिंह शर्मा की 'बिहारी-सतसई' नामक पुस्तक से हुआ। उनकी यह पुस्तक 'बिहारी-सतसई' के भाष्य की भूमिका है। इसमें उस साहित्यिक परम्परा और शैली का निरूपण हुआ है जिसका अनुसरण बिहारी ने किया है। सातवाहन द्वारा संगृहीत प्राकृत की 'गाथा-सप्तशती' और गोवर्धनाचार्य द्वारा प्रणीत 'आर्या-सप्तशती' (संस्कृत में) ये दो ग्रन्थ साहित्य-संसार के प्रसिद्ध रत्न थे। संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के प्रायः सभी प्रमुख आचार्यों ने अपने रस, अलंकार, व्यंग्य आदि के निरूपण में इन दोनों ग्रन्थों से उदाहरण उद्धृत किये हैं और उनको कई स्थानों पर उत्तम काव्य (ध्वनि-काव्य) कहा है। इनके कई-एक छन्द तो ऐसे हैं जिनका उपयोग आनन्दवर्द्धनाचार्य, मम्मट विश्वनाथ और पण्डितराज सभी ने अपने ग्रन्थों में किया है। इससे इन ग्रन्थों की साहित्यिक प्रौढ़ता और प्रसिद्धि में कोई सन्देह नहीं रह जाता है। ये दोनों ग्रन्थ विषय और शैली की दृष्टि से 'बिहारी-सतसई' के अनुरूप ही हैं। वस्तुतः बात तो यह है कि अपनी सतसई के प्रणयन के समय बिहारी के समक्ष ये दोनों ग्रन्थ आदर्श के रूप में थे और उसने इन्हींकी मुक्तक शैली में शृङ्गार-प्रधान काव्य रचा है। बिहारी के अधिकांश दोहे भाव और निरूपण-शैली में इन ग्रन्थों के छन्दों से साम्य रखते हैं। अनेक स्थानों पर तो भावापहरण-सा प्रतीत होता है, जिसके आधार पर हिन्दी के कतिपय समालोचक बिहारी पर चोरी का आरोप लगाने में भी नहीं चूकते। आचार्य ने इन्हीं ग्रन्थों की शैली को समक्ष रखकर 'बिहारी सतसई' का अध्ययन किया है। इन ग्रन्थों के छन्दों का तुलनात्मक अध्ययन करके उन्होंने बिहारी को चोरी के आरोप से मुक्त किया है और अनेक स्थानों पर तो इन ग्रन्थों से भी बिहारी की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। वे कितने निरपेक्ष और पक्षपात-शून्य दृष्टि से विचार कर सके हैं इसका निरूपण तो हम यथावसर करेंगे। यहाँ पर तो हमारा अभिप्राय यह दिखाने का है कि आचार्य ने बिहारी की

जिन कवियों और ग्रन्थों से तुलना की है उस तुलना में एक व्यवस्था है। भाव, विषय और शैली की दृष्टि से कुछ साम्य के अभाव में केवल तुलना की धुन में आकर तुलना नहीं कर दी गई है। मिश्रबन्धुओं ने देव की साहित्यिक परम्परा का ध्यान नहीं रखा था। देव जिस शृङ्गार-प्रधान मुक्तक शैली को लेकर साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए थे उसको ध्यान में रखकर उसी शैली के अन्य कवियों से उसकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन समीचीन था। जायसी, तुलसी, कबीर आदि की तुलना से हिन्दी-साहित्य का कोई उपकार होने वाला नहीं था। आचार्य पद्मसिंह ने अपने इस तुलनात्मक अध्ययन में इन अव्यवस्थाओं को स्थान नहीं दिया है, नामसाम्य के कारण 'दुर्गा सप्तशती' से 'बिहारी सतसई' की तुलना करने वे नहीं बैठे हैं। हिन्दी के भी जिन अन्य कवियों की रचनाओं की तुलना बिहारी के दोहों से की गई है, उसमें भी आचार्य ने इस बात का पूरा ध्यान रखा है।

आचार्य ने मौलिकता के सम्बन्ध में फैली हुई भ्रान्ति का निवारण किया है। आचार्य का मत है कि एकदम नवीन वस्तु के उत्पादन में ही मौलिकता नहीं है। चिर-परिचित और कवि-परम्परा से प्राप्त तथ्य को उक्ति-वैचित्र्य के साथ रख देना भी मौलिकता है; अगर नूतन भाव और वस्तु की कल्पना ही को मौलिकता माना जाय तब तो शायद ही कोई कवि पूर्णतः मौलिक कहा जा सकता है। कवि-कुल-गुरु कालिदास तक अपने पूर्ववर्ती कवियों के ऋणी हैं। आचार्य 'छायामय हरति कविः' को स्वीकार करते हैं।[१] लेखक ने अपने मत की पुष्टि और स्पष्टीकरण के लिए प्राचीन आचार्यों के मत भी उद्धृत किये हैं। आनन्दवर्द्धनाचार्य ने कवियों की मौलिकता का स्पष्टीकरण मधुमास की प्रकृति के नवीन रूप के रूपक से किया है।[२] इसी रूपक का आश्रय लेकर आचार्य ने भी अपने मत का निरूपण किया है। उन्होंने इस रूपक के विभिन्न अङ्गों की कल्पना की है, वृक्ष के रस, फल, पुष्प आदि को काव्य के रस, ध्वनि, अलङ्कार आदि से समता करके इसको सर्वाङ्गीण रूपक कर दिया।[३] किसी भी कवि का अन्य कवियों के सादृश्य से बचे रहना नितान्त असंभव है। राजशेखर और आनन्दवर्द्धनाचार्य ने मौलिकता नवीन वस्तु की कल्पना में नहीं अपितु केवल भावों के चमत्कार,

---

१. 'बिहारी की सतसई' पृष्ठ २६।
२. वही, लेखक पद्मसिंह शर्मा पृष्ठ २६।
३. वही, पृष्ठ २८–२६।

में ही मानी है। राजशेखर ने तो यहाँ तक कह दिया है कि वणिक और कवि चोरी करे बिना नहीं रह सकते।[1] कभी-कभी एक भाव दो कवियों को स्वतन्त्र रूप से सूझ जाता है। यह सादृश्य केवल आकस्मिक है। ऐसी अवस्था में इनमें से किसी भी कवि पर मौलिकता के अभाव अथवा अन्य कवियों के भावों के अपहरण का दोष लगाना अन्याय है।[2] इस विवेचन से लेखक के काव्य तथा वर्ण्य विषय के प्रकृति-सम्बन्धी ज्ञान का पता चलता है। संस्कृत के गम्भीर ज्ञान का परिचय तो इनकी आलोचना की एक प्रधान विशेषता ही है।

आचार्य ने महाकवि पद के अधिकारी होने के लिए बहुत लम्बे-चौड़े पोथे की रचना आवश्यक नहीं समझी। इस पर भी उन्होंने संस्कृत के प्राचीन आचार्यों के प्रमाण दिये हैं। "जिन कवियों में सरस और प्रतीयमान अर्थपूर्ण कविता करने की क्षमता हो, वही महाकवि है।" 'प्रतीयमान अर्थ' से लेखक सब प्रकार के शब्द और अर्थ के चमत्कारों और उक्ति-वैचित्र्य का ग्रहण कर रहा है। बिहारी को उनकी सरस एवं केवल चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ दोनों ही स्वतन्त्र रूप से महाकवि के पद पर विभूषित कर देने में समर्थ हैं। आचार्य जी के इस दृष्टिकोण का आधार भी 'ध्वन्यालोक' की एक कारिका है। इस कारिका तथा उसकी लोचन टीका को उद्धृत किया गया है।[3] आनन्दवर्द्धना-

---

१. दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रस परिग्रहात्।
सर्वे नव इवा भान्ति मधुमासे इव द्रुमाः॥

पद्मसिंह शर्मा 'बिहारी की सतसई' पृष्ठ २७॥

२. कवि भी प्रकृति-वाटिका का विकासक वसन्त है। वह प्रकृति के उन्हीं नीरस रूखे-सूखे ठूँठ रूखों में अपनी प्रतिभा-शक्ति से अलौकिक रस का संचार करके कुछ-से-कुछ कर दिखाता है। कवि वसन्त किसी पुरानी कविता-द्रुम में रस-ध्वनि के मधुर फल, किसी में अलंकार-ध्वनि के मनोहर पुष्प, और किसी में वस्तु-ध्वनि के सुन्दर रूप-रंग का समावेश करके सूखते हुए और निर्जीव को सजीव बना देता है। किसी को शब्द-शक्ति के और किसी को अर्थ-शक्ति के सहारे ऊपर उठा देता है। किसी को अर्थालंकार के वैचित्र्य से आँखों में खुबने और चित्त में चुभने वाला कर दिखाता है।

वही, पृष्ठ २७।

३. प्रतीयमानानुप्राणित काव्यनिर्माण निपुण प्रतिभा भाजनत्वं नैव महाकवि व्यपदेशो भवतीति भावः।(ध्वन्यालोक की पंचम कारिका की लोचन टीका)

वही, पृष्ठ २१।

चार्य ने महाकवियों की उक्ति में अभिधेयार्थ के अतिरिक्त प्रतीयमानार्थ की आवश्यकता मानी है। उन्हींके व्याख्याता अभिनव गुप्त ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए प्रतीयमानार्थ के नियोजन की क्षमता रखने वाले कवि को महाकवि कह दिया है। यहाँ पर इन आचार्यों का अभिप्राय इसमें नहीं है कि मुक्तक रचना करनेवाला भी महाकवि हो सकता है। इन दोनों आचार्यों ने तो काव्यमें ध्वनि और रस की प्रधानता का प्रतिपादन भर किया है। उसका तात्पर्य तो केवल इतने से ही प्रतीत होता है कि केवल शास्त्रीय नियमों के निर्वाह-मात्र से महाकवि पद का अधिकारी नहीं हो सकता। उसे अपने काव्य में 'प्रतीयमानार्थ' को, जो इन दोनों आचार्यों की दृष्टि से काव्य की आत्मा है, प्रतिष्ठा करने की भी नितान्त आवश्यकता है। ध्वनिकार और अभिनव गुप्त ने महाकवि होने के लिए प्रबन्ध-काव्य की रचना आवश्यक नहीं मानी है। पर यह तो कवित्व-शक्ति का सामान्य परिचय है। इसलिए यह भी नहीं कहा जा सकता कि उनको यह भेद मान्य नहीं। यह भी हो सकता है कि ऐसा भेद परवर्ती-काल में अधिक मान्य रहा हो और यही परम्परा हिन्दी में मान्य हो गई हो। पर इस रूढ़िवादिता का खंडन समयानुकूल ही था। आचार्य पद्मसिंह की इस धारणा के पीछे युग की धारणा है। कुछ दिन पूर्व चाहे उसे सूर को भी महा-कवि कहने में हिचकिचाहट का अनुभव होता रहा हो। पर पन्त, निराला आदि को महाकवि पद से अलंकृत करने के मोह का संवरण आज का आलोचक नहीं कर पा रहा है। संस्कृत के कुछ आचार्यों ने चाहे महाकवि शब्द को कुछ नियमों में जकड़ दिया हो, पर जन-साधारण तथा कतिपय प्रगति-प्रिय आचार्यों को यह कैद कभी स्वीकृत नहीं रही है। अपने प्रिय कवियों को महाकवि कहने के अधिकार को उन्होंने कभी नहीं छोड़ा। 'गीत गोविन्द', 'अमरु शतक', 'आर्या-सप्तशती', 'गाथा सप्तशती'-जैसी रचनाओं के प्रणेता प्रबन्धकार न होते हुए भी महाकवि माने जाते रहे होंगे। रीति-काल में यह भेद व्यवहार में स्वीकृत नहीं हुआ है। आधुनिक युग भी इस भेद को मानकर नहीं चल सकता है। इस प्रकार आचार्य पद्मसिंह जी की यह धारणा युग की प्रेरणा का प्रतिनिधित्व करने वाली है। इतना ही नहीं बिहारी तथा अन्य मुक्तक काव्य के रचयिताओं का सम्यक् अध्ययन और महत्त्व-दर्शन के लिए ऐसी धारणा नितान्त आवश्यक भी थी। मुक्तक और प्रबन्ध के आधार पर फैली हुई इस भ्रान्त धारणा का निवारण करके आचार्य ने आलोचक रूप की महत्ता का परिचय दिया है।

हिन्दी का आधुनिक साहित्य बहुत-कुछ रीतिकालीन काव्य-परम्पराओं की प्रतिक्रियाओं का परिणाम है। रीति-काल में शृंगार-रस के चित्रण की नग्नता

और अतिशयता के प्रति आज के समाज में एक तीव्र अरुचि जागृत हो गई थी। लोग उसकी कविता को अश्लील कहकर उससे नाक-भौं सिकोड़ने लगे थे। बिहारी की कविता के सम्बन्ध में आलोचकों की जो धारणा बन गई थी, उनके काव्य-सौष्ठव का मूल्य इन आलोचकों की दृष्टि में कम हो गया था; इसका एक कारण अभिसार, रति आदि के वर्णन को अश्लील मानना भी था। बिहारी की कविता के वास्तविक महत्त्व को समझने के लिए शृंगार-सम्बन्धी इस भ्रान्त धारणा का निवारण करना भी बहुत आवश्यक था। इसी उद्देश्य से आचार्य ने शृंगार-रस के महत्त्व का भी प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि इस विश्व में शृंगार-सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध होती है और कवि उसकी ओर से आँख बन्द नहीं कर सकता है। इस तथाकथित अश्लीलता का वर्णन वेदों तक में मिलता है। इस सम्बन्ध में पंडितजी ने राजशेखर को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है।[1] शर्माजी को परकीयादि के चित्रण अश्लील तो प्रतीत होते हैं पर कवि का उद्देश्य पाठक को ऐसे वर्णनों द्वारा नीति-भ्रष्ट करना न होकर यदि इन धूर्त लीलाओं से उन्हें परिचित कराके सभ्य समाज की इन दुर्गुणों से रक्षा करना हो तो वे उसे भी श्लील मानते हैं। शर्मा जी ने अपने इस मत की पुष्टि के लिए भी रुद्रट के काव्यालंकार के मत का आश्रय लिया है।[2]

बिहारी के काव्य-सौष्ठव के सम्बन्ध में मिश्रबन्धुओं की आलोचना ने कतिपय भ्रान्त धारणाओं को प्रोत्साहन दे दिया था। ऐसी धारणाओं का उच्छेदन करना किसी भी सच्चे समालोचक का कार्य था। बिहारी के मान, गौरव, प्रतिष्ठा और यश की दृष्टि से ही नहीं अपितु साहित्य-जगत् की अमूल्य निधि के संरक्षण तथा सहृदय पाठकों को बिहारी के कला-सौन्दर्य से परिचित कराकर शर्माजी ने आलोचना-क्षेत्र का एक महान् कार्य किया है। कतिपय कटु, पक्षपात और असहृदयतापूर्ण आलोचनाओं के घटाटोप को हटाने के लिए तीव्र पवन वेग की आवश्यकता थी और इसकी पूर्ति आचार्य ने कर दी है। उनके इस प्रयास से बिहारी के चन्द्र का पुनः सहृदयों को सुधा-पान का अवसर प्राप्त हो गया था। इस कार्य के लिए साहित्य की कतिपय सामान्य भ्रान्त धारणाओं का उन्मूलन भी बहुत आवश्यक था, इसीलिए मौलिकता, महाकवि और शृंगार रस की उपादेयता के सम्बन्ध में विशद और बहुत-कुछ प्रगतिवादी दृष्टिकोण अपनाने के लिए शर्माजी बाध्य हुए थे।

---

१. 'बिहारी सतसई', पृष्ठ ६।
२. वही, पृष्ठ ७।

चार्य ने महाकवियों की उक्ति में अभिधेयार्थ के अतिरिक्त प्रतीयमानार्थ की आवश्यकता मानी है। उन्हींके व्याख्याता अभिनव गुप्त ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए प्रतीयमानार्थ के नियोजन की क्षमता रखने वाले कवि को महाकवि कह दिया है। यहां पर इन आचार्यों का अभिप्राय इसमें नहीं है कि मुक्तक रचना करनेवाला भी महाकवि हो सकता है। इन दोनों आचार्यों ने तो काव्यमें ध्वनि और रस की प्रधानता का प्रतिपादन भर किया है। उसका तात्पर्य तो केवल इतने से ही प्रतीत होता है कि केवल शास्त्रीय नियमों के निर्वाह-मात्र से महाकवि पद का अधिकारी नहीं हो सकता। उसे अपने काव्य में 'प्रतीयमानार्थ' की, जो इन दोनों आचार्यों की दृष्टि से काव्य की आत्मा है, प्रतिष्ठा करने की भी नितान्त आवश्यकता है। ध्वनिकार और अभिनव गुप्त ने महाकवि होने के लिए प्रबन्ध-काव्य की रचना आवश्यक नहीं मानी है। पर यह तो कवित्व-शक्ति का सामान्य परिचय है। इसलिए यह भी नहीं कहा जा सकता कि उनको यह भेद मान्य नहीं। यह भी हो सकता है कि ऐसा भेद परवर्ती-काल में अधिक मान्य रहा हो और यही परम्परा हिन्दी में मान्य हो गई हो। पर इस रूढ़िवादिता का खंडन समयानुकूल ही था। आचार्य पद्मसिंह की इस धारणा के पीछे युग की धारणा है। कुछ दिन पूर्व चाहे उसे सूर को भी महा-कवि कहने में हिचकिचाहट का अनुभव होता रहा हो। पर पन्त, निराला आदि को महाकवि पद से अलंकृत करने के मोह का संवरण आज का आलोचक नहीं कर पा रहा है। संस्कृत के कुछ आचार्यों ने चाहे महाकवि शब्द को कुछ नियमों में जकड़ दिया हो, पर जन-साधारण तथा कतिपय प्रगति-प्रिय आचार्यों को यह कैद कभी स्वीकृत नहीं रही है। अपने प्रिय कवियों को महाकवि कहने के अधिकार को उन्होंने कभी नहीं छोड़ा। 'गीत गोविन्द', 'अमरु शतक', 'आर्या-सप्तशती', 'गाथा सप्तशती'-जैसी रचनाओं के प्रणेता प्रबन्धकार न होते हुए भी महाकवि माने जाते रहे होंगे। रीति-काल में यह भेद व्यवहार में स्वीकृत नहीं हुआ है। आधुनिक युग भी इस भेद को मानकर नहीं चल सकता है। इस प्रकार आचार्य पद्मसिंह जी की यह धारणा युग की प्रेरणा का प्रतिनिधित्व करने वाली है। इतना ही नहीं बिहारी तथा अन्य मुक्तक काव्य के रचयिताओं का सम्यक् अध्ययन और महत्त्व-दर्शन के लिए ऐसी धारणा नितान्त आवश्यक भी थी। मुक्तक और प्रबन्ध के आधार पर फैली हुई इस भ्रान्त धारणा का निवारण करके आचार्य ने आलोचक रूप की महत्ता का परिचय दिया है।

हिन्दी का आधुनिक साहित्य बहुत-कुछ रीतिकालीन काव्य-परम्पराओं की प्रतिक्रियाओं का परिणाम है। रीति-काल में शृंगार-रस के चित्रण की नग्नता

और अतिशयता के प्रति आज के समाज में एक तीव्र अरुचि जागृत हो गई थी। लोग उसकी कविता को अश्लील कहकर उससे नाक-भौं सिकोड़ने लगे थे। बिहारी की कविता के सम्बन्ध में आलोचकों की जो धारणा बन गई थी, उनके काव्य-सौष्ठव का मूल्य इन आलोचकों की दृष्टि में कम हो गया था; इसका एक कारण अभिसार, रति आदि के वर्णन को अश्लील मानना भी था। बिहारी की कविता के वास्तविक महत्त्व को समझने के लिए शृंगार-सम्बन्धी इस भ्रान्त धारणा का निवारण करना भी बहुत आवश्यक था। इसी उद्देश्य से आचार्य ने शृंगार-रस के महत्त्व का भी प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि इस विश्व में शृंगार-सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध होती है और कवि उसकी ओर से आंख बन्द नहीं कर सकता है। इस तथाकथित अश्लीलता का वर्णन वेदों तक में मिलता है। इस सम्बन्ध में पंडितजी ने राजशेखर को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है।[1] शर्माजी को परकीयादि के चित्रण अश्लील तो प्रतीत होते हैं पर कवि का उद्देश्य पाठक को ऐसे वर्णनों द्वारा नीति-भ्रष्ट करना न होकर यदि इन धूर्त लीलाओं से उन्हें परिचित कराके सभ्य समाज की इन दुर्गुणों से रक्षा करना हो तो वे उसे भी श्लील मानते हैं। शर्मा जी ने अपने इस मत की पुष्टि के लिए भी रुद्रट के काव्यालंकार के मत का आश्रय लिया है।[2]

बिहारी के काव्य-सौष्ठव के सम्बन्ध में मिश्रबन्धुओं की आलोचना ने कतिपय भ्रान्त धारणाओं को प्रोत्साहन दे दिया था। ऐसी धारणाओं का उच्छेदन करना किसी भी सच्चे समालोचक का कार्य था। बिहारी के मान, गौरव, प्रतिष्ठा और यश की दृष्टि से ही नहीं अपितु साहित्य-जगत् की अमूल्य निधि के संरक्षण तथा सहृदय पाठकों को बिहारी के कला-सौन्दर्य से परिचित कराकर शर्माजी ने आलोचना-क्षेत्र का एक महान् कार्य किया है। कतिपय कटु, पक्षपात और असहृदयतापूर्ण आलोचनाओं के घटाटोप को हटाने के लिए तीव्र पवन वेग की आवश्यकता थी और इसकी पूर्ति आचार्य ने कर दी है। उनके इस प्रयास से बिहारी के चन्द्र का पुनः सहृदयों को सुधा-पान का अवसर प्राप्त हो गया था। इस कार्य के लिए साहित्य की कतिपय सामान्य भ्रान्त धारणाओं का उन्मूलन भी बहुत आवश्यक था, इसीलिए मौलिकता, महाकवि और शृंगार रस की उपादेयता के सम्बन्ध में विशद और बहुत-कुछ प्रगतिवादी दृष्टिकोण अपनाने के लिए शर्माजी बाध्य हुए थे।

---

१. 'बिहारी सतसई', पृष्ठ ६।

२. वही, पृष्ठ ७।

जैसा कि ऊपर निर्देश हो चुका है, शर्माजी को तुलनात्मक समालोचना की एक शास्त्रीय पद्धति को जन्म देने का श्रेय है। मौलिकता के वास्तविक अर्थ के स्पष्टीकरण के अनन्तर दो कवियों के विभिन्न स्वरूपों का शास्त्रीय आधार पर विभाग करना अपेक्षित था। कवियों के भाव-साम्य के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने के बाद हमारे प्राचीन आचार्य का उसके स्वरूप, भेद, उपभेद आदि का शास्त्रीय निरूपण न करना और पंडित जी-जैसे प्रकांड विद्वान् का उस विश्लेषण से अपरिचित रह जाना कभी संभव ही नहीं था। पंडित जी ने यहाँ पर भी अपना उपजीव्य प्राचीन अलंकार-शास्त्र को ही बनाया है। आनन्द-वर्द्धनाचार्य ने अर्थापहरण के तीन भेदों की कल्पना की है—१. प्रतिबिम्बित २. आलेख्यवत् ३. तुल्यदेहिवत्। राजशेखर ने इनमें 'परपुरप्रवेशप्रतिम्' नामक एक और भेद बढ़ा दिया है। इन भेदों की उपादेयता और हेयता पर भी विचार हुआ है। शर्माजी ने बिहारी के दोहों से 'गाथा-सप्तशती' आदि के छन्दों से तुलना करते समय इन भेदों का उल्लेख किया है। बिहारी का दोहा 'मैं मिसहा सोचा समुझि मुँह चूम्यो ढिग जाय' अमरुक के प्रसिद्ध श्लोक 'शून्यं वासगृहे विलोक्य' का तुल्यदेहितुल्य है।[1]

पंडित जी का उद्देश्य बिहारी की अन्य कवियों से श्रेष्ठता प्रतिपादित करना है। हिन्दी के अन्य कवियों से बिहारी भाव-सौन्दर्य में कहीं अधिक बढ़े हुए हैं, इसमें तो लेखक को कहीं संदेह ही नहीं है। उन्होंने संस्कृत-कवियों से भी बिहारी को बढ़ा-चढ़ा ही बताया है। पंडित जी ने बिहारी और संस्कृत-कवियों के सम्बन्ध को उपमान और उपमेय का सम्बन्ध बताया है।[2] उनका कहना है कि संस्कृत के इन महाकवियों से बिहारी का भाव साम्य ही उसके काव्योत्कर्ष का परिचायक है। ऊपर जिस उपमेयोपमान के सम्बन्ध का निर्देश हुआ है, उससे संस्कृत के कवियों में बिहारी से कहीं अधिक सौन्दर्य है और अधिक सुन्दर वस्तु से साम्य का निरूपण करने का उद्देश्य बिहारी के भाव-सौन्दर्य की अतिशयता प्रकट करने का ही है। वस्तुतः पंडितजी को 'व्यतिरेक' सम्बन्ध ही अभीप्सित है। इसमें 'मतिभ्रम'हो सकता है, पर पक्षपात नहीं।[3] संभव है कि यह पक्षपातपूर्ण न हो, पर उन्हें यह मतिभ्रम-मूलक भी नहीं प्रतीत होता है। बिहारी के श्रेष्ठत्व को वे हृदय से अनुभव

---

१. 'बिहारी सतसई', पृष्ठ ६३।
२. वही, पृष्ठ २७३।
३. वही, पृष्ठ २७३।

करते हुए प्रतीत होते हैं। व्यतिरेक में उपमान का अपकर्ष भी कल्पित होता है और उसका उद्देश्य केवल उपमेय के सौन्दर्य की अतिशयता का प्रतिपादन-मात्र रहता है। पर संस्कृत-कवियों की दीनता तो पंडितजी अनुभव करते हुए प्रतीत होते हैं। उन्होंने कहीं भी संस्कृत-कवियों में विहारी से उत्कृष्टता नहीं देखी है। इस सारे ग्रन्थ में उन्होंने जितने भी साम्य के उदाहरण दिये हैं उन सभीमें विहारी की श्रेष्ठता ही प्रतिपादित हुई है। इतना ही नहीं, दोहा छन्द के निर्वाचन ने तो पंडितजी की धारणा में विहारी को और भी ऊँचे स्थान पर बैठा दिया है। उनका कहना है कि भाव-गंगा शिव-जटा की तरह विहारी के दोहों में तो समाई रहती है, पर उससे निकलने के उपरान्त उसके प्रवाह को एक स्थान पर रोके रख देने की क्षमता किसी में भी नहीं है। शिव-जटा के साथ विहारी के दोहों[1] की तुलना का यही अभिप्राय है। विहारी की श्रेष्ठता का प्रतिपादन इस आलोचना का प्रधान उद्देश्य होने के कारण इसको हम निर्णयात्मक आलोचना मानते हैं। यही इस आलोचना की मुख्य भित्ति है। आलोचना की अन्य पद्धतियों का उपयोग हुआ है, पर उन सबका उद्देश्य भी निर्णय ही है।

रीति-काल में काव्य की मूल प्रेरणा शब्द-चमत्कार, उक्ति-वैचित्र्य और कल्पना की सजीवता थी। वैसे रीतिकालीन आचार्यों ने प्रायः सभी काव्यांगों का निरूपण किया है और संस्कृत-आचार्यों द्वारा मान्य मतों का समर्थन करते हुए रस को ही काव्य की आत्मा भी कहा है, पर रस, भाव, जीवन-दर्शन आदि युग की प्रेरणा नहीं थे। कवि लोग रसोक्ति और स्वभावोक्ति को केवल काव्य-परम्परा से बाध्य होकर ही काव्य कहते थे। वस्तुतः उनके हृदय अतिशयोक्ति की श्रेष्ठता को मुक्तकण्ठ से स्वीकार कर चुके थे। कवि के समक्ष यही आदर्श था। सहृदय समाज में इन वक्रोक्तिपूर्ण कविताओं का ही आदर था। विहारी के आदर का भी मूल कारण यही है। रीतिकालीन काव्य-धारणा का आदर्श रूप विहारी में उपलब्ध होता है। उनके समान उक्ति-वैचित्र्य, ऊहोक्तिपूर्ण कल्पना और विशेषतः इन्हींसे पुष्ट भाव-सौंदर्य अन्यत्र दुर्लभ है। ये ही विहारी की श्रेष्ठता के कारण हैं। विहारी के आलोचक पंडित पद्मसिंह जी ने भी युग की इस सामान्य विशेषता की अवहेलना नहीं की है। वे एक युग के मानदण्डों के आधार पर अन्य युगों की कला-कृतियों की आलोचना के पक्ष में नहीं थे। यही कारण है कि उन्होंने स्वभावोक्ति के मानदण्ड से विहारी

---

१. 'विहारी सतसई', पृष्ठ ३१-३२।

के काव्य की आलोचना करना अनुपयुक्त समझा है।[1] पण्डितजी आचार्य भामह के शब्दों में अपने मानदण्ड का स्पष्टीकरण कर रहे हैं। वे सब अलंकारों के प्राण अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति को ही मानते हैं। उन्होंने भामह के इस मत का प्रतिपादन करने वाला प्रसिद्ध श्लोक भी उद्धृत किया है।[2] अपनी काव्य-धारणा का उन्होंने केवल सैद्धान्तिक निरूपण ही नहीं किया है, परन्तु व्यवहार में इसका पूरा निर्वाह भी किया है। बिहारी की अन्य कवियों से श्रेष्ठता स्थापित करते समय उनकी दृष्टि में काव्य का यही स्वरूप है। उन्होंने बिहारी के जिन दोहों की विशद व्याख्या की है, वे सभी किसी-न-किसी प्रकार के चमत्कार से अनुप्राणित हैं। आलोचक जिस पदावली का प्रयोग अपने आलोच्य की प्रशंसा में करते हैं, उससे भी उनका यह दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट है। 'मजमून छीन लिया' आदि वाक्यों का यही अभिप्राय है।

बिहारी के काव्य-सौष्ठव का प्रतिपादन करने के लिए लेखक ने आलोच्य कवि के इन दोहों को चुना है और भाव तथा वर्ण्य विषय की दृष्टि से साम्य रखने वाले 'गाथा सप्तशती', 'आर्या सप्तशती', 'विकटनितम्बा' आदि के मुक्तक छन्दों से उनकी तुलना की है। कवि अपने उद्देश्य में कितना सफल हुआ है। उसी भाव तथा वस्तु को सहृदय पाठकों के समक्ष उपस्थित करने

---

१. आजकल सम्भ्रान्त शिक्षित समाज कोरी स्वभावोक्ति पर फ़िदा है। अन्य अलंकारों की सत्ता इसकी परिष्कृत रुचि की आँखों में काँटा-सी खटकती है, और विशेषकर अतिशयोक्ति से तो उसे कुछ चिढ़-सी है। प्राचीन साहित्य-विधाताओं के मत में जो चीज कविता-कामिनी के लिए नितान्त उपादेय थी, वही इसके मत में सर्वथा हेय है। यह भी एक रुचि-वैचित्र्य का दौरात्म्य है। जो कुछ भी हो, प्राचीन काव्य वर्तमान 'परिष्कृत सुरुचि' के आदर्श पर नहीं रचे गए। उन्हें इस नये गज से नापना चाहिए, प्राचीनता की दृष्टि से परखने पर ही उनकी खूबी समझ में आ सकती है। 'सतसई' भी एक ऐसा ही काव्य है, बिहारी उस प्राचीन मत के अनुयायी थे जिसमें अतिशयोक्ति-शून्य अलंकार चमत्कार-रहित माना गया है। उपमा, उत्प्रेक्षा, पर्याय और निदर्शना आदि अलंकार अतिशयोक्ति से अनुप्राणित होकर ही जीवन-लाभ करते हैं अतिशयोक्ति ही उन्हें जिला-कर चमकाती है, मनमोहक बनाती है, उनमें चारुता लाती है, यह न हो तो वे कुछ भी ·······।

२. 'बिहारी सतसई', पृष्ठ २१७-२१८।

में बिहारी ने क्या विशेषता ला दी है ? उसमें अभिव्यंजना का कौन-सा सौंदर्य है, शब्द-प्रयोग का क्या चमत्कार और बारीकी है, कल्पना की क्या सजीवता है, जिनके कारण उनकी रचना अपने पूर्ववर्ती तथा समकालीन कवियों की रचनाओं से इतनी बढ़ गई है ? बिहारी के काव्य-सौष्ठव का प्रतिपादन लेखक ने इन्हीं प्रश्नों का उत्तर देते हुए किया है। इस प्रकार पंडितजी के लिए सहृदयता ही आलोचना का एक-मात्र मानदण्ड है। अभिव्यंजना की सूक्ष्म बातों और कल्पना की बारीकी पर ध्यान जाने के लिए साधारण प्रतिभा और सहृदयता से काम नहीं चल पाता है। फिर पंडितजी के समक्ष प्राचीन लब्धप्रतिष्ठ ग्रन्थों के वे उत्कृष्ट छन्द थे जिनके काव्य-सौंदर्य की उत्कृष्टता के प्रमाण-पत्र संस्कृत के आनन्दवर्द्धनाचार्य, मम्मट आदि आचार्यों द्वारा मिल चुके थे। अनेक छन्द आज से कई शताब्दी पूर्व ही उत्तम-काव्य के उदाहरण घोषित हो गए थे। इनके छन्दों की श्रेष्ठता की गहरी छाप सहृदय समाज पर लग गई थी। सहृदय-समाज चिर काल से इन छन्दों को भाव-विभोर होकर गुनगुनाता और इनका रसास्वाद लेता चला आ रहा था। ऐसे छन्दों की तुलना में भाषा के दोहों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कर देना कोई साधारण कार्य नहीं है। इस कार्य में असाधारण पांडित्य के अतिरिक्त उच्च-कोटि की सहृदयता भी अपेक्षित है। छन्द के भाव-सौंदर्य, उसके अन्तः स्तल में प्रवाहित रस-धारा वर्ण्य-विषय तथा भाव के अनुरूप शैली शब्दार्थ के विलक्षण चमत्कार और अर्थ-गाम्भीर्य का साक्षात्कार करने वाला आलोचक ही इस सूक्ष्म अन्तर को समझ सकता है। शर्मा जी में हमें ऐसी ही प्रतिभा और सहृदयता के दर्शन होते हैं। पण्डित जी इस सूक्ष्म अन्तर को स्पष्ट अनुभव करते हुए प्रतीत होते हैं। अन्य पाठकों के लिए इसी अन्तर का स्पष्ट कर देना उनकी आलोचना का उद्देश्य है। इस प्रकार सहृदयता ही उनकी आलोचना का प्रधान मानदण्ड है। पण्डितजी के आलोचक स्वरूप को अमरीका के प्रसिद्ध आलोचक जे० ई० स्पिनगार्न के शब्दों में स्पष्ट किया जा सकता है। वे प्रभाववादी आलोचक के कार्य को बतलाते हुए कहते हैं :"To have sensations in the presence of a work of art and to excpress them, that is the function of criticism for the impressionist critic."

पंडितजी ने अपनी आलोच्य रचनाओं के सौंदर्य से आनन्द-विभोर होकर उनकी प्रशंसा करने लगते हैं। 'वाह उस्ताद क्या कहने हैं', 'कितना माधुर्य है' आदि वाक्य उनकी आनन्दानुभूति को स्पष्ट कर रहे हैं। इस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग उनकी आलोचना में सर्वत्र ही मिलता है। ये वाक्य निर्णयात्मक

और केवल दाद देने वाले-से प्रतीत होते हैं। प्रायः आलोचक इस प्रकार की आलोचना को इतना महत्त्व नहीं देते। वे इसे केवल दाद देने वाली कह देते हैं। पर प्रभाववादी समालोचक का आनन्द इस प्रकार के शब्दों में प्रकट हुए बिना रहता नहीं है। उसका आनन्द ही निर्णय बन जाता है। और यही पण्डित जी में हुआ है।

"To read it is for me to experience a thrill of pleasure. My delight in It is it self a judgment, what be there judgment is it possible for me to give. All that I Can do is to tell how it a ffects me, what sensations it gives me."

इन शब्दों में पण्डित जी की आलोचना की मूल प्रकृति की व्याख्या हुई है। अगर लेखक ने तुलनात्मक प्रणाली को न अपनाया होता तो उसे बिहारी के काव्य-सौष्ठव का विशद विश्लेषण करने का अवसर प्राप्त होता। उसकी आलोचना इस प्रकार की प्रभाववादी आलोचना का अच्छा उत्कृष्ट उदाहरण बन जाती है। मिश्रबन्धुओं की आलोचना का निर्णय-तत्त्व तो शास्त्रीय विशेषताओं की जड़ता का आधार लिये हुए हैं। वहां पर सहृदयता की सजीवता के दर्शन नहीं होते हैं। पर पंडित जी ने बिहारी की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते समय कवियों को अपनी सहृदयता की कसौटी पर कसा है। जिस कवि ने उनको अधिक आनन्द-विभोर कर दिया उसीको उन्होंने श्रेष्ठ माना है। यही उनकी आलोचना को निर्णायक स्वरूप प्रदान कर रहा है। पर इतने पर भी उनकी आलोचना का प्रभाववादी स्वरूप स्पष्ट है।

कवि अपने उद्देश्य में कितना सफल हुआ है उसकी अभिव्यंजना में क्या सौंदर्य है, इन प्रश्नों को ध्यान में रखते हुए लेखक ने आलोच्य रचना के सम्बन्ध में केवल अपना ही निर्णय नहीं दिया है। उसने इन विशेषताओं का ऐसा विश्लेषण किया है कि सहृदय पाठक स्वयं भी उनका महत्त्व समझ सके। लेखक का उद्देश्य महत्त्व-निर्णय की अपेक्षा पाठक में काव्य-सौष्ठव की अनुभूति जागृत करना अधिक है। "नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल" इस दोहे के द्वारा कवि अपने आश्रयदाता को उपदेश देना चाहता है। यह उसकी हित-चिंता की दृष्टि से लिखा गया है। इस कार्य को मार्मिकता, भाव-सौन्दर्य और चमत्कारपूर्ण शैली में सम्पन्न करना ही कवि की सफलता है। 'गाथा सप्तशती', 'आर्या सप्तशती' आदि के उदाहरणों की अपेक्षा यह दोहा अपने कार्य में अधिक सफल हुआ है। इस सौष्ठव का चित्रण जिन शब्दों में किया गया है उनसे सहृदय में अनुभूति जागृत करने की क्षमता है। "इन सबकी अपेक्षा भौंरे के लिए बिहारी की हित-चिन्ता बहुत ही गम्भीर, मधुर और हृदयस्पर्शी है। न इसमें तटस्थता

की झलक है, न रस-पान का प्रभावोपदेश है। न एक अधखिली कली को छोड़कर किसी क्यारियों में फूले देखने की दृष्टि है। वाह !"

× × ×

"विद्यासागर मित्र के भावी अनर्थ की चिन्ता में व्याकुल सुहृज्जन की विलोकित का क्या ही सुन्दर चित्र है। कहने वाले की एकान्तहितैषिता परिणामदर्शिता, विद्यासागर मित्र के उद्धार की गंभीर चिन्ता के भाव इससे अच्छे ढङ्ग पर किसी प्रकार प्रकट नहीं किये जा सकते।"[1] इन पंक्तियों में साहित्यिक सौन्दर्य का विश्लेषण प्रभावाभिव्यंजक और निर्णयात्मक दोनों प्रकारों से हुआ है। इन दोनों का सामंजस्य शर्माजी की समालोचना की प्रमुख विशेषता है। पण्डितजी ने अनेक स्थानों पर अपनी उत्कृष्ट सहृदयता का बड़ा अच्छा परिचय दिया है। उनके विवेचन में भी बहुत बारीकी है। 'गाथा सप्तशती' की एक गाथा में नायिका का प्रवासी पति आकर फिर विदेश जाने की सोच रहा है। इसी प्रसंग में कवि ने संयोग-काल की अल्पता प्रदर्शित करने के लिए नायिका की वेणी की 'कुरूकुट' के अभी सीधे न होने का वर्णन किया है। लेकिन बिहारी ने इसी प्रसंग में नायिका के स्वाभाविक रंग के वापिस न आने का वर्णन किया है।[2] इस व्यापार के चुनाव में अधिक कलात्मकता है। शरीर और मुख के रंग का स्वाभाविक होना अत्यन्त दर्शनीय और अल्पकाल की क्रिया है। "गई हुई कान्ति का मुख पर फिर से आ जाना तो प्रिय-दर्शन का तात्कालिक प्रभाव है।" पण्डितजी ने इस दोहे की प्रशंसा करके प्रौढ़ सहृदयता का परिचय दिया है।[3] पण्डितजी ने भाव और कल्पना के औचित्य का ही निरूपण नहीं किया है अपितु उन्होंने दो शब्दों अथवा पदावलियों के सौष्ठव के तुलनात्मक अध्ययन में भी सहृदयता का परिचय दिया है। संस्कृत के पदों की अपेक्षा बिहारी द्वारा प्रयुक्त शब्दों में अर्थाभिव्यक्ति की अधिक क्षमता का प्रतिपादन किया गया है।[4] इससे उनके सूक्ष्म विश्लेषण और कवि-हृदय का परिचय

---

१. 'बिहारी सतसई', पृष्ठ ३६-३७।

२. अद्यो दुष्करकारक, पुनरपि चिन्ता करोषि गमनस्य।
अद्यापि न भवन्ति सरला वेण्यास्तरंगिणश्चिकुराः।

× × ×

अजौं न आये सहज रंग, बिरह दूबरे गात।
अब ही कहा चलाइयत, ललन चलन की बात॥

३. 'बिहारी सतसई', पृष्ठ ४०।

४. उसमें पर्याय व्यापारों का बड़ा ही मनोहर शब्द खिंच गया है। फिर दोहे

मिलता है। छोटे-छोटे पदों की बड़ी ही विशद व्याख्या हुई है। विहारी के "सैननि बरजती' की व्याख्या करते हुए पण्डित जी लिखते हैं: "वह 'सैननि बरजति' आँखों के इशारे से निषेध करती है। वह इस प्रपंच प्रसंग में सम्मिलित होते इतना भय खाती है कि शब्दों में मना करते भी डरती है, धीरे-धीरे बोल, यह भी इशारे से समझाती है, सखी द्वारा इस प्रस्तुत प्रसंग में किसी प्रकार सहमत होना तो दूर रहा कण्ठ द्वारा निषेध करते भी उसे संकोच है। धीरे से बोलने का इशारा भी इसलिए नहीं कर रही है कि वह चुपके से सुनना चाहती है किन्तु कदाचित् इसका कारण कि कोई और सुनकर इस बेतुकी बात पर सखी का उपहास न करे।" इन शब्दों से शर्माजी की सहृदयता अत्यन्त स्पष्ट है। एक छोटी-सी पदावली में जो गूढ़ार्थ छिपा हुआ है, उससे दोहा कितना अधिक मर्मस्पर्शी हो जाता है। सहृदय पाठक को उसका सौन्दर्य द्विगुणित प्रतीत होने लगता है। यही शर्माजी की आलोचना की विशेषता है। शर्माजी को इस कार्य में सर्वत्र सफलता मिली है। उनका उद्देश्य अपनी आलोचना द्वारा विहारी के काव्य-सौष्ठव की अनुभूति पाठक को करा देना है। इस प्रकार के वे अपने अनुरूप ही पाठक को भी विहारी का प्रशंसक बना लेते हैं। कार्लाइल के शब्दों में पण्डित जी का आलोचक रूप पाठक को कवि के गूढ़ अभिप्राय के साक्षात्कार द्वारा आनन्दित कर रहा है।

संस्कृत के आचार्यों ने काव्यांगों और काव्य-सौन्दर्य का इतना विशद तथा व्यापक निरूपण किया है कि संस्कृत का प्रभाववादी समालोचक भी अपने पर पड़े हुए प्रभावों को व्यक्त करने के लिए शास्त्रीय पदावली का प्रयोग करने में सुविधा का अनुभव करता है। यही कारण है कि आधुनिक दृष्टिकोण से यह आलोचना भी तन्त्रवादी ही प्रतीत होती है। पण्डितजी की आलोचना का मूल आधार सहृदयता और प्रभावाभिव्यंजकता ही है। पर विहारी के सौष्ठव का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य काव्यांगों का निरूपण भी अनेक स्थानों पर किया है। पण्डितजी ने विहारी के बहुत-से दोहों को ध्वनि-काव्य अथवा उत्तम-काव्य के उदाहरण माना है। 'छनछनाय

की शब्द-स्थापना पर ध्यान दीजिए, कितना गढ़कर दृढ़ता से सन्धि मिलाकर शब्दों को बिठलाया है कि जरा भी कहीं शिथिलता का नाम नहीं, एक मात्रा भी इधर-उधर नहीं हो सकती "हँस्यौ, खिसानी, गर गह्यौ, रही गरै लपटाय" अंगूठी पर नगीने से जड़ दिये हैं। पृष्ठ ६३।

छवि जाय' से वियोग सन्ताप का अधिक व्यंग्य है । इस प्रकार वाच्यातिशयी व्यंग्य होने से यह दोहा ध्वनि-काव्य का उत्तम उदाहरण है ।"[1] 'यह दोहा अप्रस्तुत प्रशंसा या समासोक्तिके रूपमें कवि की कवितापर भी पूर्णतया संघटित होता है,......'व्यतिरेक' और 'भेदकातिशयोक्ति' की हृदयंगम यथार्थता समझ में आ सकती है' ।[2] अनेक स्थानों पर हाव-भाव आदि का भी उल्लेख है ।

पंडितजी ने बिहारी के कतिपय दोहों की आलोचना की है । बिहारी की सामान्य प्रवृत्तियों, वर्ण्य विषय अथवा कवित्व-शक्ति पर कहने का उन्हें बहुत कम अवसर मिला है । एक-आध स्थान पर केवल कुछ वाक्यों में इसका संकेत-भर हो सका है । बिहारी की रचना परिमाण में अल्प होते हुए भी उसका सहृदय-समाज में पर्याप्त आदर हुआ है और आज भी वैसा ही हो रहा है । इससे बिहारी की कवित्व-शक्ति की प्रौढ़ता अत्यन्त स्पष्ट है । इसके कारणों का निर्देश करते हुए पंडित जी कहते हैं : "बिहारी की कविता जितनी चमत्कारिणी और मनोहारिणी है उतनी ही, गहरी गूढ़ और गम्भीर है । उसकी चमत्कृति और मनोहारिता का प्रभाव इससे अधिक और क्या होगा कि समय ने समाज की रुचि बदली, पर वर्तमान समय के सुरुचि-सम्पन्न कविता-प्रेमियों का अनुराग उसपर आज भी वैसा ही बना है । जैसेपहले पुराने खयालके "खूसट" उनपर लट्टू थे आज नई रोशनी के परवाने भी वैसे ही सौ जान से फिदा है ।[3] पंडित जी बिहारी के वर्ण्य विषय तथा उनकी प्रतिपादन-शैली के सौन्दर्य पर भी प्रकाश डालते हैं । वे कहते हैं "बिहारी की शृङ्गारमयी कविता है । यद्यपि इसमें नीति, भक्ति, वैराग्य आदि के दोहों का भी सर्वथा अभाव नहीं है । इस रंग में बिहारी ने जो-कुछ कहा है वह परिमाण में थोड़ा होने पर भी भाव-गाम्भीर्य,लोकोत्तर चमत्कार आदि गुणों में सबसे बढ़ा-चढ़ा है । ऐसे वर्णनों को पढ़कर-सुनकर बड़े-बड़े नीति-धुरन्धर, भक्त-शिरोमणि और वीतराग महात्मा तक झूमते देखे गए हैं, फिर 'बिहारी सतसई' का मुख्य विषय शृङ्गार ही है, उसमें दूसरे रसों की चाशनी मुँह का मजा बदलने के लिए है ।"[4] इन कुछ वाक्यों के अतिरिक्त पंडितजी ने बिहारी की सामान्य प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन नहीं कराया है । वस्तुतः आलोचना के इस स्वरूप का विकास इस

---

१. 'बिहारी सतसई,' पृष्ठ ६२ ।
२. वही पृष्ठ ४२ ।
३. वही पृष्ठ १० ।
४. वही, पृष्ठ १० ।

समय तक हो नहीं पाया था। मिश्रबन्धुओं ने अपनी आलोचना में इस प्रवृत्ति का कुछ थोड़ा-सा आभास दिया था। पर जीवन-चरित के विशद निरूपण के अतिरिक्त कवियों की सामान्य विशेषताओं पर उन्होंने भी बहुत कम लिखा है। हां, कबीर की समालोचना में उन्होंने इस शैली को अवश्य अपनाया है। उसका एक कारण यह भी प्रतीत होता है कि कबीर की कविता का विषय-विभाजन ही कुछ इस प्रकार हुआ है कि उसकी सामान्य प्रवृत्तियों का चित्रण आवश्यक हो गया। अस्तु, अभी तक आलोचना की इस पद्धति का समुचित विकास हुआ ही नहीं था। आचार्य शुक्ल के पूर्व तक इस पद्धति के संश्लिष्ट और प्रौढ़ रूप के दर्शन नहीं होते। शुक्लजी ने भी पंडितजी की आलोचना के इस अभाव की ओर संकेत किया है। दूसरे शृङ्गारी कवियों से अलग करने वाली विहारी की विशेषताओं के अन्वेषण और अन्तःप्रवृत्तियों के उद्घाटन का (जो आधुनिक समालोचना का प्रधान लक्ष्य समझा जाता है) प्रयत्न इसमें नहीं हुआ है।[1] यह अभाव अब तक के सभी समालोचकों में सामान्य रूप से पाया जाता है।

पंडितजी ने संस्कृत-आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट काव्यांगों के आधार पर कहीं-कहीं विहारी के फुटकर छन्दों की आलोचना की है, पर उसमें भी शर्मा जी के हृदय पर पड़े हुए प्रभाव का ही प्राधान्य है। उसमें अनेक स्थानों पर प्रौढ़ साहित्यिकता और सहृदयता का परिचय दिया गया है और पाठक में वैसी अनुभूति जाग्रत करने का प्रयत्न भी हुआ है, पर वे अपना निर्णय पाठकों पर लादने की प्रवृत्ति भी दबा नहीं सके हैं। इस प्रवृत्ति के कारण सारी आलोचना मुशायरे में दाद देने वाली-सी हो गई है। इसमें उन्हें अनेक स्थानों पर व्यंगात्मक शैली को अपनाना पड़ा है। कहीं-कहीं तो इससे पुस्तक में सजीवता और मनोरंजकता आ गई है। पर इसके अत्यधिक प्रयोग ने पुस्तक की गम्भीरता को भी नष्ट कर दिया है। अत्यधिक व्यंग्य और वाह-वाह पूर्ण शैली कुछ विनोदपूर्ण लेख लिखने के उपयुक्त तो होती है, पर समालोचनाओं में उनका यत्र-तत्र प्रयोग ही पर्याप्त है। फिर सारी समालोचना भी व्यंगात्मक शैली में लिखी जा सकती थी, पर समालोचक को यह भी अभिप्रेत न था। इस प्रकार इस शैली का प्रयोग उनके लिए सर्वत्र ही शोभा का हेतु नहीं हुआ है। शुक्लजी ने इस शैली को अनुपयुक्त कहा है। वे कहते हैं कि "एक खटकने वाली बात है कि बिना जरूरत के जगह-जगह चुहलबाजी और शाबाशी

---

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ५८७।

का सहृदयो हरं।"[1] ऊपर इनकी आलोचना की विशेषताओं का निरूपण स्पिंगार्न के शब्दों में किया गया है। अगर पंडित जी इन पुराणों, शास्त्रों और अपने वैयक्तिक निर्णय को इतना अधिक प्राधान्य न देकर अपनी आलोच्य रचना के प्रभावों को कलापूर्ण शब्दों में और विशद रूप में व्यक्त कर देते तो इनकी कृति प्रभावाभिव्यंजक आलोचना के आधुनिक रूप का उत्कृष्ट उदाहरण बन जाती और स्पिंगार्न की परिभाषा के अनुरूप उतरती। कहीं-कहीं बिहारी के प्रति आलोचक ने अनुचित पक्षपात भी प्रदर्शित कर दिया है। इस कारण से भी इसमें निर्णयात्मक आलोचना के तत्त्व अधिक प्रधान हो गए हैं। इसी निर्णयात्मक तत्त्व की प्रधानता तथा कारणों के निर्देश-मात्र के कारण शुक्लजी इस आलोचना को भी रूढ़िगत ही कहना चाहते हैं। फिर भी इस आलोचना में प्रभाववादी तत्त्व भी अत्यन्त स्पष्ट है।

बिहारी के महत्त्व को सहृदय समाज के मस्तिष्क और हृदय द्वारा फिर से अंगीकृत कराने के लिए पंडितजी को कहीं-कहीं बिहारी के प्रति पक्षपात-प्रदर्शन के लिए बाध्य होना पड़ा है। इसी महत्त्व-प्रतिपादन के लोभ में पंडितजी ने कतिपय साधारण कवियों से बिहारी की तुलना करके ग्रन्थ के कलेवर को बढ़ा दिया है। घासीराम आदि कवियों से बिहारी की तुलना का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। "शून्यं वासगृहं विलोक्य" और "त्वं मुग्धाक्षी विनयेव कंचुलिकया धत्से मनोहारिणी" 'आर्या सप्तशती' के इन दोनों दोहों को प्राचीन आचार्यों ने काव्य के सुन्दर उदाहरणों में माना जाता है। पंडितजी ने इनमें से प्रथम में शब्द-दारिद्र्य और दूसरे में सखी-समाज के सम्मुख रति-क्रीड़ा की हाथापाई तथा सभ्यता की सीमा का उल्लंघन कहकर दोष दिखाया है। पंडितजी ने इनके समकक्ष बिहारी के जो दोहे उद्धृत किये हैं, उनके सौष्ठव को तो कोई भी अस्वीकार नहीं करेगा। पर उनके महत्त्व-प्रतिपादन के लिए इन श्लोकों के सौन्दर्य की हत्या आवश्यक नहीं है। इनके काव्य-सौन्दर्य का रसास्वादन भी सहृदय-सापेक्ष है। पंडितराज ने "शून्यं वासगृहे" वाले श्लोक में कहीं-कहीं उच्चारण की क्लिष्टता के कारण वैदर्भी रीति की दृष्टि से साधारण दोष का संकेत किया है। पर इतने से इसका साहित्यिक सौष्ठव कम नहीं हो गया। इसमें रस-व्यंजना तो है ही और यह उत्तम काव्य का उदाहरण भी है "त्वं मुग्धाक्षि विनयेव कंचुलिकया धत्से मनोहारिणी",

---

१, 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ५२७।

"लक्ष्मीमित्यभिधायिनी प्रियतमे तद्वीटिका संस्पृशी" इन पंक्तियों द्वारा रति-क्रीड़ा का जो चित्र सहृदय पाठक के नेत्रों के समक्ष आता है, इनमें हृदय को रसाक्षिप्त करने की कितनी क्षमता है, उतनी 'पति-रति की बतियां' में नहीं है। कविता सूचना तो है नहीं। बिहारी की यह पदावली बहुत-कुछ अर्थ-ग्रहण का ही उदाहरण हो गया है। इस प्रकार के स्थलों में बिहारी के प्रति अनुचित पक्षपात दिखाकर आलोचक ने सहृदयता का पूर्ण सदुपयोग नहीं किया है। उपर्युक्त दोनों दोहे तो अनुवाद-मात्र हैं। स्वयं पंडितजी फूलों की बहार और शीशी के इत्र के रूपक द्वारा इनके सौष्ठव का अन्तर स्पष्ट कर रहे हैं, पर साहित्य में उपवन के फूलों की ही छटा का अधिक महत्त्व है, जो नेत्र, नासिका और मन सबको अभिराम सौन्दर्य का आनन्द प्रदान करने वाले हैं न कि शीशी-बन्द इत्र का। डॉ० रसाल ने अपनी 'आलोचनादर्श' नामक पुस्तक में (पृष्ठ १११) पंडितजी की पक्षपातपूर्ण आलोचना की ओर सहृदय पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। वे लिखते हैं : "संस्कृत के भी उन श्लोकों एवं उनके रचयिताओं से बिहारी के उन दोहों को, जो उन्हींके आधार पर या उन्हींके भावों को लेकर एक प्रकार से अनुवाद के रूप में लिखे गए हैं और मूल श्लोकों से कहीं घटकर हैं, विशेषता दी गई है।"

तुलनात्मक समालोचना-पद्धति के साथ ही मिश्रबन्धुओं ने बिहारी और देव के झगड़े को भी जन्म दे दिया था। उन्होंने देव को सर्वश्रेष्ठ कवि के पद पर आसीन करके तथा बिहारी की कुछ त्रुटियों का संकेत करके हिन्दी के आलोचकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट कर दिया। बिहारी के यश के संरक्षण के लिए कई विद्वानों को कटिबद्ध होना पड़ा। 'बिहारी की सतसई' नामक पुस्तक इसी यश-संरक्षण का परिणाम थी, इस प्रकार से हिन्दी-साहित्य में बिहारी और देव की श्रेष्ठता प्रतिपादन का एक अखाड़ा तैयार हो गया था। इसी वाद-विवाद के प्रसंग में पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नामक आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखा। यह ग्रन्थ पं० पद्मसिंह शर्मा की 'बिहारी की सतसई' की पद्धति पर ही लिखा गया था। इसमें देव की प्रधानतः बिहारी से तथा अन्य बहुत से कवियों से तुलना की गई है। इस तुलना का तात्पर्य भी देव को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने में ही है। यह ग्रन्थ 'बिहारी की सतसई' के प्रत्युत्तर की दृष्टि से नहीं लिखा गया है, फिर भी यथावसर बिहारी के प्रति किये गए पक्षपातों का भी साधारण खंडन कर दिया गया है। शर्मा जी की तरह पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने भी कवियों के पारस्परिक भाव-सादृश्य की अनिवार्यता स्वीकार की है। उनकी मान्यता है कि बड़े-बड़े

कवि भी अपने पूर्ववर्ती कवियों के भावों का उपयोग करते हैं। कालिदास, शेक्सपियर और गोस्वामी तुलसीदास-जैसे महान् कवियों ने भी अपने पूर्ववर्ती कवियों की उक्तियों को अपनाने को दोष नहीं माना है।[1] भारतीय आचार्य आनन्दवर्द्धन तथा पाश्चात्य आलोचक एमर्सन ने अपने पूर्ववर्ती कवियों से भाव अपनाने को दोष नहीं माना है। कवि अगर अपने भाव में कुछ नूतन चमत्कार ला देता है तो उसका भावापहरण क्षम्य है।[2] लेखक ने अपने समकालीन आलोचकों को साधारण भाव-सादृश्य पर ही एक कवि की चोरी के कलंक से लांछित कर देने की तुच्छ प्रवृत्ति की निन्दा की है। उन्होंने भाव-सादृश्य के स्वरूप पर गम्भीर विचार किया है। वे भाव-सादृश्य पर विचार करते हुए उनकी तीन अवस्थाओं की कल्पना करते हैं। वस्तुतः पूर्ववर्ती कवियों से भाव-ग्रहण करने के केवल तीन ही स्वरूप हो सकते हैं। ये इसके सौन्दर्य-सुधार, सौन्दर्य-रक्षा, और सौन्दर्य-संहार तीन रूपों का निरूपण करते हैं। पहले के दो स्वरूप तो क्षम्य हैं ही। सौन्दर्य-सुधार तो श्लाघ्य ही है। सौन्दर्य-संहार को लेखक साहित्यिक चोरी मानते हैं। वस्तुतः यह भी कवि की प्रतिभाहीनता का ही परिचायक है। पद्मसिंह जी ने संस्कृत आचार्यों द्वारा भावापहरण के मान्य प्रकारों का उल्लेख किया था, इस प्रकार के स्वतन्त्र चिन्तन को आश्रय नहीं दिया। फिर भी व्यावहारिक रूप में उनको भी यह विभाग मान्य प्रतीत होता है। उन्होंने बिहारी की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए सर्वत्र उनको सौन्दर्य-सुधारक ही माना जाता है। देव और बिहारी में कतिपय उदाहरणों द्वारा इस विचार-धारा को स्पष्ट किया गया है। जहाँ कहीं भी भाव-सादृश्य पर विचार हुआ है, वहाँ पर लेखक ने इसी सिद्धान्त का उपयोग किया है।

पंडितजी ने फुटकर छन्दों की तुलनात्मक आलोचना की थी। उसी परम्परा में यह पुस्तक भी लिखी गई है। इसमें भी देव और बिहारी के फुटकर छन्दों की समालोचना हुई है। आलोचना का आधार प्रायः सर्वत्र ही शास्त्रीय है। काव्य की उत्तमता की कसौटी पर विचार करते हुए उक्त लेखक कहते हैं: "गुणाधिक्य, अलंकार-बाहुल्य, रस-परिपाक एवं भाव-चमत्कार कविता की उत्तमता की कसौटी रहनी चाहिए।"[3] 'बिहारी की सतसई' में काव्यांगों के निर्देश

---

१. 'देव और बिहारी', पृष्ठ ८४।

२. वही, पृष्ठ ८४-८५।

३. वही, पृष्ठ २३६।

की अपेक्षा दाद देने, प्रशंसा करने और सहृदयता की दुहाई देने की प्रवृत्ति अधिक है। पर इस ग्रन्थ में लेखक ने काव्यांगों का निर्देश अधिक किया है। वे छन्द की नायिका रस, अलंकार, गुण आदि सभी दृष्टियों से व्याख्या करते हैं।[1] बिहारी के एक ही छन्द में अनेक अलंकारों का निरूपण हुआ है :

मानहुँ तन छवि अच्छ को स्वच्छ राखिबे काज।
दृग पग पोंछन को किये भूषण पायंदाज॥

इस छन्द में परिकरांकुर, अनुगुन, विभावना, तद्गुण, सम, लेश आदि १६ अलंकार दिखाये गए हैं।[2]

फुटकर छन्दों की आलोचना में लेखक ने उनका अर्थ देते हुए एक सजीव चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। लेखक कवि के वर्णित विषय के सौन्दर्य का भी अनुभव कर रहा है। कवि की अनुभूति के साथ इतना तादात्म्य होने के कारण ही मिश्रजी के वर्णनों में इतनी सजीवता आ सकी है। देव के ग्रीष्म-वर्णन की आलोचना करते हुए लेखक सजीव चित्र उपस्थित करते हैं : "ग्रीष्म-निशा में चाँदनी की अनुपम बहार एवं वृषभानु-नन्दिनी के शृङ्गार-चमत्कार का आश्रय लेकर कवि का सरस उद्गार बड़ा ही मनोरम है। स्फटिक शिला-निर्मित सौध, उसमें समुज्ज्वल फर्श, फर्श पर खड़ी तरुणियाँ, उनके अंगों की आभा और सबके बीच में श्रीराधिका जी" उधर अम्बर में "ज्योत्स्ना का समुज्ज्वल विस्तार, तारिका-मंडली की झिलमिलाहट और पूर्ण चन्द्र मंडल है ····· देवजी का मन इस सादृश्य-मात्र दृश्य को देखकर लोट-पोट हो जाता है। वे इस सादृश्य का मान लेने लगते हैं। उनकी समुज्ज्वला उपमा प्रस्फुटित होती है।[3] लेखक ने इन दोनों कवियों की काव्य-कला-कुशलता का विवेचन इसी शैली में किया है। इन कवियों के भाव-सौन्दर्य से लेखक सर्वत्र ही अभिभूत प्रतीत होता है, और उसी दशा में कुछ अनुभूतिव्यंजक और प्रशंसात्मक शब्द अपने-आप निकल जाते हैं।" अन्तिम पद का भाव

---

१. 'देव और बिहारी' पृष्ठ १२४:१२७।

२. वर्ण्य विषय परकीया का भेदान्तर लक्षिता नायिका का है। अर्थ-स्पष्टता, सुन्दर शब्दों का प्रयोग और वर्णन-शैली की उत्तमता से इसमें अर्थ व्यक्त एव प्रसाद गुण भी है। उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त शृङ्गारमय वर्णन होने के कारण इसमें कैशिकी वृत्ति भी है। वही, पृष्ठ १२३॥

३. वही, पृष्ठ १०६।

कितना संयत और पवित्र है एवं भाषा भी कैसी अनुप्रासपूर्ण और हृदय-द्राविणी है, मानो सोने की अंगूठी में हीरे का नग जड़ दिया गया हो अथवा पवित्र मन्दाकिनी में निर्दोष नन्दिनी स्नान कर रही हो।[1] कुछ समय तक उसी प्रकार खड़ी रहने की ग्वालिन के प्रति कवि की आज्ञा कितनी विदग्धता-पूर्ण है। स्वभावोक्ति का सामंजस्य कितना सुखद है।[2] पं० कृष्णबिहारी मिश्र की आलोचना तन्त्र और सहृदयता दोनों पर ही आधारित है। कवि के काव्य-सौष्ठव से अभिभूत होकर मिश्र जी अपने मन के भावों को गद्य-काव्य की शैली में लिखने लगते हैं। उस समय उनमें विश्लेषण की प्रवृत्ति की अपेक्षा भावुकता की प्रधानता हो जाती है। ऐसे स्थलों में उनका प्रभावाभिव्यंजक रूप अत्यन्त स्पष्ट रहता है। कहीं-कहीं उनकी आनन्दानुभूति की अभिव्यक्ति निर्णयात्मक वाक्यों में भी प्रकट हो जाती है। पर पद्मसिंह जी की अपेक्षा ऐसा कम हुआ है। ये अपने प्रभावों को शर्माजी की अपेक्षा शास्त्रीय पदावली में अधिक व्यक्त करते हैं। इनके विचार और भाव स्वभावतः पारिभाषिक पदावली में व्यक्त होते हैं। इससे स्पष्ट है कि इनमें रूढ़िवादी और प्रभावाभिव्यंजक आलोचना का अपेक्षाकृत सुन्दर सामंजस्य है। शर्माजी की आलोचना में तन्त्र, प्रभाव और निर्णय के उतने संतुलित सामंजस्य के दर्शन नहीं होते। समीक्षा के विकास के साथ इस समन्वय में भी अधिक प्रौढ़ता और संतुलन आता जाता है। जब वैयक्तिक और विद्वान् रुचि में कोई अन्तर नहीं रह जाता तो तन्त्रवादी और प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा-पद्धतियों का पारस्परिक समन्वय अपनी चरम अवस्था पर पहुँच जाता है। उस समय आलोचक को निर्णय का घोषणा नहीं करनी पड़ती, अपितु वह स्वत. व्यंजित होता जाता है। शुक्लजी तथा सौष्ठववादी पं० नन्ददुलारे वाजपेयी में ऐसे समन्वय के कहीं-कहीं दर्शन होते हैं। ऊपर के निर्दिष्ट तन्त्र, प्रभाव और निर्णय तीनों तत्त्व ही इस काल की (शुक्लजी के पूर्व की) आलोचना की प्रधान विशेषताएँ हैं। इनके प्रौढ़ और समन्वित रूप के दर्शन कृष्णबिहारी मिश्र की आलोचना में होते हैं। स्पिनगार्न द्वारा प्रतिपादित इन शैलियों का सम्मिश्रण सर्वत्र नहीं है। बहुत कम स्थानों पर ऐसे संतुलित प्रौढ़ रूप के दर्शन होते हैं। प्रायः उनकी आलोचना ने इन दोनों सरणियों का आश्रय पृथक्-पृथक् ही लिया है। ऊपर के उदाहरणों से यह स्पष्ट है।

---

१. 'देव और बिहारी', पृष्ठ ११०।

२. वही, पृष्ठ ११६।

'देव और बिहारी' नामक ग्रन्थ में फुटकर छन्दों की तुलनात्मक आलोचना भी खूब हुई है। यह पद्धति उन्हें पूर्ववर्ती आलोचक शर्माजी से मिली। लेकिन इसमें भी मिश्रजी ने मौलिक उद्भावना का परिचय दिया है। उन्होंने दोनों कवियों के विषय-साम्य वाले समान छन्दों का ही तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया है, प्रत्युत उनके विषम छन्दों की भी आलोचना करके इस पद्धति को सर्वाङ्गीण बनाने की चेष्टा की है। उन्होंने इस प्रकार की विरोधी उक्तियों पर विचार कर लेना समीचीन समझा है। देव की संयोग शृंगार की उक्तियों के समकक्ष बिहारी के वियोग शृंगार के दोहों को रखने का एक कारण यह भी है कि इन दोनों कवियों की प्रतिभा क्रमशः इन दो भिन्न क्षेत्रों में अधिक स्पष्ट हो पाई है। आलोचक ने उनकी रुचि के वर्ण्य विषय और प्रतिभा के अनुकूल सर्वोत्कृष्ट स्थलों को लेकर आलोचना करने का प्रयत्न किया है। फिर चाहे उन स्थलों में भाव-सादृश्य है या नहीं, इसकी चिन्ता उन्होंने नहीं की। कवि-प्रतिभा की गहराई जाँचने के लिए यही आवश्यक भी था। विरोधी उक्तियों पर विचार करने के कारणों को स्पष्ट करते हुए लेखक कहते हैं—"संयोग दशा में कवि के वर्णन करने के रंग को देखकर पाठक यह बात बखूबी जान सकते हैं कि वियोग दशा में उनकी वर्णन-शैली कैसी होगी। वियोग-कुशल कवि के वियोग-सम्बन्धी छन्द उद्धृत हैं तथा संयोग-कुशल के संयोग-सम्बन्धी।"[1] फिर लेखक ने जिन स्थलों को चुना है उनमें प्रायः भाव-सादृश्य भी है। दोनों कवियों के वर्णित-विषयों का चित्र उपस्थित करके आलोचक ने उनका तुलनात्मक अध्ययन किया है। लेखक ने यद्यपि सहृदय पाठकों को उन स्थलों का रसास्वाद करने तथा उनकी विशेषताओं से परिचित होने का अवसर दिया है और उन्होंने उन स्थलों की विशेषताओं का विश्लेषण कर दिया है। "एक ओर विरहिणी नायिका की ऐसी दुर्दशा देखने का प्रस्ताव है, तो दूसरी ओर इसी प्रकार चुपचाप झाँककर वह चित्र देखने का आग्रह है, जो नेत्रों का जन्म सफल करने वाला है। एक ओर कृशांगी, विरह-विधुरा और म्लान सुन्दरी का चित्र देखकर हृदय-सरिता सूखने लगती है, तो दूसरी ओर स्वस्थ, मधुर और विकसित यौवना नायिका की कंदुक-क्रीड़ा दृष्टिगत होते ही हृदय-सरोवर लहराने लगता है।"

"दाहिने हाथ में गेंद उछालते समय बाएँ हाथ से नायिका को बाल, माला

१. 'देव और बिहारी', पृष्ठ ३५
२. वही, पृष्ठ २३१

और आंचल संभालना पड़ रहा है एवं इसी कंदुक-क्रीड़ा के कारण सलोने मुख का झुकना एवं नेत्र-कोरकों का संतत नृत्य कितना मनोरम है।"[1]

इस प्रकार चित्र को सहृदयजनों के लिए मूर्तिमान और आस्वाद्य बनाकर उसकी सामान्य विशेषताओं का निर्देश कर देने के बाद लेखक ने इन कवियों के विरोधी अथवा एक दूसरे की पूरक उक्तियों का आलोचनात्मक परिचय भी दिया है। उन्होंने कवियों की विशेषताओं का स्पष्टीकरण किया है। "छोटे छन्द में आवश्यक बातें न छोड़ते हुए, उक्ति कैसे निभाई जाती है, यह चमत्कार बिहारीलाल में है तथा बड़े छन्द में, परन्तु भाव और भाषा के सौन्दर्य को बढ़ाने वाले अनेक कथनों के साथ भाव कैसे विकास पाता है, यह अपूर्णता देव की कविता में है।"[2]

केवल फुटकर छन्दों के साहित्यिक सौन्दर्य का तुलनात्मक परिचय दो कवियों की तुलना नहीं कही जा सकती। वास्तविक तुलना तो कवियों की विशेषताओं का निरूपण है। उनके साम्य और वैषम्य दोनों ही का विवेचन तुलना के लिए आवश्यक है। तुलना का उद्देश्य दोनों कवियों की उन विशेषताओं का वर्णन करना है, जिनसे उनकी काव्य-पद्धति का सर्वांगीण परिचय मिल सके। इन विशेषताओं के आधार पर दोनों कवियों का मौलिक अन्तर एकदम स्पष्ट हो जाना चाहिए। पं० कृष्णविहारी मिश्र ने देव और बिहारी की काव्य-पद्धति पर इस दृष्टि से भी विचार किया है। वे दोनों की प्रतिभा का स्वरूप स्पष्ट करते हैं। उन्होंने देव को रसवादी कवि माना है। केशव से उनकी भिन्नता बतलाते हुए वे कहते हैं—"सारांश यह है कि केशवदास,ने अलंकार का प्रस्फुरण वास्तव में बड़े ही मार्के का किया है। उधर देव कवि का काव्य रस-प्रधान है।"[3] उन्होंने केशव के आचार्यत्व की प्रशंसा की है, पर केशव की अपेक्षा उन्हें देव में कवित्व-शक्ति अधिक लगती है।[4]

लेखक काव्य-शैली के "स्वभावोक्ति" और "अतिशयोक्ति" दो प्रधान भेद मानकर चलते हैं। पहले प्रकार की शैली में वर्ण्य विषय का सांगोपांग विशद वर्णन होता है। उसमें कवि प्रायः सभी अलंकारों का प्रयोग करता है, पर उसका उद्देश्य रस-निष्पत्ति होने के कारण, वह चमत्कार की ओर विशेष

---

१. 'देव और बिहारी', पृष्ठ २३२
२. वही, पृष्ठ २५६
३. वही, पृष्ठ २६४।
४. वही, पृष्ठ २६३।

ध्यान नहीं देता। अपने वर्णन को यथासम्भव स्वाभाविक बनाये रखने की अधिक चेष्टा करता है। लेखक ने अतिशयोक्ति का प्रयोग "वक्रोक्ति" अथवा चमत्कार-प्रियता के अर्थ में किया है। इस शैली का कवि अपने वर्णन को विशद करने की अपेक्षा उसमें इशारों से अधिक काम लेता है। यह शब्द की व्यंजना-शक्ति का अधिक उपयोग करता है। अपनी ओर से स्पष्ट कहने की अपेक्षा पाठक को चिन्तन और कल्पना का अधिक अवसर प्रदान करता है। बिहारी की काव्य-शैली को मिश्र जी ने दूसरे प्रकार की मानी है। उन्हें बिहारी की प्रकृति चमत्कार-प्रिय प्रतीत होती है। वे यह भी मानते हैं कि उन्हें इस शैली का प्रयोग दोहा छन्द के निर्वाचन के कारण भी करना पड़ा है। छोटे छन्द में अधिक बात कहने के लिए यही शैली उपयुक्त भी है।[1] आलोचक को अतिशयोक्ति की अपेक्षा स्वाभावोक्ति शैली अधिक प्रिय है। उसे वे रस-निष्पत्ति के अधिक उपयुक्त समझते हैं। उनका मत बहुत-कुछ ठीक भी है। उन्होंने अपने मत का समर्थन रस्किन की उक्ति द्वारा किया।[2] देव को बिहारी से अधिक ऊँचा स्थान देने का एक कारण यह भी है। रस की दृष्टि से विचार करने वाले आलोचक के लिए यह स्वाभाविक भी है। उन्होंने दोनों कवियों की उक्तियों पर विचार करते हुए रस-निष्पत्ति वाले और सहृदय-जन द्वारा श्लाघ्य छन्दों की ही प्रशंसा अधिक की है। देव के वर्णन उन्हें अधिक हृदय-स्पर्शी प्रतीत होते हैं।

बिहारी और देव के वर्ण्य विषयों की आलोचना करते हुए लेखक ने उन विषयों की प्रकृति पर विचार किया है। "देव ने अपने सभी ग्रन्थों में प्रेम का वर्णन किया है। उन्होंने अपनी 'प्रेम-चन्द्रिका' नामक पुस्तक में प्रेम के लक्षण, स्वरूप, माहात्म्य आदि पर भी विचार किया है। उनका प्रेम-वर्णन क्रमबद्ध है। उन्होंने वासना और शुद्ध प्रेम में अन्तर भी स्पष्ट कर दिया है। प्रेम के सहायक तत्त्व मन, नेत्र आदि का भी विशद वर्णन है।"[3] देव के प्रेम-वर्णन में साधारण परिचय-भर ही नहीं दिया गया है अपितु बिहारी के प्रेम-

---

१. 'देव और बिहारी', प्रतिभा-परीक्षा अध्याय पृष्ठ १४६-१५१।

२. वही, पृष्ठ १५२। "दोनों कवियों की कविताओं से तुलना कसौटी पर कसी जाकर निश्चय दिलाती है कि बिहारी देव की अपेक्षा अतिशयोक्ति के अधिक प्रेमी हैं एवं देव स्वभावोक्ति और उपमा का अधिक आदर करने वाले हैं।" वही पृष्ठ २२७।

३. वही, पृष्ठ १५५।

वर्णन से उसकी भिन्नता और उत्कृष्टता का भी निरूपण हुआ है। देव में परकीया का वर्णन हुआ तो है पर वे स्वकीया के प्रेम को ही अधिक महत्त्व देते हैं। बिहारी के प्रेम-वर्णन में परकीया-प्रेम की प्रधानता है। वे प्रेम का क्रमबद्ध वर्णन भी नहीं कर सके हैं। बिहारी देव की तरह प्रेम और वासना के अन्तर को स्पष्ट करने में सफल नहीं हुए हैं।[1] इस प्रकार आलोचक ने इन दोनों कवियों के वर्ण्य विषय के आधार पर भी उनकी उन विशेषताओं का निरूपण किया है, जिनसे इन दोनों कवियों का साम्य और वैषम्य दोनों ही अत्यन्त स्पष्ट हैं। इसके अतिरिक्त पं० कृष्णबिहारी मिश्र इन दोनों कवियों का सामान्य परिचय देते हुए उनकी जीवन एवं काव्य-सम्बन्धी अन्य विशेषताओं का भी निरूपण करते हैं। इसमें इन कवियों के लिए रस, नायक-नायिका, छन्द-निर्वाचन, ग्रन्थों की संख्या तथा उनकी लोकप्रियता आदि अनेक बातों का उल्लेख हुआ है। ऐसे प्रसंगों में मिश्रजी की शैली परिचयात्मक ही अधिक है। आलोचक ने 'मन' और 'नेत्र' के अध्यायों में भी यत्र-तत्र दोनों कवियों की विशेषताओं का उल्लेख करके उनकी काव्य-शैली और वर्ण्य विषय के स्वरूप-सम्बन्धी अन्तर को स्पष्ट किया है। पर इन दोनों अध्यायों में उद्धरणों द्वारा पाठकों को उनके काव्य-सौन्दर्य का आस्वाद लेने का ही अवसर अधिक दिया गया है।

लेखक ने भाषा पर विचार करते हुए अर्थालंकारों का निर्वचन तो अनेक स्थानों पर किया ही है। दोनों कवियों ने अनुप्रास का कितना सुन्दर प्रयोग किया है इनका निरूपण भी हुआ है। केशव और देव की भाषा के मौलिक अन्तर का भी स्पष्टीकरण हुआ है। देव की भाषा केशव की अपेक्षा इतनी अधिक मधुर क्यों है? दोनों के शब्द-चुनाव का दृष्टिकोण क्या है? इस प्रकार के कई-एक गम्भीर प्रश्नों पर विचार करते हुए लेखक ने दोनों कवियों

---

१. बिहारीलाल की अपेक्षा देव ने प्रेम का वर्णन अधिक और क्रमबद्ध किया है। उनका वर्णन शुद्ध प्रेम के स्फुरण में विशेष हुआ है। बिहारीलाल का वर्णन न तो क्रमबद्ध ही है, न उसमें विषय-जन्य और शुद्ध प्रेम में बिलगाव उपस्थित करने की चेष्टा की गई है। देव ने परकीया का वर्णन किया है और अच्छा किया है, परन्तु परकीया-प्रेम की उन्होंने निन्दा भी खूब की है और स्वकीया का वर्णन उससे भी बढ़कर किया है। मुग्धा स्वकीया के प्रेमानन्द में देव मग्न दिखाई पड़ते हैं। पर बिहारी ने परकीया का वर्णन स्वकीया की अपेक्षा अधिक किया है। 'देव और बिहारी', पृष्ठ १५५।

की भाषा की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख किया है। "मुख्यतया दोनों ही कवियों ने ब्रजभाषा में कविता की है, पर केशव की भाषा में संस्कृत एवं बुन्देलखंडी के शब्दों को विशेष आश्रय मिला है। संस्कृत-शब्दों की अधिकता से केशव की कविता में ब्रजभाषा की सहज माधुरी न्यून हो गई है। संस्कृत में मीलित वर्ण एवं टवर्ग का प्रयोग विशेष अनुचित नहीं माना जाता, परन्तु ब्रजभाषा में इनको श्रुति-कटु मानकर यथासाध्य इनका कम व्यवहार किया जाता है। केशवदास ने इस पाबन्दी पर विशेष ध्यान नहीं दिया है। इधर देव ने मीलित वर्ण, टवर्ग एवं रेफयुक्त वर्णों का व्यवहार बहुत कम किया है। सो जहाँ तक श्रुति-माधुर्य का सम्बन्ध है, देव की भाषा केशव की भाषा से अच्छी है। केशव की भाषा बहुत-कुछ क्लिष्ट भी है।···शब्दों की तोड़-मरोड़ कम करने तथा व्याकरण-संगत भाषा लिखने में वह देव से अच्छे हैं।···देव की भाषा लिखने में लोच, अलंकार, प्रस्फुरण की सरलता एवं स्वाभाविकता अधिक है। हिन्दी-भाषा के मुहावरे एवं लोकोक्तियाँ भी देव की भाषा में सहज सुलभ हैं।"[1]

कवियों की बहुज्ञता का दिग्दर्शन भी इस काल की आलोचना का एक विशेष अंग हो गया था। पद्मसिंह जी ने भी बिहारी के व्यापक पांडित्य पर विचार किया है। देव और बिहारी में दोनों कवियों की बहुज्ञता का प्रतिपादन हुआ है। इसमें कवि के गणित आदि के सामान्य ज्ञान का उल्लेख होता है। इनका कवि के जीवन-दर्शन और वर्ण्य विषय से प्रायः कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता। कहीं-कहीं अप्रस्तुत योजना में उपयोगी होने के कारण आलोचना की दृष्टि से इस ज्ञान का बहुत साधारण-सा महत्त्व है। मिश्रजी ने ईश्वर, साकारोपासना आदि का विवेचन करके कवियों की जीवन-सम्बन्धी धारणाओं तथा युग-चेतनाओं की ओर भी संकेत कर दिया है, समीक्षा की दृष्टि से यह विवेचन महत्त्वपूर्ण है। पर आलोचक ने इन विषयों पर देव के कुछ छन्द उद्धृत कर दिए हैं और उन छन्दों पर प्रशंसात्मक टिप्पणी भी दे दी है। कवि की विचार-धारा के स्पष्टीकरण के लिए जिस विश्लेषणात्मक और वैज्ञानिक व्याख्या की आवश्यकता थी उनका नितान्त अभाव है।[2] इनमें आलोचना की प्रौढ़ता नहीं आ पाई है। एक स्थान पर परकीया-चित्रण के आधार पर लेखक ने बिहारी की चारित्रिक विशेषताओं की ओर संकेत किया है।[3] इसमें मनोवैज्ञानिक

---

१. 'देव और बिहारी', पृष्ठ २८६।
२. वही, पृष्ठ ३००-३०२।
३. वही, पृष्ठ १६२।

समालोचना के तत्वों का साधारण आभास मिलता है। विभिन्न समालोचना-पद्धतियों के अस्पष्ट तत्व द्विवेदी तथा मिश्रबन्धु आदि सभी में मिलते हैं पर वे उनकी प्रधान विशेषताएँ नहीं मानी जातीं।

आलोच्य कवियों के भाव, शैली, भाषा, विचार-धारा आदि की मौलिक विशेषताओं का निरूपण करके लेखक ने आलोचना के समीचीन दृष्टिकोण को अपनाया है। यद्यपि देव की श्रेष्ठता उन्हें अभिप्रेत है, पर इसके लिए उन्होंने बिहारी की निन्दा नहीं की है। बिहारी के काव्य-सौन्दर्य की नितान्त अवहेलना करना तुलना नहीं है। पद्मसिंह जी ने अनेक प्राचीन श्लोक उद्धृत किये हैं, लेकिन उनके काव्य-सौष्ठव की ओर उनका ध्यान नहीं गया। इस ग्रन्थ में लेखक ने देव की तुलना केशव और बिहारी दोनों से की है। दोनों की कमियों का निर्देश तो किया है, पर उनकी विशेषताओं की ओर से आँख नहीं मींच ली है। लेखक ने कई स्थानों पर बिहारी की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। "अधर धरत हरि के परत" वाले दोहे के काव्य-सौष्ठव से अभिभूत होकर हठात् उनके मुख से निकल पड़ता है—"कैसा चमत्कारमय दोहा है। सब कवियों की सूझ इतनी विस्तृत कहाँ होती है।"[1] लेखक ने बिहारी के एक दोहे में अनेक अलंकारों का निर्देश किया है। उनकी चमत्कार और अतिशयोक्ति-पूर्ण उक्तियों की अनेक स्थानों पर प्रशंसा की है। बिहारी का विरह-वर्णन लेखक के मत में बहुत ही सुन्दर है, उसमें उन्होंने मार्मिकता के दर्शन किये हैं। "बाला और बल्ली का कितना मनोहर रूपक है। घनश्याम का श्लिष्ट प्रयोग कैसा फबता है। कुम्हलाई हुई लता पर ईषत् जल पड़ने से वह जैसे लहलहा उठती है वैसे ही विकल विरहिणी का घनश्याम के वर्णन से सब दुःख दूर हो जायगा। सखी यह बात नायिका से कैसी मार्मिकता के साथ कहती है। बिहारी-लाल का विरह-निवेदन कितना समीचीन है।"

लेखक ने दोनों कवियों की विशेषताओं की प्रशंसा की है, पर उन्हें देव में बिहारी की अपेक्षा अधिक काव्य-सौन्दर्य प्रतीत होता है। देव रसवादी कवि हैं। उन्होंने अपने युग की प्रवृत्ति के अनुसार चमत्कार को अपने काव्य में आश्रय दिया है, पर फिर भी उनकी वृत्ति रसोक्तियों में अधिक रमी है। इस दृष्टि से वे प्रशंसा के भाजन हैं। बिहारी की अपेक्षा उन्हें श्रेष्ठ बनाना विवादा-स्पद हो सकता है और किसी को देव को श्रेष्ठ बताने में पक्षपात की गन्ध भी आने लगे तो कोई आश्चर्य नहीं। उन्होंने भाषा-माधुरी, मानवीय प्रकृति के

---

१. 'बिहारी और देव', पृष्ठ ११२।

चित्रण की सजीवता, अलंकार, रस आदि की स्पष्टता, व्यापक ज्ञान और जीवन की गम्भीर अनुभूति तथा उनका काव्य पर प्रभाव आदि अनेक दृष्टियों से देव का स्थान बिहारी की अपेक्षा ऊँचा माना है। पुस्तक के उपसंहार में इन सब कारणों का निर्देश लेखक ने कर दिया है। सारी पुस्तक में लेखक सहृदय पाठकों को बिहारी की उक्तियों की तुलना में देव की उक्तियों के काव्य-सौष्ठव की श्रेष्ठता का अनुभव कराने की चेष्टा करते रहे हैं। उन्हें तर्क और सहृदयता के आधार पर सफलता भी मिली है। उनमें तर्क का आश्रय तो लिया गया है, पर वैयक्तिक रुचि का ही प्राधान्य स्पष्ट है।

'देव और बिहारी' 'बिहारी की सतसई' की अपेक्षा आलोचना का प्रौढ़तर प्रयोग है। इसमें दोहे और सवैये के प्रयोग में दोनों कवियों को कौन-सी असुविधाओं या सुविधाओं का सामना करना पड़ा है, इस पर भी निष्पक्ष दृष्टि से विचार हुआ है। छन्द की लम्बाई की दृष्टि से कवि श्रेष्ठ नहीं माना गया अपितु चित्रण के लाघव पर विचार हुआ है। लेखक ने अपने मान को स्पष्ट किया है तथा सारी पुस्तक में इसका निर्वाह भी किया है। मिश्र जी की आलोचना में तन्त्र पर आधारित प्रौढ़ विवेचन, व्यक्तिगत प्रभावों का अनुभूतिमय चित्रण, कवियों की भाव और कला-सम्बन्धी विशेषताओं का विश्लेषण, विचार-धारा का सामान्य परिचय तथा तुलना का समीचीन दृष्टिकोण भावी विकास के तत्वों का आभास दे रहे हैं।

बिहारी और देव के वाद-विवाद की तीसरी तथा अन्तिम पुस्तक लाला भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' के नाम से प्रकाशित की। इसमें मिश्र-बन्धुओं द्वारा दिये गए बिहारी के दोहों के अर्थ में स्थान-स्थान पर अशुद्धियों का निर्देश किया है। उनका कहना है कि मिश्रबन्धु देव की कविता के भी शुद्ध और साहित्यिक संस्करण का सम्पादन नहीं कर सके हैं। "यमक" के उल्टे-सीधे अर्थ करने का यही कारण है। "छवि छाकु" के पाठ को "छब छाती" कर दिया है। न जाने अर्थ क्या समझे हैं। "जम्बूरस बुन्द" के स्थान पर "जम्बूनद बुन्द" पाठ देकर देव का तात्पर्य ही भ्रष्ट कर दिया गया है। "चोपीजाति" का अर्थ टिप्पणी में लिखा है "तेज गाय उचक जाने वाली।" नहीं महाराज। यह अर्थ तो नहीं है। ठीक अर्थ है "चोपी जाती बछड़े से दूध पिलाये लेती है।"[1] दीन जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि मिश्रबन्धुओं ने या तो बिहारी की कविता समझी ही नहीं या जान-बूझकर देव का पक्षपात

१. 'बिहारी और देव', पृष्ठ ५३।

किया है। दीनजी ने मिश्रबन्धुओं के पाठ को कई स्थानों पर शुद्ध भी किया है।[1] पं० कृष्णविहारी मिश्र को भी झपेट लिया है। "बड़े विहारियों का तो यह हाल है। जरा छोटे विहारी कृष्णविहारी जी का भी विहार मुलाहिज़ा फरमाइये।" "हतो" का अर्थ "था" है, पर पण्डित कृष्णविहारी को इस पर सन्देह होता है और इसी पर दीनजी एक व्यंग्य कर देते हैं। दीनजी की यह पुस्तक प्रधानत मिश्रबन्धुओं की कटु आलोचना का प्रत्युत्तर देने के अभिप्राय से लिखी गई है। जो दोष विहारी की कविता में मिश्रबन्धुओं द्वारा बताये गए, वे ही दीनजी ने "देव" की कविता में निकाले हैं। इस पुस्तक में पहले उन दोषों का निराकरण हुआ है और उसका ढंग यही है। कुछ छन्दों के आधार पर विहारी पर लगाये दुरान्वय दूषण के आरोप का खण्डन करते हुए दीनजी लिखते हैं—"दोहा छन्द ही कितना बड़ा है जो दुरान्वय दोष से क्लिष्टता आ जायगी। यदि मान भी लिया जाय कि यह दोष है, तो क्या मिश्रबन्धु यह कह सकते हैं कि देव के छन्दों में यह दूषण कहीं नहीं है। हमारी समझ में तो देव में यह प्रचुरता से पाया जाता है।"[2] इसी प्रकार दीनजी ने विहारी की "शोहदई" से रक्षा की है। "आंगुरी छाती छैल छुवाय" से मिश्रबन्धुओं ने विहारी को "शोहदा" कह दिया और दीनजी उसका जवाब देते हैं—"मिश्रबन्धुओं को यह भी विचारना चाहिए था कि जिस कवि ने 'अष्टयाम' और 'जाति-विलास'-जैसे ग्रन्थ लिखे हों, वह कितना बड़ा शोहदई-पोषक मनुष्य रहा होगा। प्रत्येक जाति की स्त्री के गुणावगुण गौर से देखना और घड़ी-घड़ी के कृत्य बतलाना भलमनसी का काम तो कहा नहीं जा सकता।...देखना ही हो तो पाठक 'प्रेम चन्द्रिका' ग्रन्थ के "३६वें पन्ने में ३७वां छन्द देखें"[3] दीनजी ने देव के द्वारा तोड़े-मरोड़े शब्दों की सूची दी है और इस प्रकार बिहारी को इस दोष से मुक्त करना चाहा है।[4] मिश्रबन्धुओं ने "चाड़" का अर्थ चढ़कर लिया है और इसी आधार पर विहारी को "तुकान्त के लिए शब्द मरोड़ने वाला" कह दिया है। दीनजी ने "चाड़" के शुद्ध अर्थ "चाह प्रेम" देकर इस शब्द को अपने प्रकृत रूप से ही बताया है, तोड़ा हुआ नहीं।[5] इस प्रकार कहीं-कहीं

---

१. 'बिहारी और देव', पृष्ठ ५५।

२. वही, पृष्ठ २३।

३. वही, पृष्ठ २३।

४. वही, पृष्ठ १७-१८।

५. वही, पृष्ठ १८-१६।

मिश्रबन्धुओं के द्वारा निर्दिष्ट दोषों का निराकरण उनकी गलतियों को दिखा-कर भी किया गया है। बिहारी पर चोरी का अपराध लगाया गया था। इसलिए दीनजी ने देव के भावापहरण के अनेक उदाहरण दिये हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि बिहारी में जिन दोषों की उद्‌भावना मिश्रबन्धुओं ने की है, उन्हीं दोषों से पूर्ण देव की कविता को सिद्ध करना इस आलोचना का प्रमुख उद्देश्य प्रतीत होता है। उसी पद्धति और उन्हीं तर्कों से देव पर दोष लगा देना इनकी आलोचना की प्रधान विशेषता मानी जा सकती है। दीनजी का निम्न लिखित वाक्य उनकी आलोचना के स्वरूप का अच्छा परिचायक है। जैसे उन्होंने सर्वत्र अपनाया है—"पं० कृष्णबिहारी मिश्र अपने 'देव और बिहारी' के २४९वें पृष्ठ पर लिखते हैं—"सीतल-जैसे बड़े कवियों को देवजी के भाव अपनाने में लालायित देखकर पाठक देवजी की भावोत्कृष्टता का अन्दाजा कर सकते हैं" हम इस वाक्य को इस प्रकार लिखते हैं "देव-जैसे महा-कवि बिहारी के भाव अपनाने में लालायित देखकर पाठक बिहारी की भावो-त्कृष्टता का अन्दाजा सहज में कर सकते हैं।"[1]

मिश्रबन्धुओं की समालोचना एकांगी थी। उन्हें बिहारी में दोष-ही-दोष दिखाई पड़ते थे। इसलिए उन्होंने बिहारी के मार्मिक और सहृदयजन-श्लाघ्य छन्दों की उपेक्षा की। जहाँ कहीं छोटी-मोटी कोई हीनता हाथ लग गई उसीका पहाड़ कर दिया। उनका उद्देश्य देव को बिहारी से श्रेष्ठ सिद्ध करना था। इसीलिए वे समालोचना के समीचीन और पक्षपातशून्य स्वरूप को अपनाने में असमर्थ रहे। दीनजी की यह पुस्तक बिहारी के संरक्षण के लिए लिखी गई है। इसमें भी आलोचक का ध्यान देव के अधिकतर उन्हीं छन्दों की ओर गया है जिनमें अपेक्षाकृत भाव-सौन्दर्य की कमी है। इतने ग्रन्थों में सभी उक्तियां समान रूप से सुन्दर नहीं हो सकती हैं। उनके आधार पर कवि के महत्त्व को कम करना आलोचना का दुरुपयोग-मात्र है। मिश्रबन्धुओं ने इसीको आश्रय दे दिया था और दीनजी को इसे वाध्य होकर अपनाना पड़ा। भावापहरण वाली बात भी कुछ ऐसी ही है। भावों का आदान-प्रदान होता ही रहता है। कुछ-भाव तो युग की सम्पत्ति होते हैं। उन्हींको कृष्णबिहारी ने भावों के सिक्के कहा है। इन भावों के चित्रण तो सभी कवि करते हैं, वे उस काल की शैली के मुख्य अंग हो जाते हैं। बिहारी और देव के भावसाम्य का एक कारण यह भी है। फिर भावों के आदान-प्रदान में सर्वत्र ही भावों का सुन्दर रूप

---

१. 'बिहारी और देव' पृष्ठ ३४।

नहीं रह पाता है। फिर कुछ रुचि-वैचित्र्य के लिए भी तो स्थान है। एक ही भाव किसी को सुन्दर और किसी को असुन्दर लग सकता है। मिश्रबन्धुओं ने अपनी आलोचना में इतना विवेक नहीं किया और दीनजी उसी शैली को अपनाकर उनकी आलोचना का उत्तर दे देते हैं।

दीनजी की पुस्तक द्वारा आलोचना के विकास में कोई नवीन प्रवृत्ति नहीं आती। हां, यह झगड़ा हमेशा के लिए शान्त हो जाता है। 'बिहारी और देव' के झगड़े की यह अन्तिम पुस्तक है। उसी शैली में उन्हीं दोषों को देव में दिखा देने पर आलोचना-जगत् पर यह प्रभाव पड़ा कि आलोचना का यह दृष्टिकोण ठीक नहीं है। यह तर्क की ठीक पद्धति नहीं, हेत्वाभास की पद्धति है। इन आलोचनाओं में रुचि-वैचित्र्य का ही प्राधान्य रहा है। इसलिए अब तक इन्हीं सभी पुस्तकों को एक प्रकार से निर्णयात्मक कोटि की आलोचना कह सकते हैं। "देव" देव ही हैं और केशव "देवेश" हैं। देव और केशव में जमीन-आसमान का अन्तर है।[1] इस प्रकार की आलोचना निर्णयात्मक कोटि की है। इससे पूर्ववर्ती अलोचकों ने शास्त्रीय आधार भी अपनाया था और कहीं-कहीं वे प्रभाववादी भी हो गए थे। पर दीनजी में ये दोनों ही तत्त्व स्पष्ट नहीं हैं। उन्होंने दोषों की उद्भावना करते हुए कुछ व्याख्या की है और निर्णय सहृदय पाठकों पर छोड़ दिया है। इस व्याख्या में भी अलंकारादि के निर्देश अथवा प्रभाववादी उक्तियों के समावेश का अवसर नहीं आया है। यह व्याख्या बहुत-कुछ टीका-पद्धति के अनुरूप है। बिहारी के प्रति दीनजी ने पक्षपातपूर्ण दृष्टि रखी है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। संभवतः इस झगड़े का अन्त करने के लिए यह दृष्टिकोण आवश्यक भी था। देव के छन्दों की प्रशंसा करते हुए भी उन्हें बिहारी की छाया बताना इसी मनोवृत्ति का परिचायक है।[2] वे देव को बिहारी का टीकाकार मानते हैं।[3] यह बिहारी के प्रति अनुचित पक्षपात और देव के प्रति अन्याय है। लेकिन इस काल में आलोचना के दृष्टिकोण में यह संकीर्णता थी। उसका अभाव दीनजी में भी नहीं है। जैसा कि निर्देश किया जा चुका है इस पद्धति का अन्त करने के लिए दृष्टिकोण की यह संकीर्णता भी अप्रत्यक्ष रूप से सहायक हुई है। इसकी अतिशयता ने इस पद्धति के प्रति अरुचि उत्पन्न कर दी।

---

१. 'बिहारी और देव', पृष्ठ ८५।

२. वही, पृष्ठ ३८-३९।

३. वही, पृष्ठ ६३।

मिश्रबन्धुओं के द्वारा निर्दिष्ट दोषों का निराकरण उनकी गलतियाँ को दिखा-कर भी किया गया है। बिहारी पर चोरी का अपराध लगाया गया था। इसलिए दीनजी ने देव के भावापहरण के अनेक उदाहरण दिये हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि बिहारी में जिन दोषों की उद्भावना मिश्रबन्धुओं ने की है, उन्हीं दोषों से पूर्ण देव की कविता को सिद्ध करना इस आलोचना का प्रमुख उद्देश्य प्रतीत होता है। उसी पद्धति और उन्हीं तर्कों से देव पर दोष लगा देना इनकी आलोचना की प्रधान विशेषता मानी जा सकती है। दीनजी का निम्न लिखित वाक्य उनकी आलोचना के स्वरूप का अच्छा परिचायक है। जैसे उन्होंने सर्वत्र अपनाया है—"पं० कृष्णविहारी मिश्र अपने 'देव और बिहारी' के २४६वें पृष्ठ पर लिखते हैं—"सीतल-जैसे बड़े कवियों को देवजी के भाव अपनाने में लालायित देखकर पाठक देवजी की भावोत्कृष्टता का अन्दाजा कर सकते हैं" हम इस वाक्य को इस प्रकार लिखते हैं "देव-जैसे महा-कवि बिहारी के भाव अपनाने में लालायित देखकर पाठक बिहारी की भावो-त्कृष्टता का अन्दाजा सहज में कर सकते हैं।"[1]

मिश्रबन्धुओं की समालोचना एकांगी थी। उन्हें बिहारी में दोष-ही-दोष दिखाई पड़ते थे। इसलिए उन्होंने बिहारी के मार्मिक और सहृदयजन-श्लाघ्य छन्दों की उपेक्षा की। जहाँ कहीं छोटी-मोटी कोई हीनता हाथ लग गई उसीका पहाड़ कर दिया। उनका उद्देश्य देव को बिहारी से श्रेष्ठ सिद्ध करना था। इसीलिए वे समालोचना के समीचीन और पक्षपातशून्य स्वरूप को अपनाने में असमर्थ रहे। दीनजी की यह पुस्तक बिहारी के संरक्षण के लिए लिखी गई है। इसमें भी आलोचक का ध्यान देव के अधिकतर उन्हीं छन्दों की ओर गया है जिनमें अपेक्षाकृत भाव-सौन्दर्य की कमी है। इतने ग्रन्थों में सभी उक्तियाँ समान रूप से सुन्दर नहीं हो सकती हैं। उनके आधार पर कवि के महत्त्व को कम करना आलोचना का दुरुपयोग-मात्र है। मिश्रबन्धुओं ने इसीको आश्रय दे दिया था और दीनजी को इसे बाध्य होकर अपनाना पड़ा। भावापहरण वाली बात भी कुछ ऐसी ही है। भावों का आदान-प्रदान होता ही रहता है। कुछ-भाव तो युग की सम्पत्ति होते हैं। उन्हींको कृष्णविहारी ने भावों के सिक्के कहा है। इन भावों के चित्रण तो सभी कवि करते हैं, वे उस काल की शैली के मुख्य अंग हो जाते हैं। बिहारी और देव के भावसाम्य का एक कारण यह भी है। फिर भावों के आदान-प्रदान में सर्वत्र ही भावों का सुन्दर रूप

१. 'बिहारी और देव' पृष्ठ ३४।

नहीं रह पाता है। फिर कुछ रुचि-वैचित्र्य के लिए भी तो स्थान है। एक ही भाव किसी को सुन्दर और किसी को असुन्दर लग सकता है। मिश्रबन्धुओं ने अपनी आलोचना में इतना विवेक नहीं किया और दीनजी उसी शैली को अपनाकर उनकी आलोचना का उत्तर दे देते हैं।

दीनजी की पुस्तक द्वारा आलोचना के विकास में कोई नवीन प्रवृत्ति नहीं आती। हाँ, यह झगड़ा हमेशा के लिए शान्त हो जाता है। 'बिहारी और देव' के झगड़े की यह अन्तिम पुस्तक है। उसी शैली में उन्हीं दोषों को देव में दिखा देने पर आलोचना-जगत् पर यह प्रभाव पड़ा कि आलोचना का यह दृष्टिकोण ठीक नहीं है। यह तर्क की ठीक पद्धति नही, हेत्वाभास की पद्धति है। इन आलोचनाओं में रुचि-वैचित्र्य का ही प्राधान्य रहा है। इसलिए अब तक इन्ही सभी पुस्तकों को एक प्रकार से निर्णयात्मक कोटि की आलोचना कह सकते हैं। "देव" देव ही हैं और केशव "देवेश" हैं। देव और केशव में जमीन-आसमान का अन्तर है।[1] इस प्रकार की आलोचना निर्णयात्मक कोटि की है। इससे पूर्ववर्ती अलोचकों ने शास्त्रीय आधार भी अपनाया था और कहीं-कही वे प्रभाववादी भी हो गए थे। पर दीनजी में ये दोनों ही तत्त्व स्पष्ट नहीं हैं। उन्होंने दोषों की उद्भावना करते हुए कुछ व्याख्या की हैं और निर्णय सहृदय पाठकों पर छोड़ दिया है। इस व्याख्या में भी अलंकारादि के निर्देश अथवा प्रभाववादी उक्तियों के समावेश का अवसर नहीं आया है। यह व्याख्या बहुत-कुछ टीका-पद्धति के अनुरूप है। बिहारी के प्रति दीनजी ने पक्षपातपूर्ण दृष्टि रखी है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। संभवतः इस झगड़े का अन्त करने के लिए यह दृष्टिकोण आवश्यक भी था। देव के छन्दों की प्रशंसा करते हुए भी उन्हें बिहारी की छाया बताना इसी मनोवृत्ति का परिचायक है।[2] वे देव को बिहारी का टीकाकार मानते हैं।[3] यह बिहारी के प्रति अनुचित पक्षपात और देव के प्रति अन्याय है। लेकिन इस काल में आलोचना के दृष्टिकोण में यह संकीर्णता थी। उसका अभाव दीनजी में भी नहीं है। जैसा कि निर्देश किया जा चुका है इस पद्धति का अन्त करने के लिए दृष्टिकोण की यह संकीर्णता भी अप्रत्यक्ष रूप से सहायक हुई है। इसकी अतिशयता ने इस पद्धति के प्रति अरुचि उत्पन्न कर दी।

---

१. 'बिहारी और देव', पृष्ठ ८५।

२. वही, पृष्ठ ३८-३६।

३. वही, पृष्ठ ६३।

तुलना समालोचना का एक तत्त्व अवश्य है। यह भी एक पद्धति है। पर समालोचना इसीमें सीमित नहीं है। फिर जिन किन्हीं दो व्यक्तियों की तुलना का तो अर्थ भी नहीं। तुलना के कुछ निश्चित सिद्धान्त भी होने चाहिएँ। साम्य और वैषम्य के आधार पर दोनों कवियों की विशेषताओं का स्पष्टीकरण और आपेक्षिक मूल्यांकन ही तुलना का उद्देश्य है। प्रकाश के स्वरूप और महत्त्व को समझने के लिए अन्धकार के स्वरूप-ज्ञान की आवश्यकता है, बस तुलना का मूल यही है। पर हिन्दी-साहित्य के आलोचक कुछ समय तक तुलना के इस प्रकृत स्वरूप को भूल गए थे। उन्होंने तुलना करना ही अपना परम कर्तव्य समझ लिया था। खोजने पर सब कवियों में कहीं-न-कहीं साधारण साम्य मिल ही जाता है। लेकिन ऐसी तुलना से आलोचना का कलेवर-मात्र ही बढ़ता है, और कोई लाभ नहीं है। पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने अपनी 'मतिराम ग्रन्थावली' की भूमिका में मतिराम की तुलना, सूर, तुलसी, रघुनाथ, कालिदास, रवीन्द्र, शेक्सपियर, तोष आदि से तुलना की है। इन कवियों की पारस्परिक क्या समता है? रवीन्द्रनाथ ने अपने प्रियतम भगवान् को अपने हृदय में बताया है और मतिराम की गोपियाँ निरन्तर कृष्ण की मधुर मुरली सुनती रहती हैं। कालिन्दी-कूल पर उनके विहार का प्रत्यक्ष करती रहती है। इन दोनों उक्तियों में कृष्णबिहारी ने साम्य बताकर उपर्युक्त दोनों कवियों की तुलना की है। वे मतिराम के छन्द में भाव-सौंदर्य की अधिकता बताते हैं। क्या लेखक मतिराम को रवीन्द्रनाथ से बड़ा कवि मानना चाहते हैं। ऐसी तुलनाओं का ग्रन्थ की कलेवर-वृद्धि के अतिरिक्त कोई उपयोग नहीं है। निराधार और निरर्थक तुलना का कुछ रोग-सा हिन्दी के आलोचकों को कुछ दिन तक सताता रहा। इसने आलोचना के विकास का अवरोध ही किया है। लेकिन बिहारी और देव का झगड़ा और यह उद्देश्य-विहीन तुलना का क्रम अधिक दिन तक नहीं चला। शुक्लजी, बाबू श्यामसुन्दरदास आदि कतिपय आलोचकों, और 'नागरी प्रचारिणी' आदि पत्रिकाओं द्वारा आलोचना की विश्लेषणात्मक और समीचीन पद्धति का प्रसार प्रारम्भ हो गया। आलोचकों और पाठकों का ध्यान इस झगड़े से हटकर उधर आकृष्ट हो गया।

बंगला का आधुनिक साहित्य हिन्दी की अपेक्षा समृद्ध और विकासशील है। विकास की दौड़ में वह हिन्दी की अपेक्षा एक युग आगे है। पाश्चात्य शैली की आधुनिक आलोचना का जब हिन्दी में जन्म ही हुआ था, जब उसका शैशव-काल ही था, उसके पास आलोचना के निश्चित मानदंडों और प्रणाली का नितांत अभाव था उस समय बंगला-समालोचना का पर्याप्त विकास हो चुका था। उस

भाषा के साहित्य को बहुत-से गम्भीर समालोचक कई सुन्दर रत्न दे चुके थे। अब तक हिन्दी के जिन आलोचना-ग्रन्थों का हमने विवेचन किया है, उनकी आलोचना निर्णयात्मक कोटि की है। उनमें एक कवि को दूसरे से श्रेष्ठ बता देने का लोभ है। इस श्रेष्ठता का आधार बहुत-कुछ वैयक्तिक रुचि है। इसमें पक्षपात और राग-द्वेष का अभाव नहीं है। इन्हें छिपाने के लिए आलोचक सहृदयता की दुहाई अवश्य देते रहे हैं। इन आलोचनात्मक प्रयासों में वैयक्तिक राग-द्वेष को तो इतना स्थान नहीं मिला। इसका कारण तो स्पष्ट है कि अब तक आलोचना न केवल अतीत युग के नष्ट-अनिष्ट कवियों पर ही दृष्टि डालती थी। उसमें वर्तमान आलोचकों के राग-द्वेष की कल्पना का कोई कारण नहीं, पर रुचि के परिष्कार का अभाव था। गम्भीर शास्त्रीय अध्ययन और काव्य के निरंतर अनुशीलन के रुचि-संस्कार हो जाने के बाद आलोचक के निर्णय में शास्त्रीय गम्भीरता और सर्वमान्यता आ जाती है। उसका हृदय वह कसौटी हो जाता है, जिसका निर्णय सबको मानना ही पड़ जाता है और वह निर्णय भी शास्त्र के अधिकारपूर्ण शब्दों का रूप धारण कर लेता है। हिन्दी के आलोचकों का निर्णय इस कोटि को नहीं पहुँच सका था। कहीं-कहीं उन्हें अपरिष्कृत रुचि ने पक्षपातपूर्ण होने के लिए बाध्य कर दिया था। फिर एक ही कवि का वकील बनकर आना आलोचक का कार्य नहीं। उसमें पक्षपात के लिए पर्याप्त स्थान है। हिन्दी के आलोचक तो बिहारी और देव के दो दलों में बँट गए थे। फिर आलोचना के समीचीन स्वरूप के विकास की आशा भी व्यर्थ ही थी। वे लोग कवि को पूरा जाँचने का कष्ट भी नहीं उठाते। संभवतः उनमें इतना धैर्य नहीं था। एक कवि की एक उक्ति को लेकर उनको विश्व के सारे कवियों से ऊँचा या नीचा बताने का साहस कर बैठते थे। इसके विरुद्ध बंगला के कतिपय समालोचक व्याख्यात्मक समालोचना-पद्धति को अपनाकर साहित्य-क्षेत्र में उतर आए थे। सैद्धान्तिक निरूपण के साथ ही उन्होंने उन सिद्धान्तों के आलोक में अपने आलोच्य कवियों और ग्रन्थों को देखा है। उन्हें अपने कवियों के श्रेणी-विभाग का लोभ भी नहीं रहा। वे केवल उनकी काव्यगत विशेषताओं का सैद्धान्तिक निरूपण भर कर देते हैं। पाठक के सम्मुख उनकी विशेषताओं को खोलकर रख देना उनका कार्य था। मूल्यांकन का कार्य पाठक स्वयं कर लेता था। फिर वे पाठक को भी श्रेष्ठ और हीन के रूप में मूल्यांकन करने की प्रेरणा और स्वतन्त्रता प्रदान नहीं करते थे। पाठक उन दोनों की साहित्यिक देन की विशेषताओं को समझता था। उनके महत्त्व को भी स्वीकार करता था, क्योंकि आलोचक का इनसे अभिप्राय नहीं रहा। तुलनात्मक समालोचना की

बहुत ही समीचीन पद्धति है। इससे दो कवियों और नाटककारों को वास्तविक रूप में समझने का अवसर मिलता है।

हिन्दी में ऐसी दो पुस्तकों का अनुवाद हुआ है। लब्धप्रतिष्ठ नाटककार और प्रौढ़ समालोचक द्विजेन्द्रलाल राय की 'कालिदास और भवभूति' तथा पूर्ण-चन्द्र वसु की 'साहित्य-चिन्ता' के अनुवाद हुए। पहली पुस्तक का अनुवाद पं० रूपनारायण पाण्डेय द्वारा किया गया है। यह मूल ग्रन्थ का अविकल अनुवाद है। पर पं० रामदहिन मिश्र ने 'साहित्य-चिन्ता' नामक पुस्तक का 'साहित्य-मीमांसा' के नाम से छायानुवाद किया है। उन्होंने कहीं-कहीं अपनी ओर से जोड़ देने तथा मूल ग्रन्थ के कुछ भाग को छोड़ देने अथवा साधारण परिवर्तन कर देने की स्वतन्त्रता ले ली है। इस ग्रन्थ में साहित्यिक सैद्धान्तिक समालोचना हुई है। साहित्य के विभिन्न तत्त्वोंके लेखक ने पूर्वी और पाश्चात्य दृष्टि-कोणों का तुलनात्मक अध्ययन किया है। साहित्य का आदर्श, साहित्य में प्रेम, साहित्य में रक्तपात आदि पर दोनों दृष्टियों से विचार किया है। आलोचक का उद्देश्य भारतीय दृष्टिकोण की प्रौढ़ता का प्रतिपादन ही है। उन्होंने यह भी संकेत किया है कि भारतीय साहित्यिक आदर्श को पाश्चात्य समीक्षक और साहित्यकार मानने के लिए बाध्य हुए हैं। साहित्य में खून-व्यापार का विरोध एडिसन ने भी किया है। यह वहाँ पर भी सुरुचि के विरुद्ध ही माना जाता है।[1] पाश्चात्य वियोगान्त नाटकों के अध्ययन का पाठक पर कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता है। पाप की अपवित्रता का भाव दूर हो जाता है।[2] और यह जीवन के विकास के लिए घातक है। रक्तपात को कुरुचिपूर्ण और घृणित व्यापार मानने पर भी आर्य-साहित्य में सुन्दर वियोगान्त नाटक है। इनका प्रभाव भी जीवन में उत्कर्ष-विधायक है। इस प्रकार लेखक ने आर्य सिद्धान्तों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है,पर पूर्ण विवेक और तर्क के साथ। फिर उन्होंने पाश्चात्य सिद्धान्तों के महत्त्व को कम करने का प्रयत्न नहीं किया। भारतीय दृष्टि-कोण से उनकी कमियों का निरूपण हुआ है और यह स्वाभाविक भी है। 'कालिदास और भवभूति' में इन दोनों नाटककारों की दो प्रसिद्ध रचनाओं[3] का तुलनात्मक अध्ययन हुआ है। इसमें इन दोनों की आख्यान, वस्तु, चरित्र-चित्रण, कवित्व आदि की दृष्टि से तलस्पर्शी आलोचना हुई है। यह केवल

---

१. 'साहित्य मीमांसा', पृष्ठ ४६।

२. वही, पृष्ठ ४५।

३. 'अभिज्ञान शाकुन्तल' और 'उत्तर रामचरित'।

परिचयात्मक नहीं है, पर इसमें रचयिताओं और रचना की विशेषताओं का निरूपण हुआ है। कथावस्तु के चुनाव में दोनों कवियों का क्या दृष्टिकोण रहा है, इसका तुलनात्मक निरूपण हुआ है। "कालिदास ने बुद्धिमानी के साथ ऐसा विषय छाँट लिया कि उसमें उन्हें काव्य-कला या अलंकार-शास्त्र किसी की भी हत्या नहीं करनी पड़ी। परन्तु भवभूति ने ऐसा विषय चुना कि अलंकार-शास्त्र को अक्षुण्ण रखकर उसका नाटक बनाया ही नहीं जा सकता।"[1] अलंकार-शास्त्र और काव्य-कला के नियमों के पालन के लिए इन दोनों कवियों को चरित्र और आख्यान में इतिहास के विरुद्ध कई बातों की कल्पना करनी पड़ी है। उनका निरूपण लेखक ने किया है। उन परिवर्तनों ने काव्य-सौन्दर्य में क्या वृद्धि हुई, इसका भी विवेचन है। लेखक ने यह भी स्पष्ट किया है कि 'महाभारत' के अनावृत दुष्यन्त में कालिदास ने कितनी चारित्रिक सबलता की प्रतिष्ठा की है और उसमें कितने सफल हुए हैं। लेखक ने पाश्चात्य और भारतीय दोनों काव्य-सिद्धान्तों के आधार पर इन आलोच्य रचनाओं का अध्ययन किया है। "भवभूति ने इस नाटक को इस तरह समाप्त करके केवल काव्य-कला की हत्या ही नहीं, पोइटिक जस्टिस (Poitic Justice) का भी गला घोंट दिया है। एक अत्याचारी पुरुष को अन्त में सुखी देखकर पाठक या श्रोता कोई भी नहीं सन्तुष्ट होता। परन्तु भवभूति ने नाटक में यही किया है।" अलंकार-शास्त्र के अनेक नियमों के निर्वाह के लिए लेखकों को क्या करना पड़ा है, इसका भी निर्देश किया गया है। राय साहब के मत से कहीं-कहीं बहुत-से व्यक्ति असहमत हो सकते हैं, पर उसे तर्कशून्य नहीं सिद्ध कर सकते। आलोचना में इतने रुचि-वैचित्र्य के लिए तो स्थान है ही। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने बीच-बीच में दोनों देशों के नाटकीय सिद्धान्तों का भी विश्लेषण किया है। उनका विवेचनात्मक निरूपण करते हुए उन्हें अपनी आलोचना का मानदंड बनाया है। इसीलिए उनकी पद्धति को विश्लेषणात्मक कहना पड़ता है। भारतीय अलंकार-शास्त्र से जो मानदंड उन्होंने ग्रहण किया है वह केवल अलंकारों, रसों, गुणों, वृत्तियों या नाटक के भेदोपभेदों का नामकरण-मात्र नहीं है। हिन्दी के अब तक के आलोचकों ने भारतीय पद्धति का ऐसा ही स्थूल उपयोग किया था, पर राय साहब ने भारतीय विचार-धारा को आलोचना का मान बनाया है। उन्होंने भारतीय नाट्य-शास्त्र के द्वारा प्रतिपादित नाटक की आत्मा का विवेचन किया है, नाटक की मूल विचार-धारा पर विचार किया है और उसी दृष्टि

---

१. 'अभिज्ञान शाकुन्तल' और 'उत्तर रामचरित', पृष्ठ ३३।

से इन दोनों ग्रन्थों की आलोचना की है। शैली की कुछ प्रणालियों की अपेक्षा काव्य-दर्शन (Philosophy of Poetry) के आधार पर किया गया विवेचन स्पष्टतः प्रौढ़ होता है। हिन्दी की तत्कालीन समालोचना में यही कमी थी। उसने काव्य की रचना पर विचार नहीं किया गया। केवल उसके बाह्य स्वरूप तक ही सीमित रहे।

हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि में अनुवादों ने पर्याप्त सहयोग दिया है। ये दोनों समालोचना के उत्कृष्ट ग्रन्थ होते हुए भी हिन्दी की अपनी निजी सम्पत्ति नहीं हैं। इसलिए इनका अध्ययन हिन्दी-आलोचना के विकास-क्रम में रखकर करना ठीक नहीं है। फिर भी दूसरी भाषाओं के साहित्य प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दी को प्रभावित करते रहे हैं। इन अनूदित ग्रन्थों ने भी हिन्दी-पाठकों के सम्मुख तुलनात्मक समालोचना का एक समीचीन रूप उपस्थित करके उनकी रुचि के परिमार्जन में सहयोग दिया है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। तुलना की जो अस्वस्थ और असमीचीन पद्धति हिन्दी में चल रही थी, उसके उन्मूलन में इन ग्रन्थों ने परोक्ष रूप में अवश्य सहयोग दिया है। उस काल में इनका अनुवाद होना भी यह सिद्ध करता है कि हिन्दी का तत्कालीन पाठक इस रुचि-परिवर्तन में इनका महत्व स्वीकार करता था। इसी व्यापक धारणा का अचेतन प्रभाव इन अनुवादों की मूल प्रेरणा है।

ऊपर जिस प्रौढ़ तुलनात्मक प्रणाली का विवेचन किया गया है। उसने हिन्दी-साहित्य के रुचि-संस्कार में तो सहयोग दिया, पर उसका कोई स्पष्ट प्रभाव ग्रंथ के रूप में सामने नहीं आया। तुलनात्मक आलोचना-पद्धति का समय बीत चुका था। आलोचना नये रूपों और विश्लेषणात्मक पद्धति की ओर बढ़ने लगी थी। इस पद्धति की प्रेरणा की वृद्धि में इन आलोचनाओं ने अवश्य सहयोग दिया। फिर भी उपर्युक्त पद्धति के अनुकरण पर छन्नूलाल द्विवेदी की 'कालिदास और शेक्सपियर' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। इसमें इन दोनों कलाकारों का चरित्र-चित्रण, कवित्व, नाटकत्व, उपदेश आदि की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन हुआ। जीवन-चरित्र का विशद निरूपण है। पर इसमें वे पं० कृष्णविहारी मिश्र की शैली का अनुगमन करते हुए-से प्रतीत होते हैं। दो कवियों के जीवन-चरित को पृथक्-पृथक् दे देना कोई तुलना नहीं। शेष पुस्तक में शीर्षक तो राय साहब की पुस्तक के समान ही है पर इसमें उतनी प्रौढ़ता नहीं आ पाई है। इन्होंने आलोचना का जो मानदंड अपनाया है, वह बहुत-कुछ स्थूल और बहिरंग है। उसमें न तो शास्त्रीय गम्भीरता है और न काव्य की मूल प्रकृति से सम्बन्ध ही। फिर उन्होंने उन बहिरंग तत्वों की व्याख्या द्वारा स्पष्ट

भी नहीं किया। कालिदास को सौन्दर्य का कवि कहने का क्या तात्पर्य है, इसका स्पष्टीकरण नहीं हुआ। लेकिन आलोचक ने इस "सुन्दर" शब्द को अपनी समीक्षा का आधार-स्तम्भ-सा बनाया है। कालिदास के काव्य-सौष्ठव का मूल्यांकन भारतीय विचार-पद्धति से होता अथवा अगर पाश्चात्य दृष्टिकोण से ही विचार करना था तो कोई संश्लिष्ट और सर्वाङ्गीण आधार लिया जाता। चरित्र के सम्बन्ध में विचार करते हुए उनके व्यक्तित्व की मूल प्रकृति को स्पष्ट करने वाली आलोचना नहीं हुई। अपितु लज्जा आदि चरित्र की कुछ बहिरंग विशेषताओं को लेकर तुलना हुई है। यह मानदंड भी बहुत-कुछ स्थूल ही माना जा सकता है। फिर भी आलोचक ने इन चरित्रों के व्यक्तित्व को बहुत-कुछ समझाने की सफल चेष्टा की है। 'कालिदास और भवभूति' के आलोक में कुछ फीकी प्रतीत होती है। अन्यथा हिन्दी-आलोचना की दृष्टि से इसमें पूर्ववर्ती समालोचना से अधिक संश्लिष्टता और समीचीनता तो है ही। इसमें निन्दा-स्तुति और ऊँचे-नीचे फतवे देने की प्रवृत्ति नहीं है। कालिदास और शेक्सपियर की कविता के दृष्टि-बिन्दुओं का विवेचन हुआ है। शेक्सपियर की अपेक्षा कालिदास का बाह्य सृष्टि का चित्रण अधिक प्रौढ़ और स्पष्ट है। शेक्सपियर का मानव-हृदय पर पूर्ण अधिकार है। इस प्रकार इन दोनों की विशेषताओं का तुलनात्मक निदर्शन हुआ है। "कालिदास-सौंदर्य की कल्पना में शेक्सपियर से आगे बढ़ा हुआ है। कालिदास का बाहरी जगत् पर जैसा आधिपत्य था, वैसा ही शेक्सपियर का अन्तर्जगत् पर अधिकार था। शेक्सपियर को यदि हम एक सौर-जगत् का सूर्य मानते हैं, तो कालिदास को भी दूसरे सौर-जगत् से सूर्य के सिवाय कुछ नहीं मान सकते। सौन्दर्य उसकी हद है। कालिदास सौन्दर्य-जगत् का राजा है। लज्जाशीला शकुन्तला, तपस्विनी पार्वती उसी कल्पना के नमूने हैं।" इसमें कहीं-कहीं आलोचक प्रभाववादी और निर्णायक भी हो गया है, इस आलोचना की एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि लेखक ने बहुत लम्बे उदाहरण दिये हैं और उनकी निष्पक्ष व्याख्या भी की है। कहीं-कहीं प्रशंसात्मक निर्देश भी है। लेखक ने विशेषताओं के विवेचन की अपेक्षा उदाहरण अधिक दिये हैं। इससे पाठक को दोनों कवियों के काव्य का रसास्वाद करने तथा अपने-आप उनके महत्त्व का निर्णय करने का अवसर प्राप्त होता है। इन दोनों कलाकारों की विशेषताओं का ज्ञान इन उदाहरणों द्वारा पाठक को भी हो जाता है। लेखक ने अपनी तरफ से विशेषताओं का निरूपण संक्षेप में किया है। अपने विचारों और निर्णयों को पाठक पर लादकर उसके रुचि-स्वातन्त्र्य के अपहरण की चेष्टा नहीं की गई है। इसमें यह अपने पूर्व

वर्ती आलोचकों से बहुत-कुछ भिन्न है। यह अपने ढंग का अच्छा ग्रन्थ है। पर इससे 'कालिदास और भवभूति' की तरह आलोच्य कवियों की विशेषताओं का संश्लिष्ट और सर्वांगीण ज्ञान नहीं हो पाता। हाँ, रसास्वाद का अवसर अवश्य मिल जाता है। तुलनात्मक प्रणाली की लोकप्रियता का समय निकल गया था। कालिदास और शेक्सपियर के अन्य भाषाओं के कवि होने के कारण भी यह पुस्तक हिन्दी के लिए गौण महत्त्व की रह गई।

: ८ :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप जिस आलोचना-पद्धति का जन्म ईसा की वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ था, शुक्ल जी के इस क्षेत्र में पदार्पण करने से पूर्व ही वह अपने जीवन-काल के प्रायः बीस-पच्चीस वर्ष बिता चुकी थी। इस बीच में मासिक, दैनिक एवं साप्ताहिक पत्र-पत्रिकाओं तथा स्वतंत्र ग्रन्थों के रूप में आलोचना के पर्याप्त प्रयास हुए। 'मिश्रबन्धु विनोद' तथा 'हिन्दी नवरत्न'-जैसे बृहद्काय ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए, और 'वेणी-संहार की आलोचना'-जैसी छोटी पुस्तिका भी। कई-एक कवियों के तुलनात्मक अध्ययन भी हुए। पर इन सब आलोचना-पद्धतियों में विकास के तत्त्वों का अभाव था। आलोचक अन्धकार में आलोचना का मार्ग खोज रहा था, इसलिए कभी प्रशंसा को आलोचना समझता था तो कभी दोष-दर्शन को। उसने कवियों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा अनेक बार प्रौढ़ सहृदयता का भी परिचय दिया, पर ऐसे किसी मार्ग का अवलम्बन नहीं कर सका जो उसे तथा परवर्ती आलोचकों को बहुत दूर तक ले जा सकता। अंग्रेजी के विद्वानों ने विभिन्न कालों और परिस्थितियों में लिये गए आलोचना के अर्थों का निर्देश किया है। इनमें से कतिपय निम्न-लिखित हैं—१. दोष-दर्शन, २. गुण-कथन, ३. निर्णय, तथा ४. तुलना। आलोचना के इन अर्थों में कोई विशेष काल-क्रम तो नहीं स्थापित किया जा सकता, पर आलोचना के मनोवैज्ञानिक विकास का क्रम तो अत्यन्त स्पष्ट ही है। यह क्रमिक विकास एक आलोचक में भी हो सकता है और किसी भाषा के सम्पूर्ण समीक्षा-साहित्य का भी इस विकास की दृष्टि से अध्ययन हो सकता है। वैसे समीक्षा के उपर्युक्त अर्थ कुछ ऐसे व्यापक हैं कि किसी भी काल, आलोचक और साहित्य में इनका नितान्त अभाव नहीं पाया जाता। विश्लेषणात्मक आलोचक भी कभी-कभी प्रसंगवश, प्रशंसा, दोष-दर्शन अथवा तुलना आदि पद्धतियों का उपभोग करने लग जाता है। कई शताब्दियों के विकास के

उपरान्त भी भाषाओं के समीक्षा-साहित्य में इन तत्वों के दर्शन हो जाते हैं। इस प्रकार इन अर्थों में निश्चित काल-क्रम का निर्धारण समीचीन नहीं। फिर भी प्रत्येक आलोचक अथवा सम्पूर्ण साहित्य के विकास में एक ऐसी अवस्था ज्ञात अथवा अज्ञात रूप में आती है जब इनमें से किसी एक अर्थ को ही आलोचना का वास्तविक स्वरूप समझा जाता है। उस समय दृष्टिकोण वहीं तक सीमित रहता है। इस दृष्टि से ये अर्थ-समीक्षा के विकास में मनोवैज्ञानिक स्तर (Phychological stage) भी माने जा सकते हैं। कभी-कभी विकास की ये अवस्थाएँ अत्यन्त स्पष्ट और पर्याप्त लम्बी होती हैं और उस समय इनमें काल-क्रम का निर्धारण भी संभव है। शुक्लजी के पूर्व तक हिन्दी-आलोचना का विकास इन्हीं अर्थों को आलोचना का प्रकृत स्वरूप मानकर चलता रहा। ये हिन्दी-आलोचक के मानसिक विकास तथा हिन्दी-समीक्षा के विकास की विभिन्न अवस्थाएँ मानी जा सकती हैं। आलोचना का जो वास्तविक और आधुनिकतम अर्थ-विश्लेषण (Analysis), विवेचन (Interpretation) और निगमन (Induction) है, जिनमें आलोचक की तटस्थता का तत्त्व भी अन्तर्भूत है, जो उस समय अज्ञात था। इन अर्थों के साथ हिन्दी-साहित्य में पदार्पण करके समीक्षा की निश्चित पद्धति को जन्म देने का श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को ही है। इनके पूर्व 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में इसकी कभी-कभी झलक मिल जाया करती थी, लेकिन इसको समर्थ आलोचक के रूप में आश्रय देने वाले प्रथम आलोचक आचार्य शुक्ल ही हुए हैं।

पहले जिन आलोचना-पद्धतियों के सम्बन्ध में विचार हुआ है, उससे यह स्पष्ट है कि अभी तक हिन्दी-समीक्षा अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही थी। उसमें वैयक्तिक रुचि का ही प्राधान्य था। आलोचक अपनी आलोच्य वस्तुओं के गुण-दोषों का निर्देश-भर कर देते थे। उसकी प्रशंसा करने में अतिशयोक्ति-पूर्ण शैली का उपयोग करते थे जिसमें चिन्तन की गम्भीरता और प्रौढ़ तर्क का नितान्त अभाव था अब तक रस तथा अलंकार आदि तत्त्वों के आधार पर ही काव्यों का विवेचन हुआ। काव्य के ये तत्त्व भारतीय साहित्य-चिन्तन की अमूल्य देन हैं। ये सर्वकालीन और सार्वदेशिक मान के तत्त्वों के रूप में स्वीकृत होने के लिए पूर्णतः उपयुक्त हैं। आज भी ये तत्त्व हिन्दी की ही नहीं, अपितु सभी भारतीय भाषाओं में साहित्य-समीक्षा के मूल आधार हैं। हिन्दी-साहित्य की आधुनिकतम समीक्षा भी इन प्राचीन तत्त्वों से मुक्त नहीं है। पर शुक्लजी के पूर्व तक तत्त्वों का स्थूल रूप ही ग्राह्य हुआ। इन तत्त्वों के बाह्य स्वरूप से ही तत्कालीन समालोचक परिचय प्राप्त कर सका था। इनकी

आत्मा से वह अनभिज्ञ ही था। इसलिए ये मान जड़ (Rigid) हो गए और इनके आधार पर की गई आलोचना केवल परम्परामुक्त, और निर्णयात्मक ही रह गई। इन आलोचकों ने इस प्रतिमान का अपनी आलोच्य वस्तु पर आरोप-भर कर दिया। 'अमुक छन्द में शृङ्गार रस है और अमुक छन्द में इतने अलंकार हैं', केवल इसी प्रकार की आलोचना हुई। जिस छन्द में अधिक-से-अधिक इन काव्यांगों का, उक्ति-चमत्कार के विभिन्न स्वरूपों का निर्देश किया जा सकता था, वह छन्द उतना ही श्रेष्ठ माना जाता था। आलोचक का ध्यान काव्य की आत्मा की ओर तो बिलकुल भी नहीं था। उस भाव-सौन्दर्य को देखने का प्रयत्न आलोचकों ने कभी नहीं किया जिसके कारण कोई छन्द सहृदयजन-श्लाघ्य बन जाता है। जिस तत्त्व की उपस्थिति से अलंकार आदि तत्त्वों का महत्त्व था, उसकी खोज इन आलोचकों ने नहीं की। यही कारण है कि शुक्लजी ने हिन्दी के आधुनिक गद्य-साहित्य के द्वितीय उत्थान-काल तक की आलोचनाओं को रूढ़िगत (Convention) कहा है।[1] उनका कहना है कि इसमें कवि की विशेषताओं और अन्तः प्रवृत्ति की छान-बीन की ओर ध्यान नहीं दिया गया।[2] शुक्लजी इन तत्त्वों को समीक्षा में बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। उन्होंने रस, अलंकार आदि की नवीन और मनोवैज्ञानिक व्याख्या करके तथा उनको साहित्य-समीक्षा के आधुनिक मान (Standard) में स्थान देकर इन तत्त्वों का जीर्णोद्धार कर दिया। इन तत्त्वों में नवीन स्फूर्ति और जीवन फूंक दिया। शुक्लजी ने इस नवीन व्याख्या में साहित्य और जीवन का सम्बन्ध स्थापित कर दिया और 'रस' के अनुभूति-पक्ष के साथ ही सहृदय समाज पर पड़ने वाले प्रभाव का भी सूक्ष्म विवेचन किया। इस प्रकार उसे नवीन रूप देते हुए भी अभारतीय नहीं होने दिया।

साहित्य और जीवन का कोई गम्भीर सम्बन्ध न माने जाने के कारण काव्य की परिभाषा में उक्ति-चमत्कार का प्राधान्य मान्य था। द्विवेदी जी ने सैद्धान्तिक रूप में इसका विरोध भी किया। साहित्य-सृजन के क्षेत्र में रीति-कालीन इस मनोवृत्ति की स्पष्ट प्रतिक्रिया भी प्रारम्भ हो गई। पर आलोचना में इस सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप सामने नहीं आया। द्विवेदी जी ने अपने आपको अधिकांशतः भाषा-सुधार तक ही सीमित रखा है। शेष आलोचकों को बिहारी और देव का काव्य ही उत्कृष्ट जँचा। सूर और तुलसी में भक्ति-धारा

---

१. शुक्ल जी : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास,' पृष्ठ ५८८।

२. शुक्ल जी : वही, पृष्ठ ६२३।

तो मान्य थी पर काव्योत्कर्ष नहीं। ये कवि एक प्रकार से धर्म-ग्रन्थ-प्रणेता की दृष्टि से देखे जाते रहे। यही कारण है कि देव, बिहारी, मतिराम आदि चमत्कारवादी और मनोरंजन को ही काव्य का लक्ष्य मानने वाले कवि भी सूर, तुलसी, जायसी, कबीर आदि सांस्कृतिक कवियों के समकक्ष रखे गए अथवा बहुत स्थानों पर उनकी श्रेष्ठता का भी प्रतिपादन हुआ। देव और बिहारी तक ही आलोचना के सीमित हो जाने से तत्कालीन साहित्यिक रुचि का स्पष्ट संकेत मिलता है। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' उन कवियों के सम्बन्ध में आलोचनात्मक परिचय निकालती रहती थी जिनमें भारतीय संस्कृति की प्रेरणा है, और जिनके कारण हिन्दी भी विश्व-साहित्य के सम्मुख अपना मस्तक ऊँचा करके चल सकती है। ग्रियर्सन ने तुलसी के 'रामचरितमानस' के काव्यगत महत्त्व की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया। पर साहित्य और जीवन का सम्बन्ध स्पष्ट कर देने वाली आलोचना तो शुक्ल जी द्वारा सम्पादित 'तुलसी-ग्रन्थावली' की भूमिका से ही प्रारम्भ हुई। इसके पूर्व के प्रयास हिन्दी के आलोचकों की रुचि को व्यापक रूप से प्रभावित नहीं कर सके। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का ध्येय अनुसन्धानात्मक था। शुक्ल जी का उसमें पूरा सहयोग था। वे प्रारम्भ से ही इस पत्रिका के माध्यम से हिन्दी-आलोचना को सुपथ पर लाने का कार्य कर रहे थे। उन्होंने 'राधाकृष्णदास का जीवन चरित्र' नामक निबन्ध प्रकाशित कराया था, जिसमें उनकी आलोचना-शैली का प्रारम्भिक रूप मिलता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अब तक 'रामचरितमानस' आदि ग्रन्थों का आदर विशेषतः धर्म-ग्रन्थों के रूप में ही था, पर शुक्ल जी ने उन्हींको काव्य के आदर्श ग्रन्थ मानकर उक्ति-चमत्कार द्वारा मनोरंजन ही नहीं अपितु रसास्वाद द्वारा हृदय-प्रसार और परिष्कार को काव्य का उद्देश्य माना। तुलसीदास जी के 'रामचरितमानस' का प्रभाव शुक्ल जी के प्रतिमान पर तो बहुत ही अधिक पड़ा, पर इसके साथ ही हिन्दी-आलोचना भी साहित्य को जीवन की व्याख्या मानकर चलने लगी। शुक्ल जी ने अपनी आलोचना द्वारा नवीन प्रतिमान ही नहीं दिया, अपितु व्याख्यात्मक और निगमनात्मक समीक्षा (Inductive criticism) का भी श्रीगणेश कर दिया। इस शैली के आलोचकों ने मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक आदि विभिन्न आलोचना-पद्धतियों के पत्रों का अनुसरण किया। इस प्रकार शुक्लजी की आलोचना ने युगान्तरकारी कार्य किया, हिन्दी-साहित्य में एक नवीन युग का आरंभ कर दिया। आगे के विवेचन से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जायगा कि आलोचना का आधुनिकतम विकास शुक्ल जी द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अवलम्बन करने

से ही हो सका है ।

हिन्दी-साहित्य में शुक्लजी ही प्रथम आलोचक हैं जिन्होंने प्रयोगात्मक और सैद्धान्तिक समालोचना को मिला दिया है। इन्होंने इन दोनों रूपों का ऐसा सुन्दर समन्वय किया है कि आलोचना के ये दोनों रूप एक दूसरे के विकास में सहायक हुए हैं। शुक्लजी ने जो कुछ सैद्धान्तिक निरूपण किया वही उनकी आलोचना का मानदंड हो गया और वे इन सिद्धान्तों तक अपनी प्रयोगात्मक आलोचना द्वारा ही पहुँचे हैं। तुलसी, सूर आदि के काव्य-ग्रन्थों से ही उन्हें ये सिद्धान्त प्राप्त हुए। इस प्रकार शुक्लजी ने आलोचना की निगमानात्मक शैली का सूत्रपात किया है। बाबू श्यामसुन्दरदास जी शुक्लजी के समकालीन ही थे। ये दोनों एक ही क्षेत्र में प्रारम्भ से कार्य करते रहे हैं। बाबू जी ने आलोचना के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उनकी आलोचना-पद्धति मोटे रूप से शुक्लजी से बहुत अधिक भिन्न भी नहीं मानी जा सकती। आगे हम इस पर विचार करेंगे। यहाँ पर तो हमें यह कहना है कि यद्यपि बाबू जी ने सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक दोनों क्षेत्रों में ही कार्य किया है। पर वे शुक्लजी की तरह समन्वय नहीं कर सके। उनमें से दोनों क्षेत्र एक-दूसरे से प्रायः पृथक् ही रहे। उनके सारे समालोचना-सिद्धान्तों ने उनकी आलोचना-पद्धति को प्रभावित किया हो अथवा वे सब उन्हें अपनी प्रयोगात्मक आलोचना से ही मिले हों, ये दोनों बातें ही बाबू जी के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकतीं। इतना नहीं इन दोनों रूपों के सामंजस्य का जो रूप शुक्लजी में है, वह अन्यत्र कहीं भी मिलना असंभव नहीं तो दुर्लभ अवश्य है। लेकिन शुक्लजी की यह पद्धति कुछ इतनी प्रभावोत्पादक और लोकप्रिय हुई कि उनके परवर्ती और समकालीन प्रायः सभी आलोचकों ने इसका थोड़ा-बहुत अनुसरण किया है। इन दोनों रूपों का यह सामंजस्य जिसके दर्शन हमें शुक्लजी में होते हैं, निगमनात्मक (Inductive) आलोचना की प्रधान विशेषता भी है। इस आलोचना में प्रतिमान आलोच्य ग्रन्थ के आधार पर निर्मित होता है। 'बाहर से आरोपित नहीं किया जाता' का तात्पर्य ही यह है। शुक्लजी में इस पद्धति के आदर्श रूप के दर्शन होते हैं। शुक्लजी की आलोचना के मान भारतीय होते हुए भी उपज्ञ हैं, क्योंकि उन्होंने उनकी मौलिक व्याख्या की है और स्वयं उन निर्णयों पर पहुँचे है। वे सिद्धान्त उन्हें अपनी प्रयोगात्मक आलोचना से ही प्राप्त हुए हैं। आगे हम यथावसर इस बात पर विचार करेंगे कि शुक्लजी का यह प्रतिमान क्या वैयक्तिक और आरोपित भी कहा जा सकता है।

शुक्लजी के काव्य-सम्बन्धी विचार भारतीय हैं। उन्होंने अपने सैद्धान्तिक

विवेचन के लिए भारतीय अलंकार-शास्त्र को ही उपजीव्य बनाया है। कहीं-कहीं पर पाश्चात्य विचार-धारा का भी उपयोग किया है। लेकिन शुक्लजी ने कहीं पर भी इन दोनों परम्पराओं के सिद्धान्तों को ज्यों-का-त्यों ग्रहण नहीं किया है। उनके गम्भीर और मौलिक चिन्तन की छाप सर्वत्र ही स्पष्ट है। उन्होंने दोनों परम्पराओं के सिद्धान्तों को अपने गम्भीर अध्ययन, गूढ़ चिन्तन और प्रौढ़ तर्क द्वारा आत्मसात् कर लिया है। वे सब उनके अपने हो गए हैं। जहाँ पर आचार्यों से ऐकमत्य नहीं है, उसका निरूपण भी उन्होंने निर्भीकता पूर्वक किया है। इस प्रकार उनका सैद्धान्तिक निरूपण मौलिक ही है। हाँ, उनमें से अधिकांश सिद्धान्तों को भारतीय और पाश्चात्य आचार्यों का समर्थन भी प्राप्त है। पाश्चात्य सिद्धान्तों का उपयोग तो अधिकांशतः अपने मत की पुष्टि के लिए ही हुआ है, पर भारतीय सिद्धान्तों की व्याख्या हुई है, इसलिए उन्हीं-को उपजीव्य कहना चाहिए, पाश्चात्य को नहीं। पाश्चात्य सिद्धान्तों का उपयोग करते हुए भी उन्होंने अपनी भारतीय प्रकृति की अवहेलना नहीं की है। जो सिद्धान्त हमारी परम्परा के अनुकूल हैं, उन्हींको शुक्लजी ने अपनाया है। शेष की तो उन्होंने आलोचना की है। शुक्लजी ने भारतीय और पाश्चात्य सिद्धान्तों के मौलिक अन्तर को खूब समझा है। इसलिए वे पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रियों की तरह वादों का समर्थन नहीं कर सके। वे कविता और आलोचना को वादों में घसीट ले जाना अनुचित समझते हैं। ब्रेडले आदि कला-वादियों और प्रभाववादियों के विचारों से सहमत नहीं हो सके। लेकिन मूल्यवादी रिचर्ड्स के विचारों को उनका समर्थन प्राप्त है। अनेक स्थानों पर अबरक्रौम्बे की विचार-धारा भी शुक्लजी के चिन्तन के अनुरूप प्रतीत होती है। इसका एक-मात्र कारण यही है कि पाश्चात्य आचार्यों में कुछ व्यक्तियों के चिन्तन में थोड़ी-बहुत भारतीय विचारों की झलक है। शुक्लजी ने ऐसे कुछ आलोचकों के मत अपनी मान्यताओं के समर्थन में उद्धृत किये हैं। केवल इसीके आधार पर पाश्चात्य अनुकरण का आरोप अनुचित है।

इधर यूरोप में 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का बहुत जोर रहा है। इसके कारण काव्य और आलोचना नवीन दिशाओं में हुए। उनका जीवन के मूल्यों से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया। शुक्लजी इसी बात का निरूपण करते हुए कहते हैं: "इस प्रवाह के कारण जीवन और जगत् की बहुत-सी बातें, जिनका किसी काव्य के मूल्य-निर्णय में बहुत दिनों से योग चला आ रहा था, यह कहकर टाली जाने लगीं कि ये तो इतर वस्तुएँ हैं, शुद्ध कला-क्षेत्र के बाहर की व्यवस्थाएँ हैं।" शुक्लजी ने इस वाद का विशद निरूपण ब्रेडले के

शब्दों का अनुवाद करके किया है। ब्रेडले ने इस सिद्धान्त का बहुत स्पष्ट निरूपण किया है। यह वाद कला का उद्देश्य तृप्तिदायक कल्पनात्मक अनुभव मानता है। धर्म, शिष्टाचार की शिक्षा अथवा लोकोपयोगी विधान तो कला की दृष्टि से बाह्य मूल्य है। इन मूल्यों की ओर ध्यान रहने से कला का मूल्य घट जाता है। यह (काव्य-सौंदर्य-सम्बन्धी) अनुभव अपना लक्ष्य आप ही है, इसका अपना निराला मूल्य है। रिचर्ड्स ने भी अपनी Principles of Criticism नामक पुस्तिका में ब्रेडले का यह उद्धरण दिया है।[1] और इसकी आलोचना भी की है। रिचर्ड्स काव्यानुभूति को जीवन से पृथक् नहीं मानना चाहते। ब्रेडले जिस लगाव को भीतर-भीतर मानते हैं, वही इनके अनुसार और स्पष्ट है।[2] रिचर्ड्स काव्य को मनोरंजन का साधन-भर नहीं मानते हैं। वे मूल्यवादी हैं। शुक्लजीने इनके विचारों को केवल यह दिखलाने के लिए उद्धृत किया है कि 'कला कला के लिए' वाला सिद्धान्त पाश्चात्य जगत् में भी अपना प्रभाव खो चुका है। शुक्लजी को तो वह बिलकुल मान्य ही नहीं है। उसे वे भारतीय परम्परा के विरुद्ध मानते हैं। यहां पर तो काव्य के प्रयोजनों का विशद विवेचन हुआ है। "अब हमारे यहाँ के सम्पूर्ण काव्य-क्षेत्र की छान-बीन कर जाइए, उसके भीतर के जीवन के अनेक पक्षों और जगत् के नाना रूपों के साथ मनुष्य-हृदय का गूढ़ सामंजस्य निहित मिलेगा। साहित्य-शास्त्र का मत लीजिए तो जैसे सम्पूर्ण जीवन अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष का साधन रूप है वैसे ही

---

1. ...this experience is an end it self, is worth having on its own account, has an intrinsic value...Poetry may have also an ulterior value as a means to culture or religion, because it conveys instruction or softens the passions or furthers a good cause...but its ulterior worth neither is nor an directly detrmined its poetic worth as a satisfying imaginative exprerience and this is to be judged entirely ...The consideration of ulterior ends...tends value." (Page 74.)
2. Dr. Bradley goes on to insist—an "undergro ction but this "underground" connection is Whatever there is in the poetic experience ough it. The world of poetry has innosence reality from the rest of the world and it h laws and no other worldly peculiarities." Ib

उसका एक अंग काव्य भी ।[1] शुक्लजी ने कला कला के लिए वाले सिद्धांत का अनेक स्थानों पर खण्डन किया है ।[2] वे काव्य को मनोरंजन का साधन नहीं मानते । उनके मत में यह तो काव्य के गौरव को कम कर देना-मात्र है ।[3] शुक्लजी काव्य के उद्देश्य पर व्यापक दृष्टि से विचार करते हैं । वे पाठक या सहृदय की अवहेलना करके 'स्वान्तः सुखाय' रचना करने के समर्थक नहीं हैं । ऊपर के विवेचन से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि काव्य और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है । शुक्लजी काव्यानुभूति अथवा रसानुभूति के अलौकिकत्व का तात्पर्य भी वैयक्तिक राग-द्वेष और योग-क्षेम से ऊपर उठा हुआ ही मानते हैं । इस प्रकार उनकी दृष्टि में काव्य कोई दूसरे लोक की वस्तु नहीं है । वे काव्य के उद्देश्य पर दो दृष्टियों से विचार करते हैं । पहला है काव्य का मानव-समाज पर प्रभाव और दूसरा है उसकी समवेदनीयता या प्रेषणीयता (Communicability) इन दोनों का परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है । काव्य का जन-साधारण के लिए प्रभावोत्पादक एवं प्रेषणीय होना अत्यन्त आवश्यक है । इस प्रभाव का माध्यम काव्य है और इसीसे काव्य के विधान में प्रेषणीयता का तत्त्व अनिवार्य है । "एक की अनुभूति को दूसरे के हृदय तक पहुँचाना, यही कला का लक्ष्य होता है ।"[4]

काव्य में प्रेषणीयता के तत्त्व को अनिवार्य मानना कोई नवीन वस्तु नहीं है । इसका तो काव्य की मूल प्रकृति से ही अभिन्न सम्बन्ध है । प्राचीन आचार्यों ने कवि और सहृदय को तथा कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा को समान महत्त्व प्रदान करके स्पष्टतः इस सिद्धांत को अंगीकार किया है । कवि और भावक के समान महत्त्व के सिद्धान्त में काव्य में अपेक्षित लोक-हित का तत्त्व अन्तर्हित है । प्रेषणीयता के सिद्धांत के मानने वाले आचार्यों का आलोचना-सम्बन्धी दृष्टिकोण मूल्यवादी हो जाता है । यह बात शुक्लजी की ही तरह रिचर्ड्स के लिए भी सत्य है । पश्चिम के आधुनिक समालोचक अबरक्राम्बे काव्य में प्रेषणीयता के तत्त्व को अनिवार्य मानने वाले हैं । यही बात शुक्लजी ने कही है । उन्होंने इसी सिद्धांत के दो पक्षों को अलग-अलग बांटकर विचार किया है । पहला तत्त्व है अनुभूति, जिसका प्रेषण होता है और दूसरा

---

१. देखिये—'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ६३३ ।

२. देखिये—इन्दौर का भाषण, पृष्ठ ३७ : ४० ।

३. देखिये—'चिन्तामणि', प्र० भा० पृष्ठ २२३ ।

४. देखिये—'काव्य में रहस्यवाद', पृष्ठ १०४ ।

है भाषा एवं शैली, जिसके माध्यम से प्रेषण कार्य किया जाता है। पहले हम शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित अनुभूति के स्वरूप पर विचार करेंगे।

शुक्लजी कवि की अनुभूति को सारे विश्व में व्याप्त समझते हैं। सारा जड़ और चेतन जगत् कवि का वर्ण्य विषय हो सकता है। उन्होंने काव्य पर वर्ण्य विषय की दृष्टि से विचार करते हुए मानवेतर जगत् के पशु, पक्षी, प्रकृति आदि सभीको ग्रहण कर लिया है।[1] इस प्रकार कवि की अनुभूति का शुक्लजी ने बहुत ही व्यापक अर्थ लिया है। प्राप्ति-प्रसंग के गोचर और अगोचर सब पक्षों तक जिसकी दृष्टि पहुँचती है, किसी परिस्थिति में अपने को प्राप्त करके उसके अंग-प्रत्यंग का साक्षात्कार जिसका विशाल अन्तःकरण कर सकता है, वही प्रकृत कवि है।[2] शुक्लजी काव्य को जगत् की अभिव्यक्ति मानते हैं: "कविता का सम्बन्ध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से है, चारों ओर फैले हुए गोचर जगत् से है,·· जगत् अव्यक्त की अभिव्यक्ति है"[3] और काव्य इस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति है। "कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव-स्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे।[4] शुक्लजी ने एक स्थान पर मानव के प्रत्येक भाव के लिए आलम्बन खोज निकालना ही कवि-कर्म बताया है।[5] स्पष्ट है कि शुक्लजी की दृष्टि से यह सारा व्यापक विश्व ही काव्य का विषय है, कवि का अपना कल्पित लोक नहीं। कवि इस लौकिक अनुभूति को ही काव्य का स्वरूप देता है। उसको अलौकिक कहकर वे कवि को ऐसे कल्पना-लोक में विचरण करने की स्वतन्त्रता नहीं प्रदान करना चाहते जिससे उसकी अनुभूति सहृदयजन-श्लाघ्य न रह जाय।

अनुभूति को सहृदयजन-श्लाघ्य बनाने के लिए कवि को उसे लोक-सामान्य भाव-भूमि पर अधिष्ठित करना पड़ता है। साधारण जन की लौकिक अनुभूति और कवि-हृदय की अनुभूति में यही मुख्य अन्तर है। काव्य में व्यक्ति के राग-द्वेष और योग-क्षेम के लिए स्थान नहीं है। इसे प्रेषणीय बनाने के लिए यह विभावन-व्यापार अत्यन्त आवश्यक है। इसीको साधारणीकरण भी कहा

---

१. 'काव्य में रहस्यवाद', पृष्ठ १०४।

२. 'तुलसीदास', पृष्ठ १०२ : १०३।

३. 'काव्य में रहस्यवाद', पृष्ठ ११।

४. 'तुलसीदास', पृष्ठ ९३।

५. 'चिन्तामणि', 'कविता क्या है' शीर्षक निबन्ध।

गया। शुक्लजी भी साधारणीकरण का यही अर्थ ग्रहण करते हैं। वे कहते हैं: "जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इस रूपमें लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।"[1] शुक्लजी 'काव्य में रहस्यवाद' नामक निबन्ध में भी अनुभूति की प्रेषणीयता के लिए उसका लोक-सामान्य भाव-भूमि पर लाना आवश्यक बतलाते हैं। 'एक की अनुभूति को दूसरे के हृदय तक पहुँचाना यही कला का लक्ष्य होता है। इसके लिए दो बातें अपेक्षित होती हैं। भाव पक्ष में तो अनुभूति का कवि के अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों या योग-क्षेम की वासनाओं से मुक्त भी अलग होकर लोकमान्य भाव-भूमि पर प्राप्त होना।"[2]

शुक्लजी का मत है कि वस्तु कवि के जिस भाव का आलम्बन होती है, सहृदय के भी उसी भाव के आलम्बन होने की क्षमता उसके सर्वसम्मत और सर्वग्राह्य रूप में ही है। उन्होंने कुछ ऐसी परिस्थितियाँ, कार्य और मनोभाव गिनाये भी हैं, जिनमें भाव जाग्रत करने की अधिक क्षमता है। उसका विचार है कि मानव ज्यों-ज्यों सभ्य होता जाता है त्यों-त्यों उसका जीवन कृत्रिम होता जाता है। उसमें भावानुभूति जाग्रत करने के लिए कृत्रिमता के सारे आवरण को हटाना अनिवार्य हो जाता है। प्रकृति के प्रति मानव में सहज अनुराग होने का एक कारण यह भी है कि मानव से उसका साहचर्य आदिम है। नैसर्गिक दृश्य उसके भावों के स्वाभाविक आलम्बन हैं। सभ्यता की कृत्रिमता के आवरण को हटाकर कुछ कार्यों और मनोविकारों का चित्रण आवश्यक है। सर्वसामान्य की भावभूमि पर लाने के लिए व्यापार-शोधन बहुत आवश्यक है। जीवन की 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' वाली अनुकृति काव्योपयोगी नहीं है। उसमें कुछ तथ्यों का निर्वाचन आवश्यक हो जाता है। शुक्लजी काव्य के वर्ण्य विषय को मर्मस्पर्शी बनाने के लिए व्यापार-शोधन भी अनिवार्य समझते हैं। वे उसका विधान करते हुए कहते हैं: "कवि लोग अर्थ और वर्ण-विन्यास के विचार से जिस प्रकार शब्द-शोधन करते है उसी प्रकार अधिक मर्म-स्पर्शी और प्रभावोत्पादक दृश्य उपस्थित करने के लिए व्यापार-शोधन भी करते हैं। बहुत-से व्यापारों में से जो व्यापार अधिक प्राकृतिक होने के कारण स्वभावतः हृदय को अधिक स्पर्श करने वाला होता है, भावुक कवि की दृष्टि उसी पर जाती है।

---

१. 'चिन्तामणि', प्रथम भाग।

२. वही, पृष्ठ।

यह चुनाव दो प्रकार से होता है। कहीं तो चुना हुआ व्यापार उपस्थित प्रसंग के भीतर ही होता है या हो सकता है अर्थात् उस व्यापार और प्रसंग का व्याप्य-व्यापक-सम्बन्ध होता है और यह व्यापार उपलक्षण-मात्र होता है। और कहीं-कहीं चुना हुआ व्यापार प्रस्तुत व्यापारसे सादृश्य रखता है,जैसे अन्योक्ति।[1] व्यापार-शोधन के अतिरिक्त कवि को कल्पना का भी पूरा सहयोग लेना पड़ता है। काव्य में कल्पना की मात्रा शुक्लजी को भी स्वीकृत है। प्रतिभा के दोनों स्वरूप कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं है। काव्य में प्रभावोत्पादन के लिए कल्पना की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए शुक्लजी लिखते है: "गम्भीर चिन्तन से उपलब्ध जीवन के तथ्य सामने रखकर जब कल्पना मूर्त्त विधान में और हृदय-भाव संचार में प्रवृत्त होते हैं तभी मार्मिक प्रभाव उत्पन्न होता है।"[2] महाकाव्य में मार्मिक स्थलों का नियोजन भी व्यापार-शोधन और कल्पना द्वारा ही संभव है। रहस्यवाद और छायावाद की कविताओं की कटु आलोचना का बहुत-कुछ कारण यही है। उनमें जिन मानव-व्यापारों, भाव-दशाओं और प्रतीकों का वर्णन होता है उनमें सर्वसामान्य के हृदय को स्पर्श करने की क्षमता बहुत कम रह जाती है। उसमें हृदय की तल्लीनता के स्थान पर बौद्धिक चमत्कार का प्राधान्य हो जाता है। शुक्लजी कबीर आदि रहस्यवादी कवियों की वाद-ग्रस्त उक्तियों की अपेक्षा सर्वसम्मत रूप-योजना वाली उक्तियों को काव्य के अधिक उपयुक्त मानते है। इन मूर्त रूपकों में ध्यान देने की बात यह है कि जो रूप-योजना केवल अद्वैतवाद, मायावाद आदि वादों के स्पष्टीकरण के लिए की गई है उसकी अपेक्षा वह रूप-योजना, जो किसी सर्व-स्वीकृति सर्वानु-भूत तथ्य को भाव-क्षेत्रमें लाने के लिए की गई है,वही अधिक मर्मस्पर्शिणी है।"[3]

शुक्लजी असाधारण वस्तु-योजना और ज्ञानातीत दशाओं के चित्रण के पक्षपाती नहीं हैं। कवि साधारण-असाधारण सभी प्रकार की वस्तुओं को ग्रहण करता है। पर उसका कार्य उनको लोक-सम्मत रूप प्रदान कर देता है। तभी वे काव्य के उपयुक्त हो सकते हैं। काव्य का प्रस्तुत वस्तु या तथ्य विचार और अनुभव से सिद्ध लोक-स्वीकृत और ठीक-ठिकाने का होना चाहिए, क्योंकि व्यंजना उसीकी होती है।[4]

---

१. 'तुलसीदास', पृष्ठ ११२-११३।

२. 'शेष स्मृतियां', प्रवेशिका पृष्ठ १४।

३. 'काव्य में रहस्यवाद' पृष्ठ ३०।

४. वही, पृष्ठ २६-३०।

"भावों के उत्कर्ष के लिए भी सर्वत्र आलम्बन का असाधारणत्व अपेक्षित नहीं होता। साधारण-से-साधारण वस्तु हमारे गम्भीर भावों का आलम्बन हो सकती है।"[1] दर्शन अथवा अन्य शास्त्रों के वादों का निरूपण करने वाले को शुक्लजी साम्प्रदायिक कवि मानते हैं। "भारतीय काव्य-परम्परा में इनका ग्रहण नहीं हुआ है। फिर इन वादों और ज्ञानातीत दशाओं का चित्रण लोक-सम्मत नहीं कहा जा सकता। इन दशाओं का अनुभव सर्वसाधारण का नहीं हो सकता। इसलिए इस प्रकार की वस्तु-योजना काव्य नहीं मानी जा सकती। यहाँ पर हम यह स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि उक्त ज्ञानातीत दशा से, चाहे वह कोई दशा हो या न हो, काव्य का कोई सम्बन्ध नहीं है।"[2]

शुक्लजी कवि में अनुभूति, भावुकता और कल्पना तीनों ही को आवश्यक मानते हैं। भावुकता तो कवि की अनुभूति का आधार ही है। कल्पना कवि-कर्म में सहायक शक्ति है। अतः हम कह सकते हैं कि कल्पना और भावुकता कवि के लिए दोनों ही अनिवार्य हैं। "भावुक जब कल्पना-सम्पन्न और भाषा पर अधिकार रखने वाला होता है तभी कवि होता है।"[3] भावुकता के कारण जिनका अन्तःकरण विशाल हो जाता है, जिसमें चराचर को कल्पना से ही देखने की क्षमता आ जाती है, वही वास्तव में कवि है।[4] यही उसके विशाल हृदय की परख है। कवि अपने-आपको किसी भी मानव-स्थिति में डालकर उससे अपने हृदय को तदाकार कर लेता है।[5] यही उसकी भावुकता है, इसीसे सच्चे कवि को लोक-हृदय की पूरी पहचान होती है। वह सब प्रकार की विचित्रताओं में लोक-सामान्य हृदय को देख सकता है।[6] भावुक कवि की आँखें प्रकृति के नाना विचित्र रूपों को देखने के लिए हमेशा खुली रहती हैं।

---

१. 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य'।

२. 'काव्य में रहस्यवाद', पृष्ठ ३६।

३. वही, पृष्ठ ७९।

४. प्राप्त प्रसंग के गोचर-अगोचर सब पक्षों तक जिसकी दृष्टि पहुँचती है, किसी परिस्थिति में अपने को डालकर उसके अंग-प्रत्यंग का साक्षात्कार जिसका विशाल अन्तःकरण कर सकता है वही प्रकृत कवि है।

'गोस्वामी तुलसीदास', पृष्ठ १७२-७३।

५. वही, पृष्ठ ९३।

६. 'चिन्तामणि प्र० भा०', पृष्ठ ३०८-९।

उसमें हमेशा ही प्रकृति के मृदु संगीत सुनने की क्षमता रहती है।[1] शुक्लजी भावुकता की यही परख मानते हैं। ऊपर जिस भावुकता का संकेत शुक्लजी ने किया है, वही कवि की अनुभूति का आधार है। इतने उत्कृष्ट भावुक व्यक्ति ही कवि पद के अधिकारी हैं। इन्हीं कवियों की अनुभूति काव्य का प्रकृत विषय है। कल्पना तो इनकी अभिव्यक्ति में केवल सहायक-मात्र है। शुक्लजी अनुभूतिहीन निरी कल्पना को काव्य का खिलवाड़ मानते हैं। केवल भाव-प्रेरित काव्य-विधायिनी कल्पना ही काव्य के लिए उपादेय है, सब नहीं। वह काव्य की अनुभूति की सहयोगिनी है।[2]

शुक्लजी रसवादी आचार्य हैं। वे काव्य का उद्देश्य चमत्कार और मनोरंजन नहीं मानते। सहृदय को सहानुभूति में तल्लीन कर देना ही काव्य का चरम लक्ष्य मानते हैं। वे काव्य और सूक्ति में अन्तर मानते हैं। "ऐसी उक्ति, जिसे सुनते ही मन किसी भाव या मार्मिक भावना में लीन न होकर एकबारगी कथन के अनूठे ढंग, वर्ण-विन्यास, या पद-प्रयोग की विशेषता, दूर की सूझ, कवि की चातुरी या निपुणता इत्यादि का विचार करने लगे, वह काव्य नहीं, सूक्ति है।"[3] काव्य और सूक्ति के अन्तर को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं:"जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागरित कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह तो काव्य है। जो उक्ति केवल कथन के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति।"[4] 'जायसी-ग्रन्थावली' की भूमिका में उन्होंने काव्य के तीन भेदों का निरूपण किया है—१. जिसमें केवल वैलक्षण्य या

---

१. अतएव काव्य-विधायिनी कल्पना वही कही जा सकती है जो या तो किसी भाव द्वारा प्रेरित हो अथवा भाव का प्रवर्त्तन या संचार करती हो। सब प्रकार की कल्पना काव्य की प्रक्रिया नहीं कही जा सकती। अतः काव्य में अनुभूति अंगी है, मूर्त्त रूप अंग-प्रधान है, कल्पना उसकी सहयोगिनी है।

'इन्दौर वाला भाषण', पृष्ठ ३३।

२. प्रकृति के नाना रूपों को देखने के लिए कवि की आंखें खुली रहनी चाहिएँ, उसका मृदु संगीत सुनने के लिए उसके कान खुले रहने चाहिएँ और सबका प्रभाव ग्रहण करने के लिए उसका हृदय खुला रहना चाहिए।

'गोस्वामी तुलसीदास', पृष्ठ १०४।

३. 'चिन्तामणि', पृष्ठ २३३।

४. वही, पृष्ठ २३४।

(जैसे श्लेष, यमक आदि) वाक्य की वक्रता या वचनभंगी (जैसे काव्यार्थापत्ति, परिसंख्या, विरोधाभास, असंगति आदि में) तथा अप्रस्तुत वस्तुओं का अद्भुतत्व अथवा प्रस्तुत वस्तुओं के साथ उनके सादृश्य या सम्बन्ध की अनहोनी या दुरारूढ़ कल्पना (जैसे उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि में) इत्यादि बातें आती हैं।[1] इस प्रकार शुक्लजी चमत्कार से केवल उक्ति-वैचित्र्य का ही भाव ग्रहण करते हैं। यही उनका वक्रता से तात्पर्य है।[2] 'गोस्वामी तुलसीदास' में भी उन्होंने इस वैचित्र्य का यही स्वरूप माना है। इस उक्ति-वैचित्र्य को शुक्लजी काव्य का सहायक तत्त्व-मात्र मानते हैं। उनकी दृष्टि से यह गौण वस्तु है। "अनूठापन काव्य के नित्य स्वरूप के अन्तर्गत नहीं है, एक अतिरिक्त गुण है, जिससे मनोरंजन की मात्रा बढ़ जाती है। इसके बिना भी तन्मय करने वाली कविता बराबर हुई है और होती है।"[3]

"भावना को गोचर और सजीव रूप देने के लिए, भाव की विमुक्त और स्वच्छन्द गति के लिए, काव्य में वक्रता या वैचित्र्य अत्यन्त प्रयोजनीय वस्तु है, इसमें सन्देह नहीं।"[4] शुक्लजी वक्रता के प्रयोजनीय रूप के अतिरिक्त इसके उस स्वरूप की भी अवहेलना नहीं करते हैं जो काव्य की अभिव्यक्ति का अनिवार्य अंग है। काव्य की भाषा साधारण बोल-चाल की भाषा से भिन्न होती है। काव्य की उक्ति में साधारण उक्ति से अन्तर रहता है, इस सत्य को संस्कृत के प्राचीन आचार्य बहुत पहले ही स्वीकार कर चुके थे। भामह की वक्रोक्ति और कुन्तक का वक्रोक्तिवाद इसी पर अधिष्ठित है। ध्वनिकार भी प्रतीयमान अर्थ को काव्य की आत्मा कहकर इस उक्ति-वैचित्र्य का समर्थन कर रहे हैं। उनके परवर्ती एक भी आचार्य इस सामान्य विच्छति को अस्वीकार नहीं कर सके।[5] "छायावाद की आधार-भूमि भी यही है। इतना ही नहीं पश्चिम के आचार्य क्रोचे, एवर क्राम्बे आदि भी इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। एवर क्राम्बे काव्य की परिभाषा में (सब्जैक्टिविटी) "व्यंजकता" को आवश्यक तत्त्व मानते हैं। शुक्लजी काव्य के ऐसे महत्त्वपूर्ण अंग की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। अगर एक तरफ केवल बौद्धिक चमत्कार वाली उक्तियों के

---

१. 'चिन्तामणि', पृष्ठ २२६ - २३० ।
२. 'गोस्वामी तुलसीदास', पृष्ठ १८१ ।
३. 'काव्य में रहस्यवाद', पृष्ठ ४१ ।
४. 'इन्दौर वाला भाषण', पृष्ठ ८६ ।
५. 'संस्कृत-साहित्य में समीक्षा', : दूसरी पुस्तक ।

चमत्कार हो। २. जिसमें केवल रस या भावुकता हो। ३. जिसमें रस और चमत्कार दोनों हों।[1] शुक्लजी द्वितीय प्रकार को ही काव्य का प्रकृत स्वरूप मानते हैं। प्रथम प्रकार का काव्य तो उनकी दृष्टि से केवल काव्याभास-मात्र है। सूक्तियों का उद्देश्य चमत्कार और बौद्धिक प्रयास द्वारा कोई ऐसी नवीन उद्भावना करना है, जो पाठक या श्रोता के लिए नवीन हो, जिसमें वस्तु या भाव का लोक-सामान्य स्वरूप न हो। इस प्रकार की उद्भावना पाठक को केवल कुतूहल का आनन्द प्रदान कर सकती है। उसमें पाठक के हृदय को तल्लीन करके आनन्दानुभूति जाग्रत करने की क्षमता नहीं होती। ऐसे काव्य क्षणिक मनोरंजन के साधन भर माने जा सकते हैं, प्रकृत-काव्य के उदाहरण नहीं। शुक्लजी ने बिहारी और रीतिकालीन अधिकांश कवियों की रचनाओं को ऐसे उक्ति-चमत्कार, अनूठेपन के कारण सूक्ति अथवा काव्याभास-मात्र माना है। केशव में कवित्व का अभाव बताने का भी यही कारण है। सूर और तुलसी को कवियों के आदर्श मानने में भी शुक्लजी का यही दृष्टिकोण कार्य कर रहा है।

संस्कृत के आलोचना-शास्त्र में "चमत्कार" और "वक्रता" दोनों शब्द विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होते रहे हैं। वक्रता अथवा "वक्रोक्ति" तो काव्य की आत्मा भी मानी गई। कुन्तक का 'वक्रोक्ति काव्यजीवितम्' का सिद्धान्त एक पृथक् सम्प्रदाय के रूप में मान्य हुआ और उसने काव्य-सम्बन्धी धारणाओं को पर्याप्त रूप से प्रभावित भी किया। "चमत्कार" शब्द का प्रयोग भी संस्कृत साहित्य में काव्य के आनन्द के अर्थ में हुआ है। इस प्रकार काव्य के गुण अलंकार आदि सभी इस आनन्द के साधन थे। यह भी काव्य का एक पृथक् दृष्टिकोण था। राजशेखर ने चमत्कार के दस प्रकार माने हैं, उनमें से एक में रस का भी अन्तर्भाव कर दिया है। हरिप्रसाद ने अपने 'काव्यालोक' में चमत्कार को काव्य की आत्मा कहा है। पंडितराज ने भी चमत्कार को लोकोत्तर आह्लाद मानकर काव्य की आत्मा के स्थान पर ही प्रतिष्ठित कर दिया है। "लोकोत्तराचाह्लादगतः चमत्कारपरपर्यायः"[2] शुक्लजी ने चमत्कार शब्द को इस व्यापक अर्थ में ग्रहण नहीं किया है। उन्होंने "चमत्कार" शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है : "चमत्कार से हमारा तात्पर्य उक्ति के चमत्कार से है जिसके अन्तर्गत वर्ण-विन्यास की विशेषता (जैसे अनुप्रास में) शब्दों की क्रीड़ा

---

१. 'चिन्तामणि', पृष्ठ २२०।

२. डॉ० राघवन—'सम कांनसेप्टस ऑव अलंकार-शास्त्र, पृष्ठ २७१।

(जैसे श्लेष, यमक आदि) वाक्य की वक्रता या वचनभंगी (जैसे काव्यार्थापत्ति, परिसंख्या, विरोधाभास, असंगति आदि में) तथा अप्रस्तुत वस्तुओं का अद्भुतत्व अथवा प्रस्तुत वस्तुओं के साथ उनके सादृश्य या सम्बन्ध की अनहोनी या दुरारूढ़ कल्पना (जैसे उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि में) इत्यादि बातें आती हैं।"[1] इस प्रकार शुक्लजी चमत्कार से केवल उक्ति-वैचित्र्य का ही भाव ग्रहण करते हैं। यही उनका वक्रता से तात्पर्य है।[2] 'गोस्वामी तुलसीदास' में भी उन्होंने इस वैचित्र्य का यही स्वरूप माना है। इस उक्ति-वैचित्र्य को शुक्लजी काव्य का सहायक तत्त्व-मात्र मानते हैं। उनकी दृष्टि से यह गौण वस्तु है। "अनूठापन काव्य के नित्य स्वरूप के अन्तर्गत नहीं है, एक अतिरिक्त गुण है, जिससे मनोरंजन की मात्रा बढ़ जाती है। इसके बिना भी तन्मय करने वाली कविता बराबर हुई है और होती है।"[3]

"भावना को गोचर और सजीव रूप देने के लिए, भाव की विमुक्त और स्वच्छन्द गति के लिए, काव्य में वक्रता या वैचित्र्य अत्यन्त प्रयोजनीय वस्तु है, इसमें सन्देह नहीं।"[4] शुक्लजी वक्रता के प्रयोजनीय रूप के अतिरिक्त इसके उस स्वरूप की भी अवहेलना नहीं करते हैं जो काव्य की अभिव्यक्ति का अनिवार्य अंग है। काव्य की भाषा साधारण बोल-चाल की भाषा से भिन्न होती है। काव्य की उक्ति में साधारण उक्ति से अन्तर रहता है, इस सत्य को संस्कृत के प्राचीन आचार्य बहुत पहले ही स्वीकार कर चुके थे। भामह की वक्रोक्ति और कुन्तक का वक्रोक्तिवाद इसी पर अधिष्ठित है। ध्वनिकार भी प्रतीयमान अर्थ को काव्य की आत्मा कहकर इस उक्ति-वैचित्र्य का समर्थन कर रहे हैं। उनके परवर्ती एक भी आचार्य इस सामान्य विच्छित्ति को अस्वीकार नहीं कर सके।[5] "छायावाद की आधार-भूमि भी यही है। इतना ही नहीं पश्चिम के आचार्य क्रोचे, एबर क्राम्बे आदि भी इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। एबर क्राम्बे काव्य की परिभाषा में (सब्जैक्टिविटी) "व्यंजकता" को आवश्यक तत्त्व मानते हैं। शुक्लजी काव्य के ऐसे महत्त्वपूर्ण अंग की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। अगर एक तरफ केवल बौद्धिक चमत्कार वाली उक्तियों के

---

१. 'चिन्तामणि', पृष्ठ २२६ - २३० ।
२. 'गोस्वामी तुलसीदास', पृष्ठ १८१ ।
३. 'काव्य में रहस्यवाद', पृष्ठ ४१ ।
४. 'इन्दौर वाला भाषण', पृष्ठ ८६ ।
५. 'संस्कृत-साहित्य में समीक्षा', : दूसरी पुस्तक ।

काव्यत्व को अस्वीकार करते हैं तो दूसरी ओर यह भी स्वीकार करते हैं कि "उम
ड़ते हुए भाव की प्रेरणा से अक्सर कथन के ढंग में कुछ वक्रता आ जाती है;
ऐसी वक्रता काव्य की प्रेरणा के भीतर रहती है।"[1] कवि अपने हृदय मं
भावानुभूति पाठक में भी उत्पन्न करना चाहता है इसलिए उसे इस वक्रता क
उपयोग करना पड़ता है।[2] इससे काव्य में मार्मिकता की वृद्धि होती है
भावुक कवि भी अपनी अनुभूति को तीव्र करने के लिए वक्रता का उपयो
करते हैं। यह उपयोग इनके लिए आवश्यक भी हो जाता है। "जिस रूप व
जिस मात्रा में भाव की स्थिति है उसी रूप और मात्रा में उसकी व्यंजना
लिए प्रायः कवियों को व्यंजना का कुछ असामान्य ढंग पकड़ना पड़ता है।"[3]
शुक्लजी का विवेचन तो और भी विशद है। उनके मत में भाव और वस
दोनों की व्यंजना में अनूठापन संभव है। शुक्लजी ने इन्हींको क्रमशः भाव-पक्ष
और विभाव-पक्ष का अनूठापन कहा है।[4] शुक्लजी ने बिहारी के विभाव-पक्ष
में कहीं-कहीं औचित्य की सीमा का उल्लंघन माना है। "पत्रा ही तिथि पाइये
जैसी उक्तियों का शुक्लजी काव्य की दृष्टि से बहुत कम महत्त्व मानते हैं।
वे कहते हैं "ऐसी उक्तियों में कुछ तो शब्द की लक्षणा-व्यंजना शक्ति क
आश्रय लिया जाता है और कुछ काकु, पर्यायोक्ति-ऐसे अलंकारों का।"[5] उन्हों
शब्द-शक्ति और अलंकार दोनों ही को उक्ति-चमत्कार के साधन कहा है
वक्रता या चमत्कार-सम्बन्धी शुक्लजी के विचारों में समन्वय है। चमत्कार य
उक्ति-वैचित्र्य के कारण काव्य में मार्मिकता आ जाती है, उसमें आकर्षण-शक्ति
आ जाती है। मेरा अभिप्राय कथन के उस ढंग से है जो उस कथन की ओ
श्रोता को आकर्षित करता है तथा उसके विषय को मार्मिक और प्रभावशाल
बना देता है।"[6] इससे स्पष्ट है कि शुक्लजी के दोनों सिद्धान्तों में विरो
केवल आपाततः प्रतीत होता है। शुक्लजी रस को ही प्राधान्य देते हैं, उसीक
दृष्टि से वे वक्रता के औचित्य पर भी विचार करते हैं।" "वचन की जो वक्रत

---

१. 'चिन्तामणि', पृष्ठ २३६।
२. 'जायसी ग्रन्थावली', पृष्ठ २२०।
३. 'चिन्तामणि', पृष्ठ २३०।
४. 'काव्य में रहस्यवाद', पृष्ठ ७१।
५. 'शुक्लजी का इतिहास', पृष्ठ २७६।
६. 'गोस्वामी तुलसीदास', पृष्ठ १८१।
७. वही, पृष्ठ १८१।

भाव-प्रेरित होती है, वही काव्य होती है।"[1] "ऐसी वस्तु-व्यंजना, जिसकी तह में कोई भाव न हो, चाहे कितने ही अनूठे ढंग से की गई हो, चाहे उसमें कितना ही लाक्षणिक चमत्कार हो, प्रकृत कविता न होगी, सूक्ति-मात्र होगी।"[2]

शुक्लजी ने वर्णन के विशेष प्रकार को ही अलंकार माना है।[3] "मैं अलंकार को वर्णन-प्रणाली-मात्र मानता हूँ, जिसके अन्तर्गत किसी-किसी वस्तु का वर्णन किया जा सकता है। वस्तु-निर्देश अलंकार का काम नहीं।"[4] वे इनका उपयोग भी भाव-सौन्दर्य की सृष्टि करने में ही मानते हैं: "भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली उक्ति ही अलंकार है।"[5] शुक्लजी इनको साधन मानते हैं, साध्य नहीं। "ये प्रस्तुत वस्तु या भाव के उत्कर्ष करने के साधन-मात्र हैं।"[6] कविता में अलंकारों को साध्य मानने से उसका स्वरूप ही विकृत हो जाता है। शुक्लजी के अनुसार पुरानी कविता में ऐसा ही हुआ है।[7] केशव का काव्य इसका प्रमाण है। "हैं शोणित कलित कपाल यह किया कापालिक काल को।" या "मनहुँ कोमलक पीठि पै धर्‍यो गोल घंटा लसत" में प्रस्तुत सौंदर्य की वृद्धि करने के लिए कुछ भी नहीं है। यह केवल दूर की सूझ है।"[8] शुक्लजी ने अपनी अलंकार-सम्बन्धी मान्यता को पूर्णतः स्पष्ट करने तथा अलंकारवादियों से अपनी भिन्नता प्रतिपादित करने के लिए "रमणीयता" और "चमत्कार" शब्दों का उपयोग किया है। भावों के उत्कर्षक अलंकारों में वे रमणीयता मानते हैं और कौतुक तथा विलक्षणता के हेतु अलंकारों में चमत्कार। शुक्लजी पहले प्रकार के अलंकारों के समर्थक हैं। वे कहते हैं: "अलंकारों में रमणीयता होनी चाहिए। चमत्कार न कहकर रमणीयता हम इसलिए कहते हैं कि चमत्कार के अन्तर्गत केवल भाव.

---

१. 'भ्रमर-गीत-सार', पृष्ठ ७०।
२. 'काव्य रहस्यवाद', पृष्ठ ७२।
३. 'चिन्तामणि', पृष्ठ २४७। 'गोस्वामी तुलसीदास', पृष्ठ १६१।
४. 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य'।
५. 'गोस्वामी तुलसीदास', पृष्ठ १६१।
६. 'चिन्तामणि', पृष्ठ २४८।
७. वही, पृष्ठ २४७।
८. वही, पृष्ठ २४७।

रूप, गुण या क्रिया का उत्कर्ष ही नहीं, शब्द-कौतुक और अलंकार-सामग्री की विलक्षणता भी ली जाती है। भावानुभाव में वृद्धि करने के गुण का नाम ही अलंकार की रमणीयता है।"[1]

अलंकार सुन्दर वस्तु या भाव की ही सौंदर्य-वृद्धि कर सकते हैं, असुन्दर को सुन्दर नहीं बना सकते। इसमें भी वे आचार्यों का अनुकरण करते हैं। "जिस प्रकार एक कुरूपा स्त्री अलंकार लादकर सुन्दर नहीं हो सकती उसी प्रकार प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की रमणीयता के अभाव में अलंकारों का ढेर काव्य का सजीव स्वरूप नहीं खड़ा कर सकता। आचार्यों ने अलंकारों को "काव्य शोभाकर शोभातिशायी" आदि ही कहा है। महाराज भोज भी अलंकार को "अलमर्थमलंकर्तुं" ही कहते हैं। पहले से सुन्दर अर्थ को ही अलंकार शोभित कर सकता है। सुन्दर अर्थ की शोभा बढ़ाने में जो अलंकार प्रयुक्त नहीं वे काव्यालंकार नहीं।[2] शुक्लजी उक्ति के विभिन्न प्रकारों को अलंकार मानकर इनकी अनेकता स्वीकार करते हैं। वे अलंकार को व्यापक अर्थ में ग्रहण कर रहे हैं। इनमें से बहुत-से प्रकारों के नामकरण न भी हुए हों, तब भी वे अलंकार तो हैं ही।[3] उन्हें अलंकारों के नामकरण में चिरंतन विकास का सिद्धान्त मान्य है। शुक्लजी प्रकृति पर किये गए आरोपों को भी अलंकार ही मानते हैं। "प्रकृति की ठीक और सच्ची व्यंजना के बाहर जिस भाव, तथ्य आदि का आरोप हम प्रकृति के रूपों और व्यापारों पर करेंगे वह सर्वथा अप्रस्तुत अर्थात् अलंकार-मात्र होगा, चाहे हम उसे किसी अलंकार के बँधे साँचे में ढालें या न ढालें।[4] उपमानों की तरह कलाकार अभिव्यक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए प्रतीकों का भी प्रयोग करता है। शुक्लजी इन दोनों के सूक्ष्म अन्तर के द्वारा अलंकार और अभिव्यंजना-शैली के तात्त्विक भेद का निरूपण कर रहे हैं। प्रतीकों का व्यवहार हमारे यहाँ के काव्य में बहुत-कुछ अलंकार-प्रणाली के भीतर ही हुआ है। पर इसका मतलब यह नहीं कि उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, इत्यादि के उपनाम और प्रतीक एक ही वस्तु है। प्रतीक का आधार सादृश्य या साधर्म्य नहीं, बल्कि भावना जागृत करने की निहित शक्ति है। पर अलंकार में उपमान का आधार सादृश्य या साधर्म्य ही माना जाता है। अतः सब उप-

---

१. 'गोस्वामी तुलसीदास', पृष्ठ १६२।
२. 'चिन्तामणि', पृष्ठ २५१।
३. वही, पृष्ठ २५२।
४. 'काव्य में रहस्यवाद', पृष्ठ २५-२६।

"इसमें कवि का लक्ष्य बिम्ब-ग्रहण कराने का रहता है, केवल अर्थ-ग्रहण कराने का नहीं। वस्तुओं के रूप और आस-पास की परिस्थिति का ब्यौरा जितना ही स्पष्ट या स्फुट होगा, उतना ही पूर्ण बिम्ब-ग्रहण होगा और उतना ही अच्छा दृश्य-चित्रण कहा जायगा।" आचार्य शुक्ल अभिधा-शक्ति में वस्तु के अर्थ और बिम्ब दोनों को ग्रहण कराने की क्षमता का निर्देश करते हैं। अंतःकरण में वस्तु का चित्र उपस्थित होना ही बिम्ब-ग्रहण है। काव्य में इसीकी उपादेयता है अर्थ-ग्रहण की नहीं। आचार्य ने "कमल" के उदाहरण द्वारा अपने मन्तव्य को स्पष्ट कर दिया है। वस्तुओं की गणना-मात्र से बिम्ब-ग्रहण नहीं होता, उसके लिए वस्तु के संश्लिष्ट और सांगोपांग के वर्णन की आवश्यकता है। "प्रकृति-दर्शन में जो संश्लिष्टता है, वैसा ही संश्लिष्ट चित्र शब्दों द्वारा पाठक के हृदय में उपस्थित करना कवि का उद्देश्य होता है। इसी उद्देश्य की सफलता बिम्ब-ग्रहण पर ही आश्रित है।"[1] काव्य में केवल मूर्त्त पदार्थों का ही बिम्ब-ग्रहण नहीं होता है, अपितु अमूर्त्त भावनाओं का भी सजीव चित्र खड़ा करना पड़ता है। स्थूल और मूर्त्त पदार्थों के सौंदर्य के लिए कभी-कभी सूक्ष्म और अमूर्त्त विधान करना पड़ता है। कभी सूक्ष्म का स्पष्टीकरण भी स्थूल का आधार लेकर होता है। "अगोचर बातों या भावनाओं को भी, जहां तक हो सकता है, कविता स्थूल गोचर रूप में रखने का प्रयास करती है। इस मूर्त्त विधान के लिए वह भाषा की लक्षणा-शक्ति से काम लेती है। जैसे 'समय बीता जाता है' कहने की अपेक्षा 'समय भागा जाता है' कहना वह अधिक पसन्द करेगी।"[2] भावों को अधिक-से-अधिक प्रेषणीय बनाने के तथा उनका मूर्त्त रूप खड़ा करने के लिए कवियों को कभी वस्तुवाचक शब्दों के स्थान पर भाववाचक और भाववाचक के स्थान पर वस्तुवाचक का प्रयोग करना पड़ता है। यह उपचार-वक्रता अभिव्यंजना को अधिक सुन्दर और सजीव बनाने का साधन है। इस प्रकार के भाव लाक्षणिक वक्रता का आश्रय लेकर रखे जाते हैं, वे बहुत [illegible], विशद और मनोहर होकर सामने आते हैं।[3] लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और [illegible] को शुक्लजी काव्य-शैली के आवश्यक तत्त्व मानते हैं। जाति, [illegible] के स्थान पर [illegible] वस्तुओं और [illegible] शब्दों का प्रयोग काव्य के उपयुक्त है।

इनसे काव्य में सजीवता आ जाती है। शुक्लजी की प्रौढ़ शैली का यही स्वरूप मान्य है। वे इस सिद्धान्त का उपयोग अपनी प्रयोगात्मक आलोचना में भी करते हैं। इस शैली के आश्रय से कवि काव्य में चित्र-कला के समान मूर्त्ति-विधान करने में समर्थ होता है। काव्य प्रेषणीयता के लिए संगीत-तत्त्व का भी उपयोग करता है। इस तत्त्व से काव्य की आयु बढ़ती है। यह काव्य का सहायक अंग है। अतः नाद-सौन्दर्य का योग भी कविता का पूर्ण स्वरूप खड़ा करने के लिए कुछ-न-कुछ आवश्यक होता है। इसे हम बिलकुल हटा नहीं सकते। जो अन्त्यानुप्रास को फालतू समझते हैं वे लय में ही लीन होने का प्रयास करते हैं।[1] शुक्लजी छन्द, नाद, या लय को उपयोगी तत्त्व समझते हैं, अनिवार्य नहीं। वे कवि-प्रतिभा की स्वच्छन्दता को इस प्रकार के जटिल और जड़ नियमों से बांधना नहीं चाहते हैं। यही कारण है कि शुक्लजी गद्य-काव्य की मर्मस्पर्शिता और काव्यत्व की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हैं। गद्य और पद्य का अन्तर कोई महत्त्वपूर्ण नहीं है। वे दोनों काव्यों को समकक्ष समझते हैं। "काव्यात्मक गद्य, प्रबन्ध या लेख छन्द के बन्धन से मुक्त काव्य ही है, अतः रचना-भेद से उसमें भी अर्थ का उन्हीं रूपों में ग्रहण होता है जिन रूपों में छन्दोबद्ध काव्य में होता है।"[2]

शुक्लजी ने काव्य के उद्देश्य पर दो दृष्टियों से विचार किया है, काव्य-विधान और प्रभाव। वे दोनों एक-दूसरे के अन्योन्याश्रित हैं। काव्य का जीवन की गति से गहरा सम्बन्ध है, उसका इस गति-विधि पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है, इसीमें उसकी प्रेषणीयता अन्तर्भूत है। यह हम पहले कह चुके हैं। अब तक काव्य-विधान पर जो विशद विचार हुआ है उसका संक्षिप्त सारांश स्पष्टता के लिए दिया जाता है। इसमें काव्य के भाव और कला दोनों पक्षों का समाहार हो जाता है। कवि की अनुभूति को सहृदय तक पहुँचाना ही कवि-कर्म है। इसके लिए लौकिक और वैयक्तिक अनुभूति को लोक-सामान्य और साधारणीकृत रूप देना पड़ता है। व्यापार-शोधन में भावुकता की अपेक्षा है। कवि की अनुभूति को सहृदय-साध्य बनाने के लिए, उसमें संवेदनीयता लाने के लिए, कल्पना का भी पर्याप्त प्रयोग करना पड़ता है। प्रेषण की माध्यम भाषा में भी उन तत्त्वों की प्रधानता हो जाती है जो उसे साधारण भाषा से भिन्न स्वरूप प्रदान करते हैं। इसमें शब्द की लक्षणा और व्यंजना-शक्तियों का

१. 'चिन्तामणि', पृष्ठ २४५।
२. 'इन्दौर वाला भाषण', पृष्ठ ६८।

प्रयोग अधिक होता है। उसमें हृदय-स्पर्शिता लाने के लिए अलंकार-वक्रता और नाद-सौन्दर्य का प्रयोग भी आवश्यक हो जाता है। इस सभी तत्त्वों का उपयोग रमणीयता की दृष्टि से किया जाता है। उपर्युक्त सभी पक्षों पर शुक्ल-जी के विचारों का विशद निरूपण हो चुका है। शुक्ल जी ने कल्पना या भावना के विधायक और ग्राहक दोनों रूपों को समान महत्त्व प्रदान करके कवि और सहृदय के कृत्रिम अन्तर को भी अस्वीकार कर दिया है।

शुक्लजी मनोरंजन अथवा आनन्द को काव्य का परम लक्ष्य मानने के विरोधी हैं। "किस्से-कहानियों में मनोरंजन की क्षमता है, पर कविता को किस्से-कहानी के बराबर मानना समीचीन नहीं है। मनोरंजन अथवा आनन्द को ही काव्य का चरम लक्ष्य मानना उसे केवल विलास की सामग्री की तरह तुच्छ कहना है। मन को अनुरंजित करना, उसे सुख या आनन्द पहुँचाना ही यदि कविता का अन्तिम लक्ष्य मान लिया जाय तो कविता भी केवल विलास की एक सामग्री हुई।"[1] शुक्ल जी 'रस-सिद्धान्त' के मानने वाले हैं, पर काव्य के उद्देश्य पर विचार करते हुए उन्होंने इसके अनुभूति-पक्ष की अपेक्षा हृदय और बुद्धि पर पड़ने वाले प्रभाव की ओर ही अधिक ध्यान रखा है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि "रस" आनन्द दशा है और शुक्लजी भी इसे अस्वीकार नहीं करते हैं। पर उसके आनन्द-पक्ष को ही अत्यधिक महत्त्व देने के कारण काव्य का जीवन से सम्बन्ध, उसका व्यक्ति और समाज पर पड़ने वाला प्रभाव प्रायः उपेक्षित हो गया। प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य काव्य के अन्य प्रयोजन सहृदय समाज और कवियों द्वारा भुला दिये गए। केवल 'सद्यः पर निर्वृत्तये' ही काव्य का एकांगी प्रयोजन माना जाने लगा। शुक्लजी ने काव्य के प्रयोजन पर जो दृष्टि डाली है, वह आचार्य-सम्मत होते हुए भी मौलिक है। इसने काव्य के महत्त्व को फिर से प्रतिपादित कर दिया है।

शुक्लजी रस-दशा को हृदय की मुक्तावस्था कहते हैं और इसे ज्ञान-दशा के समक्ष मानते हैं। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं। इसी साधना को हम भाव योग कहते हैं और कर्म योग और ज्ञान योग का समकक्ष मानते हैं।[2] जीवन की अन्य साधनाओं से, जिनका सम्बन्ध दर्शन से है, मानव जिन उच्च अवस्थाओं को पहुँचता है, उन्हीं के समकक्ष भाव योग और हृदय की मुक्तावस्था को रखकर

---

१. 'चिन्तामणि', पृष्ठ २२३।

२. वही, पृष्ठ १६३।

शुक्लजी ने काव्य को भी उपनिषद् आदि के समान ही महत्त्व प्रदान कर दिया है। उन शास्त्रों की तरह यह भी जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति का साधन है। इन साधनाओं से मानव व्यक्तित्व के संकुचित घेरे से ऊपर उठ जाता है। उसमें अपना वैयक्तिक राग-द्वेष और योगक्षेम गौण हो जाते हैं अथवा नितान्त अभाव हो जाता है। दर्शन इस कार्य को ज्ञान और कर्म द्वारा सम्पन्न कराता है और काव्य भाव और अनुभूति द्वारा; बस केवल इतना ही अन्तर है। ज्ञान, कर्म और भाव इन तीनों का चिर साहचर्य है। कविता का क्षेत्र प्रधानतया हृदय ही है, पर यह बुद्धि और कर्म में भी संकुचित व्यक्तित्व का परिहार करने का साधन है। व्यक्तित्व का परिहार, संकुचित स्वार्थ सम्बन्धों से ऊपर उठना, अपनी पृथक् सत्ता को लोक-सत्ता में लीन कर देना आदि विचार तो शुक्लजी के काव्य-विवेचन के प्राण ही हैं। उन्होंने सर्वत्र इन्हींका प्रयोग किया है। उनकी दृष्टि से यह ही काव्य का परम लक्ष्य है। "कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भावभूमि पर ले जाती है।...इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक-सत्तामें लीन किये रहता है।"[1] शुक्लजी ने काव्यानुभूति और लौकिक अनुभूति के अन्तर का भी यही आधार माना है। लौकिक अनुभूति व्यक्तिगत स्वार्थों से बद्ध रहती है और काव्यानुभूति उनसे मुक्त।

जीव और ब्रह्म के ऐक्य की प्रत्यक्ष अनुभूति स्वरूप-मुक्ति में विशुद्ध अनुभूति-मात्र है। उसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का अन्तर नहीं रह जाता है। वह अवस्था केवल ज्ञान-मात्र है। इसीको ज्ञान-दशा कहते हैं। शुक्लजी हृदय की मुक्तावस्था की उसीसे समता कर रहे हैं। रस-दशा की मुक्ति से तुलना कोई नवीन नहीं है। रस को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। शुक्लजी भी इसी पद्धति और परम्परा का अनुसरण कर रहे हैं। ब्रह्मानन्द में जिस प्रकार अहंकार का नितान्त अभाव होता है, अन्तःकरण पूर्णतः विलीन हो जाता है, वही अवस्था रसानुभूति में नहीं होती। तल्लीनता के कारण यद्यपि भोक्ता को अपनी पृथक् सत्ता का अनुभव तो नहीं रह जाता है, पर यह कहना कि उसके अहम् का सर्वथा अभाव हो जाता है, समीचीन नहीं है। रति, आदि उसके अहंकार के ही विकार हैं, इसलिए रति आदि की अनुभूति अहम् की सत्ता के प्रमाण हैं। रस-दशा में अहम् लोक-सत्ता में लीन हो जाता है, पर उसका सर्वथा

---

१. 'चिन्तामणि', पृष्ठ १६३।

अभाव नहीं होता। यही कारण है कि रस-दशा मुक्तावस्था की तरह विशुद्ध अनुभूति नहीं कही जा सकती। इसीलिए काव्य में विशुद्ध अनुभूति का तात्पर्य केवल वैयक्तिक राग-द्वेष और योगक्षेम का लोक-सामान्य हो जाता है। यही कारण है कि शुक्लजी "लोकसामान्य भाव-भूमि पर लाना", "सर्वभूत का आत्मभूत हो जाना" आदि वाक्यांशों को इतना महत्त्व देते हैं। ज्ञान-दशा से रसानुभूति की तुलना करने का तात्पर्य केवल उसकी निर्वैयक्तिकता का स्पष्टीकरण-मात्र है, दोनों का स्वरूप साम्य नहीं। इस प्रकार के साम्य की ओर शुक्लजी ने अन्यत्र कहीं भी संकेत नहीं किया है। काव्यानुभूति की अलौकिकता का तात्पर्य भी उन्होंने "पृथक् सत्ता की भावना का परिहार" ही बताया है। वे रस को कोई स्वर्गीय अनुभूति नहीं मानते। अगर उनका यही तात्पर्य होता तो वे कतिपय लौकिक अनुभूतियों में इसी लोकसामान्य भावभूमि का प्रतिपादन नहीं करते। लौकिक आलम्बनों को साधारणीकृत न कहते। इस प्रकार काव्य की निर्वैयक्तिकता का तात्पर्य भी एक तरह से वैयक्तिकता ही है। इसमें व्यष्टि के संकुचित स्वार्थ, योगक्षेम तो नहीं रहते, पर समष्टि के अवश्य रहते हैं। यह समष्टि भी व्यापक अर्थ में व्यष्टि ही है। रति, क्रोध, उत्साह, अनुराग, विराग, घृणा, ग्लानि आदि सभी भाव और वासनाएँ हृदय में रहती हैं। उनके आलम्बनों का साधारणीकरण हो जाता है। बस, वे मानवमात्र से सम्बन्धित रहती हैं। वे आलम्बन लोकसामान्य का स्वरूप धारण कर लेते हैं। शुक्लजी का पृथक् सत्ता के परिहार तथा हृदय की मुक्तावस्था से यही तात्पर्य है। शुक्ल जी को रस की अलौकिकता मान्य नहीं है। वे रस को किसी इतर लोक की अनुभूति नहीं मानते। रस का विवेचन भारतीय आचार्यों के दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण ही है।

व्यक्तित्व का अहम् के संकुचित घेरे से निकलकर विस्तीर्ण क्षेत्र में व्याप्त हो जाना, यही शील का विकास है। अहम् का विकास, सर्वभूत का आत्मभूत में अन्तर्भाव ही दूसरे शब्दों में चरित्र का विकास है। इसीकी अन्तिम अवस्था मुक्ति है। कर्मयोग, अनासक्ति आदि का भी यही तात्पर्य है। कर्म करते हुए फल की आकांक्षा न करने का अर्थ ही अपने कर्मों में ममत्व बुद्धि का परिहार है। कर्म में फलासक्ति और कर्तृत्व बुद्धि न रहने पर भी कर्मयोगी में लोक-कल्याण की भावना रहती है। उसकी सभी वासनाओं के अन्तस्तल में लोक-हित की आकांक्षा प्रवाहित रहती है। वासनाओं के संस्कारों का विलय नहीं होता, अपितु सारी सृष्टि से उनका सम्बन्ध हो जाता है। काव्य भी मानव में ऐसी ही शुद्ध बुद्धि को जागृत करता है। उसका यह कार्य भावों

द्वारा सम्पन्न होता है इसलिए उसे शुक्लजी भावयोग कहते हैं। कविता व्यक्ति को इसी अर्थ से सदाचारी बनाती है, उसके शील का विकास करती है, यही उसका उद्देश्य है। "कला कला के लिए" मानने वाले काव्य का सदाचार से कोई सम्बन्ध मानते नहीं। शुक्ल जी उनका खंडन करते हैं। उनका कहना है कि हमारे प्राचीन आचार्य "रस" की परिभाषा में "सत्वोद्रेकात्" का प्रयोग करते हैं। सत्वाविष्ट अंतःकरण के कार्य ही सदाचार हैं। सतोगुण का सदाचार से अभिन्न सम्बन्ध है। दुराचार रजोगुण और तमोगुण के ही धर्म हैं। शुक्ल जी नीतिवादी हैं। इसका यह तात्पर्य कभी नहीं है कि कवि की उपदेशात्मक वृत्ति की वे प्रशंसा करते हैं। सूक्ति को वे उत्कृष्ट कोटि का काव्य नहीं मानते हैं यह पहले कहा जा चुका है। कुछ लोग उन्हें स्थूल नैतिकता का समर्थक मानते हैं, पर यह ठीक नहीं। उनका नैतिक दृष्टिकोण कुछ बँधी हुई परम्परा अथवा रीतियों तक ही सीमित नहीं है। काव्य में आदर्शवाद के ही समर्थक हैं, यह भी नहीं कहा जा सकता। शुक्लजी की काव्य-सम्बन्धी धारणा को समझ लेने के बाद आदर्श और यथार्थ का कोई झगड़ा ही नहीं रह जाता है। न उन्होंने इसमें पड़ना उचित समझा है। आलम्बन के साधारणीकरण और अनुभूति के लोक-सामान्य रूप के सिद्धान्त को मान लेने के बाद यथार्थ और आदर्श का भेद कृत्रिम प्रतीत होने लगता है। शुक्लजी हृदय-प्रसार तथा तज्जन्य शील-विकास को ही काव्य का उद्देश्य मानते हैं। कर्मयोग में यह लोप केवल कुछ काल तक के लिए ही होता है। "इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता है। वह अपनी सत्ता को लोक-सत्ता में लीन किये रहता है।"[1] व्यक्तित्व का क्षणिक विलय भी मानव के चरित्र-विकास का हेतु है। उसका अन्तःकरण सत्वाविष्ट होने का अभ्यस्त हो जाता है, इसलिए जब जीवन में ऐसा अवसर आता है, उस समय भी उसका संकुचित स्वार्थ दूर हो जाता है। वह मानव-मात्र के कल्याण की दृष्टि से सोचता है और कार्य भी करता है। इस प्रकार क्षणिक होते हुए भी व्यक्ति के अन्तःकरण पर इस भावयोग का स्थायी प्रभाव पड़ता है। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण स्वस्थ और संयत हो जाता है।

शुक्लजी कविता को शेष सृष्टि के साथ व्यक्ति का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने वाला साधन मानते हैं। इससे उसके हृदय का इतना प्रसार होता है कि सारा विश्व उसके भीतर समा जाता है। वह विश्व-हृदय हो

१. 'चिन्तामणि', पृष्ठ १६३।

जाता है। शुक्लजी इसीको मनुष्यत्व की उच्च भूमि मानते हैं। "कविता ही हृदय को प्रकृत दशा में लाती है और जगत् के बीच क्रमशः उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्च भूमि पर ले जाती है। भाव योग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य का जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भावसत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व-हृदय हो जाता है। उसकी अश्रु-धारा में जगत् की अश्रु-धारा का, उसके हास-विलास में जगत् के आनन्द-नृत्य का, उसके गर्जन-तर्जन में जगत् के गर्जन-तर्जन का आभास मिलता है।"[1] हृदय-प्रसार द्वारा काव्य उन मानसिक रोगियों की चिकित्सा करता है, जो आपने स्वार्थों के घेरे में अत्यधिक बद्ध हैं, जिनका हृदय दीन-दुखियों को देखकर द्रवित नहीं होता है, प्रकृति के सौन्दर्य पर कभी मुग्ध नहीं होता। अपमानसूचक शब्दों को सुनकर जो क्षुब्ध नहीं होता और मानव की पीड़क शक्तियों का दमन करने के लिए जिनकी भुजाएँ फड़क नहीं उठतीं। शुक्ल जी ने अर्थ-पिशाच के उदाहरण द्वारा स्वार्थबद्ध मानव का चित्र स्पष्ट किया है। ऐसे मानवों को भी काव्य हृदय-प्रसार द्वारा मानवता की उच्च भूमि पर ले जाता है। स्वार्थ-संकुचित हृदय का काव्य के द्वारा जो प्रसार होता है, उससे उसमें विश्व-हृदय की उदारता और व्यापकता आ जाती है। भगवान् के लोक-रक्षक और लोकरंजक हृदय से व्यक्ति का तादात्म्य स्थापित हो जाता है। उस समय उसकी आकांक्षाएँ मंगलमय हो जाती हैं। उसकी इच्छाओं में विश्व-भर का कल्याण निहित रहता है। शुक्लजी ने काव्य के उद्देश्य को इतना व्यापक रूप में दिया है। इस अवस्था में मानव-हृदय में पूर्ण सामंजस्य रहता है। "काव्य का लक्ष्य है जगत् और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में लाकर सामने रखना, जिससे मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे से अपने हृदय को निकालकर उससे विश्व-व्यापिनी और त्रिकालवर्त्तिनी अनुभूति में लीन करे। इसी लक्ष्य के भीतर जीवन के ऊँचे-ऊँचे उद्देश्य आ जाते हैं। इसी लक्ष्य के साधन से मनुष्य का हृदय जब विश्व-हृदय भगवान् के लोक-रक्षक और लोक-रंजक हृदय से जा मिलता है तब वह भक्ति में लीन कहा जाता है। उस दशा में धर्म-कर्म और ज्ञान के साथ उसका पूर्ण सामंजस्य घटित हो जाता है।"[2]

काव्य कल्पना-जगत् की वस्तु है। इसमे वह मानव को कल्पनाशील और

१. 'चिन्तामणि', पृष्ठ २१६ ।
२. '[illegible]', पृष्ठ ५०-५१ ।

अकर्मण्य बना देता है। कवि और कविता-प्रेमी जीवन से पलायनवादी हो जाते हैं। प्लैटो ने काव्य को जीवन का सच्चा स्वरूप नहीं माना है। वे इसे अनुकृति की अनुकृति मानते हैं। प्लैटो के अनुसार राष्ट्र का नागरिक सत्य का अनुसरण करता है। पर कला-क्षेत्र मिथ्या, कल्पना, और भ्रान्ति का है। इस लिए कवि राष्ट्र का सच्चा नागरिक नहीं हो सकता। अत्यधिक कल्पनाशील होने के कारण उसे राष्ट्र का उत्तरदायी व्यक्ति नहीं माना जा सकता। यह विचार-धारा पाश्चात्य है।

भारतीय विचार-परम्परा में जीवन और काव्य में ऐसा कोई विरोध नहीं है। शुक्लजी काव्य-सम्बन्धी इस धारणा का कि काव्य मानव को अकर्मण्य बनाने वाला है, खण्डन करते हैं। उनकी मान्यता है कि कर्म की प्रेरक शक्ति बुद्धि नहीं, अपितु भावना है। "शुद्ध ज्ञान या विवेक में कर्म की उत्तेजना नहीं होती। कर्म-प्रवृत्ति के लिए मन में कुछ वेग का आना आवश्यक है।...मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करने वाली मूल वृत्ति भावात्मिका है।"[1] भाव ही काव्य की मूल भित्ति है। इसलिए काव्य को अकर्मण्य बनाने वाला मानना किसी प्रकार भी ठीक नहीं है। शुक्लजी तो यह मानते हैं कि काव्य भाव-प्रसार के द्वारा मानव के अर्थ-जगत् का भी प्रसार करता है। "कविता तो भाव-प्रसार द्वारा कर्मण्य के लिए कर्म-क्षेत्र का और विस्तार कर देती है।"[2] काव्य मानव की व्यापक भाव-राशि के लिए आलम्बनों का नियोजन करता है। वह उसको कर्म में अधिक प्रवृत्त होने की प्रेरणा और शक्ति प्रदान करता है। काव्य के द्वारा सारे विश्व से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और काव्य मानव के कर्म-क्षेत्र को विश्व-व्यापी कर देता है। काव्य से मानव में उत्तरदायित्व के बोझ को सँभालने की क्षमता और भी बढ़ जाती है। काव्य के अनुशीलन से हृदय-प्रसार होता है और मानव कर्मयोगी हो जाता है। उसमें ममत्व और संकुचित स्वार्थों का नितान्त अभाव हो जाने के कारण सारे विश्व के कल्याण में ही वह अपना कल्याण निहित समझता है। उसमें लोक-रंजन और लोक-मंगल की भावना बद्धमूल हो जाती है। इस भावना से प्रेरित होकर वह कार्य करता है। इस प्रकार काव्य तो मानव को वस्तुतः कर्मण्य बनाता है। काव्य से मानव में सुख दुःख में विवेक और धैर्य रखने की क्षमता आती है। शुक्लजी के अनुसार ऐसा ही काव्य श्रेष्ठ है। उनके लिए काव्य की उत्तमता का यही मापदण्ड है।

---

१. 'चिन्तामणि', पृष्ठ २१४-२१५।

२. वही, पृष्ठ २१६।

ध्वंस का आश्रय लेकर लोक-मंगल का प्रसार करना इस धर्म का मूल तत्व है। यह जनता की प्रवृत्तियों का औसत रूप है। यह धर्म का जीवन-व्यापी स्वरूप है, इसमें मानव-मात्र का कल्याण निहित है। समाज और व्यक्ति, व्यष्टि और समष्टि, प्रेम और कर्त्तव्य, विलास और त्याग, क्रोध और करुणा आदि आपाततः विरोधी प्रतीत होने वाली वस्तुओं का इसमें सामंजस्य है। इस धर्म से व्यष्टि और समष्टि दोनों की स्थिति-रक्षा होती है। भगवान् राम ही ऐसे धर्म के आश्रय हैं। उनके इसी लोक-रक्षक रूप पर जनता मुग्ध हो गई। इन चिर-कालीन आदर्शों की स्थापना के लिए मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम शाश्वत आश्रय हैं। "लोक-विदित आदर्शों की प्रतिष्ठा फिर से करने के लिए, भक्ति के सच्चे सामाजिक आधार को फिर से खड़ा करने के लिए उन्होंने राम-चरित का आश्रय लिया, जिसके बल से लोगों ने फिर धर्म के जीवन-व्यापी स्वरूप का साक्षात्कार किया और उस पर मुग्ध हुए।[1] धर्म की रसात्मक अनुभूति को शुक्लजी भक्ति मानते हैं।[2] धर्म के जिस स्वरूप का ऊपर विवेचन हुआ है, उसका आश्रय राम ही हैं। इस प्रकार शुक्लजी राम-भक्ति को ही भक्ति का चरम और आदर्श रूप मानते हैं। राम के जीवन का व्यवहार पक्ष मानव-मात्र के लिए आदर्श है। उसमें सब धर्मों का समन्वय है, इसलिए वही जीवन का सर्वांगीण और विरोधशून्य स्वरूप है। उनके जीवन से व्यक्ति और समाज दोनों ही अपना आदर्श ग्रहण करते हैं। शुक्लजी के लोक-धर्म में व्यक्ति और समाज का समन्वय है। व्यक्ति के स्वातन्त्र्य का अपहरण लोक-धर्म नहीं है। समाज के अन्य व्यक्तियों की जीवन-धारा को स्वच्छन्द गति में लेश-मात्र भी बाधा न पहुँचाने वाली वैयक्तिक स्वतन्त्रता भी इस लोक-धर्म का एक अनिवार्य तत्त्व है। यह तभी संभव है जब इन दोनों में सामंजस्य स्थापित हो। शुक्लजी लोकवाद का स्वरूप तुलसीदास जी के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए निरूपित करते हैं। पर उनके लोकवाद की भी मर्यादा है। उनका लोकवाद वह लोकवाद नहीं है, जिसका अकांड तांडव रूस में हो रहा है। वे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हरण नहीं चाहते जिसमें व्यक्ति इच्छानुसार हाथ-पैर भी न हिला सके, अपने श्रम, शक्ति और गुण का अपने लिए कोई फल ही न देख सके, वे व्यक्ति के आचरण का इतना ही प्रतिबन्ध चाहते हैं। जितने से दूसरों के जीवन-मार्ग में बाधा न पड़े और हृदय की उदात्त वृत्तियों के साथ लौकिक सम्बन्धों का

१. 'गोस्वामी तुलसीदास', पृष्ठ २६
२. 'चिन्तामणि', पृष्ठ २२५।

सामंजस्य बना रहे।[1]

ऊपर जिस लोक-धर्म का निरूपण हुआ है उसका व्यक्ति और समाज दोनों से सम्बन्ध है। शुक्लजी ने मानव और उसकी समाज-व्यवस्था को दो प्रधान भेदों में विभक्त किया है, वे हैं राम और रावण। वे समाज और देश में राम-व्यवस्था के समर्थक हैं और व्यक्ति के लिए राम को ही आदर्श मानते हैं। इस प्रकार उनके द्वारा प्रतिपादित काव्य के प्रयोजन में व्यक्ति और समाज दोनों का निर्माण अन्तर्भूत है। पर वे इस निर्माण के लिए किसी समाज-पद्धति अथवा वाद के बौद्धिक निरूपण के पक्षपाती नहीं हैं। उन्हें इन वादों में विश्वास नहीं है। दूसरे वे काव्य में बुद्धि-तत्त्व को गौण मानते हैं। उनकी दृष्टि से समाज को कोई विचार-धारा प्रदान करके निर्माण करने की अपेक्षा काव्य हृदय या भाव-प्रसार का आश्रय अधिक लेता है। यही कारण है कि शुक्लजी ने काव्य की बौद्धिक प्रेरणा को इतना महत्त्व नहीं दिया। काव्य जीवन के लिए नवीन विचार-धारा, जीवन का नवीन मान प्रदान करता है। पर इस कार्य का सम्पादन भी भावात्मकता और संवेदनीयता के माध्यम से करने में शुक्लजी काव्य का उत्कर्ष मानते हैं। इस प्रकार शुक्लजी व्यक्ति के शील के विकास को ही महत्त्व देते हैं। उसके रागात्मक सम्बन्ध को लोक-सामान्य भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित करके, उसको निर्वैयक्तिकता प्रदान करने में ही व्यक्ति का निर्माण समझते हैं। इसीमें उसका कल्याण निहित है। इसीसे वह भावयोग का आश्रय लेकर कर्मयोगी बन जाता है। व्यक्ति के शील-विकास द्वारा ही वे समाज के आदर्श रूप का निर्माण करना चाहते हैं। इस प्रकार शुक्लजी की दृष्टि से व्यक्ति का शील-विकास प्रधान तथा आदर्श समाज का निर्माण गौण और परोक्ष काव्य-प्रयोजन माना जा सकता है।

काव्य के प्राचीन सम्प्रदायों की दृष्टि से शुक्लजी रसवादी कहे जा सकते हैं। शुक्लजी रसानुभूति को ही प्रेषणीय मानते हैं उन्हें अलंकार, तथा अन्य प्रकार के चमत्कारों का औचित्य रस की दृष्टि से ही मान्य है। कवि की अनुभूति और उसके प्रेषण का माध्यम इन सभी पर रसवाद की दृष्टि से ही विचार हुआ है। शुक्लजी के द्वारा मान्य काव्य के प्रभावों का सम्बन्ध भी रस-सिद्धान्त से ही है। रस-निष्पत्ति के लिए सत्वोद्रेक अत्यन्त आवश्यक है। हृदय-प्रसार एक वैयक्तिक योगक्षेम और स्वार्थ से ऊपर उठकर लोक-सामान्य भावभूमि पर आ जाना सत्व गुण का ही स्वाभाविक परिणाम है। ये रस-

---

१. 'गोस्वामी तुलसीदास', पृष्ठ ५४।

निष्पत्ति के अनिवार्य तत्व हैं। शुक्लजी रस-निष्पत्ति वाले स्थलों को ही काव्य मानते हैं। लेकिन उनकी दृष्टि से काव्य की उत्कृष्टता का आधार नैतिकता ही है। इन रस-व्यंजक स्थलों में वे प्रभाव की दृष्टि से उत्तमता का विचार करते हैं। जो काव्य शील-विकास एवं हृदय-प्रसार का साधन है और कर्म-सौन्दर्य का व्यंजक है, उसीको शुक्लजी उत्तम काव्य कहते हैं। प्राचीन काल में रस-सिद्धान्त की व्यापकता नैतिकता के मानदंड से सीमित नहीं हुई है। जीवन का स्वच्छन्द और मांसल अनुभव भी रस-सिद्धान्त के अनुसार तो उत्तम काव्य में ही आ जाता है। "शून्यं वासगृहम् विलोक्य" तथा "त्वं मुग्धाक्षी"-जैसे श्लोक भी रस-सिद्धान्त की दृष्टि से उत्कृष्ट काव्य माने जा सकते हैं, यद्यपि उनमें नीति के लिए स्थान नहीं है। क्रोध और करुणा के सामंजस्य के आधार पर जिस कर्म-सौन्दर्य की कल्पना शुक्लजी ने की है, उसीके चित्रण को काव्य का उद्देश्य मानना काव्य के क्षेत्र को बहुत सीमित कर देना है। शुक्लजी ने काव्य के "सद्यः परनिर्वृत्तये" तथा "शिवेतरक्षतये" दोनों प्रयोजनों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इन्हींके समन्वित रूप को वे काव्य का उद्देश्य मानते हैं। यही उनके मूल्यांकन का मानदंड है। शुक्लजी का मर्यादावाद इसी पर प्रतिष्ठित है। पर प्राचीन आचार्यों ने प्रथम को "सकाल प्रयोजन मौलि-भूतम्" कहकर काव्य की व्यापकता को अक्षुण्ण रखा है। इस प्रकार का मर्यादावाद काव्य की आह्लादकता तथा जीवन-व्यापी स्वरूप का बाधक है। सूर और जयदेव के काव्य क्रोध और करुणा का सामंजस्य तो नहीं स्थापित करते, उनमें शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित कर्म-सौंदर्य नहीं है, पर उनका मर्यादावाद से शून्य शृङ्गार और भक्ति का समन्वय काव्य की दृष्टि से कभी हेय नहीं कहा जा सकता है। कृष्ण और गोपियों के जीवन की साधारण क्रियाओं पर जो सुन्दर भक्ति का आवरण कवि दे सके हैं, जिस प्रकार शृङ्गार और वात्सल्य की परिणति भक्ति में हुई है, वह पाठक के हृदय में कम सत्वोद्रेक करने वाली नहीं है। उनके द्वारा भी पाठक का हृदय लोक-सामान्य भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित होता है। यह चित्र भी मानव-हृदय का परिष्कार करता है। यह अलौकिक सौन्दर्यानुभूति भी मानवता की उच्च भूमि ही है। पर शुक्लजी का कर्म-सौंदर्य वाला सिद्धान्त इस काव्य को निम्न कहता है। इसका भी अपना महत्त्व है और उस मर्यादावाद से कम नहीं। राम और कृष्ण-काव्य में इतना अन्तर देखने का कारण शुक्लजी का यही मर्यादावाद है। जयदेव, विद्यापति और सूर आदि कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य स्थूल नैतिकता के मापदंड पर खरे नहीं उतर सकते, पर उनको सर्वथा अनैतिक कहकर हेय कोटि में रखना भी समीचीन नहीं

है। इस प्रकार यह कहना कुछ अंश तक ठीक है कि शुक्लजी के नीतिवादी दृष्टिकोण से सूर के काव्य के महत्त्व को पूरा नहीं आँका जा सकता है। हाँ, शुक्लजी का मर्यादावाद भक्ति के नाम पर विलासिता के अस्वस्थ प्रवाह को रोकने का शक्तिशाली साधन अवश्य है। इसमें काव्य और जीवन के समुचित सम्बन्ध और संतुलन को बनाये रखने की दृढ़ता है। जीवन पर काव्य के समष्टिगत प्रभाव की दृष्टि से शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित काव्य का प्रयोजन ही अधिक श्रेयस्कर है, क्योंकि इसमें व्यक्ति और समाज के जीवन के सर्वांगीण विकास की प्रेरणा है। यह कार्य प्रबन्ध-काव्य द्वारा ही संभव है, इसीलिए शुक्लजी मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्ध को उत्कृष्ट कहते हैं। लेकिन मुक्तक में भी हृदय को तल्लीन करके उसे लोक-सामान्य भाव-भूमि पर लाने की क्षमता है। उसके द्वारा भी हृदय का परिष्कार होता है। जगत् से मानव के रागात्मक सम्बन्ध की स्थापना और रक्षा इससे भी होती है। इसलिए यह भी उपेक्षणीय नहीं है। शुक्लजी भी इसकी नितांत उपेक्षा नहीं करते हैं। सूर के मुक्तक पदों के काव्य-सौन्दर्य की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हैं।

शुक्लजी ने समालोचना के सिद्धान्तों पर कोई पृथक् ग्रन्थ नहीं लिखा है।[1] कवियों की आलोचना करते अथवा काव्य की विभिन्न परम्पराओं और धाराओं का निरूपण करते हुए उन्हें साहित्य के विभिन्न तत्त्वों का विश्लेषण करने की आवश्यकता हुई है। इन अवसरों का शुक्लजी ने पूर्ण उपयोग किया है। लेकिन इनमें साहित्य का क्रमानुसार और सर्वांगीण विवेचन संभव नहीं था। शुक्लजी ने समालोचना के सिद्धान्तों पर कुछ निबन्ध भी लिखे हैं। इनमें काव्य-सिद्धान्तों के कई पक्षों पर प्रसंगानुसार पर्याप्त विवेचन हुआ है। इनमें भी ग्रन्थ की अपेक्षित पूर्णता और क्रम का अभाव है, जो स्वाभाविक है। क्रमबद्ध और ग्रन्थाकार विवेचन न होने पर भी शुक्लजी का सैद्धान्तिक विवेचन सर्वांगीण और पूर्ण कहा जा सकता है। ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि साहित्य के प्रायः सभी तत्त्वों का निरूपण शुक्लजी ने कहीं-न-कहीं कर दिया है। इतिहास में उन्हें काव्य की सभी विधाओं का सैद्धान्तिक निरूपण

---

१. 'रस-मीमांसा' नामक एक ग्रन्थ अब प्रकाशित हुआ है। इसमें शुक्लजी के कुछ पूर्व प्रकाशित निबन्धों के परिष्कृत रूप तथा कुछ नवीन निबन्ध हैं। 'चिन्तामणि' के उद्धरणों से जिन सिद्धान्तों का समर्थन हुआ है उन्हींका प्रतिपादन 'रस-मीमांसा' में भी है। कई-एक स्थानों पर तो दोनों की भाषा ही एक है।

करना पड़ा है। उन्होंने रस, रीति, अलंकार, वक्रोक्ति आदि प्राचीन तथा अनुभूति, कल्पना, राग, बुद्धि, अभिव्यंजना, आदर्श-यथार्थ आदि आधुनिक काव्य-तत्त्वों पर विचार किया है। आचार्य शुक्ल ने इन दोनों परम्पराओं के काव्य-सिद्धान्तों में सामंजस्य भी स्थापित किया है। उनकी काव्य-सम्बन्धी एक मौलिक धारणा है। इस धारणा का कलेवर और आत्मा दोनों प्राचीन भारतीय काव्य-परम्परा की सामग्री से निर्मित है। पर उनकी विवेचन-पद्धति आधुनिक है। अथवा यों कह सकते हैं कि पाश्चात्य प्रभाव से निर्मित पद्धति है। इस कसौटी के आधार पर जिसको, भारतीय कहना असमीचीन नहीं है, आधुनिक पद्धति से उन्होंने प्राचीन और अर्वाचीन सभी काव्य-सिद्धान्तों का परीक्षण किया है। इस कसौटी पर जो सिद्धान्त खरे उतरे है, वे ही उन्हें मान्य हैं। इस पद्धति से उन्हें भारतीय सिद्धान्तों की समीचीनता पर दृढ़ विश्वास हुआ है। वे पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों में वाग्जाल और भ्रामक तत्त्व ही अधिक पाते है। इनकी कसौटी को "रस" और नीति तथा पद्धति को "मनोवैज्ञानिक" कह सकते हैं। शुक्लजी ने काव्य के सभी तत्त्वों और वादों को इसी पद्धति से रस की कसौटी पर कसकर देखा है। जो खरे उतरे हैं, उनको उन्होंने देशी और विदेशी के भेद-भाव से शून्य होकर ग्रहण किया है। आवश्यकतानुसार इनका संस्कार कर लेना भी शुक्लजी अनुचित नहीं समझते। उन्होंने प्राचीन रस का भी संस्कार किया है। यही उनकी मौलिकता है। अन्य सारी मौलिकताएँ इसी सिद्धान्त में अन्तर्भूत है।

शुक्ल जी ने रस को व्यक्ति के योगक्षेम-भावना से रहित मुक्त हृदय की भावानुभूति कहा है। एक व्यक्ति की अनुभूति लोक-सामान्य की अनुभूति हो जाती है, जिसका आलम्बन सर्वसाधारण का आलम्बन हो जाता है, जो अनुभूति निर्विशेष और विशुद्ध होती है उसीको शुक्लजी रसानुभूति मानते हैं। इसमें वे काव्य अथवा जगत् का अन्तर नहीं करते। ऐसी अनुभूति जगत् में भी होती है और शुक्लजी उनको भी रसानुभूति ही मानते हैं। रस के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्य लिखते है: "तात्पर्य यह है कि रस-दशा में अपनी पृथक् सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है अर्थात् काव्य में प्रस्तुत विषय को हम अपने व्यक्तित्व से सम्बद्ध रूप में नहीं देखते, अपनी योगक्षेम की उपाधि से ग्रस्त हृदय द्वारा ग्रहण नहीं करते है।"[1] काव्य की अनुभूति को जगत् से भिन्न करने वाली क्रिया शुक्ल जी के अनुसार "साधारणीकरण" है। उनकी मान्यता

१. 'चिन्तामणि', पृष्ठ ३३६ ।

नुभूति के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है उससे यह स्पष्ट है कि वे उसको रसानुभूति से पृथक् नहीं अपितु उसीमें अन्तर्भूत मानते हैं। अन्तःसत्ता की तदाकार परिणति को ही सौन्दर्यानुभूति मानते हैं। "कुछ रूप-रङ्ग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी सारी अन्तस्सत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है।"[1] इसमें भी वे पृथक् सत्ता का विसर्जन मानते हैं। इसीलिए इसको भी वे दिव्य विभूति कहते हैं।[2] इस विवेचन से स्पष्ट होगया कि शुक्लजी रसानुभूति और सौन्दर्यानुभूति का प्रयोग प्रायः एक ही अर्थ में करते हैं। अन्तस्सत्ता की तदाकार परिणति, तल्लीनता, व्यक्तिगत योगक्षेम का परिहार, लोक-सामान्य भाव-भूमि, हृदय की मुक्तावस्था, पृथक् सत्ता का लोक-सत्ता में विलय आदि पदावली का प्रयोग इन दोनों के लिए करते हैं। शुक्लजी के अनुसार "रस" के ये ही प्रधान तत्त्व हैं, जो वस्तुतः एक ही बात को प्रकट करने के भिन्न-भिन्न प्रकार-मात्र हैं। ये मूलतः एक ही हैं।

ऊपर अनुभूति की जिन विशेषताओं का उल्लेख हुआ है, वे ही रस के प्रधान तत्त्व हैं। ये प्रत्यक्ष, स्मृति आदि में भी मिलते हैं, इसलिए शुक्लजी इनको भी रस के समकक्ष ही मानते हैं, यह ऊपर कहा जा चुका है। प्रत्यक्ष, स्मृति और कल्पना तीनों में ही व्यक्तित्व का परिहार और तल्लीनता है, इसलिए ये सभी रसानुभूति हैं। 'जिस प्रकार काव्य में वर्णित आलम्बनों के कल्पना में उपस्थित होने पर साधारणीकरण होता है, उसी प्रकार हमारे भावों के कुछ आलम्बनों के प्रत्यक्ष सामने आने पर भी उन आलम्बनों के सम्बन्ध में लोक के साथ या कम-से-कम सहृदयों के साथ हमारा तादात्म्य रहता है...... साधारणीकरण के प्रभाव से काव्य-श्रवण के समय व्यक्तित्व का जैसा परिहार हो जाता है। वैसा ही प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति के समय भी कुछ दशाओं में होता है। अतः इस प्रकार की प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूतियों को रसानुभूति के अन्तर्गत मानने में कोई बाधा नहीं।"[3] किसी प्रकार के प्राकृतिक दृश्य अथवा रूपवती स्त्री के प्रत्यक्ष दर्शन, पूर्वानुभूत मधुर अथवा क्रूर वस्तु का स्मरण, अतीत की स्मृति, उनकी सजीव कल्पना आदि लौकिक अनुभूतियां

---

१. देखिये 'चिन्तामणि', पृष्ठ २२४–२२५।
२. वही, पृष्ठ २२६।
३. वही, पृष्ठ ३३७।

भी रस ही है। रति, अभिलाषा, हास, उत्साह आदि की प्रत्यक्ष अनुभूति में गहरी तल्लीनता है। उनकी अनुभूति के समय भी व्यक्ति अपने-आपको भूला हुआ रहता है। "हर्ष, विषाद, स्मृति इत्यादि अनेक संचारियों का अनुभव वह बीच-बीच में अपना व्यक्तित्व भूला हुआ करता है।"[1] जहां अभिलाषा और उत्साह का अपने व्यक्तित्व से जितना अधिक सम्पर्क होगा, उनकी अनुभूति उतनी ही रसकोटि के बाहर होगी। अत्याचार लोक-पीड़न के प्रति जाग्रत क्रोध, पीड़ित व्यक्तियों की वेदना से जाग्रत करुणा की प्रत्यक्ष अनुभूति भी रसकोटि की ही होती है। अपनी निज की इष्ट-हानि या अनिष्ट-प्राप्ति शोक की वस्तु है। इसकी अनुभूति रस-कोटि के बाहर की वस्तु है। पर दूसरे प्राणियों की व्यथा को देखकर करुणा ही जाग्रत होती है। यह भाव सर्वथा रस-कोटि में ही होता है। प्रकृति के समक्ष मधुर भावना का अनुभव भी रसात्मक ही होगा। प्रकृति के रमणीय क्षेत्र में पहुँचकर स्वार्थमय जीवन की शुष्कता और नीरसता से हमारा मन कोसों दूर हो जाता है और यह अनुभूति रस के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्रिय का स्मरण, बाल्य-काल के अतीत जीवन का स्मरण, रति, हास और करुणा से सम्बद्ध कोई भी स्मरण रस की कोटि में ही आते हैं। किसी अपने पुराने साथी अथवा पुराने प्राकृतिक दृश्य, जिसके साथ कभी हमारा सम्बन्ध रहा हो, बहुत दिनों बाद अपने समक्ष देखकर मानव जिस मधुर भावना का अनुभव करता है, वह रस-कोटि का ही है। ऐतिहासिक खंडहरों में जाकर जो कल्पना जागृत होती है, उसके फल-स्वरूप अतीत का एक सजीव चित्र हमारी आंखों के सामने नाचने लगता है, यह भी रसात्मक ही होता है। इस प्रकार शुक्लजी ने प्रत्यक्ष, स्मृति और कल्पना तीनों में रसानुभूति मानी है। बहुत समय व्यतीत हो जाने के बाद क्रूर वस्तु का स्मरण भी मधुर हो जाता है। क्रूर की कल्पना और स्मृति तो रस-क्षेत्र में ही है, पर वे प्रत्यक्ष रूप में प्रायः रस-कोटि के बाहर ही रहते हैं। उसकी उग्रता निजी स्वार्थ-हानि को तुरन्त जाग्रत कर देती है। शुक्लजी प्रत्येक भाव के निजत्व से उठे हुए आलम्बन में रसानुभूति कराने की क्षमता मानते हैं। "पर वहीं, जहां हम सहृदय द्रष्टा के रूप में रहते हैं अर्थात् जहां आलम्बन केवल हमारी ही व्यक्तिगत भाव-सत्ता से सम्बद्ध नहीं, सम्पूर्ण नर-जीवन की भाव-सत्ता से सम्बद्ध होते हैं।[2]"

---

१. 'चिन्तामणि', पृष्ठ ३३६।

२. वही, पृष्ठ ३४७–३४८।

प्रत्यक्ष अनुभूति को रसात्मक मानने में भय, जुगुप्सा आदि भावों का जगत् में "प्रतिकूल वेदनीयम्" होना बाधक है। रस आनन्दानुभूति है। उसे प्राचीन आचार्यों ने ब्रह्मानन्द सहोदर कहा है। उसे लोकोत्तर मानने का एक यह भी कारण है कि शोक, भय आदि की दुःखात्मक अनुभूति काव्य में आनंद में परिणत हो जाती है। शुक्लजी का यहाँ पर भी प्राचीन आचार्यों से मतैक्य नहीं है। वे कहते हैं कि करुणा के आँसुओं को आनन्दाश्रु कहना बात टालना-मात्र है। उनका मत है कि जगत् की तरह काव्य में भी यह अनुभूति दुःखात्मक ही है, पर निर्वैयक्तिक होने के कारण जगत् से भिन्न है। "हृदय की मुक्त दशा होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है।"[1] शुक्लजी ने यहाँ पर "रसात्मक" शब्द के अर्थ को स्पष्ट नहीं किया है। आनन्द को सुखानुभूति से भिन्न मानना तो ठीक है, क्योंकि सुख का सम्बन्ध व्यक्तिगत योगक्षेम से है और रसानुभूति मुक्त हृदय की अनुभूति है। पर यह अनुभूति सर्वदा ही आनन्द स्वरूप है अथवा कभी-कभी दुःखमय भी होती है, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। प्राचीन आचार्यों का बहुमत इसे आनन्दानुभूति मानने में ही है। पर कुछ रस को सुखःदुखात्मक भी मानते हैं। नाट्यदर्पणकार "सुखदुःखात्मको रसः" कहते हैं और कुछ रसों को स्पष्टतः दुःख स्वरूप मानते हैं। उन्हें इस अनुभूति का अभिनय के कौशल के कारण रसात्मक हो जाना मान्य है। यह कौशल ही सहृदय की उन भावों में तल्लीनता का कारण है। आनन्द तो आत्मा का स्वरूप है। तम के आवरण तथा रज के विक्षेप से शून्य निर्मल शुद्ध और सात्विक अवस्था के अन्तःकरण में जब तटस्थ का स्वरूप स्पष्ट प्रतिबिम्बित होता है, उसी अवस्था को आनन्दानुभूति कहते हैं। आनन्द सर्वदा ही जीव को उसके अपने स्वरूप में स्थिति करता है। काव्य में विभावन-व्यापार के कारण प्रतिकूल वेदनीय भावों में भी हृदय सतोगुण-सम्पन्न हो जाता है, इसलिए वे भाव भी आनन्द-ज्योति से प्रकाशित होकर आनन्दमय प्रतीत होने लगते हैं। रंगीन प्रकाश के कारण जैसे भिन्न रंग वाली वस्तुएँ भी प्रकाशक रंग की प्रतीत होती है, वैसे ही शोकादि प्रतिकूल वेदनाएँ भी आनन्दमय प्रतीत होती हैं। ये भाव अपनी प्रकृति बदलते नहीं हैं, केवल इस परिवर्तन की भ्रान्ति-भर होती है।[2] शुक्लजी का भी इन्हें रसात्मक कहने का यही तात्पर्य है।

---

१. 'चिन्तामणि', पृष्ठ ३८२।

२. [illegible] का 'करुणादि रसों में आनन्दानुभूति नामक निबन्ध', वीणा अगस्त १९४८।

लौकिक, प्रत्यक्ष, स्मृति आदि में प्राचीन आचार्यों को रस मान्य नहीं। शुक्लजी इनको भी रस मानकर केवल दो बातें स्पष्ट कर रहे हैं कि कवि सृजन के समय रसोन्मुख होता है और काव्य और जगत् का अच्छेद्य सम्बन्ध है। काव्य जगत् से ही अपनी सारी सामग्री एकत्र करता है। वह जगत् की कुछ वस्तुओं में कल्पना के द्वारा मार्मिकता की वृद्धि कर देता है। इस प्रकार काव्य के क्षेत्र की आनन्दानुभूति जगत् के आनन्द का ही परिवर्द्धित और कुछ परिवर्तित रूप है। प्राचीन आचार्यों को रस शब्द का प्रयोग विशेष पारिभाषिक अर्थ में ही मान्य है। लेकिन शुक्लजी ने उन अनुभूतियों को भी 'रस' के नाम से अभिहित किया है, जो प्राचीन आचार्यों की दृष्टि से रस के उपादान कही जा सकती हैं। लौकिक जीवन की इन अनुभूतियों में निजत्वशून्य आनन्द के तत्त्व वर्तमान रहते हैं और कवि-कर्म-कौशल इसीमें है कि वह इन तत्त्वों को अपनी चरम अवस्था में पहुँचा दे। शुक्लजी के अनुसार कवि व्यापारों को साधारणीकृत रूप में ही ग्रहण करता है अर्थात् आलम्बन का साधारणीकरण कवि की उसी अनुभूति में हो जाता है जिसका वह काव्य-सृजन में उपयोग करता है। कवि-कर्म के पूर्व ही कुछ अनुभूतियाँ ऐसी हैं, जिनमें साधारणीकरण के तत्त्व पहले से ही विद्यमान रहते हैं। ऐसे ही व्यापारों में कवि साधारणीकरण करने में समर्थ होता है। शुक्लजी के व्यापार-शोधन के सिद्धान्त का भी यही आधार है। "कवि काव्य-सृजन के समय रसोन्मुख रहता है अतः कवि अपनी स्वभावगत भावुकता की जिस उमंग में रचना करने में प्रवृत्त होता है और उसके विधान में तत्पर रहता है, उसे यदि हम कुछ कहना चाहें तो रस-प्रवणता या रसोन्मुखता कह सकते हैं।"[1] कवि जिन आलम्बनों को ग्रहण करता है, उनमें रस के स्वाभाविक तत्त्व रहते हैं। वे प्रत्येक मानव को मुक्त हृदय करने की क्षमता रखते हैं। ऐसे ही व्यापार और अनुभव काव्य के उपादान हो सकते हैं। केवल कल्पना के आधार पर प्रस्तुत सामग्री में मानव को रसाक्षिप्त करने की नहीं अपितु केवल चमत्कृत करने की क्षमता होती है। शुक्लजी ने काव्य और जीवन के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए, इस सिद्धान्त को पर्याप्त रूप से स्पष्ट कर दिया है। यहाँ रसोन्मुख से उनका यही तात्पर्य है।

प्राचीन आचार्यों ने रस को अखंड माना है। शृङ्गार आदि का भेद स्थायी भावों के आधार पर हुआ है। सभी रसों की आनन्दानुभूति समान है, उनमें तारतम्य नहीं है। प्राचीन आचार्यों में कुछ ऐसे भी हुए हैं जिनको विभिन्न

---

१. 'काव्य में रहस्यवाद', पृष्ठ ७६।

रसों के आनन्द की मात्रा में तारतम्य मान्य है। वे कुछ रसों को अधिक और कुछ को कम आनन्दमय मानते रहे हैं।[1] पर यह सिद्धान्त सर्वसम्मत नहीं रहा। शुक्लजी ने प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य अन्य दो काव्यों का निर्देश किया है। इनका निरूपण उन आचार्यों ने नहीं किया। परन्तु सूक्ष्म विचार से उनकी सम्मति स्पष्ट हो जाती है। "रसात्मक प्रतीति एक ही प्रकार की नहीं होती। दो प्रकार की अनुभूति तो लक्षण-ग्रन्थों की रस-पद्धति के भीतर ही सूक्ष्मता से विचार करने से मिलती है। जिस भाव की व्यंजना हो उसी भाव में लीन हो जाना···लीन तो न होना पर उसकी व्यंजन-स्वाभाविकता और उत्कर्ष का हृदय से अनुमोदन करना।"[2] प्रथम रस की पूर्ण और उत्तम तथा दूसरी मध्यम कोटि है। व्रीड़ा आदि स्वतंत्र भाव के रूप में व्यंजित होने पर मध्यम कोटि में ही आते हैं। आलम्बन के साधारणीकरण तथा आश्रय के तादात्म्य से जिस भाव की अनुभूति होती है उसे तो शुक्लजी उत्तम कोटि का रस मानते हैं। पर पात्रों के शील भी पाठक के श्रद्धा, क्रोध, घृणा आदि किसी भाव के आलम्बन हो जाते हैं। इस भावानुभूति में शास्त्रीय मतानुसार साधारणीकरण तो नहीं होता, पर यह अनुभूति भी मध्यम कोटि की सहानुभूति ही है। शील-वैचित्र्य से जिस भाव की स्पष्ट अनुभूति पाठक को होती है, उनकी परितुष्टि उसी भाव को अन्य पात्र द्वारा अभिव्यंजना होने पर होती है। क्रूर कर्मा के प्रति पाठक के हृदय में क्रोध और घृणा की भावना रहती है। पर इसका पूर्ण परितोष दूसरे पात्र के द्वारा इन भावों की अभिव्यक्ति से ही होता है। इस दूसरे प्रकार की रसानुभूति में पाठक की पृथक् सत्ता का विलय नहीं होता, पर प्रथम प्रकार की रसानुभूति में पृथक् सत्ता का पूर्णतः विलय हो जाता है। "इस सम्बन्ध में सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि शील-विशेष के परिज्ञान से उत्पन्न भाव की अनुभूति और आश्रय के साथ तादात्म्य दशा की अनुभूति, जिसे आचार्यों ने रस कहा है, दो भिन्न कोटि की रसानुभूतियाँ हैं। प्रथम में श्रोता या पाठक अपनी पृथक् सत्ता अलग सँभाले रहता है, द्वितीय में अपनी पृथक् सत्ता का कुछ क्षणों के लिए विसर्जन करके आश्रय की भावात्मक सत्ता में मिल जाता है।"[3] शुक्लजी ने स्थायी भाव की तीन दशाओं का निर्देश

---

१. सत्त्वगुणस्य च सुखकरत्वात् सर्वेषां भावानां सुखमयत्वेऽपि रजतमोंऽशमिश्रणात् तारतम्यमवगन्तव्यम्। अतो न सर्वेषु रसेषु तुल्यसुखानुभवः ॥
'भक्ति रसायन', पृष्ठ २२।

२. 'काव्य में रहस्यवाद', पृष्ठ ५६।

३. 'चिन्तामणि', पृष्ठ ३१६।

किया है—क्षणिक, स्थायी और शील दशा। इन तीनों दशाओं के आधार पर ही रस की दो उपर्युक्त कोटियाँ मानी गई हैं। शील दशा के स्थायी भाव की अनुभूति को आचार्य शुक्ल मध्यम कोटि में रखते हैं। इसका निरूपण ऊपर हो चुका है। शेष दो को प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य रस में ही स्थान देते हैं। क्षणिक दशा का सम्बन्ध मुक्तक और स्थायी दशा का प्रबन्ध काव्य से है। इन तीनों दशाओं को स्पष्ट करते हुए आचार्य लिखते हैं: "किसी भाव की क्षणिक दशा एक अवसर पर एक आलम्बन के प्रति होती है, स्थायी दशा अनेक आलम्बनों के प्रति होती है, शील दशा अनेक अवसरों पर अनेक आलम्बनों के प्रति होती है। क्षणिक दशा मुक्तक रचनाओं में देखी जाती है, स्थायी दशा महाकाव्य, खंडकाव्य आदि प्रबन्धों में और शील दशा पात्रों के चरित्र-चित्रण में।"[1] शुक्लजी ने साधारणीकरण को रसोद्बोधन के लिए आवश्यक माना है। भाव के विषय को इस रूप में लाना कि वह सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, साधारणीकरण है। इसप्रकार शुक्लजी के अनुसार 'साधारणीकरण' के दो प्रधान तत्त्व हैं; आलम्बन का साधारणीकरण तथा आश्रय के साथ पाठक का तादात्म्य प्राचीन आचार्यों ने साधारणीकरण को विभावादिक का साधारणतया प्रतीत होना कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि आश्रय के द्वारा अनुभूत भाव एवं वर्णित विभाव पाठक, नट या नायक के नहीं अपितु मानव-सामान्य के होते हैं। पाठक या सहृदय को अपनी अथवा नायक की रति अनुभूत नहीं होती अपितु विशुद्ध रति का अनुभव होता है, जो सब प्रकार के वैयक्तिक सम्बन्धों से ऊपर उठकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित रहती है। रस की दृष्टि से यह विभावन-व्यापार बहुत आवश्यक है। इसीलिए शुक्लजी ने "लोक-सामान्य भाव-भूमि" का कई स्थानों पर प्रतिपादन किया है। काव्य के सैद्धान्तिक विवेचन में इसका स्थान और महत्त्व अत्यन्त स्पष्ट है। आश्रय के साथ तादात्म्य होने पर ही रस की पूर्ण अनुभूति होती है और शुक्लजी उसीको रस की उत्कृष्ट कोटि मानते हैं। लेकिन कई स्थानों पर आश्रय के साथ तादात्म्य न होकर पाठक को किसी अन्य भाव की भी अनुभूति होती है। रावण की सीता के प्रति अभिव्यक्त रति का अनुभव पाठक नहीं कर सकता। जगज्जननी के प्रति इस प्रकार की भावना रखने के कारण रावण के प्रति पाठक के हृदय में घृणा ही जाग्रत होती है। इस प्रकार आश्रय का शील पाठक के किसी भाव का आलम्बन हो जाता है। पाठक का तादात्म्य

---

१. 'चिन्तामणि भाग २', पृष्ठ २३६ ।

आश्रय के साथ न होकर कवि के साथ होता है। प्रत्येक पात्र के शील-निरूपण के अन्तस्तल में कवि का श्रद्धा, घृणा आदि में से कोई एक भाव अवश्य रहता है। कवि-हृदय की नायक और प्रतिनायक के शील की प्रतिक्रिया का अनुभव पाठक को भी होता है। इस भाव की परितुष्टि तो तब होती है जब कोई दूसरा पात्र इस भाव को अभिव्यक्त करता है। रावण के प्रति जो घृणा का भाव कवि और पाठक में रहता है, उसका पूर्ण परितोष तो तब होता है जब अंगद के द्वारा उसकी भर्त्सना कराई जाती है। यहाँ पर भी आश्रय के साथ तादात्म्य और आलम्बन का साधारणीकरण है। रस की पूर्ण अनुभूति के लिए ये दोनों बातें आवश्यक हैं, इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने साधारणीकरण के इसी पक्ष का निरूपण किया है। शील के प्रति उत्पन्न भावानुभूति रस की कोटि को नहीं पहुँचती है, इसीलिए प्राचीन आचार्य इसका विवेचन नहीं करते और शुक्लजी भी इसको मध्यम कोटि का ही रस कहते हैं। शील दृष्टा के रूप में पाठक जिस भाव का अनुभव करता है, उसमें कवि के अव्यक्त भाव के साथ तादात्म्य होता है। "तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है, जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संगठित करता है।"[1] आश्रय के साथ पाठक का तादात्म्य भी वस्तुतः कवि और पाठक का ही तादात्म्य है। वहाँ पर कवि का आश्रय के साथ तादात्म्य है। शील की दृष्टि से कवि पात्र के भाव को उचित मानता है। नायक की नायिका के प्रति रति उचित है तथा प्रतिनायक की रति-व्यंजना में कवि का तादात्म्य और समर्थन नहीं। इस प्रकार कवि-अनुभूति के साथ तादात्म्य सामान्य सिद्धान्त के रूप में शुक्लजी को भी मान्य है। शुक्लजी पहले प्रकार के रसानुभव में इसका निर्देश नहीं करते हैं पर उनके प्रेषणीयता और साधारणीकरण के सिद्धान्त पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सिद्धान्त उन्हें अमान्य नहीं है। प्रेषणीयता का वास्तविक तात्पर्य ही यह है। काव्य में साधारणीकरण के महत्त्व को वैषम्य द्वारा और भी स्पष्ट करने के लिए शुक्लजी ने व्यक्ति-वैचित्र्य का भी विशद विवेचन किया है। शुक्लजी इसकी तीन अवस्थाएँ मानते हैं—१. आश्चर्यपूर्ण प्रसादन, २. आश्चर्यपूर्ण अवसादन, ३. कुतूहल-मात्र।[2] इनमें आलम्बन का साधारणीकरण नहीं होता है। इनमें पात्रों के शील वैचित्र्य के कारण पाठक का हृदय चमत्कृत हो जाता है। पाठक कभी-कभी

---

१. 'चिन्तामणि', पृष्ठ ३२५।

२. वही, पृष्ठ ३२७।

कलाकार के काव्य-कौशल से भी मुग्ध हो जाता है। इसमें रसमग्नता नहीं, केवल हृदय की चमत्कृति-मात्र है। यह अनुभूति रस की निम्न कोटि में सम्मिलित की जा सकती है। भारतीय आचार्यों की दृष्टि से यह रसानुभूति नहीं है। इनका विवेचन शुक्लजी की मौलिक चिन्तन-क्षमता और विचारों की उदारता का परिचायक है। व्यक्ति-वैचित्र्य के कारण काव्य में प्रेषणीयता का पूर्णतः निर्वाह नहीं होता है। इसके कारण काव्य में अनुभूति की सजीवता के स्थान पर कल्पना की उड़ान और तल्लीनता के स्थान पर आश्चर्य पर आश्रित चमत्कार का प्राधान्य हो जाता है। शुक्लजी इसे कविता के प्रकृत-स्वरूप का ह्रास कहते हैं। आश्चर्यपूर्ण-प्रसादन तो कभी-कभी रस-कोटि को भी पहुँच जाता है, पर अन्य दो तो चमत्कार तक ही सीमित रहते हैं। उनको शुक्लजी निम्न कोटि में ही रख सकते हैं।

शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण के सम्बन्ध में हिन्दी-साहित्य के विवेचकों ने बहुत-कुछ विचार किया है। श्री शिवनाथ इस साधारणीकरण को भट्टनायक का भुक्तिवाद मानते हैं। उनका कहना है कि आलम्बन का साधारणीकरण, जो कवि-कर्म-सापेक्ष्य है, शुक्लजी और भट्टनायक दोनों को मान्य हैं। पर अभिनव गुप्त इसके विपरीत यह मानते हैं कि यह साधारणीकरण सहृदय का हृदय कर लेता है। वे कवि-कर्म द्वारा आलम्बनत्व के साधारणीकरण पर जोर नहीं देते हैं। वस्तुतः इन दोनों आचार्यों के साधारणीकरण में केवल शब्द-शक्तियों के मानने का अन्तर है। मूलतः ये दोनों एक ही हैं, इसको आगे विवेचन करके श्री शिवनाथ जी ने भी मान लिया है। कुछ आलोचक इसे अशास्त्रीय भी मानते है। शुक्लजी ने मध्यम कोटि के रस का जो विवेचन किया है, वह प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित नहीं हुआ है पर यह रस-सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है। इसमें कहीं भी आचार्य-परम्परा का व्यतिक्रम नहीं होता। इस प्रकार शुक्लजी के साधारणीकरण में कुछ नवीनता होते हुए भी वह अशास्त्रीय नहीं कहा जा सकता।

शुक्लजी को काव्य की प्रायः सभी विधाओं पर अपने विचार प्रकट करने का अवसर प्राप्त हुआ है। उन्होंने प्रबन्ध-काव्य और मुक्तक का अन्तर विशद रूप से स्पष्ट किया है। शुक्ल जी ने प्रबन्ध-काव्य या कथा-काव्य (इस शब्द का प्रयोग भी स्वच्छन्दतापूर्वक हुआ है) के इतिवृत्त, वस्तु, व्यापार-वर्णन, भाव-व्यंजना और संवाद ये अवयव माने हैं।[1] उनके अनुसार प्रबन्ध-काव्य मानव

---

१. 'इतिहास', पृष्ठ १७१।

जीवन का पूर्ण चित्रण होता है। इसका उद्देश्य भी रस-निष्पत्ति ही है, इसलिए शुक्लजी रसात्मकता के साधनों का निरूपण करते हैं। इसके लिए वे इतिवृ में कुछ ऐसी घटनाओं को आवश्यक मानते हैं जो मानव-हृदय को स्पर्श क सकें तथा जिनमें मानव-हृदय को रसाक्षिप्त करने की क्षमता हो। शुक्लउ सम्बन्ध-निर्वाह, स्वाभाविक प्रवाह और मार्मिक स्थलों के नियोजन को प्रबन्ध काव्य के प्रधान तत्त्व मानते हैं। इतिवृत्त-मात्र के निर्वाह में रसानुभव संभ नहीं। मार्मिक स्थलों के अतिरिक्त वस्तु-व्यापार-वर्णन और पात्रों की भाव व्यंजना के द्वारा भी काव्य में रसात्मकता का समावेश होता है। मार्मिक स्थल की योजना और वस्तु-व्यापार-वर्णन द्वारा काव्य में रसात्मकता के सन्निवेश साथ ही इतिवृत्त भी उपेक्षणीय नहीं है। मार्मिक स्थलों का नियोजन इतिवृ की सफल कल्पना पर ही आश्रित है। इतिवृत्त का विकास इन स्थलों स्वाभाविक नियोजन के उद्देश्य से ही होना चाहिए। "जिनके प्रभाव से सा कथा में रसात्मकता आ जाती है वे ही मनुष्य जीवन के मर्मस्पर्शी स्थल हैं व कथा-प्रवाह के बीच-बीच में आते रहते हैं। यह समझिये कि काव्य में कथ वस्तु की गति इन्हीं स्थलों तक पहुँचाने के लिए होती है।"[1] इन स्थलों व निकाल देने पर भी कहानी में कोई अन्तर नहीं पड़ता। पर इतिवृत्त के अभा में इन स्थलों का नियोजन-मात्र प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक की कोटि में अधि आता है। इतिवृत्त के आश्रय ही से काव्य में रस की धारा प्रवाहित रहती यद्यपि रस के मूल स्रोत में मार्मिक स्थल ही हैं। शुक्लजी प्रबन्ध और मुक्त के अन्तर का आधार ही रस की धारा और रस के छींटे मानते हैं। "मुक्त में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती, जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थि में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्था प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनमें हृद कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्ध-काव्य एक विस्त वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है।"[2] शुक्लजी मुक्तक संक्षिप्तता तथा व्यंजकता का गुण भी आवश्यक मानते हैं। भाषा की अपेक्ष कृत समस्तता भी मुक्तक का एक अनिवार्य तत्त्व है।

काव्य के वर्ण्य विषय की दृष्टि से शुक्लजी ने काव्य का एक मौलि विभाजन किया है। वे ब्रह्म के आनन्द-स्वरूप की अभिव्यक्ति की दो अ

---

१. 'जायसी ग्रन्थावली भूमिका', पृष्ठ ९१-९२।
२. 'इतिहास', पृष्ठ २६८-२६९।

स्थाएँ मानते हैं साधनावस्था और सिद्धावस्था। सिद्धावस्था से उनका तात्पर्य आनन्द और मंगल का आविर्भूत रूप है। इसमें माधुर्य, उल्लास, विभूति, प्रेम-व्यापार आदि का उपभोग पक्ष है। साधनावस्था को शुक्लजी प्रयत्न पक्ष कहते हैं। वे पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार आदि के दमन में तत्पर शक्ति के संचरण में भी उत्साह, क्रोध, करुणा, भय, घृणा इत्यादि की गति-विधि में भी पूरी रमणीयता देखते हैं। यही लोक-मंगल की साधनावस्था है। इन दोनों अवस्थाओं के आधार पर शुक्लजी ने काव्य के भेद किये हैं। साधनावस्था के काव्य 'रामायण', 'महाभारत', 'आल्हा', 'पृथ्वीराज रासो' आदि तथा सिद्धावस्था 'सूर सागर', 'बिहारी सतसई', 'गीत गोविन्द' आदि हैं।

कविता के अतिरिक्त शुक्ल जी ने उपन्यास आदि अन्य विधाओं के तत्त्वों का भी संक्षेप में निरूपण किया है। इतिहास में काव्य की गति-विधि का अध्ययन है। उसमें प्रसंगवश विधाओं का तात्त्विक निरूपण भी संक्षेप में हो जाता है। शुक्ल जी ने इन विधाओं का विवेचन इतिहास में ही किया है, पृथक् निबन्ध नहीं लिखे, इसलिए बहुत संक्षिप्त है। पर इनके स्वरूप का संश्लिष्ट और पूर्ण चित्र है। कहानी और उपन्यास के आधुनिक रूपों की विशेषताओं तथा अन्तर को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं : "इतिवृत्त का प्रवाह तो उसका मूल रूप था ही, वह तो बना ही रहेगा। उसमें अन्तर इतना ही पड़ा कि पुराने ढंग की कथा-कहानियों में कथा का प्रवाह अखंड गति से एक ओर चला चलता था, जिसमें घटनाएँ पूर्वापर क्रम से जुड़ती सीधी चली जाती थीं।...वे (आधुनिक उपन्यास या कहानी में) कथा के भीतर की कोई भी परिस्थिति आरम्भ में रखकर चल सकते हैं और उनमें घटनाओं की शृङ्खला लगातार सीधी न जाकर इधर-उधर और शृङ्खलाओं से गुम्फित होती चलती है और अन्त में जाकर सबका समाहार हो जाता है। घटनाओं के विन्यास की यही वक्रता या वैचित्र्य उपन्यासों और आधुनिक कहानियों की वह प्रत्यक्ष विशेषता है जो उन्हें पुराने ढंग की कथा-कहानियों से अलग करती है।"[1] नाटक और उपन्यास को काव्य से सर्वथा पृथक् माने जाने का शुक्ल जी विरोध करते हैं। वे इस भेद को कृत्रिम मानते हैं। वे इन दोनों का स्वरूप-सम्बन्धी कुछ अन्तर स्पष्ट करते हैं : "जगत् और जीवन के नाना पक्षों को लेकर प्रकृत काव्य भी बराबर चलेगा और उपन्यास भी। एक चित्रण और भाव-व्यंजना को प्रधान रखेगा, दूसरा घटनाओं के संचरण द्वारा परि-

---

१. 'इतिहास', पृष्ठ ५५५।

स्थितियों की उद्भावना को।"[1] शुक्लजी काव्य और आख्यायिका का अन्तर मूलतः भाव-व्यंजना और घटना-वैचित्र्य पर ही अवलम्बित मानते हैं। इस बात को शुक्ल जी ने अन्य स्थानों पर भी स्पष्ट किया है : "उपन्यास में मन बहुत-कुछ घटना-चक्र में लगा रहता है पाठक का मर्मस्पर्श बहुत-कुछ घटनाएँ ही करती हैं। पात्रों द्वारा लम्बी-चौड़ी व्यंजना की अपेक्षा उतनी नहीं रहती।"[2] उपन्यास और कहानी को शुक्लजी प्रायः एक ही प्रकार की रचना मानते हैं। "उपन्यास में सम्पूर्ण जीवन का चित्रण होता है। मानव-जीवन के अनेक रूपों का परिचय कराना उपन्यास का काम है। यह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म घटनाओं को प्रत्यक्ष करने का यत्न करता है, जिनसे मनुष्य का जीवन बनता है और जो इतिहास आदि की पहुँच के बाहर होती हैं।"[3] कहानी का आकार उपन्यास की अपेक्षा छोटा होता है। उसमें जीवन की एकांगिता रहती है। उसमें मार्मिकता और संश्लिष्टता अधिक अपेक्षित है। कहानी में भी घटना, चरित्र, कथोपकथन आदि उपन्यास के समान ही तत्त्व होते हैं। पर कहानी में ये तत्त्व इतने क्षीण हो सकते हैं कि उनका कोई महत्त्व ही न रह जाय। शुक्ल जी ने कहानी में इन तत्त्वों के विधान से स्वतन्त्र होने की पर्याप्त क्षमता मानी है। वे मानते हैं कि एक संवेदना का सिद्धान्त भी कई-एक कहानियों पर लागू नहीं होता है। "एक संवेदना या मनोभाव का सिद्धांत भी कहीं-कहीं ठीक न घटेगा। उसके स्थान पर हमें मार्मिक परिस्थिति की एकता मिलेगी, जिसके भीतर कई ऐसी संवेदनाओं का योग रहेगा जो सारी परिस्थिति को बहुत मार्मिक रूप देगा।"[4] उपन्यास में घटना, चरित्र आदि में से किसी एक तत्त्व की प्रधानता तो संभव है, पर कहानी की तरह वे इतने सूक्ष्म नहीं हो सकते। इस प्रकार उपन्यास और कहानी का वास्तविक अन्तर शुक्लजी के विवेचन से अत्यन्त स्पष्ट है। कविता की अपेक्षा कहानी उपन्यास के अधिक निकट है। ये दोनों विधाएँ सजातीय कही जा सकती हैं। इन दोनों में से घटना और चरित्र का नितान्त अभाव सम्भव नहीं है। कविता से इनका अन्तर समझने के लिए कहानी को घटना-प्रधान मानना ही पड़ता है।[5] इन विधाओं के तत्त्वों

---

१. 'इतिहास' पृष्ठ ५९९।
२. 'चिन्तामणि भाग, २, पृष्ठ १७७।
३. 'उपन्यास', नागरी प्रचारिणी पत्रिका।
४. 'इतिहास', पृष्ठ ६७१।
५. देखिए 'चिन्तामणि प्र० भा०', पृष्ठ २२२—२२३।

का क्रमिक निरूपण न होने पर भी इनके सभी तत्त्वों का संश्लिष्ट एवं प्रामाणिक विवेचन हो गया है। पर शुक्लजी केवल आलोचक ही नहीं हैं, वे हिन्दी के एक सर्वश्रेष्ठ निबंधकार भी हैं। इसीलिए शुक्लजी ने निबन्ध के स्वरूप और मानदण्ड पर काव्य को उपन्यास आदि अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक विस्तृत और अधिकारपूर्ण विवेचन किया है। इसका तात्पर्य यह कभी नहीं है कि अन्य विधाओं के निरूपण में तत्त्व की प्रामाणिकता का अभाव है। निबन्ध का आधुनिक रूप हमें पश्चिम से प्राप्त हुआ है। लेकिन हिन्दी में इसके स्वरूप का मौलिक विकास हुआ है। यह कहना भी अनुचित नहीं है कि इस विदेशी वस्तु को भारत के चिंतन के अनुकूल बनाने के लिए इनमें परिवर्तन की आवश्यकता है। शुक्लजी ने इसके तत्त्वों की मौलिक व्याख्या की है। निबन्ध का एक प्रधान तत्त्व व्यक्तित्व है। उसमें विषय का नहीं अपितु निबन्धकार के व्यक्तित्व का अधिक प्राधान्य होना चाहिए। अपने प्रस्तुत विषय से इधर-उधर जाने की स्वतन्त्रता भी है। इसलिए निबन्ध अव्यवस्थित, विशृङ्खल और उच्छिन्न रचना का नाम है। शुक्लजी को निबन्ध में व्यक्तित्व का तत्त्व मान्य है, पर ठीक उसी रूप में नहीं जिसका निर्देश ऊपर किया जा चुका है। भारतीय रस और साधारणीकरण के सिद्धान्त को मान लेने के बाद कलाकार के व्यक्तिगत जीवन की घटनाओं को साहित्यिक रचना में तभी स्थान मिल सकता है, जब उनमें सर्वसामान्य की अनुभूति और चिन्तन के तत्त्व अन्तर्भूत हों। इसलिए निबन्ध में व्यक्तित्व को एक प्रधान तत्त्व मान लेने पर भी शुक्लजी के लिए उसको उसी अर्थ में ग्रहण करना सम्भव न था। एक ही वस्तु या घटना की भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के स्वभावानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की बौद्धिक और रागात्मक प्रतिक्रियाएँ होती हैं। गम्भीर प्रकृति वाला उसीके आधार पर गम्भीर शैली के गूढ़ चिन्तन में प्रवृत्त होता है, पर विनोदप्रिय व्यक्ति उसमें हास्य की उद्भावना कर लेता है। बुद्धि और हृदय के इसी स्वातन्त्र्य को व्यक्तित्व कहा गया है : "एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी सम्बन्ध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। इसी का नाम है एक ही बात को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखना। व्यक्तिगत विशेषता का मूल आधार यही है।"[1] इसमें लोक-सामान्य भाव-भूमि के सिद्धान्त की अपेक्षा नहीं है। शुक्ल जी को व्यक्तिगत विशेषता का यही अर्थ मान्य है। इसके विपरीत अर्थ को तो वे तमाशा मानते हैं। "भावों की विचित्रता दिखाने

---

१. 'इतिहास' पृष्ठ ५५६।

के लिए ऐसी अर्थ-योजना की जाय जो उनकी अनुभूति के प्रकृत या लोक-सामान्य स्वरूप से कोई सम्बन्ध ही न रखे अथवा भाषा से सरकस वालों की-सी कसरतें या हठयोगियों के-से आसन कराये जायँ, जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो।"[1] पश्चिम की चिन्तन-प्रणाली स्वाभावतः ही कुछ उच्छिन्न है, भारतीय चिन्तन अपेक्षाकृत अधिक संश्लिष्ट और तर्क-सम्मत है। इसलिए यहाँ पर निबन्ध में "कसावट" भी एक विशेष महत्त्व की वस्तु बन गई है। शुक्लजी विशृङ्खलता में भी एकसूत्रता मानते हैं। वे तत्त्व-चिन्तक से निबन्धकार का अन्तर समझाते हुए कहते हैं : "ये सम्बन्ध-सूत्र एक-दूसरे से नथे हुए, पत्तों के भीतर की नसों के समान, चारों ओर एक जाल के रूप में फैले हैं। तत्त्व-चिन्तक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए उपयोगी कुछ सम्बन्ध-सूत्रों को पकड़कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्यौरों में कहीं नहीं फँसता। पर निबन्ध-लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ-सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है।[2] शुक्ल जी निबन्धकार को बुद्धि और भावात्मक हृदय के साथ सम्पूर्ण मानसिक सत्ता को लेकर चलने वाला कहते हैं। इस प्रकार वे निबन्ध में विचार और भाव दोनों के सन्निवेश को आवश्यक मानते हैं। यहाँ पर उन तत्त्वों का विचार हुआ है जिनका सम्बन्ध निबन्ध सामान्य से है, जो वर्णनात्मक, विचारात्मक और भावात्मक तीनों प्रकार के निबन्धों के सामान्य तत्त्व कहे जा सकते हैं।

शुक्लजी विचारात्मक निबन्धकारों की कोटि में हैं। उन्होंने विचारात्मक निबन्ध की श्रेष्ठता का मानदंड निर्धारित किया है। उनकी मान्यता है कि निबन्धकार नवीन विचार-धारा ही नहीं देता अपितु अपने विचारों द्वारा पाठक को चिन्तन में प्रवृत्त होने के लिए बाध्य कर देता है जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार-पद्धति पर दौड़ पड़े। इससे स्पष्ट है कि वे गूढ़ चिन्तन को महत्त्व देते है। पश्चिम में निबन्ध भी मनोरंजन की सामग्री ही है। पर यहाँ की परम्परा में इस तत्त्व को इतना महत्त्व नहीं दिया गया। जिन रचनाओं के अध्ययन मे चिन्तनशील व्यक्तियों का ही अनुरंजन हो सकता है, वे भी निबन्ध की कोटि में ही है। शुक्लजी ने ऐसी ही रचनाओं को श्रेष्ठ माना है। जिन रचनाओं में गहन विचार-धारा है और उसके समझने में पाठक

१. 'इतिहास' पृष्ठ ५५६।
२. वही, पृष्ठ ५५६।

को मानसिक श्रम करना पड़े, शुक्लजी ऐसी रचनाओं की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हैं। "ऐसे निबन्धों को, जिनकी असाधारण शैली या गहन विचार-धारा पाठकों को मानसिक श्रमसाध्य नूतन उपलब्धि के रूप में जान पड़े।"[१] इन निबन्धों में तत्वचिन्तक की गूढ़ विचार-धारा के दर्शन होते हैं, पर व्यक्तिगत विशेषता के कारण ये रचनाएँ प्रबन्ध की कोटि में न आकर निबन्ध ही हैं। इनमें कहीं हास्य, विनोद आदि मनोभावों के अतिरिक्त लेखक की अनुभूति का एक भावात्मक आवरण सारी विचार-धारा पर रहता है। इससे इनमें भाव और विचार दोनों का सामंजय हो जाता है। शुक्ल जी की रचनाएँ इसी कोटि की हैं। ये रचनाएँ सर्व-साधारण के मनोरंजन के लिए नहीं हैं। जैसे बलिष्ठ शरीर वालों को कठोर शारीरिक परिश्रम से आनन्द की उपलब्धि होती है, वैसे ही गम्भीर तत्वचिन्तकों को साधारण कोटि की विचार-धारा से अनुरंजन नहीं हो सकता। मानसिक श्रम से प्राप्त विचारों में उन्हें एक विशिष्ट बौद्धिक आनन्द प्राप्त होता है, उनका आत्मपरितोष होता है। इसी प्रकार भाव-जगत् में भी सामान्य स्तर की अपेक्षा उत्कृष्ट भावुकता में ही आनन्द आता है। प्रसाद जी की भावुकता एक विशिष्ट कोटि की है, उसमें तल्लीन होने वाले विशेष रूप से सुसंस्कृत व्यक्ति होते हैं। बुद्धि और हृदय के संस्कारों की भिन्नता के कारण सहृदयता भी भिन्न-भिन्न स्तरों की होती है। सहृदय में भी कोटि और प्रकारों की कल्पना हो जाती है।

हिन्दी में भावात्मक गद्य निबन्ध की कोटि से बाहर एक पृथक् विधा के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। इसको गद्य-काव्य अथवा काव्यात्मक गद्य-प्रबन्ध का नाम दिया गया। शुक्लजी रायकृष्णदास की 'साधना', 'प्रवाल' आदि, वियोगीहरि की 'भावना' और 'अन्तर्नाद' महाराजकुमार रघुबीरसिंह जी की 'शेष स्मृतियाँ' को इसी विधा में मानते हैं। भावात्मक निबन्धों की शैली के तीन रूप शुक्लजी ने माने हैं—धारा, तरंग और विक्षेप। विक्षेप शैली का एक अवान्तर भेद है प्रलाप शैली। भावात्मक निबन्धों में शैली ही सबसे प्रधान तत्व है और उसीका निरूपण हुआ है।

ऊपर के इस विस्तृत विवेचन का तात्पर्य काव्य-सिद्धान्तों के निरूपण की विशदता के अतिरिक्त शुक्लजी की आलोचना-सम्बन्धी धारणा का स्पष्टीकरण भी है। इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि शुक्लजी की दृष्टि से काव्य तथा उसकी अन्य विधाओं का प्रकृत स्वरूप क्या है, उनमें कौन-से तत्व हैं, और उनका

१. 'इतिहास', पृष्ठ ६२०।

पारस्परिक तुलनात्मक महत्त्व क्या है। इन्हीं विचारों से आलोचना-सम्बन्धी धारणा स्पष्ट हो जाती है। आलोचना के दो प्रधान रूप हैं प्रयोगात्मक और सैद्धान्तिक। इन दोनों का परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। ये काव्य प्रयोगात्मक आलोचना के आधार हैं तथा प्रयोगात्मक आलोचना से सिद्धान्तों का निर्माण होता है। अब हमें शुक्लजी की प्रयोगात्मक आलोचना पर विचार करना है।

पश्चिम में जिस आलोचना-पद्धति का विकास हुआ है, उसके स्थूल रूप से तीन प्रधान प्रकार माने जा सकते हैं—१. निर्णयात्मक, २. निगमनात्मक, ३. प्रभावाभिव्यंजक। पहली प्रकार की समालोचना में आलोच्य रचना के गुण-दोषों का निर्देश होता है। इसके लिए आलोचकों को पहले से ही आलोचना के कुछ सिद्धान्तों के एक विशेष मान को स्वीकार करना पड़ता है। आलोचक के सम्मुख आदर्श रचना का एक स्वरूप होता है, उसकी अच्छाई का एक निश्चित मानदण्ड होता है। इनके अनुकूल जो रचना होती है, उसे ही यह श्रेष्ठ मानता है। इस आलोचना में मानदण्ड ऊपर से आरोपित होता है। इसमें कवि के उद्देश्य और उसकी रचना को समझने की अपेक्षा काव्य के सिद्धान्तों का गम्भीर अध्ययन अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। इस आलोचना में सहृदयता की अपेक्षा पांडित्य अधिक अपेक्षित है। पर निगमनात्मक आलोचना में विश्लेषण द्वारा आलोच्य वस्तु में से ही आलोचना का मापदण्ड निकाला जाता है। इसमें कवि की सफलता किन्हीं बाहर से आरोपित सिद्धान्तों अथवा मानों द्वारा नहीं आंकी जाती अपितु उसके उद्देश्य समझने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया जाता है। इसमें कवि की मानसिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का भी पूरा ध्यान रखा जाता है। विवेचन और विश्लेषण द्वारा रचना के उद्देश्य, सौन्दर्य और महत्त्व का प्रतिपादन तथा मूल्यांकन ही इस आलोचना में प्रधान है। इस प्रकार की समीक्षा में व्यक्ति की रुचि के लिए स्थान नहीं है। किसी भी कृति के मूल्य को पूर्णतः स्पष्ट करने के लिए उसके रचनाकार की मानसिक स्थिति, रचना-काल की सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक अवस्था का अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार विश्लेषणात्मक आलोचक को आवश्यकता पड़ने पर ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक आलोचना-पद्धतियों का भी अवलम्बन करना पड़ता है। आलोच्य रचना अपने कलात्मक सौष्ठव के द्वारा पाठक के हृदय को कितना स्पर्श करने वाली है? इस प्रकार के हृदय को स्पर्श करने वाले गुण क्या हैं; इन प्रश्नों का भी आलोचना से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। इन दृष्टियों से विवेचन करने पर विश्लेषणात्मक आलोचना में सौन्दर्यवादी दृष्टि-

फोग भी अपनाना पड़ता है। सौन्दर्य के विशिष्ट स्थलों का नामकरण करते हुए यह आलोचक तन्त्रवादी आलोचना के क्षेत्र में भी प्रवेश कर जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि विश्लेषणात्मक आलोचना में इन सभी प्रकार की आलोचनाओं का समावेश हो जाता है। विश्लेषण की व्यापक पद्धति का अनुसरण करते हुए विभिन्न मानों अथवा शैलियों का अवलम्बन करने से ऐतिहासिक-मनोवैज्ञानिक आदि आलोचना-पद्धतियों का जन्म होता है। इसलिए इन सब प्रकार की आलोचनाओं का समावेश भी इसमें हो जाता है। शुक्लजी भी इसी पद्धति में ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक आदि अनेक प्रकार की समालोचनाओं को अन्तर्भूत मानते हैं।[1] निर्णयात्मक आलोचना बहुत-कुछ पूर्व निर्मित सिद्धांतों पर ही आधारित रहती है। पर फिर भी इसको विश्लेषणात्मक पद्धति का अवलम्बन करना ही पड़ता है। बिना इस पद्धति के निर्णयात्मक आलोचना का कुछ भी मूल्य नहीं रहता है। "In the interest of judicial criticism itself we have to recognise that the judicial criticism must always be preceded by the critisiom of interpretation. No judicial criticism can be of any value which has preceded by the criticism of interpretation."[2] प्रभावाभिव्यंजक आलोचना में ऐतिहासिक अथवा अन्य प्रकार के मूल्यों का विवेचन नहीं होता है। इसमें तो आलोचक रचना के अनुशीलन के फलस्वरूप अपने हृदय पर पड़े हुए प्रभावों का ही निर्देश करता है। इसमें रचना के मूल्यांकन के लिए यही एक-मात्र मानदण्ड है। आलोचक का हृदय ही कसौटी और मान है। इस आलोचना में बाहर से आरोपित सिद्धान्तों का प्रायः नितान्त अभाव हो जाता है। यह आलोचना विचारात्मक न होकर भावात्मक पद्धति का अनुसरण करती है और एक स्वतन्त्र रचना का रूप धारण कर लेती है। रुचि-वैचित्र्य के कारण इस आलोचना का व्यक्तिगत महत्त्व है। इसमें उत्कृष्ट सहृदयता की पूर्ण अपेक्षा है। आलोच्य रचना के अनुशीलन से जो अनुभूति पाठक में जागृत होती है, उसको अभिव्यक्त करना भी आलोचना का एक प्रमुख कार्य है। प्रभाववादी आलोचक इसी अनुभूति को अभिव्यक्त करता है। अपनी सजीव शैली से पाठक में वही अनुभूति जाग्रत करता है जो कवि को अभीप्सित है। अगर प्रभाववादी आलोचक एक सुसंस्कृत रुचि का व्यक्ति हो, अपनी व्यक्तिगत रुचि को अनावश्यक महत्त्व न दे तथा प्रकृत विषय से दूर अपने ही भावों में न वह जाय तो ...

---

१. देखिये शुक्लजी : 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ५८१-५८२।

2. Molton, The Modern study of Literature.

स्पिनगार्न के मन्तव्य को अपने शब्दों में स्पष्ट कर दिया है। आलोचक का प्रधान कार्य विचार और विश्लेषण ही है। पर कला-कृति की अनुभूति का साक्षात्कार कराने में भी आलोचक सहायक होता है और इसके लिए उसे भावात्मक अथवा प्रभाववादी होना पड़ता है। विश्लेषण के उपरान्त निर्णय पर पहुँचना स्वाभाविक भी है और साहित्य के विकास के लिए उपादेय भी। यह हम पहले देख चुके हैं। इस प्रकार शुक्लजी आवश्यकतानुसार आलोचक की इन तीनों पद्धतियों का उपयोग आवश्यक तथा समीचीन समझते हैं। यही उनका सामंजस्य है। वे प्रभाववाद के नाम पर केवल भावुकता का झूठा प्रदर्शन और वाग्जाल तथा सुरुचि और विद्वत्ता के नाम पर विश्लेषण-शून्य निर्णय के विरोधी हैं। शुक्लजी की प्रयोगात्मक आलोचना में इन तीनों का सामञ्जस्य है। विश्लेषणात्मक आलोचना में भी उन्होंने ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक आदि पद्धतियों का यथावसर उपयोग किया है। इस प्रकार शुक्लजी में आलोचना की सर्वांगीण पद्धति का विकास हुआ है। कहीं-कहीं आलोचना के मान में उनकी वैयक्तिक रुचि का प्राधान्य हो गया है। उसके कारण कुछ लोग उनमें पक्षपात की प्रवृत्ति भी मानते हैं। अन्यथा शुक्लजी की पद्धति सर्वांगीण और समीचीन है। यह पद्धति उनकी हिन्दी-साहित्य की देन है।

निगमनात्मक समीक्षा-पद्धति के सम्बन्ध में यह कई स्थानों पर कहा जा चुका है कि उसमें मान का आरोप नहीं होता है अपितु आलोच्य रचना से निकाले हुए साहित्य-सिद्धान्त ही मान का स्वरूप धारण कर लेते हैं। शुक्लजी ने अपने मान तुलसीदास जी के 'रामचरितमानस' तथा उनकी अन्य रचनाओं के आधार पर ही निर्मित किये हैं। शुक्लजी उसी साहित्य-रचना को श्रेष्ठ मानते हैं जिसमें जीवन के व्यापक स्वरूप का अनुभूतिमय चित्र लोक-धर्म और शील विकास को सामंजस्यपूर्ण स्थायी प्रेरणा देने वाले हों। केवल सामयिक समस्याओं से सम्बन्ध रखने वाला साहित्य चिरस्थायी नहीं होता है। शुक्लजी साहित्य और जीवन के घनिष्ठ बौद्धिक सम्बन्ध के अतिरिक्त आनन्दानुभूति को भी काव्य का प्रयोजन मानते हैं। रसानुभूति और लोक-धर्म के सिद्धान्त ही गोस्वामीजी की रचना के प्राण हैं। यह मानदंड शुक्लजी को तुलसीदास जी से मिला है। इस मानदंड पर तुलसी के काव्य के अतिरिक्त भारतीय साहित्य-शास्त्र की भी स्पष्ट छाप है। आनन्दानुभूति के अनुरूप काव्य में जिन तत्त्वों का समावेश शुक्लजी को मान्य है, उनका विवेचन विशद रूप में ऊपर किया जा चुका है। गोस्वामी जी की कविता में भारतीय आदर्श का पूर्ण निर्वाह है। इसलिए शुक्लजी की साहित्यिक धारणा में भी शास्त्रीय अनुशासन की कठो-

रता के साथ भावुकता का समन्वय है। उनके नीति, शील और लोक-धर्म पर अवलम्बित मूल्यवादी दृष्टिकोण का उच्चतम सहृदयता के साथ पूर्ण सामंजस्य है। उनकी वैयक्तिक रुचि पूर्णतः परिष्कृत है इसलिए उसमें एक ही साथ शास्त्रीयता, नैतिकता और भावुकता का भी पूर्ण निर्वाह है। गोस्वामी जी की काव्य-सम्बन्धी धारणाओं में "स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा" "उपजहिं अनत अनत छवि लहहिं" तथा "सुरसरि सम सब कर हित होहिं" का सुन्दर समन्वय है। उसी प्रकार शुक्लजी के आलोचनात्मक दृष्टिकोण से भी स्वान्तः सुखाय, प्रेषणीयता तथा लोक-हित का सम्मिश्रण है। शुक्लजी की रुचि में प्रौढ़ भावुकता और शास्त्र-ज्ञान का सामंजस्य है। यही कारण है कि उनकी आलोचनाओं में तीन पद्धतियों का समन्वय हो सका है।

शुक्लजी की प्रयोगात्मक आलोचना प्रमुखतः भूमिकाओं के रूप में ही है सूर, तुलसी, और जायसी की भूमिकाओं के अतिरिक्त शुक्लजी ने हिन्दी-साहित्य का इतिहास तथा 'शेष स्मृतियाँ' नामक आधुनिक गद्य ग्रन्थ की भूमिका भी लिखी है। शुक्ल जी का मानदंड तो सर्वत्र ही प्रायः समान-सा है केवल थोड़ी शैली में भावुकता या बौद्धिकता की कमोवेशी है। इन तीनों भूमिकाओं में उनकी शैली विश्लेषणात्मक है तथा उनका मान नीति, भावुकता और शास्त्रीयता के सम्मिश्रण से निर्मित है। स्थूल रूप से हम शुक्लजी की आलोचना के दो विभाग कर सकते हैं, रूपात्मक और उद्देश्य-सम्बन्धी। रूपात्मक में रस, भाव, अलंकार आदि सभी काव्यांगों की दृष्टि से किये गए विवेचन का समावेश हो जाता है। इसको अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है कि शुक्लजी इस विवेचन में रसवादी हैं। अलंकार, गुण, रीति आदि का रस की दृष्टि से औचित्य मानते हैं और इसी दृष्टि से उनके महत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। इनके पूर्ववर्ती आलोचक रस, अलंकार आदि का जिस प्रकार स्थूल निर्देश भर करते रहे, वैसा शुक्लजी ने नहीं किया है। उनकी पद्धति विश्लेषणात्मक है। वे किसी स्थल पर किसी विशेष अलंकार, भाव अथवा रस का "लेबिल" चिपका देने को ही आलोचना नहीं मानते। पर्याप्त कारणों द्वारा पाठक को उसका स्वरूप समझाकर उसकी उपस्थिति पाठक को स्पष्ट कर देते हैं। पहले प्रकार की पद्धति का भी शुक्लजी ने बहुत उपयोग किया है। सूर, तुलसी और जायसी की आलोचना में इस पद्धति के पर्याप्त उदाहरण हैं। अनेक स्थानों पर वे केवल इतना ही निर्देश करते हैं कि यहाँ पर 'व्यतिरेक' अलंकार है अथवा यहाँ अमुक भाव है।[1] लेकिन अलंकारों की अपेक्षा शुक्लजी ने भावों की आलोचना

१. देखिये 'जायसी ग्रन्थावली' की भूमिका में अलंकार-प्रसंग, पृष्ठ १४२-१४५।

अधिक की है। उन्होंने स्थायी, संचारी आदि भावों का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। आश्रय और आलम्बन की विभिन्न मानसिक दशाओं और शारीरिक चेष्टाओं का वर्णन किया है। शुक्लजी का भावुक हृदय इन दशाओं का अनुभव करता है। अपने हृदय की अनुभूति को, जिसका कवि-हृदय से सामंजस्य है, पाठकों के समक्ष सजीव रूप में उपस्थित करते हैं। कुछ वर्णन के उपरान्त आलोच्य रचना के अवतरण उद्धृत करते हुए वे आगे बढ़ते हैं। इन वर्णनों के द्वारा रचना के सौन्दर्य और मार्मिकता का उद्घाटन करना ही उनका उद्देश्य है। इसको परिचयात्मक शैली की ऐप्रीसियेटिव क्रिटिसिज़म कह सकते हैं। शास्त्र का आधार लेने के कारण तथा अत्यन्त परिष्कृत रुचि के फलस्वरूप इस आलोचना में वैयक्तिक रुचि का प्राधान्य नहीं प्रतीत होता है। यह वैयक्तिक न रहकर लोक-रुचि हो गई है। यह आलोचक का बहुत बड़ा गुण है। इसमें प्राभावाभिव्यंजक आलोचना की भावुकता के साथ शास्त्रीय प्रामाणिकता का सुन्दर समन्वय हो गया है। पूर्ववर्त्ती आलोचकों के-से 'वाह वाह' वाले वाक्यों का प्रयोग भी कहीं-कहीं मिल जाता है। लेकिन ये अत्यन्त विरल हैं। स्वयं आलोचक का मन जब मुग्ध हो जाता है तो वह ऐसे वाक्यों का प्रयोग पाठक में भी वैसा ही अनुभूति जाग्रत करने के लिए करता है। "परिहास के अतिरिक्त अन्तिम चरण में प्रेम की उच्च दशा के औदार्य की कैसी साफ झलक है।" इस आलोचना का उद्देश्य पाठक को कवि की सुन्दर उक्तियों का अनुभव कराना तथा उनके सौन्दर्य पर मुग्ध करना है। आलोचक मुग्ध होता है और वह अपनी सजीव शैली से पाठक को भी मुग्ध करना चाहता है। आलोचना के स्वरूप-विकास के अनुसार आलोचना का आधुनिकतम रूप निगमनात्मक माना जाता है। शुक्लजी में हमें इसीके दर्शन होते हैं। इसमें उत्कृष्ट सहृदयता तो है ही पर साथ ही विचार-सरणी भी शास्त्रीय है। स्थायी, संचारी आदि भावों, अनुभावों, हावों आदि की दृष्टि से ही विवेचन हुआ है। पूर्व निर्मित मानदंड पर आधारित होने के कारण इस आलोचना को पूर्णतः निगमनात्मक नहीं कह सकते हैं। हाँ, इनमें विवेचनात्मक शैली का अनुसरण अवश्य हुआ है। आचार्य शुक्ल को मौलिक चिन्तन का भी अवसर मिला है। उनकी तलस्पर्शी विवेचनात्मक बुद्धि तथा उत्कृष्ट भावुकता ने नवीन भाव-दशाओं का भी निरूपण किया है। शुक्लजी ने नवीन मानसिक दशाओं के नामकरण किये हैं। उसकी सहृदयता ने एक ही भाव की विभिन्न सूक्ष्म अवस्थाओं का साक्षात्कार कर लिया है। आश्चर्य से मिलती-जुलती परन्तु उससे कुछ भिन्न 'चकपकाहट' नामक भाव-दशा के दर्शन शुक्लजी के भावुक हृदय ने सूर के 'हम सों कहत

कौन की बातें' नामक पद में कर लिए हैं।[1] 'उदासीनता' का एक नवीन रूप मंथरा और कैकेयी के वार्त्तालाप में मिलता है। ग्रामीण स्त्रियों का भगवान् के प्रति जो रति-भाव है, उसका रति के किसी भी शास्त्रीय विभाग में समावेश नहीं हो सकता है, पर फिर भी शुक्लजी ने उसकी उत्कृष्टता और मार्मिकता का निरूपण किया है। इन नवीन भाव-दशाओं का निरूपण भी शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण करने वाला है। इसीलिए शुक्लजी की रूपात्मक आलोचना को विशुद्ध निगमनात्मक कहने की अपेक्षा तन्त्रवादी कहना अधिक समीचीन है। हाँ, इनकी शैली निर्णयात्मक, निर्देशात्मक, या परिचयात्मक की अपेक्षा विश्लेषणात्मक अधिक हुई है, इसलिए उसमें निगमनात्मक आलोचना के प्रौढ़ तत्त्व अवश्य विद्यमान हैं। एक-आध उद्धरणों से पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार शुक्लजी ने अपनी इस रूपात्मक आलोचना में भावुकतापूर्ण वर्णन और परिचय के साथ तात्विक और शास्त्रीय विश्लेषण किया है। इसमें उन्होंने प्राचीन साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों के अतिरिक्त अधुनिक मनोविज्ञान के तत्त्वों का भी पर्याप्त उपयोग किया है। "नन्द ब्रज लीजै ठोकि बजाय" के भाव-सौन्दर्य को स्पष्ट करते हुए शुक्लजी लिखते हैं।[2] "ठोंकि बजाय" में कितनी व्यंजना है···एक-एक वाक्य के साथ हृदय लिपटा हुआ आता दिखाई दे रहा है। एक वाक्य दो-दो, तीन-तीन भावों से लदा हुआ है। श्लेष आदि कृत्रिम विधानों से मुक्त ऐसा ही भाव का गुरुत्व हृदय को सीधा जाकर स्पर्श करता है। इसे भाव-शबलता कहें या भाव-पंचामृत, क्योंकि एक ही वाक्य "नन्द ब्रज लीजै ठोकि बजाय" में कुछ निर्वेद, कुछ तिरस्कार और कुछ अमर्ष इन तीनों की मिश्र-व्यंजना पाई जाती है।" आलोचना की यह परम्परा छन्दों की तन्त्रवादी और प्रभावाभिव्यंजक व्याख्या पद्मसिंह शर्मा आदि में भी उपलब्ध होती हैं। शुक्लजी इसी परम्परा को प्रौढ़ रूप प्रदान करते हैं। सहृदयता, मनोवैज्ञानिकता और तन्त्रवादिता के सम्मिश्रण से जो प्रौढ़ता इस विवेचन में आई है, उसका अनुकरण आज भी हो रहा है। कवियों के भाव और कला-सौष्ठव की विभिन्न छन्दों के उद्धरणों द्वारा अनुभूतिमय और तन्त्रवादी विश्लेषण की परम्परा आज भी प्रचलित है। 'शेष स्मृतियों' की भूमिका शुक्लजी ने तन्त्रवादी और प्रभावाभिव्यंजक आलोचना का सुन्दर सम्मिश्रण किया है। शुक्लजी की इस रचनात्मक आलोचना का अनुसरण परवर्त्ती आलोचकों ने बहुत अधिक किया है।

---

१. 'भ्रमर गीत सार की भूमिका', पृष्ठ ५५।

२. वही, पृष्ठ २३।

विश्वविद्यालय के छात्रों के लिए परीक्षोपयोगी जो पुस्तकें प्रस्तुत हुई हैं, उनमें प्रमुखतः इसी शैली का अनुसरण हुआ है। इन आलोचनाओं में शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करके सहृदयता और भावुकतापूर्ण शैली में परिचय और विश्लेषण द्वारा आलोच्य रचना की सौंदर्यानुभूति पाठक में जाग्रत करके उसके महत्त्व का प्रतिपादन हुआ है। शुक्लजी की तरह प्रायः परवर्त्ती आलोचकों ने भी महत्त्व-सम्बन्धी निर्णयों में पाठकों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की है। ये आलोचक सौन्दर्यानुभूति द्वारा पाठकों को मुग्ध करके रचना के महत्त्व का स्वयं मूल्यांकन करने का अवसर प्रदान करते हैं।

पं० कृष्णानन्द ने 'त्रिवेणी' की भूमिका में "तत्त्व-निरूपण" को उत्कृष्ट समालोचना का आवश्यक अङ्ग माना है। यह हम ऊपर कह चुके हैं कि निगमनात्मक की एक यह भी विशेषता है कि आलोच्य रचना के आधार पर साहित्य-सिद्धान्तों का भी निरूपण होता जाय। ऊपर हमने देखा है कि शुक्लजी में प्रयोगात्मक और सैद्धान्तिक दोनों प्रकार की आलोचना का सुन्दर सम्मिश्रण है। उन्होंने पृथक् रूप से सिद्धान्तों का विवेचन भी किया है, पर इन भूमिकाओं तथा अपने इतिहास में भी प्रसंगानुसार विवेचन करते गए हैं। प्रबन्ध काव्य की विशेषताएँ, प्रबन्ध और मुक्तक का अन्तर, आश्रय और आलम्बन की चेष्टाओं का विवेचन आदि अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों के विवेचन का अवसर शुक्लजी को इन प्रयोगात्मक आलोचनाओं में ही मिला है। इन विवेचनों से शुक्लजी का मौलिक चिन्तन अत्यन्त स्पष्ट है। प्रबन्ध काव्य के जिन तत्त्वों को शुक्लजी ने माना है वे तो हिन्दी-साहित्य में सर्वमान्य हो गए हैं। आलोचना के प्रयोगात्मक और सैद्धान्तिक रूप का सम्मिश्रण शुक्लजी की आलोचना की बड़ी भारी विशेषता है। रूपात्मक आलोचना शुक्लजी की आलोचना का महत्त्वपूर्ण अंश है। इसका प्रतिमान शुक्लजी को शास्त्रों के गम्भीर मन्थन तथा उनकी वैयक्तिक रुचि द्वारा प्राप्त हुआ है। उनकी वैयक्तिक रुचि के निर्माण का बहुत-कुछ उत्तरदायित्व भी उनके अध्ययन पर ही है। हमने ऊपर इस आलोचना का विश्लेषणात्मक शैली में अन्तर्भाव किया है। अब हमें उनकी दूसरी प्रकार की अर्थात् उद्देश्य-सम्बन्धी आलोचना पर विचार करना है।

प्रयोगात्मक आलोचना का दूसरा विभाग है उद्देश्य-सम्बन्धी आलोचना। साहित्य को शुक्लजी सोद्देश्य मानते हैं। वे कलावादी नहीं अपितु रसवादी और सत्यवादी हैं। वे काव्य में रस और नीति दोनों के समन्वय को मानने वाले हैं। रूपात्मक आलोचना में विभाव, भाव, अलंकार, उक्ति-वैचित्र्य आदि

के सौंदर्य का विवेचन रस की दृष्टि से करते हैं। इन सबमें रसौचित्य का निर्वाह आवश्यक मानते हैं। वे साहित्य का उद्देश्य जीवन के व्यापक स्वरूप का रसात्मक अनुभव करना तथा मानव-नीति और धर्म की प्रेरणा देना मानते हैं। वर्णाश्रम और भारतीय मर्यादावाद पर प्रतिष्ठित धर्म और नीति की ओर मानव को ले जाना उनकी दृष्टि से साहित्य का परम उद्देश्य है। शुक्लजी की दृष्टि से शक्ति, शील और सौन्दर्य का पूर्ण सामंजस्य ही नायक की श्रेष्ठता का मान है। उनमें मर्यादा का पूर्ण निर्वाह आवश्यक है। इन गुणों की पूर्ण प्रतिष्ठा लोक-मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् राम में ही है। ऐसे स्वरूप के लिए पूज्य बुद्धि का संचार स्वाभाविक है। भक्ति का यह स्वरूप सेव्य-सेवक का ही हो सकता है, सख्य अथवा माधुर्य का नहीं। सख्य अथवा माधुर्य के लिए आलम्बन में केवल सौंदर्य के अलौकिक रूप की प्रतिष्ठा आवश्यक है। शुक्लजी के मान पर लोक-मर्यादा, नीति, सेव्य भाव की भक्ति जीवन के व्यापक स्वरूप का चित्रण, शक्ति, शील और सौंदर्य के समन्वय का आग्रह इन सबकी स्पष्ट छाप है। ये उनके मान के विशेष तत्त्व हैं। इन तत्त्वों में शुक्लजी के व्यक्तित्व के स्पष्ट दर्शन होते हैं। पर ये उन्हें प्राप्त तुलसी की रचना से ही हुए हैं। तुलसी का काव्य, जीवन-चरित्र और भक्ति-सम्बन्धी दृष्टिकोण यही शुक्लजी ने वहीं से ग्रहण किया है। इसलिए यह कहना अनुचित नहीं है कि शुक्लजी का प्रतिमान तुलसी की रचना से स्वतः निकल रहा है अथवा उनकी रचना के उपयुक्त है, लेकिन सूर, जायसी, तथा रीतिकालीन और आधुनिक छायावादी कवियों के लिए यह मानदण्ड आरोपित ही माना जायगा। तुलसी के अतिरिक्त अन्य कवियों की उद्देश्य-सम्बन्धी आलोचना में प्रायः सर्वत्र ही तथा रूपात्मक आलोचना में कहीं-कहीं शुक्लजी ने तटस्थ होकर उस वस्तु के निष्पक्ष मूल्यांकन करने का प्रयास कम किया है, जो कवि की देन है अथवा समय और अपने व्यक्तित्व से बाध्य होकर उसे देनी पड़ी है। इन कवियों की आलोचना में शुक्लजी की दृष्टि उन कवियों की ओर ही अधिक गई है, जिनका इतने कठोर और स्थिर मानदण्ड के कारण उन रचनाओं में प्रतीत होना अपरिहार्य था। शुक्ल जी अपने मानदण्ड को सर्वत्र रचना और कवि के अनुकूल बदल नहीं सके। इसलिए यह कहना अत्युक्तिपूर्ण नहीं है कि शुक्लजी की आलोचना का माप 'तुलसीमय' है अथवा यों कहना अधिक समीचीन है कि 'मानसमय' हो गया है। तुलसी ने अपनी सभी रचनाओं में मानस की मर्यादा का निर्वाह किया है। पर उनकी 'गीतावली' आदि का सौन्दर्य "मानस" के प्रबन्धकाव्योचित तथा नीतिवादी दृष्टिकोण से पूर्णतः हृदयंगम नहीं किया

जा सका है। यही कारण है कि शुक्लजी के प्रतिमान को "मानसमय" कहना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। "कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव-स्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे। इस शक्ति की परीक्षा का रामचरित से बढ़कर विस्तृत क्षेत्र और कहीं मिल सकता है; जीवन स्थिति के इतने भेद और कहाँ दिखाई पड़ते हैं; इस क्षेत्र में जो कवि सर्वत्र पूरा उतरता दिखाई पड़ता है, उसकी भावुकता को और कोई नहीं पहुँच सकता है।"[1] शुक्लजी का यह मत सैद्धान्तिक रूप से समीचीन होते हुए भी, प्रयोग में आग्रह का रूप धारण कर गया है। जीवन के एकांगी रूप का चित्रण करने वाला सूर कम भावुक नहीं कहा जा सकता। शक्ति, शील और सौन्दर्य में से केवल सौंदर्य को ही लेकर चलने के कारण सूर का काव्य निम्न कोटि का नहीं कहा जा सकता। जीवन के विभिन्न स्वरूपों की प्रेरणा न होते हुए भी इस अलौकिक सौंदर्य में अद्भुत उच्चकोटि की रसमयता है। इस स्थिति में व्यवहार-जगत् की मर्यादा के सारे बन्धन ढीले पड़ जाते हैं। मानव विधि-निषेध से ऊपर उठाकर आनन्द के अथाह सागर में अवगाहन करता है। यह भक्ति की चरम स्थिति है। शील और शक्ति भी भक्ति में अलौकिक सौंदर्य के उत्कर्षक बन जाते हैं। राक्षसों के हनन में कृष्ण की अलौकिक शक्ति के दर्शन अवश्य होते हैं। पर सूर की भक्ति में कृष्ण के इस स्वरूप की अपेक्षा रास-रसिक कृष्ण का ही अधिक महत्त्व है। शुक्लजी का तो इस ओर ध्यान न जाना तो उनकी वैयक्तिक रुचि का ही परिचायक है। मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्ध-काव्य को, निर्गुण की अपेक्षा सगुण को तथा रहस्यवाद की अपेक्षा भक्ति को उत्कृष्ट मानना शुक्लजी की आलोचना से अत्यन्त स्पष्ट है। जायसी के काव्य को हिन्दी-साहित्य में इतना उच्च स्थान प्रदान करने का श्रेय शुक्लजी को है। इसका प्रधान कारण भी उनकी रचना का प्रबन्ध कोटि में आना ही है। शुक्लजी ने उनकी प्रबन्ध-पटुता प्रेम-तत्त्व, वियोग, भावुकता आदि का जितना विशद वर्णन किया है, उतना रहस्यवाद का नहीं। जायसी और कबीर की रचनाओं का मूल्यांकन करते हुए शुक्लजी यह भूल गए हैं कि कबीर की रचना का जनता ने कितना स्वागत किया है तथा इन निर्गुण भक्ति वाले कवियों ने तत्कालीन जीवन को कितना अधिक प्रभावित किया है। रहस्यवादी प्रतीकों के आवरण में भी कबीर तथा अनेक बहुत-से इसी साम्प्रदायिक कवियों की कविता में उत्कृष्ट मार्मिकता और हृदय-

१. 'गोस्वामी तुलसीदास', पृष्ठ ६३।

स्पर्शिता के भी दर्शन होते हैं। इनकी उपेक्षा भी वैयक्तिक रुचि की प्रबलता को ही स्पष्ट कर रही है। आधुनिक कविता में भी गुप्तजी, सियारामशरण, गुरुभक्तसिंह आदि प्रबन्धकारों तथा बहुत-कुछ इतिवृत्तात्मक काल के कलाकारों का ही मूल्य अधिक आँका जा सका है। प्रसाद, पन्त और महादेवी की रचनाओं में नवीन युग-चेतना और प्रौढ़ प्रतिभा का पूरा मूल्यांकन नहीं हो पाया। प्रबन्ध की उस धारा में, जिसमें शुक्लजी सच्चे स्वच्छन्दतावाद का विकास मानते हैं, छायावाद बाधक सिद्ध हुआ है, इसलिए उसकी कमियों की ओर ही शुक्लजी का ध्यान अधिक गया है। शुक्लजी उसकी कुछ स्थूल और रूपात्मक आलोचना ही कर सके हैं। उसमें जीवन के नूतन दर्शन और नवीन प्राणों का स्पन्दन नहीं देख सके।

मूल्यवादी तथा रूपात्मक दोनों प्रकार की आलोचनाओं का सम्बन्ध कला-कृति से ही है। लेकिन कलाकार के व्यक्तित्व पर विचार किये बिना आलोचना का कार्य अपूर्ण ही माना जायगा। पाठक और समीक्षक के सम्मुख कला-कृति ही है और उसीकी समालोचना आलोचक का प्रधान कार्य है। पर कृति और व्यक्ति का परस्पर में अभिन्न सम्बन्ध होने के कारण कभी-कभी कलाकार पर भी दृष्टि डालना प्रायः आवश्यक-सा हो जाता है। कलाकार के व्यक्तित्व पर ही रचना के वर्ण्य विषय का स्वरूप, चिन्तन-धारा और अभिव्यंजना की शैली आधारित है। इन सबका मूल स्रोत और प्रेरणा वही है। इसलिए इन सबका अध्ययन करते हुए कलाकार के व्यक्तित्व का अध्ययन भी करना ही पड़ता है। कला-कृति में व्यक्तित्व के दर्शन तथा व्यक्तित्व में कलाकार के स्वरूप की प्रेरणा ये दोनों ही मनोवैज्ञानिक आलोचना के अङ्ग हैं। काल और देश से निरपेक्ष व्यक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। किसी भी कलाकार अथवा कला-कृति को अपनी परिवृत्ति से मुक्त करके नहीं देखा जा सकता। व्यक्तित्व का निर्माण परिवृत्ति ही करती है। रचना की सामग्री जीवन से उपलब्ध होती है। उसकी विशिष्ट शैली के लिए भी तत्कालीन जीवन ही उत्तरदायी है। कुछ महान् कलाकार देश और काल की संकुचित परिधि के ऊपर होते हैं। ऐसे ही कलाकारों की कृतियाँ साहित्य की चिरन्तन सम्पत्ति होती हैं। तुलसी और प्रसाद ऐसे ही कलाकार हैं। आलोचक का कार्य इन चिरन्तन तत्त्वों को स्पष्ट करना है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वे कलाकार भी परिवृत्ति से सर्वथा निरपेक्ष होते हैं। परिवृत्ति की प्रतिक्रिया प्रत्येक व्यक्तित्व पर समान नहीं होती। इन महान् कलाकारों पर देश-काल की प्रतिक्रिया भी उन्हें देश-काल की संकुचित सीमाओं का अतिक्रमण करके जीवन के चिरस्थायी और

निरभिमानता मिलती है। 'विनय-पत्रिका' के अनेक पद तथा 'मानस' के अनेक स्थल इसके प्रमाण स्वरूप उद्धृत किये जा सकते हैं। दूसरी ओर वे दुष्टों और पाखण्डियों को फटकारने और बुरा-भला कहने में भी चूकते नहीं हैं। खलों के सम्मुख अपनी श्रेष्ठता का अनुभव करना अभिमान नहीं अपितु अपनी सच्चरित्रता के प्रति दृढ़ विश्वास तथा दुश्चरित्रता के प्रति घृणा की व्यंजना है। राम के सम्मुख अपने-आपको "सब पतितन को नायक" कहने वाले तुलसीदास खलों के सम्मुख हीनता का अनुभव नहीं कर सकते हैं। "काव्य कहहिं कल कंठ कठोरा" द्वारा अपने को कोमल तथा खलों को कौआ कह देते हैं। पाखंडियों को फटकारने में उन्हें जरा भी संकोच नहीं है। "तुलसी अलखहि का लखें, राम-नाम जपु नीच" कह देते हैं। शुक्लजी ने इन आपाततः विरोधी उक्तियों में सामंजस्य स्थापित कर दिया है। इन विरोधों का परिहार करके वे तुलसी की प्रकृति और स्वभाव के सम्बन्ध में जो धारणा बना पाए हैं, वह तर्कसम्मत है। शुक्लजी ने इन वाक्यों में कवि-स्वभाव का अत्यन्त संश्लिष्ट चित्र दिया है। "इससे प्रकट होता है कि उनके अन्तःकरण की सबसे प्रधान वृत्ति थी सरलता, जिसकी विपरीतता वे सहन न कर सकते थे। अतः इस थोड़ी-सी चिड़चिड़ाहट को भी सरलता के अन्तर्गत लेकर संक्षेप में हम कह सकते हैं कि गोस्वामी जी का स्वभाव अत्यन्त सरल, शांत, गम्भीर और नम्र था। सदाचार की तो वे मूर्ति थे।"[1] ऊपर के वाक्यों में शुक्लजी ने स्वभाव के सम्बन्ध में अपनी संश्लिष्ट धारणा अभिव्यक्त की है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कवि की उदारता, दुष्कर्मों के प्रति ईर्ष्या, भक्ति और विश्वास पर भी थोड़ा-बहुत विचार किया है। वस्तुतः ये उनकी प्रकृति के विभिन्न तत्त्व हैं। इन्हींके विश्लेषण द्वारा शुक्लजी कवि के स्वभाव के सम्बन्ध में उपर्युक्त निर्णय बना सके हैं। रचना और कलाकार के व्यक्तित्व के पारस्परिक सम्बन्ध को मानकर रचना से कवि के व्यक्तित्व की धारणा तथा व्यक्तित्व से रचना के स्वरूप की प्रेरणा ये दो प्रकार की समीक्षा हो सकती है। यह हम पहले भी कह चुके हैं। शुक्लजी ने प्रथम प्रकार को विशेषतः अपनाया है। विगत युग के कवियों के सम्बन्ध में समीक्षा का यही प्रकार विशेष समीचीन भी कहा जा सकता है। फिर तुलसी की जीवन-सम्बन्धी पर्याप्त सामग्री अन्य साधनों से उपलब्ध न होने के कारण दूसरी प्रकार की मनोवैज्ञानिक समीक्षा बहुत-कुछ कम संभव है। ज्ञान, कर्म और उच्च सेवा में सामंजस्य, लोक-मंगल में ही धर्म

१. 'तुलसीदास', पृष्ठ १६।

और शील का विकास आदि अनेक दार्शनिक विचारों को तुलसी के व्यक्तित्व के अनुरूप बताकर, शुक्लजी ने भी इस प्रकार की समीक्षा का आभास-मात्र ही दिया है। लोक-मर्यादा और लोक-मंगल का आधार लिये हुए जिस प्रकार की भक्ति की प्रतिष्ठा, जिस शक्ति, शील और सौंदर्य के आगार भगवान् के मानव रूप की कल्पना तुलसी ने की है, उसको शुक्लजी ने कवि के व्यक्तित्व तथा समय-सापेक्ष बताकर समीक्षा की मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक दोनों पद्धतियों में सामंजस्य स्थापित कर दिया है।

ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक समीक्षा के नाम पर कभी-कभी आलोचक बाल की खाल निकालने लगता है। कवि के वैयक्तिक जीवन की छोटी तथा तत्कालीन कुछ ऐतिहासिक घटनाओं का आभास उसकी रचना में देखने के प्रयास इसी प्रवृत्ति के स्पष्ट परिचायक हैं। कभी-कभी ये प्रयास अनौचित्य की सीमा तक पहुँच जाते हैं। संयोग शृङ्गार के कवि को अश्लील कह देना समीक्षा का समीचीन रूप नहीं माना जा सकता। 'राम-राज्य' के वर्णन में अकबर के राज्य का आभास प्राप्त करना समीक्षा ही नहीं है। शुक्लजी ने ऐसे अत्युक्तिपूर्ण परिणाम नहीं निकाले हैं। कवि के व्यक्तित्व तथा तत्कालीन प्रवृत्ति से रचना को प्रेरणा प्राप्त होती है और उन्हींसे रचना को एक विशेष व्यक्तित्व प्राप्त होता है जो उसको अन्य रचनाओं से अलग करता है। इस प्रेरणा का सम्बन्ध विचार-धारा, चरित्र कल्पना और जीवन के दृष्टकोण से है, विशेष घटनाओं से नहीं। हाँ, वर्ण्य विषय के चुनाव पर भी कवि के व्यक्तित्व तथा उसकी निर्णायक परिस्थितियों का पूर्ण नियन्त्रण रहता है। पर किसी काव्य के आधार पर ऊपर निर्दिष्ट निष्कर्ष स्थूल ही कहे जायेंगे। काव्य-जगत् और कलाकार के व्यक्तित्व का फोटो चित्र नहीं होता है। शुक्लजी तो साधारणीकरण और लोक-सामान्य के सिद्धान्त को मानने वाले हैं। उनके मतानुसार कवि अपने जीवन का लेखा नहीं देता, अपने काल का इतिहास नहीं लिखने बैठता। वर्तमान काल के साहित्य में वैयक्तिकता का बहुत अधिक प्राबल्य है। रीति-काव्य में तो आत्मा-भिव्यंजन ही प्रधान तत्त्व है पर अन्य काव्यों में भी इसका महत्त्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता। तुलसी और सूर के समय में इसका इतना महत्त्व भी नहीं था। आज भी आत्माभिव्यंजन के सिद्धान्त की उचित सीमाओं का अति-क्रमण ही रचना को कला के क्षेत्र से बहिष्कृत करने वाला अथवा कम-से-कम उसे निकृष्ट पद दिलाने वाला तो है ही। ऐसी रचनाओं में स्थायित्व और प्राण-शक्ति का अभाव ही है। इसीलिए पद-पद पर काव्य में वर्णित प्रत्येक घटना का कवि के जीवन की घटनाओं से टक्कर भिड़ाना अथवा उनसे कवि

के चरित्र के सम्बन्ध में धारणाएँ बना लेना समीक्षा का खिलवाड़-मात्र है। शुक्लजी ने ऐसा कहीं नहीं किया है।

यह हम कई स्थानों पर कह चुके हैं कि शुक्लजी नीतिवादी आलोचक हैं। वे साहित्य का मूल्यांकन उसके नैतिक प्रभाव के आधार पर करते हैं। शुक्लजी का ध्यान सगुण शाखा के व्यापक प्रभाव की ओर भी आकृष्ट हुआ है। तुलसी और सूर ने घोर नैराश्य-काल में जनता को आश्रय प्रदान किया था। तुलसी ने वैयक्तिक और सामाजिक जीवन को राममय कर दिया है। आज भी प्रत्येक हिन्दू अपने-आपको राम पर आश्रित समझता है। संकट की घड़ियों में उसकी दृष्टि राम की ओर ही जाती है। आज भी मानस की चौपाइयाँ जन-साधारण को राम के रूप में जीवन का आधार प्रदान करने के अतिरिक्त तुलसी ने हिन्दू-संस्कृति के सामंजस्यवादी समीचीन दृष्टिकोण को अपनाकर हिन्दू जाति के पारस्परिक व्यर्थ के झगड़ों को ही मिटा दिया। जाति ने अपने धर्म और संस्कृति के वास्तविक स्वरूप को पहचान लिया। इसीलिए 'मानस' साधारण-से-साधारण व्यक्ति तथा विद्वान्-से-विद्वान् के लिए जीवन की स्फूर्ति प्रदान करता है। वह हिन्दू-संस्कृति का अजस्र स्रोत है। इतना व्यापक प्रभाव होने के कारण ही तुलसी की रचना में इतना स्थायित्व है। शुक्लजी ने इस व्यापक प्रभाव को स्पष्ट किया है। साहित्य देश-काल की परिस्थितियों से जन्म लेकर जीवन की प्रेरक शक्ति का भी काम करता है। जो साहित्य केवल देश-काल का चित्रण-मात्र करता है अथवा उनकी उपज भर है, उसकी अपेक्षा जीवन को प्रेरणा देने वाला साहित्य अधिक स्थायी और श्रेष्ठ है। शुक्लजी सगुण और निर्गुण भक्ति शाखाओं का भारतीय जीवन पर पड़ने वाले व्यापक प्रभाव का विश्लेषण करते समय इसी सिद्धान्त को स्वीकार कर रहे हैं। साहित्य में जीवन की प्रेरक शक्ति की मात्रा पर साहित्य की आलोचना भी मूल्यवादी समीक्षा का एक अंश है। शुक्लजी की समीक्षा के व्यक्ति के रागात्मक प्रसार अथवा वैयक्तिक नैतिकता के तत्त्व की अपेक्षा इस सामाजिक मूल्यवादी दृष्टिकोण का परवर्ती काल में अधिक विकास हुआ है। साहित्य और जीवन के इस सम्बन्ध की मान्यता तथा इसके आधार पर साहित्य-समीक्षा की प्रवृत्ति दिन-प्रति-दिन बढ़ रही है। साहित्यकार केवल उपभोक्ता नहीं है अपितु जीवन का पथ-प्रदर्शक भी है। साहित्य में मानव के बौद्धिक और रागात्मक विकास की जितनी अधिक प्रेरणा है, वह साहित्य उतना ही श्रेष्ठ है। मूल्यवादी आलोचकों को यह सिद्धान्त प्रायः मान्य-सा होता जा रहा है। हिन्दी-साहित्य के समीक्षकों का ध्यान इस ओर तो आकृष्ट हुआ है पर अभी

इस मूल्य पर व्यापक समीक्षा का थोड़ा अभाव ही है।[1] यहां इस संकेत से हमारा तात्पर्य केवल यह स्पष्ट करने में है कि शुक्लजी ने मूल्यवादी आलोचना के व्यापक दृष्टिकोण और शैली की उद्भावना की है जो इस युग की स्थायी सम्पत्ति है और जिनका आश्रय लेकर आज भी हिन्दी-समीक्षा आगे बढ़ रही है।

कवि की प्रकृति और स्वभाव की अपेक्षा शुक्लजी ने रचना की विचार-धारा तथा वर्ण्य-विषय के स्वरूप का अधिक विवेचन किया है। तुलसी की भक्ति, लोक-धर्म, शील-साधना, सूर की भक्ति-पद्धति, जायसी की प्रेम-पद्धति, रहस्यवाद आदि का समावेश इसीमें मानना चाहिए। पात्रों के चरित्र तथा उनकी विभिन्न मानसिक दशाओं का विश्लेषण भी समीक्षा-पद्धति का एक प्रधान अंग है। शुक्लजी ने विरह, प्रकृति आदि के चित्रण के साहित्यिक सौष्ठव की अनुभूतिमय व्याख्या ही नहीं की है, अपितु कवि की तत्सम्बन्धी धारणाओं का भी विवेचन किया है। साहित्यिक सौष्ठव का विवेचन तो रूपात्मक आलोचना का ही एक अंग है। शुक्लजी के पूर्ववर्ती आलोचकों का ध्यान भी इस ओर जाता रहा है, पर वर्ण्य-विषय की मूल प्रकृति का वैज्ञानिक विश्लेषण तो शुक्लजी की ही देन है। परवर्ती आलोचकों में इस पद्धति का भी विकास हो रहा है। धीरे-धीरे रूपात्मक और तन्त्रवादी आलोचना की प्रवृत्ति तो कम होती गई है। बाद के आलोचकों का ध्यान रचना के वर्ण्य-विषय तथा उसमें अभिव्यक्त बौद्धिक धारणाओं के वैज्ञानिक विश्लेषण की ओर अधिक गया है। वाजपेयी जी आदि आलोचकों ने कवि के व्यक्तित्व तथा वर्ण्य-विषय की प्रकृति का ही अधिक विश्लेषण किया है।

शुक्ल जी की समीक्षा अपनी पूर्ववर्ती आलोचना का पूर्णतः विकसित रूप है। उनके पहले के आलोचकों में तन्त्रवादी निर्णयात्मक, तुलनात्मक, प्रशंसात्मक और श्रेणी-निर्धारण की प्रवृतियां मिलती हैं। शुक्ल जी की आलोचना में भी ये सब तत्त्व सूक्ष्म रूप में सापेक्षिक महत्त्व की समीचीनता के साथ उपलब्ध होते हैं। तन्त्रवादी समालोचना तो उसकी प्रधान विशेषता ही है। केवल निर्णयात्मक और श्रेणी-निर्धारण की प्रवृत्ति को तो शुक्लजी सम्यक् समालोचना की वस्तु नहीं मानते हैं। उनकी आलोचना में निर्णय की प्रवृत्ति कहीं पर भी अत्यन्त स्पष्ट नहीं है। पर तुलसी की श्रेष्ठता शुक्लजी के विवे-

१. डॉ० देवराज ने अपने 'साहित्य का मूल्य' नामक लेख में इसके बौद्धिक पक्ष पर विचार किया है।

चन से अपने-आप ही अभिव्यंजित होती है। शुक्ल जी की समीक्षा में निर्णयात्मक तत्त्व संकेत और व्यंजना द्वारा ही उपलब्ध हैं। आचार्य स्वयं निर्णायक बनने का स्पष्ट अभिमान नहीं करते पर उनके विवेचन की पद्धति कवि की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में पाठक की एक धारणा बनाने के लिए बाध्य कर देती है। यह धारणा आलोचक की भी होती है। इसे निर्णयात्मक समालोचना के अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं। नीति और सुरुचि का जो आंदोलन द्विवेदी जी ने प्रारम्भ किया था, जिसका आभास भारतेन्दुजी के समय में ही मिलने लगा था, उसका तत्कालीन साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। सारा साहित्य ही नीतिवादी हो गया। उसी नैतिकता को शुक्लजी ने साहित्य-समीक्षा के मान का स्वरूप दे दिया। उस काल के साहित्य की तरह शुक्लजी की समीक्षा भी इतिवृत्तात्मक ही है। उसमें वस्तु के स्वरूप को स्पष्ट करने की ही अधिक प्रवृत्ति है। वर्ण्य-विषय और कवि के व्यक्तित्व के स्थूल तत्त्वों का ही विश्लेषण अधिक हुआ है। वाजपेयी जी तथा अन्य सौष्ठववादी समालोचकों ने भी कवि के व्यक्तित्व तथा वर्ण्य-विषय के स्वरूप का ही अधिक विश्लेषण किया है पर शुक्लजी की आलोचना से उसकी प्रकृति भिन्न है। उनकी तुलना में शुक्लजी का ध्यान स्थूल तत्त्वों की ओर ही अधिक गया है। शुक्लजी वस्तु की सीमाओं का अतिक्रमण करके सूक्ष्म तत्त्वों का अन्वेषण नहीं करते। इसीलिए उनकी समीक्षा इतिवृत्तात्मक मनोवृत्ति की माननी पड़ती है। आगे हम देखेंगे कि कहीं-कहीं वाजपेयी जी ने कलाकार के व्यक्तित्व और वर्ण्य विषय के अन्तस्तल में प्रविष्ट होकर उन तत्त्वों की उद्भावना की है, जो हृदय की अतिक्रांत अवस्था के परिचायक हैं। ऐसे अवसर उन्हें सूर के काव्य-सौष्ठव, भक्ति और सांस्कृतिक महत्त्व पर विचार करते हुए अधिक प्राप्त हुए हैं।

शुक्ल की समीक्षा चलती हुई परम्परा का चरम विकास है। उन्होंने उस पद्धति को पूर्णत. वैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक कर दिया है। उनके चिन्तक व्यक्तित्व ने इस पद्धति को विकसित रूप एवं स्थायित्व भी प्रदान किया है। निर्णयात्मक और तुलनात्मक तत्त्वों को उनकी विश्लेषणात्मक समालोचना 'ने पूर्णत: आत्मसात् कर लिया है। उनकी वैयक्तिक रुचि परिष्कृत होकर शास्त्रीय और लोक-रुचि से अभिन्न हो गई है। अलंकार-शास्त्र के सिद्धान्तों पर आधारित तन्त्रवादी समीक्षा भी विश्लेषणात्मक हो गई है। यद्यपि हम उनकी समालोचना को पूर्णत. निगमनात्मक नहीं कह सकते, पर फिर भी समालोचना में निगमनात्मक शैली अपनाने का प्रथम प्रयास शुक्लजी में ही मिलता है। यह प्रयास भी अत्यन्त प्रौढ़ और व्याप [illegible] है। शुक्लजी ने समीक्षा की जिस विश्लेषणात्मक

पद्धति को जन्म दिया है, साहित्य-समालोचना के जिन मानों को अपनाया है, उनका साहित्य-समीक्षा पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। उनकी पद्धति में ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक आदि कई समीक्षा-प्रकारों का समन्वय है। कवि के व्यक्तित्व, तथा परिवृत्ति पर विचार करने वाले भी शुक्लजी ही पहले समालोचक हैं। कला, साहित्य और जीवन के सिद्धान्तों का सूक्ष्म और तात्त्विक विश्लेषण करके उसका प्रयोगात्मक आलोचना में उपयोग भी शुक्लजी ने ही प्रारम्भ किया है। मूल्यवादी मानों पर विश्लेषणात्मक पद्धति में आलोचना का प्रथम प्रयास शुक्लजी में ही प्राप्त है। शुक्लजी का महत्त्व तो इसीसे स्पष्ट है कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य की अधिकांश समीक्षा उन्हींके द्वारा निर्दिष्ट विश्लेषणात्मक और समन्वयवादी पथ का अनुसरण करके अग्रसर हो रही है। उसका विकास उसी दिशा में हो रहा है। लोक-मंगल और लोक-मर्यादा का शुक्लजी ने साहित्यिक मानों में बहुत अधिक उपयोगी किया है। उनके इस मान में परवर्त्ती आलोचकों की शुक्लजी-जैसी आस्था नहीं रही। पर जीवन में सदाचार की प्रेरणा देने वाले साहित्य की उत्कृष्टता सभी आलोचकों को मान्य है। कला की समीक्षा में जीवन की उपयोगिता को स्थायी स्थान प्राप्त हो गया है। शुक्लजी की वैधानिक समालोचना को तो बहुत-से परवर्त्ती समालोचकों ने बहुत अधिक अपनाया है। हां, शुक्लजी-जैसी गम्भीरता का प्रायः अभाव ही है। शुक्लजी तक तो साहित्य-समीक्षा का विकास एक निश्चित सरणी का अवलम्बन करके हुआ है। उसमें सभी प्रकार की आलोचना-पद्धतियों का समन्वय रहा है। पर उनके बाद समालोचना विभिन्न सम्प्रदायों में विभाजित हो गई। शुक्लजी की समालोचना के बहुत-से तत्त्व एक पृथक् सम्प्रदाय का रूप धारण कर गए। इस प्रकार आधुनिकतम समालोचना ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, मनोविश्लेषणात्मक आदि कई-एक विचार-धाराओं, सम्प्रदायों और शैलियों में विभाजित होकर विकसित हो रही है। इन सभी प्रणालियों के साथ मूल्य और वैधानिकता का संयोग करके चलने वाली भी एक पद्धति है जिसको हम शुक्ल-सम्प्रदाय कह सकते हैं। समन्वयवादी सभी समालोचक शुक्ल-सम्प्रदाय के नहीं हैं। इन सम्प्रदायों के विभिन्न समालोचकों में कुछ पारस्परिक अन्तर भी है। आगे हम इन विभिन्न सम्प्रदायों का अध्ययन करेंगे।

शुक्लजी ने एक तरफ परम्परा-प्राप्त पद्धति को वैज्ञानिक बनाकर विकास की चरम सीम पर पहुँचा दिया, दूसरी तरफ उन्होंने समीक्षा की एक स्थायी पद्धति को जन्म दिया; जिसका अवलम्बन करके समीक्षा इतनी विकसित हो रही है। उन्होंने साहित्य-समीक्षा को एक नवीन दृष्टिकोण ही प्रदान कर दिया।

उन्होंने कला को जीवन की दृष्टि से देखने के लिए बाध्य कर दिया। उनकी समीक्षा में पद्धतियों और मानों की उद्‌भावना है, जिनमें से एक-एक का अवलम्बन करके नवीन सम्पन्न सम्प्रदाय खड़े हो गए। उनके साहित्यिक मानों ने परवर्त्ती आलोचकों को नवीन मानों को खोजने की प्रेरणा प्रदान की है। शुक्ल ने समीक्षा में क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। आज तक समीक्षा के विकास का श्रेय शुक्लजी को देना उनके कार्य का उचित मूल्य आँकना है। शुक्लजी हिन्दी-साहित्य-समीक्षा के विकास में उस अवस्था के द्योतक हैं, जिसमें आलोचना की एक पद्धति अपनी चरम सीमा को पहुँच जाती है तथा परवर्त्ती काल की अनेक पद्धतियाँ और शैलियाँ उसीसे स्फूर्ति और प्रेरणा प्राप्त करके विकसित होती हैं। आज तक की हिन्दी-समीक्षा के शुक्लजी आधार-स्तम्भ हैं। उन्होंने जो सैद्धान्तिक आधार, मान और शैली प्रस्तुत की है, आज तक का सारा विकास व्यापक दृष्टिकोण से देखने पर उसीका बहुत-कुछ आधार लेकर चल रहा प्रतीत होता है। शुक्लजी का सैद्धान्तिक विवेचन भारतीय प्रौढ़ विचार-धारा पर अधिष्ठित है, इसलिए अब तक की समीक्षा का वह मूलभूत आधार है। आलोचना के तथाकथित नवीन सम्प्रदाय अभी तक कोई ऐसा प्रौढ़ साहित्य-दर्शन नहीं दे सके। उसके अभाव में विकास मौलिक नहीं कहा जा सकता। शुक्लजी के सैद्धान्तिक निरूपण में युग के व्यापक साहित्य-दर्शन के आधार तत्त्व हैं, इसलिए ये केवल उनकी वैयक्तिक मान्यता नहीं हैं, अपितु उनका युग-प्रतिनिधि रूप भी इन सिद्धान्तों में अत्यन्त स्पष्ट है। प्रस्तुत निबन्ध में शुक्लजी के सैद्धान्तिक विवेचन के इतने विशद निरूपण का प्रधान कारण भी यही है।

: ९ :

समीक्षा की वर्तमान शैलियाँ

काव्य और कला कवि तथा उसके काल के चिन्तन के प्रभाव से अस्पृष्ट नहीं रह सकते। कला-कृति अपने निर्माण-काल की जीवन-सम्बन्धी धारणाओं की ही सौन्दर्य और अनुभूतिमय अभिव्यक्ति है। ये विचार-धाराएँ एक प्रकार से काव्य के उपादान कारण हैं। कवि के व्यक्तित्व के अन्तस्तल में आलोचना का स्वरूप स्पष्ट दृष्टिगत होता है। इसीलिए मैथ्यू आर्नल्ड कविता को जीवन की आलोचना कहते हैं। जीवन की आलोचनात्मक धारणाओं में काव्य-विकास की प्रेरणा और दिशा-निर्देश की क्षमता अन्तर्हित है। इस आलोचना के अतिरिक्त काव्य की गति-विधि का नियन्त्रण करने वाली एक और शक्ति है। वह भी एक प्रकार से प्रेरणा में ही अन्तर्भूत है। प्रत्येक युग में जीवन के साथ ही साहित्य के स्वरूप और उद्देश्य-सम्बन्धी धारणाएँ भी होती हैं। जीवन और साहित्य के सम्बन्ध की एक कल्पना कवि और युग में व्याप्त रहती है। उसीके अनुकूल साहित्य का निर्माण होता है। जीवन के व्यापक स्वरूप में साहित्य और जीवन के सम्बन्ध की धारणा भी अन्तर्भूत रहती है। इस प्रकार ये दोनों काव्य के स्वरूप का निर्धारण करने वाली प्रेरणाएँ हैं। साहित्य की शैली और स्वरूप का नियन्त्रण विशेषतः दूसरी प्रेरणा से होता है। साहित्य में अनुभूति की प्रधानता हो अथवा कल्पना की, चमत्कार की अधिकता हो अथवा भावात्मकता की, आलंकारिकता हो अथवा रसात्मकता, इन सभी दिशाओं का निर्देश तत्कालीन साहित्य-सम्बन्धी धारणाओं से ही होता है। किसी भी युग के साहित्य के उदाहरण द्वारा यह स्पष्ट किया जा सकता है।

रीतिकालीन जीवन में स्फूर्ति और कर्म-शक्ति का अभाव था। उस काल के साहित्यकार अन्य अनेक साधनों की तरह काव्य और कला को भी मनोरंजन का साधन मानते रहे। उनकी दृष्टि में काव्य का कार्य विचित्र कल्पनाओं तथा आलंकारिक एवं चमत्कारपूर्ण प्रयोगों से पाठक के मन को बहलाना-मात्र था। द्विवेदी-काल की कविता सुरुचि और सुनीति का संदेश लेकर चली। कविता

का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार हुआ। उसमें चमत्कार के स्थान पर भाव और विचार की प्रधानता हुई। इन दोनों कालों की कविता के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि इन कालों में काव्य की स्पष्टतः दो धारणाएँ थीं। इसीलिए काव्य के विषय, शैली, भाषा, उद्देश्य आदि सभी वस्तुओं में पर्याप्त अन्तर है। इन कालों से मूलतः भिन्न दो प्रेरणाएँ ही अन्तस्तल में प्रवाहित हो रही थीं और उन्हींके कारण परस्पर पर्याप्त भिन्न दो प्रकार के साहित्यों का सृजन हुआ है।

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है साहित्य की किसी विशेष धारा के विकसित होने के पूर्व तत्सम्बन्धी धारणाओं का प्रादुर्भाव हो जाता है। यह आलोचना का वह स्वरूप है जो साहित्य-सृजन की प्रेरणा देने वाला है। पर काव्य के विकास के साथ-साथ इसका स्वरूप स्पष्ट और पुष्ट होता जाता है। पर्याप्त लक्ष्य-ग्रन्थों के निर्माण के उपरान्त ही एक आलोचना-पद्धति का सर्वाङ्गीण और पुष्ट रूप हमारे समक्ष उपस्थित हो पाता है। इसलिए यह कहना भी अनुचित नहीं है कि एक काल का सृजनात्मक साहित्य ही तत्कालीन समीक्षा-पद्धति को जन्म देता है। साहित्य की मूलभूत दोनों प्रवृत्तियाँ एक-दूसरे को प्रभावित करती रहती हैं और यही साहित्य के विकास का मूल मन्त्र है। कल्पना अथवा प्रतिभा के दो स्वरूप-कारयित्री और भावयित्री-निरन्तर विद्यमान रहते हैं। ये दोनों प्रतिभाएँ एक-दूसरे को प्रभावित करती रहती हैं। भावयित्री प्रतिभा का क्रियात्मक रूप ही आलोचना है और कारयित्री के साथ-साथ इसके स्वरूप में भी विकास होता रहता है।

काव्य-सम्बन्धी इन धारणाओं के आधार पर, जो वर्तमान हिन्दी-साहित्य की विभिन्न धाराओं के वर्ण्य, विषय, शैली आदि के स्वरूप को निश्चित करने में उत्तरदायी हैं, जो साहित्य का व्यक्ति और समाज से सम्बन्ध निश्चित करती है, जो साहित्य के विभिन्न युगों और धाराओं को दिशा-निर्देश करती है। ऐसी धारणाओं के आधार पर वर्तमान हिन्दी-साहित्य-समीक्षा को चार प्रधान सम्प्रदायों या विचार-धाराओं में बांट सकते हैं। इन्हें समीक्षा की चार पद्धतियां भी कहें तो कोई आपत्ति नहीं। वर्तमान समीक्षा चार प्रधान पद्धतियों में बांटी जा सकती है—१. शुक्ल-समीक्षा-पद्धति, २. सौष्ठववादी या स्वच्छन्दतावादी (Romantic), ३. मनोविश्लेषणात्मक, तथा ४. मार्क्सवादी या प्रगतिवादी। आज की समीक्षा में इन चारों का अपना पृथक् अस्तित्व अत्यन्त स्पष्ट है। लेकिन ये एक-दूसरे से केवल अंशतः ही भिन्न हैं। इन सबमें कुछ समताएँ भी हैं। ये पद्धतियां परस्पर में पर्याप्त आदान-प्रदान करती रही हैं।

वस्तुतः इन सबमें विकास की एक क्षीण परम्परा भी है, जो सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा स्पष्ट हो जाती है। आगे हम विकास के इन क्षीण तन्तुओं का भी उद्घाटन करेंगे। यह कहना भी अतिशयोक्तिपूर्ण और असमीचीन नहीं है कि शुक्ल जी की समीक्षा-पद्धति के भिन्न-भिन्न कुछ तत्त्व युग, साहित्य और समाज तथा कतिपय वाह्य प्रेरणाओं के फलस्वरूप विकसित होकर इन विभिन्न स्वतन्त्र पद्धतियों का रूप धारण कर गए हैं। कुछ तत्त्वों का विकास पद्धति की उस सर्वाङ्गीण और गरिमा तक तो नहीं पहुँच पाया कि वे एक विशेष विचार-धारा या सम्प्रदाय का रूप धारण कर जाते, परन्तु वे एक शैली विशेष के रूप में अवश्य प्रतिष्ठित हो गए। ऐतिहासिक, दार्शनिक आदि आलोचनाएँ इस कोटि की हैं। इन शैलियों में विशेष प्रकार के साहित्य के सृजन की व्यापक प्रेरणा, शैली, वर्ण्य विषय आदि सबके लिए पृथक् मापदण्ड का अभाव है। इसलिए इनको पद्धति न मानकर शैली कहना ही मुझे उचि[illegible] हैं। दूसरे इनमें से कुछ शैलियों का उपयोग प्रायः सब प्रकार [illegible] ने किया है। आलोचना की कुछ शैलियाँ ऐसी हैं जो विकसि[illegible] विशेष सम्प्रदाय का रूप धारण कर लेती हैं। कुछ शैलियाँ एक [illegible] का विशेष प्रकार का विकास हैं। प्रभावाभिव्यंजक और [illegible] आलोचनाएँ सौष्ठववादी विचार-धारा के ही विकास हैं। पर [illegible] सर्वाङ्गीणता नहीं है जिससे उनको पृथक् सम्प्रदाय अथवा विचा[illegible] जाय। ऐतिहासिक समालोचना ही विशेष राजनीतिक, सामाजि[illegible] परिस्थितियों के कारण नवीन भौतिकवादी दार्शनिक वि[illegible] आश्रय प्राप्त करके मार्क्सवादी बन गई। मनोवैज्ञानिक समीक्षा [illegible] विश्लेषणात्मक प्रणाली की प्रेरणा है। इस प्रकार केवल चार [illegible] शेष को शैली-मात्र मानने के कारण स्पष्ट हैं।

शुक्लजी की समालोचना-पद्धति पर विशद रूप से विचार [illegible] हम उनके युगान्तरकारी रूप का भी पर्याप्त विवेचन कर चुके [illegible] अध्याय में हमने यह भी देख लिया है कि शुक्लजी की समीक्षा [illegible] और द्विवेदी-काल से प्रारम्भ होने वाली समीक्षा-पद्धति को विकास की [illegible] पर पहुँचाने वाली है। शुक्लजी ने ही हिन्दी-समीक्षा को सर्व-[illegible] रूप प्रदान किया है। इनके पहले के प्रयास साहित्य के सामा[illegible] साथ निन्दा-स्तुति-मात्र थे। उनमें अनुमोदन और श्लाघा का [illegible] रहा है। सौन्दर्य से मुग्ध होकर कुछ प्रशंसा कर देना-मात्र आलो[illegible] उसमें सौन्दर्य-तत्त्वों का विश्लेषण भी अपेक्षित है। इस विश्[illegible]

अनुसरण के कारण ही हिन्दी-समीक्षा का विकास एक निश्चित पथ का अवलम्बन करके आगे बढ़ सका है। काल की दृष्टि से आज भी शुक्लजी क समीक्षा-पद्धति मान्य है। विश्वविद्यालयों से निकले हुए आचार्य लोग इस पद्धति का अवलम्बन करते हैं। कवि और कला-कृति के सम्यक् और सर्वाङ्गीण ज्ञान के लिए अभी यही पद्धति पूर्ण मानी जाती है। शेष सारी पद्धतिय अभी तक अपूर्ण हैं। सारी पद्धतियों का तत्त्व एकत्र करके कला-कृति मूल्यांकन की प्रवृत्ति भी हिन्दी-साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में धीरे-धीरे प्रव हो रही है। उस पद्धति का साहित्य, दर्शन, मानदण्ड और शैली इत व्यापक हैं कि इनको आधार-भूत मानकर शेष पद्धतियों और शैलियों का सफ उपयोग हो सकता है।

प्रस्तुत समीक्षा-पद्धति के आलोचकों की संख्या सबसे अधिक है। इ आलोचकों में से बहुत कम में शुक्लजी-जैसी सूक्ष्म और मौलिक विवेचन-शक्ति तथा उत्कृष्ट काव्य-रसज्ञता है। उन्होंने शुक्लजी द्वारा निर्दिष्ट पथ का अवलम्ब करने में स्थूल वस्तुओं को ही ग्रहण किया है। इसीलिए इनमें अलंकार, र आदि के निर्देश अथवा विद्या के भेदोपभेदों के निरूपण की ही प्रवृत्ति अधि है। फिर भी स्थूल रूप से उसी मापदण्ड और शैली को अपनाने के कारण उ इस शैली का समीक्षक कहना समीचीन जान पड़ता है।

सुरुचि और नैतिकता:—शुक्लजी वर्णाश्रम-धर्म और लोक-मर्यादा समर्थक थे। राम का परिचय ही उनके लिए चरित्र का सर्वोत्कृष्ट आदर्श थ वे काव्य का उद्देश्य उसी आदर्श पर चरित्र का विकास करना मानते थे चरित्र और नैतिकता में राम का-सा आदर्श लेकर चलने वाले कवि ही उन दृष्टि में सर्वोत्कृष्ट हैं। वर्णाश्रम से उनका तात्पर्य प्राचीन हिन्दू-धर्म रूढ़िवादिता से नहीं। उन्होंने वैसे व्यक्ति का समाज के प्रति उत्तरदायित्व अ कर्तव्य परम्परा के अर्थ में ग्रहण किया है। वे इसमें आधुनिक नवीन सामाजि आदर्शों का भी बहुत-कुछ समावेश कर सके थे। पर अनैतिकता और चरि हीनता तक पहुँच जाने वाला व्यक्ति-स्वातन्त्र्य उन्हें मान्य नहीं था। प्रकार का स्वातन्त्र्य अव्यवस्था फैलाने वाला होता है। उनकी नैतिकता-सम्ब धारणा का हम पहले विवेचन कर चुके हैं। यहाँ पर तो केवल थोड़ा निर्दे भर कर दिया गया है। शुक्ल-पद्धति को अपनाने वाले समीक्षक नैतिकता के रू रूप को ग्रहण नहीं कर रहे हैं। शुक्लजी की व्यावहारिक आलोचना प्रधान क्षेत्र तुलसी तथा उसमें भी 'मानस' ही विशेष रूप से रहा। इसी उनका लोक-मर्यादा के उत्कृष्ट आदर्श लेकर चलना बहुत-कुछ स्वाभाविक

था। पर उनके परवर्ती आलोचकों को अपने समकालीन उपन्यासकारों, कवियों और नाटककारों की आलोचना करनी पड़ी। इसलिए अपनी नैतिकता-सम्बन्धी धारणा उस उत्कृष्ट धरातल पर रखना उनके लिए संभव नहीं था। गुप्तजी, प्रेमचन्द आदि में नैतिक आदर्शों के प्रति प्रेम अवश्य है, पर मानव की दुर्बलता की उपेक्षा नहीं है। 'मानस' के उच्च आदर्श का निर्वाह युगानुकुल नहीं है। इस काल में जिस सुरुचि, नैतिकता और आदर्शवादिता को आश्रय मिला है, जिसने काव्य और आलोचना दोनों को प्रभावित किया है, उस आदर्श को हम ईश्वरीय और अलौकिक नहीं कह सकते। वह मानवीय है। उसका सम्बन्ध वर्तमान समाज और व्यक्ति से है। उनकी यथार्थ अवस्था का साधारण-सा युगानुकूल रूप ही आज का आदर्श है। प्रेमचन्द जी के शब्दों में यह आदर्शोन्मुख यथार्थवाद है। आज का कवि और आलोचक जीवन को आदर्श और नैतिकता के इसी लौकिक और मानवीय रूप को ग्रहण करके अग्रसर हुआ है। बस, इसी आदर्शवादी और नैतिक दृष्टिकोण के दर्शन हमें इस पद्धति के आलोचकों में होते हैं। इन आलोचकों को साहित्य की नैतिक उपयोगिता अवश्य मान्य है। "हम तो यही समझते हैं कि आदर्शवाद के बिना लोकोपयोगी साहित्य का निर्माण किया नहीं जा सकता। जो कलाकार अपनी कला में अपने उच्च आदर्शों की प्रतिष्ठा नहीं करता, वह और करता क्या है?"[1] "हाँ, इस सम्बन्ध में कलाकार को यह अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि नैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करनेवाला उच्चादर्श जीवन की सत्यता और स्वाभाविकता का ध्यान न छीन ले।"[2] आलोचक जीवन की स्वभाविकता तथा सत्यता से अपनी नैतिकता के मान्य धरातल को स्पष्ट कर रहा है। उसमें राम की-सी उच्चता नहीं रह सकती। इस पुस्तक के लेखक ने अपना नीतिवादी दृष्टिकोण बिलकुल स्पष्ट कर दिया है। इस पद्धति की विचार-धारा के ये स्थल प्रतिनिधित्व रहे हैं। वे 'सुमन' वेश्या के चरित्र-चित्रण में संयम और शिष्टता का उल्लंघन न करने के कारण लेखक की प्रशंसा करते हैं। यह प्रशंसा भी केवल नीतिवादी दृष्टिकोण को अपनाने के कारण ही है, अन्यथा आलोचक इसमें स्वाभाविकता और सजीवता का अभाव भी देखता है। सभी समालोचकों ने ऐसे विचार व्यक्त तो नहीं किये, पर उनकी समालोचना पर इसकी स्पष्ट छाप है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। सुरुचि और

---

१. 'प्रेमचन्द की उपन्यास-कला', पृष्ठ १६५-१६६।

नैतिकता इस युग के साहित्य की मूल प्रेरणा हैं। साहित्य के सृजन और भावन दोनों ही पर नीति का पूर्ण नियन्त्रण है। नीति का एक सामान्य धरातल स्वीकार करते हुए कवियों और आलोचकों की नीति-सम्बन्धी अपनी वैयक्तिक धारणाएँ भी हैं और इनका साहित्य पर प्रभाव पड़ा है। प्रेमचन्द जी और गुप्तजी का नीतिवादी दृष्टिकोण एक नहीं हैं।

नीति के उपदेश की वृत्ति के अनुकूल इन समालोचकों ने मुक्तक और गीत की अपेक्षा महाकाव्य को अधिक महत्त्व प्रदान किया है। साहित्य को जीवन व्याख्या मानना तथा साधारणीकरण के सिद्धान्त का समर्थन करने का यह स्वभाविक परिणाम है। ये दोनों सिद्धान्त भी इन आलोचकों को पूर्णत मान्य हैं। नीति और मुक्तक में आत्माभिव्यंजना की प्रधानता होती है। जीवन की सम्पूर्णता और साधारणीकरण को स्थूल अर्थ में ग्रहण करने वाले आलोचक व्यक्तित्व-प्रधान होने के कारण नीति-काव्य का महत्त्व कम आँकते हैं। शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को उनके अनुगामी आलोचकों ने स्थूल दृष्टि से ही अपनाया। काव्य के नैतिक महत्त्व और महाकाव्य की श्रेष्ठता-सम्बन्धी धारणाएँ तो जड़ रूप में ही मान्य हो गईं। इसीलिए उनकी आलोचना में शास्त्रीय तत्त्वों के साथ वैयक्तिक रुचि की भी प्रबलता रही।

ऐसी ही कुछ रुचियों के उदाहरण दिये जा सकते हैं। यथा केशव कबीर आदि तथा प्रायः सभी रीतिकालीन कवियों का महत्त्व अपेक्षाकृत कम मानना, जायसी की अपेक्षा कबीर में प्रकृत रहस्यवाद तथा कवित्व-शक्ति का अभाव, तुलसी की तुलना में सूर की हेयता आदि। इन मान्यताओं में कुछ तो ऐसी हैं जिनका खंडन बाद में स्वयं शुक्ल जी ने ही किया। शुक्ल जी ने सूर-सम्बन्धी अपनी मान्यताओं को बदला और उन्हें भी सूर में अत्यन्त प्रौढ़ कवित्व के दर्शन हुए। सूर की कविता पर जो विचार शुक्ल जी ने 'भ्रमरगीतसार' की भूमिका में उद्धृत किये थे, उनको उनके समकालीन व्यक्ति भी नहीं मान सके। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने इन विचारों के खंडन में अत्यन्त प्रौढ़ काव्य-मर्मज्ञता का परिचय दिया है।[1] डॉ० सत्येन्द्र ने भी कई स्थानों पर सूर की सुन्दर कवित्व-शक्ति तथा हिन्दू-धर्म और संस्कृति के अनुकूल चित्रण करने की क्षमता को स्पष्ट किया है।[2] ऐसे ही डॉ० रामकुमार वर्मा तथा

---

१. 'सूर-संदर्भ' की भूमिका।

२. 'गुप्त जी की कला।'

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी शुक्लजी के कबीर-सम्बन्धी विचारों से सहमत नहीं हो सके। पं० भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र 'माधव' ने कबीर की भावुकता और हृदयवादिता का बहुत ही सुन्दर विश्लेषण किया है। पं० जगन्नाथ जी तिवारी को भी केशव की कला और भाव-व्यंजना को हिन्दी-साहित्य के समक्ष स्पष्ट करने के लिए लेखनी उठानी पड़ी। 'राम चन्द्रिका' की भूमिका लिखकर उन्होंने केशव की कवित्व-शक्ति पर नया प्रकाश डाला है तथा कवि को नितान्त उपेक्षा से बचा लिया है। पं० चन्द्रबली पांडेय शुक्ल जी की मान्यताओं से सर्वत्र सहमत नहीं हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि रस और मौलिकता के नाम पर शुक्ल-सम्प्रदाय के आलोचकों ने कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण विचार प्रकट कर दिए थे। बहुत-से लोग उनकी सत्यता में अक्षरशः विश्वास करते रहे। पर अधिकतर विद्वानों को यह अरुचिकर प्रतीत हुआ है और उन्होंने निर्भयतापूर्वक इन विचारों का खंडन किया है। (हाँ, कुछ ने मौलिकता के मोह में भी ऐसा कर दिया है) उपर्युक्त सभी विद्वान् शुक्लजी की समीक्षा से प्रभावित ही नहीं अपितु उनकी विचार-धारा और शैली के पर्याप्त ऋणी भी हैं। इनमें से अधिकांश की आलोचना का प्रधान अंश शुक्ल-पद्धति में ही अन्तर्भुक्त भी है।

वैधानिकता या शास्त्रीयता:—इस कोटि की समालोचना की दूसरी प्रमुख विशेषता है वैधानिकता (Technicality)। आचार्य शुक्ल की समीक्षा पर विचार करते हुए हमने यह देखा है कि आचार्य प्रभाववादी अथवा वैयक्तिक समालोचना को वस्तुतः समालोचना ही नहीं मानते। उन्हें समालोचना के लिए एक विशेष मानदण्ड की अनिवार्यता पूर्णतः मान्य है। वे यह भी मानते हैं कि इस मानदण्ड का आधार यथासंभव शास्त्रीय होना चाहिए, पर शुक्ल जी इसके साथ ही मौलिक चिन्तन की स्वतन्त्रता के भी पक्षपाती हैं। आलोचक को शास्त्रीय तत्त्वों में कुछ घटाने-बढ़ाने अथवा उनका नवीन अर्थ ग्रहण करने की स्वतन्त्रता अवश्य प्रदान करते हैं। शुक्ल जी ने स्वयं इस स्वतन्त्रता का पूरा उपयोग किया है। पर शास्त्रीय मानदण्ड से निरपेक्ष वैयक्तिक समीक्षा को वे समीक्षा नहीं कहते। इसीलिए उनसे प्रभावित तथा उनकी पद्धति के आलोचक शास्त्रीय मानदण्ड का उपयोग करते हैं। उन्हें समीक्षा के शास्त्रीय आधार का सिद्धांत मान्य है। इस कोटि के सभी आलोचकों ने शास्त्रीय तत्त्वों का उपयोग किया है। इसीलिए इनकी आलोचना प्रधानतः निर्वैयक्तिक और वस्तुतन्त्रात्मक ही मानी जायगी। शुक्लजी के मान में भारतीय और पाश्चात्य तत्त्वों का सम्मिश्रण है और ये तत्त्व एक-दूसरे से ऐसे घुल-मिल गए हैं कि दोनों का

पृथक् अस्तित्व ही स्पष्ट नहीं है। उनके अनुयायी आलोचकों ने दोनों प्रकार के तत्त्वों का उपयोग किया है। उनका तन्त्र न विशुद्ध भारतीय कहा जा सकता है और न पाश्चात्य, उसमें भी दोनों का मिश्रण है, पर वे शुक्लजी की तरह समन्वय नहीं कर सके हैं। दोनों तन्त्रों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व स्पष्ट है। उन्होंने रस, अलंकार, गुण, वृत्ति आदि का भी उपयोग किया है तथा साथ ही वे कल्पना, अनुभूति, सत्यं, शिवं, सुन्दरम् आदि पाश्चात्य तत्त्वों को मूल रूप में ग्रहण कर लेते हैं।[1] बाबू श्यामसुन्दरदास जी में भी वे दोनों परम्पराएँ पृथक्-पृथक् हैं। इस पद्धति के अधिकांश समालोचकों ने इस बात में बाबूजी का ही अनुकरण किया है, यह कहना भी अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा। पाश्चात्य अलंकार-शास्त्र के तत्त्वों से परिचय कराने तथा उनका काव्य-समीक्षा में इतने अधिक प्रयोग की प्रेरणा उनके 'साहित्यालोचन' से ही मिली है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।[2] विश्वविद्यालयों में इसके अध्ययन से छात्र इन तत्त्वों से परिचित होने लगे थे और फिर अपनी व्यावहारिक समालोचना में इनका पर्याप्त प्रयोग भी करते थे। समालोचनाओं को प्रौढ़, सर्वांगीण तथा विशेषतः परीक्षोपयोगी बनाने के लिए इनका उपयोग नितान्त आवश्यक भी है। आज भी यह धारा उसी रूप से चल रही है। आज का समालोचक अन्य पद्धतियों के विकास से लाभ उठाने के लोभ का भी संवरण नहीं कर सकता है और यह समीचीन भी है। इसके फलस्वरूप हिन्दी में समन्वयवादी समालोचना का विकास हो रहा है। लेकिन इसका भी मूल आधार शुक्ल-पद्धति ही है। यह समन्वयवादी प्रवृत्ति ही हिन्दी-समीक्षा का आधुनिकतम और प्रतिनिधि रूप है।

कविता, उपन्यास, निबन्ध आदि की कुछ अर्वाचीन काव्य-विधाएँ पश्चिम से ही आई हैं और वे अपने साथ समालोचना का एक विशेष मानदंड भी लाई हैं। इनके सम्बन्ध में जो-कुछ सैद्धान्तिक निरूपण हुआ है, उसका आधार पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र ही है। हिन्दी में इन तत्त्वों के विश्लेषण के साथ ही रस आदि की भी व्याख्या होने लगी है। इस प्रकार इन विधाओं पर भी रस आदि भारतीय तत्त्वों की दृष्टि से थोड़ा विचार हुआ है। दोनों विचार-धाराओं

---

१. 'गुप्तजी की काव्य-धारा' गिरीश।

२. 'साहित्यालोचन' का प्रथम संस्करण सं० १९२३ में हुआ था, हिन्दी-आलोचना में कल्पना, अनुभूति, सत्यं, शिवं, सुन्दरम् आदि पाश्चात्य पदावली का प्रयोग उसके अनन्तर ही मिलता है।

में सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा भी हुई है। इस समीक्षा-पद्धति में इस दिशा के प्रयासों के स्पष्ट दर्शन होते हैं। लेकिन अभी इसका प्रारम्भ ही है, बहुत प्रगति नहीं हो पाई है। उपन्यास,कहानी और निबन्ध की समीक्षा का मान और शैली अधिकतर पाश्चात्य आधार पर ही विकसित हो रहे हैं। कहीं-कहीं भाव और रस की बातें कर लेना वास्तविक सामंजस्य नहीं है। उपन्यासों की आलोचना में वस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, उद्देश्य आदि तत्त्वों की दृष्टि से ही अधिक विचार हुआ है।[1] हिन्दी में कहानियों और निबन्धों पर तन्त्रवादी समालोचना बहुत कम हुई है। वैसे इनका नितान्त अभाव तो नहीं है। ब्रह्मदत्त शर्मा का 'हिन्दी निबन्ध' तथा डॉ० सत्येन्द्र का 'प्रेमचन्द की कहानी-कला' उल्लेखनीय हैं। ये दोनों ही प्रधानतः वैधानिक समीक्षाएँ हैं, लेकिन कलाकारों के व्यक्तित्व तथा उनके कला-विकास की ओर भी आलोचकों का ध्यान गया है। उनके प्रौढ़ विश्लेषण के भी दर्शन होते हैं। इसके अतिरिक्त कहानी और निबन्धों के संग्रहों की भूमिकाओं में भी इन विधाओं की तात्त्विक समीक्षाएँ हुई हैं। डॉ० श्रीकृष्णलाल, शिलीमुख आदि के कहानी-संग्रहों की भूमिकाएँ इसके प्रौढ़ उदाहरण हैं।

काव्य-ग्रन्थों और कवियों पर इस कोटि की जितनी भी समालोचनाएँ हुई हैं, उन सभी में रस, अलंकार आदि की दृष्टि से ही अधिक विचार हुआ है। कुछ में तो रस आदि के उदाहरण-मात्र ही दे दिए गए हैं।[2] लेकिन अधिकांश समालोचकों ने भावों और अलंकारों की निरूपणात्मक अनुभूतिमय पद्धति का ही अनुसरण किया है। इस आलोचना में कवियों की अलंकार, भाव या रस-निरूपण-पद्धति की सामान्य प्रवृत्तियों का भी प्रतिपादन किया गया है। वस्तुतः इसकी दूसरी पद्धति को ही आलोचना माना जाना चाहिए। शुक्लजी ने इसी पद्धति का अनुसरण किया है। पहले प्रकार का तो टीका-पद्धति में अन्तर्भाव हो जाता है। पहले प्रकार की समालोचना को व्याख्यात्मक न कहकर परिचयात्मक अधिक कहना चाहिए। त्रिपाठी सर्वत्र परिचयात्मक नहीं हैं। अनेक स्थलों पर विश्लेषणात्मक भी हैं। समान्य प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने तथा समीक्षा की सर्वांगीणता के लिए कुछ फुटकर उदाहरणों—अलंकार, भाव आदि का निर्देश भी अपेक्षित है। शुक्ल-पद्धति के सभी आलोचकों ने इस शैली को अपनाया है। दूसरी पद्धतियों ने अन्य तत्त्वों के साथ इसको भी ग्रहण किया

---

१. देखिये 'प्रेमचन्द की उपन्यास-कला', जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज'।

२. पं० रामनरेश त्रिपाठी, 'तुलसीदास', दूसरा भाग, अलंकार-निरूपण।

है । वैधानिक समालोचना का बहुत सुन्दर और प्रौढ़ उदाहरण पं० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी द्वारा लिखित 'महाकवि हरिऔध का प्रिय प्रवास' है । इसमें लेखक ने आचार्य विश्वनाथ के महाकाव्य-सम्बन्धी मत का विस्तार पूर्वक उल्लेख करके, उन्हीं तत्वों के आधार पर आलोच्य रचना का विद्वत्तापूर्ण अध्ययन किया है । उन्होंने उस मानदण्ड के आधार पर कवि की महाकाव्य रचने की कुशलता की परीक्षा की है । अलंकार, रस आदि के अतिरिक्त लेखक ने कवि द्वारा प्रयुक्त वृत्तों की भी परीक्षा की है । उनकी उपयुक्तता को भी आँका है । इतना ही नहीं आलोचक पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तों का उपयोग करना भी नहीं भूले हैं । उन्होंने तीन अन्वितियों (Three unities of Dram) और कल्पना-तत्व की दृष्टि से भी रचना का विश्लेषण किया है । 'हरिऔधजी' ने 'प्रियप्रवास' में कई ऐसे प्रसंगों और पद्यों का निर्माण किया है जिनमें कल्पना की उड़ान (Flights of imagination) प्रचुर परिमाण में पाई जाती है । दृष्टान्त रूप में हम षष्ठ सर्ग का प्रकरण ले सकते हैं ।[1] चरित्र-चित्रण की विशेषताओं पर विचार करते समय भी आलोचक के समक्ष पाश्चात्य विचार-धारा ही रही है । उसीका उन्होंने विशेष उपयोग किया है । "किन्तु प्रेम के इस विकास में, अन्तर्द्वन्द्व के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में जिस भावना-क्रम (मोटीवेशन) की आवश्यकता है, उसका 'प्रिय प्रवास' में अभाव है ।[2]

शास्त्रीय तत्वों को समीक्षा का आधार-भूत मानकर चलने के कारण इस कोटि के समालोचकों में काव्य के भेदोपभेदों के निरूपण की प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं । संस्कृत के प्राचीन आचार्यों की तरह ये भी प्रत्येक विधा के सूक्ष्म भेद करके चलना चाहते हैं । गीतिकाव्य, निबन्ध, कहानी आदि के अनेक अवान्तर भेद स्वीकृत हुए हैं, और उनको आधार मानकर आलोचना भी हुई है । इस पद्धति का आलोचक प्रत्येक रचना को किसी-न-किसी वर्ग अथवा उसके उपभेद में रख देना चाहता है और उसीके अनुसार कला-कृति की सफलता अथवा असफलता आँकता है । इन भेदोपभेदों की प्रवृत्ति से डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० श्रीकृष्णलाल, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र-जैसे सधे हुए और साहित्य-मर्मज्ञ समालोचक भी मुक्त नहीं रह सके हैं । डॉ० श्रीकृष्णलाल ने गीति-काव्य के पाँच भेद किये हैं, व्यंग-गीति आदि ।[3] इसी तरह उन्होंने कहानी के भी कई

---

१. 'महाकवि हरिऔध का प्रिय प्रवास', पृष्ठ ८७ ।

२. वही ।

३. देखिये 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' ।

भेद माने हैं। यह कहने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है कि यह बहुत ही स्थूल दृष्टि है। कवि किसी वर्ग अथवा कला के नियमों को ध्यान में रखकर नहीं चलता। वह अपनी अभिव्यक्ति में इन वाह्य नियन्त्रणों से पूर्णतः मुक्त रहता है। वह नाटक के नियमों अथवा उसके किसी उपभेद की सीमाओं को ध्यान में रखकर सृजन नहीं करता। अतः उसकी कृति का किसी भी एक काव्य-विधा का आदर्श उदाहरण हो जाना केवल आकस्मिक है। इससे उसकी कला-कृति के वास्तविक सौन्दर्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता। यह केवल वाह्य और स्थूल तत्व है, उसकी अवहेलना कोई बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं। काव्य और कला सर्वथा स्वच्छन्द नहीं होते। उनके भी नियम होते हैं। नियमों का बाहर से आरोप नहीं अपितु कला-कृति में स्वतः व्यक्त नियमों के आधार पर मूल्यांकन ही सच्ची समालोचना है। आलोचक का कार्य कला के आभ्यन्तर से उनकी आत्मा से परिचित होना है न कि वाह्य शरीर-मात्र का विश्लेषण करना। हृदयस्पर्शी और मार्मिक चित्रों द्वारा कवि पाठक को कितना रसाक्षिप्त कर सका है, उसके व्यक्तित्व को कितना प्रभावित कर सका है, यह जाँचना, इसकी सफलता की मात्रा आँकना, आलोचक का कार्य है। शुक्लजी में उत्कृष्ट काव्य-रसज्ञता थी, पर उनके अनुगामी आलोचकों में से बहुत कम इतनी उत्कृष्ट काव्य-रसज्ञता का परिचय दे सके। छायावादी युग में इस आलोचना-पद्धति के विरुद्ध प्रतिक्रिया होने का एक बहुत बड़ा कारण यह भी था।

इसी स्थूल दृष्टि के कारण इस पद्धति के कुछ आलोचक आलोच्य रचना की भावानुभूति के सौन्दर्य और हृदय-स्पर्शिता को स्पष्ट करने में बहुत अधिक सफल नहीं हुए हैं। वे काव्य की अन्तरात्मा तक न पहुँचकर उसके बाहर-ही-बाहर घूमते रहे हैं। वे कवि के वर्ण्य-विषय की स्थूल जाँच करते हैं। उनकी अनुभूति की तीव्रता और सचाई तथा सफलता की परख नहीं करते। जीवन की व्यापकता का तात्पर्य उनके लिए उसकी विभिन्न दशाओं और अवस्थाओं का वर्णन-मात्र है। कवि उन दशाओं के साथ अपना कितना तादात्म्य स्थापित कर सका है और उसकी अभिव्यक्ति में पाठक में तादात्म्य उत्पन्न करने की कितनी क्षमता है, आदि प्रश्नों की ओर बहुत कम आलोचकों का ध्यान गया है। यही कारण है कि इस कोटि के अधिकांश आलोचकों की समीक्षा स्थूल, और वस्तुतन्त्रात्मक ही रही है। शुक्लजी के दृष्टिकोण के अन्तस्तल तक पहुँचकर उसकी आत्मा को ग्रहण न कर सकने का ही यह दुष्प्रभाव है। पद्माकर की कल्पना अथवा भाव-राज्य के क्षेत्र को बहुत व्यापक कहने का तात्पर्य केवल यही है कि उन्होंने बहुत-से विषयों पर मुक्तक रचनाएँ की हैं।

उनमें कितनी मार्मिकता है, जीवन की कितनी गहराई में कवि की पैठ है, इन दृष्टिकोणों से आलोचक ने देखने का प्रयास ही नहीं किया। इसीका परिणाम है कि आलोचकों ने अपनी पुस्तक के अध्यायों के नाम ही नेत्र, प्रेम आदि रखे हैं। ऐसी समीक्षा केवल परिचयात्मक ही है। उनमें आलोचना की सूक्ष्मता और प्रौढ़ता के दर्शन नहीं होते।

इन्हीं कारणों से इस पद्धति की आलोचना मानदंडों का आरोप करने वाली अत्यधिक वस्तु-तन्त्रात्मक और कहीं-कहीं बहुत ही स्थूल प्रतीत होती है।

कवि के व्यक्तित्व का अध्ययन:—"गुण-दोष-कथन के आगे बढ़कर कवियों की विशेषताओं और उनकी अन्तः प्रवृत्ति की छान-बीन की ओर ध्यान दिया गया।"[1] आलोचना के विकास में शुक्लजी की यह महत्त्वपूर्ण देन है। कवि की अन्तःप्रवृत्ति की छान-बीन को साहित्य-समीक्षा में सर्व प्रथम वैज्ञानिक रूप प्रदान करने का श्रेय उन्हींको है। आज तो हिन्दी-समीक्षा का यह प्रमुख तत्त्व हो गया है। हिन्दी की स्वच्छन्दतावादी आलोचना की तो यह प्रधान विशेषता ही है। लेकिन शुक्ल-पद्धति के समालोचकों में भी इसका अभाव नहीं है। वस्तुतः हिन्दी-समीक्षा धीरे-धीरे इसीकी ओर उन्मुख हो रही है। इस पद्धति के आधुनिक समालोचकों का ध्यान भी विशेषतः इसी ओर आकृष्ट हो रहा है। शुक्ल-पद्धति के समालोचकों ने अपने आलोच्य कवियों की रचनाओं के पृथक् अध्ययन के साथ कवि के व्यक्तित्व को समझने-समझाने का भी पर्याप्त प्रयत्न किया है। आज की आलोचना-पुस्तकों के नामों से भी यह स्पष्ट हो जाता है : 'गुप्त जी की काव्य-धारा', 'प्रेमचन्द जी की उपन्यास-कला', 'मीरा की प्रेम-साधना', 'प्रसाद जी की कला' आदि। इन नामों से स्पष्ट है कि आलोचक कवि के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर संश्लिष्ट रूप से विचार करना चाहता है। वस्तु-विन्यास, रस-पद्धति, अलंकार-नियोजन, चरित्र-कल्पना, जीवन की व्याख्या आदि का विश्लेषण करके कवि की सामान्य प्रवृत्तियों का उद्घाटन करना ही आलोचक का प्रधान लक्ष्य हो गया है। इसके अतिरिक्त आलोचक कवि की कृतियों के आधार पर उसकी चिन्तन-धारा का अध्ययन करने में भी प्रवृत्त हुआ है। शुक्ल जी के पूर्व ऐसे प्रयासों की संख्या नगण्य ही है और उनमें सूक्ष्म और संश्लिष्ट विवेचन का अभाव भी है। उन्होंने ही इसका भी श्रीगणेश किया है। 'हरिऔध' ने कबीर की आलोचना में प्रधानतः उनके विचारों और व्यक्तित्व को ही अधिक स्पष्ट किया है। उनकी इस पुस्तक में कबीर की

---

१. शुक्ल जी—'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ६३३।

रचनाओं के काव्य-सौष्ठव का अध्ययन बहुत कम हुआ है। इसी प्रकार के अन्य प्रौढ़ प्रयास भी हुए हैं; यथा डॉ० रामकुमार वर्मा तथा डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल की कबीर और निर्गुण-सम्प्रदाय-सम्बन्धी आलोचना। इन पर आगे विचार किया जायगा। सूर और तुलसी की भक्ति-पद्धति, दार्शनिक विचार-धारा, प्रेमचन्द की आदर्शोन्मुख यथार्थवादिता आदि विषयों का, जो कवि की जीवन-सम्बन्धी धारणा पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं, बहुत ही विशद विवेचन हुआ है। यह विवेचन भी आज की आलोचना का एक प्रमुख अंग ही हो गया है। इसके अतिरिक्त कवि की कृतियों के आधार पर कवि-स्वभाव, मानसिक धरातल आदि की ओर भी आलोचकों का ध्यान गया है। रचना के आधार पर ही बौद्धिकता, भावुकता या कल्पनाशीलता का निरूपण परवर्ती विकास के आलोचकों ने अधिक किया है। शुक्ल-पद्धति के आलोचकों का ध्यान इस ओर अपेक्षाकृत कम गया है।

आलोचना का एक और प्रकार है। इसमें कवि के व्यक्तित्व, उसकी विचार-धारा, कल्पना, भावुकता आदि से पहले परिचय प्राप्त कर लिया जाता है और फिर कृति के वर्ण्य-विषय, शैली, जीवन-सन्देश, भाव, विचार आदि का विश्लेषण होता है। आलोचक कवि के व्यक्तित्व का वह अंश स्पष्ट करना चाहता है जिससे कवि को अपनी विशेष विचार-धारा, और भावात्मकता के लिए सामग्री और प्रेरणा प्राप्त हुई है। वह कवि के व्यक्तित्व और कला-कृति में अभिन्न सम्बन्ध स्थापित करता है। इस पद्धति के समालोचकों ने ये प्रयास भी अधिक नहीं किये हैं। कहीं-कहीं इसी प्रकार की मनोवृत्ति के आभास अवश्य दे दिए हैं। गुप्त जी का भारतीय संस्कृति के प्रति प्रेम तथा उन पर गांधी जी का प्रभाव उनके नैतिक और आदर्शवादी दृष्टिकोण का कारण है। डॉ० सत्येन्द्र ने अपनी 'गुप्त जी की कला' में इसी दृष्टि से विचार किया है। 'अनघ' को तो वे गांधी जी का बौना चित्र ही कहते हैं।

कलाकार अपने ही जीवन की कतिपय की घटनाओं को काव्य रूप दे देता है। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने अपनी तुलसी-सम्बन्धी आलोचना में ऐसे कई-एक स्थलों का निर्देश किया है।[1] पं० कृष्णशंकर शुक्ल ने भी 'केशव की काव्य-कला' में उनकी जीवनी पर लिखते समय ऐसी एकाध घटनाओं की ओर संकेत-भर किया है। इस प्रकार की आलोचना, (चरित-मूलक) का हिन्दी में प्राय: अभाव ही है। इसमें भारतीय मनोवृत्ति और काव्य-सिद्धान्त भी

१. देखिये—'स्वकथित जीवनी'।

बाधक हैं। कवियों की जीवनी के पर्याप्त ज्ञान का अभाव तथा साधारणी-करण का सिद्धान्त इस शैली के विकास का अवरोधक है। फिर भी अंग्रेजी के प्रभाव से हिन्दी की चरित-मूलक समीक्षा के प्रारम्भिक प्रयास कवियों की प्रामाणिक जीवनी उपस्थित करने के रूप में हैं। इनमें अन्तरंग प्रमाणों के आधार पर जीवनी का अध्ययन करने की प्रवृत्ति के कारण कहीं-कहीं अकस्मात् ऐसी आलोचना हो गई है, पर चरित-मूलक आलोचना की चेतना का हिन्दी-साहित्य में विकास नहीं हुआ है। जहाँ कहीं भी ऐसे फुटकर प्रयास हुए हैं उन्हें आकस्मिक ही माना जायगा। कवियों की जीवनी देने की प्रवृत्ति तो इसी पद्धति के समालोचकों में मिलती है। अन्य प्रकार के समालोचकों में तो इसका प्रायः अभाव ही है। उस पद्धति में इसका कोई महत्त्व भी नहीं है। वहाँ पर आलोचक परिचय की अपेक्षा विश्लेषण के कार्य को अधिक महत्त्व प्रदान करता है।

तुलना और निर्णय:—ये दोनों प्रवृत्तियाँ वर्तमान समीक्षा के प्रारम्भ से ही शुक्लजी की समीक्षा में भी कहीं-कहीं निर्णयात्मक हो जाती हैं, इसका विवेचन पहले हो चुका है। उन्होंने कई स्थानों पर तुलनात्मक समालोचना भी दी है। उनकी पद्धति के अन्य आलोचक भी तुलनात्मक और निर्णयात्मक आलोचना से ऊपर नहीं उठे हैं। स्पष्ट रूप से अपना निर्णय न देने पर भी वे अपने मन्तव्य का संकेत कर देते हैं। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि प्राचीन कवियों पर लिखने वालों ने तो अपना मन्तव्य स्पष्ट ही प्रकट कर दिया है। शुक्ल जी कबीर के रहस्यवाद को साधनात्मक मानते हैं, पर उनमें प्रेम की व्यंजना के दर्शन उन्हें नहीं होते। इसीलिए उनकी दृष्टि से जायसी का रहस्यवाद अधिक हृदयस्पर्शी और स्वाभाविक है। पर बाबू श्यामसुन्दरदास जी को यह मान्य नहीं। इन दोनों ही आलोचनाओं में तुलना और निर्णय स्पष्ट है। इस पद्धति की अन्य आलोचनाओं में भी कवि की श्रेष्ठता की ओर संकेत हुए हैं।

शुक्ल जी के पूर्व साहित्य के देश-काल का बहुत साधारण-सा संकेत होता था, 'शिवसिंह सरोज', 'मिश्रबन्धु-विनोद' आदि कवि-वृत्त संग्रह की कोटि में आते हैं, मिश्रबन्धुओं ने देश-काल का कुछ थोड़ा-सा संकेत किया था। पर साहित्य को उसकी परिस्थितियों में रखकर आँकने की प्रौढ़ आलोचनात्मक पद्धति का सूत्रपात शुक्लजी ने ही किया। उन्होंने सूर, तुलसी आदि कवियों के महत्त्व को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रखकर आँका है। 'हिन्दी शब्द सागर' की भूमिका में शुक्लजी ने ही हिन्दी-साहित्य का प्रथम व्यवस्थित इतिहास प्रस्तुत किया था। ऐतिहासिक समीक्षा शुक्ल-पद्धति की एक प्रधान विशेषता है, इस

पद्धति के सभी आलोचकों ने इस शैली का उपयोग किया है। परवर्ती आलोचना ने शुक्ल-समीक्षा के जिन तत्त्वों का विकास किया उनमें से एक यह भी है। ऐतिहासिक समीक्षा-शैली के प्रसंग में इस पर विशद विचार किया जायगा। यहाँ पर तो केवल इतना कह देना-भर पर्याप्त है कि शुक्ल-पद्धति में देश-काल का आकलन केवल एक पृष्ठभूमि के रूप में हो सका है। साहित्य की अविच्छिन्न धारा का निर्वचन तथा साहित्य का देश-काल से सहज एवं स्वाभाविक सम्बन्ध-निर्देश तो इस पद्धति के परवर्ती विकास की वस्तु है। हिन्दी में साहित्य को देश-काल की सहज उपज के रूप में देखने तथा सांस्कृतिक विकास में किसी कवि या रचना की देन के मूल्यांकन की प्रौढ़ प्रवृत्ति के दर्शन अभी बहुत कम हो पाते हैं। अभी तक हिन्दी-समीक्षा में इस पद्धति का इतना विकास नहीं हुआ है, फिर भी शुक्ल-पद्धति के कतिपय आलोचकों के प्रयास स्तुत्य हैं। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भूषण की कविता को देश-काल की परिस्थितियों में रखकर उसका अध्ययन किया है। उन्होंने भूषण के सामयिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व का मूल्यांकन किया है। इसमें ऐतिहासिक समीक्षा के प्रौढ़ तत्त्वों के दर्शन होते हैं।

शास्त्रीय एवं तन्त्रवादी समीक्षा इस पद्धति की सबसे प्रधान विशेषता है, सौष्ठववादी समीक्षा में शुक्ल-पद्धति की तरह तन्त्र सामूहिक और आरोपात्मक नहीं रहा। शुक्ल-पद्धति की अधिकांश आलोचनाओं में तो तन्त्र का यही रूप रहा है, शास्त्रीय तत्त्वों का आरोप ही इसकी प्रधान विशेषता है। श्री धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी का 'प्रिय प्रवास का अध्ययन', श्री प्रेमनारायण टंडन का 'गोदान और गबन', श्री कृष्णानन्द गुप्त का 'प्रसाद जी के दो नाटक', डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा का 'प्रसाद जी के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन', डॉ० सत्येन्द्र की 'प्रेमचन्द्र की कहानी-कला' आदि ग्रन्थ तन्त्रवादी समीक्षा के अच्छे प्रयास हैं। प्रसाद जी के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन शुक्ल-पद्धति की तन्त्रवादी समीक्षा का प्रौढ़ उदाहरण माना जा सकता है। इसमें शास्त्र से प्राप्त तत्त्वों के अतिरिक्त रचनाओं से उपलब्ध तत्त्वों के आधार पर भी आलोचना हुई है। 'प्रेमचन्द जी की कहानी-कला' में लेखक ने शास्त्रीय तत्त्वों का आरोप नहीं किया है, अपितु उन कहानियों में से स्वतः प्राप्त तत्त्वों के मानदंड पर उन रचनाओं का विश्लेषण और मूल्यांकन किया है। लेखक ने प्रेमचन्द जी की कहानियों की सफलता बाह्य मान-मूल्यों से नहीं अपितु उन्हींमें अन्तर्हित मान के आधार पर आँकी है। इस प्रकार इस रचना में सौष्ठववादी तथा निगमनात्मक समीक्षा के तत्त्व अत्यन्त स्पष्ट हैं, यह भावी विकास का आभास दे रही है। इस रचना को शुक्ल-पद्धति तथा परवर्ती विकास के संक्रान्ति काल की रचना कहना भी अनुपयुक्त नहीं है।

इस पद्धति के सबसे प्रधान समालोचक बाबू श्यामसुन्दरदास जी हैं, बाबू जी ने समीक्षा क्षेत्र में उस समय कार्य प्रारम्भ किया था जब हिन्दी में साहित्य-समीक्षा का जन्म ही हो रहा था। उसी समय से 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' द्वारा वे साहित्य की सेवा करते रहे, प्राचीन ग्रन्थों की शोध तथा उनका सम्पादन उनकी आलोचनात्मक भूमिकाएँ, इतिहास आदि आपके प्रधान कार्य-क्षेत्र रहे। हिन्दी में इन क्षेत्रों की उद्भावना का श्रेय भी बाबूजी को ही है। शुक्ल जी को भी इन कार्यों में बाबूजी से पर्याप्त प्रेरणा मिलती रही। इन क्षेत्रों की वास्तविक उन्नति तो शुक्ल जी की प्रतिभा के कारण हुई, पर हिन्दी को प्रेरणा प्रदान करने में बाबूजी का महत्त्व कम नहीं है। हाँ शुक्ल जी की प्रौढ़ चिन्तन-क्षमता और प्रखर प्रतिभा के समक्ष हिन्दी-जगत् बाबूजी का उपयुक्त मूल्य नहीं समझ सका। इसीलिए इनके कार्यों का महत्त्व कुछ उपेक्षित ही रहा।

प्रयोगात्मक समीक्षा में बाबूजी ने शुक्ल-पद्धति को ही अपनाया है, उनकी समीक्षा की प्रधान विशेषताएँ वे ही हैं जिनका ऊपर निर्देश हो चुका है। बाबू जी इस क्षेत्र में किसी नवीन शैली की उद्भावना नहीं कर सके। पर 'साहित्यालोचन', 'रूपक रहस्य' जैसे ग्रन्थों का निर्माण करके उन्होंने शुक्ल-पद्धति के सैद्धान्तिक आधार के निर्माण में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है, इसे भी भुलाया नहीं जा सकता। शुक्ल-पद्धति के आलोचक जो 'सत्यं शिवं, सुन्दरम्' कल्पना, बुद्धि आदि की बातें करते हैं वे जो इन तत्त्वों का मुक्त उपयोग करने लगे हैं, इसका सारा श्रेय बाबूजी को है। पाश्चात्य समीक्षा के ये तत्त्व शुक्ल जी को आलोचनाओं से ग्रहण हुए हैं। 'साहित्यालोचन' के प्रथम संस्करण के उपरान्त ही इन तत्त्वों के उपयोग की प्रवृत्ति बढ़ी। इनके द्वारा साहित्य-समीक्षा को प्रदत्त तत्त्वों में से शैली-तत्त्व का भी कम महत्त्व नहीं है, प्रत्येक कवि और लेखक की शैली पर पृथक् रूप से विचार करने की प्रवृत्ति का प्रोत्साहन भी सम्भवतः 'साहित्यालोचन' ने ही दिया। इनके द्वारा प्रतिपादित अभिनयात्मक एवं प्रबंधात्मक शैली आदि का उपयोग हिन्दी के कई आलोचकों ने किया है। हिन्दी के समालोचकों को आलोचना के बहुत-से पारिभाषिक शब्द प्राप्त हुए। आज भी विश्वविद्यालयों से निकले हुए व्यक्तियों की रचनाओं पर 'साहित्यालोचन' की छाप स्पष्ट दिखाई पड़ जाती है। शुक्ल जी के गूढ़ चिन्तन के कारण उनसे कुछ बहुत जल्दी ग्रहण कर लेना सरल कार्य नहीं है। हिन्दी का शायद ही कोई आलोचक उनकी प्रौढ़ शैली का सफल अनुकरण कर पाया हो। बाबू श्यामसुन्दर-दास जी ने शुक्ल जी की विचार-धारा और मानदंड को सुबोध एवं सरल

करके विस्तीर्ण कर दिया। इससे उसमें वह गम्भीरता तो नहीं रह गई, वह कुछ स्थूल भी हो गई, पर सर्वसाधारण के लिए ग्राह्य अवश्य हो गई। शुक्ल-पद्धति के प्रसार का श्रेय बाबूजी को देने का बहुत बड़ा कार्य यही है। शुक्ल जी की शैली चाहे सरलता से अनुकरणीय न रही हो पर उनके द्वारा प्रस्तुत समीक्षा का मान और पद्धति एक बहुत लम्बे काल का प्रतिनिधित्व करती है। आज की समीक्षा की भी वह मूल आधार-भित्ति है, शुक्ल जी ने समीक्षा में नवीन-क्रान्ति उत्पन्न कर दी। हिन्दी को उन्होंने ठोस सैद्धान्तिक आधार प्रदान कर दिया। उनमें अमोघ युग-प्रेरक शक्ति की इतनी प्रबलता और प्रौढ़ता के दर्शन नहीं होते, पर फिर भी पद्धति के स्वरूप-निर्माण में बाबूजी का सहयोग कम महत्वपूर्ण नहीं है।

बाबू जी ने शुक्ल-पद्धति में प्रौढ़ समालोचना की है। कवियों की प्रामाणिक जीवनी उपस्थित करने में तो आप हिन्दी-क्षेत्र में अद्वितीय हैं। कवियों के जीवन-सम्बन्धी लेख 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में द्विवेदी-काल के प्रारम्भ से ही प्रकाशित होने लगे थे। समालोचना-क्षेत्र में यह कार्य बहुत महत्वपूर्ण है। यही पद्धति बाद में चरित-मूलक समीक्षा में विकसित हो गई है। इन जीवनियों में भी इस समीक्षा के कुछ अप्रौढ़ तत्वों के दर्शन हो जाते हैं। कवि के सर्वांगीण अध्ययन के लिए उनके जीवन-चरित्र का ज्ञान भी आवश्यक है। बाबू जी ने इसी आवश्यकता की पूर्ति की है। इस कार्य में प्रथम प्रेरणा देने का श्रेय भी इन्हीं को है। जीवन-चरित्र के अतिरिक्त इन्होंने अपने आलोच्य कवियों के काव्य-सौष्ठव भाषा-अधिकार, भक्ति-पद्धति, दार्शनिक एवं धार्मिक विचार-धारा आदि पर भी विचार किया है। बाबू जी का विवेचन प्रौढ़ होते हुए भी अत्यन्त स्पष्ट और सुबोध है। उनके निर्णयों के खंडन और विरोध की बहुत कम संभावना है। शुक्ल जी की अपेक्षा इनमें गूढ़ चिन्तन और विश्लेषण की कमी है। इसलिए इनकी समीक्षाओं में भी इनके निबन्धों की तरह परिचयात्मकता अधिक मानी जा सकती है। इनकी समीक्षा शुक्ल जी की अपेक्षा अधिक आरोपात्मक और इतिवृत्तात्मक है। शुक्ल-पद्धति की प्रायः सभी समीक्षाएँ वस्तुतन्त्रात्मक हैं। बाबू जी की समीक्षा में तो यह तत्व बहुत अधिक प्रबल है। बाबू जी शुक्ल जी के विचारों और शैली से अत्यधिक प्रभावित हैं। पर सर्वत्र उनके निर्णयों से सहमत नहीं। कई स्थानों पर उन्होंने शुक्ल जी के विचारों का खंडन किया है। उन्हें शुक्ल जी के साधारणीकरण की शास्त्रीयता मान्य नहीं। कबीर के रहस्यवाद एवं उनकी दार्शनिक विचार-धारा के सम्बन्ध में भी ये दोनों एकमत

नहीं है। कबीर के इस विवेचन में बाबूजी का मौलिक एवं प्रौढ़ चिन्तन अत्यन्त स्पष्ट है।

'कबीर ग्रन्थावली की भूमिका', 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' तथा 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' उनकी प्रयोगात्मक आलोचना के प्रतिनिधि ग्रन्थ हैं, इनके अतिरिक्त बाबूजी ने पत्र-पत्रिकाओं में बहुत-से आलोचनात्मक लेख लिखे हैं। 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' में तो उनके लेख बराबर ही प्रकाशित होते रहे हैं उनका शोध-कार्य इसी पत्रिका और सभा के माध्यम से होता रहा है। समीक्षा-क्षेत्र में प्राचीन पुस्तकों के शोध-कार्य का विवरण भी कम महत्त्व की वस्तु नहीं है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इनका प्रौढ़ और सर्वाङ्गीण प्रयास है। इसमें उन्होंने भारतेन्दु जी के जीवन और कृतित्व का विशद विवेचन किया है। उनके नाटकों, उपन्यासों, निबन्धों एवं कविता का गम्भीर विश्लेषण हुआ है। इस ग्रन्थ में बाबूजी ने भारतेन्दु जी की विभिन्न रचनाओं का विश्लेषण करके उनके व्यक्तित्व की कुछ प्रमुख विशेषताओं का भी निरूपण किया है। इसमें कवि और रचना की अन्तःप्रवृत्तियों का सुन्दर विश्लेषण हुआ है। "व्यापक भाव का विवेचन" कवि के व्यक्तित्व का विश्लेषण ही है। यह ग्रन्थ शुक्ल-पद्धति की समीक्षा का सुन्दर उदाहरण है, इसमें विश्लेषण एवं संश्लेषण दोनों शैलियों का सुन्दर समन्वय है। शुक्ल-पद्धति के अन्य आलोचकों ने भी इस समन्वय शैली का उपयोग किया है। बाबू जी की समीक्षा की तो यह प्रधान विशेषता ही है। इस पद्धति के जिन आलोचकों का ऊपर निर्देश हो चुका है उन्होंने भी इस शैली का उपयोग किया है।

बाबूजी के अतिरिक्त शुक्ल-पद्धति के प्रधान समालोचकों में निम्न लिखित नाम भी गणनीय हैं—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, पं० कृष्णशंकर शुक्ल, पं० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख', डॉ०रामशंकर शुक्ल 'रसाल', पं० रामनरेश त्रिपाठी,पं० गिरजादत्त'गिरीश',श्री कृष्णानन्द गुप्त आदि।'बिहारी की वाग्विभूति', 'भूषण ग्रन्थावली की भूमिका', 'पद्माकर-पंचामृत', 'प्रसाद जी के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन', 'उद्धव शतक की भूमिका', 'केशव की काव्य कला','कविर रत्नाकर','तुलसीदास और उनकी कविता','सुकवि समीक्षा','गुप्तजी की काव्य-धारा', 'प्रसाद की नाट्य-कला' आदि ग्रन्थ इस शैली के अच्छे प्रयास हैं। वर्तमान समय में शुक्ल-पद्धति के सबसे बड़े प्रतिनिधि पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र कहे जा सकते हैं। मिश्रजी ने इस शैली में प्रौढ़ समालोचानाएँ प्रस्तुत की हैं। शुक्लजी के दृष्टिकोण के वे सबसे बड़े समर्थक हैं। उन्होंने शुक्लजी की विचार-धारा को पूर्णतः आत्मसात् करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने शुक्लजी

के सम्बन्ध में फैली हुई बहुत-सी भ्रान्तियों का भी निराकरण किया है। शुक्लजी के समीक्षा-सम्बन्धी व्यापक दृष्टिकोण को सबसे ठीक समझने वालों में मिश्रजी का नाम अग्रगण्य है। उनकी यह निश्चित धारणा है कि समीक्षा-क्षेत्र को शुक्लजी ने जो प्रौढ़ शैली प्रदान की है, उसके समकक्ष दूसरी कोई प्रौढ़ पद्धति अब तक प्रस्तुत नहीं की जा सकी है। उनके इस विचार में कुछ सत्यांश अवश्य है। शुक्लजी के उपरान्त हिन्दी-साहित्य-समीक्षा ने कुछ नवीन शैलियों को अवश्य अपना लिया है, पर अब तक शुक्लजी से भिन्न कोई ऐसा नवीन प्रौढ़ साहित्य-दर्शन नहीं बन पाया है, जिसके आधार पर पूर्णतः नवीन किसी समीक्षा-पद्धति का निर्माण ही हो पाता।

शुक्लजी तथा बाबू श्यामसुन्दरदास जी के प्रयास से जिस आलोचना-पद्धति का जन्म हुआ है, उसने हिन्दी-साहित्य-समीक्षा को विकास का सच्चा मार्ग दिखा दिया है। आज भी हिन्दी के अधिकांश समालोचक इसी पद्धति का अनुसरण कर रहे हैं। व्यक्तित्व-भेद के फलस्वरूप कुछ साधारण वैषम्य की उपेक्षा करने के बाद यह कहा जा सकता है कि हिन्दी में इस पद्धति के समालोचकों की संख्या सबसे बड़ी है, इस पद्धति ने अपने परवर्ती विकास में अन्य शैलियों और पद्धतियों का भी उपयोग किया है। इस प्रकार यह पद्धति अपने वर्तमान स्वरूप में सामंजस्यवादी दृष्टिकोण को अपना रही है। इसी समन्वयवादी शैली में आज के अनेक विद्वान् कवियों और काव्य-धाराओं का प्रौढ़ अध्ययन कर रहे हैं। धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० श्रीकृष्णलाल, डॉ०दीनदयाल गुप्त, डॉ० केसरीनारायण शुक्ल,बाबू गुलाबराय डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल आदि इस पद्धति के लब्ध-प्रतिष्ठ समालोचक हैं। इन्होंने इसी पद्धति में हिन्दी के अनेक कालों और काव्य-धाराओं एवं कवियों का सर्वांगीण अध्ययन किया है। इनको समन्वयवादी तो इसलिए कहना पड़ता है, कि इन्होंने सौष्ठववादी मनोविश्लेषणात्मक एवं ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धतियों के उन तत्त्वों का उपयोग किया जिनकी गणना शुक्ल-पद्धति में नहीं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि शुक्ल-पद्धति की समीक्षा रूढ़ नैतिक आदर्शों पर मूल्यांकन करने वाली, शास्त्रीय और वस्तुतन्त्रात्मक आलोचना है। इसमें कवि और वस्तु की सामान्य प्रवृत्तियों का विश्लेषणात्मक निरूपण, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ सम्बन्ध, कल्पना, समष्टिगत जीवन की समस्याओं का स्थूल चित्रण तथा उनके रूढ़िवादी आदर्शोन्मुखी समाधान के दर्शन होते हैं। इस पद्धति ने भारतेन्दु जी से लेकर शुक्लजी तक की समीक्षा के विकास का समाहार किया है। प्रवृत्तियों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की शैली को इतना व्यापक रूप दिया कि इसमें भावी विकास

: १० :

सौष्ठववादी अथवा स्वच्छन्दतावादी समीक्षा

साहित्य प्रत्येक युग तथा धारा के साथ अपनी पृथक् धारणाओं, साहित्यिक मानों और जीवन-दर्शन को अपनाता हुआ अग्रसर होता है। इसलिए यह कहना एक सीमा तक समीचीन है कि उस युग और धारा के साहित्य का मूल्यांकन वस्तुतः उन्हीं मानों द्वारा अधिक उचित रूप में हो सकता है। इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि साहित्य-समीक्षा का एक भी तत्त्व या सिद्धान्त सार्वदेशिक या सर्वकालीन नहीं हो सकता। भरत के रस और औचित्य-सिद्धान्त की सार्वदेशिकता अस्वीकृत नहीं की जा सकती। हाँ, औचित्य की सीमा और स्वरूप में देश और काल के अनुसार यत्किंचित् परिवर्तन कर लेने की आवश्यकता है। आधुनिक हिन्दी-कविता में युगांतरकारी परिवर्तन कर देने वाला छायावाद भी अपने साथ नूतन जीवन-दर्शन, समीक्षा की नवीन पद्धति और नवीन मान लेकर आया है। स्वच्छन्दता और सौष्ठव इस काल की कविता तथा समीक्षा दोनों की मूल प्रेरणा है।

जहाँ प्रत्येक युग के साथ नवीन साहित्यिक मान का जन्म होता है, वहाँ पर प्रत्येक युग के अधिकांश समीक्षक अपने युग के मान को सर्वकालीन ही मानते हैं। उनकी एक प्रकार से निश्चित धारणा-सी बन जाती है कि हमारा मान और समीक्षा-पद्धति पूर्ण और सार्वदेशिक है। इसके द्वारा प्रत्येक साहित्यिक कृति का निरपेक्ष और तटस्थ मूल्यांकन हो सकता है। सौष्ठववादी और प्रभावाभिव्यंजक (Impressionist) अपेक्षाकृत अधिक तटस्थ और निरपेक्ष आलोचक होते हैं। उनमें निश्चित मानों के आधार पर किसी कृति का मूल्यांकन करने और निर्णय देने की प्रवृत्ति का प्रायः अभाव होता है। कम-से-कम प्रत्यक्ष रूप में तो वे अपनी आलोचना में इसका आभास नहीं देते। फिर भी मूल्यांकन और निर्णय दोनों ही आलोचना के मूलभूत तत्त्व हैं और ये किसी-न-किसी रूप में प्रत्येक आलोचक में विद्यमान रहते हैं; वह चाहे इसे अस्वीकार

करने वाली प्रचुर सामग्री दिखाई पड़ी।"[1] पर इस पद्धति के अधिकांश आलोचक तो इतनी उदारता का भी परिचय नहीं दे सके, क्योंकि इनमें इस सूक्ष्म दृष्टि का अभाव था। वे तो छायावाद के साथ किसी प्रकार भी समझौता नहीं कर सके। इसलिए उन्होंने अपना अध्ययन और समीक्षा-क्षेत्र ही रीति-काल अथवा भक्ति-काल को बना लिया था। हिन्दी के पाठक से यह छिपा नहीं है कि "छायावाद" को अपने शैशव-काल में ही अनेक कठोर आघात सहने पड़े हैं। उस पर जन्म से ही चारों ओर से कशाघात प्रारम्भ हो गए थे। लेकिन उसी समय से उनके प्रबल समर्थक और रक्षक भी थे। वृद्धजनों में पं० श्यामबिहारी मिश्र ने इसका पक्ष समर्थन किया था और प्रत्येक युवक के हृदय में तो इस कविता ने घर ही कर लिया। इतिवृत्तात्मक कविता की एक-रसता, स्थूलता और रूढ़ नैतिकता से मानो वह ऊब गया। वह कुछ नवीन अन्तः स्फुरण और चेतना से सजीव काव्य के आस्वाद को पिपासु हो उठा। उसकी साहित्यिक धारणाएँ एकदम बदल गई। इसी व्यापक धारणा ने सृजन और समीक्षा दोनों क्षेत्रों में नवीन धारणाओं को जन्म दे दिया। इनको हम क्रमशः 'छायावाद' और 'सौष्ठववाद' कहते हैं। इसमें शुक्ल-समीक्षा के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी उसकी अपूर्णता की स्पष्ट घोषणा है।

इतिवृत्तात्मक कविता में वस्तु का ही प्राधान्य था। उसमें भाव की अपेक्षा बौद्धिकता और नैतिकता अधिक थी। भावों का बहुत ही स्थूल और सामान्य स्वरूप पाठक के हृदय में आह्लाद उत्पन्न करने में असमर्थ था। कवि को कहानी के प्रतिबन्ध के कारण आत्माभिव्यंजन का पूर्ण अवसर ही नहीं मिल पाता था। अलंकार-शास्त्र के नियमों तथा परम्परा-प्राप्त नैतिक धारणाओं ने काव्य और कवि को जकड़ दिया था। उसके व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के लिए स्थान ही नहीं रह गया था। छायावाद के रूप में नियमों की शृङ्खलाओं से जकड़ी हुई कवि की आत्मा विद्रोह कर उठी। रीति-काल से लेकर आधुनिक-इतिवृत्तात्मक काल तक उसे उन्मुक्त वातावरण में स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करने का अवसर ही नहीं मिला था। इसीलिए शताब्दियों से अवरुद्ध वैयक्तिकता का प्रवाह सब कूलों और किनारों को डुबाता हुआ आगे बढ़ा। इस प्रकार 'छायावाद' के रूप में सामूहिकता के विरुद्ध वैयक्तिकता रूढ़िवादिता के विरुद्ध स्वच्छन्दता स्थूल के प्रति सूक्ष्म, वस्तुवाद और यथार्थवाद के विरुद्ध कल्पना और भावुकता, इतिवृत्त के विरुद्ध आत्माभिव्यंजना की हृदयस्पर्शिता तथा

१. 'इतिहास', पृष्ठ ७३१।

अनुपयुक्तता भी घोषित करते हैं। अनुभूति की तीव्रता से भाषा में एक विशेष छटा का आ जाना प्रसाद जी अनिवार्य समझते हैं। "सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पद-योजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य-विन्यास आवश्यक था। हिन्दी में नवीन शब्दों की भंगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने लगी।"[1] शब्द-चमत्कार के जो प्रचलित काकु, व्यंग्य, श्लेष आदि प्रकार थे वे इस नवीन अनुभूति की तीव्रता को अभिव्यक्त करने में असफल हुए, इसलिए भाषा में नवीन भंगिमा आ गई। "इन अभिव्यक्तियों में छाया की जो स्निग्धता है, तरलता है, वह विचित्र है। अलंकार के भीतर आने पर भी ये उससे कुछ अधिक हैं।"[2] प्रसाद जी ने "छाया" शब्द का अर्थ विच्छिति, लावण्य आदि माना है। वे कहते हैं कि मोती के भीतर की कान्ति जैसे बाहर छलकती है, वैसे ही भावों का सौंदर्य भी भाषा में छलक जाता है। सुश्री महादेवी वर्मा ने भी इतिवृत्तात्मक काव्य में हृदय को स्पर्श करने की क्षमता का अभाव बतलाया है।"...सौंदर्यहीन इतिवृत्त उसे हिला भी नहीं सकता था। छायावाद यदि अपने सम्पूर्ण प्राण-वेग से प्रकृति और जीवन के सूक्ष्म सौंदर्य को असंख्य रूप-रंगों में अपनी भावना द्वारा उपस्थित न करता तो...।" महादेवी एक दूसरी जगह कहती हैं कि छायावाद ने बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से चलने वाले हृदय और प्रकृति में प्राण डाल दिए हैं। इसके द्वारा भी वे अनुभूति की नवीनता और गहराई का ही निर्वचन कर रही हैं। श्री गंगाप्रसाद पांडेय कहते हैं: "विश्व की किसी वस्तु में एक अज्ञात सप्राण छाया की झांकी पाना अथवा उसका आरोप करना ही छायावाद है। छायावादी कवि प्रकृति के पुजारी की भांति विश्व के कण-कण में अपने सर्वव्यापक प्राणों की छाया देखता है। मनुष्य को वाह्य सौंदर्य से हटाकर उसे प्रकृति के साथ अविच्छन्न सम्बन्ध स्थापित कराने का कार्य इसी काव्य-धारा ने किया है।"[3] श्री नन्ददुलारे वाजपेयी भी छायावाद को मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौंदर्य में आध्यात्मिकता की छाया का भान मानते हैं। "व्यष्टि सौंदर्य-बोध एक सार्वजनिक अनुभूति है। यह सहज ही हृदयस्पर्शी है, यह सक्रिय और स्वावलम्बिनी काव्य-चेतना की जन्मदात्री है। इसे मैं प्राकृतिक अध्यात्म कह सकता हूँ। समष्टि सौंदर्य-बोध उच्चतर अनुभूति है।"[4]

---

१. 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', पृष्ठ १२३।
२. वही, पृष्ठ १२४।
३. 'छायावाद', पृष्ठ २४।
४. 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी', पृष्ठ १६४।

तथा वर्णनात्मकता के विरुद्ध ध्वन्यात्मकता व्यापक प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति हुई है। इस प्रतिक्रिया के दर्शन केवल साहित्य में ही नहीं अपितु समग्र जीवन में ही होते है। रूढ़िवादिता और परम्परागत मर्यादाओं के विरुद्ध वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की गर्जना जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से सुनाई पड़ने लगी थी। जीवन और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीवन का व्यापक विद्रोह काव्य में अभिव्यक्त हुए बिना नहीं रह सकता था। इस विद्रोह का कारण केवल पाश्चात्य प्रभाव नहीं है। उसके अनुकरण पर ऐसा नहीं हुआ है। समय की गति के साथ जीवन-दर्शन में ही आमूल परिवर्तन हो गया था। विज्ञान और राजनीति के क्षेत्र की विश्व-व्यापी नवीन प्रगति ने जीवन की धारणाओं को बिलकुल बदल दिया। समाज और व्यक्ति का पुराना सम्बन्ध अधिक दिन तक नहीं चल सकता था। मनुष्य में धर्म, नीति और आदर्श के नवीन अर्थों की आकांक्षा जागृत हो गई। जीवन के मूल्यांकन के लिए नवीन मानों के ग्रहण की आवश्यकता तीव्र रूप में अनुभूत होने लगी थी। इससे यह स्पष्ट है कि 'छायावाद' कुछ कवियों का ही प्रयास-मात्र नहीं है अपितु उस काल के व्यापक जीवन की मूल प्रेरणा का स्वाभाविक और अवश्यम्भावी परिणाम है।

छायावाद को हिन्दी के आलोचकों और कवियों ने विभिन्न स्वरूपों में देखा। इसीलिए इस सम्बन्ध में उनकी धारणाएँ भी विभिन्न हैं। यहाँ पर हम केवल उन्हीं व्यक्तियों की धारणाओं का उपयोग करेंगे, जिन्होंने इसकी एक सीमा तक प्रामाणिक व्याख्या की है। इनमें से विशेषतः छायावादी आलोचक और कवि ही हैं। प्रसादजी कहते हैं: "कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी में बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया।......ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे।"[1] प्रसादजी छायावाद के जन्मदाता कहे जा सकते हैं। छायावाद के सम्बन्ध में उनका विवेचन इसलिए भी प्रामाणिक है कि उन्होंने इसके वास्तविक स्वरूप की व्याख्या करके इसके सम्बन्ध में फैली हुई भ्रान्तियों का निराकरण किया है। ऊपर के स्थल में उन्होंने कवि की स्वानुभूति के तीव्र आवेग की अभिव्यक्ति को ही छायावाद माना है। इससे वे "आत्माभिव्यंजन" को ही इसका प्रमुख तत्त्व मानते हैं। प्रसादजी को भाषा और भाव का अभिन्न सम्बन्ध मान्य है। इसीलिए वे नवीन प्रकार की अनुभूतियों के लिए शब्दों की

अनुपयुक्तता भी घोषित करते हैं। अनुभूति की तीव्रता से भाषा में एक विशेष छटा का आ जाना प्रसाद जी अनिवार्य समझते हैं। "सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पद-योजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य-विन्यास आवश्यक था। हिन्दी में नवीन शब्दों की भंगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने लगी।"[1] शब्द-चमत्कार के जो प्रचलित काकु, व्यंग्य, श्लेष आदि प्रकार थे वे इस नवीन अनुभूति की तीव्रता को अभिव्यक्त करने में असफल हुए, इसलिए भाषा में नवीन भंगिमा आ गई। "इन अभिव्यक्तियों में छाया की जो स्निग्धता है, तरलता है, वह विचित्र है। अलंकार के भीतर आने पर भी ये उससे कुछ अधिक हैं।"[2] प्रसाद जी ने "छाया" शब्द का अर्थ विच्छिति, लावण्य आदि माना है। वे कहते हैं कि मोती के भीतर की कान्ति जैसे बाहर छलकती है, वैसे ही भावों का सौंदर्य भी भाषा में छलक जाता है। सुश्री महादेवी वर्मा ने भी इतिवृत्तात्मक काव्य में हृदय को स्पर्श करने की क्षमता का अभाव बतलाया है।"···सौंदर्यहीन इति-वृत्त उसे हिला भी नहीं सकता था। छायावाद यदि अपने सम्पूर्ण प्राण-वेग से प्रकृति और जीवन के सूक्ष्म सौंदर्य को असंख्य रूप-रंगों में अपनी भावना द्वारा उपस्थित न करता तो···।" महादेवी एक दूसरी जगह कहती हैं कि छायावाद ने बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से चलने वाले हृदय और प्रकृति में प्राण डाल दिए हैं। इसके द्वारा भी वे अनुभूति की नवीनता और गहराई का ही निर्वचन कर रही हैं। श्री गंगाप्रसाद पांडेय कहते हैं: "विश्व की किसी वस्तु में एक अज्ञात सप्राण छाया की झांकी पाना अथवा उसका आरोप करना ही छायावाद है। छायावादी कवि प्रकृति के पुजारी की भाँति विश्व के कण-कण में अपने सर्व-व्यापक प्राणों की छाया देखता है। मनुष्य को बाह्य सौंदर्य से हटाकर उसे प्रकृति के साथ अविच्छन्न सम्बन्ध स्थापित कराने का कार्य इसी काव्य-धारा ने किया है।"[3] श्री नन्ददुलारे वाजपेयी भी छायावाद को मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौंदर्य में आध्यात्मिकता की छाया का भान मानते हैं। "व्यष्टि सौंदर्य-बोध एक सार्वजनिक अनुभूति है। यह सहज ही हृदयस्पर्शी है, यह सक्रिय और स्वावलम्बिनी काव्य-चेतना की जन्मदात्री है। इसे मैं प्राकृतिक अध्यात्म कह सकता हूँ। समष्टि सौंदर्य-बोध उच्चतर अनुभूति है।"[4]

---

१. 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', पृष्ठ १२३।
२. वही, पृष्ठ १२४।
३. 'छायावाद', पृष्ठ २४।
४. 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी', पृष्ठ १६४।

ऊपर प्रमुख छायावादी आलोचकों और कवियों में से कुछ के छायावाद-सम्बन्धी विचार उद्धृत किये गए हैं। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि इन्होंने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से इसे देखा है, इसलिए उनकी उपपत्तियाँ भी एक-दूसरे से कुछ भिन्न हैं। शुक्लजी की धारणा तो इन सबसे ही भिन्न है।[1] वे तो इसे प्रतीकवाद मानते हैं। वे इसमें भावानुभूति के स्थान पर कल्पना की अभिव्यंजना-प्रणाली या शैली की विचित्रता की प्रधानता मान रहे हैं। लेकिन छायावाद के समर्थक शुक्लजी के इस विचार से सहमत नहीं हैं। ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है कि वे शैली तथा भाषा की भंगिमा और वैचित्र्य के साथ अनुभूति की सूक्ष्मता, तीव्रता और हृदय-स्पर्शिता को महत्त्व देते हैं। भाव और अभिव्यक्ति का सामरस्य उन्हें मान्य है। कुछ लोगों ने प्रकृति की सप्राणता तथा कुछ ने व्यक्त सौन्दर्य की आध्यात्मिकता और सार्वजनिकता को छायावाद का अनिवार्य तत्त्व माना है। कुछ की दृष्टि से कवि का कण-कण में अपने ही प्राणों की व्यापक छाया को देखना छायावाद है। ऐसे कुछ सूक्ष्म मतभेद वर्ण्य विषय अथवा भावानुभूति और व्यंजना के विशेष प्रकारों को ग्रहण करने से हुए हैं। पर फिर भी इन उद्धरणों से छायावाद के सर्वमान्य स्वरूप का विवेचन भी हो जाता है। सबसे प्रथम तत्त्व है हृदयस्पर्शितापूर्ण स्वानुभूति की तीव्रता। छायावाद का प्रत्येक कवि और आलोचक इसे स्वीकार करता है। इतिवृत्त और वर्णन का स्थान आन्तरिक भावों के स्पर्शजन्य पुलक तथा सूक्ष्मता ने ग्रहण कर लिया। आत्माभिव्यंजन की प्रधानता ने कवि-प्रतिभा के स्वातन्त्र्य की घोषणा कर दी। विषय, शैली और भाषा किसी भी क्षेत्र में कवि पर परम्परा और रूढ़ि का बन्धन नहीं रह गया। उसे मानव और प्रकृति का विशाल उन्मुक्त क्षेत्र विचरण करने तथा उससे भाव-संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ ग्रहण करने को मिल गया। छायावादी कवियों के भाव वैयक्तिक होते हुए भी प्रायः सार्वजनीन हैं। रीतिकालीन भाव-व्यंजना में पाठक को दर्शक का आनन्द आता है, अपनी ही अनुभूति की तल्लीनता का अनुभव नहीं होता। पर छायावाद में प्रकृति के प्रति जो भावात्मक संवेदना कवि की होती है, वही पाठक की भी। पहले कवि नायक और नायिका के सीमित स्वरूपों को स्वीकार करके उनके हृदयगत भावों का चित्रण करता था और अब कवि ने मानव के इन कृत्रिम भेदों से मुक्ति प्राप्त कर ली है। वह विशुद्ध मानव के रूप में अनुभव करता है और उसीको स्वच्छन्दतापूर्वक अभिव्यक्त करता है।

१. [illegible], पृ० [illegible]।

इसीलिए वाजपेयी जी छायावाद की असाधारण कल्पना और भावुकतामय भावानुभूति को भी सार्वजनीन मानते हैं। कवि के अन्तर-स्पर्श से पुलकित होने के कारण कविता के बाह्य पक्ष में भी पर्याप्त परिवर्तन हुए। अभिव्यक्ति में एक वैचित्र्य, विच्छित्ति एवं भंगिमा आ गई। भाषा में भी अभिधा के स्थान पर लक्षणा और व्यंजना का अधिक प्रयोग प्रारम्भ हो गया। छायावाद के विकास में क्रोचे के अभिव्यंजनावाद से भी प्रेरणा प्राप्त हुई है। क्रोचे अभिव्यक्ति को ही काव्य का सर्वस्व मानते हैं। वे उसके साथ सुन्दर-असुन्दर का विशेषण भी नहीं लगाना चाहते। उनकी दृष्टि से अभिव्यक्ति वही है जो सुन्दर है। इसलिए कोई भी विशेषण व्यर्थ और अनावश्यक है। अभिव्यंजनावाद का इतना प्रभाव तो प्रत्येक छायावादी कवि पर पड़ा है कि उसने भावों के समान ही भावाभिव्यंजन की पद्धति को भी समान महत्त्व प्रदान किया है। इस प्रकार भाव और अभिव्यंजन का पूर्ण सामरस्य भी छायावाद की प्रधान विशेषता है। प्रसाद जी ने छायावाद की जिन विशेषताओं का उल्लेख किया है उनमें अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों का विश्लेषण हुआ है। इन तत्वों में दोनों का सामंजस्य भी व्यंजित है। "ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ हैं।"[1] इन विशेषताओं में भाव और कला दोनों का निरूपण है, लेकिन दोनों को पृथक् करके देखने की प्रवृत्ति नहीं है। छायावादी कवि सौंदर्य में बाह्य और आभ्यन्तर, वस्तु और उसकी अभिव्यक्ति दोनों का समावेश करता है। वह सौन्दर्य से रमणीयता का ही अर्थ ग्रहण करता है। "स्वानुभूति की विवृत्ति" में भी काव्य के दोनों पक्षों का सामंजस्य स्पष्ट है। छायावादी भाव और अभिव्यक्ति का अधिक सम्बन्ध मानता है। अनुभूति अपने-आप ही विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति का स्वरूप ग्रहण कर लेती है।

जिन प्रेरणाओं का परिणाम छायावाद था, उनके कारण यह धारा एकदम नवीन प्रकार के काव्य के साथ साहित्य-क्षेत्र में प्रविष्ट हुई थी। इसका वर्ण्य-विषय, भाषा, शैली, सन्देश, अन्तस्तल में प्रवाहित दार्शनिक धारा आदि से भी कुछ नया था। इसकी नवीनता और विलक्षणता इसके कर्णधारों की आँखों में भी चकाचौंध उत्पन्न करने वाली थी। इसके शैशव में वे भी यह निश्चय नहीं कर पाए थे कि यह क्या स्वरूप धारण करेगी। यह प्रवाह किस दिशा

---

१. 'काव्य और कला', पृष्ठ १२८।

और धारा में बहेगा, इसका उन्हें भी ठीक-ठीक पता नहीं था। पन्तजी और प्रसादजी इस परिवर्तन के प्रति हमेशा सजग रहे हैं। पन्तजी अपने 'पल्लव' की भूमिका में अपनी सजगता और इसकी अनिश्चितता स्पष्ट कर देते हैं: "हिंदी-कविता की 'नीहारिका' सम्प्रति अपने प्रेमियों के तरुण उत्साह के तीव्र ताप से प्रगति पाकर साहित्याकाश में अत्यन्त वेग से घूम रही है, समय-समय पर जो छोटे-मोटे तारक-पिंड उससे टूट पड़ते हैं, वे अभी ऐसी शक्ति तथा प्रकार संग्रहीत नहीं कर पाए कि अपनी ही ज्योति में अपने लिए नियमित पन्थ खोज सकें, जिससे हमारे ज्योतिषी उनकी गति-विधि पर निश्चित सिद्धान्त निर्धारित कर लें, ऐसी दशा में कहा नहीं जा सकता कि यह अस्त-व्यस्त केन्द्र-परिधि-हीन द्रवित वाष्प-पिंड निकट भविष्य में किस स्वरूप में घनीभूत होगा······।" ऐसी नवीन धारा के कवियों तथा कला-कृतियों का पुराने परम्परागत मानदण्ड से मूल्यांकन करना संभव नहीं था। पुराने आलोचक अपने निश्चित मानदंड के सर्वथा प्रतिकूल साहित्य-रचना देखकर उसका स्वागत नहीं कर सके। पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ने 'कवि किंकर' के नाम से 'सरस्वती' में इस धारा की कटु आलोचना की। शुक्ल जी-जैसे आलोचकों ने कुछ उदारता का परिचय देकर इस धारा के कला-पक्ष की प्रौढ़ता को स्वीकार भी किया। पर प्राचीन समीक्षा इसका उचित रूप से मूल्यांकन नहीं कर सकी। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पं० इलाचन्द्र जोशी, प्रसादजी, पन्तजी आदि प्रारम्भ से ही इसका पक्ष समर्थन कर रहे थे। इसलिए उनको इसकी समीक्षा के लिए मापदण्ड अपनाना पड़ा। छायावाद के तात्त्विक विश्लेषण तथा साहित्यिक विश्लेषण तथा साहित्य की धारणाओं के इतने विशद निरूपण का एक-मात्र तात्पर्य नवीन काव्य-धारा की नवीन समीक्षा-पद्धति का व्यापक प्रभाव-मात्र दिखाना है। इस नवीन समीक्षा के मानदंड के तत्वोंका निर्माण छायावाद की प्रमुख विशेषताओं से ही हुआ। स्वच्छन्दता और सौष्ठव इस आलोचना के प्रधान तत्त्व हैं। इनकी प्रेरणा छायावादी रचनाओं से ही मिली। कला-कृति की अपेक्षा कवि के व्यक्तित्व को महत्त्व देने के कारण छायावाद में आत्माभिव्यंजन की प्रधानता है। कवि के व्यक्तित्व के साथ ही उसकी परिस्थितियों का निरूपण भी आवश्यक माना गया। कला-कृति में अलंकार आदि शास्त्रीय तत्त्वों की अपेक्षा पाठक के हृदय को स्पर्श करने वाले तत्त्वों का उद्घाटन अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाने लगा। आलोचक रूढ़ और परम्परा-मुक्त शैली में रस, अलंकार, आदि के उदाहरण न खोजकर, (क्योंकि ये तो छायावाद में प्रायः विरल हो चुके थे) सूक्ष्म सौन्दर्य और सौष्ठव देखने का प्रयत्न करने लगा।

उस सौष्ठव से आलोचक भी कवि की तरह आह्लादित ही अधिक होना चाहता है, परम्परा-मुक्त नीति का उपदेश नहीं ग्रहण करता। छायावादी कवि का दृष्टिकोण उपयोगितावादी नहीं है। उसको सृजनकी प्रेरणा आनन्द से ही प्राप्त होती है और वही उसका साध्य है। इसलिए आलोचक भी उपादेयता के मानदण्ड पर साहित्य का मूल्यांकन नहीं कर पाता है। उसको भी आह्लाद को ही प्रमुख मानना पड़ता है। आलोचक के व्यक्तित्व में वही सफल आलोचक माना गया जो कवि की अनुभूति के साथ तादात्म्य स्थापित कर सका। विश्लेषण की क्षमता के साथ ही सौन्दर्य से आह्लादित होने और पाठक को आह्लादित करने की योग्यता को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा।

आगे सौष्ठववादी समीक्षा के तत्त्वों का कुछ विशद विश्लेषण करेंगे। यहां पर इन तत्त्वों का संक्षेप में निर्देश करने का तात्पर्य केवल यह बताना है कि यह आलोचना-पद्धति छायावादी कविता का सहज परिणाम है। इसके प्रत्येक तत्त्व के स्वरूप का विकास इसी धारा की विशेषताओं से हुआ है। हमारा यह अभिप्राय भी नहीं है कि इस पद्धति के विकास में पाश्चात्य प्रभाव का सहयोग नहीं है। अंग्रेजी की Romantic Poetry तथा Romantic Criticism. के अध्ययन का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। हिन्दी का समीक्षक जब उन धाराओं से परिचित हुआ तो उसे अपना साहित्य दरिद्र तथा अपनी समीक्षा-पद्धति संकुचित प्रतीत हुई। इस प्रेरणा ने भी इस पद्धति के विकास में सहायता दी है, पर यह केवल वहां का अनुकरण है ऐसा नहीं कहा जा सकता। जैसे शुक्ल-पद्धति का आधार भारतीय तत्व है, और उसका विकास जैसे उसके सामंजस्य में हुआ है, वैसे ही इस पद्धति की आधार-भूमि भारतीय है और वही इसके विकास का मार्ग निर्दिष्ट करती रही है। दोनों पद्धतियों में एक परम्परा को ग्रहण करते हुए भी जो वैषम्य है, उसका कारण केवल दृष्टिकोण का अन्तर है। छायावादी ने काव्य के प्रयोजन आदि को शुक्ल-पद्धति के स्थूल नैतिक दृष्टिकोण से ग्रहण नहीं किया, अपितु रस, आह्लाद और रमणीयता को व्यापक और स्वच्छन्द रूप में अपनाया है। यहां भी केवल प्रेरणा ही बाहर की है, पूरी पद्धति नहीं। हां पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों का अनुशीलन करके उन्हें आत्मसात् कर लेने की प्रवृत्ति अवश्य है। कभी-कभी आलोचकों ने पाश्चात्य-सिद्धान्तों को अपने साहित्य और समीक्षा की प्रकृति को बिना समझे भी अपनाया है। वह आरोप-सा प्रतीत होता है और भारतीय साहित्य की मूल प्रकृति से मेल नहीं खाता। अंग्रेजी से लेकर हिन्दी-कवियों के सम्बन्ध में वाक्यावली के प्रयोग वाली आलो-

चना इसी विवेकहीन अनुकरण का परिणाम है।

इस पद्धति का अपना पृथक् साहित्य-शास्त्र अथवा साहित्य-दर्शन है। उसमें काव्य के स्वरूप, प्रयोजन, वर्ण्य विषय आदि समीक्षा के सभी अंगों पर मौलिक विवेचन है। इसमें कवि और जगत् के पारस्परिक सम्बन्ध की उपज्ञ धारणा है और उसीके आधार पर इस पद्धति का मानदंड और प्रयोगात्मक आलोचना का भवन अधिष्ठित है। सौष्ठववादी साहित्य-दर्शन का आधार शास्त्रों की अपेक्षा काव्य-जगत् अधिक है। कवि और आलोचक की अपनी वैयक्तिक धारणाएँ, जो उन्हें युग से प्राप्त होती है तथा जो शास्त्र का सूक्ष्म आधार लेकर बढ़ती हैं, साहित्य-दर्शन में विकसित हुई है। यही कारण है कि काव्य के स्वरूप, उद्देश्य तथा अन्य तत्वों पर नवीन ढंग से विचार होने लगा। कवि और आलोचकों ने इस विश्लेषण में भी निगमनात्मक (Inductive) प्रतिक्रिया का ही आश्रय लिया है। कविता के सृजन और अनुशीलन के समय कवि और पाठक के मन की जो अवस्था रहती है, उसी अनुभूति का विश्लेषण करके काव्य-स्वरूप का निर्धारण हुआ है। इन काव्य-लक्षणों में कवि और पाठक की अनुभूति का सजीव चित्र है, उसमें स्वरूप का आलंकारिक की दृष्टि से तात्त्विक विवेचन नहीं। ये प्राचीन परिभाषाओं की तरह तर्क-सम्मत और शास्त्रीय नहीं है। इनकी शैली भी भावात्मक है। ये परिभाषाएँ शास्त्रीय कम और वैयक्तिक तथा प्रभावाभिव्यंजक अधिक हैं। इनमें से अधिकांश परिभाषाएँ कवित्वमय है। "कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृदय-कम्पन··· ·· कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है, हमारे जीवन का पूर्ण रूप। हमारे अन्तरतम प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही संगीतमय है, उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन ही बहने लगता है, उसमें एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्वरैक्य तथा संयम आ जाता है।"[१] इन्हींसे कुछ मिलते-जुलते विचार वर्ड्सवर्थ ने व्यक्त किये हैं: ······That poetry is spontaneous overflow of powerful feelings: it takes its origin from emotions recollected in tranquility.[२] प्रसाद जी कहते है, "काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है।"[3] काव्य-स्वरूप के सम्बन्ध में कतिपय कवि-आलोचकों के उद्धृत मतों से उनका अभिप्राय स्पष्ट है। वे कविता के बहिरंग का वर्णन नहीं करते, न वे उसका शास्त्रीय और तात्त्विक विश्लेषण करते हैं, अपितु वे उसके आभ्यन्तर का

१. पन्त जी : 'पल्लव' भूमिका, पृष्ठ १२।
२. Wordsworth--preface to lyrical ballads. P. 25
३. प्रसाद जी : 'काव्य-कला और अन्य निबन्ध', पृष्ठ ३८।

अनुभूतिमय चित्र उपस्थित करते हैं। इन परिभाषाओं में कवि के व्यक्तित्व तथा उनकी अनुभूति का महत्त्व ही स्पष्ट है। कविता कवि की साधना है। कवि अपने आभ्यन्तर की ही प्रेरणा से अपने भावों, मनोवेगों, भावनाओं, विचारों और कल्पनाओं को अभिव्यक्त करता है। यह अभिव्यक्ति स्वाभाविक और सहज होती है। उसमें प्रयास और कृत्रिमता के लिए स्थान नहीं। आत्म-प्रकाशन की सहज आकांक्षा से प्रेरित होकर कवि जो कुछ अभिव्यक्त करता है वह अनुभूति अपने स्वाभाविक स्वरूप में अभिव्यक्त हो जाती है। यह कवि के हृदय की आनन्द-सृष्टि है, उसके हृदय का सहज उन्मेष है। इसीलिए इस सम्प्रदाय के विचारकों ने कवि-कर्म की शिक्षा का कोई महत्त्व नहीं माना है। छन्दों का कभी कोई बन्धन नहीं रहा। उग्र और कोमल भाव एक ही प्रकार की भाषा और छन्द का आश्रय लेकर नहीं व्यक्त हो सकते। अनुभूति के अनुसार ही माध्यम में भी परिवर्तन हो जाता है। "कविता प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कम्पन" इस वाक्य से कविवर पन्त छन्द और भाव का सहज सम्बन्ध मानते हैं, छन्द को बन्धन-स्वरूप नहीं। पन्तजी कविता में शब्द और अर्थ का पृथक् अस्तित्व नहीं स्वीकार करते। उनका कहना है कि ये भाव की अभिव्यक्ति में डूब जाते हैं। "भगवान् की आनन्द-सृष्टि अन्दर से स्वयं उत्कृष्ट हो रही है। मानव-हृदय की आनन्द-सृष्टि उसीकी प्रतिध्वनि है। भगवान् की सृष्टि के आनन्द-गीत की झंकार हमारी हृदय-वीणा को अहरह स्पन्दित करती है। इसी मानस-संगीत का भगवान् की सृष्टि के प्रतिघात में हमारे अन्दर सृष्टि के आवेग का विकास साहित्य है।"[1] "शब्द और अर्थ रस की धारा में तल्लीन होकर अपना पृथक् अस्तित्व ही खो बैठते हैं।"[2] जहाँ पर शब्द और अर्थ अर्थात् कवित्व का बहिरंग उसके आभ्यन्तर से पृथक् अलग झूलता हुआ प्रतीत होता है वहाँ पर काव्य कृत्रिम प्रयास-मात्र हो जाता है। ऐसे स्थलों के भावों में प्रभावोत्पादकता भी नहीं रहती। इसीलिए छायावादी कवियों को भाव और भाषा, अनुभूति और अभिव्यक्ति का अभिन्न सम्बन्ध मान्य है। भाव विशेष पद्धति को अपने-आप ही अपना लेते हैं। "जिस प्रकार किसी प्राकृतिक दृश्य में उसके रंग-बिरंगे पुष्पों लाल, हरे, पीले, छोटे-बड़े तृण-गुल्म-लताओं, ऊँची-नीची सघन विरल वृक्षावलियों, झाड़ियों, छाया-ज्योति की रेखाओं तथा पशु-पक्षियों की प्रचुर ध्वनियों का सौन्दर्य रहस्य उनके

---

१. 'साहित्य', रवीन्द्र पृष्ठ ७।

२. 'पल्लव' की भूमिका, पृष्ठ २०।

एकान्त सम्मिश्रण पर ही निर्भर रहता है और उसमें से किसी-किसी एक को अपनी मैत्री अथवा सम्पूर्णता से अलग कर देने पर वह अपना इन्द्र-जाल खो बैठता है, उसी प्रकार काव्य के शब्द भी, परस्पर अन्योन्याश्रित होने के कारण, एक-दूसरे के बल से सशक्त रहते, अपनी संकीर्णता की झिल्ली तोड़कर तितली की तरह भाव तथा राग के रंगीन पंखों में उड़ने लगते, और अपनी डाल से पृथक् होते ही, शिशिर की बूँद की तरह अपना अमूल्य मोती गँवा बैठते हैं।"[1] इसीसे भाषा में चित्रसमता और संगीत का आश्रय लेना पड़ता है। सौंदर्य में अनिर्वचनीयता होती है, उसको अभिव्यक्त करने के लिए भाषा को साधनों का उपयोग करना पड़ता है। "जिसे वाणी द्वारा नहीं कहा जा सकता उसे चित्र द्वारा कहना पड़ता है। साहित्य में इस प्रकार जो चित्र-रचना की जा रही है उसकी कोई सीमा नहीं। उपमा, व्यतिरेक और रूपक आदि के द्वारा भावों को प्रत्यक्ष रूप देने का प्रयत्न किया जाता है।"[2] भाषा की यह शक्ति सीमातीत हो जाती है। "जब अपरूप को रूप प्रदान किया जाता है, भाषा में अनिर्वचनीयता की रक्षा करनी पड़ती है। जिस प्रकार स्त्रियों में सुन्दरता और लज्जा होती है, साहित्य में अनिर्वचनीयता भी वैसी ही होती है। वह अनुकरणातीत है, वह अलंकारों का अतिक्रमण कर देती है, वह अलंकारों द्वारा आच्छन्न नहीं होती।"[3]

काव्य के हेतुओं—शक्ति, निपुणता और अभ्यास में से ये आलोचक और कवि केवल शक्ति को ही मानते प्रतीत होते हैं। कवि जन्म लेता है, परिस्थितियों और प्रयत्न द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता। प्रतिभा-सम्पन्न कवि भी कुछ विशेष आवेगमय क्षणों में ही कविता कर सकता है। काव्य-सृजन के लिए भावावेश, संवेदना और अनुभूति की तीव्रता परमावश्यक है। भावावेश की अवस्था में काव्य का सृजन नहीं होता, परन्तु आवेश के शिथिल और शान्त हो जाने पर स्मृतिजन्य भाव ही काव्य के उपकरण बनते हैं। वर्ड्सवर्थ कहते हैं: It takes its origin from emotions recollected in tranpuility." या साहित्य-दर्शन काव्य के हेतु पर विचार करता हुआ काव्य के वर्ण्य विषय को भी स्पष्ट कर देता है। बाह्य जगत् के प्रति कवि-हृदय की भावात्मक प्रतिक्रिया ही काव्य का विषय है। प्रसाद जी काव्य के

---

१. 'पल्लव' भूमिका, पृष्ठ २०।
२. 'साहित्य', रवीन्द्र पृष्ठ ५।
३. वही, रवीन्द्र पृष्ठ ४-५।

भावों का निरूपण करते हुए कहते हैं : "ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे।" ये अनुभूति के स्पर्श से पुलकित भाव बाह्य आकार में अनिवार्य रूप-वैचित्र्य उत्पन्न करने के कारण हैं। वे स्वयं तो असाधारण और विलक्षण होते ही हैं। इनमें जो स्निग्धता, मार्दव, अनुभूति की मार्मिकता, हृदयस्पर्शिता और दिव्यता रहती है वह अभिव्यक्ति को भी लाक्षणिक कर देती है। इन भावों में एक अनन्तता और गूढ़ता रही है। कवि अपनी कल्पना और भावुकता से इनके स्वरूप की व्यंजना कर पाता है और पाठक भी इनकी असीमता से प्रेरित होकर कल्पना-प्रधान हो जाता है। इसी कल्पना के आश्रय से वह भी (पाठक भी) बाह्य जगत् की क्रूर-कठोर वास्तविकताओं से ऊपर उठकर कवि की-सी अद्भुत स्फूर्ति और चेतना का अनुभव करन लगता है। भावों की तल्लीनता सौन्दर्य का कारण बन जाती है। सौष्ठववादी रसात्मकता को ही काव्य की आत्मा मानता है। प्रसाद जी इन भावों की संगीतमयता, आत्म-विस्मरण-क्षमता, आह्लादकता और शान्तिमयता की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करते हैं। ये सभी तत्त्व अन्योन्याश्रित हैं और वह आनन्द उत्तेजक न होकर शान्ति प्रदान करता है।

काव्य-सृजन द्वारा आत्माभिव्यंजन के आनन्द की पूर्ति के अतिरिक्त कवि का अन्य कोई उद्देश्य नहीं होता। कवि स्वान्तः सुखाय कविता करता है। इस विचार-धारा के अनुसार काव्य का एक-मात्र उद्देश्य आनन्द है। सौन्दर्य की सृष्टि और अनुभूति द्वारा आनन्द-प्राप्ति ही काव्य के सृजन और अनुशीलन की प्रेरणा और प्रयोजन है। कवि के स्वान्तः सुखाय में ही सर्वसाधारण का आनन्द भी अन्तर्निहित है। कवीन्द्र रवीन्द्र अपने लिए आत्म-प्रकाशन के सिद्धान्त को असमीचीन मानते हैं। उनका मत है कि भाव में स्वभावतः ही अपने-आपको अनेक हृदयों में अनुभूत कराने की प्रवृत्ति है। "एक-मात्र अपने ही लिए भावों का प्रकाशन—यह भी एक ऐसी निरर्थक बात है। रचना स्वयं रचयिता के लिए नहीं है—यही मानना पड़ेगा और यही मानकर ही चलना पड़ेगा।...हमारे भावों की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वे अपने-आपको अनेक हृदयों में अनुभव कराना चाहते हैं। प्रकृति में देखिए, प्राणि-मात्र व्याप्त होने के लिए स्थिरतापूर्वक रहने के लिए प्रयत्नशील है।"[1] परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि लेखक की रचना का प्रधान लक्ष्य पाठक-समाज होता है। "...क्या इस कारण लेखक की रचना कृत्रिम हो जाती है ? माता का दूध सन्तान के लिए ही होता है और क्या इसीलिए वह स्वतः स्फूर्त नहीं होता।[2]

१. 'साहित्य', रवीन्द्र पृष्ठ ७। २. वही, पृष्ठ ८।

कवि सर्व-साधारण की भाव-दशा को अपनी बना लेता है। उसके साथ अपने हृदय का तादात्म्य स्थापित करके अपने स्व की संकुचित परिधि को व्याप्त कर लेता है।[1] कविता के रूप में अपने भावों को व्यक्त करते समय उन्हें पुनः साधारणीकृत रूप प्रदान कर देता है। वे कवि के होते हुए भी सर्व-साधारण के होते हैं। इसीलिए उनमें कवि का स्वान्तः सुखाय और पाठक का आनन्द दोनों रहते हैं। कवीन्द्र इसे ही साहित्य का कार्य मानते हैं। "भाव को अपना बनाकर सर्वसाधारण का बना देना यही साहित्य है, यही ललित कला है...इसीलिए सर्व साधारण की वस्तु को विशेष रूप से अपनी बनाकर उसी प्रकार उसको सर्व-साधारण की बना देना साहित्य का कार्य है।"[2] यदि हम अपने हृदय की अनुभूति को सर्व-साधारण की अनुभूति बना सकें तो हमें एक गौरव, शांति और आनन्द का अनुभव होता है। मैं जिससे विचलित हो उठता हूँ तुम उसके प्रति सर्वथा उदासीन रहते हो। यह मुझे अच्छा नहीं लगता।[3] स्वच्छन्दतावादी कवियों के वर्ण्य-विषय-सम्बन्धी आदर्श और आत्माभिव्यंजन के सिद्धान्त की यह सुन्दर और समीचीन व्याख्या है। नितान्त वैयक्तिक विचार और भाव साहित्य की वस्तु नहीं हो सकते। वैयक्तिकता को अनुचित अर्थ में ग्रहण करने वाले कवियों ने पर्याप्त प्रलाप भी किये हैं। पर उनका कोई साहित्यिक मूल्य नहीं है। इन उद्धरणों से सौष्ठववादी समीक्षक की धारणाएँ अत्यन्त स्पष्ट हैं। वह काव्य को व्यक्तित्व की वह अभिव्यक्ति मानता है जो सर्व-साधारण को अपने ही व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति प्रतीत हो।

स्वच्छन्दतावादी कवि भौतिक उपयोगितावाद अथवा नैतिक उपदेश की दृष्टि से सृजन नहीं करता। उसका उद्देश्य सौन्दर्य-सृष्टि है और उसका सीधा सम्बन्ध नीति से नहीं अपितु आह्लाद से है। "कला में बाह्य जीवन-सम्बन्धी आरोप, चाहे वह धार्मिक हो, चाहे नैतिक, अनुचित है।"[4] यह ऊपर के विवेचन से भी अत्यन्त स्पष्ट है। प्रायः सभी कवियों और आलोचकों ने इसका प्रतिपादन किया है।

"The post writes under one restricition only, namely the

1. To trace poetry to the deepest and the most universal spring of human nature,. (English Litray criticism by vaughan)
२. 'साहित्य', रवीन्द्र, पृष्ठ १५।
३. वही, पृष्ठ १८।
४. 'छायावाद और रहस्यवाद', गंगाप्रसाद पाण्डेय, पृष्ठ ७।

necessity of giving immediate pleasure to human-being possessed of that information which may be expected from him, not as a lawyer, a physician, a mariner, an astronomer or a natural philosopher, but as a man."[1]

"The end of poetry is to produce excitement in co-existence with an overbalance of pleasure.[2]

"In coleridge's view poetry is the anti-thesis of science having for its immediate object-pleasure, not truth.[3]

प्रसादजी भी काव्य का यही ध्येय मानते रहे हैं। सौन्दर्य-सृष्टि के अतिरिक्त उन्होंने काव्य का कोई उद्देश्य नहीं माना है। साहित्य सौन्दर्य को पूर्ण रूप से विकसित करता है और आनन्दमय हृदय उसीका अनुशीलन करता है।[४] सौन्दर्य और आनन्द को सत्य तथा शिवत्व से पूर्णतः विच्छिन्न करके देखने की प्रवृत्ति भारतीय विचार-धारा के अनुकूल नहीं है। भारतीय चिन्तन में सर्वत्र सामंजस्य ही है। साहित्य के क्षेत्र में भी सत्य, सौन्दर्य, और शिवत्व को पृथक् और परस्पर विरोधी नहीं माना जाता। इन तीनों का भी सामंजस्य ही मान्य हुआ है। महादेवी जी ने काव्य और कला का आविष्कार सत्य की सहज अभिव्यक्ति के लिए ही माना है।[५] पन्तजी इन तीनों के सामंजस्य की स्पष्ट घोषणा करते हुए कहते हैं : "सत्य शिव में स्वयं निहित है। जिस प्रकार फूल में रूप-रंग है, फल में जीवनोपयोगी रस और फूल की परिणति फल में सत्य के नियमों द्वारा ही होती है, उसी प्रकार सुन्दरम् की परिणति शिव में सत्य द्वारा ही होती है।"[६] महादेवी जी काव्य की उत्कृष्टता का कारण जीवन की विविधता में सामंजस्य स्थापना करना मानती हैं। काव्य इस समन्वय द्वारा असीम सत्य की झाँकी देता है।[७] केवल प्रयोजन और उपयोगितावाद का दृष्टिकोण बहुत ही स्थूल है। सौन्दर्य-बोध हमें प्रयोजन के संकुचित वातावरण से ऊपर उठाता है। यही मानव को सुसंस्कृत और सभ्य बनाता है। प्रसादजी कहते हैं :"संस्कृति सौन्दर्य-बोध के विकसित होने की मौलिक

1. Wordsworth, preface to lyrical ballacs. P. 16
2. seia P. 23
3. Introduction to 'Study of literatureby Hudson' P. 64
४. 'इन्दु', कला १, किरण २, सन् १९०९'
५. 'दीपशिखा' की भूमिका, पृष्ठ २।
६. 'आधुनिक कवि', पन्त, पृष्ठ ६।
७. वही, भूमिका पृष्ठ ४।

चेष्टा है।"[1] "सौन्दर्य हमारी क्षुधा-तृप्ति में एक उच्च स्वर को लगाता है। यही कारण है कि एक दिन जो असंयत जंगली थे आज वे मनुष्य हो गए हैं। उसने (सौन्दर्य) संसार के साथ एक-मात्र प्रयोजन का सम्बन्ध न रखकर आनन्द का सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। प्रयोजन के सम्बन्ध में हमारी हीनता है, दासत्व है। आनन्द के सम्बन्ध में ही हमारी मुक्ति है।"[2] कवीन्द्र अपने इसी 'सौन्दर्य-बोध' नाम के निबन्ध में सौन्दर्य का संयम से भी सम्बन्ध स्थापित करते हैं। असंयमशील सौन्दर्य-भावना विलासिता में परिणत हो जाती है। उसमें सौन्दर्य-बोध की उच्चता और पवित्रता नहीं रहती। अशान्त और असंयमी चित्त, उन्नतता और चिरन्तन परिवर्तनशीलता में ही सौन्दर्य देखता है। एक परिवर्तन की भँवर में पड़कर घूमने में ही उसे आनन्द आता है। पर यह आनन्द चिरस्थायी नहीं है। शराब के नशे की तरह उतर जाने पर आनन्द का लेश-मात्र भी नहीं रहता। यह न तो वास्तविक सौन्दर्य-बोध है और न तज्जनित आनन्द। यूरोप के साहित्य की यही अवस्था है।[3] हमारे कतिपय कवियों में भी इसप्रकार की असंयत प्रवृत्ति के कुछ दर्शन होते हैं। पर यह प्रवृत्ति भारतीय प्रवृत्तिके प्रतिकूल है। यहाँपर सौन्दर्य और मंगलका सामंजस्य है। रवीन्द्र भी इन दोनों को एक ही मानते हैं। मंगल वस्तुतः सुन्दर है, उनमें मानव-हृदय को आकृष्ट करके तन्मय करने की क्षमता होती है। उसमें केवल प्रयोजन की भौतिक स्थूल अभाव की ही तृप्ति नहीं है। साहित्य-साधना से प्राप्त आनन्द तथा विश्राम साधारण पार्थिव आनन्द से भिन्न माना गया है।[4] वह इससे बहुत-कुछ अधिक है। "सत्य तो यह है कि जो वस्तु मंगल होती है वह एक तो हमारी आवश्यकता पूर्ण करती है और दूसरे वह सुन्दर होती है। अर्थात् उपयोगिता के अतिरिक्त भी उसमें एक तरह का निष्प्रयोजन आकर्षण होता है। नीति के पंडित संसार में मंगल का धर्म की दृष्टि से प्रचार करने का प्रयत्न करते हैं और कवि मंगल को संसार में उसकी अनिर्वचनीय सौन्दर्य की मूर्ति में प्रकाशित करते हैं।" सौन्दर्य और मंगल का यह सामंजस्य सौन्दर्य को उच्च स्तर की वस्तु बना देता है, उसे केवल स्थूल भोग-विलास के साधन-मात्र तक सीमित नहीं रखता। इसमें रूढ़िगत नैतिकता तो नहीं रहती, पर विश्व-

१. '[illegible] और कला', पृष्ठ ५।
२. 'साहित्य', रवीन्द्र, पृष्ठ ३३।
३. वही, सौन्दर्य-बोध नामक निबन्ध।
४. '[illegible] और [illegible]वाद', पृष्ठ ६।

कल्याण की भावना अन्तर्हित होती है। रवीन्द्र के ये विचार भारतीय चिन्तन-धारा के सर्वथा अनुकूल है। छायावाद में भी सौन्दर्य और मंगल के इस सामंजस्य का आभास मिलता है। प्रसादजी भी काव्य को श्रेयमयी प्रेम-ज्ञान-धारा कहकर सौन्दर्य और मंगल के सामंजस्य की ओर संकेत कर रहे हैं। उनकी इस विचार-धारा से यह भी स्पष्ट है कि इन दोनों के समन्वय का आधार सत्य ही है। उसमें प्रकृति, मानव तथा सभी वस्तुओं में एक चेतन सत्ता देखने की प्रवृत्ति, प्राणि-मात्र की एकता का संदेश दे रही है। इस प्रकार मंगल अन्तर्हित है। मानव-हृदय में प्रकृति के कण-कण के प्रति सौन्दर्य-भावना जाग्रत करके उस पूर्ण मंगल की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा ही प्रसादजी आदि कवियों की कविता का प्राण है। इन काव्यों का उद्देश्य स्थूल और जड़ नीतिवाद का उपदेश और प्रचार नहीं, अपितु मंगल-विधान है। उपदेश की प्रवृत्ति का विरोध करते हुए निरालाजी कहते हैं : "सूक्तियां और उपदेश मैंने बहुत कम लिखे हैं, प्रायः नहीं, केवल चित्रण किया है। उपदेश को मैं कवि की कमजोरी मानता हूँ।"[1]

ऊपर जिन काव्य-सिद्धांतों का निरूपण हुआ है, वे छायावादी कवियों और सौष्ठववादी आलोचना की मूल भित्ति हैं। कम-से-कम हिन्दीमें इस काव्य-धारा और आलोचना-पद्धति के निर्माण की यही सामग्री है,उनकी प्रगतिकी यही दिशा है। वस्तुतः यहाँपर स्वच्छन्दतावाद ने काव्य-सिद्धांत,काव्य-शैली और नीति की रूढ़िवादिता के क्षणिक रूप के विरुद्ध आन्दोलन किया था। रीति-काल में तथा उससे भी बहुत पहले से ही भारतीय चिन्तन-धारा स्थिर हो चली थी इसलिए उसमें स्थैर्य के कारण दुर्गन्ध हो गई। इससे चिन्तन की प्रगति अवरुद्ध होगई और रूढ़िवादिता का प्राबल्य हो गया। पर यहां के धार्मिक,दार्शनिक, काव्य-सम्बन्धी चिन्तन के सिद्धान्त चिरन्तन सत्यों पर अधिष्ठित थे, इसलिए इतने लम्बे समय की बौद्धिक शिथिलता भी उनको अनुपयोगी नहीं कर सकी। भारतीय जीवन में नीति के जड़ नियमों के लिए बहुत कम स्थान है। उनका ध्यान तो मंगल के सार्वदेशिक रूप की ओर ही रहा है। यही बात उनके काव्य-सिद्धान्तों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। उनके रस, औचित्य और ध्वनि के सिद्धान्त काव्य-सम्बन्धी चिर सत्यों पर आधारित हैं। उनमें देश और काल के व्यवधान से ऊपर उठकर साहित्य-मात्र के स्वरूप का विश्लेषण हुआ है और यही कारण है कि वे सार्वदेशिक और सर्वकालिक मानदंड उपस्थित करते हैं। समयानुकूल

---

१. 'प्रबन्ध-प्रतिमा', मेरे गीत और कला, पृष्ठ २८४।

इनकी व्याख्याओं में कुछ उपज्ञता-प्रदर्शन की भी गुंजाइश है। शुक्लजी ने 'रस' का आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धांतों के अनुकूल विवेचन किया है। ऐसे और भी कई प्रयास हुए हैं और होते रहेंगे। छायावाद और सौष्ठववादी आलोचना के जन्मदाता प्रसादजी तथा इस आलोचना-पद्धति के प्रमुख कर्णधार श्री नन्ददुलारे वाजपेयी भी भारतीय रस-सिद्धान्त के महत्त्व को स्वीकार किये बिना न रह सके। इतना निश्चित है कि भारतीय काव्य में यूरोप की-सी उद्देश्य-हीनता के दर्शन नहीं हो सकते। यहाँ पर वैयक्तिकता और साधारणीकरण,स्वान्तः सुखाय और जनसुखाय तथा सौन्दर्य और मंगल का सामंजस्य हुआ है। इन्हीं धाराओं पर हिन्दी की सौष्ठववादी आलोचना-पद्धति का विकास हुआ है। ये सिद्धान्त ही उसके आधारभूत हैं। इसीलिए पहले इन सिद्धान्तों के विशद विवेचन की आवश्यकता थी।

इस नवीन समीक्षा-पद्धति की सबसे प्रधान वस्तु है सौष्ठव की अनुभूति तथा पाठक के हृदय में भी उस अनुभूति को जाग्रत करने के लिए उसका उपयुक्त विश्लेषण। काव्य का प्राण व्यंजना या ध्वनि है और वह सहृदय-श्लाघ्य है। भावुक ही उसका रसास्वादन कर सकता है। कवि के सृजन का भावयित्री प्रतिभा द्वारा रसास्वाद करने वाला भावक होता है। वही वास्तविक आलोचक है।[१] साधारण पाठक और आलोचक में मुख्य भेद यही है कि साधारण पाठक काव्य-सौन्दर्य को पूर्ण रूप से अनुभव नहीं कर पाता है। कुछ ऐसी गूढ़ व्यंजनाएँ होती हैं, जिन्हें उसकी बुद्धि और हृदय ग्रहण नहीं कर पाते, पर भावक उनके अन्तस्तल में प्रवेश करके उनका पूर्ण रसास्वाद कर लेता है। वह विश्लेषण और विवेचन द्वारा अनुभव के योग्य वातावरण भी उपस्थित कर देता है। गूढ़ व्यंजनाओं की अनुभूतिमय व्याख्या करके तथा उनके सन्दर्भ का विशद निरूपण करके साधारण पाठक के लिए भी उन्हें अनुभवगम्य कर देता है। कहने का तात्पर्य यह है कि साधारण पाठक जितना रसास्वाद, उनके महत्त्व की प्रतीति आलोचना पढ़ने के बाद कर सकता है उतना पूर्व नहीं। यही आलोचना की सफलता है और यही उसका प्रकृत रूप है। आलोचना के इसी स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कार्लाईल कहते हैं:

"Criticism stands like an interpreter between the inspired and the uninspired, between the prophet and those who beat melody of his words, and catch some glimpses of their material meaning, but understand not their deeper import."

१. 'काव्य-मीमांसा', राजशेखर-कृत, चतुर्थ अध्याय।

जिसे कार्लाईल गूढ़ार्थ (Deeper import) कहते हैं, वही वास्तविक काव्य-सौष्ठव है, काव्य का प्राण है। काव्य-सौष्ठव कवि-हृदय की अनुभूति और अभिव्यक्ति का वह सारभूत अंश है, जो काव्य में वर्णित सारे जीवन और पात्रों का प्राण-स्पन्दन है, जो जीवन-शक्ति का अजस्र स्रोत है, और काव्य के आह्लाद का मूलभूत कारण है। इसी तत्त्व से काव्य सचेतन रहता है। कार्लाईल इसीको "दिव्य ज्योति" Empyrean fire कहते हैं। अन्य सभी वस्तुएँ और तत्त्व केवल उसको पुष्ट करने के लिए हैं। इसीलिए यह नवीन समीक्षक उस वस्तु को पूर्ण रूप से समझ ही नहीं लेना चाहता, अपितु उसका हृदय से साक्षात्कार भी कर लेना चाहता है। यह उसके लिए बौद्धिक विश्लेषण नहीं। वह उससे स्वयं आह्लादित होता है और पाठकों को आह्लादित करना चाहता है। इसमें आलोचक की बुद्धि और हृदय का पूर्ण संयोग रहता है और यही पाठक के लिए अपेक्षित है। कार्लाईल उन प्रश्नों का निर्देश करते हैं, जिनका उत्तर सौष्ठववादी समीक्षक देता है। समीक्षक को उस दिव्य ज्योति और प्राण-स्पन्दन का उद्घाटन करना है जिससे सारा काव्य आलोकित और स्पन्दित होता है, जो काव्य की जीवन-शक्ति है। उसे कलात्मक कौशल पर प्रधान रूप से विचार नहीं करना है, जो कवि के आलंकारिक चमत्कार का हेतु है। जिस पर विचार करना है, उसको कार्लाईल स्पष्ट करते हैं:

"By what far aud more mysterious mechanism Shakespeare organised his dreams, gave life and individuality to his Arial and Hcmlet, wherein lies that life, how have they attained that shape and individuality ? Where comes that Empyrean fire which eradiates their whole being and pierees at least in starry gleams like a diviner thing into all hearts."[1]

समीक्षक को उस तत्त्व का उद्घाटन करना है जिसके कारण काव्य प्रत्यक्ष जगत् से अधिक सत्य है। उसे केवल कविता के सृष्टा का ही परिचय नहीं देना है,अपितु यह भी स्पष्ट करना है कि किसप्रकार एक विशेष कला-कृति उसकी अनुभूति का स्वाभाविक और सहज परिणाम है। समीक्षक को वह तत्त्व स्पष्ट करना है जिसके कारण कविता कविता है। केवल लययुक्त पद्य नहीं। सौष्ठववादी समीक्षक के लिए इतना व्यापक दृष्टिकोण अपेक्षित है। सौष्ठव की अनुभूति का सहज परिणाम ही आह्लाद है। भारतीय आलंकारिक इसीको रसास्वाद कहना चाहता है और पाश्चात्य समालोचक सौन्दर्य-मूलक

---

1 American Critical Essays—19th to 20th Century P.434-435.

आह्लाद (Aesthetic pleasuree) । इसीलिए रसानुभूति और उसके कारणों का विश्लेषण ही नवीन समालोचक का प्रधान उद्देश्य है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह कला के किसी नैतिक अथवा सांस्कृतिक महत्त्व की नितान्त अवहेलना करता है। उसका ध्यान इनकी ओर जाता अवश्य है, पर गौण रूप से। वह यह मानता है कि काव्य-पाठक व्यष्टि और समष्टि को प्रभावित करता है। उसका रागात्मक प्रसार करके चारित्रिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक उत्थान में सहायक होता है। सारे मानव-समाज पर भी उसका सांस्कृतिक प्रभाव पड़ता है। पर यह सारा कार्य व्यंजना और आह्लाद के माध्यम से होता है। यह परोक्ष प्रभाव है। काव्य का कार्य अज्ञात रूप से व्यष्टि और समष्टि को प्रभावित करना है, पर यह परोक्ष प्रभाव भी महान् और स्थायी होता है। इस प्रकार सौष्ठववादी समालोचक काव्य के चिरन्तन और सांस्कृतिक महत्त्व का भी विचार करता है। उसे नीति का रूढ़ रूप नहीं अपितु नैतिकता का सार्वदेशिक और सर्वकालिक रूप ही मान्य । वह उसीको काव्य में देखना चाहता है और उसीके आधार पर काव्य का मूल्यांकन करता है। वह कवि को उपदेशक अथवा प्रचारक के स्तर पर नहीं लाना चाहता। इस कार्य को वह काव्य के लिए हेय और अपमानजनक समझता है। इसीलिए वह अपना प्रधान उद्देश्य सौष्ठव तथा तज्जनित आह्लाद की अनुभूति और उसका तात्त्विक विश्लेषण मानता है। काव्य का सांस्कृतिक अथवा नैतिक महत्त्व भी इसी आह्लाद की वृद्धि करने वाला है। सुन्दर, कलात्मक और भाव-सौष्ठव से परिपूर्ण काव्य अगर मानव को संस्कृति का कोई महान्, स्पष्ट और व्यक्त सन्देश भी दे तो सोने में सुगन्ध है, इससे काव्य का सौष्ठव और आह्लाद, द्विगुणित हो जाता है। 'कामायनी' इसका सजीव उदाहरण है। पाठक को उसमें अनिर्वचनीय आह्लाद प्राप्त होता है। 'कामायनी' व्यष्टि रूप में उसके चारित्रिक और रागात्मक प्रसार का कारण है और समष्टि रूप में सांस्कृतिक विकास की प्रेरक। काव्य-सौष्ठव संस्कृति का विरोधी नहीं हो सकता। वस्तुतः संस्कृति के व्यापक अर्थ के साथ तो इसका सामंजस्य है।

नवीन समालोचक सौष्ठव को व्यापक अर्थ में ग्रहण करता है। उसमें भावों, कल्पनाओं और अनुभूतियों की स्निग्धता, कान्ति, माधुर्य और मार्मिकता आदि उन सभी गुणों का समावेश है जो उनकी प्रभावोत्पादकता और सौष्ठव (Sublimity) के उत्कर्षक हैं। उसमें अनुभूतियों की व्यंजकता तथा रागात्मकता भावों की गूढ़ता और अनन्तता एवं शैली की लाक्षणिकता और प्रांजलता का अन्तर्भाव है। सौष्ठव अनुभूति और अभिव्यक्ति का, काव्य के बाह्य और

अभ्यन्तर दोनों का, समन्वय है। यही कारण है कि सौष्ठववादी उन सभी कारणों का विवेचन करता है जो पाठक के हृदय में स्फूर्ति और आह्लाद जाग्रत करने के हेतु हैं। सौष्ठववादी समालोचक कवि के व्यक्तित्व, अनुभव-जगत् एवं उनकी अभिव्यंजना का स्थूल निरूपण ही नहीं करता है, अपितु वह उनके अन्तस्तल में प्रवेश करके उनके गूढ़ रहस्य, मार्मिकता तथा सौन्दर्य का उद्घाटन करता है। कवि-अनुभूति और अभिव्यक्ति के वाह्य और आभ्यन्तर दोनों पक्षों के सौष्ठव का अध्ययन और प्रकाशन ही उसका प्रधान कार्य है। वह इनमें सामंजस्य स्थापित करता है। सौष्ठववादी आलोचक छन्द, रीति में शैली के आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट नियमों और आदेशों का पालन करना कवि के लिए आवश्यक नहीं समझता है। वह कवि-प्रतिभा को नैतिक और अलंकार-शास्त्रीय नियमों से पूर्ण स्वतन्त्रता की उद्घोषणा करता है। उसे अपनी आलोचना में प्रधानतः अलंकार-शास्त्र के तत्वों का विश्लेषण नहीं करना, उसे यह भी नहीं कहना है कि आलोच्य कवि इन नियमों के निर्वाह में कितना सफल हुआ है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह काव्य के कला-पक्ष, शैली और अभिव्यंजना की अवहेलना करता है। उसे भाव और अभिव्यक्ति का अभिन्न सम्बन्ध तथा भावों की अनेकता और अनन्तता के अनुरूप ही अभि-व्यंजना-शैलियों की अनेकता और अनन्तता का सिद्धान्त मान्य है। इसलिए वह यह बताने का प्रयत्न करता है कि भाव, अनुभूति और वस्तु किसी विशेष शैली में कितने सौष्ठव, मार्मिकता और प्रभावोत्पादकता के साथ व्यक्त किये जा सके हैं। इसीको भाव और भाषा, वस्तु और शैली, अनुभूति और अभिव्यक्ति का सामंजस्य कहते हैं। यही शैली और अभिव्यंजना-सम्बन्धी सौष्ठव है। कहने का तात्पर्य यह है कि नवीन समीक्षा काव्य के वस्तु-संकलन, चरित्र-चित्रण, भाव, अनुभूति, कल्पना, संवेदनात्मकता, अनुभूति-व्यंजना, ध्वन्यात्मकता आदि सभी तत्वों के वाह्य और अभ्यन्तर सौष्ठव को देखती है। उसकी बौद्धिक और विश्लेषणात्मक कम तथा अनुभूतिमय व्याख्या अधिक करता है। वह स्वयं काव्य के सौष्ठव का अनुभूति से साक्षात्कार करके आह्लादित होता है और पाठक को आह्लादित करने का प्रयत्न करता है। इस प्रक्रिया में उसे कुछ विश्लेषण और बौद्धिकता का आश्रय भी लेना पड़ता है। वह इन प्रक्रियाओं को गौण साधन के रूप में अपनाता है, प्रधान वस्तु तो उसके लिए अनुभूति ही है। शुक्लजी रस के बौद्धिक व्याख्याता है, पर सौष्ठववादी समालोचक उसकी संवेदनीयता को अनुभूति द्वारा ग्रहण करना चाहता है।

कार्लाईल इस समीक्षा-पद्धति का तात्त्विक विश्लेषण करते हुए कहते हैं :

"Criticism has assumed a new form in Germany. It proceeds on other principles and proposes to itself a higher aim. The main question is not now a question concerning the qnalities of diction, the coherence of metaphors, the fitness of metaphors, the fitness of sentiments, the general logical truth in a work of art, as it was some half century ago among most critics...but it is properly and ultimately a question of essence and peculiar life of the poetry itself."[1]

इससे स्पष्ट है कि अब आलोचक कविता की प्राणभूत वस्तुका विवेचन करना चाहता है । इसी प्राणभूत वस्तु के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह रचना कविता है । यह प्राणभूत वस्तु एक शब्द में सौष्ठव के नाम से अभिहित की जा सकती है । इस सौष्ठव का ऊपर विवेचन हो चुका है । इस सौष्ठव का उद्घाटन प्रधान वस्तु है । इसीको स्पष्ट करते हुए कार्लाईल उन प्रश्नों को रखते हैं, जिनका विचार आज के समीक्षक करते हैं ?

"What is this unity of pleasure, and can our deePer inspection-discern it to be indivsible and existing on necessity because each work springs as it were from the general elements of thought and grows up thereupon into form and expansion on Its own growth. Not only who was the poet and how did he compose; but what and how was the poem and why was it a poem and not rhymed loquence,creation and not figured passion: there are the questions ;or the critic."

समीक्षा का मानदंड साहित्यिक रचना में ही विद्यमान रहता है। जिन साहित्य-सम्बन्धी धारणाओं से आलोचना का मान तैयार होता है, वे कवि के व्यक्तित्व, उसकी विचार-धारा और उनकी कृति से स्वयं ही व्यंजित हो जाती हैं । बाहर से किसी मान के आरोप करने की अवश्यकता नहीं है । कवि-प्रतिभा का स्वातन्त्र्य तथा सौष्ठव के सिद्धान्त का यह सहज निष्कर्ष है । बाह्य तत्त्वों का काव्य पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण नहीं है । उनका उत्कर्ष अथवा अपकर्ष कवि के व्यक्तित्व और साहित्य के अन्तरंग तत्त्वों पर ही निर्भर है, किसी बाह्य तत्त्व पर नहीं । ऊँचे-से-ऊँचा नैतिक आदर्श साहित्य-शास्त्र, राजनीति, इतिहास, आदि का ज्ञान भी उत्कृष्ट साहित्य-सृजन में अनिवार्य रूप से सहायक नहीं हो

---

1. Spingarn---the New Criticism.

सकता है। आदर्श की उच्चता अथवा ज्ञान की प्रौढ़ता से साहित्यिक की उत्कृष्टता का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए काव्य की परीक्षा के साधन भी नैतिकता और आदर्शवाद से स्वतन्त्र ही होने चाहिएं। ऐतिहासिक, सामाजिक अथवा नैतिक दृष्टिकोण काव्य-परीक्षा के प्रधान मानदंड नहीं हैं। उन्हें गौण अथवा सहायक रूप में स्वीकार किया जा सकता है। वाह्य परिस्थितियां कवि के व्यक्तित्व को प्रभावित करती हैं, उनका काव्य पर भी परोक्ष नियन्त्रण होता है; इसलिए उनकी अवहेलना तो नहीं की जा सकती। उनका विवेचन तो अवश्य ही करना पड़ता है, पर यह विवेचन गौण ही माना जायगा। काव्य तथा उसकी समीक्षा की इनसे स्वतन्त्र पृथक् सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने इसका अपनी पुस्तक में प्रतिपादन किया है उनकी यही मान्यता है: "काव्य का महत्त्व तो काव्य के अन्तर्गत ही है, किसी बाहरी वस्तु में नहीं। सभी बाहरी वस्तुएं काव्य-निर्माण के अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों का निर्माण कर सकती हैं, वे रचयिता के व्यक्तित्व पर विभिन्न प्रकार के प्रभाव डाल सकती हैं और डालती भी हैं, पर इन स्वीकृतियोंके साथ हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि काव्य और साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता है, उसकी स्वतन्त्र प्रक्रिया है और उसकी परीक्षा के स्वतन्त्र साधन हैं। काव्य तो मानव की उद्भावनात्मक या सर्जनात्मक शक्ति का परिणाम है। उसके उत्कर्ष-अपकर्ष का नियन्त्रण वाह्य स्थूल व्यापार या वाह्य बौद्धिक संस्कार और आदर्श थोड़ी ही मात्रा में कर सकते हैं।"[1]

पाश्चात्य देशों में दर्शन, समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र, आचार-शास्त्र आदि अनेक विद्याओं का काव्य पर पर कठोर नियन्त्रण प्रारम्भ से ही रहा है। काव्य-समीक्षा के जो मानदंड समय-समय पर मान्य हुए, वे दर्शन, सौन्दर्य-शास्त्र, मनोविज्ञान, चरित्र अथवा अन्य किसी शास्त्र पर ही आधारित रहे। इसीलिए स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) को काव्य की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने के लिए इतना बड़ा आन्दोलन करना पड़ा। भारत में काव्य इतने बन्धनों से नहीं जकड़ा गया था। प्राचीन काल से ही उसकी स्वतन्त्र सत्ता मान्य थी। पर फिर भी दर्शन आदि कुछ विद्याओं का बहुत साधारण-सा प्रभाव प्रारम्भ से ही था। रस-सम्बन्धी सम्प्रदाय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों से प्रभावित थे। धर्मशास्त्र के नियन्त्रण से काव्य पूर्णत

---

१. 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी', भूमिका ८।

मुक्त नहीं था। पर रीतिकाल में ये नियन्त्रण जड़ और जटिल हो गए। इतिवृत्तात्मक काल में ही नीति, लोकादर्श तथा साहित्य और जीवन के सम्बन्ध की जड़ धारणाओं का नियन्त्रण- चढ़ चला था। इसीलिए भारतीय कवियों और आलोचकों को भी काव्य की स्वतन्त्र सत्ता की घोषणा करनी पड़ी। वाजपेयी जी की घोषणा इसी परिस्थिति की द्योतक है। पन्त जी और प्रसाद जी ने भी ऐसी घोषणाएँ की है।[1] काव्य की स्वतन्त्र सत्ता की घोषणा में काल का भी विचार हुआ है। इस काल की कविता का परीक्षण उसी काल के मान के आधार पर ही किया जा सकता है। यह मान उस काल की कविता से अपने-आप ही उपलब्ध होता है। इस प्रकार मानों के आरोप को अस्वीकार किया गया। रीति-काल के काव्य की विशेषताओं के आधार पर बनाया गया मानदंड आधुनिक कविता के लिए पूर्णतः अनुपयुक्त है। सेण्ट्सबरी ने भी इसे सौष्ठववादी समीक्षा के प्रधान तत्त्वों में से माना है।[2]

इससे यह निष्कर्ष भी स्वभावतः ही निकलता है कि काव्य का अपने परिवेष्टन से गहरा सम्बन्ध है। परवेष्टन कवि के व्यक्तितत्र का निर्णायक है और काव्य कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति-मात्र है। यही कारण है कि नवीन समीक्षक भी काव्य और कवि की सामाजिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करता है। सौष्ठववादी दृष्टिकोण के विकास के पूर्व ही ऐतिहासिक समालोचना की ओर आलोचकों का ध्यान आकृष्ट हो गया था। डॉ० जानसन के पूर्व ही इस प्रकार की आलोचना के उदाहरण उपलब्ध है। हिन्दी में भी शुक्ल जी आदि कतिपय आलोचकों ने ऐतिहासिक समीक्षा के प्रौढ़ तत्त्वों का उपयोग किया है। इसके पहले मिश्रबन्धु आदि में भी इस समालोचना का पूर्वाभास मिलता है। पर सौष्ठववादी समीक्षा के विकास ने ऐतिहासिक समालोचना को भी प्रौढ़ रूप प्रदान कर दिया। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी, श्री दिनकर आदि में इस समालोचना का जो आग्रह है,

---

१. प्रसादजी—'इन्दु' कला १, किरण १ और 'पल्लव' की भूमिका, पृष्ठ २१।

2. One period of literature can not prescribed to another. Each has its own laws, and if any general laws areto be put above these, they must be such as will embrace them,......Rules are not to be multiplied without neccessity; and such as may be admitted must rather be extracted from the practice of good. Poets and prose writers then inposed upon it." (Saintsbury; History of English Criticism P. 410.).

उसका श्रेय स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन को ही है। इसके पूर्व साहित्य और साहित्यकार की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक पृष्ठभूमि का निर्वचन तो होता था, पर समालोचक परिवेष्टन और परिवेष्टित के गूढ़ और स्वाभाविक सम्बन्ध का निरूपण नहीं कर पाता था। ये एक-दूसरे से पृथक् ही प्रतीत होते थे। परिवेष्टन ने कवि के व्यक्तित्व तथा तत्कालीन साहित्य को किस प्रकार प्रभावित किया है, कौन-से तत्व वातावरण के सहज और स्वाभाविक परिणाम हैं, इन सब प्रश्नोंका उत्तर देने की प्रवृत्ति नहीं थी। सौष्ठववादी समीक्षक ने यही प्रयत्न प्रारम्भ किया था। यह हम ऊपर कह चुके हैं कि समीक्षा में कला और कलाकार का व्यक्तित्व दोनों ही का समान महत्व हैं। इसमें कलाकार के व्यक्तित्व का विशद विश्लेषण होता है और उस व्यक्तित्व से कला-कृति के स्वरूप का अभिन्न सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। कला-कृति की वस्तु, भाव, अभिव्यंजना, शैली-सम्बन्धी विचार-धारा, तथा दृष्टिकोण आदि सभी कुछ कलाकार के व्यक्तित्व से पूर्णतः सम्बद्ध है। इसीलिए दो कवियों के व्यक्तित्व की तरह दो कला-कृतियाँ भी एक-दूसरे से भिन्न हैं। उन दोनों का ही पृथक् अस्तित्व है और महत्त्व है। समीक्षक कला-कृति के स्वरूप के समान ही कलाकार के व्यक्तित्व की भी विशद व्याख्या करता है। वह कला-कृति के आधार पर कलाकार के व्यक्तित्व को समझता है। अगर वह कलाकार के व्यक्तित्व से परिचित है तो कला-कृति के तत्वों का विश्लेषण उसी आधार पर करता है। सौष्ठववादी यह समझाने की चेष्टा करता है कि कलाकार की जीवन-सम्बन्धी-धारणा है क्या, और इन धारणाओं के बनने के कारण क्या हैं? उसका व्यक्तिगत जीवन तथा उसकी परिस्थितियाँ उसके जीवन-दर्शन, वस्तु, निर्वचन, शैली आदि के लिए कितनी उत्तरदायी हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यह समालोचक मनोवैज्ञानिक, चरित-मूलक और ऐतिहासिक तीनों समीक्षा शैलियों का उपयोग करता है, पर गौण रूप से ही। उसका प्रधान उद्देश्य कला-कृति के सौष्ठव तथा तज्जनित आह्लाद की अनुभूतिमय व्याख्या है। पर उसके साथ ही वह इस सौष्ठव के उद्भावक कलाकार और उसकी निर्मायक परिस्थितियों का अध्ययन भी कर लेता है।

हिन्दी की सौष्ठववादी समालोचना के तत्वों में क्रमिक विकास हुआ है। उसने अपनी पूर्ववर्त्ती पद्धतियों से बहुत-कुछ ग्रहण किया है और उनका विकास किया है। ऊपर जिन तीन शैलियों के विकास का निर्देश हुआ है, उससे यह स्पष्ट भी है। इनके अतिरिक्त सौष्ठव और मंगल पर आधारित मान का विकास भी स्पष्टतः ही शुक्ल जी तथा उनसे पूर्ववर्त्ती आलोचक के भाव, और

कला के सौन्दर्य तथा नीति वाले मानदण्ड का विकास, परिमार्जन और विशदीकरण ही है। वही धारणा वस्तु और शास्त्र की रूढ़िवादी सीमाओं का अतिक्रमण करके सौष्ठववादी असीमता और स्वच्छन्दता में विकसित हो गई। आरोहात्मक पद्धति में भी धीरे-धीरे विकास हुआ है। शुक्ल जी ने ही इसको कुछ अपना लिया था। इस पद्धति ने इसके अधिक विकसित और प्रौढ़ रूप को अपनाया। कहने का तात्पर्य यह है कि यह समीक्षा अपनी पूर्व-संचित निधि को लेकर आगे बढ़ती है और विकसित होती है।

हिन्दी-समीक्षा की शैलियों का विकास प्रायः समानान्तर-सा रहा है। 'पल्लव' की भूमिका में सौष्ठववादी समालोचना की प्रेरणा स्पष्ट है और तब से उसका निश्चित और अविरल रूप से विकास हुआ है। पर उसके पूर्व भी इस समीक्षा के तत्त्व उपलब्ध होते हैं। वे इसीके पूर्वाभास कहे जा सकते हैं। रीति-काल की काव्य और समीक्षा-पद्धति का विरोध करने में पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का परिचय देते हैं। सन् १९०९ में प्रसादजी ने 'इन्दु' के सम्पादकीय में अपने स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण को पूर्णतः स्पष्ट कर दिया था। उन्होंने उसी समय कवि-प्रतिभा की स्वतन्त्रता और शास्त्रीय नियमों से स्वतन्त्र आलोचना के सिद्धान्तों की घोषणा कर दी। उन्होंने काव्य का परम उद्देश्य आह्लाद और सौन्दर्य-सृष्टि ही माना है। प्रसाद जी के काव्य-सृजन की प्रेरणा में भी यही विचार-धारा है। इस प्रकार उन्होंने नवीन काव्य-धारा और इस समीक्षा-पद्धति को सन् १९०९ में ही जन्म दे दिया। सौष्ठववादी आलोचना का वास्तविक प्रारम्भ 'इन्दु' के सम्पादकीय लेखों से ही हो जाता है। बहुत दिनों तक वह प्रच्छन्न रूप में विकसित होती रही। हिन्दी-आलोचकों के अवचेतन और चेतन मन में कई वर्षों तक विकसित होने के उपरान्त वह 'पल्लव' की भूमिका में व्यक्त हुई। यह स्वच्छन्द विचार धारा हिन्दी के दूसरी पद्धतिके आलोचकों को भी प्रभावित करती रही। शुक्लजी भी इस विचार-धारा से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। उनकी प्रसाद, पन्त आदि की आलोचना इसकी प्रमाण है। तुलसी के सम्बन्ध में आरोहात्मक पद्धति को अपनाकर भी उन्होंने इसी आलोचना का आभास दिया है। शुक्ल जी की पन्त, प्रसाद आदि की आलोचनाएं लोकादर्शवादिनी, बौद्धिक विश्लेषण-प्रधान, निर्णयात्मक और वस्तु-तन्त्रात्मक होने की अपेक्षा कला-कृति और कवि के व्यक्तित्व का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अधिक है। इनमें उनके कला-पक्ष और भाव-पक्ष का शास्त्रीय वस्तुतन्त्रात्मक परिचयतो है, पर आलोचक का ध्यान इनसे मुक्त काव्य-सौष्ठव पर भी गया है। उन्होंने सौष्ठव की अनुभूतिव्यंजक व्याख्या भी

की है। लेखक ने प्रसादजी के स्वभाव और प्रकृति का भी काव्य-वस्तु से अभिन्न सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया है।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि इन आलोचनाओं में कुछ सौष्ठववादी आलोचना का क्षीण आभास मिलता है। अगर दैव का आघात न होता तो संभवतः शुक्लजी का सौष्ठववादी आलोचक और भी विकसित होता। इस आलोचना पर भी उनकी प्रधान पद्धति की छाप स्पष्ट है। कहीं-कहीं उन्होंने तुलनात्मक दृष्टिकोण का भी आश्रय लिया है।[2] शुक्ल जी के परवर्त्ती काल के आलोचकों की पद्धति में एक दो तत्वों का ही अधिक विकास हुआ है। सब तत्वों का पूर्ण और संतुलित विकास बहुत कम हो पाया है। आगे हम कुछ आलोचकों की विशेषताओं पर विचार करेंगे।

प्रसादजी--काल-क्रम से इस पद्धति के सर्वप्रथम आलोचक प्रसादजी ही हैं। 'इन्दु' में प्रसादजी ने अपने काव्य-समीक्षा-सम्बन्धी जो विचार व्यक्त किये थे उनसे उनका सौष्ठववादी दृष्टिकोण स्पष्ट ही है। प्रसादजी की साहित्य-दर्शन-सम्बन्धी धारणाओं का विवेचन हो चुका है। यहां पर हमें उनकी समीक्षा-सम्बन्धी मान्यताओं का अधिक विस्तार से विवेचन करना है। प्रसादजी की प्रतिभा सर्वतोमुखी है। उन्होंने कविता, कहानी, नाटक, निबन्ध आदि सभी विधाओं द्वारा वर्तमान हिन्दी-साहित्य की प्रगति में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है। उनकी रचनाएँ केवल परिमाण की वृद्धि-मात्र नहीं है, अपितु साहित्य और चिन्तन की नवीन दिशा में अग्रसर करने वाले प्रौढ़ प्रयास है। उनकी प्रतिभा

---

१. प्रसादजीमें ऐसी मधुमयी प्रतिभा और जागरूक भावुकता अवश्य थी कि उन्होंने इस पद्धति का अपने ढंग पर बहुत ही मनोरम विकास किया।...जीवन के प्रेम-विलासमय मधुर पक्ष की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति होने के कारण वे उस प्रियतम के संयोग-वियोग वाली रहस्य-भावना में, जिसे स्वाभाविक रहस्य-भावना से अलग समझना चाहिए, रमते पाए जाते हैं। प्रेम-चर्चा के शारीरिक व्यापारों और चेष्टाओं, रँगरलियों और अठखेलियों, वेदना की कसक और टीस इत्यादि की ओर इनकी दृष्टि विशेष जाती थी। इस मधुमयी प्रवृत्ति के अनन्त क्षेत्र में भी वल्लरियों के दान, कलिकाओं की लपक-झपक, पराग-मकरंद की लूट, ऊषा के कपोल पर लज्जा की लाली, आकाश और पृथ्वी के अनुरागमय परिरंभ, रजनी के आँसू के भीगे अम्बर, चन्द्रमुख पर शरद् घन के सरकते अवगुण्ठन, मधुमास की मधुवर्षा और झूमती मादकता इत्यादि पर अधिक दृष्टि जाती थी। 'इतिहास' पृष्ठ ७५९।

२. शुक्लजी—वही, पृष्ठ ७६० : ७७४।

का साहित्य-सृष्टा और समीक्षक दोनों रूपों में विकास हुआ है। प्रसादजी ने कवियों और काव्य-धाराओं की प्रयोगात्मक आलोचना की है। उन्होंने प्रधानतः सैद्धान्तिक निरूपण ही किया है। इसमें प्रसंगवश किसी समीक्षा-तत्त्व को स्पष्ट करने के लिए कुछ प्रयोगात्मक समीक्षा भी हो गई है। पर उनका प्रधान उद्देश्य सैद्धान्तिक निरूपण ही है। वस्तुतः सैद्धान्तिक निरूपण ही समीक्षा-साहित्य की ठोस प्रगति है। प्रयोगात्मक आलोचनाओं का उद्देश्य भी किसी निश्चित सिद्धान्त पर पहुँचाना ही है। जब हमें प्रयोगों द्वारा किसी सिद्धान्त की उपलब्धि होती है, तभी हमें अपनी प्रगति का निश्चयपूर्वक पता लगता है।

प्रसादजी साहित्य और दर्शन के प्रौढ़ विद्वान् थे। इसीलिए उनके विवेचन में उपज्ञता के साथ ही शास्त्रीय प्रामाणिकता के भी दर्शन होते हैं। काव्य-समीक्षा के सिद्धान्तों का जो विशद विवेचन हमारे प्राचीन आचार्यों ने किया है उसका गम्भीर अध्ययन करके प्रसादजी ने उन सिद्धान्तों को आत्मसात् कर लिया था। वे उन तत्त्वों के अन्तस्तल की गहराई तक पहुँच चुके थे। उन्होंने प्राचीन भारतीय दर्शन और साहित्य-सिद्धान्तों में सामंजस्य तथा काव्य की मुख्य-मुख्य धाराओं का दर्शन की प्रधान धाराओं के साथ सम्बन्ध स्थापित किया है। रस का दर्शन की विचार-धाराओं से सम्बन्ध बताते हुए प्रसादजी कहते हैं : "आनन्दवर्द्धन भी काश्मीर के थे और उन्होंने वहां के आगमानुयायी आनन्द सिद्धान्त के रस को तार्किक अलंकार मत से सम्बद्ध किया। किन्तु महेश्वराचार्य अभिनव गुप्त ने इन्हींकी व्याख्या करते हुए अभेदमय आनन्द पक्ष वाले शैवाद्वैतवाद के अनुसार साहित्य में रस की व्याख्या की।"[1] प्रसादजी ने "रस" को आनन्दवाद तथा अलंकार, वक्रोक्ति आदि को तर्क और विवेक की उपज कहा है। इस प्रकार उन्होंने काव्य के सभी तत्त्वों और वादोंका सम्बन्ध दार्शनिक वादों से कर दिया है। प्रसादजी ने दार्शनिक और काव्य-सम्बन्धी मतों के विकास का ऐतिहासिक निरूपण भी किया है। यहाँ पर दर्शन के विकास के साथ-साथ साहित्य के नवीन मतवाद कैसे जन्म लेते गए हैं और उनमें किस प्रकार सामंजस्य स्थापित हुआ यह प्रतिपादन करना ही प्रसादजी का उद्देश्य है।

प्रसाद जी भारतीय रस-सिद्धान्त के पूर्ण समर्थक हैं। वे रस को अभेदमय आनन्द रस कहते हैं। "रति आदि वृत्तियां साधारणीकरण द्वारा भेद-विगलित होकर आनन्द-स्वरूप हो जाती हैं।"[2] उनकी आनन्द में परिणति ही

---

१. 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', पृष्ठ ७४ : ७६।
२. वही, पृष्ठ ३६।

काव्य का परम लक्ष्य है। उसे वे ब्रह्मानन्द तुल्य मानते हैं। प्रसाद-जी इन दोनों आनन्दों में कोई अन्तर नहीं मानते प्रतीत होते हैं। काव्य को पूर्ण आध्यात्मिक मानने का यही तात्पर्य है। वे काव्यास्वाद को समाधि-सुख के तुल्य ही समझते हैं। अपने मत के समर्थन में क्षेमराज के विचारों को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं: "इस प्रमातृ पद-विश्रान्ति में जिस चमत्कार या आनन्द का लोक-संस्था-आनन्द के नाम से संकेत किया गया है, वही रस के साधारणी-करण में प्रकाशानन्दमय सम्विद् विश्रान्ति के रूप में नियोजित था।"[1] इस प्रकार दर्शन और साहित्यिक धारा में सामंजस्य है। काव्यानन्द आध्यात्मिक आनन्द और समाधि-सुख से किसी प्रकार भी भिन्न नहीं। काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की असाधारण अवस्था कहने का तात्पर्य भी रस और ब्रह्मानन्द का एक मानना ही है। उन्हें काव्य की आध्यात्मिकता पूर्णतः मान्य है। आत्मा की इस अनुभूति की पूर्ण अभिव्यक्ति "रहस्यवाद" में ही होती है। जहाँ कहीं आत्मानन्द की यह अभिव्यक्ति होती है, उसीको प्रसाद जी रहस्यवाद मान लेते हैं। इस प्रकार वे रहस्यवाद को बहुत व्यापक अर्थ में ग्रहण कर रहे हैं।

प्रसाद जी भारतीय रसवाद को अपनाते हुए पूर्ण सौष्ठववादी और स्वच्छन्दतावादी माने जा सकते हैं। भारतीय रसवाद का अधिक स्वच्छन्दता-वादी दृष्टिकोण से बिलकुल भी विरोध नहीं है। इस सम्प्रदाय ने काव्य के प्रयोजन, कवि-प्रतिभा का स्वातन्त्र्य, कवि और सहृदय में ऐक्य आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। रस-सम्प्रदाय भी काव्य का परम लक्ष्य आनन्द ही मानता है। इस आनन्द में (रस में) मंगल भी निहित है। "रसो वै सः" आदि वाक्यों से यह पूर्ण स्पष्ट है। महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी तो इतना मानते हैं कि इस सिद्धान्त के द्वारा जिस भावक, या आलोचक की प्रतिष्ठा होती है उसको प्रभावाभिव्यंजक Impressionist कहा जा सकता है। वस्तुतः भारतीय अलंकार-शास्त्र का भावक सौष्ठववादी समीक्षक ही है। इसका विवेचन पहले हो चुका है। इस प्रकार इन दोनों सिद्धान्तों में परस्पर कोई विरोध नहीं। अतः प्रसाद जी का इन दोनों में सामंजस्य मानने में अप-सिद्धान्त नहीं है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि इनका सामंजस्य स्थूल सामाजिकता के आधार पर नहीं अपितु सूक्ष्म दार्शनिकता के आधार पर हुआ है।[2] पन्त जी

---

१. 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', पृष्ठ ७७।

२. रस में लोक-मंगल की कल्पना प्रच्छन्न रूप से अन्तर्निहित है। सामाजिक

ने पूर्ण स्वच्छन्दता की घोषणा की, पर भारतीय रस-सिद्धान्त की व्यापकता के कारण वह इन आलोचकों द्वारा भी अपनाया गया। सौष्ठववादी समीक्षा से इसका विरोध न होने के कारण इसका उपयोग सभी समीक्षकों ने किया है। यह उनके मानदंड का तत्व हो गया है।

प्रसाद जी काव्यानन्द को प्रेय और श्रेय का सम्मिश्रण मानते हैं।[1] इससे स्पष्ट है कि काव्य की स्थूल उपयोगिता अर्थात् नैतिक उपदेश का समाधान क्रान्ति का साधन आदि अस्वीकार करते हुए भी प्रसाद जी को काव्य-प्रयोजन में श्रेय और प्रेय, आनन्द और मंगल, सुन्दर और शिवं का सामंजस्य मान्य है। भारतीय रसवाद को पूर्णतः समझने वाले के लिए इन वादों का झगड़ा रह ही नहीं जाता है। वह तो इनके सामंजस्य का पूर्ण साक्षात्कार कर लेता है। यही प्रसाद जी के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। पाश्चात्य सौष्ठववादी विचार-धारा भारत में आकर भारतीय रस-सिद्धान्त में एकाकार हो गई है। इसलिए इसने उन्हीं व्यक्तियों को मतान्तरों के चक्कर में डाला है जिन्होंने भारतीय विचार-धारा को पूर्ण रूप से नहीं समझा है। यही कारण है कि नवीन विचार-धारा भी यहाँ के आलोचकों को चिर परिचित-सी प्रतीत होती है। प्रसाद जी, वाजपेयी जी, कवीन्द्र रवीन्द्र आदि रस का इस विचार-धारा के साथ सामंजस्य स्थापित कर लेते हैं। हमने ऊपर भी सौंदर्य और मंगल के सामंजस्य को इस समीक्षा-पद्धति की प्रधान विशेषताओं में स्थान दिया है। यहां पर यह पद्धति भी भारतीय रूप धारण कर गई है।

पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र के अध्ययन के फलस्वरूप भारतीय समीक्षक भी अनुभूति और अभिव्यक्ति की बातें करने लगे हैं। इस शब्दावली के द्वारा

स्थूल रूप से नहीं, किन्तु दार्शनिक सूक्ष्मता के आधार पर...रसवाद में वासनात्मकतया स्थित मनोवृत्तियाँ, जिनके द्वारा चरित्र की सृष्टि होती है, साधारणीकरण के द्वारा आनन्दमय बना दी जाती हैं, इसलिए वह वासना का संशोधन करके उनका साधारणीकरण करता है। वही, पृष्ठ ८६।

१. काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन क्रिया, जो वाङ्मय के रूप में अभिव्यक्त होती है, वह निःसन्देह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षणों प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण है। 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', पृष्ठ ३८।

जोकुछ प्रतिपादित होता है,वह भारतके लिए एकदम नवीन अथवा उपज्ञ नहीं है। लेकिन शैली और शब्दावली नई है, यह अवश्य मानना पड़ता है। प्रसादजी ने भी अपने विचार इन्हीं शब्दों से व्यक्त किये हैं। प्रसादजी इस वाद-विवाद में नहीं पड़ना चाहते हैं कि काव्य में अनुभूति की प्रधानता है अथवा अभिव्यक्ति की। इस वाद-विवाद का लम्बा-चौड़ा विशद निरूपण उन्होंने नहीं किया है। पर उनकी चिन्तन-धारा जिस दिशा में प्रवाहित हो रही है, उससे यह स्पष्ट है कि प्रसादजी को अनुभूति की प्रधानता ही मान्य है। वे कहते हैं कि अनुभूति ही अभिव्यक्त हो जाती है। "व्यंजना वस्तुतः अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है। क्योंकि सुन्दर अनुभूति का विकास सौन्दर्यपूर्ण होगा ही। कवि की अनुभूति को उसके परिणाम में हम अभिव्यक्त देखते हैं।"[1] इसमें उन्होंने अभिव्यक्ति और अनुभूति का भिन्न सम्बन्ध स्थापित किया है। अनुभूति की तीव्रता और सौन्दर्य अभिव्यक्ति को पूर्णतः प्रभावित करते हैं। सुन्दर अभिव्यक्ति के पीछे सुन्दर अनुभूति को वे आवश्यक मानते हैं। प्रसादजी की दृष्टि से सुन्दर अनुभूति के अभाव में अभिव्यक्ति का सौन्दर्य संभव नहीं। वे शब्द-चमत्कार, या वाग्वैचित्र्य को अनुचित महत्त्व प्रदान नहीं करते। पर वे इतना अवश्य मानते हैं कि असाधारण और तीव्र अनुभूति से भाषा और अभिव्यंजना में एक विशिष्ट लावण्य,विच्छित्ति और वक्रता आजाती है।[2] इस प्रकार वे इन दोनों में सामंजस्य स्थापित कर रहे हैं। प्रसादजी ने कवियों के मौलिक अन्तर को समझने के लिए भी अनुभूति का ही आश्रय लिया है। अनुभूति की भिन्नता ही उनके काव्य-स्वरूप और अभिव्यंजना-शैली की भिन्नता का प्रधान कारण है, शब्द-विन्यास अथवा वाक्-पटुता नहीं। सूर को वात्सल्य-वर्णन में जितनी सफलता प्राप्त हुई है, उतनी तुलसी को नहीं। इसका कारण भी प्रसादजी अनुभूति की भिन्नता ही मानते हैं। सूरदास के वात्सल्य में संकल्पात्मक मौलिक अनुभूति की तीव्रता है, उस विषय की प्रधानता है। श्रीकृष्ण की महाभारत के युद्ध-काल की प्रेरणा सूरदास के हृदय के उतनी समीप न थी, जितनी शिशु गोपाल की वृन्दावन की लीलाएँ। रामचन्द्र के वात्सल्य-रस का उपयोग प्रबन्ध-काव्य में तुलसीदास को करना था, उस कथानक की परम्परा बनाने के लिए। तुलसीदास के हृदय में वास्तविक अनुभूति तो रामचन्द्र की भक्त-रक्षण-समर्थ-दयालुता है, न्यायपूर्ण ईश्वरता है। जीव की शुद्धावस्था में पाप-पुण्य-निर्लिप्त

---

१. 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', पृष्ठ ४४।

२. वही, पृष्ठ ४५।

स्थित करने के लिए पन्तजी को यह आवश्यक प्रतीत हुआ।

स्वच्छन्दतावादी समालोचक काव्य-धारा की मूल प्रेरणाओं का अध्ययन करना चाहता है। पन्त जी ने भी अपना यही उद्देश्य बताया है। "पर मेरा उद्देश्य केवल ब्रजभाषा के अलंकृत-काल के अन्तर्देश में अन्तर्हित उस काव्यादर्श के बृहत् चुम्बक की ओर इंगित भर कर देने का रहा है, जिसकी ओर आकर्षित होकर उस युग की अधिकांश शक्ति और चेष्टाएँ काव्य की धाराओं के रूप में प्रवाहित हुई हैं।"[1] पन्त जी ने सूर-तुलसी का सांस्कृतिक महत्त्व भी माना है। इस प्रकार वे काव्य की स्थूल उपयोगिता में विश्वास न करते हुए भी जीवन और साहित्य का सम्बन्ध मानते हैं। 'आधुनिक कवि' की भूमिका में तो वे इस सम्बन्ध को और भी दृढ़तर मानने लगे हैं।

पन्त जी का भाषा-सम्बन्धी आलोचना की ओर ही अधिक ध्यान आकृष्ट हुआ है। लेखक शब्दों के अर्थ की अनुभूति, उनका साक्षात्कार करना चाहता है। वह शब्दों के अर्थ बुद्धि से ग्रहण न करके हृदय से ग्रहण कर रहा है। कवि के लिए तो यह आलोचक से भी अधिक अपेक्षित है। शब्दार्थ के इसी साक्षात्कार के फलस्वरूप पन्त भाव और भाषा का अभिन्न सम्बन्ध मानते हैं। "भाव और भाषा का सामंजस्य, उनका स्वरैक्य ही चित्र-राग है। जैसे भाव ही भाषा में घनीभूत हो गए हों, निर्झरिणी की तरह उनकी जाति और रव एक बन गए हों, छुड़ाये न जा सकते हों।" वे अलंकार आदि को वाणी की सजावट न मानकर अभिव्यक्ति के विशेष द्वार कहते हैं। पन्त जी की काव्य-परिभाषा का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। इस प्रकार उनकी सारी विचार-धारा ने नवीन समीक्षा-पद्धति के प्रवर्तन में बहुत सहयोग प्रदान किया है। यही इस भूमिका का महत्त्व है।

महादेवी जी:—महादेवी जी ने अपने कविता-संग्रहों की भूमिकाओं तथा फुटकर लेखों में अपने आलोचक रूप को स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने साहित्य-दर्शन और काव्य की गति-विधि पर विचार किया है। वे काव्य को रहस्यानुभूति मानती हैं: "सत्य काव्य का साध्य है और सौन्दर्य उसका साधन है। एक अपनी एकता में असीम रहता है और दूसरा अपनी अनेकता में अनन्त, इसीलिए साधन के परिचय स्निग्ध खण्ड रूप से साध्य की विस्मय-भरी अखंड स्थिति तक पहुँचने का क्रम आनन्द की लहर-लहर पर उठाता हुआ चलता है।" इस उद्धरण से सुश्री महादेवी ने कविता में सत्य, सौन्दर्य और आनन्द का

सामंजस्य स्पष्ट कर दिया है। ऐसा काव्य उपयोगिता के स्थूल विधि-निषेधों से ऊपर उठकर चरम मंगल को अपना लक्ष्य बनाता है, जिसमें सौन्दर्य का भी सामंजस्य है। कविता का यह दृष्टिकोण बुद्धिवाद की जड़ता से अभिभूत नहीं अपितु रस के माधुर्य से परिप्लावित है। महादेवी जी के काव्य-सम्बन्धी विचार बहुत-कुछ रवीन्द्र से मिलते हैं। उनकी दृष्टि से काव्य का आनन्द ऐन्द्रिकता की परिस्थितियों का अतिक्रमण करके पूर्ण मंगलमय हो जाता है। महादेवी जी पूर्ण सामंजस्य और संतुलन की ओर बढ़ती हुई प्रतीत हो रही हैं। अभी कहीं-कहीं वे स्थूल नैतिकता का आभास दे जाती हैं।

सुश्री महादेवी जी ने काव्य की आधुनिक गति-विधि पर भी विचार किया है। उन्होंने छायावाद और प्रगतिवाद पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं। उन्होंने छायावाद और प्रगतिवाद की स्वच्छन्दता, सर्ववाद, करुणा-व्यापक चेतना पर अपनी व्यष्टि का आरोप, अमूर्त्त और मूर्त्त का सामंजस्य, प्रकृति को प्रधान भावभूमि के रूप ग्रहण करना, कवि का अन्तर्मुख होना आदि विशेषताओं की ओर संकेत किया है। इससे स्पष्ट है कि उनकी आलोचक दृष्टि कितनी तीव्र है। महादेवी जी ने इन काव्य-धाराओं के ऐतिहासिक विकास का भी निरूपण किया है। महादेवी जी की प्रधान देन प्रयोगात्मक आलोचना ही नहीं, अपितु साहित्य-दर्शन की सौन्दर्य और मंगल के सामंजस्य वाली व्याख्या है। यही व्याख्या प्रसाद जी ने की है। पर वह शास्त्रीय और बुद्धिवादी अधिक है, जब कि महादेवी जी में स्वानुभूति की प्रधानता है, इसलिए उनकी शैली सर्वत्र ही भावात्मक है।

निराला जी :—स्वच्छतावादी दृष्टिकोण और छायावादी कविताके अग्रगण्य कर्णधारों में निराला जी भी प्रमुख हैं। छन्द, भाव और वर्ण्य विषय के सम्बन्ध में जैसा स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण इन्होंने अपनाया वैसा पंत और प्रसाद भी नहीं अपना सके। इन्होंने सब प्रकार के बन्धनों का तिरस्कार कर दिया। इनके इस स्वच्छन्द स्वभाव के कारण इनकी बहुत अधिक कटु और तीव्र आलोचनाएँ भी हुईं। यहाँ तक कि छायावाद के प्रारम्भिक काल में तो बहुत-से छायावादी कवि और नवीन विचारक भी उनकी शैली और काव्य-पद्धति का पूर्ण समर्थन करने में असमर्थ रहे। निराला जी की काव्य-सम्बन्धी धारणाएँ सौष्ठववादी हैं और इस धारणा के तात्त्विक विकास में इन्होंने महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है, इसका ऊपर निर्देश हो चुका है। ये काव्य को सूक्ति और उपदेश से भिन्न मानते हैं। सूक्तियों के रचयिता को तो निरालाजी भाँड कहते हैं। वे काव्य को सौन्दर्य की सृष्टि मानते हैं तथा कला और काव्य

का प्रायः समान अर्थ में ही प्रयोग करते हैं। कला को अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयुक्त करते हुए वे (निरालाजी) रस आदि तत्त्वों का इसीमें अन्तर्भाव कर देते हैं। उन्हें तत्त्वों की समष्टि, समन्वय और काव्य का सौंदर्य मान्य है। "कला केवल वर्ण, शब्द, छन्द, अनुप्रास, रस, अलंकार या ध्वनि की सुन्दरता नहीं, किन्तु इन सभी से सम्बद्ध सौंदर्य की पूर्ण सीमा है, पूरे अंगों की सत्रह साल की सुन्दरी की आंखों की पहचान की तरह देह की क्षीणता हीनता में तरंग-सी उतरती-चढ़ती हुई, भिन्न वर्णों की बनी वाणी में खुलकर क्रमशः मन्द मधुतर होकर लीन होती हुई।"[1] काव्यके इन तत्त्वोंके समन्वय का इन्होंने कई स्थानों पर निर्देश किया है। समन्वय का यह निर्देश स्पष्ट करता है कि निराला जी काव्य-तत्त्वों के केवल स्थूल और बाह्य रूप तक ही नहीं हैं, अपितु वे उनके अन्तस्तल की गहराई तक पहुँचे हैं, । वे काव्य के उस स्वरूप का साक्षात्कार कर लेते हैं, जिसकी दृष्टि से इन सभी तत्त्वों में समन्वय स्थापित करना आवश्यक है। यही कारण है कि निराला जी अश्लीलता के स्थूल दृष्टिकोण को अपनाकर आपाततः अश्लील प्रतीत होने वाली कविता से नाक-भौं नहीं सिकोड़ते। अगर उसके अन्तस्तल में काव्य का दिव्य स्वरूप झलकता है तो वे उसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हैं।

निराला जी की प्रयोगात्मक आलोचनाएँ यह स्पष्ट करती हैं कि उनके मूल्यांकन का एक-मात्र मानदंड सौन्दर्य है। वे कविता में कला-सौष्ठव देखना चाहते हैं। इन्होंने विद्यापति और चंडीदास की कविताओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए इसीको मानदंड माना है। विद्यापति की कुछ तथाकथित अश्लील कविताओं के गूढ़ सौंदर्य का उद्घाटन किया है। ऐसे स्थलों पर निराला जी स्वयं मुग्ध हुए हैं और उन्होंने पाठकों को भी मुग्ध किया है। वे विद्यापति के रचना-सौंदर्य का विशेष निरूपण करते हैं। उनका ध्यान नायक की विविधता, भावना के प्राधान्य तथा भावना और वर्णन के समन्वय पर अधिक गया है। विद्यापति और चण्डीदास पर लिखते समय लेखक ने उनके छन्दों को उद्धृत करके उन पर भावात्मक तथा अनुभूतिमय शैली में व्याख्या की है। निराला जी उनके सौंदर्य-तत्त्वों का उद्घाटन करते हुए स्वयं उन पर मुग्ध होते जाते हैं। "उनकी उक्तियाँ वैसी ही चमक रही हैं जैसे प्रभात की रश्मि से पत्रों के शिशिर-कण अपने समस्त रंगों को खोल देते हैं। विद्यापति की पंक्तियों का अर्थ बहुत साफ है। अभिसार के समय राधिका की

---

१. 'प्रबन्ध-प्रतिमा', पृष्ठ २७५।

भावना इतनी पवित्र है कि जड़ भूषणों की ओर ध्यान बिलकुल नहीं रहता, बल्कि भूषण भार-से मालूम पड़ते हैं। वह उन्हें निकालकर फेंक देती है। कितना सुन्दर कहा है : "ते थल मनिमय हार, उच कुच मानय भार" कुचों में सजीवता ला दी है।"[१] इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि निरालाजी वर्ण्य विषय की अश्लीलता के कारण कविता की निन्दा करके स्थूल दृष्टिकोण को आश्रय नहीं देते। उनकी सहृदयता उसके अभिव्यंजना-कौशल और भाव-सौष्ठव का रसास्वाद कर लेती है। आलोचना में कहीं-कहीं निराला जी ने तुलनात्मक और निर्णयात्मक तत्वों का भी उपयोग किया है। ऐसा विवेचन पं० पद्मसिंह शर्मा की शैली का स्मरण करा देता है। लेकिन शर्मा जी की तरह निराला जी वाह-वाह की शैली को दाद नहीं देते, अपितु छन्दों के भाव-सौंदर्य का उद्घाटन करते हैं। प्रशंसा तो उस विवेचन से अपने-आप व्यंजित हो जाती है। 'बंगाल के वैष्णव कवियों का शृङ्गार-वर्णन' नामक निबन्ध इसी शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है। श्लीलता के व्यापक दृष्टिकोण से आलोचना करते हुए निरालाजी कहते हैं : "नग्न सौन्दर्य की ज्योति में अश्लीलता की जरा भी सियाही नहीं लग पाई है क्योंकि नायिका अपनी इच्छा से बदन नंगा नहीं करती, पवन के झकोरे से उसका बदन नंगा हो जाता है। एक ओर उसकी विवश लज्जा, जहां तक दूसरे सौन्दर्य की अम्लान ज्योति है, दूसरी ओर इसके नवीन यौवन से सुदृढ़ झलकते हुए अंगों की आनन्द द्युति।"[२] इन उद्धरणों से निराला जी की विशुद्ध सौन्दर्य की दृष्टि से मूल्यांकन की प्रवृत्ति अत्यन्त स्पष्ट है।

निराला जी ने कवि के व्यक्तित्व तथा कविता की अन्तः प्रवृत्तियों और विशेषताओं का भी निर्देश किया है। 'जूही की कली' नामक अपनी कविता की कवि ने स्वयं आलोचना की है। इसमें उन्होंने इसके गूढ़ार्थों को स्पष्ट किया है। उसमें जो ध्वन्यात्मकता है, जो गूढ़ तत्त्व व्यंजित हैं, उनका विश्लेषण और उद्घाटन है। यह उनकी सौष्ठववादी व्याख्या है। इसमें उन्होंने रस, अलंकार आदि तत्वों का निर्देश करके सौन्दर्य पर स्थूल दृष्टि नहीं डाली है, अपितु उसकी सूक्ष्म हृदय-स्पर्शिता का विश्लेषण किया है। लेखक ने यह स्पष्ट किया है कि कविता में स्थूल उपदेश की प्रवृत्ति की आवश्यकता नहीं, सौन्दर्य स्वयं ही उपदेश का रूप धारण कर गया है। निराला जी ने छायावाद में अन्तर्हित गहन शक्ति का भी विवेचन किया है। ऐसे स्थानों पर उनकी

---

१. 'प्रबन्ध-प्रतिमा', पृष्ठ १६६-१७०।

२, वही, पृष्ठ १२३।

शैली में तर्क और विश्लेषण की प्रधानता हो जाती है। निराला जी के आलोचनात्मक निबन्ध प्रौढ़ सौष्ठववादी समीक्षा के उदाहरण हैं। उनमें प्रभावाभिव्यंजक, अभिव्यंजनावादी, और तुलनात्मक शैलियों के तत्त्व भी विद्यमान हैं। इस प्रकार इन सभी शैलियों का सामंजस्य हो गया है।

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी—स्वच्छन्दतावादी समीक्षा-पद्धति के प्रधान प्रतिनिधि तथा तलस्पर्शी समालोचक के रूप में हिन्दी-साहित्य वाजपेयी जी से परिचित है। वाजपेयी जी ने द्विवेदी-काल के उत्तरार्द्ध में समीक्षा-क्षेत्र में प्रवेश किया था। इनकी समीक्षा के प्रारम्भिक प्रयास 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते थे। ये प्रारम्भ से ही समालोचना के नवीन दृष्टिकोण के समर्थक रहे हैं। उस काल की निर्णयात्मक और स्थूल तुलनात्मक समालोचना के, जिसमें प्रायः समालोचक राग-द्वेष से प्रभावित होकर कवि की अनुचित निन्दा-स्तुति किया करते थे, वाजपेयी जी प्रारम्भ से ही विरोधी थे। वे समालोचक का कार्य तटस्थ और पक्षपात-शून्य होकर सौन्दर्य का अध्ययन करना ही मानते रहे हैं। संवत् १९८५ में मिश्रबन्धुओं द्वारा सम्पादित 'साहित्य समालोचक' में इन्होंने 'सत्समालोचना' नामक निबन्ध लिखा था। इसमें उन्होंने द्विवेदी-दल और मिश्रबन्धु-दल की चर्चा की है। इनका अभिप्राय आलोचकों की दलबन्दी से है। इसी लेख में इन्होंने वाल्टर पेटर और एडीसन आदि के आलोचना-सम्बन्धी विचार उद्धृत किये हैं।[1] और उसी प्रकार की समालोचना के लिए आलोचकों से आग्रह किया है। इन दोनों उद्धरणों को देने का एक-मात्र तात्पर्य यह दिखाना है कि वे प्रारम्भ से ही स्वच्छन्दता और सौष्ठव का आदर्श मानकर चलते हैं। इनके मत में सौष्ठव का तटस्थ उद्घाटन ही समीक्षा का उद्देश्य है। परवर्ती काल में उनके आलोचना-रूप का विकास इसी आदर्श पर हुआ है।

काव्य की धाराएँ और समीक्षा-पद्धतियाँ समानान्तर होते हुए भी एक-दूसरे से आदान-प्रदान करती हैं, एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार उनका विकास होता रहता है और कभी-कभी दोनों मिलकर एक नवीन तीसरी धारा में परिणत भी हो जाती हैं। हिन्दी-समीक्षा का इतिहास भी यही है। द्विवेदीजी, मिश्रबन्धु आदि की प्रणालियों का उपयोग शुक्ल जी ने किया तथा एक नवीन

1. To peep beauty to detach beauty and to express beauty is true criticism (Waltor Pater) Criticism is a disinterested endevour to learn and propagate the best that is known and thought to the world. (Addition)

प्रौढ़ और शास्त्रीय प्रणाली को जन्म दिया। पहले भाषा-सम्बन्धी, निर्णयात्मक, तुलनात्मक, नीतिवादी आदि पद्धतियाँ एक-दूसरे के कुछ समानान्तर चलीं, लेकिन शुक्ल जी में इन सबने मिलकर एक नवीन पद्धति का रूप धारण कर लिया। इसी प्रकार प्रसाद जी आदि में जिस स्वच्छन्दतावादी विचार-धारा का विकास हो रहा था, उसने शुक्ल जी की समीक्षा-पद्धति से आदान-प्रदान किया, भारतीय रस-पद्धति को स्वीकार किया। यह कलाकार और कला-कृति में सम्बन्ध स्थापित करने वाली विश्लेषणात्मक नवीन समीक्षा-पद्धति के रूप में विकसित हो गई। इस प्रकार इस पद्धति ने शुक्ल जी की प्रगति का पूरा उपयोग किया। उनकी शैलियों को अपने अनुरूप बनाकर अपना लिया। वाजपेयी जी की समीक्षा-पद्धति में इस सामंजस्य की अवस्था के दर्शन होते हैं। उन्होंने शुक्लजी की विश्लेषणात्मक पद्धति को कुछ आगे बढ़ाकर पूर्णतः निगमनात्मक (Inductive) कर दिया। उनके वर्ण-व्यवस्था वाले नीतिवादी दृष्टिकोण को कल्याण और लोक-मंगल में बदल दिया। साहित्य को वैयक्तिक चारित्रिक निर्माण के संकुचित क्षेत्र से ऊपर उठाकर सांस्कृतिक चेतना प्रदान करने वाला मानकर एक विस्तीर्ण और व्यापक क्षेत्र में प्रतिष्ठित कर दिया। भारतीय रस-सिद्धान्त का पाश्चात्य संवेदनीयता से सामंजस्य स्थापित करके उसे एक व्यापक सत्य के रूप में स्वीकार कर लिया। रस की यह व्यापकता प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठित थी, यह हम प्रसाद जी के प्रसंग में कह चुके हैं। वाजपेयी जी की उपज्ञता तो इसको ग्रहण करने में ही है। कहने का तात्पर्य यह है कि वाजपेयी जी शुक्ल जी की अमूल्य निधि को लेकर, जिस पर उनका पूर्ण अधिकार है, आगे बढ़ते हैं और हिन्दी-साहित्य में नवीन अध्याय प्रारम्भ करते हैं। इस अध्याय का उपक्रम तो प्रसाद जी में बहुत पहले ही हो चुका था। पन्त जी, निराला जी, पं० इलाचन्द्र जोशी, गंगाप्रसाद पाण्डेय, पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि अनेक व्यक्तियों ने इसके विकास में महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। पर इसका पूर्ण विकास वाजपेयी जी में ही मिलता है। आज फिर हिन्दी-साहित्य में समन्वयवादी प्रवृत्ति प्रबल हो रही है। ऐतिहासिक, प्रगतिवादी, फ्रायडवादी, स्वच्छन्दतावादी, प्रभाववादी आदि सभी शैलियाँ कुछ दूर तक सामान्यतः पृथक् और स्वतन्त्र रूप से विकसित होकर मिल रही हैं। इस प्रकार एक नवीन पद्धति विकसित हो रही है जिसे समन्वयवादी नाम दिया जा सकता है। बाबू गुलाबराय जी इसके प्रधान प्रेरक हैं। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि हिन्दी-समीक्षा की विभिन्न शैलियाँ एक-दूसरे को प्रभावित करती हुई भी, समानान्तर चलती हुई, कभी मिलकर मोटी धार बनाती हुई,

फिर पृथक् होती हुई आगे बढ़ रही हैं। यही प्रगति का लक्षण है। अन्य पद्धतियों की तरह शुक्ल-सम्प्रदाय और स्वच्छन्दतावादी समीक्षा-पद्धति का भी सम्मिलन और विकास हुआ है, और हो रहा है। इस समन्वय का अधिक श्रेय वाजपेयी जी को ही है। इस प्रकार वाजपेयी जी की आलोचना समय की दृष्टि से समकालीन होते हुए भी प्रगति की दृष्टि से आगे की अवस्था मानी जा सकती है।

वाजपेयी जी ने काव्य-शास्त्र के सिद्धांतों का विवेचन किया है। प्रयोगात्मक आलोचना में प्रासंगिक रूप से जितने विवेचन की आवश्यकता हुई है उतने के आधार पर ही उनको काव्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी मान्यताओं का परीक्षण करना पड़ा है। उन्हें भारतीय रसवाद का सिद्धांत मान्य है। पर पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धांतों का पर्याप्त प्रभाव होने के कारण उन्होंने इसकी व्याख्या शास्त्र के शब्दों में नहीं की है। वस्तुतः वे काव्य में हृदयस्पर्शिता और आह्लाद को ही प्रधान मानते हैं। रस को काव्य की मूलभूत वस्तु मानते हुए भी वे उसके ब्रह्मानन्द सहोदरत्व अथवा अलौकिकता से सहमत नहीं प्रतीत होते हैं। उन्होंने कहा है कि रसानुभूति-सम्बंधी अलौकिकता के पाखंड से काव्य का अनिष्ट ही हुआ है।[1] उससे वैयक्तिकता की वृद्धि हुई और सांस्कृतिक ह्रास हुआ है। उनकी यह भी मान्यता है कि रस-सिद्धांत को इतना विशद और व्यापक रूप प्रदान किया जा सकता है कि वह सारी साहित्य-समीक्षा का मूल आधार बन सके। इसके लिए उसमें पाश्चात्य काव्य-सिद्धांत और प्रणालियों का आकलन अत्यधिक आवश्यक है। इस प्रकार से वह साहित्य-मात्र की समीक्षा का मानदण्ड हो सकता है। इस सबका तात्पर्य केवल रस का वेद्यांतर-संस्पर्शशून्यत्व और ब्रह्मानंद सहोदरत्व आदि विशेषणों द्वारा प्राप्त सीमित अर्थ से मुक्त करके उसे केवल आह्लादकता का सूचक मानकर भाव, रसाभास, भावाभास, अलंकार-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि आदि सबके आनंद का प्रतीक मानना और कला-मात्र के आनन्द को रस नाम से अभिहित करना है। रस की अलौकिकता की आड़ में बहुत-से असांस्कृतिक चित्र उपस्थित किये गए हैं तथा रस की परिधि को इन विशेषणों से संकुचित करके बहुत-सा सत्साहित्य भी उपेक्षित हुआ है, इसलिए रस के सम्बन्ध में एक व्यापक दृष्टिकोण अपनाने की नितान्त आवश्यकता है। रस के सम्बन्ध में वाजपेयी जी का यही दृष्टिकोण है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि संवेदनीयताजन्य आह्लाद को आनंद

---

१. 'हिन्दी साहित्य: बीसवीं शताब्दी' पृष्ठ ६७।

मानने की प्रवृत्ति है। वाजपेयी जी के रस-सम्बंधी दृष्टिकोण से स्पष्ट है कि वे अभिव्यंजनावादी नहीं हैं। वे काव्य में अनुभूति की तीव्रता को ही प्रधान मानते हैं। वे अभिव्यंजना को निम्न स्तर की वस्तु मानते हैं। "काव्य अथवा कला का सम्पूर्ण सौंदर्य अभिव्यंजना का ही सौंदर्य नहीं है, अभिव्यंजना काव्य नहीं है। काव्य अभिव्यंजना से उच्चतर तत्त्व है। उसका सीधा सम्बन्ध मानव-जगत् और मानव-वृत्तियों से है, जब कि अभिव्यंजना का सम्बन्ध केवल सौंदर्य-प्रकाशन से है।"[1] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि वे अभिव्यंजना के अनावश्यक महत्त्व का ही विरोध करते हैं। अनुभूति की तीव्रता और हृदयस्पर्शिता से सामंजस्य रखने वाली अभिव्यक्ति उन्हें मान्य है। उनकी यह मान्यता उनके अलंकार-सम्बन्धी दृष्टिकोण से और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। वे अलंकारों को रस-सिद्धि का साधन-मात्र मानते हैं। उनका यह मत भारतीय और सर्वमान्य है। अलंकार शब्द से उनका तात्पर्य उसके बँधे हुए प्रकारों से ही प्रतीत होता है, शब्द की भंगिमा से नहीं; जो काव्य की भाषा का अनिवार्य तत्त्व है। वाजपेयी जी का कहना है कि "कविता अपने उच्चतम स्तर को पहुँचकर अलंकार-विहीन हो जाती है।" "कविता जिस स्तर पर पहुँचकर अलंकार-विहीन हो जाती है वहाँ वह वेगवती नदी की भाँति हाहाकार करती हुई हृदय को स्तम्भित कर देती है। उस समय उसके प्रवाह में अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि-आदि न जाने कहाँ बह जाते और सारे सम्प्रदाय न जाने कैसे मटियामेट हो जाते हैं।"[2] वाजपेयी जी तो यहाँ तक कहते हैं कि इस प्रकार की उत्कृष्ट कविता में अलंकार वही कार्य करते हैं जो दूध में पानी।[3] अलंकार-शास्त्र ने काव्य-तत्त्वों और कवि-कर्म की जो बँधी हुई प्रणाली बताई है, उसके सबन्ध में यह धारणा सर्वथा समीचीन है। पर अभिनव गुप्त आदि ने इन्हें जिस व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है वहाँ इनका पृथक् अस्तित्व ही नहीं रह जाता। वहाँ अलंकार कवि-प्रयत्न-सापेक्ष न होकर अभिव्यक्ति के स्वाभाविक और सहज अंश हो जाते हैं। आलोचक भी इनमें आह्लाद की वृद्धि की क्षमता ही देखता है। वाजपेयी जी का यह दृष्टिकोण पूर्णतः सौष्ठववादी है, जिसमें अनुभूति और अभिव्यक्ति का सामंजस्य-मात्र है। उनके अलंकार-सम्बन्धी दृष्टिकोण का अभिनव गुप्त आदि के मतों से भी पूर्ण सामंजस्य है।

---

१. 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी', पृष्ठ ५६।

२. वही, पृष्ठ ६८।

३. वही, पृष्ठ ६६।

वाजपेयी जी को काव्य की स्थूल उपयोगिता मान्य नहीं है। वे काव्य में जीवन की प्रेरणा, सांस्कृतिक चेतना और भावनाओं के परिष्कार की क्षमता मानते हैं। काव्य से नीति का बहिष्कार करना तो उनको अभिप्रेत नहीं है। पर वे काव्य पर नैतिक सिद्धान्त का नियंत्रण परोक्ष ही मानते हैं। उच्च आदर्शों की दुहाई और प्रगतिशील विचार-धारा का साहित्य की उत्कृष्टता से नित्य और अनिवार्य सम्बन्ध उन्हें बिलकुल मान्य नहीं है। फिर भी वे काव्य के सम्बन्ध में उठाये गए श्लील-अश्लील के प्रश्न की नितान्त अवहेलना नहीं करते हैं। उनकी निश्चित धारणा है कि उत्कृष्ट काव्य कभी अश्लील हो ही नहीं सकता। पर उनकी श्लील और अश्लील-सम्बन्धी धारणाएँ रूढ़ नहीं हैं। वे उच्च मानवता की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करते हैं, धर्म-शास्त्र की सीमित परिभाषाओं के आधार पर नहीं। "मेरी समझ में इसका सीधा उत्तर यह है कि महान् कला कभी अश्लील नहीं हो सकती। उसके बाहरी स्वरूपों में यदा कदा श्लीलता-अश्लीलता सम्बन्धी रूढ़ आदर्शों का व्यतिक्रम भले ही हो और क्रान्ति-काल में ऐसा हो भी जाता है, पर वास्तविक अश्लीलता, अमर्यादा या मानसिक संतुलन उसमें नहीं हो सकता। साहित्य सदैव सबल सृष्टि का ही हिमायती होता है।"[1] जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि वाजपेयी जी साहित्य की निरुद्देश्यता के समर्थक नहीं हैं। वे विकासोन्मुख जीवन का प्रेरक होना साहित्यकार की श्रेष्ठता का प्रमाण मानते हैं। साहित्य में निर्बल भावनाओं का चित्रण केवल अपर पक्ष के लिए ग्रहण करना चाहिए। उसीको आदर्श मान लेना साहित्य के उच्च और महान् उद्देश्य से च्युत हो जाना है। वाजपेयी जी उपदेश-वृत्ति को भी साहित्य नहीं मानते। उनकी दृष्टि में जीवन-संदेश के साथ ही उदात्त भाव और ललित कल्पनाएँ भी साहित्य के आवश्यक तत्त्व हैं।[2] काव्य-शास्त्र के तत्त्वों से ऊपर उठकर सौन्दर्य का उद्घाटन ही उनकी दृष्टि से आलोचक का प्रधान कार्य है।[3] "उसमें तो भावना का उद्रेक, उच्छ्वास की परिष्कृति और प्रेरकता ही मुख्य मापदंड है।"[4]

प्रयोगात्मक आलोचनाओं में वाजपेयी जी का ध्यान कलाकार के मनोभावों और व्यक्तित्व के विकास की ओर ही अधिक आकृष्ट हुआ है। कलाकार की अन्तःप्रेरणा और चिन्तन-धारा का अनुसंधान एवं विश्लेषण उनकी समीक्षा के मूल

१. 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी', भूमिका भाग, पृष्ठ २३।
२. 'जयशंकरप्रसाद', पृष्ठ २४-२५।
३. 'हिन्दी साहित्य: बीसवीं शताब्दी', पृष्ठ ७४।
४. 'जयशंकरप्रसाद', पृष्ठ ११-१२।

तत्त्व है। कलाकार के व्यक्तित्व का निर्माण करने वाली सामाजिक परिस्थितियों तथा दार्शनिक विचार-धाराओं का भी वे निरूपण करते हैं। कला-कृति और कलाकार के व्यक्तित्व तथा जीवन की प्रतिक्रिया में भी समन्वय को कलात्मक स्वरूप प्रदान करने में कितनी सफलता प्राप्त हुई है और कला-कृति पाठक के हृदय को कितना स्पर्श कर सकी है। "साहित्य के मानसिक और कलात्मक उत्कर्ष का आकलन करना इन चित्रणों का प्रधान उद्देश्य रहा है, यद्यपि काव्य की सामयिक प्रेरणा के निरूपण में भी मैं उदासीन नहीं रहा हूँ।"[1] वाजपेयी जी की आलोचनाओं की दो ही प्रधान विशेषताएँ हैं, कलाकार की अन्तर्वृत्तियों का अध्ययन तथा कला-कृति के सौष्ठव का अनुभूतिपूर्ण विश्लेषण। कलात्मक सौष्ठव का अध्ययन करते समय वे काव्य के बाह्य स्वरूप, अलंकार, शैली आदि पर भी विचार कर लेते हैं। पर प्रधानतः उनका ध्यान रस अथवा काव्य के अनुभूति पक्ष पर ही रहता है। रस के सम्बन्ध में वाजपेयी जी शुक्ल जी से भिन्न पथ का अनुकरण करते हैं। वे यह भी निर्देश नहीं करते कि प्रस्तुत पद में अमुक रस या रसाभास है। पर यह देखने की चेष्टा करते हैं कि यह रसानुभूति कितनी छिछली अथवा सौम्य है, इसकी अभिव्यंजना सशक्त है अथवा निर्बल और सामाजिक जीवन पर इसकी प्रतिक्रिया क्या होगी।[2] इस प्रकार वाजपेयी जी की आलोचना पहले से कुछ भिन्न पथ का अनुसरण कर रही है। कलाकार के व्यक्तित्व की अन्तःप्रेरणाओं का अध्ययन करते समय उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि पर भी वे विचार करते हैं, पर वह अपेक्षाकृत गौण ही रह जाता है। साहित्य में जीवन की प्रेरणा कितनी सबल है, इसकी ओर तो वाजपेयी जी का ध्यान बहुत ही कम गया है। लेकिन वे इसका अध्ययन करना अवश्य चाहते हैं। उन्होंने स्वयं यह स्वीकार किया है कि कलाकार के व्यक्तित्व तथा कलात्मक सौष्ठव के अतिरिक्त आलोचना-सम्बन्धी अन्य प्रश्नों पर उनका ध्यान क्रमशः कम होता गया है और जीवन-संदेश वाले सूत्र को तो उन्होंने सबसे अन्त में गिनाया है।[3] कवि की दार्शनिक और सामाजिक विचार-धाराओं पर भी गौण रूप से ही विचार हुआ है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि वाजपेयी जी की आलोचना-पद्धति एक प्रकार से सर्वांगीण है। उसमें कवि के व्यक्तित्व, अनुभूति और अभिव्यक्ति के सौष्ठव के साथ ही, चरित्र-चित्रण, वस्तु, काव्य-शैली आदि पाश्चात्य तत्त्वों पर भी विचार हुआ

१. 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं सदी', पृष्ठ २६।
२. वही, पृष्ठ ५६।
३. वही, पृष्ठ २७।

है। वाजपेयी जी कला और कलाकार की सामाजिक पृष्ठभूमि तथा दार्शनिक चिन्तन का आकलन करते हुए कला-वस्तु और कलाकार के जीवन में समन्वय स्थापित करने का भी प्रयत्न करते है।

'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी', 'जयशंकर प्रसाद' और 'सूर-संदर्भ' की भूमिका ये तीनों वाजपेयीजी की आलोचना-पद्धति की प्रतिनिधि रचनाएँ है। प्रथम दो रचनाओं में तो वाजपेयी जी प्रधानतः कलाकार की अन्तर्वृत्तियों का अनुसन्धान करते है और उनका कला-कृति से समन्वय स्थापित करते हैं। कहीं-कहीं कलात्मक सौष्ठव और कवि की चिन्तन-धारा का भी विश्लेषण हो जाता है। 'जयशंकर प्रसाद' में 'कामायनी' की कथा-वस्तु और भाव-विन्यास की भी अनुभूतिमयी व्याख्या है। आलोचक ने प्रसादजी के दार्शनिक विचारों का भी अध्ययन किया है। 'बीसवीं शताब्दी' के निबन्धों में तो प्रधानतः उनका ध्यान कवि की अन्तर्वृत्तियों के विश्लेषण की ओर ही रहा है। पर 'सूर-सन्दर्भ' की भूमिका में आलोचक पूर्ण सौष्ठववादी हो गए हैं। कलाकार के व्यक्तित्व तथा अन्तर्वृत्तियों की ओर उनका ध्यान उतना ही आकृष्ट हुआ जितना कि भाव-सृष्टियों की मौलिक विशेषताओं के उद्घाटन के लिए अनिवार्य था। "कवि द्वारा नियोजित प्रतीकों और प्रभावों का अध्ययन करना होगा और अन्ततः कवि की मूल संवेदना और मनोभावना का उद्घाटन करते हुए यह बताना होगा कि वह अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफल अथवा असफल हुआ है।"[1] इस भूमिका में आलोचक ने सूर-साहित्य के गम्भीर अध्ययन का परिचय दिया है। वे इन पदों के अन्तस्तल में पैठकर उनके तन्मय करने वाले भाव-सौन्दर्य और कथा-सूत्र का समन्वय स्पष्ट देख लेते है। इससे वे सूर की उच्च प्रतिभा का स्पष्ट परिचय देते है। सूर के पदों को केवल मुक्तक रचना मानकर हृदय को सन्तोष-सा ही नहीं होता है। सहृदय पाठक का मन वास्तविक सौन्दर्य की तह में पहुँचकर भावानुभूति की असीम तल्लीनता का अनुभव नहीं कर पाता। मुक्तक और प्रबन्ध के भेदों पर आश्रित आलोचना से उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो वह कवि के सौन्दर्य का बहुत ही हल्का-सा आभास ग्रहण कर पाया है। पाठक को स्वयं आत्म-तृप्ति नहीं हो पाती। वाजपेयी जी की सूक्ष्म आलोचना-दृष्टि ने उस भाव-सौन्दर्य का उद्घाटन किया है, जिसमें पाठक तल्लीन होकर आह्लाद से उछल पड़ता है। मुझे तो इस आलोचना के पढ़ने पर ऐसा प्रतीत हुआ मानो जिस भाव-सौन्दर्य का अस्पष्ट आभास सहृदय

१. 'सूर-सन्दर्भ', पृष्ठ २८।

पाठक को कभी-कभी होता है। उसका विशद और स्पष्ट अनुभूतिमय निरूपण करके आलोचक ने एक अस्पष्ट मानसिक आकांक्षा की परितृप्ति की है। अस्पष्ट आभास के भाव-सौन्दर्य की स्पष्ट अनुभूति और साक्षात्कार के फल-स्वरूप पाठक आह्लाद से उछल पड़ता है। यहाँ पर वाजपेयी को कार्लाईल के शब्दों में Interpreter btewcen the inspired and the uninspired. कह सकते हैं। यह वाजपेयी जी की ही सूक्ष्म दृष्टि है जिसने सूर के पदों में भाव-सौन्दर्य और कथा-सूत्र के समन्वय को एक साथ देखा है। रूप-सौन्दर्य और कथा-सूत्र के विचित्र सम्मिश्रण का भी वाजपेयी जी ने उद्घाटन किया है। इस उत्कृष्ट भाव-व्यंजना और कौशल का प्रत्यक्ष कर लेने के बाद पाठक कलाकार के व्यक्तित्व पर मुग्ध हो जाता है। भाव-सौन्दर्य, रचना-चातुरी, कलाकार की मौलिक उद्भावना और कौशल पर सहज ही मुग्ध हो जाने के कारण इस आलोचना की शैली में अनुभूति-व्यंजकता और एक स्वाभाविक लालित्य आ गया है। आलोचक की निर्णयात्मक प्रवृत्ति न होते हुए भी कवि पर मुग्ध होकर मानो प्रशंसा के प्रवाह में उसका भावाक्षिप्त हृदय बह उठा है। "स्थिति विशेष का पूरा दिग्दर्शन भी करें, घटना-क्रम का आभास भी दें और साथ ही समुन्नत कोटि के रूप सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य की परिपूर्ण झलक भी दिखाते जायँ, यह विशेषता हमें कवि सूरदास में ही मिलती है। गो-चारण अथवा गोवर्द्धन-धारण के प्रसंग कथात्मक है। किन्तु उन कथाओं को भी सजाकर सुन्दर भाव-गीतों में परिणत कर दिया गया है। हम आसानी से यह भी नहीं समझ पाते कि कथानक में भीतर रूप-सौन्दर्य अथवा मनो-गतियों के चित्र देख रहे हैं; अथवा मनोगतियों और रूप की वर्णता के भीतर कथा का विकास देख रहे हैं।"[1] लेखक ने कृष्ण के व्यक्तित्व की कल्पना का बहुत ही अच्छा विश्लेषण किया है। वे व्यक्तित्व के विकास के कारणों का भी उद्घाटन करते गए हैं। शुद्धाद्वैतवाद और भक्ति के सिद्धान्तों के अनुरूप कृष्ण के व्यक्तित्व का विकास करना ही सूर का अभिप्रेत था। इसीलिए सूर उसी आदर्श पर कृष्ण के व्यक्तित्व का विकास दिखाते हैं। आलोचक की तीव्र दृष्टि उसके उद्घाटन में सफल हुई है। सूर स्वाभाविकता में अलौकिकता के दर्शन कराना चाहते थे। कृष्ण के व्यक्तित्व की यही कुञ्जी है। पर उसमें अलौकिकता का उतना ही आभास है जितना माधुर्य की अनुभूति के लिए अपेक्षित था। ऐश्वर्य के हल्के-से आभास से सम्पन्न कृष्ण का व्यक्तित्व

---

१. 'सूर-सन्दर्भ', पृष्ठ १५।

ही शुद्धाद्वैतवादी भक्ति के उपयुक्त हो सकता था। वाजपेयी जी का तल-स्पर्शी आलोचक इसकी ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करता है। "कला की दृष्टि से यह अलौकिक आभास एक क्षणिक और उपयोगी संभ्रम की सृष्टि कर जाता है। इतना गहरा वह नहीं पैठता कि माधुर्य की अनुभूति में किसी प्रकार का विक्षेप पड़े। यद्यपि उस माधुर्य की तह में ऐश्वर्य की एक हल्की आभा भी अपना प्रभाव डाले रहती है।...बालक कृष्ण की यह मूर्ति पाप-पुण्य-निर्लिप्त दीख पड़ती है।...पाप-पुण्य-निर्लिप्त इस शुद्धाद्वैत की प्रतिष्ठा बिना चोरी किये कैसे होती। अकर्म के भीतर से पवित्र मनोभावना का यह प्रसार एक रहस्य की सृष्टि करता है। यह रहस्य प्रकृत काव्य-वर्णन का अंग बनकर आया है, यही सूरदास की विशेषता है।"[१] ऊपर के उद्धरण से यह स्पष्ट है कि कलाकार के व्यक्तित्व, कलात्मक सौष्ठव और उन दोनों के समन्वय का उद्घाटन करना वाजपेयी जी की शैली की प्रधान विशेषता है। आलोचक कितनी गहराई में जाकर कवि के भाव-सौष्ठव और चरित्र-कल्पना की उच्चता तथा महत्ता का स्वयं साक्षात्कार कर लेता है एवं अपनी अनुभूतिमयी शैली से उसका उद्घाटन करके पाठकों को भी आह्लादित होने का अवसर प्रदान करता है। आलोचक सौन्दर्य का मूल्यांकन कर रहा है, पर केवल इंगित शैली में।

ऊपर हम यह कह चुके हैं कि सौष्ठववादी समालोचक भावों की असीमता और अनन्तता के दर्शन कर लेता है। इस प्रकार का चित्रण उसकी प्रौढ़ क्षमता और भाव-पारदर्शिता का परिचायक है। जब आलोचक कवि के भाव-सौन्दर्य की असीमता, अथवा विराट् भावना (Sublimity) का उद्घाटन करता है, वह स्वयं तो असीम अनिवर्चनीय आह्लाद का अनुभव तो करता ही है, साथ ही पाठक को भी अपने साथ उस भाव-भूमि में ले जाता है। यही आलोचक की पूर्ण सफलता है। हिन्दी-साहित्य में इतनी गहराई तक बहुत कम समालोचक जाने का प्रयत्न करते हैं। ऊपर सूर के भाव-सौन्दर्य के चित्रण में वाजपेयी जी ने इसी गम्भीर पद्धति का अनुसरण किया है। भावों की असीमता की अनुभूति और चित्रण में आलोचक को जिस विचित्र तल्लीनता और आह्लाद का अनुभव होता है उसीका थोड़ा आभास नीचे की पंक्तियों मे मिलता है। लेखक की इन पंक्तियों में पाठक के हृदय में अनुभूति जाग्रत करने की क्षमता है। पाठक को भी उस असीमता का अनुभव कराने का

१. 'सूर-सन्दर्भ', पृष्ठ १५-१६।

सफल प्रयास है। "रास के वर्णन में सूरदास जी का काव्य परिपूर्ण आध्यात्मिक ऊँचाई पर पहुँच गया है। केवल 'श्रीमद्भागवत' की अनुकृति कवि ने नहीं की है, वरन् वास्तव में वे अनुपम आध्यात्मिक रास से विमोहित होकर रचना करने बैठे हैं। उन्होंने रास की जो पृष्ठभूमि बनाई है, जिस प्रशान्त और समुज्ज्वल वातावरण का निर्माण किया है, पुनः रास की जो सज्जा, गोपियों का जैसा संगठन और कृष्ण की ओर सबकी दृष्टि का केन्द्रीकरण दिखाया है और रास की वर्णना में संगीत की तल्लीनता और नृत्य की बँधी गति के साथ एक जागरूक आध्यात्मिक मूर्च्छना, अपूर्व प्रसन्नता के साथ प्रशान्ति और दृश्य के चटकीलेपन के साथ भावना की तन्मयता के जो प्रभाव उत्पन्न किये गए हैं, वे कवि की कला-कुशलता और गहन अन्तर्वृष्टि के द्योतक हैं।"[1]

वाजपेयी जी में हिन्दी-समीक्षा की सौष्ठववादी धारा की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई है। उसकी आलोचना पूर्णतः निगमनात्मक और इंगित शैली की कही जा सकती है। उन्होंने भारतीय अलंकार-शास्त्र से तथा पाश्चात्य-समीक्षा-शास्त्र से बहुत-कुछ ग्रहण किया है। उन दोनों के सम्मिलित तथा समन्वित रूप को आत्मसात् कर लिया है। हिन्दी की सौष्ठववादी आलोचना-पद्धति भी रस-सिद्धान्त के व्यापक और विशद स्वरूप को अपनाकर चली है, इसलिए वह पश्चिम की तरह पूर्ण स्वच्छन्दतावादी नहीं कही जा सकती। उसका अविकल अनुकरण तो किसी प्रकार भी नहीं कहा जा सकता। इसलिए मैंने इसे सौष्ठव-वादी कहना अधिक समीचीन समझा है। रस की जो प्रतिष्ठा अभिनव गुप्त, पंडितराज आदि द्वारा हुई है, वह सौष्ठववादी समीक्षा की ही समर्थक है, यह हम पहले कह चुके हैं। वाजपेयीजी में इसीके प्रयोगात्मक रूप के दर्शन होते हैं। इस पद्धति का हिन्दी में पूर्ण विकास हो गया है, यह नहीं माना जा सकता। वाजपेयीजी में इसके विकसित और प्रौढ़ रूप के दर्शन अवश्य होते हैं। उनमें भी विकास हुआ है। वे पहले कलाकार के व्यक्तित्व के परिचायक थे, और धीरे-धीरे काव्य-सौष्ठव के परीक्षक बने हैं। अभी इस समन्वय में विकास की क्षमता है। वाजपेयीजी में इसके तत्त्व विद्यमान हैं। इस समीक्षा-पद्धति के सभी आलोचक जीवित हैं, इसलिए अभी यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इसका इत्थंभूत रूप यही है। अभी यह विकासशील है, स्थिर नहीं हुई है। वाजपेयी जी के आलोचक का एक विशेष व्यक्तित्व तो बन गया है पर अभी वह विकासशील है। प्रगतिवादी और मनोविश्लेषणात्मक आलोचना

---

१. 'सूर-सन्दर्भ', पृष्ठ २६।

की ओर भी उनका ध्यान गया है। पर इन शैलियों में उनका सत्य का आंशिक रूप ही दिखाई पड़ता है। इनमें काव्य के सार्वजनिक और सर्वकालिक भाव-संवेदन की दृष्टि से आलोचना का अभाव है। इस प्रकार यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वाजपेयी जी प्रगति का तात्पर्य भावों की सार्वजनिकता तथा जीवन-संदेश की सर्व-व्यापकता से लेते है। पर उनका यह रूप अभी पूर्णतः स्पष्ट नहीं है। प्रगतिवाद के प्रति उनकी प्रतिक्रियाएँ क्या सारे साहित्य की ही प्रतिक्रियाएँ कही जा सकती है यह अभी पूर्णतः निश्चित नहीं।

नगेन्द्रजी—डॉ० नगेन्द्र भी इसी पद्धति के प्रधान समालोचकों में से हैं। उनकी साहित्य-सम्बन्धी मान्यताएँ प्रायः वे ही है जिनका निरूपण हम इस पद्धति के सामान्य निरूपण तथा वाजपेयी जी के प्रसंग में कर आए हैं। वे साहित्य को व्यक्ति की चेतना का परिणाम समझते है। साहित्यकार के व्यक्तित्व के निर्माण करने वाली सामूहिक चेतना का महत्त्व गौण है। वह साहित्यकार के निर्माण में सहायक है, पर साहित्य तो साहित्यकार की आत्माभिव्यक्ति ही है। इसे डॉ० नगेन्द्र भी मानते हैं कि साहित्य-समीक्षा में प्रधानतः साहित्यकार के व्यक्तित्व का महत्त्व तथा उसकी सफल अभिव्यक्ति पर ही विचार होना चाहिए। अन्य सारे मानदंड उनकी दृष्टि से गौण है, अतः उतने विश्वसनीय नहीं हैं। आत्माभिव्यक्ति की सफलता भी रस में ही है। रस शब्द से उनका भी तात्पर्य वही है, जो इस सम्प्रदाय के आलोचक मानते आए है। वे रस शब्द को संवेदनीयता के अर्थ में प्रयुक्त करते है। कवि की आत्माभिव्यक्ति में उसकी भावुकता तथा बौद्धिकता दोनों का समावेश है। वे आलोचक के लिए भी एक विशेष रसज्ञता की आवश्यकता मानते हैं। प्रत्येक व्यक्ति कवि के सौन्दर्य का उद्घाटन करने में असमर्थ होता है। परिमार्जित रुचि वाले आलोचक का ही यह कार्य है। इसके अतिरिक्त वे कुछ शास्त्रीय आधार का होना भी आवश्यक मानते है। नगेन्द्र जी समीक्षा की वैयक्तिता में विश्वास नहीं करते। आलोचक आलोच्य वस्तु को अपनी दृष्टि से समझने का प्रयत्न करता है, उसका मूल्यांकन भी अपनी ही दृष्टि से करता है, पर फिर भी दूसरों की आलोच्य रचना का महत्त्व स्पष्ट करने तथा उसके सौन्दर्य का आस्वाद करने की इच्छा अवश्य रहती है। इसलिए नगेन्द्र जी साहित्य-समीक्षा में भी साधारणीकरण के सिद्धान्त को मानते है। यह कारण है कि उनको आलोचना का एक शास्त्रीय आधार भी मानना पड़ा है। इस कारण से उनकी समीक्षा इन दोनों सम्प्रदायों की मिलन-रेखा मानी जा सकती है। उनकी समीक्षा में पाश्चात्य और भारतीय तत्त्वों पर विचार हुआ है। उन्हींको आधारभूत मानकर कृति के

मूल्यांकन की प्रवृत्ति है। वे रस, अलंकार आदि पूर्वी तथा आवेग, कल्पना, चिन्तन, अनुभूति आदि पाश्चात्य तत्त्वों को आधार मानकर चले हैं इस प्रकार उनकी समीक्षा-पद्धति पूर्णतः निगमनात्मक नहीं कही जा सकती। वह विश्लेषणात्मक और अनुभूतिव्यंजक अवश्य है। नगेन्द्र जी साहित्य का उद्देश्य प्रधानतः आनन्द ही मानते हैं। पर सामूहिक जीवन को चेतना प्रदान करने की साहित्य की क्षमता को भी अस्वीकार नहीं करते। वे साहित्य का जीवन से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं करते। जीवन साहित्य से प्रेरणा ग्रहण करके अग्रसर होता है, यही उन्हें मान्य है।

नगेन्द्र जी समीक्षा-सम्बन्धी मान्यताओं में प्रयोगात्मक आलोचना की अपेक्षा सौष्ठववादी अधिक कहे जा सकते हैं। उन्होंने आलोचना की जो शैली अपनाई है, वह वाजपेयीजी की अपेक्षा शुक्लजी के अधिक सन्निकट है। उनमें कवि की विचार-धारा का अध्ययन अवश्य हुआ है। पन्तजी के चिन्तन और मानस-विकास का अच्छा मनोवैज्ञानिक अध्ययन हुआ है।[1] कई स्थानों पर कवि के व्यक्तित्व से उसकी रचना का सम्बन्ध भी स्थापित हुआ है। कवि का व्यक्तित्व ही किस प्रकार कविता का रूप धारण कर गया है, इसकी ओर भी पाठक का ध्यान आकृष्ट किया गया है। इसके अतिरिक्त रचना से कवि के व्यक्तित्व का अनुमान भी है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि नगेन्द्र जी ने मनोवैज्ञानिक शैली का पर्याप्त प्रयोग किया है और यही उनकी शैली की प्रधान विशेषता भी है। पर काव्य-वस्तु, भाव-व्यंजना, भाषा-शैली आदि की दृष्टि से किये गए उनके विवेचन का शुक्ल-पद्धति में अन्तर्भाव मानना असमीचीन नहीं है। कलाकार के व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक अध्ययन तथा समीक्षा की मान्यताओं के आधार पर वे कुछ नवीन समीक्षा-पद्धति के समर्थक माने जा सकते हैं, वरना तो इनकी शैली में शुक्ल-पद्धति के ही तत्त्व अधिक हैं। उनका देव का अध्ययन इसी शैली का एक वृहद् ग्रंथ है। इसमें देव के ग्रंथों का परिचय है। कवि की विशेषताओं का विश्लेषण करते समय उन्होंने शृंगार तथा उसके भेदों को ही दृष्टि में रखा है। कहीं-कहीं उनकी अनुभूति आदि का भी विश्लेषण हुआ है, जिसमें साधारणतः निगमनात्मक शैली का आभास भी मिल जाता है।[2] देव की रूप और सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणाओं का भी निरूपण है। उनके आधार पर देव की कविता का अध्ययन हुआ है। पर

---

१. 'सुमित्रानन्दन पन्त', नगेन्द्र।

२. देखिये 'रीतिकाल और देव', शृङ्गार-वर्णन का अध्याय।

प्रायः प्राचीन संचारी आदि ही आलोचना के आधारभूत तत्त्व रहे हैं। देव में ही नहीं अपितु पन्तजी की कविता में भी मनोदशाओं के चित्रण की ओर नगेन्द्र जी का ध्यान गया है। 'सरल मौग्ध्य' या 'किशोर-सारल्य' का उदाहरण देकर शुक्लजी की तरह 'कितना-मुग्धकारी' कहा है।[1] कहने का तात्पर्य केवल यह है कि इनकी शैली में शुक्ल-पद्धति का स्पष्टतः अनुकरण है, और उन तत्त्वों के दर्शन होते हैं जिन्हें सौष्ठववादी पद्धति के अन्य आलोचकों ने नहीं अपनाया है। लेकिन साथ ही इनमें व्यक्तित्व का विश्लेषण करने वाली प्रवृत्ति भी है। वहाँ पर भी आलोचक का ध्यान कलाकार के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर न जाकर केवल कतिपय विशेषताओं पर ही गया है। इसी सम्मिश्रण के कारण हमने इन्हें दोनों पद्धतियों की मिलन-रेखा पर बताया है। नवीन दृष्टिकोण से नगेन्द्र जी की समीक्षा का बहुत बड़ा गुण मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। उन्होंने भारतीय साहित्य-शास्त्र के तत्त्वों का अध्ययन पाश्चात्य मनोविज्ञान और सौन्दर्य-शास्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर किया है। इसके फलस्वरूप उन्होंने जिन तथ्यों की उद्भावना की है उनका उपयोग भी अपनी समीक्षा में किया है। इस प्रकार व्यक्ति, कला-कृति और सिद्धान्तों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इनकी समीक्षा की प्रधान विशेषता है।

पं० शांतिप्रिय द्विवेदी—कुछ के व्यक्तित्व निर्मित होते हैं, इसलिए वे सुस्पष्ट भी होते हैं। उनके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का कोई भी स्थल उनकी सम्पूर्णता का द्योतन कर देता है। उनके सम्बन्ध में एक स्थान से जो धारणा बना ली जाती है, वह सर्वत्र ठीक उतरती है। ऐसे व्यक्तित्व अपनी विशेषताओं का परिस्थितियों से प्रेरित होकर उद्घाटन-मात्र करते हैं। परिस्थितियाँ उद्घाटन की प्रेरणा के अतिरिक्त उनके व्यक्तित्व में कुछ परिमार्जन अथवा परिवर्तन नहीं करतीं, आवरण को हटाकर अधिक स्पष्ट भर कर देती हैं। उसके प्रकाश को अवरुद्ध करने वाली वस्तुओं को हटा भर देती है। पर ऐसे व्यक्तित्व परिस्थितियों से निर्मित नहीं होते, एक प्रकार उन्हें स्थिर व्यक्तित्व कह सकते हैं। एक-दूसरे प्रकार का व्यक्तित्व भी होता है, जो निरन्तर विकास-शील है। परिस्थितियाँ उसको बनाती रहती हैं। वे गतिशील हैं, इसलिए उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के दर्शन एक स्थान पर कभी नहीं हो सकते। एक स्थल की घटना तद्देशीय तत्कालीन ही होती है। उससे सम्पूर्णता का अनुमान प्रायः ठीक नहीं होता। हिन्दी-साहित्य में प्रायः पहले प्रकार के व्यक्ति

[1] 'सुमित्रानन्दन पन्त', पृष्ठ ३२-३३।

अधिक ही है। पर पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी दूसरे प्रकार के व्यक्ति हैं। उनका व्यक्तित्व चिरन्तन विकासशील प्रतीत होता है। परिस्थितियां उनके बाह्य जीवन को ही प्रभावित नहीं करती हैं, पर उनके अन्तस् में भी आमूल परिवर्तन कर देती हैं। उनका जीवन सामूहिकता की धारा में यों ही निष्क्रिय और चेतना-रहित होकर नहीं चलता अपितु बराबर प्रतिक्रियाशील है। इसीलिए उनमें वैयक्तिकता की प्रधानता है। वे जीवन की अपने ढंग से आलोचना करते हुए कुछ संग्रह और त्याग करते हुए आगे बढ़ते हैं।

द्विवेदी जी प्रमुखतः निबन्ध-लेखक हैं। इसलिए उनकी रचनाओं में वैयक्तिकता की प्रधानता है। यही कारण है कि उनकी समीक्षा शुक्ल-पद्धति का शास्त्रीय रूप ग्रहण नहीं कर पाई है। उनकी आलोचना आत्म प्रधान (Subjective) अधिक है। अगर वे विश्लेषणात्मक वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण न करते तो उनकी समीक्षा पूर्णतः प्रभावाभिव्यंजक कोटि की हो जाती। वे साहित्य को उद्देश्य-विहीन नहीं मानते हैं। उनका गांधीवाद या समाजवाद का आग्रह यह स्पष्ट कर देता है कि वे काव्य से जीवन की प्रेरणा ग्रहण करना चाहते हैं। इसीलिए महायुद्ध के समय कवियों के विश्व-प्रेम और विश्व-शान्ति के संदेश की ओर उनका ध्यान आकृष्ट होता है।[1] द्विवेदी जी साहित्य को जीवन से विच्छिन्न करके नहीं देखना चाहते। इन्हीं सब कारणों से उनकी समीक्षा-पद्धति सौष्ठववादी ही कही जा सकती है, प्रभाववादी नहीं। उन्होंने जिस शैली को अपनाया है वही आगे प्रगतिवाद में विकसित हो जाती है। पर द्विवेदी जी रस और संवेदनीयता को भी काव्य के उद्देश्य में ही स्थान देते हैं। पर द्विवेदी जी छायावादी थे, लेकिन धीरे-धीरे गांधीवाद और प्रगतिवाद की ओर बढ़े हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि भाव-राज्य से वे संस्कृति की ओर बढ़ रहे हैं। सामयिक परिस्थितयों के कारण आर्थिक विषमताओं से आक्रान्त मानवता के कल्याण के लिए वे प्रगतिवाद की ओर भी झुके हैं। पर उनकी दृष्टि से प्रगतिवाद में मानव जाति को दुःखों से स्थायी मुक्ति नहीं मिलती। यह स्थायी मुक्ति तो द्विवेदी जी गांधीवाद से मानते हैं। गांधीवाद उनकी अन्तःस्फूर्ति रहा है। वह उनकी छायावादी और प्रगतिवादी चिन्तन-धारा के अन्तस्तल में प्रवाहित होता रहा है। लेकिन 'सामयिकी' में वही अन्तः-स्फूर्ति अन्तस्तल की प्रवाहित धारा, अत्यन्त स्पष्ट हो गई है। अन्त तक द्विवेदी जी का विश्वास गांधीवाद में ही रहेगा, इसीमें मानव का स्थायी कल्याण

---

१. 'साहित्यिकी', प्रथम लेख।

मानते रहेंगे, यह नहीं कहा जा सकता। द्विवेदी जी का व्यक्तित्व चिरन्तन परिवर्तनशील है। इसलिए उनकी साहित्यिक धारणा भी परिवर्तनशील कही जा सकती है। अब तक उन्होंने रस तथा सांस्कृतिक चेतना को ही काव्य का प्रयोजन माना है। उनका स्थूल उपयोगितावादी दृष्टिकोण कहीं है। वे प्रगतिवादियों की तरह वर्ग-संघर्ष में भी विश्वास नहीं करते। इसलिए द्विवेदी जी के दृष्टिकोण को सौष्ठववादी कह सकते हैं। वे सौंदर्य और मंगल का सामंजस्य ही कलाका उद्देश्य मानते हैं। "अतएव कला की सार्थकता केवल सुन्दरतामें नहीं हैं, वल्कि उसके मंगल-प्राण होने में हैं।"[1] द्विवेदीजी नग्न यथार्थता के विरोधी हैं। द्विवेदी जी साहित्य को केवल व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं मानते प्रतीत होते हैं। किसी कलाकार की शैली और वर्ण्य विषय के चुनाव के लिए तत्कालीन परिस्थितियाँ अधिक उत्तरदायी हैं। किसी युग का विशिष्ट समाज जब परस्पर के हार्दिक वार्तालाप से परितृप्ति पा चुका होगा तब उसे कुछ अतिरंजकता की भूख लगी होगी। वह भूख वाग्विदग्धता द्वारा काव्य में शान्त की गई। रत्नाकरजी की चमत्कार-वृत्ति का कारण समझाते हुए द्विवेदीजी ने ऐतिहासिक परिस्थितियों का विवेचन किया है। इसमें लेखक मनोविश्लेषणात्मक पद्धति को भी अपनाता हुआ प्रतीत होता है।

द्विवेदी जी काव्य को जीवन के रसात्मक स्पर्श की दृष्टि से जाँचते हैं और रसात्मक स्पर्श-हीन काव्य को हेय समझते हैं। यहाँ पर वैचित्र्य-चमत्कार की प्रधानता है उसे वे प्रकृत-काव्य ही नहीं मानते। यही कारण है कि द्विवेदीजी रत्नाकरजी के काव्य को सूक्ति कह रहे हैं। उसमें हृदय को तल्लीन करने की की अपेक्षा चमत्कृत कर देने की प्रवृत्ति अधिक है। यह आलोचना सौष्ठववादी दृष्टिकोण से की गई है। "रत्नाकर जी सूक्ति के कवि हैं। कथन की वक्रता चाहे इसमें स्वाभाविक कल्पना का अतिक्रमण करके अतिशयोक्ति ही क्यों न करनी पड़े; रीति-प्रेरित कवियों में (जिनमें रत्नाकर जी भी हैं,) अधिक दीख पड़ती है, जिसके भाव का 'अनूठापन' नहीं, वल्कि कथन का अनोखापन प्रकट होता है...जहाँ भाव द्वारा सीधे हृदय से लगाव की आवश्यकता है, वहाँ इस प्रकार की नाटकीयता एक काव्याभिनय-मात्र मालूम होती है।"[2]

इससे यह स्पष्ट है कि द्विवेदी जी में निबन्ध-लेखक वैयक्तिकता के साथ ही आलोचक की सूक्ष्म दृष्टि भी है। उनकी धारणाओं से कुछ व्यक्तियों का

---

१. '[illegible]', पृष्ठ ६० ।
२. वही, पृष्ठ ३६ ।

विरोध भी हो सकता है, पर इतना तो निश्चय ही है कि वह विश्लेषण और अनुभूति पर आधारित है। उनमें सौष्ठववादी आलोचक की तल-स्पर्शिता भी है। द्विवेदी जी कला-कृतियों और काव्य-धाराओं को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रखकर देखते हैं और इसी दृष्टि से उनके विकास का अध्ययन करते हैं कि साहित्य में इन परिस्थितियों का स्वाभाविक और सहज परिणाम कैसे है और यह जीवन-धारा को कैसे प्रभावित करता है। इस प्रकार उनकी शैली में सौष्ठववादी दृष्टिकोण के साथ ही ऐतिहासिक प्रणाली का बहुत प्रौढ़ रूप उपलब्ध होता है।

सौष्ठववादी समीक्षा-पद्धति आधुनिकतम प्रवृत्तियों में से है। इसलिए इसने वर्तमान काल के प्रायः सभी आलोचकों को प्रभावित किया है। सब लोगों ने इसको किसी-न-किसी रूप में अपनाया है। जिन आलोचकों पर शुक्ल जी का प्रभाव था, वे भी धीरे-धीरे इस पद्धति को अपनाते गए हैं। इसलिए कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जिनकी कुछ रचनाएँ शुक्ल-पद्धति की तथा कुछ इसकी हैं। पं० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी की 'सूर-साहित्य' नामक रचना शुक्ल-पद्धति की है। पर कबीर में उनका दृष्टिकोण बदला हुआ है। वह इस पद्धति की रचना मानी जा सकती है। उसमें ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक शैली का उपयोग अधिक हुआ है। इसी प्रकार सत्येन्द्र जी की 'गुप्तजी की कला' प्राचीन पद्धति का आभास देती है। उसमें ऐतिहासिक चेतना के दर्शन होते हैं, यह हम पहले कह चुके हैं। 'प्रेमचन्द की कहानी-कला' में भी निगमनात्मक शैली का उपयोग हुआ है। यह रचना शास्त्रीय पद्धति के साथ इसके सम्मिश्रण का उदाहरण है। इस शैली के आलोचकों में श्री रामनाथ 'सुमन', गंगाप्रसाद पाण्डेय आदि लेखकों के नाम उल्लेखनीय हैं।

सौष्ठववादी आलोचकों ने भावुक, कल्पना-प्रधान और रहस्यमयी शैली को अपनाया है। उन्हें यही शैली अपनी पद्धति और रुचि के अनुरूप प्रतीत होती है। काव्य की अनुभूतिमयी व्याख्या के लिए यह आवश्यक भी है। अन्य आलोचकों में तो बौद्धिकता की ओर झुकाव होने के कारण विश्लेषण-शैली का भी उपयोग है। पर महादेवी जी में अनुभूति की प्रधानता है, इसलिए उनकी शैली प्रायः सर्वत्र ही भावुकतामय है। पर उसके अन्तस्तल में विचार-धारा की प्रौढ़ धारा के दर्शन भी स्पष्ट होते हैं। भावुकतामय एवं कल्पना-प्रधान होने के कारण सौष्ठववादी आलोचना कहीं-कहीं अस्पष्ट भी है। इसीलिए कुछ लोग इस शैली को आलोचना के उपयुक्त नहीं समझते। वे तथ्य-निरूपणात्मक और तर्क-प्रधान शैली के समर्थक हैं। इसे तो वे गद्य-काव्य के उपयुक्त ही मानते हैं।

हिन्दी में सौष्ठववादी समीक्षा-पद्धति अभी विकासशील है। इसने मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक शैलियों का पर्याप्त विकास किया है। कवि और कला-कृति के मनोवैज्ञानिक और तात्त्विक विश्लेषण की प्रवृत्ति तो हिन्दी में इतनी लोकप्रिय हो गई है कि शुक्ल-पद्धति के आलोचक भी इसका उपयोग करते हैं। इस प्रकार इन दोनों पद्धतियों में कुछ सामंजस्य भी स्थापित रहा है। विश्वविद्यालय के पंडितों ने विभिन्न कवियों और काव्य-धाराओं पर जो विशद अध्ययन प्रकाशित किये हैं, उनमें इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। डॉ० दीनदयाल गुप्त, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, डॉ० रामकुमार वर्मा, पं० विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र आदि में मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक शैलियों का जो प्रौढ़ रूप दृष्टिगत होता है, वह पद्धति के प्रभाव से असम्पृक्त नहीं है। उनमें वस्तु के तात्त्विक विवेचन तथा कवि की विचार-धाराओं के विश्लेषण की बढ़ती हुई प्रवृत्ति भी इसकी द्योतक है।

: ११ :

मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा

भारतीय आलंकारिकों ने काव्य के हेतु और प्रयोजन पर विशद विवेचन किया है। इन दोनों का सम्मिलित रूप साहित्य की प्रेरणा का कुछ आभास देता है। साहित्य के प्रयोजनों में 'यशसे', 'अर्थकृते' आदि वस्तुतः काव्य की प्रत्यक्ष प्रेरणाएँ नहीं हैं। काव्य-सृजन के पूर्व यश, अर्थ आदि की आकांक्षा रह सकती है, अथवा काव्य-ग्रन्थ से उसे इनकी प्राप्ति भी सम्भव है, पर इनको सृजन-समय की प्रेरणा मानना विशेष समीचीन नहीं प्रतीत होता। संस्कृत के आचार्यों द्वारा मान्य "सद्यः परनिर्वृतये' को अवश्य साहित्य की प्रेरणा कहा जा सकता है। तुलसीदासजी का 'स्वान्तः सुखाय' का सिद्धान्त तो साहित्य की प्रेरणा के स्वरूप को और भी अधिक स्पष्ट कर रहा है। वस्तुतः इन दोनों प्रयोजनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। काव्य के हेतुओं में भी काव्य की प्रेरणा पर स्पष्टतः विचार नहीं हुआ है। इनमें भी काव्य के बाह्य साधनों का निर्वचन-मात्र हुआ है। कवि की उस मनःस्थिति का निरूपण नहीं हुआ जिससे उसे काव्य-सृजन की प्रेरणा प्राप्त होती है। वस्तुतः संस्कृत के आचार्यों ने काव्य के वर्ण्य विषय के स्वरूप तथा सृजन के समय कवि की मानसिक स्थिति पर बहुत कम विचार किया है। यह भी विवादास्पद ही है कि 'साधारणीकरण' का सम्बन्ध केवल पाठकों से ही है, अथवा कवि से भी। कवि अपने वर्ण्य विषय, भाव आदि के साधारणीकृत रूप को ग्रहण करता है अथवा नहीं, यह कहना कठिन है। विभाव और भाव का साधारणीकरण काव्य के सृजन में होता है अथवा काव्य के अनुशीलन में, यह प्रश्न भारतीय आचार्यों ने नहीं उठाया है। पर भारतीय अलंकार-शास्त्र की परम्परा का समग्र रूप अपने सामने रखकर यह कहना असमीचीन और अपसिद्धान्त नहीं है कि साधारणीकरण की क्रिया कवि-व्यापार में भी होती है और कवि-व्यापार से ही यह पाठक में भी सम्भव है। साधारणीकरण के मूल में यह सिद्धान्त अत्यन्त स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि और पाठक का तादात्म्य होता है।

आश्रय के साथ पाठक का तादात्म्य तो उसीका सहज और स्वाभाविक परिणाम-मात्र है और यह सर्वत्र होता भी नहीं। रावण जब सीता के प्रति रति की व्यंजना करता है, उस समय पाठक का रावण के साथ तादात्म्य नहीं होता, क्योंकि कवि का आश्रय के साथ तादात्म्य नहीं है, अथवा यों कहिए कि कवि को उसके साथ तादात्म्य अभीप्सित नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि इतने सारे विवेचन के उपरान्त इस सिद्धान्त को भारतीय घोषित किया जा सकता है कि कवि-व्यापार में साधारणीकरण है। पर संस्कृत-आचार्यों ने इसका स्पष्ट निरूपण कहीं नहीं किया है। "नियतिकृतनियम रहितां" तथा "अपारे काव्य संसारे" आदि में भी काव्य के वर्ण्य विषय के स्वरूप पर तो थोड़ा संकेत है, पर सृजन के समय कवि की मनःस्थिति क्या होती है। उससे काव्य-सृजन की प्रेरणा किस मनःस्थिति में मिलती है आदि प्रश्नों पर भारतीय आचार्यों ने विचार नहीं किया है।

पश्चिम के आचार्य का प्रारम्भ से ही इस ओर ध्यान आकृष्ट हुआ है। साहित्य-शास्त्र का यह भी एक प्रमुख विषय रहा है। प्रायः सभी प्रधान आचार्यों ने साहित्य की प्रेरणा पर विचार किया है। पर इस क्षेत्र में मनोविज्ञान के आचार्यों की महत्त्वपूर्ण देन है। उनके सिद्धान्तों ने इस क्षेत्र में एक क्रान्ति ही उपस्थित कर दी है। उनके विवेचन ने साहित्य में नवीन समीक्षा-सिद्धान्तों और पद्धतियों को जन्म दे दिया। इन आचार्यों में प्रमुख फ्रायड एडलर और युङ्ग हैं। कला की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यूरोप में जो सिद्धान्त प्रचलित हैं, उनमें से प्रमुख तीन इन्हींकी मान्यताओं पर आधारित हैं।

फ्रायड की कला-सम्बन्धी मान्यता के तीन प्रमुख आधार हैं। उसका कहना है कि मानव की अनेक इच्छाएँ और वासनाएँ सामाजिक, धार्मिक या अन्य प्रकार के प्रतिबन्धों के कारण अतृप्त रह जाती हैं। ये अतृप्त वैयक्तिक वासनाएँ तथा कुछ मूलभूत सामूहिक सहजात वृत्तियाँ नष्ट नहीं होतीं, अपितु अन्तर्मन के अतल में दब जाती हैं। ये उपचेतन मस्तिष्क में रहकर चेतन क्षेत्र में आने तथा अभिव्यक्त होने का निरन्तर प्रयत्न करती रहती है। मानव की स्वाभाविक विरोध-वृत्ति सामाजिक दमन को स्वीकार करके इन दमित इच्छाओं का उदात्तीकरण कर देती है। इस प्रकार ये वासनाएँ उदात्तीकृत रूप में अभिव्यक्त होती हैं। इनकी अभिव्यंजना के ये उदात्तीकृत प्रकार समाज द्वारा निषिद्ध नहीं होते। फ्रायड कहते हैं कि जीवन के सभी कार्यों के मूल में काम-वासना है। यह बाल्य-काल से ही जीवन की प्रधान प्रेरक शक्ति बन जाती है। बाल्य-काल की यह काम-वासना मातृ-रति (Oedipus complex) में परिणत

हो जाती है। फ्रायड तो बाल्य-काल की काम-वासना ही को चरित्र-निर्माण की मूल प्रेरणा मानते हैं।[1] इसका उन्नयन या उदात्तीकरण (Sublimation) भी विभिन्न प्रकार से होता है, इनकी अभिलाषा में एक विशेष आनन्द है। दमित इच्छाओं और वासनाओं की अभिव्यक्ति से मानव हल्का हो जाता है। यह रेचन (catharsis) से प्राप्त आनन्द है। इन वासनाओं की अभिव्यक्ति स्वप्न दैनिक भूल, हास्य विनोद और कला में होती है। कला और साहित्य इन इच्छाओं की अभिव्यक्ति का सबसे सुन्दर साधन है।[2] ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि इसके तीन प्रमुख आधार हैं—१. दमन, २. काम-वासना और ३. उदात्तीकरण। इन्हींका विशद विवेचन फ्रायड के सिद्धान्तों को स्पष्ट करने वालों ने किया है।[3] फ्रायड ने यह माना है कि अन्तर्मन के अतल में दमित ये वैयक्तिक और सामूहिक प्रवृत्तियाँ मानव-जीवन पर व्यापक प्रभाव डालती हैं। उसके सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, वैयक्तिक और सामूहिक जीवन के परिचालन की प्रमुख शक्ति यही है। मानव-विकास का सारा इतिहास इसी सत्य को प्रमाणित कर रहा है। मानव की पाशविक वृत्तियाँ अब तक अपने स्वरूप बदलकर अभिव्यक्त होती रहती हैं। सभ्यता और संस्कृति की मूल प्रेरणा ये प्रवृत्तियाँ ही हैं। इनके उन्नयन में ही संस्कृति का वास्तविक विकास है। इसीमें मानव का व्यष्टि और समष्टिगत कल्याण है। इन प्रवृत्तियों की अस्वस्थ अभिव्यक्ति उसे ध्वंस और नाश की ओर परिचालित

---

1. He came to see in the unconscious conflicts over the young child's sexual attituds towards its parents, which together with accompanying jealousy and hostility, he refers to oedipus complex (Freud; his dream and sex theories by joseph jasterol).
2. An unconcious mind where-in lurk and moil, basic instinct of the race,also thwarted personal desires (2)an inner censor that recognising society ban on these impulses forcing their repression seeks to sublimate them in more allowable forms of expression(one of which is Art) Tabrilibido a best driver(life force)
3. A basic llbido of sex drive (life force) which when checked may produce oedipus complex; distorted if not broken lives. Thus it sets love (the chief topic of modern poetry, modern Drama etc) at the root of all human actions. (The dictionary of wold literature).

. EncycloPaedia Britanica Vol. 18 Psychoanalysis.

करती है। साहित्य में इन प्रवृत्तियों का स्वस्थ उन्नयन ही कल्याणकर है। फ्रायड के मनोविश्लेषण-शास्त्र के इन सिद्धान्तों के आधार पर पाश्चात्य जगत् में कला की उन्नति का एक सम्प्रदाय बन गया है। यह सम्प्रदाय कला और साहित्य की मूल प्रेरणा सीमित वासनाओं की अभिव्यक्ति को ही मानता है। फ्रायड के अनुसार इन दमित प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति स्वस्थ और अस्वस्थ दो प्रकार की हो सकती है। स्वस्थ अभिव्यक्ति वाला साहित्य ही चिरस्थायी और मानव-कल्याण का हेतु है। अस्वस्थ दमन तो मानव को ध्वंसात्मक कार्यों में प्रवृत्त करता है।

फ्रायड के ही समसामयिक और उनके शिष्य एडलर ने भी मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों के विकास में पर्याप्त सहयोग दिया है। उनका कहना है कि मानव अपने व्यक्तित्व को समाज में महत्त्वपूर्ण देखना चाहता है। वह अपने व्यक्तित्व की उपादेयता और महत्ता समाज पर व्यक्त करने का बाल्य-काल में ही इच्छुक होजाता है। उस समय उसको दूसरों की तुलना में अपनी शारीरिक अनुपयोगिता और निर्बलता का भी अनुभव होने लगता है और इसके परिणाम-स्वरूप उसमें हीनता की भावना जाग्रत हो जाती है। इसे ही एडलर हीनता-ग्रन्थि कहते हैं। इसी हीनता-जन्य अभाव की पूर्ति की कामना उसके जीवन की मूल प्रेरक शक्ति होती है। बालक में बुद्धि के विकास का यह प्रधान कारण है। बुद्धि से किसी बात को समझने की क्षमता रहने पर भी वह जब शरीर से उस कार्य का सम्पादन नहीं कर पाता तब उसमें यह वृद्धि प्रबल हो जाती है। जब मानव-समाज के लिए शारीरिक आर्थिक अथवा अन्य किसी प्रकार के पार्थिव रूप में अनुपयोगी सिद्ध होता है तो वह अपने व्यक्तित्व की महत्ता का प्रतिपादन दूसरे क्षेत्रों में करता है। शारीरिक हीनता की क्षति-पूर्ति मानसिक विकास में होती है। इस प्रकार मानव अपनी हीनता की पूर्ति स्वप्न, कल्पना, साहित्य, कला, दर्शन आदि में भी करता है। अभाव की अनुभूति मानव को आत्म-ग्लानि से भर देती है और व्यक्ति जितना ही प्रतिभावान और मेधावी होता है उसकी आत्म-ग्लानि की अनुभूति उतनी ही तीव्रतर होती है। आत्म-ग्लानि उसकी प्रभुत्व-कामना को उग्र कर देती है। मानव अपने अभाव की पूर्ति के लिए छटपटाता रहता है और वह उसी क्षेत्र में अथवा अन्य क्षेत्र में क्षति-पूर्ति कर लेता है। इतना ही नहीं वह अतिरिक्त क्षति-पूर्ति के लिए भी प्रयत्नशील रहता है। कभी-कभी बाल्य-काल में जो व्यक्ति क्षीण शरीर वाला होता है, वह युवावस्था में पहलवान बनने का प्रयत्न करता है। अपनी शक्ति के सामान्य अभाव की ही पूर्ति उसका लक्ष्य नहीं अपितु वह अपने में अतिरिक्त शारीरिक

शक्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है। क्षति-पूर्ति का यह प्रयत्न वैयक्तिक स्वार्थ-परायणता और अहंकार का हेतु है। मनुष्य में अपने प्रभुत्व की कामना अत्यधिक प्रबल होने के कारण वह अपने विशेष क्षेत्र के प्रभुत्व की रक्षा हर प्रकार से करना चाहता है। उसमें इसके प्रति मोह जागृत हो जाता है। वह आपाततः शक्तिशाली प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः दुर्बल रहता है। उसे अपनी अर्जित शक्ति या यश के चले जाने का भय सदैव बना रहता है। उसकी रक्षा के लिए वह औचित्य और अनौचित्य का विवेक भी खो बैठता है। उसमें वास्तविक चारित्रिक सबलता नहीं आ पाती है। जिस कलाकार के व्यक्तित्व का विकास इन्हीं सरणियों में हुआ है, उसकी कला में प्रतिक्रियावादी तत्त्वों का आधिक्य हो जाता है। उसे कुछ विशेष विचार-धाराओं के प्रति अनावश्यक मोह हो जाता है, इसलिए वह जीवन के प्रगतिशील दृष्टिकोण को स्वच्छन्दतापूर्वक अपनाने में असमर्थ रहता है। उसमें अहंकार भी प्रबल हो जाता है जो उसके जीवन-दर्शन को अस्वस्थ कर देता है। कला की प्रेरणा का यह दूसरा सिद्धान्त है, जो मनोविश्लेषण-शास्त्र पर आधारित है।

युङ्ग ने जीवनेच्छा को ही जीवन की प्रधान वासना कहा है। उनकी मान्यता है कि मानव में जीवित रहने तथा अमर रहने की प्रबल आकांक्षा है। इसीसे प्रेरित होकर वह सब कार्य करता है। यही मूल वासना उसे ऐसे कार्यों के लिए भी प्रेरित करती है, जिनसे वह अपने पार्थिव शरीर के नष्ट हो जाने पर भी जीवित रह सके। यही जीवनेच्छा लोक, वित्त और पुत्र नामक एषणाओं की मूल प्रेरणा है। ये तीनों इसी एक की प्रधान जीवन-धाराएँ हैं तथा अभिव्यक्ति के तीन मार्ग हैं। मानव इन्हीं तीन एषणाओं से प्रेरित होकर कार्य करता है। मानव के साहित्य-सृजन और कला-निर्माण के मूल में भी ये ही भावनाएँ कार्य कर रही हैं। साहित्य और कला में उसके जीवित एवं अमर रहने की आकांक्षा ही अभिव्यक्त होती है। प्रभुत्व-कामना और काम-वासना को, जो क्रमशः एडलर और फ्रायड के अनुसार जीवन की प्रधान प्रेरणाएँ हैं, युङ्ग जीवनेच्छा में ही अन्तर्हित मानता है। ये दोनों दो भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ हैं, अर्थात् जीवनेच्छा इन दो भिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती है। इन्हींके आधार पर युङ्ग ने अन्तर्मुखी (entrovert) और वहिर्मुखी (extrovert) दो प्रकार के मानव माने हैं। अन्तर्मुखी मनुष्यों में प्रभुत्व की कामना का प्राधान्य रहता है और वहिर्मुखी में काम-वासना का। प्रथम शासक बनना चाहता है और दूसरा शासित। पहले को अपने महत्त्व का ध्यान अधिक रहता है तथा दूसरा अन्य लोगों का ध्यान अधिक रहता है। ये दोनों वासनाएँ प्रत्येक व्यक्ति में होती हैं।

करती है। साहित्य में इन प्रवृत्तियों का स्वस्थ उन्नयन ही कल्याणकर है। फ्रायड के मनोविश्लेषण-शास्त्र के इन सिद्धान्तों के आधार पर पाश्चात्य जगत् में कला की उन्नति का एक सम्प्रदाय बन गया है। यह सम्प्रदाय कला और साहित्य की मूल प्रेरणा सीमित वासनाओं की अभिव्यक्ति को ही मानता है। फ्रायड के अनुसार इन दमित प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति, स्वस्थ और अस्वस्थ दो प्रकार की हो सकती है। स्वस्थ अभिव्यक्ति वाला साहित्य ही चिरस्थायी और मानव-कल्याण का हेतु है। अस्वस्थ दमन तो मानव को ध्वंसात्मक कार्यों में प्रवृत्त करता है।

फ्रायड के ही समसामयिक और उनके शिष्य एडलर ने भी मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों के विकास में पर्याप्त सहयोग दिया है। उनका कहना है कि मानव अपने व्यक्तित्व को समाज में महत्त्वपूर्ण देखना चाहता है। वह अपने व्यक्तित्व की उपादेयता और महत्ता समाज पर व्यक्त करने का बाल्य-काल में ही इच्छुक होजाता है। उस समय उसको दूसरों की तुलना में अपनी शारीरिक अनुपयोगिता और निर्बलता का भी अनुभव होने लगता है और इसके परिणाम-स्वरूप उसमें हीनता की भावना जाग्रत हो जाती है। इसे ही एडलर हीनता-ग्रन्थि कहते हैं। इसी हीनता-जन्य अभाव की पूर्ति की कामना उसके जीवन की मूल प्रेरक शक्ति होती है। बालक में बुद्धि के विकास का यह प्रधान कारण है। बुद्धि से किसी बात को समझने की क्षमता रहने पर भी वह जब शरीर से उस कार्य का सम्पादन नहीं कर पाता तब उसमें यह बुद्धि प्रबल हो जाती है। जब मानव-समाज के लिए शारीरिक आर्थिक अथवा अन्य किसी प्रकार के पार्थिव रूप में अनुपयोगी सिद्ध होता है तो वह अपने व्यक्तित्व की महत्ता का प्रतिपादन दूसरे क्षेत्रों में करता है। शारीरिक हीनता की क्षति-पूर्ति मानसिक विकास में होती है। इस प्रकार मानव अपनी हीनता की पूर्ति स्वप्न, कल्पना, साहित्य, कला, दर्शन आदि में भी करता है। अभाव की अनुभूति मानव को आत्म-ग्लानि से भर देती है और व्यक्ति जितना ही प्रतिभावान और मेधावी होता है उसको आत्म-ग्लानि की अनुभूति उतनी ही तीव्रतर होती है। आत्म-ग्लानि उसकी प्रभुत्व-कामना को उग्र कर देती है। मानव अपने अभाव की पूर्ति के लिए छटपटाता रहता है और वह उसी क्षेत्र में अथवा अन्य क्षेत्र में क्षति-पूर्ति कर लेता है। इतना ही नहीं वह अतिरिक्त क्षति-पूर्ति के लिए भी प्रयत्नशील रहता है। कभी-कभी बाल्य-काल में जो व्यक्ति क्षीण शरीर वाला होता है, वह युवावस्था में पहलवान बनने का प्रयत्न करता है। अपनी शक्ति के सामान्य अभाव की ही पूर्ति उसका लक्ष्य नहीं अपितु वह अपने में अतिरिक्त शारीरिक

भी आनन्दस्वरूप ही था और इस विकास में भी आनन्दस्वरूप ही रहता है। शान्त, स्वानुभूति रूप आनन्द की अपनी शक्ति माया के आश्रय से अभिव्यक्ति-मात्र है। यह अमूर्त का मूर्त विधान-मात्र है। अभिव्यक्ति चित्त-शक्ति का स्वभाव है और यही आनन्द का व्यक्त स्वरूप है। कला के सम्बन्ध में भी यही सिद्धान्त ठीक प्रतीत होता है। वह मन की स्वच्छन्द और स्वाभाविक अभिव्यक्ति-मात्र है। कलाकार को अभिव्यक्ति में सहज आनन्द का अनुभव होता है। कभी-कभी सृजन की प्रेरणाएँ पृथक् व्यक्तित्व धारण करके स्पष्ट हो जाती हैं और कभी-कभी ऐसा किसी भिन्न प्रेरणा का अनुमान असंभव और व्यर्थ प्रतीत होता है। यह कहना भी पूर्ण सत्य का अवलम्बन नहीं है कि कला में अतिरिक्त शक्ति (Super flueous energy) की ही अभिव्यक्ति होती है। श्रान्त और प्रायः शक्ति का नितान्त अभाव अनुभव करने वाला मानव भी कभी-कभी वहुत ही उत्कृष्ट कला-कृति को जन्म दे देता है। लेकिन इन सभी सिद्धान्तों में सत्यांश अवश्य है। (अतृप्त वासना, प्रभुत्व की कामना, अमर रहने की इच्छा, अतिरिक्त शक्ति की अभिव्यक्ति और स्वान्तः सुखाय इन सबमें कला की पृथक् अथवा युगपत् प्रेरणा है। स्वान्तः सुखाय सबमें प्रमुख है। इसमें अभिव्यक्ति को मानव की सहज प्रवृत्ति मानने का सिद्धान्त अन्तर्हित है। कलाकार का "मन" जब मानव की दिव्यता से तादात्म्य स्थापित कर लेता है उस समय उसका स्वान्तः सुखाय भी मंगलमय हो उठता है और ऐसी कृति में स्वान्तः और परान्तः तथा आनन्द एवं मंगल का सामंजस्य हो जाता है। शेष सबके अभाव में भी काव्य-सृजन हो जाता है। स्वच्छन्द अभिव्यक्ति की मूलभूत कामना से कला का सृजन होता है और ये उपर्युक्त कारण कभी-कभी उसके सहायक हो जाते हैं। कभी-कभी मानव को इन्हींमें से किसी एक अथवा सबको मूल प्रेरणा मान लेने की भ्रान्ति होती है। साहित्य की प्रेरणा की इसी अनिवर्चनीय अवस्था की कल्पना करके ही सम्भवतः संस्कृत का आचार्य इस प्रसंग पर मौन रहा है। वह कवि की मानसिक स्थिति की ओर केवल काव्य के प्रयोजनों में साधारण संकेत-भर करता है। "सद्यः परनिर्वृतये" को प्रधान प्रयोजन मानकर अभिव्यक्ति की सहज कामना के सिद्धान्त को स्वीकार कर रहा है। फिरभी मनोविश्लेषण-शास्त्र के इन सिद्धान्तों में आंशिक सत्य अवश्य है। अन्तर्मन की शक्तियां मानव के व्यक्त जीवन को प्रभावित करती रहती हैं। ये जीवन की परिचालक शक्ति की सहयोगिनी हैं। इन शक्तियों का विश्लेषणात्मक ज्ञान भी कलाकार के व्यक्तित्व का और कला-कृति के स्वरूप के लिए सहायक अवश्य होता है। ये सिद्धान्त भी कला की दृष्टि से

लेकिन युंग ने प्राधान्य के आधार पर इस प्रकार का अन्तर किया है। इनमें से जो वृत्ति प्रबल होती है, वही मानव की जीवनेच्छा की धारा का दिशा-निर्देश तथा उसकी सृजनात्मक शक्ति का नियन्त्रण करती है। इसीलिए इन दोनों प्रकार के मनुष्यों के सृजन, जो उनकी जीवनेच्छा की अभिव्यक्ति-मात्र हैं, दो भिन्न प्रकार के होते हैं। साहित्य और कला के क्षेत्र में भी ये दोनों व्यक्ति दो भिन्न प्रकार के साहित्य और कला का निर्माण करते हैं। उनके वर्ण्य-विषय विचार, चरित्र, शैली आदि सभी-कुछ में एक मौलिक अन्तर होता है। अन्तर्मुखी कलाकार व्यक्ति-प्रधान रचना अधिक करता है और बहिर्मुखी विषय-प्रधान। इन दोनों का जीवन-दर्शन भी भिन्न हो जाता है।

साहित्य-प्रेरणा के ये तीन सिद्धान्त पृथक्-पृथक् अथवा सम्मिलित रूप में भी पूर्ण नहीं कहे जा सकते हैं। यह मानना कि प्रत्येक कलाकार एक-मात्र अतृप्त काम-वासना, प्रभुत्व की कामना अथवा जीवित रहने की आकांक्षा से ही काव्य-रचना करता है, ठीक नहीं है प्रत्येक क्रिया के मूल में काम-वासना को मानने का सिद्धान्त अतिवादी दृष्टिकोण है। कालिदास, भवभूति, प्रसाद, पन्त, गुप्त जी आदि सभी लोग किसी-न-किसी रूप में अतृप्त रहे हैं और उनके काव्यों में अतृप्त वासनाओं की ही अभिव्यक्ति हुई है। उनकी शैली पर भी इस अतृप्ति का प्रभाव है अथवा उन्होंने अपने को समाज के लिए अनुपयोगी माना है और अपने महत्त्व के प्रतिपादन के लिए प्रभुत्व-कामना से ही काव्य में प्रवृत्त हुए हैं, अथवा काव्य के रूप में अमर रहने की आकांक्षा ने ही इन्हें काव्य-सृजन की प्रेरणा दी है, ऐसा कुछ भी निश्चय पूर्वक कहना उपयुक्त नहीं है। कभी-कभी इन तीनों के सम्मिलित रूप के दर्शन कलाकार की मानसिक प्रेरणा में होते हैं और कभी इनसे भिन्न मानसिक स्थिति में भी साहित्यिक प्रेरणा होती है। जिनकी ये तीनों वासनाएँ जीवन के अन्य क्षेत्रों में परितृप्त हो चुकती हैं। जो न अतृप्त हैं और न समाज के लिए उपयोगी, वे भी कला-सृजन में प्रवृत्त होते हैं। अभिव्यक्ति मानव का स्वभाव ही है, उसमें उसे आनन्द की प्राप्ति होती है यह स्वयं ही प्रेरणा है। इसके लिए अन्य किसी चेतन अथवा उपचेतन प्रेरणा की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है। 'एकोऽहं बहु स्याम' में चेतन के मूलभूत स्वभाव की ओर निर्देश है। इस विकास में आनन्द है। यह आनन्द की अभिव्यक्ति है इसमें प्रेरणा, कार्य और अन्त तीनों ही आनन्द हैं। लेकिन इसका यह तात्पर्य भी नहीं है कि एक से अनेक होने के पूर्व वह आनन्दमय नहीं था। उसे आनन्द भाव की प्रतीति होती थी और उसी अभाव की पूर्ति के लिए यह विराग है ऐसा कुछ भी मानना दार्शनिक दृष्टि से अनुपयुक्त है। वह पहले

भी आनन्दस्वरूप ही था और इस विकास में भी आनन्दस्वरूप ही रहता है। शान्त, स्वानुभूति रूप आनन्द की अपनी शक्ति माया के आश्रय से अभिव्यक्ति-मात्र है। यह अमूर्त का मूर्त विधान-मात्र है। अभिव्यक्ति चित्त-शक्ति का स्वभाव है और यही आनन्द का व्यक्त स्वरूप है। कला के सम्बन्ध में भी यही सिद्धान्त ठीक प्रतीत होता है। यह मन की स्वच्छन्द और स्वाभाविक अभिव्यक्ति-मात्र है। कलाकार को अभिव्यक्ति में सहज आनन्द का अनुभव होता है। कभी-कभी सृजन की प्रेरणाएँ पृथक् व्यक्तित्व धारण करके स्पष्ट हो जाती हैं और कभी-कभी ऐसा किसी भिन्न प्रेरणा का अनुमान असंभव और व्यर्थ प्रतीत होता है। यह कहना भी पूर्ण सत्य का अवलम्बन नहीं है कि कला में अतिरिक्त शक्ति (Super flucous energy) की ही अभिव्यक्ति होती है। श्रान्त और प्रायः शक्ति का नितान्त अभाव अनुभव करने वाला मानव भी कभी-कभी बहुत ही उत्कृष्ट कला-कृति को जन्म दे देता है। लेकिन इन सभी सिद्धान्तों में सत्यांश अवश्य है। (अतृप्त वासना, प्रभुत्व की कामना, अमर रहने की इच्छा, अतिरिक्त शक्ति की अभिव्यक्ति और स्वान्तः सुखाय इन सबमें कला की पृथक् अथवा युगपत् प्रेरणा है। स्वान्तः सुखाय सबमें प्रमुख है। इसमें अभिव्यक्ति को मानव की सहज प्रवृत्ति मानने का सिद्धान्त अन्तर्हित है। कलाकार का "मन" जब मानव की दिव्यता से तादात्म्य स्थापित कर लेता है उस समय उसका स्वान्तः सुखाय भी मंगलमय हो उठता है और ऐसी कृति में स्वान्तः और परान्तः तथा आनन्द एवं मंगल का सामंजस्य हो जाता है। शेष सबके अभाव में भी काव्य-सृजन हो जाता है। स्वच्छन्द अभिव्यक्ति की मूलभूत कामना से कला का सृजन होता है और ये उपर्युक्त कारण कभी-कभी उसके सहायक हो जाते हैं। कभी-कभी मानव को इन्हींमें से किसी एक अथवा सबको मूल प्रेरणा मान लेने की भ्रान्ति होती है। साहित्य की प्रेरणा की इसी अनिर्वचनीय अवस्था की कल्पना करके ही सम्भवतः संस्कृत का आचार्य इस प्रसंग पर मौन रहा है। वह कवि की मानसिक स्थिति की ओर केवल काव्य के प्रयोजनों में साधारण संकेत-भर करता है। "सद्यः परनिर्वृत्तये" को प्रधान प्रयोजन मानकर अभिव्यक्ति की सहज कामना के सिद्धान्त को स्वीकार कर रहा है। फिरभी मनोविश्लेषण-शास्त्र के इन सिद्धान्तों में आंशिक सत्य अवश्य है। अन्तर्मन की शक्तियां मानव के व्यक्त जीवन को प्रभावित करती रहती हैं। ये जीवन की परिचालक शक्ति की सहयोगिनी हैं। इन शक्तियों का विश्लेषणात्मक ज्ञान भी कलाकार के व्यक्तित्व का और कला-कृति के स्वरूप के लिए सहायक अवश्य होता है। ये सिद्धान्त भी कला की दृष्टि से

नितान्त उपेक्षणीय नहीं हैं।

ऊपर साहित्य-प्रेरणा के जिन सिद्धांतों का निरूपण हुआ है उनका मनोविश्लेषण-शास्त्र से सम्बन्ध है। साहित्य के सृजन और मानव-क्षेत्र में इन तीनों का सम्मिलित रूप मनोविश्लेषणात्मक सम्प्रदाय के नाम से अभिहित होता है। इन्होंने काव्य-सृजन को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है। एक समय था जब पाश्चात्य देशों में इसका बहुत मान था। इन्हीं सिद्धांतों के आधार पर काव्य के चरित्रों और वर्ण्य विषय की कल्पना होती थी। साहित्य-समीक्षा में भी इन सिद्धांतों का पर्याप्त उपयोग किया गया है। स्वयं फ्रायड ने कई-एक उदाहरणों से मनोविश्लेषणात्मक पद्धति को स्पष्ट किया है। उन्होंने इसको समीक्षा-पद्धति का रूप भी प्रदान कर दिया था। इन सिद्धांतों ने साहित्य के एक विशेष रूप के सृजन की प्रेरणा भी दी है। पर यह प्रेरणा ठीक वैसी ही नहीं है जैसी छायावाद और प्रगतिवाद में है। इस सिद्धांत के मानने वाले कलाकारों ने तो उदाहरणों द्वारा इन सिद्धांतों का प्रतिपादन ही किया है। इन सिद्धांतों के उदाहरण उपस्थित किये हैं। हिन्दी में अज्ञेय जी और पं० इलाचन्द्र जी जोशी के उपन्यास इसी विचार-धारा से प्रभावित हैं। कला-कृति को समझाने के लिए उसके गूढ़ रहस्यों और सौंदर्य के स्वरूप को समझकर रसास्वाद करने में यह ज्ञान उपयोगी भी है।

साहित्य-समीक्षा का यह सिद्धांत यह मानता है कि रचनाकार के मस्तिष्क की दमित वासनाएँ ही उपन्यास के प्रधान पात्रों के व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं।[1] साहित्यकार की प्रेरणा प्रायः उपचेतन मस्तिष्क में ही रहती है। काव्य के पात्र, वर्ण्य-विषय, शैली, अप्रस्तुत विधान आदि सभी वस्तुओं पर इन दमित इच्छाओं अथवा प्रभुत्व की कामना और जीवनेच्छा की अभिव्यक्ति के स्वरूप का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ता है। ये ही कला-कृति के स्वरूप का निर्धारण करती हैं। मनोवैज्ञानिक समीक्षा में कलाकार के चेतन मस्तिष्क की विचार-धारा और चेतन व्यक्तित्व से कला-कृति का सम्बन्ध मान्य हुआ। कलाकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति ही कला मानी गई, इसलिए कला-कृति को ठीक-ठीक समझने के लिए कलाकार के व्यक्तित्व को समझना आवश्यक प्रतीत हुआ। कलाकार की मानसिक स्थिति को समझ लेने के बाद काव्य कभी-कभी अधिक गूढ़ और आस्वाद्य प्रतीत होता है। जब मनोविज्ञान के क्षेत्र में नये सम्प्रदायों का जन्म हुआ और मानव के व्यक्तित्व-निर्माण में उपचेतन मस्तिष्क की शक्तियाँ भी प्रधान

1. The Dictionary of World literature.

मानी जाने लगीं तथा स्वयं इन मनोविश्लेषण-शास्त्र के प्रतिपादकों ने अपने सिद्धांत का स्पष्टीकरण काव्य और कला के उदाहरणों से किया तो साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में भी मनोविश्लेषणात्मक के नाम से एक नवीन सम्प्रदाय की उद्भावना हो गई।

साहित्य के समीक्षा-क्षेत्र में इस सिद्धांत की भी उपयोगिता है। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कि कलाकार को सृजन के लिए ये प्रेरणाएँ भी, जिनका प्रतिपादन इस सम्प्रदाय में हुआ है, कभी-कभी बाध्य करती हैं। इस प्रकार इस सम्प्रदाय में काव्य के कुछ नवीन सिद्धांतों का प्रतिपादन होता है। दूसरे जब मानव का व्यक्तित्व उपचेतन वासनाओं से अत्यधिक प्रभावित होता है (यदि यह सिद्धांत मान लिया जाय) तो कलाकार के व्यक्तित्व को समझने के लिए इन सिद्धांतों का उपयोग भी आवश्यक है। समीक्षा की दृष्टि से इसका उपयोग आवश्यक है। पर हर स्थान पर इसीका उपयोग करना प्रत्येक कलाकार में केवल दमित वासनाओं के अन्वेषण की आलोचना करना दुराग्रह-मात्र है। फिर कलाकार के उपचेतन मस्तिष्क का अध्ययन उसके व्यक्तित्व के स्पष्टीकरण में ही सहायक है, उससे काव्य के कुछ स्थलों का स्वरूप और गूढ़ता स्पष्ट अवश्य हो जाते हैं, पर काव्य के रसास्वाद में ये सिद्धांत किसी प्रकार सहायक नहीं प्रतीत होते। समीक्षा का प्रमुख रूप तो स्वयं रसास्वाद करना और पाठकों को कराना है। काव्य-सौष्ठव के स्वरूप और उसके प्रसाधनों का अनुभूतिमय विश्लेषण ही समीक्षा का प्रकृत क्षेत्र है। कलाकार के व्यक्तित्व, उसकी परिस्थिति आदि का विश्लेषण काव्य का नैतिक आधारों पर अध्ययन आदि तो समीक्षा के गौण रूप हैं। इस दृष्टि से मनोविश्लेषण-शास्त्र का समीक्षा से गौण और परोक्ष सम्बन्ध-मात्र है। उपचेतन मस्तिष्क की वस्तु होने के कारण समीक्षा में इन सिद्धांतों का उपयोग बहुत ही दूर की वस्तु है। हाँ, यह पद्धति कलाकार की मनोवृत्तियों के विकार अथवा स्वस्थता को समझने के लिए अवश्य उपादेय है। यह साहित्य में विकृत मनोवृत्तियों की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति के अवरोध में भी सहायक हो सकती है।

पाश्चात्य जगत् की अन्य साहित्यिक प्रगतियों की तरह इस सम्प्रदाय ने भी हिन्दी-साहित्य को प्रभावित किया है। सृजनात्मक क्षेत्र में इन सिद्धांतों का उपयोग विशेषतः कहानी, उपन्यास आदि में ही हुआ है। प्रभुत्व-कामना तथा दमित काम-वासना के उग्र रूप से आक्रांत चरित्रों की कल्पना की गई है। व्यक्ति इन वासनाओं से प्रेरित होकर क्या करता है, यह दिखाना ही

इन कथाओं और उपन्यासों का प्रधान लक्ष्य है। इन सिद्धांतों से प्रभावित होकर हिन्दी के कहानीकारों एवं उपन्यासकारों ने माता-पिता के प्रति रति के उन्मुक्त और अश्लील वर्णन वाले वर्ण्य विषयों को आश्रय दिया है। उपन्यास के नायक अपने माता-पिता की रति का वर्णन विस्तार पूर्वक बिना किसी हिचकिचाहट के करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो वे उसका आस्वाद ले रहे हैं। विमाता से पुत्र उत्पन्न करने पर भी नायक लज्जित नहीं है। नायक नायिका शिशु प्राप्त करके प्रसन्न होते हैं, जैसे मानो उनका व्यवहार पूर्णतः विहित है। दो-एक कलाकार तो रति-क्रीड़ा के नग्न चित्रों को रुचि सहित खींचते हैं। उन्होंने समाज के शिष्टाचार और शील का बिलकुल भी ध्यान नहीं रखा है। कहानी का नायक चुपचाप पीछे की .खिड़की से नायिका के घर में घुस जाता है। उसके साथ जिस समय वह रति-क्रीड़ा में प्रवृत्त रहता है, उसी समय उस नायिका की सास आजाती है। कहानी का नायक बहू को छोड़कर सांस को पकड़ लेता है और उसके साथ वही क्रीड़ा चलने लगती है। है। लेखक ने "सांस फूलना" आदि कई-एक क्रियाओं द्वारा इस दृश्य में नग्न चित्रोपमता का सृजन किया है। स्वयं लेखक इस दृश्य का आस्वाद लेता हुआ प्रतीत होता है। यथार्थवाद के नाम पर अंकित ये चित्र मानव-स्वभाव के विरुद्ध हैं। क्या मानव इतना पशु हो जाता है ? अगर मानव के इस पाशविक रूप की सत्यता में विश्वास करने के लिए मनोविश्लेषण-शास्त्र हमें बाध्य भी कर दे तब भी यह भारतीय जीवन की मर्यादा के विरुद्ध है। फिर अगर यह किसी के विरुद्ध न हो तब भी इन चित्रों में समाज और व्यक्ति का कौन-सा कल्याण निहित है ? इसमें लेखक की विलासिता की पूर्ति के अतिरिक्त और क्या है। मनोविश्लेषण-शास्त्र ने कुछ ऐसे ही श्लील और अश्लील के भेद का उन्मूलन करने वाले साहित्य को प्रेरणा दी है। हिन्दी में आज इस प्रकार की कहानियों और उपन्यासों का अभाव नहीं है।

हिन्दी में मनोवैज्ञानिक शैली का उपयोग तो प्रायः सभी समालोचकों ने किया है। कलाकार के व्यक्तित्व का अध्ययन इसी शैली पर हुआ है। शुक्लजी से लेकर परवर्ती-काल के सभी समालोचकों में इस शैली के दर्शन होते हैं पर मनोविश्लेषणात्मक शैली की समालोचनाएँ हिन्दी में कम हैं। पं० इलाचन्द्र जी जोशी तथा अज्ञेय जी के अतिरिक्त हिन्दी के अन्य आलोचकों ने मनोविश्लेषण-शास्त्र के सिद्धान्तों का समीक्षा में कहीं-कहीं निर्देश-भर किया है। अज्ञेय जी और जोशी जी को सृजन के क्षेत्र में भी इन सिद्धान्तों से प्रेरणा मिली है, इसका निर्देश पहले हो चुका है। समीक्षा में उन्होंने फ्रायड और

एडलर को प्रधानतः आधुनिक छायावादी और प्रगतिवादी काव्य-धारा का विवेचन किया है। जोशी जी फ्रायड और एडलर दोनों के सिद्धान्तों से प्रभावित हैं और उन दोनों का ही उपयोग करते हैं, पर अज्ञेय जी ने विशेषतः एडलर के सिद्धान्तों को ही अपनाया है। अज्ञेय जी ने अपने 'त्रिशंकु' नामक निबन्ध-संग्रह में "प्रभुत्व कामना" और क्षति-पूर्ति के सिद्धान्तों को स्पष्ट किया है। कहीं-कहीं इन सिद्धान्तों का उपयोग उनकी प्रयोगात्मक आलोचना में भी हो गया है। अज्ञेयजी कहते हैं कि व्यक्ति में जब अपनी "व्यक्तिसत्ता" की अनुभूति जाग्रत होती है, तब वह अपने-आपको एक सन्तोषजनक समाज का अंग अनुभव करना चाहता है। जब व्यक्ति की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ समाज की मान्यताओं के अनुकूल घोषित की जाती हैं, तभी वह अपने-आपको एक सन्तोषप्रद समाज का महत्त्वपूर्ण अंग स्वीकार करता है। अगर उसके व्यक्तित्व और कृतियों को समाज की स्वीकृति नहीं प्राप्त होती है, तो उसमें एक विद्रोह जाग्रत हो जाता है। अगर व्यक्ति प्रतिभावान है तो वह रूढ़िग्रस्त, ह्रासोन्मुखी परिस्थितियों में हड़कम्प उत्पन्न कर देता है, अन्यथा उसमें केवल एक भूख, एक अतृप्ति, एक दोहद-मात्र जाग्रत होता है। कभी-कभी मानव अपनी इच्छाओं और रुचियों के लिए अतीत से स्वीकृति प्राप्त करता है। इस स्वीकृति के मूल्य के रूप में अपने-आपको परिस्थितियों के अनुकूल बनाकर, अपनी कुछ इच्छाओं को समाज के अनुकूल बदलकर स्वीकृति का मूल्य भी चुकाता है, पर जब उसके मर्म का स्पर्श होने लगता है, तब वह विद्रोह कर उठता है। व्यक्ति परिस्थितियों के अनुकूल बनता है, उनसे संस्कार ग्रहण करके उनको अपने स्वरूप का अंश बनाता रहता है। पर एक वस्तु उससे व्यक्तित्व की प्राण-वायु होती है, यही उसकी मौलिकता का घनीभूत रस है, यह अंश परिस्थितियों के अनुकूल नहीं बदल सकता। यही अंश स्वीकृति चाहता है।[1] इसी अंश में व्यक्ति की प्रभुत्व कामना का रहस्य गर्भित है। इस अंश की अस्वीकृति ही उसमें अनुपयोगिता और हीनता का भाव जाग्रत करती है। यह अंश विद्रोह करता है, अशक्त होने पर इसी के कारण दोहद उत्पन्न होता है। इसीमें उन्नयन (Sublimation) और क्षति-पूर्ति की प्रेरणा है। इसीकी उपयोगिता की समाज द्वारा स्वीकृति को ध्यान में रखकर अज्ञेय जी कला के स्वभाव का निरूपण करते हैं। कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है।"[2] मानव-

---

१. अज्ञेय : 'त्रिशंकु' 'परिस्थिति और साहित्यकार', पृष्ठ २८-२०।
२. वही, 'कला का स्वभाव और उद्देश्य', पृष्ठ २३।

जीवन के एक क्षेत्र की अनुपयोगिता की भावना की क्षति-पूर्त्ति किसी अन्य क्षेत्र में करता है। शारीरिक अथवा अन्य कारणों से समाज के लिए साधारणतया अनुपयुक्त होने पर, मानव अपनी उपयोगिता को असाधारण क्षेत्रों में सिद्ध करता है। वह अपनी उपयोगिता को सिद्ध करने के लिए, अपनी प्रभुत्व की कामना के लिए नवीन क्षेत्रों का निर्माण कर लेता है, समाज की नवीन उपयोगिताओं का सृजन कर लेता है। अज्ञेय जी का कहना है कि कला भी एक इसी प्रकार की क्रिया है। मानव-सभ्यता की आदिम अवस्था में समाज और परिवार के अनुपयुक्त मानव को अपनी उपयोगिता को सिद्ध करने के प्रयास ने ही कला को जन्म दे दिया। सौन्दर्य-बोध, जो कला का प्राण है, इसी प्रकार की नवीन सृष्टि है। अज्ञेयजी लिखते हैं : "हमारे कल्पित प्राणी ने हमारे कल्पित समाज के जीवन में भाग लेना कठिन पाकर अपनी अनुपयोगिता की अनुभूति से आहत होकर अपने विद्रोह द्वारा उस जीवन का क्षेत्र विकसित कर दिया है। उसे एक नई उपयोगिता सिखाई है।"[1] पहला कलाकार ऐसा ही प्राणी रहा होगा पहली कला-चेष्टा ऐसा ही विद्रोह रही होगी।"[2] यह विवेचन स्पष्टतः एडलर के सिद्धांतों से प्रभावित है, उन्होंने फ्रायड के मनोविश्लेषण-सिद्धान्तों का भी उपयोग किया है। वे वासनाओं के दमन और उनके उन्नयन (Sublimation) के सिद्धान्त का भी कला से सम्बन्ध मान रहे हैं। एडलर और फ्रायड के सिद्धान्त दो विरोधी सम्प्रदायों से सम्बद्ध नहीं हैं, अपितु उन्हें परस्पर में पूरक कहना अधिक समीचीन है। इसीलिए काव्य के क्षेत्र में इनका समन्वित रूप ही गृहीत हुआ है।

जोशीजी के कला-विवेचन में भी फ्रायड और एडलर दोनों के सिद्धान्तों का उपयोग हुआ है। उन्हें कला-सम्बन्धी फ्रायड के सिद्धान्तों का अधिक उपयोग करने का अवसर मिला है, फिर भी एडलर का सिद्धान्त उन्हें अमान्य नहीं है, इसलिए उसकी भी उपेक्षा नहीं हुई है। छायावादी कवियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए जोशीजी ने फ्रायड के अतृप्ति तथा एडलर के प्रभुत्व-कामना के सिद्धान्त का विवेचन किया है। कला का दमित वासनाओं से सम्बन्ध स्थापित करते हुए जोशी जी लिखते हैं : "वहां वे ऐसी दबी पड़ी रहती हैं कि फिर आसानी से ऊपर को उठ नहीं पातीं। पर बीच-बीच में जब वे शेषनाग के फनों की तरह आन्दोलित हो उठती हैं, तब हमारे सचेत मन

---

१. सौन्दर्य-बोध, 'त्रिशंकु', पृष्ठ २६ ।
२. वही ।

को भूकम्प के प्रचण्ड प्रवेग से हिला देती है। ऐसे ही अवसरों पर कलाकार का हृदय अपने भीतर किसी "अज्ञात शक्ति" की प्रेरणा का अनुभव करके कलात्मक रचना के लिए विकल हो उठता है। कवि अथवा कलाकार की कृतियाँ उसके अन्तस्तल में दबी हुई भावनाओं की ही प्रतीक होती है।"[1] जैसे स्वप्न में मानव की वासनाएँ अपना रूप बदलकर आती हैं, वे अपने-आपको कुछ प्रतीकों के आवरण में अभिव्यक्त करती हैं, उसी प्रकार कला-कृति भी कलाकार की मानसिक स्थिति की ही रूपकों के आश्रय से अभिव्यक्ति-मात्र है। कला और स्वप्न के साम्य का सिद्धान्त भी फ्रायड की ही देन है। जोशीजी इसी आधार पर अस्पष्टता और रूपक रस को काव्य का अनिवार्य तत्त्व मानते हैं। जोशी जी ने हीनता के भाव की क्षति-पूर्ति के सिद्धांत का भी कला से सम्बन्ध माना है। इस प्रकार इनको भी इन दोनों मनोविश्लेषक आचार्यों के सिद्धान्त मान्य है। इन दोनों सिद्धान्तों के सभी अंगों का विशद विवेचन हुआ है। फ्रायड और एडलर के सिद्धान्तों का निरूपण करते हुए जिन तत्त्वों का निर्देश हो चुका है वे सभी इनको मान्य है। हिन्दी-साहित्य की मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा-पद्धति के ये दोनों व्यक्ति प्रतिनिधि हैं। इन्होंने अपने विवेचन से यह प्रमाणित कर दिया कि "समीक्षा में मनोविश्लेषण-शास्त्र के सिद्धान्तों का उपयोग उद्देश्य-विहीन और केवल पांडित्य-प्रदर्शन की आकांक्षा-मात्र नहीं है। ये सिद्धान्त काव्य के वास्तविक स्वरूप के निरूपण तथा उसको स्वस्थ मार्ग का अवलम्बन करने के लिए प्रेरणा देने में सहायक है। काव्य में अस्वस्थ वृत्तियों की प्रेरणा का उद्‌घाटन करके उसे स्वस्थ मार्ग पर ले चलना ही इस समीक्षा की उपयोगिता है।" जोशीजी इसकी उपयोगिता को स्पष्ट करते हैं : "...उसी प्रकार किसी कलाकार का किसी कृति से उसके मन के भीतर के द्वन्द्व, उनकी अन्तश्चेतना में निहित पाशविक प्रवृत्तियों के ताड़न अथवा स्वास्थ्यकर मानवीय भावनाओं के आलोड़न का पता भी निश्चित रूप से लगाया जा सकता है।"[2] आधुनिक मनोविज्ञान ने मानवात्मा के अन्तःपुर की ऐसी कुञ्जी हमें दे दी है कि अब "स्वर्गीय" अथवा "प्रगतिशील" भावापन्न कलाकार के अन्तर में निहित वास्तविक मनोवृत्तियों का पर्दा फाश बड़ी सरलता से हो सकता है।"[3] हम पीछे देख चुके हैं कि जोशीजी सौन्दर्या-

१. 'विवेचन' पृष्ठ ५४।

२. वही, पृष्ठ ५५।

३. वही, पृष्ठ ५५।

न्वेषी हैं। वे काव्य का चरम लक्ष्य सौन्दर्य ही मानते हैं, पर उनकी सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणा में मंगल का भी अंतर्भाव है। वे साहित्य की चिरन्तनता इसी तत्त्व पर आश्रित मानते हैं। साहित्य में चिरन्तन मंगलमय सौंदर्य की सृष्टि प्रत्येक कलाकार नहीं कर सकता है। जोशीजी मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा का उद्देश्य यह अध्ययन करना मानते हैं कि किस कलाकार के व्यक्तित्व में स्वस्थ साहित्य-सृजन की कितनी क्षमता है और कैसे है। शमित इच्छाओं का अध्ययन एवं हीनता की भावना की क्षति-पूर्ति का प्रयास अगर स्वस्थ दिशा में अग्रसर है तो कलाकार महान् कृति उपस्थित कर सकता है, अन्यथा आपाततः मधुर होते हुए भी उसमें जीवन-शक्ति का अभाव ही रहता है। जीवन की महान् कल्पना कलाकार के अवचेतन मन की भावनाओं के स्वस्थ विकास द्वारा ही नियंत्रित होती है। अज्ञेय जी सत् साहित्य के स्वरूप तथा कलाकार के अवचेतन मन से उसका सम्बन्ध स्पष्ट करते हैं। "यदि अपनी अनुभूति के प्रति उसकी आलोचक-बुद्धि जाग्रत है यदि उसने धैर्य पूर्वक अपनी आन्तरिक मांग का सामना किया है और उसे समझा है, यदि उसके उद्वेग ने उसमें प्रतिरोध और जुगुप्सा की भावनाएँ जगाई हैं, उसे वातावरण या सामाजिक गति को तोड़कर नया वातावरण और नया सामाजिक संगठन लाने की प्रेरणा दी है तो उसकी रचनाएँ महान् साहित्य बन सकेंगी।...यदि उसके उद्वेग ने केवल अनिश्चय, घबराहट और पलायन की भावना जगाई है तब उसकी रचनाएँ मधुर होकर भी घटिया रहेंगी।"[1] अज्ञेय जी माँ के आँचल के भीतर के मधुर स्वप्नों को शैशवोचित चेष्टा कहते हैं, उनमें जीवन-शक्ति का अभाव मानते हैं। ये आलोचक स्थूल उपयोगितावाद या नीति के उपदेश को काव्य का उद्देश्य नहीं मानते। प्रगतिवाद के विरोध का एक यह भी कारण है। लेकिन दूसरी तरफ विलासिता की तृप्ति करने वाली सौन्दर्य-साधना को भी ये काव्य का स्वस्थ और प्रौढ़ स्वरूप नहीं मानते। छायावाद के कतिपय कवियों में जीवन का जो पलायनवादी दृष्टिकोण है, उसके मूल में वासना ही है। वह जीवन का स्वस्थ संदेश देने में असमर्थ है इसीलिए उन्होंने उसका भी विरोध किया है। जोशीजी ने सामंजस्य के सिद्धान्त पर बहुत जोर दिया है। सौन्दर्य और मंगल के सामंजस्य पर हम पहले विचार कर चुके हैं। जोशीजी ने नाशमयी और निर्माणमयी शक्तियों के समन्वय में स्वस्थ साहित्य की प्रेरणा मानी है। इसी स्वस्थ प्रेरणा-शक्ति से प्रभावित होकर जो कवि लिखता है,

---

१. 'त्रिशंकु', पृष्ठ ३०-५१।

जोशीजी का कहना है कि वह युग-युगान्तर में जीवित रह सकता है।[1] "सच्ची कला कभी भी अनैतिक नहीं हो सकती''सच्ची कला-वस्तु अन्ततः एक नैतिक मान्यता (ethical value) पर आश्रित है। हाँ, यह ध्यान दिला देना आवश्यक होगा कि हम एक अंतरतर नीति की बात कह रहे हैं, निरी नैतिकता Moralities की नहीं।[2] वे मानते हैं कि कला पाठक के लिए भी जीवन को सहनीय बनाती है, अर्थात् उसे संघर्ष की शक्ति प्रदान करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि इन लोगों ने काव्य का उद्देश्य जीवनी-शक्ति प्रदान करना माना है। इनकी दृष्टि से यही काव्य की नैतिकता है। यह काव्य के प्रयोजन का स्वस्थ दृष्टिकोण है। मनोविश्लेषण-शास्त्र ने काव्य के स्वस्थ और अस्वस्थ स्वरूप का अनुमान कलाकार के व्यक्तित्व के आधार पर किया है। अगर कलाकार का व्यक्तित्व पलायनवादी और विध्वंसक है तो उसका निर्मित साहित्य भी अस्वस्थ और विध्वंसक ही है। वे ऐसे साहित्य के प्रोत्साहन के घोर विरोधी हैं। समीक्षा के क्षेत्र में मनोविश्लेषण-शास्त्र की यह उपयोगिता अस्वीकृत नहीं की जा सकती, पर केवल उसी दृष्टिकोण को परम सत्य मान लेना साहित्य और कला के उन्मुक्त वातावरण को कुण्ठित करना है।

यह समीक्षा-पद्धति साहित्य-सृजन को वैयक्तिक विवशता का परिणाम मानती है। देश, काल की परिस्थितियाँ कलाकार को प्रभावित अवश्य करती हैं, पर साहित्य-सृजन से उनका सम्बन्ध इतर है, सीधा नहीं। इनका कहना है कि समाज या देश के सुधार की भावना, उनके प्रति कर्त्तव्य आदि तो उसके हृदय को स्पर्श करके उसकी अनुभूति को तीव्र करके कलाकार को विवश करने में ही सहायक होते हैं, पर कला का वास्तविक हेतु वैयक्तिक विवशता ही है। साहित्य की प्रेरणा करने वाली मूल शक्ति साहित्यकार की एक आन्तरिक विवशता है। "साहित्यकार यद्यपि किसी एक दिशा में जाता है अवश्य, तथापि वह दिशा बाह्य आदेशों द्वारा निश्चित नहीं होती। कवि की व्यक्तिगत परिस्थिति उसकी आन्तरिक और बाह्य परिस्थिति से उत्पन्न व्यक्तिगत विवशता उसे निश्चित करती है।"[3] "कलाकार की प्रेरणा-शक्ति एक विशुद्ध और अत्यन्त व्यक्तिगत विवशता है जिसके कारण वह संसार की सत्यता को चित्रित करने को बाध्य होता है।" जोशीजी संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र में युद्ध के आभि-

१. 'विवेचना', पृष्ठ ६०।
२. 'त्रिशंकु', पृष्ठ २८-२९।
३. वही, पृष्ठ ६६।

जात्य (aristocracy) को आवश्यक मानते हैं। काव्य में वे व्यक्तिवाद और व्यक्तिगत चेतना का महत्त्व स्वीकार करना चाहते हैं।[१] वैयक्तिकता और आभिजात्य का तात्पर्य कला को उद्देश्यहीन बनाना नहीं है। कला के उद्देश्यों पर अभी विचार हो चुका है। अज्ञेय जी कला को पथ-भ्रष्ट होने से बचाने का उत्तरदायित्व आलोचक पर ही मानते हैं।[२]

हिन्दी में मनोविश्लेषणात्मक पद्धति के समालोचकों ने काव्य की आधुनिक गति-विधि पर विचार करते हुए कला की वैयक्तिकता और जीवन-शक्ति प्रदान करने की क्षमता के सिद्धान्तों को अपनी आलोचना के मान के रूप में ग्रहण किया है। जीवन-शक्ति प्रदान करने की क्षमता ही कला की श्रेष्ठता का मानदंड माना गया है। जहाँ पर उन्हें इस प्राण-शक्ति का अभाव प्रतीत हुआ है, वहाँ उन्होंने मनोविश्लेषण-शास्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर उसके कारणों का अनुसंधान किया है। मनोविश्लेषण इन आलोचकों की शैली है, पर काव्य की श्रेष्ठता की धारणा प्रायः सर्वमान्य कही जा सकती है। शुक्लजी तथा अन्य वैसे ही मूल्यवादी आलोचकों के सिद्धान्तों से यह बहुत भिन्न नहीं हैं। ये उनकी अपेक्षा स्थूल नैतिकता और चारित्रिकता के स्थान पर सौन्दर्य और मंगल के सामंजस्य पर जोर देते हैं। साहित्य में प्राण-शक्ति खोजते हैं, उपदेश या विलासिता नहीं। इस दृष्टि से ये सौष्ठववादी समन्वय के समर्थक हैं। यही कारण है कि इन आलोचकों ने छायावादी, प्रगतिवादी तथा इतिवृत्तात्मक तीन वर्तमान काव्य-धाराओं का मंडन और समर्थन दोनों किया है। वे अविकल रूप में इनमें से एक के भी समर्थक नहीं हैं। इतिवृत्तात्मक कविता में जहाँ स्थूल उपदेश और केवल कथा-प्रवाह है, उसका समर्थन वे लोग नहीं कर सके। छायावाद के कलात्मक सौष्ठव की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हैं, पर उसकी विलासिता-जन्य पलायनवादी प्रवृत्ति के घोर विरोधी हैं। प्रगतिवाद भी नग्न चित्रण के आवरण में इसीकी तृप्ति कर रहा है, ऐसा उनका मत है। साहित्य का अर्थ की समस्याओं से गठबन्धन करके उसके स्वच्छन्द विकास के मार्ग को अवरुद्ध करना, इनके अनुसार साहित्य में अस्वस्थ दृष्टिकोण को प्रश्रय देना है। जोशी जी के 'छायावादी और प्रगतिवादी कवियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण' नामक निबन्ध में यही दृष्टिकोण है। जीवन की विध्वंसक शक्तियों को प्रश्रय देने वाला साहित्य जोशीजी की दृष्टि से हेय और बहिष्कार के योग्य

१. 'साहित्य-सर्जना', पृष्ठ ५६-६०, ६४-६५।
२. 'त्रिशंकु', पृष्ठ ३२।

हैं। आधुनिक उपन्यासों के नायकों की इसी विलासिता की उन्होंने घोर निन्दा की है।[1]

छायावादी कवियों में स्वर्गीय कल्पनाओं का कारण जोशीजी जीवन-संघर्ष की असफलता-जन्य आत्म-ग्लानि मानते हैं। इन कवियों में विश्व-कल्याण की भावना का अभाव है, ये अपनी दाम्भिकता और विकृत मनोभावों की तृप्ति-मात्र करते हैं। छायावादी कवियों में समाज पर अपनी धाक जमाने की भावना है। उस शक्ति-प्राप्ति की आकांक्षा के भीतर से उनकी पुरुषार्थ-हीनता भी स्पष्ट झाँक रही है। "अहंकार-प्रसूत शक्ति-प्राप्ति की मूल प्रवृत्ति को चरितार्थ किया है। पर इस अहंभावापन्न शक्ति के बाह्याडम्बर के भीतर पुरुषार्थ-हीनता का भयंकर खोखलापन छिपा हुआ रहता है।"[2] 'आज का हिन्दी-साहित्य अधिकांश असन्तुष्ट या कह लीजिये वासना के कुण्ठित विश्वास (विशफुल थिंकिंग) का साहित्य है।...अपनी स्त्री का आदर्शीकरण, स्त्री के नाम से कहानियाँ छपाकर, लेखिका स्त्री पाने की इच्छा-पूर्ति ये सब प्रवृत्तियाँ इसी प्रकार समझी जा सकती हैं, लेकिन ये सब हमारे साहित्य में व्यक्त होने वाली कुण्ठा का एक ही पहलू है।"[3] अज्ञेय जी भी अपने इन विचारों द्वारा जोशीजी के विचारों की पुष्टि कर रहे हैं। इन आलोचकों द्वारा प्रगतिवादी कविता के विरोध के कारणों में से सबसे प्रधान कारण उसमें जीवन की स्वस्थ शक्ति का अभाव ही है। हिन्दी का प्रगतिवाद भी कुछ कुण्ठाओं ही का परिणाम है। ये मानव की कल्याण की भावना से प्रेरित होकर नहीं अपितु अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा तथा यथार्थता के नाम पर वासना-तृप्ति का प्रयास-मात्र है। जोशीजी के विचार में छायावादियों का अपने महत्त्व-स्थापन का दूसरा प्रकार ही प्रगतिवाद है। जोशीजी का प्रगतिवाद के सिद्धान्तों से नहीं अपितु व्यावहारिक क्षेत्र की उनकी अस्वस्थता से विरोध है। "छायावाद की छायामयी शक्ति का प्रभाव धीरे-धीरे नष्ट होते देखकर उन्होंने जनता पर धौंस जमाने का यह दूसरा तरीका अख्तियार किया है। मानव के नाम पर उन्होंने अपनी इतने दिनों से दबी हुई सहज प्रवृत्तियों को नग्न रूप देने की उन्मुक्त सुविधा पाई है। स्त्री-पुरुष के द्वन्द्व-मूलक सम्बन्ध में सुधार का बहाना पकड़ करके निर्द्वन्द्व हो उठे हैं।...समाज के प्रतिष्ठित नियमों के प्रति उनका विद्रोह समाज के

---

१. 'विवेचना', पृष्ठ ९०-९१।

२. वही, पृष्ठ ९३।

३. 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य', पृष्ठ २०-२१।

सामूहिक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर नहीं, बल्कि अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा की चरितार्थता में बाधा पहुँचाने के कारण, समाज के विरुद्ध उसी पुरानी प्रतिहिंसा की मनोवृत्ति के विस्फोट के फलस्वरूप व्यक्त हुआ। ...हमारे प्रगतिवादी कवि भी अपने समाज-विद्रोही उद्गारों द्वारा एक विशेष प्रकार के 'रोमाण्टिक' रस का स्वाद पा रहे हैं जो छायावादी रस का अच्छा (सब्सटीच्यूट) है।"[1]

यह पहले कहा जा चुका है कि मनोविश्लेषणात्मक आलोचक साहित्य की श्रेष्ठता का माप मानव के कल्याण तथा उसके सांस्कृतिक विकास में सहयोग की क्षमता मानते हैं। मनोविश्लेषण-शास्त्र के सिद्धांतों के आधार पर जोशी जी का पक्का विश्वास है कि मानव की अज्ञात चेतना की मनोवृत्तियाँ ही उसके जीवन को परिचालित करती हैं। सभ्यता के विकास के साथ मानव की पाशविक वृत्तियाँ अपना स्वरूप बदलती रहती हैं। जोशी जी कहते हैं कि इन पाशविक वृत्तियों को अपने अज्ञात चेतन से उखाड़ फेंक देने में ही मानव का कल्याण है। उनका विध्वंसक रूप में विस्फोटन न होकर नियमित रूप में स्वस्थ मार्ग का अवलम्बन करके प्रस्फुटन-मात्र हो।[2] उनकी यह मान्यता है कि व्यक्तिगत जीवन की समस्याएँ ही विश्व की सब चीजों के मूल में है, इसलिए व्यक्ति की सारी प्रगति अज्ञात चेतना द्वारा ही प्रेरित है। व्यक्ति का स्वस्थ विकास ही इन समस्याओं का वास्तविक हल है। बाह्य परिस्थितियों को प्राधान्य देकर मानव-चेतन और अन्तर्विज्ञान की उपेक्षा में विश्व की समस्याओं का समाधान नहीं है, इसलिए वही साहित्य श्रेष्ठ है जो मानव के स्वस्थ विकास में सहायक है। अवचेतन मन का शास्त्रीय ज्ञान ही कलाकार को उन विषयों और शैली का निर्वचन करने में समर्थ करता है जिससे पाशविक वृत्तियों को दृढ़तर करने में इसी ज्ञान से समर्थ होता है। मनोविश्लेषण-शास्त्र पर आधारित साहित्य-दर्शन की यह बहुत बड़ी उपादेयता है। इस विकास का अध्ययन मनोविश्लेषणात्मक पद्धति पर भी हो सकता है। साहित्य के प्रति इनकी सद्भावना है। अज्ञेय जी साहित्य को ही आलोचना का विषय मानते हैं, पर उसके सम्यक् अध्ययन के लिए कलाकार के व्यक्तित्व के अध्ययन की अनिवार्यता भी स्वीकार करते हैं। वे कलाकार के मानस का उसके अवचेतन मन की चेतनाओं का अध्ययन आवश्यक मानते हैं।[3] साहित्य

१. 'विवेचना', पृष्ठ १६६-१७० ।
२. वही, पृष्ठ १६४ - १७२ ।
३. देखिये 'त्रिशंकु', रूढ़ि और मौलिकता ।

में अस्वस्थ वृत्तियों के अनुरोध, बाह्य और अन्तर्वृत्तियों के सामंजस्य तथा स्वस्थ उन्नयन द्वारा साहित्य को मानव-कल्याण और स्वाभाविक विकास में सहायक बनाने के लिए मनोविश्लेषण-शास्त्र को सहायक रूप में ग्रहण करना ही समीचीन है। प्रत्येक कलाकार या कला-कृति में दमित वासना अथवा प्रभुत्व-कामना का अस्वस्थ विकास के अनुसन्धान का साहित्य समालोचना की दृष्टि से केवल साम्प्रदायिक है।

: १२ :

मार्क्सवादी समीक्षा

साहित्य और दर्शन का चिर सम्बन्ध रहा है। साहित्य की चिरन्तनता और विकास-क्षमता उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर ही निर्भर है। जिस साहित्य का सांस्कृतिक सन्देश व्यापक और मानव-मात्र के कल्याण के लिए है, वह उतना ही दीर्घायु होता है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि प्रौढ़ और व्यापक जीवन-दर्शन वाला साहित्य ही चिरस्थायी होता है। प्रत्येक संस्कृति का एक अपना जीवन-दर्शन है। वही उसका प्राण-स्पन्दन है। दर्शन वह शक्ति-केन्द्र है जहाँ से जाति की सारी सांस्कृतिक क्रियाओं का परिचालन होता है। साहित्य भी मानव की एक प्रधान और महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक सम्पत्ति है। संस्कृति और साहित्य का यह दृढ़ और अभिन्न सम्बन्ध तथा चिरञ्जीवी संस्कृति के साहित्य की चिरन्तनता का नियम सार्वदेशिक और सर्वकालिक है। 'रामायण', 'महाभारत' आदि काव्यों की इतनी दीर्घ आयु और लोकप्रियता का श्रेय हिन्दू-संस्कृति तथा उसके जीवन-दर्शन को ही है। दार्शनिकपृष्ठभूमि के अभाव में अथवा संकुचित एवं अल्पजीवी जीवन-दर्शन का साहित्य कपड़ों के फैशन की तरह क्षणस्थायी होता है। वह कुछ समय तक लोक-रंजन करके समाप्त हो जाता है। आज का प्रगतिवादी साहित्य भी एक नूतन जीवन-दर्शन, जीवन की समस्याओं के नवीन समाधान और जीवन के नवीन मूल्यों के साथ साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश कर रहा है। इसके स्थायित्व का अनुमान समय-सापेक्ष है। यह अभी भविष्य के गर्भ में है कि इसके सांस्कृतिक सन्देश में मानव कल्याण की कितनी क्षमता है। दर्शन, समाज-शास्त्र अर्थशास्त्र और राजनीति के क्षेत्र में जो कुछ मार्क्सवाद है, वही साहित्य के क्षेत्र में 'प्रगतिवाद' के नाम से अभिहित हो रहा है। मार्क्सवादी सिद्धान्तों की कलात्मक अभिव्यक्ति को 'प्रगतिवाद' कहना उसका साम्प्रदायिक और संकुचित अर्थ में प्रयोग अवश्य है। पर ऐसा ही कुछ लोगों को अभिप्रेत है, यह कहना भी गलत नहीं है। इसी संकुचित और साम्प्रदायिक अर्थ में मार्क्सवादी जीवन-दर्शन के आधार पर

साहित्य की श्रेष्ठता, उपादेयता और स्थायित्व का मूल्यांकन करना प्रगतिवादी समीक्षा है। मानव की सभ्यता और संस्कृति के विकास में साहित्य की देन का किसी सम्प्रदाय-विशेष के जीवन-दर्शन से न बँधकर उदार दृष्टिकोण से मूल्यांकन व्यापक अर्थ में प्रगतिवादी समीक्षा कही जा सकती है। इस व्यापक अर्थ में समीक्षा के लिए मार्क्सवादी जीवन-दर्शन की मान्यताओं को ही चरम सत्य मानकर चलना आवश्यक नहीं। वह आवश्यकतानुसार गान्धीवाद, आध्यात्मवाद आदि दर्शनों का भी उपयोग कर सकता है। भारत का तो चिर विश्वास रहा है कि मानव का वास्तविक कल्याण भौतिकवाद से नहीं अध्यात्मवाद से ही संभव है। लेकिन प्रगतिवाद के व्यापक स्वरूप को समझने के लिए पहले साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या तथा मार्क्सवादी जीवन-दर्शन का परिचय आवश्यक है।

मार्क्स के दर्शन का नाम द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। इस नाम से ही इसका वास्तविक अभिप्राय स्पष्ट है। तर्क की द्वन्द्वात्मक प्रणाली से जगत के वास्तविक सत्य का अनुसन्धान इस दर्शन का उद्देश्य है। मार्क्स जगत के पार्थिव रूप को ही चरम सत्य मानता है। हीगेल का विरोध करते हुए मार्क्स वस्तु को चरम सत्य मानता है। हीगेल का विरोध करते हुए मार्क्स वस्तु को चरम सत्य तथा बुद्धि, विचार अथवा आत्मा को उसीका प्रतिबिम्ब रूप कहता है। मार्क्स की मान्यता है कि भौतिक जगत का मानव-मस्तिष्क में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब ही विचार है। हीगेल ने विचार को सत्य तथा भौतिक जगत को उसकी बाह्य अभिव्यक्ति-मात्र माना है, पर मार्क्स का दर्शन ठीक इसके विपरीत है।[1] एंजिल्स ने तो यहाँ तक कह दिया है कि इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष जगत ही सत्य है और इन्द्रियातीत प्रतीत होने वाली चेतन सत्ता तो इसी का परिणाम-मात्र है। आत्मा भूत तत्त्व के विकसित रूप के अतिरिक्त कुछ नहीं है।[2] मार्क्स ने भी इसी सत्य का समर्थन करते हुए मस्तिष्क को पदार्थ का

1. To Hegeal.........the real world is only the external phenomenal form of the idea. With me the contrary, the ideal is nothing else than the material world reflected by the human mind and translated into form of thought (Rarl Marx : Capital volume I. P. 30).
2. The palpable world which are percive with our senses to which we belong ourselves is the only real world. Our conciousness and thought however supper sense like they may seem, are the product of matter; sprit is only higher product of matter. This is pure materialism.

चरम विकास कहा है और दृश्यमान भौतिक जगत् को ही परम सत्य माना है। इस दर्शन के अनुसार जगत् की कोई भी वस्तु पूर्णतः स्वतन्त्र और शेष जगत् से नितान्त विच्छिन्न एवं सत्तावान् नहीं है। प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व शेष जगत् पर आश्रित है, इसलिए उसका ज्ञान भी शेष जगत् के सम्बन्ध की अपेक्षा रखता है। यह सारा वस्तु-जगत् चिर परिवर्त्तनशील है। इसका एक अणु भी स्थिर नहीं माना जा सकता। जगत् की प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरोधी तत्त्व उपस्थित रहते है और उनका शाश्वत संघर्ष चलता रहता है। वस्तु में ही उनके विनाश के तत्त्व विद्यमान होते है। वस्तु के दो पक्ष है—एक मरणशील (निगेटिव) और दूसरा विकासमान (पोजीटिव)। वस्तु का प्रस्तुत अवस्थान (थीसिस) ही अपने विरोधी तत्त्वों के नैसर्गिक और आन्तरिक संघर्ष के फलस्वरूप प्रत्यवस्थान (एण्टीथीसिस) में परिणत होता है। पर उसमें संघर्ष बराबर चलता रहता है और एक अवस्था ऐसी आती है जब वस्तु के दोनों पारस्परिक विरोधी तत्त्वों का संतुलन हो जाता है। इसी अवस्था को मार्क्सवादी साम्यावस्थान कहता है। कुछ समय तक वस्तु इस अवस्था में रहती है। लेकिन धीरे-धीरे उसमें क्षोभ पुनः प्रबल हो जाता है फिर। पूर्ववत् संघर्ष चलने लगता है और इस प्रकार नवीन अवस्थान-क्रम की सृष्टि हो जाती है। सारा वस्तु-जगत् इन्हीं अवस्थाओं के चक्र में चिर विकासमान है। एक अवस्था का घन तत्त्व (पोजीटिव) दूसरी अवस्थामें ऋण (निगेटिव) तथा ऋण-घन हो जाता है। मार्क्स परिवर्त्तन का निरर्थक चक्र नहीं मानता उसे विकास का सिद्धान्त ही मान्य है। वस्तु का परिवर्तन हमेशा ही उन्नयन और उत्कर्ष का हेतु है। उसके परिमाण में वृद्धि होती है और परिमाण की वृद्धि उसके सात्विक तथा गुणात्मक अन्तर का कारण बन जाती है। प्रत्येक वस्तु की परवर्त्ती अवस्था अपनी पूर्ववर्त्ती से अधिक प्रौढ़ विकसित और उत्तम होती है। स्टेलिन के शब्दों का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वस्तु के तात्विक और आन्तरिक संघर्ष का अध्ययन ही है। विरोधों के संघर्ष का ही दूसरा नाम विकास है।[1] परिवर्त्तन का तात्पर्य क्रमिक विकास नहीं है, अपितु क्रान्ति है। वस्तु का विकास अपने पूर्व रूप को साथ लेकर नहीं होता। वह तो उसका पहले समूल विनाश कर देता है तब एक नवीन वस्तु का रूप धारण करता है। वस्तु अपने

1 In its proper meaning, dialectics is the study of the contradiction with in the essence of things............Development is the struggle of opposits. (Stalin the problems of Leninism P 573)

पूर्ववर्त्ती स्वरूप से परिमाण और मूलभूत तत्त्व दोनों में पूर्णतः भिन्न हो जाती है। विनाश पर ही नवीन स्वरूप या अवस्थान की प्रतिष्ठा होती है। इस प्रकार इस दर्शन का मार्ग क्रमिक विकास का नहीं विध्वंसात्मक क्रान्ति का है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्तों के आधार पर समाज के ऐतिहासिक विकास तथा व्यक्तियों के पारस्परिक एवं व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों का अध्ययन ही ऐतिहासिक भौतिकवाद कहलाता है। मानव की चेतना पर मानव का अस्तित्व निर्भर नहीं है, अपितु उसका सामाजिक अस्तित्व उसकी चेतना का निर्माण करता है।[1] समाज के भौतिक जीवन की अवस्थाओं का समाज पर पूर्ण नियन्त्रण रहता है। उसके नीति-शास्त्र, राजनीति, सौन्दर्य-शास्त्र आदि सभी शास्त्रों के नियम तत्कालीन भौतिक जीवन के स्वाभाविक एवं अपरिहार्य परिणाम हैं। वे नियम ही उस काल के जीवन के लिए सत्य हैं। किसी भी नियम का वस्तु की तरह अपनी परिवृत्तियों से विच्छिन्न करके मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। सारे पदार्थ-जगत् की तरह सारा मानव-जीवन और समाज भी चिरन्तन परिवर्तनशील और प्रवहमान है, इसलिए जीवन का कोई भी नियम शाश्वत सत्य नहीं है। नीति-शास्त्र या समाज-शास्त्र का कोई ऐसा सर्वकालीन मानदंड नहीं हो सकता जो हमेशा के लिए उपादेय माना जा सके। समाज और शासन की कोई ऐसी पद्धति संभव ही नहीं है जो हमेशा श्रेयस्कर हो। समाज और व्यक्ति का सम्बन्ध चिर परिवर्तनशील है। नैतिकता की धारणा भी हमेशा एक नहीं बनी रह सकती है, इसलिए मार्क्सवाद शाश्वत मूल्यों की संभावना को ही अस्वीकार करता है। सामन्त-काल की सामाजिक और नैतिक मान्यताएँ, राजनीतिक संस्थाएँ और और शासन-पद्धति उस काल के भौतिक जीवन के सहज परिणाम होने के कारण उस काल के लिए तो पूर्णतः उपयुक्त थे, पर भौतिक जीवन की अवस्थाओं के बदल जाने के बाद ये सब विचार-धाराएँ और धारणाएँ अनुपयुक्त हो गईं। पूँजीवादी समाज-व्यवस्था की स्थापना के बाद ये ही विकास के प्रतिगामी तत्त्व हो गए। भौतिक जीवन पर देश-काल की परिस्थितियों का भी पर्याप्त प्रभाव होता है, पर जीविकोपार्जन के प्रकार एवं उत्पादन की पद्धति का ही सबसे अधिक नियन्त्रण होता है। समाज और मानव-जीवन का सारा ढांचा ही इसी पर आश्रित रहता है। किसी समय की विहित दास-प्रथा आज की आर्थिक परिस्थितियों में अवैध है।

1. It is not the conciousness of men that determines their being but on the contrary, their social being that determines their co nciousness (Korl Marx. Quoted by Stalin).

पर कुछ द्वीपों की आर्थिक स्थिति आज भी इसी के उपर्युक्त है। कहने का तात्पर्य यह है कि मानव का पारस्परिक सम्बन्ध, उसका सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक जीवन, उसकी नैतिक और आध्यात्मिक धारणाएँ सभी कुछ उपार्जन की पद्धति पर आश्रित है। सारी संस्कृति की मूल प्रेरणा-शक्ति अर्थ-व्यवस्था ही है। इसलिए साहित्य का नियन्त्रण भी इसीके द्वारा होता है। अर्थ-व्यवस्था और उपार्जन-पद्धति चिर परिवर्तन शील हैं, इसलिए इनके साथ सारा जीवन-दर्शन ही बदलता जाता है। उपार्जन-पद्धति के साथ उत्पादकों के पारस्परिक सम्बन्ध बदल जाते हैं और उससे सारे सामाजिक नियम नवीन हो जाते हैं। उत्पादकों का पारस्परिक सम्बन्ध भी उपार्जन-पद्धति के परिवर्तन का कारण बनता है। इनका परस्पर में अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध है।

पहले हम साहित्य का युग और समाज के साथ सम्बन्ध दिखा चुके हैं। साहित्य की ऐतिहासिक व्यवस्था में टेन आदि ने साहित्य को युग-परिवृत्ति और जातीयता की अभिव्यक्ति-मात्र कहा है। साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या में भी युग और साहित्य का अभिन्न सम्बन्ध सिद्धान्ततः मान लिया गया है। एडवर्ड अपवर्ड साहित्य के वर्ण्य विषय, शैली आदि सभी पर युग का पूर्ण नियन्त्रण स्वीकार करते हैं।[१] मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार सारे चिन्तन, सारी विधाओं, सब शास्त्रों को परिस्थितियों द्वारा परिचालित ही नहीं अपितु परिस्थितियों की उपज ही मानते हैं। इनमें साहित्य का भी अन्तर्भाव है। उसके अनुसार समाज-संगठन की मूल भित्ति ही आर्थिक सम्बन्ध है। उत्पादन के प्रकारों के साथ समाज में व्यक्तियों का पारस्परिक सम्बन्ध बदलता जाता है और उसीके अनुसार आचार-शास्त्र, साहित्य आदि भी बदलते जाते हैं। काडवेल कविता के मूल आधार को जातीय अथवा देशगत नहीं मानना चाहते, उन्हें आर्थिक मानने का पूरा आग्रह है।

"Poetry is regarded then, not as some thing racial, national, genetic or specific in its essence, but as some thing economic"[२]

कविता के इस आधार के सम्बन्ध में मार्क्स एंजिल्स और लेनिन आदि एक मत है।[3] मार्क्स साहित्य का अन्ततः अर्थ उत्पादन के प्रकारों द्वारा

१. 'साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या', हंस प्रगति-अंक, प्रथम भाग।
2. (Illusion and Reality P. 7)
3. Literature like all products of the human mind is ultimately determ'nd by society's economic relation ships; its means of material production. (Marx Quoted Veredin in Lanin on Art and Literature. P. 126)

ही साहित्य के स्वरूप-निर्देश का होना मानते हैं; लेकिन मार्क्स-दर्शन के प्रधान विचारकों ने साहित्य का सीधा सम्बन्ध अर्थ से मानने का निराकरण भी कर दिया है। एंजिल्स ने अपने एक पत्र में अर्थ और साहित्य के सीधे सम्बन्ध मानने का विरोध किया है। उनकी मान्यता है कि दर्शन, धर्म, साहित्य, कला आदि अधिक आकाशचारी विचार-धाराएँ हैं, इसलिए उनका अर्थ से परोक्ष और घुमावदार सम्बन्ध ही संभव है।[1] बुहिन नामक मार्क्सवादी समालोचक ने अर्थ और साहित्य का सीधा सम्बन्ध मानने को मार्क्सवादी व्याख्या की आत्मा का हनन करना कहा है।[2] मार्क्सवादियों की मान्यता है कि विचार अन्ततोगत्वा अर्थ के द्वारा ही निमित होते हैं। पर उनके निमित हो जाने पर वे अपने विकास के स्वतन्त्र मार्ग को अपना लेते हैं। यही साहित्य के लिए भी कहा जा सकता है, इसका विकास भी स्वतन्त्र मार्ग का अवलम्बन करने का होता है। एंजिल्स भी निर्विवाद रूप से विचारों के क्षेत्र में आर्थिक विकास का नियन्त्रण मानते हैं। पर उनका भी यह कहना है कि आर्थिक प्रभाव विचार-जगत् की मर्यादाओं के अनुसार ही पड़ सकता है।[3] इतना ही नहीं मार्क्सवादी दार्शनिक का साहित्य भी विचार-जगत् की ही वस्तु है। विचारों द्वारा भी अर्थ-व्यवस्था का स्वरूप-निर्धारण मान्य है। साहित्य, दर्शन आदि भी मानव के आर्थिक सम्बन्धों के परिवर्तन की प्रधान प्रेरणाएँ हैं। अगर इस सिद्धांत को न माना जाय तो साहित्य का साम्यवाद-प्रचार के लिए शस्त्र के रूप में उपयोग का कोई तात्पर्य ही नहीं रह जाता है। ऊपर साहित्य पर अर्थ के परोक्ष नियन्त्रण की बात कही गई है। कलाकार के व्यक्तित्व का निर्माण उसके वर्ग की मान्यताओं द्वारा होता है। मार्क्सवादी वर्ग-विभाजन का आधार अर्थ-उत्पादन के प्रकार मानता है। पूंजीवादी समाज-व्यवस्था में जो मजदूर और मालिक अथवा व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध होता है, वही समाजवादी वर्ग में नहीं होता। इसलिए इन दोनों समाजों की मान्यताएँ एक-दूसरे से पर्याप्त भिन्न होंगी, यह निर्विवाद सत्य है। कलाकार वर्ग की मान्यताओं के इस नियन्त्रण से कभी मुक्त नहीं हो सकता। कलाकार इन्हीं मान्यताओं से बँधकर साहित्य का सृजन करता है। मार्क्सवाद इसी अर्थ में साहित्य पर अर्थ का नियंत्रण मानता है। पर ऊपर के विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि अर्थ का

---

१. 'लेनिन ऑन आर्ट एण्ड लिटरेचर', पृष्ठ १२७।
२. 'वही', १२७।
३. 'वही'।

यह नियंत्रण प्रत्यक्ष नहीं अपितु परोक्ष है। अर्थ वर्ग की मान्यता तथा कलाकार के व्यक्तित्व के दोहरे आवरण वाले माध्यम से साहित्य में प्रतिध्वनित होता है। इसीको समझाते हुए यूदिन कहते हैं कि कला में आर्थिक आधार कला तथा उसके वर्ग के राजनीतिक विचारों और नैतिक मान्यताओं द्वारा प्रति-विम्वित होता है।[1] इस प्रकार मार्क्सवादी व्याख्या में साहित्य और कला पर अर्थ का परोक्ष नियन्त्रण ही मान्य है, प्रत्यक्ष नहीं। अर्थ-उत्पादन के प्रकार साहित्य में स्पष्टतः प्रतिविम्वित होते हैं अथवा प्रत्यक्ष दिशा-निर्देश करते हैं, ऐसा मानना साहित्य के मूल स्वरूप को न समझना है।

मार्क्स ने मानव-सभ्यता के विकास का आर्थिक आधारों पर विभाजन और अध्ययन किया है। उनके अनुसार यह लम्बा काल कई युगों में विभाजित है। प्रागैतिहासिक काल में मानव आदिम साम्यवाद की व्यवस्था में था। उस समय कोई साहित्य सम्भव ही नहीं था। उसके उपरांत मानव वर्गों में बँटने लगा और एक वर्ग का उत्पादन के साधनों पर पूर्ण नियन्त्रण रहने लगा। आज जो लिखित साहित्य उपलब्ध होता है, वह मानव के वर्गों में बँट जाने के पूर्व का नहीं है एडवर्ड अपवर्ड इसको ऐतिहासिक सत्य मानते हैं कि साहित्य-रचना मानव के वर्गों में विभक्त होने के वाद ही प्रारम्भ हुई है।[2] सबसे प्राचीन उपलब्ध साहित्य दास-प्रथा के समय का ही है। मार्क्सवाद के अनुसार प्रत्येक युग में केवल दो ही वर्ग होते हैं। शासक और शासित अथवा शोषक और शोषित। समाज का एक भाग ऐसा होता है जिसका उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण और स्वामित्व होता है, उसीको मार्क्सवादी शासकवर्ग कहता है। यही वर्ग अपनी सत्ता को अक्षुण्ण वनाये रखने के प्रयत्न में शोषक का रूप धारण कर लेता है। शासकवर्ग के विचारों का ही राजनीति, नीति-शास्त्र आदि के क्षेत्रों में प्रभुत्व रहता है। ये क्षेत्र उसीके स्वार्थों द्वारा नियन्त्रित होते हैं। शासकवर्ग की विचार-धारा अपने युग की प्रमुख और प्रतिनिधि विचार-धारा हो जाती है। साहित्य भी इसके प्रभाव से वंचित नहीं रह सकता है। कलाकार इन विचारों को आत्मसात् करके अपने व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बना लेता है। उसकी रचना में इनकी अभिव्यक्ति स्वाभाविक ही है। मानव-सभ्यता और साहित्य-रचना के प्रारम्भ होने के वाद से अब तक वर्ग-हीन समाज का निर्माण हुआ है। मार्क्सवाद की मान्यता है कि वर्ग-हीन समाज

१. 'लेनिन आन आर्ट एण्ड लिटरेचर', 'परिशिष्ट भाग'।
२. 'हंस', प्रगति-अङ्क, पृष्ठ ३६०।

में ही वर्गहीन साहित्य की रचना सम्भव है। साहित्य अपने युग और वर्ग के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकता है। लेनिन साहित्यकार के निरपेक्ष स्वातन्त्र्य के सिद्धांत को केवल विडम्बना मानकर उसका खण्डन करते हैं।[1] लेकिन युग की विचार-धाराओं का साहित्य पर रूढ़ और जड़ नियन्त्रण मानना उससे भी बड़ी विडम्बना है। पूंजीवादी युग का प्रत्येक कलाकार स्वयं पूंजीवादी मनोवृत्ति का है अथवा उस विचार-धारा का पूर्ण समर्थक है, यह कहना समीचीन नहीं है। आज तक का सारा साहित्य शोषकवर्ग का ही रहा है, इसलिए वह मानव-सभ्यता का प्रतिगामी है यह कहना भी सत्य का हनन करना है। यह मार्क्सवाद का रूढ़ दृष्टिकोण है। स्वयं एंजिल्स ने इस रूढ़िवादिता का खंडन किया है। इन्होंने इब्सन के नाटकों की इन रूढ़ धारणाओं के अनुकूल की गई आलोचना को मार्क्सवादी समीक्षा के प्रतिकूल बताया है।[2] कलाकार को युग की विचार-धारा का प्रतिनिधि कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि प्रत्येक युग में चिंतन की एक सीमा होती है। उस सीमा से कलाकार मर्यादित रहता है। साहित्यकार अपने युग की समस्याओं पर विचार करता है तथा उनका कोई एक समाधान उपस्थित करता है। उसका इन पर विचार करने का ढंग तथा समाधान दोनों ही युग की मर्यादाओं से सीमित और प्रभावित रहते हैं। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि कलाकार अपने वर्ग के स्वार्थों और प्रतिनिधि विचार-धारा का विरोध करता ही नहीं है। कभी-कभी वह अपने समसामयिक विचारों के विरुद्ध व्यापक विद्रोह कर उठता है। अगर साहित्यकार अपने युग का उपभोक्ता-मात्र ही हो तो संस्कृति के विकास में साहित्य का कुछ भी उपयोग नहीं रह जाय। वह केवल अतीत का निर्जीव और मूक भंडार-मात्र हो जता है। मार्क्सवादी साहित्य-समीक्षा कलाकार को युग का उपभोक्ता और निर्मायक दोनों ही मानती है। इसलिए उसे युग की मर्यादाओं में सीमित रहते हुए भी साहित्य का वर्ग की विचार-धारा के खंडन का सिद्धान्त मान्य है। वह उस वर्ग में रहकर भी उसके प्रतिक्रियावादी तत्त्वों का विरोध कर सकता है। पर वह विरोध भी एक सीमा तक ही संभव है। सामंतशाही का कलाकार जीवन के उन मूल्यों की कल्पना नहीं कर पाता था जो आज के युग की देन है। मार्क्सवाद इसी अर्थ में साहित्य को वर्गवाद की उपज कहता है। मार्क्सवादी साहित्य-दर्शन रूढ़िवादी

---

१. 'लेनिन आन आर्ट एण्ड लिटेरेचर,' पृष्ठ ४७।

२. 'वही,' पृष्ठ १२० : १२५।

और जड़ नहीं है, वह चिरन्तन प्रगति का समर्थक है। इसलिए उसमें कलाकार के निरपेक्ष स्वातन्त्र्य का समर्थन नहीं है तो वह कलाकार को युग की शृङ्खला से जकड़ भी नहीं देना चाहता। ऐसा संकुचित दृष्टिकोण तो द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद को रूढ़ और जड़ रूप में ग्रहण करने का परिणाम है।

मार्क्सवाद की काव्य की उत्पत्ति तथा विकास के सम्बन्ध में एक विशेष धारणा है। उसका कहना है कि उपज, युद्ध आदि मानव की सहज वृत्तियों द्वारा परिचालित नहीं होते। वे परोक्ष आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए होते हैं। ऐसे समय पर सामाजिक संगठन द्वारा मानव को इस कार्य के लिए तैयार करना पड़ता है। ऐसे अवसरों पर सामूहिक भाव की तरंगें उठती हैं और मानव के समक्ष प्रत्यक्ष उद्देश्य के स्थान पर एक काल्पनिक उद्देश्य प्रस्तुत हो जाता है, सामूहिक भावों और संगीत की तरंगों में वह इसी काल्पनिक उपज या विजय को सत्य मान लेता है। उपज का पूर्ण विश्वास ही उसे कृषि-कार्य में प्रवृत्त होने की प्रेरणा प्रदान करता है। मानव-कल्पना द्वारा पहले से ही उपज को देख लेता है। यह भ्रांति ही उसे कर्म में प्रवृत्त करती है। उपज, युद्ध आदि के कार्यों में मानव को प्रवृत्त करने के लिए सामूहिक भावों को अभिव्यक्ति द्वारा सामूहिक भ्रान्ति का वातावरण उपस्थित करना आवश्यक होता है। इस वातावरण से मानव को श्रम की प्रेरणा मिलती है और उसको श्रम हल्का प्रतीत होता है। काडवेल ने अपनी पुस्तक guasim and reality में काव्य के सम्बन्ध में इसी मान्यता का प्रतिपादन किया है। वे काव्य के लिए सामूहिक भावों द्वारा सामूहिक भ्रान्ति के वातावरण को उत्पन्न करना आवश्यक मानते हैं। Marx'sm and poetry नामक पुस्तक में भी आदिम काल की कविता का उद्देश्य काल्पनिक उपज में सत्य की प्रतीति कराके मानव की उपज में सामूहिक रूप से प्रवृत्त होने की प्रेरणा प्रदान करना माना गया है। आदिम काल का मानव नृत्य-संगीत आदि में इसी विश्वास से प्रवृत्ति होता था कि इससे उसकी उपज की रक्षा होगी। इस दृढ़ विश्वास के कारण उपज की रक्षा और वृद्धि होती भी थी। इसलिए परोक्ष रूप से कला भी उपज का साधन ही मानी गई।[1] मार्क्सवादी कला के जन्म का यही प्रयोजन मानता है। इस पुस्तक में

---

1. Inspired by the dance in the belief it will save the crop, they proceed to the task of tending it with greater confidenc and so with greater energy than before. And so it does have an effect on the crop after all. It changes their subjective attitude to reality and so indirectly it changes reality P. 11.

साहित्य की विभिन्न विधाओं (ट्रेजेडी आदि) के विकास की ऐतिहासिकता पर भी विचार किया गया है। लेखक इन विधाओं के तात्त्विक विकास का तत्कालीन समाज या वर्ग से सम्बन्ध स्थापित करता है। दो कालों के नाटकों में तात्त्विक अन्तर का कारण वर्ग-संस्कृति है। एलिजाबेथन युग के नाटक में ग्रीक नाटक से इतना भेद होने का कारण उन्होंने दोनों युगों के दो भिन्न वर्गों की संस्कृति का वैषम्य माना है। ग्रीक नाटक कृषि-युग की देन हैं, इसलिए उनमें कोरस है। ऐलिजाबेथन नाटक पूँजीवाद की उपज है।[1] मार्क्सवादी काव्य की कतिपय विधाओं को पूँजीवाद अथवा सामंतशाही की देन होने की स्पष्ट घोषणा करता है। इस प्रकार मार्क्सवादी साहित्य को वर्गवाद की उपज मानता है और उस पर वर्ग-चेतना का कठोर नियन्त्रण स्वीकार करता है।

ऊपर के विवेचन से काव्य के वर्ण्य विषय तथा उद्देश्य के सम्बन्ध में मार्क्सवादी कारण की मूल भिन्नता स्पष्ट होती है। उसकी दृष्टि से काव्य में मानव के सामूहिक भावों को ही स्थान मिलना चाहिए। मार्क्सवाद व्यक्ति-वैचित्र्य के आधिक्य की प्रतिक्रिया है। कला में हमेशा ही व्यक्तिवाद की अभिव्यंजना रही है, ऐसा मार्क्सवादी मानने को तैयार नहीं है। वह कलाकार की प्रतिभा के साथ ही कला का मानव के सामूहिक जीवन से स्पर्श बना रहना भी अत्यन्त आवश्यक मानता है। कलाकार के व्यक्तित्व का निर्माण ही उसकी भौतिक परिस्थितियाँ करती हैं। "हम कह सकते हैं कि कला जीवन का अन्तर्मुखी दर्शन है। किन्तु जिस मन के दर्पण में कलाकार जीवन का दर्शन करता है, वह स्वयं परिस्थितियों के अनुरूप बनता-बदलता रहता है।"[2] जीवन से सम्पर्क तोड़ लेने तथा सामूहिक भावों के स्थान पर व्यक्ति-वैचित्र्य को स्थान देने से कला में प्राण-शक्ति का अभाव हो जाता है। इसीलिए वह अधिक दिन तक जीवित नहीं रह सकती। इस प्रकार चिरस्थायी साहित्य का वर्ण्य विषय सामाजिक और सामूहिक होना चाहिए। उसमें व्यक्ति-वैचित्र्य के लिए नहीं, अपितु सामूहिक भावों के लिए ही स्थान है। मार्क्सवादी ऐसी रचनाओं को ही प्रकृत साहित्य मानता है। उनकी मान्यता है कि काव्य में प्रकृत-चित्रण भी मानव-सापेक्ष ही होना चाहिए। जीवन के केवल सुन्दर और कोमल पक्ष अथवा निरपेक्ष प्रवृत्ति के चित्रण का काव्य के वास्तविक रूप में कोई उपयोग नहीं है। इसमें तो पूँजीवादी कलाकार की उपभोग-वासना की परितृप्ति-मात्र होती है। काव्य का

---

1. Marxism and Poetry P. 40
२. 'हंस', प्रगति-अंक, पृष्ट ४०३।

परम लक्ष्य आनन्द है, ऐसा मान लेने से उसमें सामूहिक चेतना का अभाव और वैयक्तिकता की प्रधानता हो जाती है। मार्क्सवादी आनन्द को काव्य का लक्ष्य नहीं मानते, अपितु उसको केवल साधन के रूप में ग्रहण करते हैं। काव्य का उद्देश्य तो मानव को भौतिक विकास की प्रेरणा प्रदान करना है। लेनिन आदि ने स्थान-स्थान पर साहित्य को क्रान्ति का साधन तथा जो कुछ प्रतिगामी है, उसको नष्ट करने का शस्त्र कहा है। इसके अनुसार क्रान्ति और नव-निर्माण की बुद्धि जाग्रत कर देना साहित्य का उद्देश्य है। मार्क्सवादी साहित्य की रसानुभूति-मात्र से संतुष्ट नहीं। वह उसे बौद्धिक ज्ञान-का पथ प्रदर्शक बनाना चाहता है।[1] अंचल जी ने अतीत की समस्त सांस्कृतिक निधि की रक्षा और भविष्य के नव-निर्माण की कठिन जिम्मेदारी इन दोनों को ही साहित्य का उद्देश्य कहा है। कला के मूल्य के सम्बन्ध में आलोचकों में मतैक्य नहीं है। हम पहले देख चुके हैं कि कुछ लोग कला का मूल्य केवल उसकी आनन्द-क्षमता मानते हैं, कुछ की उसमें सुन्दर और मंगल का समन्वय देखने की प्रवृत्ति है। कुछ साहित्य का उद्देश्य मानव की प्रमुख मानसिक वृत्तियों की परितृप्ति तथा उनके संतुलन-स्थापन को मानते हैं। शुक्लजी ने साहित्य का उद्देश्य मानव का रागात्मक प्रसार माना है। गम्भीरता पूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य के उपर्युक्त सभी उद्देश्य किसी-न-किसी रूप में व्यक्तिवाद से सम्बद्ध हैं। मार्क्सवाद ने जीवन और कला की समाज की दृष्टि से व्याख्या की है। उसमें काव्य का प्रारम्भ ही सामूहिक चेतना अथवा सामूहिक भाव से माना गया है। इसलिए काव्य के उद्देश्य और वर्ण्य-विषय के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण सामाजिक, सामूहिक अथवा समाजवादी कहा जा सकता है। अंचल जी ने साहित्य को सामाजिक संघर्ष का प्रतिबिम्ब और अस्त्र दोनों कहा है। साहित्य को समाज की चेतना के घनीभूत करने का एक आवश्यक माध्यम कहा गया है। अंचलजी उसको केवल प्रचार का साधन न मानकर वस्तुसत्ता से पूर्ण सामाजिक जीवन की उपयोगितापूर्ण परिपूर्ति का साधन मानना समीचीन समझते हैं। सिद्धान्ततः मार्क्सवादी मानव के भौतिक विकास को साहित्य का चरम लक्ष्य मानता है, पर भौतिक विकास की निश्चित रूपरेखा में अटल विश्वास होने के कारण व्यावहारिक रूप में उसने विशुद्ध प्रचारवादी दृष्टि को अपना लिया है। वह इस युग के साहित्य की श्रेष्ठता का एक-मात्र मानदंड साम्यवाद का प्रचार तथा पूंजीवाद का विरोध मानता है। ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि

---

1. Soviet Literature; Featheres af Socialist Realism. P. 30-31

प्रगतिवाद कला के उद्भव, उसके प्रयोजन, हेतु तथा वरेण्य विषय का पूर्णतः भौतिकवादी दृष्टि से ही विवेचन करता है। उसे व्यष्टि की अपेक्षा समष्टि का महत्त्व मान्य है।

प्रत्येक युग की कुछ विशेष मान्यताएं, विश्वास और संस्कार होते हैं। राजनीतिक और आर्थिक स्थिति के अनुकूल विचार-धारा बन जाती है। जिसका जन-साधारण पर निरन्तर प्रभाव पड़ता है और वह उसे स्वीकार कर लेती है। उस युग का प्रत्येक व्यक्ति उसी विचार-सरणी का अवलम्बन करके सोचता है। अपने युग के विश्वासों और मान्यताओं की वह अवहेलना नहीं कर सकता है। युग-युगान्तर तक बाह्य जगत् के प्रति मानव की एक ही प्रतिक्रिया अक्षुण्ण नहीं रहती। वह एक ही वस्तु के महत्त्व को युगानुकूल भिन्न-भिन्न तरह से आंकता है। लोक या जन-मन के इन्हीं विश्वासों, मान्यताओं, संस्कारों, प्रभावों और प्रतिक्रियाओं के समष्टिगत या राशिभूत रूप को काडवेल सामूहिक भाव के नाम से पुकारना चाहते हैं। "सामूहिक भाव" अपने युग के लोक-हृदय के पुष्प की गन्ध होती है। मार्क्सवाद जगत् और जीवन को चिर परिवर्तनशील मानता है। प्रत्येक युग की आर्थिक और राजनीतिक अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। इसलिए एक युग का सामूहिक भाव दूसरे युग का सामूहिक भाव नहीं हो सकता। दूसरे युग में वही प्रतिगामी तत्त्व हो जाता है। आज भारत में राष्ट्रीयता की भावना सामूहिक भाव है। पर आज से दो हजार वर्ष पूर्व इस भाव की स्थिति इसी रूप में नहीं थी। उस समय धर्म और जातीयता की भावना का प्राबल्य था। जातिगत स्वाभिमान की वह पुरानी भावना आज प्रतिक्रियावादी तत्त्व है। जीवन में नीति सदाचार, आचार-विचार के मानदंड भी बदल गए हैं। उनको हठ पूर्वक पकड़कर रखने की भावना प्रतिगामी दृष्टि-कोण है। इस प्रकार एक काल का सामूहिक भाव परवर्ती काल के लिए उपादेय नहीं, क्योंकि उसमें विकास की क्षमता नहीं रह जाती। वह तो ह्रास का प्रतीक हो जाता है। उसको अक्षुण्ण बनाए रखने का आग्रह तो संस्कृति के विकास में बाधक ही है। मार्क्सवादी साहित्य-दर्शन प्रत्येक कलाकार के लिए जन-जीवन में घुल-मिलकर उसकी वास्तविक स्थिति को अनुभूति के माध्यम से ग्रहण करना आवश्यक मानता है। सम्पूर्ण जन-जीवन के साथ अपने-आपको एकाकार कर देने से ही कलाकार सामूहिक भावों को समुचित रूप से ग्रहण कर पाता है। महान् कलाकार के लिए यह नितान्त आवश्यक ही है। हिन्दी में वास्तविक प्रगतिवादी साहित्य प्रेमचन्द का ही है। उसमें देश के किसानों के जीवन का सच्चा चित्र है। उनमें उनकी दीनता, पीड़ा

आदि के साथ जीवन की आशाओं और आत्म-विश्वासों का भी चित्र है। उसकी लोकप्रियता का कारण लोक-हृदय की सच्ची पहचान और अनुभूतिमय सच्चा चित्र है। जग-जीवन का बौद्धिक अथवा केवल कल्पना पर आश्रित ज्ञान साहित्य में अपेक्षित संवेदनीयता लाने में असमर्थ रहता है। साहित्य की लोकप्रियता और स्थायित्व संवेदनीयता पर आश्रित है। और कला-कृति में सामूहिक भावों अथवा जन-जीवन का जितना सच्चा और अनुभूतिमय चित्र अङ्कित होगा उतनी ही वह संवेदनीय होगी। मार्क्सवादी साहित्य-समीक्षा संवेदनीयता का भी मूल आधार सामूहिक भावों की सच्ची अनुभूति ही मानती है। इस प्रकार वह व्यक्ति-वैचित्र्य तथा कल्पना की ऊहात्मकता वाले काव्य को हेय कोटि में स्थान देती है। सामूहिक भावों पर युग के नियन्त्रण के सिद्धान्त हम स्वीकार कर चुके हैं और यह भी मान चुके हैं कि युग की विचार-धारा अधिकांशतः शासक वर्ग के विचारों का प्रतिनिधित्व करती है। सामूहिक भाव भी उस मर्यादा की परिधि का अतिक्रमण नहीं कर सकते हैं। उनके द्वारा युग-चिन्तन की सीमा निश्चित हो जाती है। प्रत्येक युग में भावी विकास के तत्त्व भी विद्यमान रहते हैं। द्वन्द्व का सिद्धान्त विरोधों पर अवलम्बित है। प्रत्येक वस्तु में उसके ध्वंस तथा भावी निर्माण के तत्त्व रहते हैं। उसमें विरोधों का निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। उसका एक स्रोत उसके अन्तस्तल में निरन्तर प्रवाहित रहता है। सच्चे कलाकार की प्रतिभा और सूक्ष्म दृष्टि उन तत्त्वों के भी दर्शन कर लेती है। ये भी उस युग के सामूहिक भावों में ही अन्तर्भूत हैं। युग के विकासशील तत्त्व ही कलाकार के लिए उपादेय हैं। उसकी दृष्टि से सच्चे सामूहिक भावों का निर्माण उन्हीं तत्त्वों से होता है। उन्हींमें जीवन की शक्ति है। शासकवर्ग जब शोषक हो जाता है, उस समय उसके भाव तो प्रतिक्रियावादी हो जाते हैं। इसलिए प्रतिक्रिया के नाशक और भावी निर्माण के भाव ही महत्त्वपूर्ण और उपादेय है। युग के जीवित साहित्य में सामूहिक भाव के इसी रूप को प्रमुख स्थान मिलता है।

भारतीय साहित्य में साधारणीकरण का सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन काल से अब तक हमेशा ही मान्य रहा है। जब तक भावों के साधारणीकृत रूप का चित्रण और ग्रहण नहीं किया जाता तब तक काव्य का सृजन और आस्वाद दोनों ही नहीं हो सकते। इस सिद्धान्त के भावों के अवलम्बन और आश्रय का भी साधारणीकरण हो जाता है। राम, सीता, रति और पाठक सभी वैयक्तिक संकुचित परिधियों को छोड़कर मानव-सामान्य और भाव-सामान्य की भूमि पर आ जाते हैं। इसके अभाव में काव्य-सृष्टि और आस्वाद दोनों ही असम्भव

है। स्थायी और संचारी भाव तो मानव की वह मानसिक स्थिति है जो चिरन्तन हैं। यह तो वह मानव का वह अंश हैं जिसका मानवत्व से अभिन्न सम्बद्ध है। मानव के मानव बने रहने के लिए इन मानसिक स्थितियों का रहना भी अपरिहार्य है। पर विभावादिक के साधारणीकरण का सम्बन्ध युग, देश और संस्कृति से है। विभावादिक भावों की वह उपाधि हैं जिनके माध्यम से वे अभिव्यक्त होते हैं। काल की गति के साथ उपाधि या वस्तु का स्वरूप चिरन्तन परिवर्तनशील है। इसलिए एक ही विभाव हमेशा उसी रूप में अक्षुण्ण नहीं बना रह सकता। किसी समय नायक का अभिजात वर्ग या राज-वंश का होना अनिवार्य था। इसलिए उस समय उसीके उत्थान-पतन से उस युग के मानव-मात्र को सुख-दुःख की अनुभूति होती थी। मार्क्सवाद के शब्दों में यों कह सकते हैं कि वह उस काल का शासक वर्ग था इसलिए उसका तत्कालीन समाज के विचारों पर भी नियन्त्रण था। अब युग बदल गया है अभिजात वर्गका वह महत्त्व और प्रभुत्व नहीं रह गया है। आज मजदूरके भी एक उपन्यास का भी नायक बन सकता है। आस्वाद और प्रभाव की दृष्टि से संभवतः इन दोनों काव्यों में कोई विशेष महत्वपूर्ण अन्तर भी नहीं होता है, यही युग का प्रभाव है। भारतीय संस्कृति के आधार-स्तम्भ राम हैं। रावण उसके विनाशकों में से हैं। रावण की सीता के प्रति रति रसाभास और औचित्य इसीलिए है कि वह भारतीय दृष्टि से असांस्कृतिक है। अगर किसी देश की संस्कृति का ऐसा विकास न हुआ हो तो उन्हें शायद यह रसाभास न भी प्रतीत हो। कवि इसको भी उचित मानकर चलें। अभिप्राय यह है कि विभाव का स्वरूप युगानुकूल परिवर्तित होता रहता है। उससे सम्बद्ध रति आदि भावों की संवेदनीयता भी युग-युग में बदलती रहती है। औचित्य का स्वरूप युग और संस्कृति पर ही निर्भर है। इसीलिए भारतीय औचित्य अनिवार्य रूप से पश्चिम का औचित्य नहीं है। प्राचीन काल की सामाजिक धारणाएँ, जो औचित्य की परिधि में आती थीं, आज बदल गई हैं। और उनमें से कुछ अनुचित होकर रस की बाधक भी हो गई हैं। साधारणीकरण का मूल आधार ही औचित्य है। युगानुकूल उचित विभावों तथा उनसे सम्बद्ध भावों का ही साधारणीकरण हो सकता है। अन्यथा साधारणीकरण की सार्वदेशिकता और सर्वकालिकता का सिद्धान्त स्थूल और रूढ़ हो जाता है। उसका कोई तात्पर्य नहीं रह जाता।

साधारणीकरण और औचित्य के इस विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि उसका युग की धारणाओं से भी सम्बन्ध है और इस प्रकार सामूहिक भावों से भी। यह कहना भी अत्युक्ति नहीं कि युग की धारणाओं (दूसरे शब्दोंमें सामूहिक भावों)

का ही साधारणीकरण हो सकता है। काव्य का नायक मानव का वही रूप बन सकता है जो युग की भावनाओं,मान्यताओं और विश्वासों का आश्रय अथवा उन्हीं का मूर्तिमान रूप हो। क्योंकि उसीमें साधारणीकरण के तत्त्व विद्यमान रहते हैं। राम में वे तत्त्व हैं जिनकी भारत के लोक-सामान्य हृदय में प्रतिष्ठा है, पर रावण में उनका अभाव है। इस प्रकार मार्क्सवाद द्वारा मान्य सामूहिक भाव वह सीमा है जिसका उपयोग कवि करता है अथवा काव्य को लोकप्रिय और चिरन्तन बनाने के लिए जिसका उपयोग कवि के लिए अपेक्षित है और साधारणीकरण वह क्रिया है जो इस सामग्री को जगत् के इस रूप को काव्योपयोगी बनाकर रस-निष्पत्ति कराती है। सामूहिक भावों में संवेदनीयता के तत्त्व विद्यमान रहते हैं। काव्य के अलौकिक विभावन-व्यापार से काव्य में वे उभर आते हैं। युग की सामान्य जीवन-सम्बन्धी धारणा ही सामूहिक भाव है। भारतीय आचार्य को "औचित्य" के सिद्धान्त द्वारा परोक्ष रूप में इसकी स्थिति मान्य है। युग की सामान्य विचार-धारा और मान्यताओं के अनुसार औचित्य की धारणा भी बदल जाती है। भारत के औचित्य और साधारणीकरण के सिद्धान्त का सामूहिक भावों से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी उससे कुछ वैषम्य है। सामूहिक भाव काव्य की वह सामग्री है,जगत् का वह अंश है जिसका कवि उपयोग करता है। साधारणीकरण उस उपयोग की प्रतिक्रया है तथा औचित्य उसका संवेदनीयता का मापदंड। इसके अतिरिक्त भारत के इन दोनों सिद्धान्तों में काव्य के वर्ण्य विषय के स्वरूप का भी अन्तर्भाव है। इन दोनों के आधार पर काव्य के वर्ण्य विषय के स्वरूप की कल्पना की जा सकती है। भारत औचित्य का आधार सांस्कृतिक और दार्शनिक मानता है। जब मार्क्सवादी सामूहिक भावों के एक स्वरूप को विशेष युग के लिए प्रतिगामी कहता है, उस समय उसके पास समाजवादी यथार्थवाद का मानदंड रहता है। पर भारतीय आचार्य अपने विशेष सांस्कृतिक, दार्शनिक और धार्मिक मापदंडों के आधार पर जीवन की कुछ मान्यताओं, विश्वासों और धारणाओं को अधर्म और मानव की चिर और शाश्वत मंगल की भावना अन्तर्हित है। पर मार्क्सवादी भौतिक मंगल की दृष्टि से विचार करता है, इसलिए उसे वह शाश्वत नहीं मान सकता। मार्क्सवादी समाजवादी यथार्थवाद के सम्बन्ध में रूढ़िवादी है। उसके विरुद्ध तत्त्वों को वह प्रतिगामी मानता है। उनका चित्रण करने वाला साहित्य उसकी दृष्टि से प्रतिक्रियावादी है। पर भारतीय मंगल के सिद्धान्त में समाजवादी यथार्थ को आवश्यकतानुसार स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने की उदारता है। वह मानव का केवल भौतिक कल्याण ही नहीं

चाहता अपितु उसके शाश्वत मंगल का भी ध्यान रखता है। मार्क्सवादी आलोचना जहां पर काव्य की प्रेषणीयता पर विचार करती है वहाँ वह सामान्य को ही इसका आधार मानती है, वैचित्र्य को नहीं। वैचित्र्य का आस्वाद भी सामान्य के ही मध्य से संभव है। इस सामान्य का निर्माण मानव की गहन तथा अपेक्षाकृत स्थायी वृत्तियों समाजिक अवस्थाओं और संस्कारों से होता है। इसीलिए ट्राट्स्की ने भी अपनी विचार-धारा में सामूहिक भाव और साधारणीरण दोनों के मिश्रित स्वरूप और अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को आश्रय दिया है।[1]

प्रगतिवादी समालोचक वर्ण्य-विषय की तरह शैली और भाषा को भी जनवादी बनाने का समर्थक है। अत्यधिक ऊहात्मक और चमत्कार-प्रधान शैली जनवादी साहित्य के लिए उपयुक्त नहीं होती। भाषा के अन्दर अत्यधिक कोमलता और मिठास को प्रगतिवादी सामाजिक ह्रास का चिह्न मानता है।[2] इसमें कोई संदेह नहीं है कि जिस काल में मानव का जीवन शिथिल और संघर्ष-शून्य रहता है उसके हृदय में हीन अवस्था के विरुद्ध विद्रोह नहीं जाग उठता, उस समय का साहित्य भी शिथिल और प्राण-शून्य होजाता है। उसमें जीवन की प्रेरक शक्तियों का अभाव हो जाता है तथा वह केवल मानव के उपभोग की वस्तु बन जाती है। उसकी वासना की तृप्ति-मात्र ही साहित्य का ध्येय हो जाता है। ऐसे समय में भाषा में कृत्रिमता चमत्कार और आलंकारिकता का ही प्राधान्य रहता है। जनवादी साहित्य की भाषा अत्यन्त सरल और प्रवाहपूर्ण होती है। उसमें अलंकारों की अनावश्यक भीड़ के लिए स्थान नहीं। ऐसा साहित्य अनुभूतिमय होता है, इसीलिए उसकी भाषा में कलाबाजी और चमत्कार के स्थान पर हृदयस्पर्शिता और संवेदनीयता ही अधिक होती है। प्रगतिवादी तो ओज और कठोरता को जनवादी साहित्य की भाषाका आवश्यक

---

1. So it can be seen that serves as bridge from soul to soul is not unique but the common. Only through the common is the unique known, the common is determined in men by the deepest at persistent conditions which make up his soul by the social conditions of education, of existence or work & by association. (Trotsky—Revolution & literature) .

२. डॉ० रामविलास शर्मा 'हंस प्रगति अंक', पृष्ठ ३६३।

३. वही, ब्रह्मानन्द सहोदर।

तत्त्व मानता है। यह हम पहले कह चुके हैं कि मार्क्सवादी काव्य-विषयों और शैलियों का सम्बन्ध वर्ग-विकास से स्थापित करता है। नाटक का विकास कृषि-युग की वस्तु है और महाकाव्यों का सम्बन्ध युद्धों से। इस प्रकार नाटक महाकाव्य की अपेक्षा अर्वाचीन है। यह विकास की परवर्ती अवस्था की देन है।[1] इसी प्रकार वह भाषा का सम्बन्ध भी वर्गों से स्थापित करता है। काव्य की भाषा में अत्यधिक कोमलता और मिठास वासना-परितृप्ति की आकांक्षाओं का परिणाम है और यह पूँजीवादी युग की देन है। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि मार्क्सवाद काव्य की भाषा तथा बोल-चाल की भाषा को पूर्णतः एक नहीं मानता। काडवेल ने बताया है कि प्रारम्भिक युग में ही साधारण दैनिक बोल-चाल की भाषा की अपेक्षा काव्य के लिए परिष्कृत और लययुक्त भाषा का प्रयोग होता था। उसमें संगीत-तत्त्व भी प्रचुर मात्रा में रहता था। प्रारम्भिक युग में पहले-पहल भाषा लययुक्त ही रही। उनकी बोल-चाल की भाषा भी कवितामय होती थी। आज भी कुछ जातियाँ हैं जो अभी विकास की प्रारम्भिक अवस्था में हैं और जिनकी भाषा लययुक्त है। उस जाति के व्यक्ति अपनी आपस की बात में भी पद्यमय भाषा ही बोलते हैं।

काव्य की श्रेष्ठता के मान तथा उसके वर्ण्य विषय की यथार्थता के सम्बन्ध में मार्क्सवादी दृष्टिकोण को स्पष्टता पूर्वक समझाने के लिए उनके समाजवादी यथार्थवाद पर कुछ थोड़ा-सा विचार कर लेना आवश्यक है। यथार्थवाद के सम्बन्ध में साधारणतया यूरोप में यह धारणा हो गई थी कि नीति, आदर्श अथवा किसी भी प्रकार के भावात्मक एवं कल्पना के आवरण से शून्य प्रत्यक्ष भौतिक जगत् की वस्तुओं का ज्यों-का-त्यों वर्णन कर देना ही यथार्थवाद है। यथार्थवाद में कलाकार की वैयक्तिकता की छाप कम-से-कम होती है। यह चित्र विषयी-तन्त्र नहीं अपितु वस्तु-तन्त्रात्मक ही अधिक होता है। भाषा, भाव और कार्य-व्यापार सभी कुछ नग्न होता है। वस्तु-जगत् के अत्यन्त सूक्ष्म विशद और चित्र का ही महत्त्व है। यथार्थ के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए मीलट ने उसे "A faithful representation of human experience not in the world of the imagination, but in the world of bread and butter." कहा है। इस प्रकार के यथार्थवादी चित्र में नग्नता रहती है। इसमें मानव का जीवन पाशविक वृत्तियों से परिपूर्ण चित्रित किया जाता है।

---

१. 'हंस प्रगति अंक', पृष्ठ १०।

पाठक का मन इस नग्नता से भयभीत-सा हो उठता है। उसके हृदय में जीवन के कुत्सित रूप की सत्यता में अटल विश्वास हो जाता है। उसे जीवन की अनैतिकता ही सत्य प्रतीत होने लगती है। इस प्रकार का प्रकृतवाद मानव को स्वस्थ जीवन-शक्ति नहीं प्रदान कर सकता। मार्क्सवादी साहित्य-दर्शन इस यथार्थ को काव्योपयोगी नहीं मानता। जीवन के यथार्थ और काव्य के यथार्थ में उसे अन्तर मान्य है। जीवन के नग्न चित्रों अथवा तथ्यों को मार्क्सवादी कला और काव्य नहीं कहता। कलाकार को जीवन की घटनाओं के अन्तस्तल में जाकर उन भावनाओं, विचारों और प्रेरक शक्तियों का उद्घाटन करना है, जो उनको परिचालित करती हैं। मानव का जीवन किस दिशा में विकास कर रहा है और उसकी प्रेरक शक्तियाँ क्या हैं? इसीका राग-द्वेष, पक्षपात, वादों और मान्यताओं से ऊपर उठकर चित्रण करना मार्क्स-दर्शन के अनुकूल वास्तविक यथार्थवाद है। वस्तु और पात्र के यथार्थवादी विवरण के साथ कलाकार को इनकी परिवृत्ति में उन शक्तियों का अन्वेषण और उद्घाटन भी करना है, जिन्होंने पात्रों और वस्तु को यह स्वरूप प्रदान किया है और जो उनके भावी विकास का भी दिशा-निर्देश कर रही हैं। एंजिल्स इसीको यथार्थवाद मानता है।[1] "समाजवादी यथार्थ के तत्वों" के लेखक ने युद्ध-चित्र के उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया है। उनका तर्क है कि केवल युद्ध की विभीषिकाओं का चित्रण ही यथार्थवाद नहीं है अपितु उनके कारणों की उद्भावना तथा उस शक्ति का दर्शन भी यथार्थवाद है, जिसमें भावी क्रांति के तत्व अत्यन्त स्पष्ट हैं। केवल विभीषिकाओं का चित्रण तो जीवन का एकांगी रूप है। उसीको पूर्ण और यथार्थ मान बैठना जीवन का अस्वस्थ दृष्टिकोण है। सच्चे यथार्थवादी चित्र में अन्तर्हित प्रेरक विचार-धारा का तथ्यों और घटनाओं के साथ समानुपातिक सम्बन्ध होता है उसमें कवि कार्य-कारण-सम्बन्ध की अवहेलना नहीं कर सकता।[2] उद्देश्य-विहीन तत्व-निरूपण काव्य की वस्तु नहीं है, लेकिन मार्क्सवादी केवल भावी आशाओं के काल्पनिक चित्र को भी यथार्थ काव्य नहीं मानना चाहता। इसमें तो जीवन की यथार्थता ही नहीं रहेगी। काव्य की यथार्थता के लिए अनुभूति की सचाई अपरिहार्य है, इसलिए

---

1. In addition to veracity of detaiis, realism takes for granted true fol trayal of typical characters in the typical circumstances ......which surround them and mativate their behaviour.

—Touit Literature : The Features of Socialist Realism.

२. वही, पृष्ठ २६।

यथार्थवादी कवि केवल कल्पना-लोक में नहीं विचरण कर सकता है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि मार्क्सवादी न ऐतिहासिक और प्रत्यक्ष जगत् के तथ्यों के नग्न चित्र को काव्य मानता है और न केवल कल्पना-लोक की आशापूर्ण अभिव्यक्तियों को ही। उसका काव्य और यथार्थ-सम्बन्धी दृष्टिकोण प्रेमचन्द जी का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहा जा सकता है। यह आदर्श बाहर से आरोपित नहीं किया जाता। कलाकार स्वयं किसी आदर्श की कल्पना करके घटनाओं को उसकी प्राप्ति के लिए अग्रसर नहीं करता है। अपितु घटनाएँ अपने स्वाभाविक रूप में ही उस ओर बढ़ती है। कलाकार का आदर्श उसकी अपनी वैयक्तिक और पूर्व निर्दिष्ट मान्यताओं का परिणाम नहीं होना चाहिए। वह तो वर्णित घटनाओं के अन्तस्तल में प्रवाहित जीवनी-शक्ति का ही विकासमान रूप होता है। वही प्रेरणा जीवन को उन्नति की ओर अग्रसर करती है। कलाकार का कार्य उस शक्तिका उद्घाटन तथा घटनाओं से सम्बन्ध स्थापित करना मात्र है। उसे अपनी कल्पना के प्रयोग की इतनी ही स्वतन्त्रता है। मार्क्सवादी कवि-प्रतिभा का इतना ही महत्त्व मानता है। मार्क्सवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु में गुणात्मक परिवर्तन हो रहा है और इस प्रकार जीवन भी निरन्तर उन्नति की ओर ही बढ़ रहा है। इसलिए काव्य का यथार्थवाद जीवन की घटनाओं में विकार की प्रेरक-शक्ति का दर्शन करना ही है। समाजवादी यथार्थवाद पूर्व प्रचलित सभी वादों से भिन्न है। यह स्पष्ट होगया है कि मार्क्सवादी समीक्षक उन वादों का खंडन करता है।

"I can not consider the products of expressionism, futureism cubism and other Isms the highest manifestations of artistic genious."[1]

इन्हींमें प्रकृतवाद का भी अन्तर्भाव है। पर एडवर्ड अपवर्ड यह मानते हैं कि क्रान्ति के समय में जीवन का बुनियादी सत्य जीवन की सतह पर आ जाता है, इसलिए उस काल में प्रकृतवादी चित्रण भी समाजवादी यथार्थ से भिन्न नहीं होता।[2] एडवर्ड अपवर्ड के कथन में इतना तो सत्यांश है कि क्रांति-काल में जीवन के उथल-पुथल के कारण वे विचार-धाराएँ स्पष्ट होने लगती हैं जिनमें मानव-जीवन के भावी विकास और गुणात्मक परिवर्तन की क्षमता अन्तर्हित है। क्रान्ति-काल में मानव अपनी रूढ़ धारणाओं को चुनौती दे देता है। पर साथ ही इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि युद्ध आदि के समय का साहित्य स्थायी महत्त्व का नहीं हो पाता है। मानव को विक्षुब्ध और विद्रो

१ Lenin on Art and Literature P. 42.

२, [illegible], [illegible]-अंक, पृष्ठ [illegible] ।

हात्मक मानसिक स्थिति के कारण वह जीवन के परम सत्यों के दर्शन नहीं कर पाता है। वह रूढ़ि-खंडन के आवेश में जीवन के कुछ महत्त्वपूर्ण सत्यों की भी उपेक्षा कर जाता है। घास के साथ गेहूँ के पौधे उखाड़कर फेंक देने की संभावनाएँ भी कम नहीं हैं। स्वयं ट्राट्स्की ने अपनी पुस्तक 'Litrature and Rivolution' में इस बात को स्वीकार किया है। उनकी मान्यता है कि साहित्य-सृजन के लिए अवकाश, स्थायित्व और समन्वयवादी दृष्टिकोण का वातावरण आवश्यक है। इसके अभाव में साहित्य क्षणिक प्रचारवादी महत्त्व का ही रह जायगा उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि उनके सर्वहारा वर्ग में राजनीतिक चेतना का विकास तो हो रहा है पर अभी उनकी कलात्मक चेतना अविकसित ही है।[1]

अब हम साहित्य के मार्क्सवादी मूल्यांकन पर विचार कर सकते हैं। मार्क्सवादी साहित्य को समाजिक कृति मानता है और उसका मूल्यांकन भी समाज की उपयोगिता की दृष्टि से ही करता है। मार्क्सवादी आलोचना का स्वरूप स्पष्ट करते हुए अमृतराय कहते हैं : "मार्क्सवादी आलोचना साहित्य की वह समाज-शास्त्रीय आलोचना है जो साहित्य के ऐतिहासिक तथा गतिशील सम्बन्ध का उद्घाटन करती है और सचेतन रूप में समाज को बदलने वाले साहित्य की सृष्टि की ओर लेखक का ध्यान आकर्षित करती है।[2] अच्छी कला-कृति का सामाजिक जीवन के प्रति सच्चा होना अनिवार्य है। ऊपर हमने जिस यथार्थवाद पर विचार किया है, उसके प्रति सचाई और ईमानदारी के अभाव में मार्क्सवादी आलोचक किसी भी कला-कृति को अच्छा नहीं कह सकता। साहित्य में वर्तमान जीवन के प्रति ही सचाई नहीं होनी चाहिए अपितु भविष्य की सम्भावनाओं को प्रत्यक्ष कर लेना भी उसके लिए आवश्यक है। उसे अतीत और वर्तमान यथार्थ के अन्तस्तल में प्रवाहित भविष्य की नियामक शक्तियों को भी पहचान लेना है। ऐसा ही साहित्य दीर्घ काल तक जीवित रह सकता है। वह बासी और पुराना नहीं होता।[3] आज वे ही पुरानी पुस्तकें जीवित हैं जो अपनी समसामयिक भौतिक परिस्थितियों के प्रति सच्ची रहीं हैं और जिन्होंने मानव के भावी विकास के तत्त्वों की पहचान की है। मार्क्सवादी आलोचक कला की भौतिक जगत् के प्रति सचाई को बहुत अधिक

१. 'लिटरलेचर एण्ड रिवोल्यूशन', पृष्ठ २०३।
२. 'नई समीक्षा', पृष्ठ ५।
३. एडवर्ड अपवर्ड 'साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या', 'हंस-प्रगति-अंक' पृष्ठ ३७६।

द्वारा आत्म-तृप्ति तथा जीवन से पलायन का सन्देश न देकर मानव को जीवन-शक्ति प्रदान करे। साहित्य के मानदंड में युग-सापेक्षता भी एक अनिवार्य और आवश्यक तत्त्व है। साहित्य और जीवन का कोई भी भाव अविकल रूप से प्रत्येक युग के उपयुक्त नहीं हो सकता। ऐसा मानना जीवन को जड़ और स्थिर करना है। मार्क्सवाद की इन सभी मान्यताओंसे विश्वके किसी भी सच्चे समालोचक का विरोध नहीं हो सकता। पर इन सामान्य सिद्धान्तों पर उन्होंने जो साम्प्रदायिक आवरण चढ़ा दिया है,उसके कारण उसकी आलोचना-पद्धति बहुत संकुचित और सीमित क्षेत्र की वस्तु हो जाती है। यह सीमित दृष्टिकोण साहित्य के स्वतन्त्र विकास में बाधक है। युग और समाज का महत्त्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता, पर साहित्य-सृजन में व्यक्ति की उपेक्षा भी सम्भव नहीं है। हम चरित-मूलक समीक्षा के प्रसंग में यह स्पष्ट कर चुके हैं कि साहित्य का सृजन समूह नहीं करता अपितु व्यक्ति ही करता है। साहित्य में समूह व्यक्तित्व के माध्यम से ही प्रतिबिम्बित हो सकता है। इसलिए साहित्य में व्यक्ति का अधिक महत्त्व है। साहित्यकार के व्यक्तित्व को केवल कुछ गिने-चुने सामाजिक प्रभावों और संस्कारों का समूह-मात्र कह देने से काम नहीं चलता है। उसका वह अंश भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता जो सामाजिक प्रभावों और संस्कारों को ग्रहण करता है और उनके प्रति एक विशेष प्रतिक्रिया भी करता है। ट्राट्स्की ने व्यक्तित्व को जातीय, राष्ट्रीय आदि तत्त्वों का विशेष और असाधारण मिश्रण माना है और साहित्य-समालोचक के लिए इन तत्त्वों का विश्लेषण आवश्यक समझा है।[1] ट्राट्स्की "असाधारण" शब्द से उसी अंश का निर्देश कर रहे हैं। राल्फ फाक्स भी उसी साहित्य को प्रथम श्रेणी का मानते हैं, जिसमें कलाकार के अन्तर्जगत् से निकला हुआ जीवन-दर्शन होता है। काव्य की महत्ता साधारण परिस्थितियों के पात्रों की कल्पना पर नहीं अपितु महान् पात्रों की कल्पना पर है। महत् की कल्पना महान् व्यक्तित्व वाले कलाकार द्वारा ही सम्भव है।[2] फिर साहित्यकार को वर्ण्य विषय एवं जीवन-संदेश

1. "The truth is that even if the individuality is unique, it does not mean that it canot be analysed. Individuality is a welding togather of tribal national class temporary and institutional elements and in fact it is in the uniqueness of this welding togather in the proportion of this prycho chemical mixture, that individuality is expressed. One of the most important tasks of criticism is to analyse the individuality of artist in to its component element and to show this corelation."

(Literature and Revolution P, 59-60)

२. धर्मवीर भारती: 'प्रगतिवाद: एक समीक्षा', पृष्ठ १३६—१३७।

को निश्चित धारणाओं से बाँध देने पर साहित्य का सृजन सम्भव नहीं है। साहित्यकार बँधी हुई परम्परा में चलने के लिए बाध्य किये जाने या सामाजिक अथवा राजनीतिक अनुचित नियन्त्रण लगा देने पर, सच्चे साहित्य का सृजन नहीं कर सकता। ऐसा प्रचारवादी साहित्य ''घोड़ी-प्रचार-साहित्य' की कोटि में आ जायगा। उसमें स्थायित्व नहीं हो सकता। मार्क्सवादी यथार्थवाद का सिद्धान्त स्वीकार किया जा सकता है, पर उसके समाजवादी विशेषण की अनिवार्यता नहीं। भौतिकता का इतना आग्रह भी मान्य नहीं हो सकता। मार्क्स का द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद तो दर्शन और समाज-शास्त्र का एक सम्प्रदाय है। अन्य सम्प्रदायों की तरह उसमें भी केवल सत्यांश ही है, सत्य का पूर्ण रूप नहीं। अभी उनके सामने विज्ञान और दर्शन की अनेक ऐसी समस्याएँ हैं जिनका उत्तर उनके पास नहीं है। ऐसी अवस्था में प्रत्येक साहित्यकार से उन्हीं सिद्धान्तों को सत्य मानकर चलने का आग्रह दुराग्रह-मात्र है। साहित्य केवल रोटी की समस्या हल करने का साधन नहीं है, उसका सांस्कृतिक महत्व अधिक है। मार्क्सवादी चाहे सांस्कृतिक सत्यों को अस्वीकार करता रहे पर उनका उन्मूलन नहीं किया जा सकता। गम्भीरता पूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्सवादी मस्तिष्क में भी मानव-कल्याण का एक स्वरूप है, जिसको कसौटी मानकर वह युग के कार्यों, धर्म-उत्पादन के साधनों और सम्बन्धों को विकासवादी अथवा प्रतिक्रियावादी कहता है। आज पूँजीवाद इसीलिए बुरा है न कि उसमें अर्थ-उत्पादन के साधनों को अधिक विकसित करके अधिक मानवों की भौतिक समृद्धि की क्षमता नहीं है। मार्क्सवादी के द्वारा मान्य आदिम साम्यवाद आदि सभी अवस्थाओं के परिवर्तन का मूल हेतु यही मानव की भौतिक समृद्धि की आकांक्षा है। फिर मार्क्सवादी इसको भी शाश्वत न मानने का अभिनय कर रहा है। और मार्क्सवादी भौतिक समृद्धि को ही मानव का परम ध्येय मानता है तो दूसरों को आध्यात्मिक उन्नति में मानव का परम कल्याण मानने का अधिकार है। इसलिए भारत साहित्य को मानव की आध्यात्मिक उन्नति का साधन मानकर चलेगा इसमें मार्क्सवादी को क्यों आपत्ति होनी चाहिए ? फिर और ऐसी आपत्ति है भी तो वह दुराग्रह के अतिरिक्त कुछ नहीं है। भारत की आध्यात्मिकता में भौतिकता की अवहेलना नहीं है; क्योंकि उसमें अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों का समन्वय है। तात्पर्य यह है कि मार्क्सवादी साहित्य-मीमांसा ने सामाजिकता, यथार्थवाद आदि के सम्बन्ध में जो सामान्य धारणाएँ बनाई हैं वे तो साहित्य के लिए हितकर हैं। पर उनका साम्प्रदायिक रूप साहित्य और संस्कृति दोनों के विकास में बाधक

है। रोमां रोला के शब्दों में कहा जा सकता है:"बिलकुल तुम्हारी तरह नहीं हो सकता। लेकिन तुम्हें क्या हक है कि तुम यह फरमान जारी कर दो कि जो तुम्हारे विचारों से मेल नहीं खाता वह क्रान्ति के बाहर है। क्रान्ति और प्रगति किसी एक पार्टी की बपौती नहीं है। क्रान्ति की महान् ध्वजा की छाँहमें वे सभी सिपाही खड़े हो सकते हैं जो एक बेहतर और ज्यादा सुखी मानवता के स्वप्न में डुबे हुए हैं। वही सपना मेरी आत्मा में भी है, लेकिन मैं उस अधीनता के वातावरण में नहीं रहना चाहता जहाँ कम्युनिस्ट और बूर्जुआ दोनों अपने-अपने ढोल कलाकार के गले में बाँधने के लिए सन्नद्ध हैं। इसीलिए मैं प्रतिभा के वातायन उन्मुक्त रखता हूँ। और मेरी साँस छूटती है तो मैं खिड़की के शीशे भी चूर-चूर कर देनेमें पीछे नहीं हटूँगा। हम लोगों का दावा है कि हम क्रान्ति और प्रगति के साथ रहेंगे लेकिन आजाद मानव बनकर रहेंगे। भारत में साहित्य की प्रगति के लिए इस विचार-स्वातन्त्र्य का आश्रय लेना बहुत ही आवश्यक है। यहाँ तो 'नया मुल्ला जोर से बाँग देता है' की कहावत चरितार्थ हो रही है। यहाँ जो-कुछ उन्हें नहीं रुचता, जिसमें मार्क्स के सिद्धान्तों का खुला प्रचार नहीं, वह सब बूर्जुआ और प्रतिगामी है।

मार्क्सवादी साहित्य-समीक्षा ऐतिहासिक प्रणाली का ही विकसित रूप है। टेन आदिने जिस प्रणालीका समर्थन किया था उसीको आधारभूत मानकर मार्क्सवादी भी चला है। उसने इस प्रणाली को अपने भौतिक दर्शन के सिद्धान्तों के आश्रय से पर्याप्त रूप में विकसित करके उसे एक साहित्य-सम्प्रदाय का रूप प्रदान कर दिया है। उन्होंने युग के स्वरूप की एक निश्चित धारणा उपस्थित की है। दूसरे उन्होंने साहित्य के विशेष उद्देश्य और साहित्य के निश्चित कर्तव्यों की भी अवधारणा की है। लेकिन वस्तुतः यह है ऐतिहासिक समीक्षा-प्रणाली का विकसित रूप ही इसके मूलभूत सिद्धान्त और समीक्षाका सामान्य आधार वे ही हैं

व्यापक अर्थ में प्रगति का तात्पर्य साहित्य का मानव-सभ्यता और संस्कृति के विकास में सहयोग है। इस अर्थ के अनुसार साहित्य समाज की तत्कालीन अवस्था का यथार्थ चित्र ही नहीं उपस्थित करता अपितु जीवन के विकास की प्रतिगामी शक्तियों के प्रति विद्रोह तथा नवीन जीवन की प्रेरणा भी करता है प्रगतिवाद का यह रूप प्रत्येक साहित्य में समय-समय पर उभर आता है और मानव-जीवन को शक्ति प्रदान करता है। इस प्रकार साहित्य चिर-काल से मानव-संस्कृति के विकास में मूलभूत प्रेरणा-शक्ति रहा है। प्रगति का यह अर्थ साहित्य-मात्र के लिए उपादेय है। प्रगतिवाद का दूसरा अर्थ रूढ़िवादी है और वह है मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार साहित्य को दिशा-निर्देश करना, साहि

को इस दर्शन के सिद्धान्तों के प्रचार का साधन बनाना। पहले अर्थ में तो हिन्दी-साहित्य आधुनिक काल के प्रारम्भ से ही प्रगतिशील रहा है। भारतेन्दु-काल से ही साहित्य में समाज का चित्रण प्रारम्भ हो गया और कवि लोग देश को सामूहिक प्रगति की प्रेरणा प्रदान करने लगे। पर रूढ़ अर्थ में प्रगतिवाद का प्रयोग अपेक्षाकृत बहुत नवीन है। सन् १९३५ ई० में प्रसिद्ध अंग्रेजी लेखक ई० एम० फारस्टर के सभापतित्व में पेरिस में एक सभा हुई। भारत में भी डॉ० मुल्कराज आनन्द और सज्जाद जहीर के उद्योग से सन् १९३६ में प्रेमचन्दजी के सभापतित्व में भारतीय प्रगतिवादी लेखक-संघ की स्थापना हुई और इसका प्रथम अधिवेशन लखनऊ में हुआ। इस प्रकार प्रगतिवाद का यह बालक अभी पन्द्रह ही वर्ष का है। दूसरा अधिवेशन कवीन्द्र रवीन्द्र के सभापतित्व में हुआ। पर इन लोगों के भाषणों में प्रगतिवाद के रूढ़ या मार्क्सवादी रूप के दर्शन नहीं होते। प्रेमचन्दजी काव्य की उपादेयता के समर्थक थे। उन्होंने अपने सभापति-पद से दिये गए भाषण में कहा है : "नीति-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र का लक्ष्य एक ही है ·····मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और लोगों की तरह साहित्य को भी उपयोगिता की तुला पर तोलता हूँ ···फूलों को देखकर हमें इसलिए आनन्द होता है कि उनसे फलों की आशा होती है।' प्रेमचन्दजी का यह उपयोगितावादी दृष्टिकोण तो प्रगतिवाद के अनुकूल है, पर उन्होंने अपने भाषण में कहीं भी मार्क्सवादी सिद्धान्तों की चर्चा नहीं की है।" वस्तुतः प्रेमचन्दजी अथवा उस समय तक किसी भी यश-प्राप्त भारतीय लेखक को प्रगति के इस रूप का ग्रहण अभीप्सित नहीं था। प्रगति को मार्क्सवादी सिद्धान्तों का रंग तो बाद में दिया जाने लगा। सन् १९३७ में श्री शिवदानसिंह चौहान ने 'हिन्दी में प्रगतिशील-साहित्य की आवश्यकता' नामक एक लेख लिखा था। उसमें वर्तमान साहित्य को पूंजीवादी प्रवृत्ति का परिणाम कहकर मार्क्सवादी सिद्धान्तों का साहित्य पर हिन्दी में प्रथम बार आरोप किया गया। तब से प्रगतिवाद अपने रूढ़ अर्थ में भी विकसित हो रहा है। उसके बाद से ही कविता वर्ग-संघर्ष, पूंजीवाद के विरुद्ध जिहाद, शोषक-शोषण, ध्वंसात्मक क्रान्ति आदि की बातें कर रही है। इस रूढ़ रूप में प्रगतिवाद राजनीति के प्रचार का साधन बना हुआ है। उसमें साहित्य के मुक्त स्वरूप का विकास नहीं हो पा रहा है। केवल मार्क्सवाद की मान्य धारणाओं और विचारों को पद्य रूप देकर कविता कहा जा रहा है। जन-जागरण के अवसर

पर वे लाल रूस की ओर भारतीयों का ध्यान आकृष्ट करते हैं।[1] इस प्रकार वे भारत की वर्तमान परिस्थितियों का फायदा उठाकर रूस के प्रति प्रेम ही नहीं अपितु परोक्ष रूप में भारतीयता और भारतीय संस्कृति के प्रति घृणा भी जाग्रत करते हैं। गान्धीवाद, भारतीय आध्यात्मिकता आदि भारतीय चीजों का विरोध करके मार्क्सवादी भौतिकता का प्रचार ही इनका प्रधान लक्ष्य है। मार्क्स का जीवन-दर्शन भारत-भूमि की प्रकृति के विरुद्ध है। वह यहाँ की मिट्टी और जल से नहीं पनपा है। उसमें भारतीय मानव के विकास की क्षमता नहीं है। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि इन पंक्तियों का लेखक पूंजीवादी शोषण का समर्थन कर रहा है और उसे भारतीय बता रहा है। भारत की सामाजिक व्यवस्था में पूंजीवादी प्रवृत्ति का विकास संभव ही नहीं था। यह तो भारत को विदेशी देन है। इस प्रवृत्ति का निष्कासन भारत के विकास के लिए अनिवार्य है, पर मार्क्सवादी तरीके पर नहीं। उस दर्शन का प्रसार भारत की संस्कृति को समूल नष्ट करने का प्रयास है। इससे एक चिरकालीन अशान्ति को प्रोत्साहन मिलेगा। भौतिकवाद का प्रसार विश्व-व्यापी युद्धों का कारण रहा है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अभी जड़, चेतन, मन आत्मा आदि के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को नहीं सुलझा सका है। उसमें नीति का आधार जड़ भौतिकवाद है, इसलिए व्यक्ति को अत्यधिक स्थूल स्वार्थों का शिकार बना देता है। इसमें मानव का शाश्वत कल्याण नहीं है। भारतीय दर्शन भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से मानव को चिर-कल्याण की ओर ले जाता है, इसलिए मार्क्सवादी अर्थ-नीति और उद्योग-विकास-पद्धति को केवल सामयिक साधन के रूप में अपनाना ही श्रेयस्कर है, अन्तिम प्राप्तव्य के रूप में नहीं। हिन्दी-साहित्य का कल्याण भारतीय दर्शन से प्रेरणा ग्रहण करने में ही है।

प्रगतिवाद के इस रूढ़ रूप के विकास में प्रगति का पहला रूप बहुत ही सहायक रहा है। वस्तुतः देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों के कारण जन-साधारण में क्रान्ति की भावना जाग्रत हो गई थी। जनता साहित्य को क्रान्ति के अग्रदूत के रूप में देखना चाहती थी। कहने को तो यह

---

१. लाल रूस है ढाल साथियो, सब मजदूर किसानों का।
वहाँ राज है पंचायत का, वहाँ नहीं है बेकारी॥
लाल रूस का दुश्मन, साथी, दुश्मन सब इन्सानों का।
दुश्मन है सब मजदूरों का, दुश्मन सभी किसानों का॥

—नरेन्द्र

कहा गया कि "राजनीति में जिन प्रेरणाओं से गान्धीवाद का विकास हुआ, साहित्यमें उन्हीं प्रेरणाओंसे छायावाद का जन्म हुआ," पर वस्तुतः यह बात सत्य नहीं है। पहले विश्व-युद्ध की विभीषिका से ही कवि अन्तर्मुख हो गया। वह अपने व्यक्तित्व के चारों ओर ही केन्द्रित होकर जीवन के समष्टिगत रूप से विमुख हो गया। उसकी नितान्त अवहेलना करने के कारण उसकी कविता में पलायन और आशा के स्पष्ट चित्र दिखाई पड़ने लगे। उसमें जीवन को विकास के मार्ग पर परिचालित करने की क्षमता नहीं रह गई, भावी विकास की प्रेरणा का अभाव होगया। उसकी कविता मनोरंजन की वस्तु-मात्र रह गई। इसीलिए स्वयं छायावाद के कवियों में ही उसकी अशक्तता पर विश्वास हो चला और वे ही प्रगति की ओर चल पड़े। सबसे बड़ा उदाहरण तो पन्त जी का ही है। निराला भी इस दिशा में बढ़े हैं। पन्तजी छायावादी-अशक्तता की प्रकट घोषणा करते हुए कहते हैं : "छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौन्दर्य और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया था।" सुश्री महादेवीजी ने भी उसमें यथार्थ को ग्रहण करने की क्षमता का अभाव बताया है। दिनकर भी प्रगति को वर्तमान परिस्थितियों का परिणाम मानते हैं। दिनकर आदि की कविताओं में क्रान्ति का सन्देश है। जीवन के प्रतिगामी तत्वों के संहार की प्रेरणा है। पन्तजी ने जीवन के अधिकारों से वंचित और पीड़ित मानवता के चित्र दिये हैं। रूढ़ प्रगतिवाद के अनुरूप ही उनकी इन कविताओं में अनुभूति और भावात्मकता के स्थान पर बौद्धिकता का प्राधान्य भी हो गया है। सुश्री महादेवी भी नारी-स्वातन्त्र्य की घोषणा करती हुई रूढ़ धारणाओं की कठोर शृङ्खलाओं को तोड़कर फेंक देने की प्रेरणा देती हैं। पर इन सबमें प्रगति के स्वस्थ रूप का विकास हो रहा है, मार्क्सवाद पर अधिष्ठित साम्प्रदायिक प्रगतिवाद का नहीं। प्रगति तो इस युग की चेतना है। साहित्य तथा जीवन-सम्बन्धी धारणा साहित्य और संस्कृति को उसी ओर अग्रसर भी कर रही है। पन्त, दिनकर, निराला महादेवी आदि में प्रगति के जिस स्वरूप के दर्शन हो रहे हैं उनमें भावी विकास की बौद्धिक चेतना के साथ ही संवेदना और कलात्मक सौष्ठव का भी सामंजस्य है। प्रगति का यही स्वरूप स्वस्थ है, भारत और हिन्दी-कविता का इनके सामंजस्य में ही कल्याण है। साहित्य को मार्क्सवादी राजनीतिक अथवा आर्थिक विचारों के प्रचार का साधन बनाना वस्तुतः उसकी विडम्बना-मात्र है।

पहले हम लिख चुके हैं कि काव्य की प्रत्येक धारा के पीछे साहित्य-दर्शन

और जीवन-दर्शन की प्रेरणा होती है। इनके अभाव में साहित्य की धारा केवल फैशन रह जाती है और उसका जीवन-काल भी बहुत छोटा होता है। प्रगतिवाद के दोनों स्वरूपों की पृष्ठभूमि में ये दोनों दर्शन रहे हैं। पहले हमने साहित्य और समाज के पारस्परिक सम्बन्ध के सामान्य और स्वाभाविक सम्बन्ध तथा रूढ़ एवं मार्क्सवादी रूपों का निर्देश किया है। ये दोनों धारणाएँ क्रमशः दोनों प्रगतिवादों के साहित्य-दर्शन हैं। साम्प्रदायिक प्रगतिवाद स्वच्छन्द धारा के दर्शनों का अवलम्बन करके धीरे-धीरे उसकी ओर बढ़ भी रहा है। यह हिन्दी-कविता की प्रगति के स्वस्थ लक्षण हैं। प्रगतिवाद की स्वच्छन्द धारा का आधार भारतीय जीवन-दर्शन तथा साम्प्रदायिक प्रगतिवाद का मार्क्सवाद है। लेकिन धीरे-धीरे हिन्दी रूढ़िवादिता के आग्रह को छोड़ रही है। वह प्रकृत प्रगति के सिद्धान्त को मानकर विकास कर रही है। यह शुभ चिह्न है। प्रगतिवाद ने साहित्य का जीवन-दर्शन से अभिन्न सम्बन्ध मानकर उसका महान् कल्याण किया है। यह प्रगतिवाद की एक महत्त्वपूर्ण देन है।

हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचना के प्रधान व्यक्ति श्रीशिवदानसिंह चौहान, डॉ० रामविलास शर्मा, श्री अमृतराय, श्री अञ्चल जी, श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि हैं। इन सभी आलोचकों ने मार्क्सवादी साहित्य-दर्शन के सिद्धान्तों का थोड़ा-बहुत विवेचन किया है। हिन्दी में मार्क्स के सौन्दर्य-शास्त्र, कला और साहित्य-सम्बन्धी मान्यताओं का कोई क्रमबद्ध और सर्वांगीण विवेचन अभी नहीं हुआ है। इन आलोचकों में से किसी ने ऐसे सर्वांगीण ग्रन्थ की रचना नहीं की है। हाँ, निबन्धों में मार्क्सवाद के इन सिद्धान्तों का परिचय निखरा हुआ अवश्य मिल जाता है। प्रसंगवश प्रयोगात्मक आलोचना में तथा विशेष रूप से इसी उद्देश्य से लिखे गए सैद्धान्तिक निबन्धों में इन लेखकों ने इस साहित्य-दर्शन की प्रायः सभी मान्य धारणाओं का परिचय दिया है। साहित्य और समाज का सम्बन्ध, शासक वर्ग का साहित्य पर आधिपत्य, आदिम साम्यवाद आदि अवस्थाओं का निर्देश तथा उनसे साहित्य का सम्बन्ध, सामूहिक भाव, समाजवादी यथार्थ, साहित्य की उपयोगिता, साहित्य में कला, व्यक्ति, भाव, और बुद्धि आदि प्रायः सभी पक्षों पर इन मार्क्सवादी आलोचकों ने विचार किया है। पहले मार्क्सवादी साहित्य-दर्शन की जो सामान्य रूपरेखा दी गई है, उसमें निविष्ट सभी सिद्धान्त इन लेखकों को मान्य हैं। पर सब लोग उतना व्यापक दृष्टिकोण नहीं अपना सके। इनकी समीक्षा का मान प्रायः रूढ़ अर्थ में मार्क्सवादी कहा जा सकता है। सैद्धान्तिक रूप में उन्होंने व्यापक मानदंड को स्वीकार किया है, पर प्रयोग में उतनी व्यापकता नहीं रह गई है।

हिन्दी का प्रगतिवादी अपने मान को सौन्दर्य-मूलक सामाजिक दृष्टिकोण कहना चाहता है। वह साहित्य की उन प्रेरणाओं और शक्तियों का अध्ययन करना चाहता है, जो उसे समाज से प्राप्त होती है और जिससे वह समाज का भावी निर्माण करना चाहता है। वह साहित्य को व्यक्ति-मात्र से सम्बद्ध अथवा समाज से विच्छिन्न करके नहीं देखना चाहता। चौहानजी के शब्दों में : 'अत. प्रगतिवाद यदि किसी लेखक के सामाजिक सूत्रों को प्रकाश में लाता है अर्थात् उन सामाजिक परिस्थितियों का विश्लेषण करता है जिन्होंने लेखक को एक विशेष प्रकार से प्रभावित करके अपनी रचना के लिए प्रेरित किया तो वह उस रचना द्वारा समाज की बदलती हुई परिस्थितियों पर पड़े प्रभावों का भी मूल्यांकन करता है। सामाजिक परिस्थितियों का विवेचन जिस प्रकार लेखक की रचना, उसकी अभिव्यक्ति के विशेष उपकरणों, व्यंग, प्रतीक, उपमाओं, रूपक और शैली आदि की सामाजिक पृष्ठभूमि का दिग्दर्शन कराता है, अर्थात् इस तथ्य का स्पष्टीकरण करता है कि लेखक की रचना में समाज की वास्तविकता किस प्रकार प्रतिबिम्बित हुई है, उसी प्रकार वह परिवर्तित सामाजिक वास्तविकता की अपेक्षा में देखकर उसकी सौन्दर्य-शक्ति का मूल्यांकन करता है।"[1] प्रगतिवाद साहित्य का केवल सामंती, पूँजीवादी आदि युगों की उपज के रूप में ही अध्ययन करने का समर्थन नहीं करता है। यद्यपि हिन्दी के प्रगतिवादियों का विवेचन व्यावहारिक रूप में यहीं तक सीमित है। अपितु उसकी सौन्दर्य-शक्ति का (सामाजिक सौन्दर्य-शक्ति) मूल्यांकन भी करता है। सिद्धान्त रूप से हिन्दी का प्रगतिवादी भी यह मानता है कि साहित्य-समीक्षा का मानदंड इतना व्यापक होना चाहिए कि वह अतीत के साहित्य का भी मूल्यांकन कर सकें। समीक्षक का कार्य साहित्य में अन्तर्हित उस शक्ति का अध्ययन करना है जिससे वह अपने युग में तथा आज भी जन-साधारण को प्रिय है तथा जो उसको प्रतिक्रियावादी साहित्य बनाने से बचाये रहती है। साहित्य-समीक्षा के मान पर श्री चौहानजी का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत व्यापक कहा जा सकता है। वे साहित्य-समीक्षा के लिए 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण' के निर्माण की आवश्यकता समझते है। उन्हें मार्क्सवादी भौतिकवाद में विश्वास है और उनकी धारणाओं पर इसकी स्पष्ट छाप है। पर भारतीय जीवन की मौलिक विशेषताओं की उपेक्षा वे नहीं करना चाहते। वे हिन्दी के मानदंड को यहाँ के जीवन-सत्यों पर अवलम्बित करना चाहते है। वे प्रचारवादी साहित्य में स्थायित्व नहीं देखते।

---

१. 'प्रगतिवाद,' पृष्ठ ५।

मार्क्सवाद की रूढ़ धारणाओं पर भारतीय साहित्य का मूल्यांकन केवल पूर्वाग्रह के साथ की गई समालोचना है। वे डॉ० रामविलास शर्मा की 'शरच्चन्द्र' आदि की आलोचना से इसी से सहमत नहीं है। श्री अमृतराय भी साहित्य को प्रचार तक ही सीमित रख देने अथवा साहित्य का अर्थ से सीधा सम्बन्ध मानने के विरोधी हैं। उन्होंने मार्क्सवाद को व्यापक अर्थ में समझने का प्रयत्न किया है। श्री 'अंचल' की धारणाएँ अपेक्षाकृत रूढ़ कही जा सकती हैं। डॉ० रामविलास शर्मा साहित्य का उसके युग की परिस्थितियों में रखकर ही अध्ययन करने के समर्थक हैं। पर मार्क्सवाद की रूढ़ धारणाओं और अपनी वैयक्तिक धारणाओं के पूर्वाग्रह से वे सर्वथा मुक्त नहीं हैं।

यह जैसा कि ऊपर किया जा चुका है, हिन्दी में प्रगतिवादी समालोचक अपनी प्रयोगात्मक आलोचना में अपेक्षाकृत अधिक रूढ़ और पूर्वाग्रही है। वह बँधी हुई मार्क्सवादी विचार-धारा का अपने आलोच्य लेखक पर आरोप करता है और उसको उत्तम अथवा हेय कहने में निर्णायक का रूप धारण कर लेता है। मार्क्सवाद के सिद्धान्तों का प्रचारक समाजवाद का प्रशंसक और पूँजीवाद को गालियाँ देने वाला साहित्य ही उनकी दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है। यह दृष्टिकोण बहुत ही स्थूल है। कवि से यह आशा करना कि वह मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को ही काव्य का रूप देगा, अनुचित है। अंचलजी मजदूरों को किसानों की अपेक्षा अधिक क्रान्तिकारी मानते हैं और प्रेमचन्द जी से यह आशा करते हैं कि वे मजदूरों का चित्रण करते। वे प्रेमचन्द जी में नवीन युग-प्रवर्त्तिका शक्ति भी मानते हैं। पर अंचल जी प्रेमचन्द जी की क्रान्ति को व्यक्ति के भीतर से आने वाली कहकर उसका महत्त्व केवल इसीलिए कम कर रहे हैं कि उसमें मार्क्सवादी सामूहिकता के दर्शन उन्हें नहीं हो रहे।[1] यह आलोचना प्रेमचन्द जी के साहित्य पर अपने पूर्वाग्रहों और रूढ़ धारणाओं का आरोप-मात्र है। डा० रामविलास शर्मा शरच्चन्द्र के चित्रण को नष्टप्रायः जर्जर जमींदार वर्ग का चित्रण मानते हैं। उसमें इन्हें प्रचंड व्यक्तिवाद की गन्ध आती है। डॉक्टर साहब को उनके उपन्यासों में प्राण-शक्ति का अभाव भी प्रतीत होता है। उनकी दृष्टि से शरत् बाबू के उपन्यासों को केवल वे ही व्यक्ति पढ़ सकते हैं जिनको प्रेमाश्रुओं में अधिक आनन्द आता है। उनको समाज के आवारों, निकम्मों और अतृप्त आकांक्षा वालों से ही सहानुभूति मिली है। शरत् का साहित्य समाज के पुनर्निर्माण का सन्देश नहीं दे सकता है। उसका कोई सामाजिक

---

१. 'समाज और साहित्य', पृष्ठ १०३।

मूल्य नहीं है। वह साहित्य व्यक्ति की पुरुषार्थहीनता और असमर्थता को केन्द्र बनाकर घूमता है।[1] डॉक्टर साहब का यह दृष्टिकोण सहानुभूतिपूर्ण और स्वस्थ नहीं है। इस प्रकार की आलोचनाओं के सम्बन्ध में चौहान जी लिखते हैं: "उनमें व्यक्तिगत राजनीतिक रुचि और सामंती संस्कारगत पूर्वाग्रह के साथ कटूक्तियों, उपदेशों को ही मूल्य-निरूपण का साधन बनाया है[2]"। इस प्रकार के पूर्वाग्रहों के आधार पर की गई समालोचनाओं से साहित्य का कुछ उपकार नहीं होता है। इससे साहित्य और संस्कृति के विकास में सहायता की अपेक्षा पाठक की बुद्धि को भ्रान्ति हो जाती है। आखिर शरत् की लोकप्रियता आवारों क रुचि की वस्तु कहकर टाली नहीं जा सकती। चौहान जी प्रायः ऐसे आरोपों से बचते रहे हैं। उन्होंने साहित्य के विकास का सामूहिक विचार-धारा की दृष्टि से अध्ययन किया है। विभिन्न युगों के साहित्य की मान्य धारणाएँ कौन-सी रही हैं और उनका किस प्रकार विकास होता रहा है, यहाँ तक तो चौहानजी एक ऐतिहासिक आलोचक की तरह निष्पक्ष होकर विवेचन कर जाते हैं। पर जहाँ पर वे साहित्य का मूल्यांकन करते हैं, उसके महत्त्व का प्रतिपादन करते हैं, वहाँ उनमें भी पूर्वाग्रह की प्रधानता हो जाती है। हिन्दी के भक्ति-काल में कबीर और अन्यज्ञानाश्रयी शाखा के कवियों को श्रेष्ठ कहना तथा सूर और तुलसी में साम्प्रदायिकता की गंध लेना, आज की राजनीतिक विचार-धारा से उनका मूल्यांकन करना है। तुलसी में जो प्राण-शक्ति है, उसका एक अंश भी कबीर में नहीं मिलता। सारा हिन्दू-समाज तुलसी के भावों और विचारों में आज तक अपने ही दर्शन करता है। आज भी वह हमारे जीवन का आधार है। कबीर को ऐसा सौभाग्य कभी नहीं प्राप्त हुआ। फिर जिन अवस्थाओं में तुलसी ने 'मानस' की रचना की थी, उस समय के एक विशाल जन-समुदाय को एक व्यापक जीवन-आधार की आवश्यकता थी और वह तुलसी में ही मिल सका। तुलसी के काव्य का मुल्यांकन डॉ० रामविलास शर्मा ने अधिक निष्पक्षता से किया है। उनकी शैली प्रायः सर्वत्र ही ऐतिहासिक है। इन निबन्धों में उन्होंने युग-चेतना और तत्कालीन अवस्थाओं का ध्यान रखा है। भारतेन्दु, तुलसी आदि को अपने युग का गतिशील लेखक मानना ही समीचीन धारणा है। डॉ० शर्मा ने इन कवियों की समालोचना में इसी उदारता और समीचीनता का परिचय किया है। अपने युग के सांस्कृतिक विकास में सहयोग देना ही

---

१. 'संस्कृति और साहित्य', पृष्ठ १८१ - १८३।

२. 'साहित्य की परख', पृष्ठ १८।

नहीं कर पाया है। इसीमें वह अपने पूर्वाग्रहों और रूढ़िवादिता से अभिभूत हो जाता है। दूसरे वह प्रगतिवादी साहित्य का केवल विचारों की दृष्टि से ही मूल्यांकन करता है। उन्हीं विचारों को अभिव्यक्त करने वाली एक दर्शन-शास्त्र की पुस्तक और कविता की आलोचना में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता। हिन्दी का मार्क्सवादी समीक्षक साहित्य का महत्व कलात्मक मूल्यों पर बिलकुल भी नहीं आँकना चाहता। इस भेद को व्यावहारिक रूप में मिटा देने का परिणाम यह हुआ है कि साहित्य का अपना पृथक् व्यक्तित्व ही विलीन होता जा रहा है। जिस वस्तु का मूल्यांकन करे उसके व्यक्तित्व की उपेक्षा करके अथवा उसको विलीन करके उस पर विचार करना बहुत ही अपूर्व और एकांगी कहा जायगा। यह तो उसीके व्यक्तित्व को नष्ट करना है। हिन्दी के प्रगतिवादी आलोचकों ने अपनी समकालीन शैलियों का भी उपयोग किया है और यह स्वाभाविक भी है। आलोचना की प्रचलित शैलियों के प्रभाव से एक काल का आलोचक अस्पृष्ट कैसे रह सकता है। ऐतिहासिक शैली के तत्त्वों की उपस्थिति तो इन सबकी विशेषता ही है। वस्तुतः ऐतिहासिक शैली का एक विशेष दिशा में विकसित रूप ही मार्क्सवादी आलोचना है। डॉ० रामविलास शर्मा की शैली में यह तत्त्व अधिक प्रधान है। वे साहित्य का अध्ययन इतिहास की घटनाओं के आलोक में अधिक करना चाहते हैं। वे किसी वस्तु के विकास के ऐतिहासिक कारणोंकी उद्भावना करके उसका मूल्यांकन करते हैं। चौहान जी विशुद्ध इतिहासकी घटनाओं की अपेक्षा समष्टिगत विचार-धारा का अन्वेषण अधिक करते हैं। इस विचार-धारा का वे साहित्य से सम्बन्ध स्थापित करते हैं। साहित्य पर इसके प्रभावों तथा साहित्य में इसके विकास का सहयोग इन दोनों बातों का अध्ययन करते हैं। यह प्रक्रिया भी एक प्रकार से ऐतिहासिक ही है। प्रभावों के मूल्यांकन तथा मानव-समाज की विकास-परम्परा की मार्क्सवादी मान्यता के अतिरिक्त यह आलोचना ऐतिहासिक ही है। श्री अमृतराय समष्टिगत विचार-धारा के साथ ही कलाकार के व्यक्तित्व का भी अध्ययन करते हैं। वे सामूहिक विचारों और युगीन परिस्थितियों से निर्मित कलाकार के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हैं। अंचल जी की आलोचना में इनके अतिरिक्त छायावादी की-सी अस्पष्टता और अभिव्यक्ति के घुमाव के भी दर्शन हो जाते हैं। श्री प्रकाशचन्द्र जी कई-एक उदाहरणों द्वारा अपने विवेचन को स्पष्ट करके पाठकों को स्वयं उन्हीं निर्णयों पर पहुँचने का अवसर देते हैं। इनकी आलोचना में कुछ प्रभाववादिता का आभास भी मिल जाता है।

प्रगतिवादी विचार-धारा ने कलाकार के व्यक्तित्व और उसके मानसिक

स्वातन्त्र्य की बहुत-कुछ अवहेलना की है। साहित्य पर राजनीति के कठोर नियन्त्रणों को स्वीकार करके उसकी प्रगति में बाधा पहुँचाई है। कवि को निश्चित वर्ण्य विषयों और विचार-धारा से बाँध देने पर साहित्य और राष्ट्रीय इतिहास के प्रति प्रतिक्रिया के नाम पर अरुचि जाग्रत करने का प्रयत्न भी किया गया है। इस प्रकार इसमें उसके प्रति अश्रद्धा जाग्रत करने की प्रवृत्ति के भी दर्शन होते हैं। प्राचीन नैतिक मूल्यों की रूढ़िवादिता को प्रकट करने के लिए प्रगतिवादियों ने अश्लीलता का भी आश्रय लिया है। नीति से विरुद्ध कृत्यों को समाज के अत्याचार का परिणाम कहकर उन्हें क्षम्य समझना परोक्ष रूप से अनैतिकता का समर्थन-मात्र है। उन्होंने साहित्य के मूल्यांकन का भी एक बहुत ही रूढ़ और सीमित दृष्टिकोण अपनाया है। इतना सब-कुछ होते हुए भी प्रगतिवाद ने साहित्य-क्षेत्र में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। उसने साहित्य और समाज के महत्त्व को हिला डाला है। आज शताब्दियों से मान्य धारणाओं का पुनः मूल्यांकन करने की प्रवृत्ति जाग्रत हो गई है। आज जीवन के मूल्यांकन का नैतिक दृष्टिकोण बदलने की आकांक्षा उग्र होती जा रही है। इसीसे काव्य के औचित्य की धारणा में भी परिवर्तन आवश्यक प्रतीत हो रहा है। जो कल तक अनुचित था आज शायद उसे उचित मानने की प्रवृत्ति जग उठी है। साहित्य और समाज का अभिन्न सम्बन्ध मान्य हो गया है। साहित्य की नितान्त निरपेक्षता का सिद्धान्त धीरे-धीरे अमान्य हो रहा है। उसकी श्रेष्ठता का मानदंड सामाजिक उपयोगिता होता जा रहा है। कलाकार के व्यक्तित्व पर भी सामाजिक दृष्टिकोण से विचार प्रारम्भ हो गया है। काव्य की प्रेषणीयता को भी नवीन रूप मिल रहा है। उसका आधार कला-त्मकता की अपेक्षा युग की सामूहिक चेतना अधिक मानी जाने लगी है। रति, आदि स्थायी भावों की रूढ़िगत धारणाओं में परिवर्तन हो रहा है। उनके औचित्य और रस-क्षमता पर नवीन दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। साहित्य में भाव और कला पक्ष की सम्पूर्ण एकता की प्रतिष्ठा होती जा रही है। सौन्दर्य-बोध का मानदंड बदल रहा है। वह वैयक्तिक की अपेक्षा सामाजिक और समष्टिगत अधिक होता जा रहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्य की मान्य धारणाओं का फिर से मूल्यांकन और स्वरूप-निर्धारण करने की आकांक्षा जाग गई है। यह सारा दृष्टिकोण रूढ़ प्रगतिवाद की प्रत्यक्ष देन नहीं है। पर मान्य धारणाओं के विरुद्ध इसके विद्रोहात्मक दृष्टिकोण ने आलोचकों में नवीन और विशुद्ध प्रगति की दृष्टि से विचार करने की आकांक्षा को जन्म दे दिया है। इसमें हिन्दी-आलोचना क

सुन्दर भविष्य झाँक रहा है। चौहानजी की वैज्ञानिक, सामाजिक सौन्दर्यमूलक दृष्टिकोण अपनाने की प्रेरणा डॉ० देवराज की साहित्य में जीवन की बौद्धिक प्रेरणा के अनुसन्धान की बात विशुद्ध प्रगतिवादी दृष्टिकोण के विकास की आशाओं का आभास दे रही है। पर हिन्दी की प्रगतिवादी आलोचना अभी रूढ़िग्रस्त ही है। उसे उदार और व्यापक दृष्टिकोण की ओर अग्रसर होना है।

: १३ :

समीक्षा की अन्य शैलियाँ

पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र आत्म-प्रधान (सबजैक्टिव) और वस्तून्मुखी अथवा मान पर आधारित (आबजैक्टिव) के नाम से साहित्य-समीक्षा के दो प्रधान भेद मानता है। इन्हें समीक्षा के दो प्रकार कहने की अपेक्षा उसकी दो प्रवृत्ति कहना अधिक समीचीन है और प्रत्येक आलोचक में इनके दर्शन होते हैं। शास्त्रीय मान को अपनी समीक्षा का आधार बनाने वाला समालोचक भी वैयक्तिक रुचि और निर्णय से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता तथा आत्म-प्रधान समालोचक भी कोई विशेष मान ग्रहण करके चलता ही है। वह साहित्य के एक विशिष्ट स्वरूप या धारणा का समर्थक होता है। और उसी रूप के आलोक में साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन करता चलता है। जहाँ पर वह स्पष्टतः मूल्यांकन नहीं करता, केवल कृति का रसास्वाद करता है, अथवा उसके सौन्दर्य से मुग्ध होता है, वहाँ पर भी वह अप्रत्यक्ष रूप में मूल्यांकन ही करता है। समीक्षा की इन दो प्रवृत्तियों का निरन्तर संघर्ष होता रहता है। इनका संघर्ष ही समालोचना का विकास है। पश्चिम के इतिहास में ये दो प्रवृत्तियाँ ही रोमाण्टिक और क्लासिक के नाम से निरन्तर संघर्ष करती रही हैं। एक युग ऐसा आता है जब साहित्य-समीक्षा नियमों से जकड़कर रूढ़ और परम्परा-मुक्त हो जाती है, इसमें कवि-स्वातंत्र्य का नितान्त अभाव हो जाता है। काव्य के नियम जड़ रूप में अवशिष्ट रह जाते है, उसकी आत्मा उन नियमों के जंगल में कहीं खो जाती है। काव्य के बाह्य स्वरूप को अनावश्यक महत्त्व प्रदान किया जाने लगता है और आत्मा की उपेक्षा होने लगती है। कुछ समय तक ऐसी अवस्था रह सकती है, पर अन्त में कवि-प्रतिभा और सहृदय-सुरुचि इस कृत्रिमता के विरुद्ध विद्रोह कर उठती है और काव्य की आत्मा का अनुसन्धान प्रारम्भ हो जाता है। धीरे-धीरे समीक्षा भी आत्म-प्रधान और रोमाण्टिक हो जाती है। कालान्तर में यह प्रवृत्ति भी विकास की चरम स्थिति को पहुँच जाती है। समीक्षा शास्त्रीयतत्त्वोंकी अवहेलना करते-करते पूर्णतः वैयक्तिक

या आत्म-प्रधान हो जाती है। उस समय किसी सर्व-सामान्य धरातल की आवश्यकता ही समालोचक नहीं समझता। समीक्षा के अत्यधिक वैयक्तिक हो जाने के कारण उसकी उपादेयता भी सन्देहास्पद प्रतीत होने लगती है। यह भी एक चरम स्थिति है। पर समीक्षा का विकास निरन्तर इसी तरह हो रहा है। सौष्ठववादी दृष्टिकोण की चरम स्थिति ही अर्थात् जिसमें काव्य की उपयोगिता सौष्ठव आदि पर सर्व-सामान्य की दृष्टि से विचार न करके पूर्णतः आत्म-प्रधान समीक्षा हो, ऐसी स्थिति ही प्रभावाभिव्यंजक (Impressionist) समीक्षा है।

प्रभावाभिव्यंजक आलोचक समीक्षा के विधान को नहीं देखता। वह साहित्य को इतिहास, मनोविज्ञान, चरित्र-शास्त्र आदि की दृष्टियों से भी नहीं आंकता। उसके लिए सौन्दर्य-शास्त्र के नियम भी महत्त्वपूर्ण नहीं। वह तो साहित्य को अपनी रुचि से आंकता है। उपर्युक्त सब शैलियों तथा तत्त्वों को समीक्षा के प्रकृत क्षेत्र के बाहर की वस्तु समझता है। उसके लिए काव्य का एक-मात्र उद्देश्य प्रेषणीयता है। आलोच्य पुस्तक द्वारा प्राप्त आनन्द ही माप-दण्ड और उसका निर्णय है। प्रभाववादी साहित्यिक कृति के प्रति सहृदय की प्रतिक्रिया को ही आलोचक कहता है। अन्य दृष्टियों से विचार करना उसके मत में समीक्षा नहीं है। सेंट्सबरी के शब्दों में इस आलोचक के सम्बन्ध में कहा जा सकता है: "The first requisite of the critic is that he should be capable of receiving impressions, the second that he should be able to express and import them"

स्पिनगार्न भी इसी आलोचना के समर्थक हैं। वे इसे ही समीक्षा का प्रकृत दृष्टिकोण मानते हैं। उनके शब्दों में प्रभाववादी आलोचक का दृष्टिकोण पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है : Anatole France described the critic not as a judge imposing sentence, but as a sensitive soul detailing his adventures among masterpieces... to have sensation in the presence of a work of art and to express them. that-is the function of criticism for the impressonistic critic. His attitude, he would express some what in this fashion' here is a beautiful poem; to read it is for me to experience a thrill of pleasure. my delight in it itself a judgment and what better judgment is it possible for me,to give ? All that I can do is to tell how it effects me, what sensations it gives me."

1. Historyof Engliah Criticism p. 411.
2. The New Criticism p. 427-428.

वैयक्तिक रुचि के प्राधान्य के कारण शुक्ल जी प्रभाववादी समीक्षा को समीक्षा ही नहीं मानना चाहते। वे कहते हैं कि "उसके औचित्य-अनौचित्य पर किसी को कुछ विचार करने की जरूरत नहीं। जिस पर जैसा प्रभाव पड़े वह वैसा कहे।"[1] लेकिन प्रभाववादी इसको भी दोष नहीं मानता। भिन्न-भिन्न आलोचकों पर एक ही कला-कृति के विभिन्न प्रभाव पड़ सकते हैं और पड़ते हैं। उन प्रभावों का पारस्परिक कुछ साम्य न होने में कोई आपत्ति नहीं। प्रत्येक को उसे भिन्न-भिन्न रूप में ग्रहण करने का पूर्ण अधिकार है। ऐसी समीक्षा स्वयं एक स्वतन्त्र कला-कृति हो जाती है। मूल पुस्तक का आधार एक नवीन सृजन होता है।[2] उसका कलात्मक महत्त्व भी है। कला-कृति वाह्य जगत् और जीवन की प्रतिक्रिया है और ये समीक्षा प्रतिक्रिया की प्रतिक्रिया। पर है वस्तुतः कृति ही। प्रभाववादी समालोचक तो इन सबको गुण ही मानता है। वह कहता है कि समीक्षा का चरम विकास ही नवीन कला-कृति के सृजन में है। प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा मूल पुस्तक की अपेक्षा समीक्षक के मनोभावों और अनुभूति को प्राधान्य देती है। इस प्रकार यह आलोच्य वस्तु से दूर हट जाती है। प्रभाववादी इसका समर्थन भी यह करके करता है कि प्रत्येक प्रकार की समीक्षा (ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक आदि) प्रकृत क्षेत्र से पाठक को दूर ही ले जाती है। ये सब पद्धतियाँ इतिहास, मनोविज्ञान, सौन्दर्य-शास्त्र आदि की बातें करने लगती हैं। ये पद्धतियाँ कला-कृति के आधार से मनोविज्ञान या सौन्दर्य-शास्त्र की पुस्तकों का निर्माण करती हैं। प्रभाववादी को यह गर्व है कि वह कला से कला-कृति को ही जन्म देता है। वह तो इसीको कला-समीक्षा का चरम उद्देश्य मानता है। वह कहता है: "Art can find only its alter-ego in art."

यह पहले के विवेचन से स्पष्ट हो गया है कि शास्त्रीय विधान और नीति के बन्धनों से सौष्ठववादी आलोचना की अपेक्षा भी प्रभाववादी आलोचक अधिक मुक्त हो गया। साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में एक और ऐसा ही चरम

---

१. 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास,' पृष्ठ ६३४।

2. Other men will derive other sensations from it and express them differently; they too have the same right as I. Each of us if we are sensitive to impressions and express ourselves well, will produce a new work of art to replace the work which gave us our sensations. That is the artof Criticism and beyond that criticism cannot go. (Ibib p. 428.)

दृष्टिकोण मान्य हुआ और वह है अभिव्यंजनावादी। यूरोप में अभिव्यंजनावाद और कलावाद के नाम से दो वादों का बहुत ही प्राबल्य रहा है। भारतीय विचार-धारा को भी इन वादों ने प्रभावित किया है, इसका कुछ साधारण-सा संकेत सौष्ठववादी समीक्षा के प्रसंग में किया जा चुका है। इस प्रभाव के सम्बन्ध में आगे और विचार करने से पूर्व इन दोनों वादों के सामान्य परिचय की आवश्यकता है। ये दोनों वाद एक-दूसरे से प्रायः मिलते-जुलते हैं। अभिव्यंजनावाद के जन्मदाता क्रोसे हैं। वे अभिव्यंजना को ही काव्य या कला मानते हैं। उनका अभिव्यंजना शब्द से विशेष तात्पर्य है। आत्मा का स्वयं-प्रकाश ज्ञान एक अलौकिक शक्ति है। वह जगत् की वस्तुओं को साकार और सुन्दर रूप प्रदान करती है। क्रोसे यह मानते हैं कि अभिव्यक्ति आभ्यन्तर और मानसिक होती है। जो कुछ शब्द संगीत आदि के माध्यम से इन्द्रियगोचर होता है, वह तो उस आभ्यन्तर का वाह्यकरण अथवा स्पष्टीकरण-मात्र है।[1] इस प्रकार की अभिव्यक्ति को क्रोसे सुन्दर ही मानते हैं। वे उसके असौन्दर्य की कल्पना की संभावना ही स्वीकृत नहीं करते।[2] क्रोसे सौन्दर्य का आधार सांचा (फार्म) मानते हैं।[3] क्रोसे ने वस्तु की उपेक्षा नहीं की है। अभिव्यक्ति में नानात्व का कारण ही पदार्थ है। पर फिर भी उसे सौन्दर्य वस्तु की अपेक्षा अभिव्यक्ति (फार्म) में ही मान्य है, यह ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त क्रोसे यह भी स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि काव्य का सौन्दर्य के अतिरिक्त अन्य कोई उद्देश्य नहीं है। उसके सम्बन्ध में नीति, उपयोगिता आदि की वात समीचीन नहीं। कला के लिए सत्य और शिव शब्दों का उपयोग ही क्रोसे अनुपयुक्त वतलाते हैं। उनका कहना है कि वुद्धि-सम्बन्धी व्यापारों के लिए "सत्य" शब्द की उपादेयता है तथा मंगल-अमंगल तो धर्म या नीति के क्षेत्र की वस्तु हैं। इस प्रकार क्रोसे ने काव्य या कला को

---

1. When we have mastered the internal world, when we have vividly and clearly conceived a figure or statue, when we have found a musical theme, expression is form and is complete, nothing more is needed...What we then do is say aloud what we have already said within, sing aloud what we have already sung within. (Crocs.)
2. We define beauty as successful expression or better as expression and nothing more, because expression when it is not successful is not expression. (Ibld).
3. Aesthetic fact is form and nothing but form. (Crocs.)

विशुद्ध सौन्दर्य के क्षेत्र की वस्तु माना है। उसमें अन्य किसी वस्तु की खोज निरर्थक है। काव्य का महत्त्व केवल सौन्दर्य पर आश्रित है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि सुन्दर शब्द में आनन्द भी अन्तर्हित है। यह क्रोसे के विवेचन से भी स्पष्ट है। अन्य जितने भी इस मत के समर्थक आलोचक हैं, उनकी भी यही मान्यता है। क्रोसे ने सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का जो क्रम बतलाया है, उसमें आह्लाद तत्त्वं का भी समावेश है। इससे काव्य में सौन्दर्य और आह्लाद का समन्वय स्पष्ट है।[1] क्रोसे का यह सारा निरूपण कला के लिए है, कला-कृति के लिए नहीं। जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है कि वह कला और कला-कृति को दो भिन्न वस्तु मानता है। कला की अभिव्यक्ति के लिए तो कलाकार विवश है, वह तो अनुभूति का सहज और स्वाभाविक उन्मेष है। पर उसे बाह्य रूप देना कला-कृति के रूप में प्रकाशित करना कलाकार के हाथ में है। क्रोसेका कहना है कि यदि वह जनता के लिए उपयोगी नहीं है तो कलाकार उसे जनता के समक्ष रखे ही नहीं। इस प्रकार क्रोसे ने कला-कृति का उपयोगिता से भी सम्बन्ध स्थापित कर दिया। पर यह दृष्टिकोण उपयोगितावादी की अपेक्षा सौन्दर्यान्वेषी ही अधिक माना गया है यही स्वाभाविक भी है।

'कला कला के लिए' वाला सिद्धान्त भी इसी प्रकार का है। उनके समर्थक ब्रैडले, आस्कर वाइल्ड, स्पिन्गार्न आदि का भी यही कहना है कि कला की एक पृथक् अपने-आपमें परिपूर्ण और स्वतन्त्र सत्ता है। उसकी उपादेयता को जीवन की दृष्टि से आंकना समीचीन नहीं। कला का मूल्य कला के आभ्यन्तर में ही है, बाहर नहीं। कला की विशुद्ध अनुभूति और तज्जनित आह्लाद ही उसका मूल्य है। नीति, धर्म तथा संस्कृति आदि, जो कला के लिए बाह्य वस्तुएँ हैं, उनकी दृष्टि से भी उसका मूल्यांकन हो सकता है। पर यह मूल्य गौण ही है। कला का नीति, या धर्म के उपदेश में तात्पर्य नहीं है। यह तो उसके प्रकृत क्षेत्र के बाहर की वस्तुएँ हैं। कला के सम्बन्ध में इन बातों का विचार

---

1. The complete process of aesthetic production can be symbolised in four steps (a) impressions (b) expression or spiritua aesthetic synthesis (c) hedonistic accompaniment orthe (d) pleasure of the beautiful (d) translation of the Aesthetic fact into physical phenomena. (Croce.)

करना तो उसके कलात्मक महत्त्व को कम करना है।[1] इस प्रकार 'कला कला के लिए" वाला मत भी कला का उद्देश्य एक-मात्र सौन्दर्य-सृष्टि तथा तज्जन्य आनन्द ही मानता है, अन्य किसी भी प्रकार की उपयोगिता उसे मान्य नहीं। इसी सिद्धान्त के समर्थक ह्विसलर तो कला और नीति के सम्बन्ध के निरूपण को नैतिक और अनैतिक मानने के समान कहकर उपहास ही करते हैं।[2] कला का जीवन से स्वतन्त्र अस्तित्व और उसकी स्वच्छन्द अभिव्यक्ति का परिणाम मानकर इन लोगों ने कला को शास्त्र और नीति के नियमों से मुक्त घोषित किया है। काव्य-शास्त्र के किन्हीं निश्चित नियमों का पालन भी कलाकार के लिए आवश्यक नहीं। इन दोनों सिद्धान्तों ने साहित्य-समीक्षा को जिन धारणाओं को प्रोत्साहन दिया है, वे एक प्रकार से अतिवादी

1. What then does the formula 'Poetry for Poetry's sake tell us about this experience? It says as I understand it, these things. First this experience is an end in itself, is worth having on its own account has an intrinsic value. Next. its poetic value is this intrinsic worth alone. Poetry may have also an ulterior value as a means to culure or religion;because it conveys instruction or softens the passion or furthers a good cause;because it brings the poet the fame or money or a quite conscience. So much the better, let it be valued for these reasons too. But its ulterior worth neither is nor can directly determine it poetry worth as a satisfying imaginative experience; and this is to be judged entirely from within. The consideration of ulterior ends whether by the poet in the act of composing or by the reader in the act or experiencing tends to change the nature of poetry by taking it out of its own atmosphere. For its nature is to be not a part nor yet a copy of the real world (as we commonly understand that phrase) but to be world by itself independent, complete, autonomous. (A. C. Bradley : Oxford rectures on Poetry.)
2. To say that poetry as poetry is moral or immoral is as meaningless as to say that an equilateral triangle is moral and isosceles triangle immoral or to speak of the immorality of a musical chord or Gothic arch. (American critical Essays XIX XX centuries page 443.)

(extremi) दृष्टिबिन्दु कहे जा सकते हैं। इस आलोचक का कार्य कला-कृति के सौन्दर्य से आह्लादित होना तथा उसके सौन्दर्य-तत्त्वों का उद्घाटन करना है। उसे काव्य-शास्त्र के नियमों के आधार पर कला-कृति की व्याख्या नहीं करनी। उसे यह नहीं बताना है कि किसी कृति में काव्य-शास्त्र के नियमों का कितना निर्वाह हुआ है। पर उसे तो यह बताना है कि कोई कला-कृति कितनी सुन्दर है और उसके सौन्दर्य के कारण क्या हैं। वह कला-कृति का अपनी सहृदयता और सौन्दर्य-शास्त्र के नियमों से ही मूल्यांकन करता है, नीति-शास्त्र अथवा काव्य-शास्त्र के नियमों से नहीं। इस प्रकार का समालोचक सौन्दर्यान्वेषी (Aesthetic critic) है। वह सौन्दर्य को अपने-आपमें पूर्ण और स्वतः प्रमाण मानता है। सौन्दर्य जीवन की अन्य किसी उपयोगिता के कारण उपादेय नहीं है, अपितु उसकी तो जीवन में पृथक् उपादेयता स्वतः सिद्ध है। इनमें से कुछ लोग सौन्दर्य और मंगल में सामंजस्य करना चाहते हैं। रवीन्द्र आदि मंगल को ही सुन्दर मानते हैं। सौंदर्य और मंगल का सामंजस्य मानने वालों पर हम सौष्ठववादी आलोचना में विचार कर चुके हैं। मंगल को ही सौन्दर्य मानने के परिणामस्वरूप उन्हें सौन्दर्य वस्तुगत भी मानना पड़ता है। केवल बाह्य अभिव्यक्ति में मंगल नहीं हो सकता। वह मन को चमत्कृत अथवा मुग्ध अवश्य कर सकती है। पर हृदय को अलौकिक आह्लाद में तन्मय करना तो मंगल का ही कार्य है और इसका सम्बन्ध बाह्य अभिव्यक्ति की अपेक्षा वस्तु के आभ्यन्तर से ही अधिक है। इन्हीं सौन्दर्यान्वेषी समीक्षकों में से कुछ ऐसे हैं जो केवल यह देखना चाहते हैं कि वस्तु की अभिव्यक्ति कितनी सुन्दर है। वस्तु के सौन्दर्य से उनको कोई सरोकार नहीं। वे तो केवल उतना कहेंगे कि वस्तु को सुन्दरता पूर्वक अभिव्यक्त करने में कलाकार को कितनी सफलता हुई है। ऐसे समालोचक अभिव्यंजनावादी (Expressionist) माने जायेंगे। ये सौन्दर्य के मूल्यांकन के साथ ही उसके कारणों पर भी विचार कर लेंगे। वे केवल इतना ही नहीं करेंगे कि अमुक कला-कृति में अपने सौन्दर्य से उसको अथवा पाठक को कितना प्रभावित और आह्लादित करने की क्षमता है, पर उसके सौन्दर्य-तत्त्वों का विश्लेषण भी करेंगे। प्रभाववादी (Impressionist) तो केवल अपने पर पड़े हुए प्रभावों को व्यंजित करता है। उसे कारणों के विश्लेषण और सौन्दर्य-शास्त्र के नियमों से कोई मतलब नहीं रहता। इस प्रकार ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि सौन्दर्यान्वेषी (Aesthetic critic) अभिव्यंजनावादी (Expressionist) और प्रभावाभिव्यंजक (Impressionist) ये तीनों समालोचक एक सिद्धान्त को तीन पहलुओं से देखने के कारण ही

वस्तुतः भिन्न है, अन्यथा इनमें मूल सिद्धान्तों और मान्यताओं का कोई अन्तर नहीं है। ऊपर 'कला कला के लिए' तथा क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में जिन तत्वों का निर्देश हुआ है वे ही इन तीनों पद्धतियों की आधार-भूमि है। इनमें सौन्दर्य-सिद्धान्त को ग्रहण करने के तारतम्य तथा प्रकार-भेद के कारण थोड़ा-सा अन्तर है, जिसका स्पष्टीकरण ऊपर हो चुका है।

भारत में साहित्य-सम्बन्धी विचार-धारा बहुत ही पुष्ट और प्रौढ़ थी। उसमें काव्य के प्रयोजन आदि पर इतना व्यापक और सर्वाङ्गीण विचार हुआ है कि पश्चिम के ये पक्षपातपूर्ण उत्पन्न करने वाले वाद यहाँ के विचारकों द्वारा बहुत अधिक नहीं अपनाए जा सके। यहाँ पर सौन्दर्य से भी उत्कृष्ट रमणीयता की कल्पना हो चुकी थी। उसमें बाह्य और आभ्यन्तर सौन्दर्य के समाहार के अतिरिक्त अलौकिक आह्लाद की भावना भी अन्तर्हित थी। इस प्रकार यहाँ पर काव्य में भी मंगल की प्रतिष्ठा हो गई। काव्य-नीति के स्थूल उपदेशों द्वारा नहीं अपितु रस-निष्पत्ति और रमणीयता-जन्य आह्लाद द्वारा ही चित्त के सब विकारों को दूर करने का साधन बन गया था। काव्यास्वाद चित्त की ऐसी मंगलमयी अवस्था है कि उसमें आपाततः अश्लील प्रतीत होने वाली सारी वस्तुएँ भी मंगलमयी हो जाती हैं। इसीलिए श्लील-अश्लील, नैतिक-अनैतिक, सत्-असत् उपदेश आनन्द आदि द्वन्द्वों का जो स्थूल रूप पश्चिम में ग्रहण हुआ और जिसके फलस्वरूप अनेक मत-मतान्तर, वाद-विवाद और सम्प्रदायों का वहाँ जन्म हो गया, यहाँ पर इनके लिए स्थान ही नहीं था। यहाँ की साहित्य-परम्परा से परिचित व्यक्ति को यह सब वाद-विवाद छिछला और व्यर्थ का प्रतीत होता है। भारत का कोई भी प्रौढ़ विद्वान् पश्चिम की विचार-धारा को अविकल रूप से नहीं अपना सका। ये विचार प्रायः भारतीयकरण करके ही अपनाए गए हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र के साहित्य-सम्बन्धी विचारों का एक साधारण-सा आभास हम पहले करा चुके हैं। उनकी सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणा में मंगल के स्पष्ट दर्शन होते हैं। उस पर भारतीय चिन्तन की अमिट छाप है। महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री भी पश्चिम के प्रभावाभिव्यंजक समालोचक को ही वास्तविक समीक्षक कहते हैं। लेकिन इसी विचार-धारा के साथ भारतके रस, ध्वनि और औचित्यके सामंजस्य को ही सर्वोत्कृष्ट साहित्य-दर्शन मानते हैं। स्पिन्गार्न आलोचना के नवीन दृष्टिकोण में ऐतिहासिक आदि रूपों से मुक्ति तथा सबका सामंजस्य आवश्यक समझते हैं। आचार्य कुप्पुस्वामी उस सामंजस्य की स्थिति रस और ध्वनि के समन्वय में ही संभव मानते हैं। इस प्रकार वे भारतीय रस-सिद्धान्त की व्यापकता का प्रतिपादन

(extremi) दृष्टिबिन्दु कहे जा सकते हैं। इस आलोचक का कार्य कला-कृति के सौन्दर्य से आह्लादित होना तथा उसके सौन्दर्य-तत्त्वों का उद्घाटन करना है। उसे काव्य-शास्त्र के नियमों के आधार पर कला-कृति की व्याख्या नहीं करनी। उसे यह नहीं बताना है कि किसी कृति में काव्य-शास्त्र के नियमों का कितना निर्वाह हुआ है। पर उसे तो यह बताना है कि कोई कला-कृति कितनी सुन्दर है और उसके सौन्दर्य के कारण क्या हैं। वह कला-कृति का अपनी सहृदयता और सौन्दर्य-शास्त्र के नियमों से ही मूल्यांकन करता है, नीति-शास्त्र अथवा काव्य-शास्त्र के नियमों से नहीं। इस प्रकार का समालोचक सौन्दर्यान्वेषी (Aesthetic critic) है। वह सौन्दर्य को अपने-आपमें पूर्ण और स्वतः प्रमाण मानता है। सौन्दर्य जीवन की अन्य किसी उपयोगिता के कारण उपादेय नहीं है, अपितु उसकी तो जीवन में पृथक् उपादेयता स्वतः सिद्ध है। इनमें से कुछ लोग सौन्दर्य और मंगल में सामंजस्य करना चाहते हैं। रवीन्द्र आदि मंगल को ही सुन्दर मानते हैं। सौंदर्य और मंगल का सामंजस्य मानने वालों पर हम सौष्ठववादी आलोचना में विचार कर चुके हैं। मंगल को ही सौन्दर्य मानने के परिणामस्वरूप उन्हें सौन्दर्य वस्तुगत भी मानना पड़ता है। केवल वाह्य अभिव्यक्ति में मंगल नहीं हो सकता। वह मन को चमत्कृत अथवा मुग्ध अवश्य कर सकती है। पर हृदय को अलौकिक आह्लाद में तन्मय करना तो मंगल का ही कार्य है और इसका सम्बन्ध वाह्य अभिव्यक्ति की अपेक्षा वस्तु के आभ्यन्तर से ही अधिक है। इन्हीं सौन्दर्यान्वेषी समीक्षकों में से कुछ ऐसे हैं जो केवल यह देखना चाहते हैं कि वस्तु की अभिव्यक्ति कितनी सुन्दर है। वस्तु के सौन्दर्य से उनको कोई सरोकार नहीं। वे तो केवल उतना कहेंगे कि वस्तु को सुन्दरता पूर्वक अभिव्यक्त करने में कलाकार को कितनी सफलता हुई है। ऐसे समालोचक अभिव्यंजनावादी (Expressionist) माने जायँगे। ये सौन्दर्य के मूल्यांकन के साथ ही उसके कारणों पर भी विचार कर लेंगे। वे केवल इतना ही नहीं करेंगे कि अमुक कला-कृति में अपने सौन्दर्य से उसको अथवा पाठक को कितना प्रभावित और आह्लादित करने की क्षमता है, पर उसके सौन्दर्य-तत्त्वों का विश्लेषण भी करेंगे। प्रभाववादी (Impressionist) तो केवल अपने पर पड़े हुए प्रभावों को व्यंजित करता है। उसे कारणों के विश्लेषण और सौन्दर्य-शास्त्र के नियमों से कोई मतलब नहीं रहता। इस प्रकार ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि सौन्दर्यान्वेषी (Aesthetic critic) अभिव्यंजनावादी (Expressionist) और प्रभावाभिव्यंजक (Impressionist) ये तीनों समालोचक एक सिद्धान्त को तीन पहलुओं से देखने के कारण ही

वस्तुतः भिन्न हैं, अन्यथा इनमें मूल सिद्धान्तों और मान्यताओं का कोई अन्तर नहीं है। ऊपर 'कला कला के लिए' तथा क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में जिन तत्त्वों का निर्देश हुआ है वे ही इन तीनों पद्धतियों की आधार-भूमि हैं। इनमें सौन्दर्य-सिद्धान्त को ग्रहण करने के तारतम्य तथा प्रकार-भेद के कारण थोड़ा-सा अन्तर है, जिसका स्पष्टीकरण ऊपर हो चुका है।

भारत में साहित्य-सम्बन्धी विचार-धारा बहुत ही पुष्ट और प्रौढ़ थी। उसमें काव्य के प्रयोजन आदि पर इतना व्यापक और सर्वाङ्गीण विचार हुआ है कि पश्चिम के ये चकाचौंध उत्पन्न करने वाले वाद यहाँ के विचारकों द्वारा बहुत अधिक नहीं अपनाए जा सके। यहाँ पर सौन्दर्य से भी उत्कृष्ट रमणीयता की कल्पना हो चुकी थी। उसमें बाह्य और आभ्यन्तर सौन्दर्य के समाहार के अतिरिक्त अलौकिक आह्लाद की भावना भी अन्तर्हित थी। इस प्रकार यहाँ पर काव्य में भी मंगल की प्रतिष्ठा हो गई। काव्य-नीति के स्थूल उपदेशों द्वारा नहीं अपितु रस-निष्पत्ति और रमणीयता-जन्य आह्लाद द्वारा ही चित्त के सब विकारों को दूर करने का साधन बन गया था। काव्यास्वाद चित्त की ऐसी मंगलमयी अवस्था है कि उसमें आपाततः अश्लील प्रतीत होने वाली सारी वस्तुएँ भी मंगलमयी हो जाती हैं। इसीलिए श्लील-अश्लील, नैतिक-अनैतिक, सत्-असत् उपदेश आनन्द आदि द्वन्द्वों का जो स्थूल रूप पश्चिम में ग्रहण हुआ और जिसके फलस्वरूप अनेक मत-मतान्तर, वाद-विवाद और सम्प्रदायों का वहाँ जन्म हो गया, यहाँ पर इनके लिए स्थान ही नहीं था। यहाँ की साहित्य-परम्परा से परिचित व्यक्ति को यह सब वाद-विवाद छिछला और व्यर्थ सा प्रतीत होता है। भारत का कोई भी प्रौढ़ विद्वान् पश्चिम की विचार-धारा को अविकल रूप से नहीं अपना सका। ये विचार प्रायः भारतीयकरण करके ही अपनाए गए हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र के साहित्य-सम्बन्धी विचारों का एक साधारण-सा आभास हम पहले करा चुके हैं। उनकी सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणा में मंगल के स्पष्ट दर्शन होते हैं। उस पर भारतीय चिन्तन की अमिट छाप है। महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री भी पश्चिम के प्रभावाभिव्यंजक समालोचक को ही वास्तविक समीक्षक कहते हैं। लेकिन इसी विचार-धारा के साथ भारतके रस, ध्वनि और औचित्यके सामंजस्य को ही सर्वोत्कृष्ट साहित्य-दर्शन मानते हैं। स्पिन्गार्न आलोचना के नवीन दृष्टिकोण में ऐतिहासिक आदि रूपों से मुक्ति तथा सबका सामंजस्य आवश्यक समझते हैं। आचार्य कुप्पुस्वामी उस सामंजस्य की स्थिति रस और ध्वनि के समन्वय में ही संभव मानते हैं। इस प्रकार वे भारतीय रस-सिद्धान्त की व्यापकता का प्रतिपादन

कर रहे हैं। उनकी मान्यता है कि भारतीय सिद्धान्तों में पश्चिम की विचार-धारा अन्तर्भूत ही नहीं हो जाती अपितु वे तो उससे भी अतिक्रांत अवस्था के परिचायक हैं। इस अवस्था तक पहुँचने में पश्चिम को अभी समय लगेगा।[1] प्रसाद और शुक्ल जी के विचारों से हम पहले परिचित हो चुके हैं। उनमें भारतीय दृष्टिकोण की ही प्रधानता है। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय विचार-धारा से परिचित व्यक्ति इन सिद्धान्तों को अविकल रूप से अपनाकर नहीं चल सकता था। हिन्दी में साहित्यिक धारणाओं की आधार-भूमि प्राचीन भारतीय विचार-धारा ही है। इसीलिए हिन्दी में पाश्चात्य सम्प्रदायों के अविकल रूप के दर्शन संभव नहीं हैं। यहाँ की सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणा भी कुछ रमणीयता की ओर झुकी हुई है। हिन्दी का अभिव्यंजनावाद भी पूर्णतः क्रोचे का नहीं कहा जा सकता। इन पाश्चात्य विचार-धाराओं के सहारे यहाँ के आलोचकों का स्वतन्त्र रूप भी मौलिक है। उन पर भारतीयता की स्पष्ट छाप है। पर फिर भी पाश्चात्य प्रभाव अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वहाँ से निर्मित और विकसित विचार-धाराएँ आई हैं। अंग्रेजी पढ़े-लिखे उन व्यक्तियों ने, जो भारतीय परम्परा से कुछ अनभिज्ञ हैं, कुछ सीमा तक उन्हें अविकल रूप में भी अपनाया है। यह हम पहले देख चुके हैं कि सौष्ठववादी विशुद्ध आनन्द को ही काव्य का प्रयोजन नहीं मानता। पर हिन्दी में दो-एक ऐसे समालोचक भी हैं जिन्हें हम अपेक्षाकृत अधिक विशुद्ध आनन्दवादी कह सकते हैं। इनमें से सर्व प्रथम हम पं० इलाचन्द्र जी जोशी के विचारों को ही उद्धृत करेंगे। कई स्थानों पर जोशी जी हिन्दी-साहित्य के विशुद्ध आनन्दवादी समीक्षक कहे जा सकते हैं। उन स्थानों पर वे कला में आनन्द के अतिरिक्त नीति या अन्य किसी तत्त्व का महत्त्व स्वीकार नहीं करते। वे आनन्द को भी प्रयोजनातीत कहते हैं। कला का सृजन ही इस आनन्द को प्राप्त करने के लिए होता है। उनकी मान्यता है कि नीति की दृष्टि से देखने से काव्य का महत्त्व कुछ भी नहीं रह जाता। "कला का मूल उत्स आनन्द है। आनन्द प्रयोजनातीत है। सुन्दर फूल देखने से हमें आनन्द प्राप्त होता है। पर उससे हमारा कोई स्वार्थ या प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। प्रभात की उज्ज्वलता और सन्ध्या की स्निग्धता देखकर चित्त को एक अपूर्व शान्ति प्राप्त होती है, पर उससे हमें कोई शिक्षा नहीं मिलती, और न कोई सांसारिक लाभ ही होता है।"[2]

---

1. High-ways and by-ways of Literaery criticism iu Sanskirt.
2. 'साहित्य-सर्जना', पृष्ठ ११।

"विश्व की इस अनन्त सृष्टि की तरह कला भी आनन्द का ही प्रकाश है। उसके भीतर नीति-तत्व अथवा शिक्षा का स्थान नहीं। उसके अलौकिक माया-चक्र से हमारे हृदय की तन्त्री आनन्द की झंकार से बज उठती है, यही हमारे लिए परम लाभ है। उच्च अंग की कला के भीतर किसी तत्व की खोज करना सौन्दर्य देवी के मन्दिर को कलुषित करना है।"[1]

जोशी जी की सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणा व्यापक है। उनके विवेचन से यह स्पष्ट है कि वे बाह्य रूप अथवा अभिव्यक्ति-मात्र में सौन्दर्य नहीं मानते। उनकी धारणा में वस्तुन्मुखी तत्व भी है। उसमें भाव, शील और संस्कृति का सौन्दर्य ही प्रधान है। केवल बाह्य आकार-प्रकार अथवा अभिव्यक्ति का सौन्दर्य अवास्तविक है। यह तो वासना की दृष्टि है। वास्तविक सौन्दर्य तो आभ्यन्तर ही है। उसीमें स्वर्गीयता है। रमणी अपने बाह्य अंग-प्रत्यंग की अपेक्षा चेहरे से टपकने वाले भावों के कारण अधिक सुन्दर होती है। पंडित जी सहृदयता-हीन वेश्या अथवा फूहड़ ग्राम्य नारी की अपेक्षा करुणा, स्नेह और शील से स्निग्ध तथा चतुर नागरी नारी में अधिक सौन्दर्य देखते हैं। उनकी मान्यता है कि साधारण जन जिन दृश्यों में सौन्दर्य नहीं देख पाता, कवि की तीव्र दृष्टि उसमें भी सौन्दर्य के दर्शन कर लेती है। कालिदास सारस की कर्कश ध्वनि में भी सौन्दर्य के दर्शन कर लेते हैं। कवि चन्द्रमा की स्वच्छ चाँदनी ही से नहीं अपितु निविड़ अन्धकार के सौन्दर्य से भी मुग्ध हो जाता है। कवि के लिए सौन्दर्य का अस्तित्व सर्वव्यापी है। जोशी जी का कहना है कि संस्कार के साथ मनुष्य में सौन्दर्य-बोध की भी वृद्धि होती जाती है। "मनुष्य की रुचि का विकास पूर्णता की ओर जितना बढ़ता जाता है, सौन्दर्य के सम्बन्ध में भी उसकी धारणा उसी रूप में जटिल होती और बदलती जाती है।" पहले मनुष्य केवल बाह्य आकार-प्रकार, अंगों के संगठन आदि के सौन्दर्य से ही आकृष्ट होता है, पर ज्यों-ज्यों उसकी रुचि का संस्कार होता जाता है त्यों-त्यों वस्तु के आभ्यन्तर में प्रविष्ट होकर उसके द्वारा अभिव्यक्त भाव-सौन्दर्य के भी दर्शन करने लगता है। विकसित रुचि तो भाव-सौन्दर्य से ही प्रसन्न हो पाती है। इस प्रकार जोशी जी का निरूपण केवल बाह्य एवं जड़ सौन्दर्य तक ही सीमित नहीं रहा अपितु उसमें आभ्यन्तर चेतन सौन्दर्य का स्पष्ट आभास है। यह धारणा रमणीयता के अत्यन्त सन्निकट है। भारतीय विद्वान् के लिए यही स्वाभाविक भी है। जोशी जी सौन्दर्य में सत्य और मंगल के दर्शन करते हैं।

---

१. 'साहित्य सर्जना', पृष्ठ १२ - १३।

"अन्त में हम फिर यह कहना चाहते हैं कि सौन्दर्य का कोई निश्चित मापदंड न होने पर भी उसका झुकाव और विकास एक विशेष आदर्श की ओर होता है। वह आदर्श है आत्मा, हृदय और मस्तिष्क का संयोग; सुन्दर, मंगल और सत्य का सामंजस्य।"[१]

सौष्ठववादी समालोचक सौन्दर्य-जन्य आह्लाद को भी समीक्षा का एक मापदंड मानता है। पर भारत के शास्त्रीय रस आदि तत्त्वों में इसका इतना अन्तर्भाव हो गया कि इसकी पृथक् सत्ता नहीं रह पाई। फिर उन लोगों ने कलाकार के व्यक्तित्व का मनोवैज्ञानिक निरूपण ही अधिक किया। कला-कृति के सौन्दर्य से आह्लादित उतने नहीं हो पाए। समीक्षा के इस स्वरूप के दर्शन हमें जोशी जी में होते हैं। उनका सैद्धान्तिक निरूपण ही सौन्दर्यान्वेषी (Aeshetic) कोटि का नहीं है, अपितु उनकी प्रयोगात्मक समीक्षा में भी इसके प्रौढ़ प्रमाण हैं। उन्होंने अपने निबन्धों में अनेक स्थानों पर केवल सौन्दर्य और तज्जनित आह्लाद के आधार पर ही काव्य की समीक्षा की है। आलोचक कालिदास के 'मेघदूत-काव्य' को तो सौन्दर्य की प्रदर्शिनी ही कहता है, उसमें जो सौन्दर्य के विभिन्न रूपों के दर्शन होते हैं, उनसे जोशीजी मुग्ध हो उठते हैं। "मेघदूत काव्य को यदि हम सौन्दर्य-कला की प्रदर्शिनी कहें तो अनुचित न होगा।...सौन्दर्य किन-किन स्वरूपों में अपने को व्यक्त कर सकता है, इस काव्य में यही दिखलाया गया है। जिस प्रकार अव्यक्त के एकमेवाद्वितीयम् रूप से अनेकानेक रूप फूट निकले हैं, उसी प्रकार निविड़ कालिमालिप्त वर्षा ऋतु के एक रूप से अभिनव सौन्दर्य-मंडित कितने ही भिन्न-भिन्न रूपों की अभिव्यक्ति होती है। पूर्व मेघ में यही दिखाया गया है।"[२] इस निबन्ध के लेखक सौन्दर्य की अनेक स्थितियों और भावों से मुग्ध हुए हैं। उन्होंने उनका अनुभूति जाग्रत करने वाला वर्णन भी किया है। जोशी जी ने 'मेघदूत' के सौन्दर्य के सामान्य स्वरूप पर भी विचार किया है। वे केवल प्रभाव ग्रहण करके मुग्ध होने वाली आलोचना तक ही सीमित नहीं हैं, अपितु इससे आगे बढ़कर सौन्दर्य का विश्लेषण भी करते हैं। "ऊपर जिस सौन्दर्य का वर्णन किया है, वह सुख-दुख, आशा-नैराश्य, हास्य-क्रन्दन इन द्वन्द्वों से जर्जरित पृथ्वी माता का सौन्दर्य है। पूर्व-मेघ का सम्पर्क पृथ्वीतल से है। पर उत्तर मेघ का सौन्दर्य इन सब द्वन्द्वों से परे है। उसमें सौन्दर्य के नाना रूप एक आनन्द-

---

१. 'साहित्य-सर्जना', पृष्ठ १६।
२. वही, पृष्ठ १३।

मय में आकर मिल गए हैं। वह स्वर्ग का सौन्दर्य है। उस सौन्दर्य-लोक में क्षुधा-तृष्णा, पाप-ताप, जरा-मृत्यु की हाय-हत्या सुनने में नहीं आती।"[1] इस आलोचना में विशुद्ध सौन्दर्यान्वेषी आलोचक के दर्शन होते हैं। वाह्य-अभिव्यक्ति की अपेक्षा आलोचक का ध्यान भावगत सौन्दर्य की ओर ही अधिक रहा है। सौन्दर्य को प्रयोजनातीत मानकर चलने से इसका विशुद्ध रूप अत्यन्त स्पष्ट है।

यह हम ऊपर कह चुके हैं कि हिन्दी में प्रभाववादी आलोचक के विकास के लिए अभी उपयुक्त वातावरण अभी तैयार नहीं हुआ है। शुक्लजी-जैसे युग के प्रौढ़ विद्वान् उसका विरोध करते रहे हैं। पर फिर भी इस प्रवृत्ति के दर्शन हिन्दी-साहित्य के कुछ आलोचनात्मक निबन्धों में हो जाते हैं। पंडित भुवनेश्वर मिश्र 'माधव' ने अपनी 'सन्त साहित्य' नामक प्रख्यात पुस्तक में अनेक स्थानों पर इसी प्रवृत्ति का परिचय दिया है। लेखक दादू, मीरा, कबीर, आदि के अन्तस्तल तक पहुँचकर स्वयं भाव-विभोर हो उठते हैं। कवि-हृदय की तल्लीनता का विवरण अत्यन्त प्रौढ़ भावमय शैली में देता है। लेखक उन भावों के संस्पर्श से स्वयं भी भाव-धारा में वह जाता है और अपनी अनुभूति-मयी शैली से पाठक को भी वहा ले जाता है। प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा-शैली में ही पं० भगवतशरण उपाध्याय ने गुरुभक्तसिंहजी के 'नूरजहाँ' काव्य का विस्तृत अध्ययन किया है। इसमें महाकाव्य के विभिन्न सर्गों की कथावस्तु तथा धार्मिक स्थलों का संदर्भ सहित भावपूर्ण परिचय है। लेखक का मन स्वयं जिन स्थलों में रमा है उन्हींका स्पष्टीकरण उसने भर दिया है। लेखक स्वयं अपने ग्रन्थ को समालोचक का प्रयास न कहकर सहानुभवी और समानधर्मा का प्रयास कहता है। वह अपने-आपको प्रभाववादी भी घोषित करता है: "नूरजहाँ के अध्ययन का मेरे ऊपर बड़ा मार्मिक प्रभाव पड़ा। फलतः कुछ अनुकूल अन्तर्ग्रन्थियाँ खुल पड़ीं। मैं एक बात को स्पष्टतया कह देना चाहता हूँ कि प्रस्तुत प्रयास समालोचक का नहीं प्रत्युत सहानुभवी और समान-धर्मा का है। ·····मैं प्रभाववादी हूँ। जब अनुकूल प्रभाव का स्पर्श होता है प्रभाववादी चुप नहीं बैठ सकता।"[2] इतना ही नहीं पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र भी इसे प्रभाववादी समीक्षा के अन्तर्गत ही मानना चाहते हैं: "यह तो निःसंकोच कहा जा सकता है कि यह आलोच्य काव्य का शास्त्रीय अन्तर्भाव

---

१. 'साहित्य-सन्तरण', पृष्ठ १७८।

२. 'दो शब्द'।

नहीं है। आजकल जिसे प्रभाववादी समीक्षा कहते हैं उसीके अन्तर्गत यह भी रखी जायगी।"[1] आलोचक ने स्थान-स्थान पर कथा-भाग और मार्मिक स्थलों को विशद संदर्भ और विवेचन द्वारा स्पष्ट किया है : अनेक स्थानों पर लेखक ने स्थलों का रसास्वाद भी किया है और वह उनकी भाव-धारा में भी बहा है। "अनार की लटें उसके कपोलों पर बिखर आई थीं और उनके नीचे आँसू बह रहे थे। ऐसा प्रतीत होता था मानो मतवाली नागिनी ओस चाट रही है और उसके कपोलों पर लोट रही है। चारों ओर की नीरवता उसे और भी खाये डालती थी। संसार का सारा कोलाहल, सारा व्यवसाय, निस्तब्धता में डूब गया था, दिन रात्रि में लय हो गया था पर हृदय, जिसे और भी शान्त होना चाहिए था, और भी चंचल हो उठा।"[2] ऐसे स्थलों में तन्मयता एवं प्रवाह है। पर वस्तु की गहराई में बैठकर प्रत्येक शब्द के साथ तीव्रतर होती हुई सौन्दर्यानुभूति तथा तज्जनित आह्लाद का अभाव है। कहीं-कहीं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। लेखक स्थिति-चित्रण में पूर्णतः सफल हुआ है, पर ऐसे स्थल कम हैं जहाँ पर वह स्वयं मार्मिक स्थलों में भाव-विभोर होकर पाठकों को भी विभोर कर सका है। प्रभाववादी की यही सबसे बड़ी विशेषता है। यही कारण है कि पं० विश्वनाथप्रसाद इस आलोचना को महाकाव्य का भाष्य अथवा महाभाष्य कहना समीचीन समझते हैं। इस प्रकार यह टीका का विशद श्लाघ्य रूप है। लेखक वहाँ कहीं बौद्धिक विश्लेषण भी करने लगा है। सौन्दर्य-तत्वों के उद्घाटन और सौन्दर्य-जनित आह्लाद के अवसर कम आये हैं। लेखक ने परिशिष्ट में आलोच्य-रचना की शास्त्रीय व्याख्या भी दी है। इसमें ग्रन्थ की पूर्णता ही उन्हें अभिप्रेत है। यह मूल ग्रन्थ का भाग नहीं है। ग्रन्थ प्रभाववादी सामंजस्य का सुन्दर उदाहरण है। भविष्य में इसी पद्धति के विकसित रूप के भी हिन्दी में दर्शन होंगे यह तो इस समीक्षा का शिला-न्यास है।

जैनेन्द्रजी साहित्य और कला को प्रयोजन से उच्च मानते हैं। लेकिन इस प्रयोजन से उनका तात्पर्य भी पार्थिव और भौतिक उपयोगिता से ही है।[3] साहित्य के दो स्वरूप उन्हें मान्य हैं, एक मजे का साहित्य तथा दूसरा समाज का नेतृत्व करने वाला।[4] साहित्य मानव को स्वरति और परालोचन की

---

१. 'दो शब्द', पृष्ठ ३।

२. वही, पृष्ठ २।

३. 'जैनेन्द्र के विचार' 'क्या-क्या है' शीर्षक निबन्ध।

४. 'साहित्य की कसौटी,' 'आधुनिक हिन्दी साहित्य'।

अहंकारी वृत्ति के संकीर्ण क्षेत्र से ऊपर उठाता है। वह मानव में लोक-हितैषत्व की भावना को जाग्रत करता है। साहित्य के मूल्यांकन में जैनेन्द्रजी प्रभाववादी दृष्टिकोण के समर्थक प्रतीत होते हैं। वे कहते हैं : "साहित्य की कसौटी संस्कारशीलता है, जो हृदय में हृदय का मेल चाहती और एकता में में निष्ठा रहती है। जो सहृदय का चित्त मुदित करती है वह साहित्य खरा, जो संकुचित करता है वह खोटा।" जैनेन्द्रजी सहृदय को पर-दुःख-कातर और सेवा-परायण कहते हैं। इससे ये प्रभाववादी होते हुए भी पूर्णतः वैयक्तिक और आनन्दवादी नहीं कहे जा सकते हैं। उनका यह दृष्टिकोण समष्टिगत मंगल की भावना को भी अपनाए हुए है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि पाश्चात्य अभिव्यंजनावाद या सौन्दर्य-वाद का विशुद्ध रूप हिन्दी के समीक्षक में नहीं मिलता। पर इतना तो निर्वि-वाद है कि इन प्रवृत्तियों ने हिन्दी-साहित्य और समीक्षा को प्रभावित अवश्य किया है। हिन्दी का सारा छायावादी साहित्य इनसे प्रभावित है। छायावाद में अभिव्यंजना और सौन्दर्य-सृष्टि की ही प्रधानता है। छायावादी कवि प्रत्येक वस्तु का चित्रोपमतामय और भंगिमापूर्ण शैली में ही वर्णन करता है। प्रतीक-विधान और लाक्षणिकता उसकी शैली की प्रधान विशेषता है। वह सौन्दर्य-सृष्टि और अभिव्यंजना की भंगिमा द्वारा ही पाठक के हृदय को भाव-विभोर और आह्लादित ही करना चाहता है। पाठक कहीं भी उनके कथन-वैचित्र्य से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता, चमत्कार ही उस कविता के प्राण हैं। इससे यह स्पष्ट है कि कलावाद और अभिव्यंजना ने हिन्दी-साहित्य की काव्य-धारा को बहुत अधिक प्रभावित किया है। स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों का दृष्टिकोण भी अभिव्यंजनावादी ही रहा है। वे काव्य की उत्कृष्टता का मापदण्ड सौन्दर्य की सृष्टि तथा तज्जनित आह्लाद ही मानते हैं। नन्ददुलारे वाजपेयी आदि ने काव्य पर इस दृष्टि से विचार किया है, इसका निरूपण हो चुका है। पर उनका आलोचनात्मक दृष्टिकोण विशुद्ध अभिव्यंजनावादी नहीं कहा जा सकता है, यह भी हम पहले देख चुके हैं। उनकी अपेक्षा इलाचन्द्र जोशी आदि अधिक विशुद्ध सौन्दर्यान्वेषी कहे जा सकते हैं इसीलिए इनका परिचय इन शैली के साथ दियागया है। ये शैलियां स्वच्छन्दतावादी समीक्षा के ही विकास हैं। इनको उसी पद्धति के अतिवादी दृष्टिकोण कह सकते हैं।

रही है, और अब भी है। इसके एक ही गीत के विभिन्न स्वरूप उपलब्ध होते हैं। इसका स्वरूप विशेषतः भाषा एवं कहीं-कहीं भाव की दृष्टि से चिर परिवर्तनशील रहा है। इसलिए उनका आज जो स्वरूप उपलब्ध है, वह एक व्यक्ति द्वारा निर्मित नहीं कहा जा सकता, पर उनका प्रारम्भिक रूप तथा प्रत्येक परवर्ती संस्कार वैयक्तिक अभिव्यक्ति के ही परिणाम हैं, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उन पर उन व्यक्तियों की रुचि, भाव और विचारों की स्पष्ट छाप है।

ऊपर के विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि साहित्य व्यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति है। पर इतने कथन से काम नहीं चलता। व्यक्तित्व के स्वरूप को भी पूर्णतः समझ लेना चाहिए। जब हम व्यक्तित्व शब्द का प्रयोग करते हैं, उस समय हमारा तात्पर्य एक बहुत व्यापक वस्तु से होता है। व्यक्ति के भाव, विचार, व्यवहार और प्रत्यय वे चार प्रधान तत्त्व अथवा अंग हैं। इन चारों में उसके मानसिक जगत् की सभी वस्तुओं का अन्तर्भाव है। मानव की आदतें, कार्य-प्रणाली, रुचि, जगत् के प्रति उसकी प्रतिक्रिया आदि उसके जीवन की सभी बातों के सम्पूर्ण जीवन का नियन्त्रण इनके द्वारा होता है। शारीरिक विशेषताएँ तथा परिवेष्ठन भी व्यक्ति के मानस-निर्माण के लिए उत्तरदायी हैं। कलाकार का यह व्यक्तित्व ही उसकी अभिव्यक्ति की आधार-भूमि है। वह इसीके अनुरूप चरित्र और वर्ण्य विषय की कल्पना कर सकता है। साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में अगर उसकी कोई मौलिक देन है तो उसका स्वरूप-निर्धारण भी इसीके द्वारा होता है। इसीमें उसके बीज अन्तर्हित रहते हैं। कलाकार अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति द्वारा चिरन्तन रहता है। अपने-आपको अभिव्यक्त करने की भावना मानव की सहजात वृत्ति है। उसका मानसिक जगत् ही उसका अहं नहीं है, अपितु उसमें स्थूल जगत् और उसके जीवन की घटनाओं का भी अन्तर्भाव है। ये घटनाएँ विशेष मानसिक दशाओं की कारण हैं। कुछ घटनाएँ मानव को असाधारण रूप से धीर, वीर अथवा विनम्र बना देती हैं। उस समय की अभिव्यक्ति पर इन भावों की स्पष्ट छाप होती। वे कलाकार को ऐसे वर्ण्य विषयों की कल्पना के लिए प्रेरणा प्रदान करती हैं, जिनमें ये भाव व्यंजित हो सकें। जीवन की कुछ घटनाएँ इतनी मर्मस्पर्शी होती हैं कि उनको जब तक अभिव्यक्ति द्वारा स्थायित्व नहीं मिल जाता, तब तक कलाकार उद्विग्न रहता है। इनकी अभिव्यक्ति से ही उसकी आत्म-तृप्ति होती है। कलाकार के व्यक्तित्व तथा कला-कृति में इस प्रकार पारस्परिक सम्बन्ध का निरूपण मनोवैज्ञानिक आलोचना का कार्य है। पर जीवन

: १४ :

चरितमूलक समीक्षा

साहित्य जीवनकी अभिव्यक्ति है, और यह अभिव्यक्ति व्यक्ति द्वारा ही संभव है, समष्टि द्वारा नहीं। समष्टि द्वारा साहित्य-सृजन का कोई प्रभाव इतिहास में उपलब्ध नहीं है और साहित्य की मूल प्रकृति पर विचार कर लेने पर इसकी असंभवता भी स्पष्ट हो जाती है। साहित्य सामूहिक चेतना की अभिव्यक्ति है, इसे तो कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। उसके विषय और अनुभूति लोक-सामान्य के होने चाहिएँ और होते ही हैं, इसका खंडन नहीं किया जा सकता। पर इसके साथ ही यह भी मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि यह सामूहिक चेतना, लोक-सामान्य भाव और समष्टिगत जीवन-साहित्य में केवल व्यक्ति के माध्यम से ही आ सकते हैं। समष्टि का सीधा प्रतिबिम्ब साहित्य नहीं है। व्यक्ति पहले सामूहिक चेतना को स्वयं ग्रहण करता है और फिर उसे अभिव्यक्त करता है। इस क्रिया में उसके व्यक्तित्व का महत्त्व अत्यन्त स्पष्ट है। सबकी तरह कलाकार के व्यक्तित्व का एक अंश ऐसा होता है जिसको उसके व्यक्तित्व की आत्मा कहना पड़ता है। वह अंश संस्कारों का समूह-मात्र नहीं है, पर संस्कारों को ग्रहण करने की आधार-भूमि भी है। वह जगत् को अपने अनुरूप बनाकर ही ग्रहण करता है। जगत् और उसकी प्रतिक्रिया के संस्कारों में अन्विति स्थापित करना भी उसीका कार्य है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का जगत्-सम्बन्धी ज्ञान वस्तुतन्त्रात्मक कम और वैयक्तिक अधिक होता है। उसकी अभिव्यक्ति तो और भी वैयक्तिक हो जाती है। अभिव्यक्ति चाहे किसी भी माध्यम से हो, उस पर व्यक्तित्व के प्रधान अंश का ही अधिक नियन्त्रण रहता है। इसीलिए आचार्य काव्य को जगत् से भिन्न स्वतन्त्र अस्तित्व की वस्तु मानते हैं। लोक-साहित्य के सम्बन्ध में एक धारणा यह बनी हुई है कि वह व्यक्ति द्वारा नहीं अपितु समष्टि द्वारा निर्मित है। यह बात ठीक है, पर इसका भी उपर्युक्त सिद्धान्त से वास्तविक विरोध नहीं है। यह तो केवल आपाततः प्रतीत होता है। लोक-साहित्य की परम्परा मौखिक

रही है, और अब भी है। इसके एक ही गीत के विभिन्न स्वरूप उपलब्ध होते हैं। इसका स्वरूप विशेषतः भाषा एवं कहीं-कहीं भाव की दृष्टि से चिर परिवर्तनशील रहा है। इसलिए उनका आज जो स्वरूप उपलब्ध है, वह एक व्यक्ति द्वारा निर्मित नहीं कहा जा सकता, पर उनका प्रारम्भिक रूप तथा प्रत्येक परवर्ती संस्कार वैयक्तिक अभिव्यक्ति के ही परिणाम हैं, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उन पर उन व्यक्तियों की रुचि, भाव और विचारों की स्पष्ट छाप है।

ऊपर के विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि साहित्य व्यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति है। पर इतने कथन से काम नहीं चलता। व्यक्तित्व के स्वरूप को भी पूर्णतः समझ लेना चाहिए। जब हम व्यक्तित्व शब्द का प्रयोग करते हैं, उस समय हमारा तात्पर्य एक बहुत व्यापक वस्तु से होता है। व्यक्ति के भाव, विचार, व्यवहार और प्रत्यय ये चार प्रधान तत्त्व अथवा अंग हैं। इन चारों में उसके मानसिक जगत् की सभी वस्तुओं का अन्तर्भाव है। मानव की आदतें, कार्य-प्रणाली, रुचि, जगत् के प्रति उसकी प्रतिक्रिया आदि उसके जीवन की सभी बातों के सम्पूर्ण जीवन का नियन्त्रण इनके द्वारा होता है। शारीरिक विशेषताएँ तथा परिवेष्ठन भी व्यक्ति के मानस-निर्माण के लिए उत्तरदायी हैं। कलाकार का यह व्यक्तित्व ही उसकी अभिव्यक्ति की आधार-भूमि है। वह इसीके अनुरूप चरित्र और वर्ण्य विषय की कल्पना कर सकता है। साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में अगर उसकी कोई मौलिक देन है तो उसका स्वरूप-निर्धारण भी इसीके द्वारा होता है। इसीमें उसके बीज अन्तर्हित रहते हैं। कलाकार अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति द्वारा चिरन्तन रहता है। अपने-आपको अभिव्यक्त करने की भावना मानव की सहजात वृत्ति है। उसका मानसिक जगत् ही उसका अहं नहीं है, अपितु उसमें स्थूल जगत् और उसके जीवन की घटनाओं का भी अन्तर्भाव है। ये घटनाएँ विशेष मानसिक दशाओं की कारण हैं। कुछ घटनाएँ मानव को असाधारण रूप से धीर, वीर अथवा विनम्र बना देती हैं। उस समय की अभिव्यक्ति पर इन भावों की स्पष्ट छाप होती। वे कलाकार को ऐसे वर्ण्य विषयों की कल्पना के लिए प्रेरणा प्रदान करती हैं, जिनमें ये भाव व्यंजित हो सकें। जीवन की कुछ घटनाएँ इतनी मर्मस्पर्शी होती हैं कि उनको जब तक अभिव्यक्ति द्वारा स्थायित्व नहीं मिल जाता, तब तक कलाकार उद्विग्न रहता है। इनकी अभिव्यक्ति से ही उसकी आत्म-तृप्ति होती है। कलाकार के व्यक्तित्व तथा कला-कृति में इस प्रकार पारस्परिक सम्बन्ध का निरूपण मनोवैज्ञानिक आलोचना का कार्य है। पर जीवन

: १४ :

चरितमूलक समीक्षा

साहित्य जीवनकी अभिव्यक्ति है, और यह अभिव्यक्ति व्यक्ति द्वारा ही संभव है, समष्टि द्वारा नहीं। समष्टि द्वारा साहित्य-सृजन का कोई प्रभाव इतिहास में उपलब्ध नहीं है और साहित्य की मूल प्रकृति पर विचार कर लेने पर इसकी असंभवता भी स्पष्ट हो जाती है। साहित्य सामूहिक चेतना को अभिव्यक्ति है, इसे तो कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। उसके विषय और अनुभूति लोक-सामान्य के होने चाहिएँ और होते ही हैं, इसका खंडन नहीं किया जा सकता। पर इसके साथ ही यह भी मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि यह सामूहिक चेतना, लोक-सामान्य भाव और समष्टिगत जीवन-साहित्य में केवल व्यक्ति के माध्यम से ही आ सकते हैं। समष्टि का सीधा प्रतिबिम्ब साहित्य नहीं है। व्यक्ति पहले सामूहिक चेतना को स्वयं ग्रहण करता है और फिर उसे अभिव्यक्त करता है। इस क्रिया में उसके व्यक्तित्व का महत्त्व अत्यन्त स्पष्ट है। सबकी तरह कलाकार के व्यक्तित्व का एक अंश ऐसा होता है जिसको उसके व्यक्तित्व की आत्मा कहना पड़ता है। वह अंश संस्कारों का समूह-मात्र नहीं है, पर संस्कारों को ग्रहण करने की आधार-भूमि भी है। वह जगत् को अपने अनुरूप बनाकर ही ग्रहण करता है। जगत् और उसकी प्रतिक्रिया के संस्कारों में अन्विति स्थापित करना भी उसीका कार्य है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का जगत्-सम्बन्धी ज्ञान वस्तुतन्त्रात्मक कम और वैयक्तिक अधिक होता है। उसकी अभिव्यक्ति तो और भी वैयक्तिक हो जाती है। अभिव्यक्ति चाहे किसी भी माध्यम से हो, उस पर व्यक्तित्व के प्रधान अंश का ही अधिक नियन्त्रण रहता है। इसीलिए आचार्य काव्य को जगत् से भिन्न स्वतन्त्र अस्तित्व की वस्तु मानते हैं। लोक-साहित्य के सम्बन्ध में एक धारणा यह बनी हुई है कि यह व्यक्ति द्वारा नहीं अपितु समष्टि द्वारा निर्मित है। यह बात ठीक है, पर इसका भी उपर्युक्त सिद्धान्त से वास्तविक विरोध नहीं है। यह तो केवल आपाततः प्रतीत होता है। लोक-साहित्य की परम्परा मौखिक

रही है, और अब भी है। इसके एक ही गीत के विभिन्न स्वरूप उपलब्ध होते हैं। इसका स्वरूप विशेषतः भाषा एवं कहीं-कहीं भाव की दृष्टि से चिर परिवर्तनशील रहा है। इसलिए उनका आज जो स्वरूप उपलब्ध है, वह एक व्यक्ति द्वारा निर्मित नहीं कहा जा सकता, पर उनका प्रारम्भिक रूप तथा प्रत्येक परवर्ती संस्कार वैयक्तिक अभिव्यक्ति के ही परिणाम हैं, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उन पर उन व्यक्तियों की रुचि, भाव और विचारों की स्पष्ट छाप है।

ऊपर के विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि साहित्य व्यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति है। पर इतने कथन से काम नहीं चलता। व्यक्तित्व के स्वरूप को भी पूर्णतः समझ लेना चाहिए। जब हम व्यक्तित्व शब्द का प्रयोग करते हैं, उस समय हमारा तात्पर्य एक बहुत व्यापक वस्तु से होता है। व्यक्ति के भाव, विचार, व्यवहार और प्रत्यय ये चार प्रधान तत्त्व अथवा अंग हैं। इन चारों में उसके मानसिक जगत् की सभी वस्तुओं का अन्तर्भाव है। मानव की आदतें, कार्य-प्रणाली, रुचि, जगत् के प्रति उसकी प्रतिक्रिया आदि उसके जीवन की सभी बातों के सम्पूर्ण जीवन का नियन्त्रण इनके द्वारा होता है। शारीरिक विशेषताएँ तथा परिवेष्टन भी व्यक्ति के मानस-निर्माण के लिए उत्तरदायी हैं। कलाकार का यह व्यक्तित्व ही उसकी अभिव्यक्ति की आधार-भूमि है। वह इसीके अनुरूप चरित्र और वर्ण्य विषय की कल्पना कर सकता है। साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में अगर उसकी कोई मौलिक देन है तो उसका स्वरूप-निर्धारण भी इसीके द्वारा होता है। इसीमें उसके बीज अन्तर्हित रहते हैं। कलाकार अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति द्वारा चिरन्तन रहता है। अपने-आपको अभिव्यक्त करने की भावना मानव की सहजात वृत्ति है। उसका मानसिक जगत् ही उसका अहं नहीं है, अपितु उसमें स्थूल जगत् और उसके जीवन की घटनाओं का भी अन्तर्भाव है। ये घटनाएँ विशेष मानसिक दशाओं की कारण हैं। कुछ घटनाएँ मानव को असाधारण रूप से धीर, वीर अथवा विनम्र बना देती हैं। उस समय की अभिव्यक्ति पर इन भावों की स्पष्ट छाप होती। वे कलाकार को ऐसे वर्ण्य विषयों की कल्पना के लिए प्रेरणा प्रदान करती हैं, जिनमें ये भाव व्यंजित हो सकें। जीवन की कुछ घटनाएँ इतनी मर्मस्पर्शी होती हैं कि उनको जब तक अभिव्यक्ति द्वारा स्थायित्व नहीं मिल जाता, तब तक कलाकार उद्विग्न रहता है। इनकी अभिव्यक्ति से ही उसकी आत्म-तृप्ति होती है। कलाकार के व्यक्तित्व तथा कला-कृति में इस प्रकार पारस्परिक सम्बन्ध का निरूपण मनोवैज्ञानिक आलोचना का कार्य है। पर जीवन

: १४ :

चरितमूलक समीक्षा

साहित्य जीवनकी अभिव्यक्ति है,और यह अभिव्यक्ति व्यक्ति द्वारा ही संभव है, समष्टि द्वारा नहीं। समष्टि द्वारा साहित्य-सृजन का कोई प्रभाव इतिहास में उपलब्ध नहीं है और साहित्य की मूल प्रकृति पर विचार कर लेने पर इसकी असंभवता भी स्पष्ट हो जाती है। साहित्य सामूहिक चेतना को अभिव्यक्ति है, इसे तो कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। उसके विषय और अनुभूति लोक-सामान्य के होने चाहिएँ और होते ही हैं, इसका खंडन नहीं किया जा सकता। पर इसके साथ ही यह भी मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि यह सामूहिक चेतना, लोक-सामान्य भाव और समष्टिगत जीवन-साहित्य में केवल व्यक्ति के माध्यम से ही आ सकते हैं। समष्टि का सीधा प्रतिबिम्ब साहित्य नहीं है। व्यक्ति पहले सामूहिक चेतना को स्वयं ग्रहण करता है और फिर उसे अभिव्यक्त करता है। इस क्रिया में उसके व्यक्तित्व का महत्त्व अत्यन्त स्पष्ट है। सबकी तरह कलाकार के व्यक्तित्व का एक अंश ऐसा होता है जिसको उसके व्यक्तित्व की आत्मा कहना पड़ता है। वह अंश संस्कारों का समूह-मात्र नहीं है, पर संस्कारों को ग्रहण करने की आधार-भूमि भी है। वह जगत् को अपने अनुरूप बनाकर ही ग्रहण करता है। जगत् और उसकी प्रतिक्रिया के संस्कारों में अन्विति स्थापित करना भी उसीका कार्य है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का जगत्-सम्बन्धी ज्ञान वस्तुतन्त्रात्मक कम और वैयक्तिक अधिक होता है। उसकी अभिव्यक्ति तो और भी वैयक्तिक हो जाती है। अभिव्यक्ति चाहे किसी भी माध्यम से हो, उस पर व्यक्तित्व के प्रधान अंश का ही अधिक नियन्त्रण रहता है। इसीलिए आचार्य काव्य को जगत् से भिन्न स्वतन्त्र अस्तित्व की वस्तु मानते हैं। लोक-साहित्य के सम्बन्ध में एक धारणा यह बनी हुई है कि यह व्यक्ति द्वारा नहीं अपितु समष्टि द्वारा निर्मित है। यह ज्ञान ठीक है, पर इसका भी उपर्युक्त सिद्धान्त से वास्तविक विरोध नहीं है। यह तो केवल आपाततः प्रतीत होता है। लोक-साहित्य की परम्परा मौखिक

है, जो शैली अपनाता है, जिन भावों और विचारों को काव्य में स्थान देता है, विश्व को जो संदेश दे जाता है; उन सबके अन्तस्तल में उनका व्यक्तित्व ही शक्ति-केन्द्र है। एक प्रकार से यह उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। पर इसकी एक सीमा है। कवि का व्यक्तित्व सामूहिक चेतना, सामूहिक भाव अथवा लोक-सामान्य भाव-भूमि के सामंजस्य में ही काव्य के लिए उपादेय है अन्यथा नहीं। कवि के व्यक्तित्व की काव्य के लिए उपादेयता स्वीकार कर लेने का यह तात्पर्य नहीं है कि उसके विकारों को भी काव्य में अभिव्यक्त होने की स्वतन्त्रता प्रदान की जाय। कवि अपने रोने-हँसने को काव्य में स्थान दे सकता है पर केवल सामूहिक चेतना से तदाकार करके ही, मानव-सामान्य के प्रतिनिधि बनाकर ही। काव्य में वैयक्तिकता और निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त सापेक्षिक हैं। कविता न तो पूर्णतः निर्वैयक्तिक हो सकती है और न विशुद्ध रूप से कवि का व्यक्तित्व ही। काव्य में निर्वैयक्तिकता का तात्पर्य केवल अपने निजी योगक्षेम को मानव-सामान्य के योगक्षेम से एकाकार कर देना है। इस सामंजस्य को ध्यान में रखते हुए ही चरितमूलक आलोचना का उपयोग अपेक्षित है। आलोचना को दुराग्रह की कोटि तक पहुँचाकर बात-बात में कवि-जीवन का हू-बहू चित्र देखना काव्य और समीक्षा के विकास में बाधक है।

हिन्दी में चरितमूलक आलोचना का प्रायः अभाव है। समीक्षा के विकास के प्रारम्भिक वर्षों में कवियों के जीवन-चरित उपस्थित किये गए थे। उनमें आलोचना के तत्त्व बहुत कम थे। शुक्ल-पद्धति की आलोचना में भी कवियों के विशद जीवन-चरित लिखे गए, पर उनमें भी चरित और समीक्षा एक दूसरे से विच्छिन्न-से ही रहे। चरित में काव्य की प्रेरणाओं का अनुसन्धान नहीं किया गया। हिन्दी में इस प्रवृत्ति के विकास न होने का एक महत्त्वपूर्ण कारण भारतीय साहित्य और जीवन के दर्शन में निर्वैयक्तिकता और निरंहकारता की की मान्य श्रेष्ठता है। साहित्य-दर्शन में "साधारणीकरण" का सिद्धान्त ही काव्य के वर्ण्य विषय के सम्बन्ध में सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। उसको निरपेक्ष सिद्धान्त के रूप में ग्रहण कर लेने के कारण चिन्तन का विकास भी अवरुद्ध हुआ। लेकिन हिन्दी की स्वच्छन्दतावादी क्रान्ति ने समीक्षा-जगत् के अन्य सिद्धान्तों के समान ही इसकी सापेक्षता स्वीकार करने के लिए भी बाध्य कर दिया। इस प्रकार विचार-स्वातन्त्र्य एवं चिन्तन के लिए विकास के अनेक मार्ग खुल गए। स्वच्छन्दतावादी धारा में चरितमूलक समीक्षा-प्रवृत्ति का भी कुछ विकास हुआ। पर इस शैली के अधिक प्रयास नहीं हुए। समीक्षात्मक निबन्धों में कहीं-कहीं इसका आभास देने की ही प्रवृत्ति रही है। पं० गंगाप्रसाद पाण्डेय

की घटनाओं, विशेष परिस्थितियों और तज्जनित मानसिक अवस्थाओं का कार्यकृति के वर्ण्य-विषय, भाव, शैली आदि के साथ सम्बन्ध-निर्देश चरितमूलक आलोचना का कार्य है। इसमें उन घटनाओं तथा उनके प्रभाव का निर्देश होता है, जो कवि की विशेष रचनाओं के लिए प्रेरणा प्रदान करती हैं। जीवन में घटित महत्त्वपूर्ण घटनाएँ मानव की प्रकृति और स्वभाव का निर्माण करती हैं। इनसे मानव के व्यक्तित्व का विशेष दिशा में विकास होता है। समीक्षक इन घटनाओं और व्यक्तित्व के समन्वित रूप का साहित्य के साथ सम्बन्ध स्थापित करके देखता है। इस दृष्टि से साहित्य की अंत:प्रवृत्तियों का विश्लेषण करता है। इस प्रकार चरितमूलक आलोचना मनोवैज्ञानिक पद्धति की एक सहायक शैली भी कही जा सकती है। इसके द्वारा कलाकार के व्यक्तित्व के विकासमान रूप तथा इसके विकास की प्रेरणाओं का सर्वांगीण अध्ययन हो जाता है। चरितमूलक आलोचना रचना के व्यक्त प्रयोजन को भी स्पष्ट करती है। इस पद्धति का परिचय देते हुए शिपले कहते हैं: "Biographical criticism may establish significant relations between the creator and his work, may indicate the genesis the driving force or the concious purpose of a work of art."[१] मनोवैज्ञानिक पद्धति केवल कवि स्वभाव के तत्वों का निर्देश करती हैं, पर चरितमूलक आलोचना में उन कारणों और घटनाओं पर विचार होता है जिनसे कवि-स्वभाव का निर्माण हुआ है। यह पद्धति यह बतलाती है कि अमुक ग्रन्थ में कवि निराशा और व्यथा के चित्र अधिक क्यों देता है।

विशेष प्रकार की रचनाओं की पृष्ठभूमि में कवि के जीवन की कौन-सी घटना उसे प्रेरणा प्रदान कर रही है। उस घटना का अथवा कवि के जीवन का कितना अंश उसकी कविता में अभिव्यक्त हुआ है, यह अध्ययन बहुत ही रुचिर और आलोचना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पर कभी-कभी आलोचक और कविसीमा का अतिक्रमण कर जाते हैं। काव्य में वर्णित घटनाओं के आधार पर कवि के चरित्र का अनुमान हो जाता है, पर सिद्धान्त को स्थूल रूप से ग्रहण करने पर नहीं। कालिदास के "शिव पार्वती" के सम्भोग शृङ्गार अथवा रीतिकाल के नग्न शृङ्गार के चित्रों के आधार पर कवि को चरित्र-भ्रष्ट अथवा लम्पट कह देना कोई आलोचना नहीं। कवि की अपने ही जीवन की घटनाओं का केवल चित्र कविता नहीं है। कवि अपने जीवन की घटनाओं को काव्य का स्वरूप प्रदान कर देता है। वह जिस वर्ण्य विषय की कल्पना करता

1. Shipley, Dictionary of world Literaturs P. 139.

है, जो शैली अपनाता है, जिन भावों और विचारों को काव्य में स्थान देता है, विश्व को जो संदेश दे जाता है; उन सबके अन्तस्तल में उनका व्यक्तित्व ही शक्ति-केन्द्र है। एक प्रकार से यह उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। पर इसकी एक सीमा है। कवि का व्यक्तित्व सामूहिक चेतना, सामूहिक भाव अथवा लोक-सामान्य भाव-भूमि के सामंजस्य में ही काव्य के लिए उपादेय है अन्यथा नहीं। कवि के व्यक्तित्व की काव्य के लिए उपादेयता स्वीकार कर लेने का यह तात्पर्य नहीं है कि उसके विकारों को भी काव्य में अभिव्यक्त होने की स्वतन्त्रता प्रदान की जाय। कवि अपने रोने-हँसने को काव्य में स्थान दे सकता है पर केवल सामूहिक चेतना से तदाकार करके ही, मानव-सामान्य के प्रतिनिधि बनाकर ही। काव्य में वैयक्तिकता और निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त सापेक्षिक हैं। कविता न तो पूर्णतः निर्वैयक्तिक हो सकती है और न विशुद्ध रूप से कवि का व्यक्तित्व ही। काव्य में निर्वैयक्तिकता का तात्पर्य केवल अपने निजी योगक्षेम को मानव-सामान्य के योगक्षेम से एकाकार कर देना है। इस सामंजस्य को ध्यान में रखते हुए ही चरितमूलक आलोचना का उपयोग अपेक्षित है। आलोचना को दुराग्रह की कोटि तक पहुँचाकर बात-बात में कवि-जीवन का हू-बहू चित्र देखना काव्य और समीक्षा के विकास में बाधक है।

हिन्दी में चरितमूलक आलोचना का प्रायः अभाव है। समीक्षा के विकास के प्रारम्भिक वर्षों में कवियों के जीवन-चरित उपस्थित किये गए थे। उनमें आलोचना के तत्त्व बहुत कम थे। शुक्ल-पद्धति की आलोचना में भी कवियों के विशद जीवन-चरित लिखे गए, पर उनमें भी चरित और समीक्षा एक दूसरे से विच्छिन्न-से ही रहे। चरित में काव्य की प्रेरणाओं का अनुसन्धान नहीं किया गया। हिन्दी में इस प्रवृत्ति के विकास न होने का एक महत्त्वपूर्ण कारण भारतीय साहित्य और जीवन के दर्शन में निर्वैयक्तिकता और निरंहकारता की की मान्य श्रेष्ठता है। साहित्य-दर्शन में "साधारणीकरण" का सिद्धान्त ही काव्य के वर्ण्य विषय के सम्बन्ध में सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। उसको निरपेक्ष सिद्धान्त के रूप में ग्रहण कर लेने के कारण चिन्तन का विकास भी अवरुद्ध हुआ। लेकिन हिन्दी की स्वच्छन्दतावादी क्रान्ति ने समीक्षा-जगत् के अन्य सिद्धान्तों के समान ही इसकी सापेक्षता स्वीकार करने के लिए भी बाध्य कर दिया। इस प्रकार विचार-स्वातन्त्र्य एवं चिन्तन के लिए विकास के अनेक मार्ग खुल गए। स्वच्छन्दतावादी धारा में चरितमूलक समीक्षा-प्रवृत्ति का भी कुछ विकास हुआ। पर इस शैली के अधिक प्रयास नहीं हुए। समीक्षात्मक निबन्धों में कहीं-कहीं इसका आभास देने की ही प्रवृत्ति रही है। पं० गंगाप्रसाद पाण्डेय

का 'महाप्राण निराला' इस पद्धति का प्रौढ़ उदाहरण है। इसमें लेखक ने कवि की जीवनी और कविता को अविच्छिन्न रूप में एक रस करके देखा है। इसमें कवि के जीवन की उन महत्त्वपूर्ण घटनाओं तथा उनके प्रभाव का विश्लेषण है, जिन्होंने कवि के व्यक्तित्व को नई दिशा में मोड़ दिया है और कवि को विशेष प्रकार की भाव-धारा से ओत-प्रोत कविता लिखने के लिए प्रेरणा दी है। लेखक ने अनेक कविताओं के उदाहरणों से उन पर पड़े हुए कवि-जीवन के प्रभाव का निर्देश किया है। अपनी शैली की यह रचना बहुत ही उत्कृष्ट है। हिन्दी में यह नवीन दिशा का स्तुत्य प्रयास है।

पांडेयजी ने साहित्य और व्यक्ति तथा उसके प्रयोजन पर जो विचार प्रकट किये हैं उनसे उनकी सौष्ठववादी धारणा अत्यन्त स्पष्ट है। पांडेय जी के साहित्य-सम्बन्धी कतिपय धारणाओं के संकेत कई स्थानों पर पहले भी हो चुके हैं। वे साहित्य के व्यक्तित्व को ही अभिव्यक्ति मानते हैं। सामूहिक चेतना उसीके माध्यम से व्यक्त की जा सकती है उन्होंने इस सम्बन्ध में प्रगतिवादी दृष्टिकोण का खण्डन किया है।[1] उन्होंने साहित्य और जीवन का सम्बन्ध स्थापित करते हुए उसे जीवन का चित्र माना है, पर यथार्थ नहीं आदर्शात्मक। वे कहते हैं कि जैसे उत्ताप और दवाव से कोयला हीरा वन जाता है उसी तरह साहित्य में भी मानवीय प्रवृत्तियां प्रोज्ज्वल हो उठती हैं।[2] आलोचक के कर्तव्य का निर्देश करते हुए पांडेय जी कहते हैं, : "पहला, साहित्यकार का हृदय कितना व्यापक है और संसार के ऊपर उसका कितना अधिकार है। दूसरा, वह स्थायी रूप में कितना व्यक्त हुआ है, अनुभव का वल उसे कहां तक प्राप्त है और इन दोनों का सामंजस्य उसने किस सीमा तक किया है। साहित्य की विशिष्टता का यही मापदंड है।"[3] इन्हीं धारणाओं को मापदंड मानकर लेखक ने अपनी यह पुस्तक लिखी है। इसमें उन्होंने प्रधानतया कवि की जीवनी और व्यक्तित्व का ही विश्लेषण किया है। वे उनके व्यक्तित्व की महत्ता स्पष्ट कर देना चाहते हैं। पर उन्हें यह भी मान्य है कि कवि के व्यक्तित्व की महत्ता उसकी कविता में ही अभिव्यक्त होती है।[4] उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि निराला जी के जीवन की घटनाएँ उनके स्वभाव और प्रकृति के

---

१. 'महाप्राण निराला', पृष्ठ १-४।
२. वही, पृष्ठ १४।
३. वही, पृष्ठ २०।
४. वही, पृष्ठ २१।

लिए कितनी उत्तरदायी हैं। उन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करते हुए पांडेय जी ने कवि के महान् व्यक्तित्व का विश्लेषण किया है। इसमें उनको निरालाजी की कविता पर भी स्थान-स्थान पर विचार करना पड़ा है। उन्होंने कविताओं में निरालाजी के जीवन का प्रतिबिम्ब स्पष्ट किया है। उनके जीवन की विभिन्न घटनाएँ कविता में किस प्रकार चिरन्तन हो गई हैं, इसके भी निर्देश हैं : "पंतजी की मां का भी, जब वे केवल ६ माह के थे, स्वर्गवास हो गया था। निराला और पन्त के काव्य में इन अप्रत्याशित दुर्घटनाओं का बहुत प्रभाव परिलक्षित होता है।··· निराला को माँ के स्नेह-संसार का कुछ अंश मिला है। जब कि पंतजी इस ममता से एकदम अबोध हैं। स्वभावतः निराला का दृष्टिकोण नारी के प्रति एक दार्शनिक की अतृप्ति का भाव लिये हुए है तो पन्त उसके प्रति केवल आश्चर्य का भाव रखते हैं। जहाँ नारी का बोध निराला को करुणा के रूप में हुआ है वहाँ पन्त को केवल उसकी कल्पना की रहस्यमयता ही अधिक मिली।"[1] लेखक ने इन दोनों महाकवियों की दो कविताओं को उद्धृत करके उनकी नारी-भावनाओं को उनके जीवन के आलोक में स्पष्ट किया है। निराला को पत्नी-प्रेम का अवसर मिला है, इसलिए उनका नारी-दर्शन अधिक सूक्ष्म और स्वरूप है। पर पंतजी भावी पत्नी की कल्पना ही करते रहे इसलिए उनके नारी के रूप में कमनीयता और वासना है। इस प्रकार पांडेय जी ने इन कवियों के जीवन से उनके जीवन-दर्शन और जीवन-सम्बन्धी धारणाओं का सम्बन्ध स्थापित किया है तथा यह भी दिखाया है कि ये उनकी कविताओं में किस प्रकार अभिव्यक्त हुई हैं। उन्होंने काव्य-सृजन की उन प्रेरणाओं को भी स्पष्ट किया है जो उन्हें अपने जीवन से ही प्राप्त हुई हैं। निरालाजी ने अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद एक गीत लिखा जिससे उनका प्रणय अमर हो गया।[2] पांडेयजी 'सरोज-स्मृति' को हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ दुःखान्त कविता (एलिजी) मानते हैं। निराला जी ने अपनी पुत्री की मृत्यु के बाद उसकी स्मृति में यह कविता लिखी थी। उसके जीवन की नई झाँकियाँ हैं। इसमें उन्होंने अपनी पत्नी की करुण स्मृति का भी एक चित्र खींचा है। कवि अपनी मानसिक दशा का तो चित्र देता ही है, इसके साथ ही वह कभी-कभी अपने निराश और श्रान्त जीवन में फिर से आत्म विश्वास भी कविता के सहारे ही जाग्रत करता है। इस प्रकार कविता केवल जगत् को प्रेरणा, शक्ति

---

१. 'महाप्राण निराला', पृष्ठ २४।

२. वही, पृष्ठ ३२ - ३३।

देने वाली नहीं है, अपितु कवि भी उससे प्रेरणा ग्रहण करता है। निराला जी ने भी अपने जीवन की घोर निराशा में अपनी ही कविता से धैर्य और आत्म-विश्वास को दृढ़ किया है। अपने जीवन की मर्मस्पर्शी घटनाओं के चित्रों को उपस्थित करके हृदय हल्का कर लेता है। इसमें अभिव्यक्ति का रेचन है। अपनी प्रिय विचार-धारा और भाव-धारा के प्रश्रय में उससे आत्म-प्रकाशन का आनन्द मिलता है। पर कवि नवीन जीवन-स्फूर्ति प्राप्त करने के लिए भी कविता करता है। चरितमूलक समीक्षा काव्य के इन सभी प्रयोजनों को आलोकित करती है। पांडेयजी ने निराला जी पर इन सभी दृष्टियों से विचार किया है।[१]

प्रस्तुत पुस्तक निराला जी के व्यक्तित्व का विश्लेषण है। लेकिन कवि का व्यक्तित्व कविता से ही सबसे अधिक व्यक्त होता है इसलिए लेखक ने आलोच्य कवि की भी पर्याप्त आलोचना की है। इसमें चरितमूलक आलोचना के प्रायः सभी स्वरूपों के दर्शन हो जाते हैं। कवि के जीवन की घटनाएँ किस प्रकार काव्य बन गईं, उन घटनाओं ने कवि के व्यक्तित्व का किस प्रकार निर्माण किया और वह व्यक्तित्व उनकी कविता में अभिव्यक्त विचारों और भावों में कितना और कैसा स्पष्ट झलकता है, रचना के स्वरूप-निर्माण में कवि का जीवन कितना उत्तरदायी है आदि अनेक प्रश्नों पर पांडेयजी ने विचार किया है। लेखक बीच-बीच में कवि के व्यक्तित्व का संश्लिष्ट चित्र उपस्थित करते गए हैं। तथा उसके निर्णायक सामाजिक, राजनीतिक और वैयक्तिक कारणों पर भी विचार करते गए हैं। इन विभिन्न परिस्थितियों में अनेक आघातों के फलस्वरूप विकासमान व्यक्तित्व का स्पष्टीकरण ही इस आलोचना का प्रधान उद्देश्य है। इसमें लेखक ने अनुभूति, बौद्धिकता, शैली और भाषा पर भी विचार किया है। कहीं-कहीं पंतजी और निरालाजी के व्यक्तित्व और कविता की तुलना भी की गई है। काव्य-सौष्ठव के अनुभूति-मय विश्लेषण के साथ ही लेखक ने समीक्षा की मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक शैलियों का भी उपयोग किया है, मनोवैज्ञानिक समीक्षा के अत्यन्त प्रौढ़ रूप के दर्शन होते हैं। व्यक्तित्व का मनोविज्ञान के आधार पर शास्त्रीय विश्लेषण है। पांडेय जी ऐतिहासिक समीक्षा का भी प्रसंगानुकूल अनेक स्थानों पर हल्का-सा आभास देते गए हैं। लेखक का प्रधान उद्देश्य निरालाजी की जीवनी के आलोक में उनके व्यक्तित्व की महत्ता का दिग्दर्शन है। उनकी

१. 'महाप्राण निराला', पृष्ठ ७७।

कविता पर विचार करते समय इन शैलियों का हल्का-सा आभास ही अपेक्षित और संभव था। हिन्दी में यह पुस्तक अपनी शैली का नवीन और श्लाघनीय प्रयास है। पांडेय जी ने इस शैली का सूत्रपात ही बहुत प्रौढ़ रचना से किया है इसलिए इसका भविष्य सुन्दर और आशामय है।

: १५ :

ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धति

कलाकार के व्यक्तित्व, उसकी प्रकृति तथा जीवन-चरित्र से कला-कृति का अभिन्न एवं अच्छेद्य सम्बन्ध का प्रतिपादन पहले हो चुका है। कला में इनका स्पष्ट प्रतिबिम्ब रहता है। प्रकृति, स्वभाव, रुचि, शील आदि सभी कुछ व्यक्तित्व में अन्तर्भूत है, संश्लिष्ट रूप में एक शब्द में व्यक्तित्व द्वारा इन सबका बोध हो जाता है, इसलिए संक्षेप में कला को कलाकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति कहना किसी प्रकार भी अनुचित नहीं है। चिन्तन के इसी मार्ग का अवलम्बन करके अगर कुछ दूर और आगे बढ़ा जाय तो यह भी स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तित्व भी कोई नितान्त निरपेक्ष वस्तु नहीं है। उसका बहुत-कुछ निर्माण परिवृत्तियों द्वारा ही होता है। परिवृत्ति के प्रभावों की संस्कार-समष्टि का नाम ही व्यक्तित्व है। इसमें उस आधार-शिला का भी अन्तर्भाव है, जिन पर ये प्रभाव अंकित होते हैं अथवा आधारित रहते हैं। पर परिवृत्ति के इन संस्कारों के महत्त्व को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। इस प्रकार साहित्य का तत्कालीन परिस्थितियों से भी अभिन्न सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। व्यक्तित्व का उपकरण तथा निर्णायक तत्त्व होने के कारण परिवृत्ति का सम्बन्ध साहित्य से स्पष्ट है। पर यह सम्बन्ध सीधा न होकर परोक्ष ही है। इतना ही नहीं कलाकार के व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति का आश्रय भी अपनी परिवृत्ति में ही मिलता है। अपने काव्य के वर्ण्य-विषयों के संकलन के लिए वह अपने युग और परिवृत्ति का मुखापेक्षी है। उसकी सृजनात्मक प्रेरणा भी उसकी परिवृत्ति में ही अन्तर्हित है। इस सारे विवेचन का तात्पर्य यह है कि साहित्य और समाज का एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। युग का साहित्य पर बहुत अधिक नियंत्रण रहता है। वह उसे केवल सामग्री ही नहीं प्रदान करता, अपितु युग की चेतना साहित्य का दिशा-निर्देश भी करती है। 'साहित्य समाज का दर्पण है' का यही रहस्य है। यही कारण है कि एक युग, देश और जाति के साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों और कलाकारों में पारस्परिक पर्याप्त वैषम्य होते हुए भी

एक महत्त्वपूर्ण एकसूत्रता होती है, एक साम्य होता है। यह साम्य, और एक-सूत्रता उनके महत्त्वपूर्ण अंश हैं। इससे सिद्ध है कि प्रत्येक युग की चेतना का एक निश्चित स्वरूप होता है और कलाकार उससे पूर्णतः मुक्त नहीं हो सकता। युग-चेतना एक सीमा निर्धारित कर देती है, और कवि उस सीमा का अति-क्रमण नहीं कर पाता है। विभिन्न देशों, जातियों और युगों के साहित्यके अध्य-यन ने साहित्य और परिवृत्ति के इस सम्बन्ध को स्पष्ट कर दिया है। साहित्य के इतिहास का तो यह मूल आधार ही है।

साहित्य और युग का यही सम्बन्ध साहित्य के अध्ययन की ऐतिहासिक शैली का आधार है। प्रत्येक प्रौढ़ साहित्य में समीक्षा की यह शैली प्रचलित है। अंग्रेजी में सेंट वेव तथा टेन आदि इसके प्रमुख व्यक्ति हैं। हिन्दी में भी इसका पर्याप्त उपयोग हो रहा है। टेन ने अपने अंग्रेजी साहित्य के इतिहास की भूमिका में इस पद्धति के सिद्धान्तों का विशद विवेचन किया है। वे जाति (रेस) परिवृत्ति (सराउंडिंग्स) और युग (Chab) को साहित्य की प्रधान प्रेरणा-शक्ति मानते हैं। इनका सम्पूर्ण साहित्य पर पूर्ण नियन्त्रण है, ऐसा उन्हें मान्य है। प्रत्येक व्यक्ति किसी एक विशेष समुदाय या जाति का एक अंग होता है, उस जाति की विचार-धारा, रहन-सहन, सभ्यता संस्कृति, जीवन-दर्शन आदि की उस पर अमिट छाप होती है। वस्तुतः उसके व्यक्तित्व का महत्त्वपूर्ण अंश उस जाति की ही देन है। इसलिए किसी भी व्यक्ति द्वारा निर्मित साहित्य उसकी जातीय सभ्यता और संस्कृति का स्पष्ट प्रतिबिम्ब होता है। जाति के सामूहिक साहित्य के अन्तस्तल में जातीयता की धारा प्रवाहित होती रहती है और वही उस साहित्य की प्रमुख प्रेरक शक्ति है। दूसरा तत्त्व है परिवृत्ति। इसमें भौगोलिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि सभी प्रकार की परिस्थितियों का अन्तर्भाव हैं। ये सभी वस्तुएँ साहित्य को प्रभावित करती हैं। एक देश के साहित्य की दूसरे देश के साहित्य से तथा एक जाति के साहित्य की दूसरे साहित्य से भिन्नता इन दोनों तत्त्वों के प्रभाव को स्पष्ट कर रही है। भारत और यूरोप के साहित्य का भौगोलिक अन्तर इसी जातीयता और परिवृत्ति पर अवलम्बित है। एक ही जाति के दो भिन्न परिस्थितियों में रहने वाले व्यक्तियों के साहित्यों में भी पर्याप्त अन्तर रहता है। इन सब उदाहरणों से ऊपर के सिद्धान्त का समर्थन हो जाता है। प्रत्येक वस्तु, प्रत्यय और विचार-धारा निरन्तर परिवर्तनशील और प्रवहमान है। एक शताब्दी पूर्व की विचार-धारा आज ठीक वैसी ही नहीं रह गई है। जीवन स्थिर नहीं गतिशील है। गति ही जीवन का लक्षण है। यही उसका

प्रमाण है। जीवन के साथ प्रत्येक वस्तु भी चिर-परिवर्तनशील है, टेन का युग से वही तात्पर्य है। वे यह मानते हैं कि युग-चेतना चिर विकासशील है। वह अपने साथ पूर्व युग के संस्कारों को लेकर आगे बढ़ती रहती है। नदी के प्रवाह की तरह उसमें एकसूत्रता है, पर स्थैर्य नहीं। इसीलिए एक युग का महाकाव्य अथवा नाटक दूसरे युग के महाकाव्य और नाटक से बहुत-कुछ भिन्न होता है। रत्नाकर जी व्रजभाषा-काव्य की परम्परा के कवि हैं, पर वे रीतिकालीन कवियों से स्पष्टतः भिन्न हैं। आज का मुक्तक साहित्य भक्ति-काल के मुक्तक के अनुरूप नहीं हो सकता। इसीको साहित्य पर युग-चेतना का प्रभाव कहते हैं। यही कारण है कि टेन जाति, परिवृत्ति और युग-चेतना को साहित्य की प्रधान प्रेरणाएँ मानते हैं। दर्शन की पदावली में यह कहना भी अनुचित नहीं है कि उनकी दृष्टि में ये साहित्य के निमित्त और उपादान दोनों कारण हैं। साहित्य के अध्ययन और मूल्यांकन के पूर्व इन तीनों का उपयुक्त ज्ञान आवश्यक है। साहित्य की कोई भी कृति अपने युग, परिवृत्ति और जातीयता से पृथक् करके नहीं देखी जा सकती। हडसन ने इसी प्रेरणा-शक्ति को जाति और युग के नाम से दो प्रमुख स्वरूपों में विभाजित किया है।[१] इन दोनों में परिवृत्ति का भी अन्तर्भाव हो जाता है। प्रत्येक कला-कृति एक राष्ट्र के विशेष युग की अवस्थाओं का सहज परिणाम-मात्र है वह इसका प्रतिबिम्ब है। इसीको स्पष्ट करते हुए हडसन कहते हैं: "A" nation's litrature is not a miscellaneous collection of books which happend to have been wriitren in the same tongue or within a certain Geographical area. It is the progressive relation, age by age of such nations and character."[२]

एक अन्य स्थान पर हडसन साहित्य को युग की मूल चेतना और आदर्शों की अभिव्यक्ति मानते हैं।[3] टेन ने तो साहित्य के व्यष्टि रूप को भी इन्हीं तीन प्रेरणाओं का परिणाम मान लिया है। वे कहते हैं: "It was percieved that a work of Literature is not a mere play of imagination, a solitary caprice of a heated broin, but a transcript of contempery manners,a type of a certain kind of mind."[४] वे मानते हैं कि कला-कृति के वर्ण्य-विषय, भाव, भाषा, शैली, विचार-धारा आदि सभी कुछ

1. 'An Introduction to the study of literature' Page 31-34.
2. Ibid page 33.
3. Ibid page 33.
4. Taine :'Histoy of Englisgh Literature', Introduction page 1.

उस युग की देन हैं। वे उस युग की अवस्थाओं के स्वाभाविक परिणाम हैं। प्रसिद्ध मार्क्सवादी समालोचक एडवर्ड अपवर्ड लिखते हैं: "साहित्य मानव-समाज और प्रकृति-समन्वित सतत परिवर्तनशील पदार्थ-जगत् से उद्भूत वस्तु है और उसे प्रतिबिम्बित करता है। कवि की उपमा-उत्प्रेक्षाएँ और औपन्यासिक पात्र उसके निरे दिमाग की उपज नहीं होते, बल्कि उसके चारों ओर के संसार से निर्दिष्ट होते हैं।"[1] मार्क्सवादी साहित्य और समाज के अच्छे सम्बन्ध हैं। यह सम्प्रदाय ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धति का ही विशेष आर्थिक नीति और दर्शन के आधार पर विकसित रूप है। कला-कृति से निर्माण-काल की परिस्थितियों और जातीय चेतना का अनुमान तथा साहित्य पर जातीयता एवं युग-चेतना के नियन्त्रण का अध्ययन समीक्षा के ये दोनों प्रकार ही ऐतिहासिक समीक्षा में अन्तर्भूत हैं। ऐतिहासिक समालोचक किसी भी कलाकार या कला-कृति को युग की धारा से विच्छिन्न करके नहीं देखना चाहता। वह उन प्रेरणाओं का अनुसन्धान करता है, जिनका सहज और स्वाभाविक परिणाम वह कला-कृति है। साहित्य और संस्कृति की अविरल धारा में रखकर उसके वर्ण्य विषय, विचार-धारा, भाव-भाषा, शैली आदि के स्वरूप का अध्ययन तथा मूल्यांकन करना ही इस समीक्षक का प्रधान उद्देश्य है। ऐतिहासिक समीक्षक युग-चेतना के प्रभावों के साथ ही यह भी अध्ययन करता है कि किसी कला-कृति ने जाति के साहित्यिक और सांस्कृतिक विकास में कितना सहयोग प्रदान किया है। साहित्य के मूल्यांकन का वास्तविक मान तो वह इसे ही मानता है। विशेषतः साहित्य के समष्टिगत रूप के अध्ययन के लिए तो यह प्रक्रिया अत्यन्त उपयोगी है। इससे राष्ट्र और युग की सांस्कृतिक एकता भी सुस्पष्ट हो जाती है। एक कला-कृति को साहित्य की अविरल धारा में रखकर देखने से उसके महत्त्व का भी ज्ञान हो जाता है। किसी भी कलाकार अथवा कला-कृति को युग और जाति से विच्छिन्न करके देखना तो उसको विकलांग करके उसका मूल्यांकन करना है। पर इस समीक्षा के सिद्धान्तों को ही एक-मात्र सत्य मानने वाले साहित्यमें व्यक्ति के महत्त्व की उपेक्षा करते हैं। कलाकार का व्यक्तित्व पूर्णतः परिवृत्ति का ही परिणाम नहीं है। उसका एक अंश ऐसा भी होता है जो बाह्य जगत् की वस्तुओं और प्रत्ययों को अपने अनुरूप बनाना चाहता है। प्रत्येक व्यक्ति जगत् पर अपनी भावनाओं का आवरण चढ़ाकर उसको ग्रहण करता है। जगत् के विशुद्ध व्यक्तित्व के आरोप से

---

१. 'साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या': 'हंस-प्रगति अंक' फरवरी-मार्च १९४३।

निर्लिप्त स्वरूप का ज्ञान सम्भव नहीं। जिन कलाकारों का व्यक्तित्व केवल समाज का उपयोग-मात्र है, वह साहित्यकार समाज का उपभोक्ता है, निर्मायक नहीं। ऐसा साहित्य समाज के लिए केवल दर्पण का ही कार्य करता है। उसका पथ-प्रदर्शन नहीं करता। समाज में क्रान्ति उपस्थित करने तथा नूतन निर्माण की क्षमता ऐसे साहित्य में नहीं हो सकती। ऐसा साहित्य समाज के परम्परागत रूप की रक्षा और स्थिति का हेतु है, विकास का कारण नहीं। संस्कृति को विकास की ओर लेजाने वाला साहित्य केवल युग, राष्ट्र और परिवृत्ति का सहज परिणाम नहीं होता। उसकी प्रधान प्रेरणा-शक्ति कलाकार की प्रतिभा ही होती है। प्रतिभावान कलाकार युग का अनुगमन नहीं करता, वह तो युग का अनुगामी होता है। वह परम्परागत मार्ग का ही अवलम्बन नहीं करता, अपितु मानवता के विकास के नूतन मार्गो का भी अनुसन्धान करता है। अगर रूढ़ि के खंडन की आवश्यकता होती है तो वह भी करता है। साहित्य मानव के विकास को प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों के बल पर ही शक्ति और प्रेरणा प्रदान कर सकता है। प्रतिभाशाली ही उसके विकास की नवीन दिशाएँ दिखाता है। प्रतिभाओं के अभाव में तो साहित्य, समाज और संस्कृति पूर्णतः स्थिर हो जाते है और कालान्तर में वे दूषित होकर दुर्गन्ध भी देने लगते हैं। हिन्दी का रीति-काल कुछ ऐसे ही स्थैर्य का आभास देता है। ऐतिहासिक तत्वों के साथ ही कलाकार के व्यक्तित्व के महत्त्व को स्वीकार करने से ही समीक्षा प्रकृत मार्ग का अवलम्बन करके प्रौढ़ और विकसित होती है। कलाकार के व्यक्तित्व की नितान्त अवहेलना करने से तो साहित्य, समीक्षा और साहित्य केवल इतिहास-लेखन की सामग्री-मात्र हो जायगा। शिला-लेखोंकी तरह साहित्य भी इतिहास-के तथ्यों का प्रमाण-मात्र हो जायगा उसका पृथक् सांस्कृतिक महत्त्व कुछ भी नहीं रहेगा। प्रत्येक कला-कृति की प्रेरणा के दो प्रधान स्रोत होते है, कलाकार का व्यक्तित्व और युग-चेतना। ये दोनों भी एक दूसरे को प्रभावित करते रहते है। कलाकार के व्यक्तित्व का बहुत-सा अंश युग-चेतना का परिणाम और निर्मायक दोनों है। इसीलिए समीक्षा की सर्वांगीणता के लिए इन दोनों का सामंजस्य ही अपेक्षित है। साहित्य में युग-चेतना अथवा सामूहिक भाव की अभिव्यक्ति कलाकार के व्यक्तित्व के माध्यम से ही होती है। इसलिए साहित्य में ऐतिहासिक और सामूहिक जीवन के तत्वों की अपेक्षा कलाकार के व्यक्तित्व का ही महत्त्व अधिक है। साहित्य और व्यक्तित्व के सम्बन्ध पर विशद विवेचन चरित्रमूलक समीक्षा तथा अन्य कई प्रसंगों में हो चुका है।

किसी भी प्रौढ़ साहित्य-समीक्षा की शैलियोंमें ऐतिहासिक समीक्षा का प्रमुख

स्थान अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हिन्दी में साहित्य-समीक्षा बहुत ही अर्वाचीन है। यह विधा अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही है, पर विकास की शक्ति से गर्भित है, इसका भी स्पष्ट आभास मिल रहा है। आधुनिक समीक्षा के आरम्भ से ही ऐतिहासिक समीक्षा के दर्शन होते हैं। स्वयं भारतेन्दुजी ने अपने कतिपय लेखों द्वारा साहित्य के विकास की धारा को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। साहित्य के आधार पर तत्कालीन परिस्थितियों का अनुमान भी किया गया है। उनके परवर्ती काल में ऐतिहासिक विवेचन की प्रवृत्ति का निरन्तर विकास होता रहा है। पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी तथा मिश्र-बन्धुओं ने भी कवियों की रचनाओं से तत्कालीन अवस्थाओं का अनुमान किया है। उन पर विचार करते हुए इसका निर्देश किया जा चुका है। लेकिन कवियों को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रखकर विचार करने के प्रथम वैज्ञानिक प्रयास के दर्शन शुक्लजी की समीक्षा में ही होते हैं। उन्होंने अपने प्रारम्भिक लेखों में ही ऐतिहासिक शैली को अपना लिया था। प्रेमघन जी की 'आनन्द-कादम्बिनी' में ही उन्होंने भाषा-शैली के विकास के आधार पर हिन्दी-साहित्य के क्रमिक विकास का थोड़ा-सा आभास दिया था।[1] ऐतिहासिक विवेचन की इस प्रवृत्ति में उन्होंने राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक अवस्थाओं का निर्देश करके तुलसी और सूर की कविताओं को उन परिस्थितियों का स्वाभाविक परिणाम बतलाया है और इन कवियोंका सांस्कृतिक पुनर्जागरण की दृष्टि से भी महत्त्व आंका है। शुक्ल जी के इस विवेचन से समीक्षा की ऐतिहासिक शैली केवल तत्कालीन परिस्थितियों के प्रासंगिक संकेत तक ही सीमित नहीं रह गई अपितु वह साहित्य-समीक्षा का एक अनिवार्य तत्त्व हो गई। परवर्ती काल के प्रायः सभी आलोचकों ने इस शैली का उपयोग किया है। पर शुक्लजी की ऐतिहासिक दृष्टि साहित्य की अविरल और अविच्छिन्न धारा को नहीं देख सकी। उन्होंने कवियों को साहित्य की धारा में रखकर नहीं देखा। उनका ऐतिहासिक विवेचन चित्र की पृष्ठभूमि का ही कार्य कर सका, जिससे आलोच्य कवियों की विशेषताएँ कुछ अधिक प्रभावोत्पादक प्रतीत होने लगीं। यह विवेचन फोटो की पृष्ठभूमि है जो प्रधान चित्र को प्रभावोत्पादक और सुस्पष्ट करने के लिए आवश्यक होती है। यह उस कलापूर्ण चित्र की पृष्ठभूमि नहीं है, जिसके रंग और रेखाएँ ही गहरी और गुरुतर होकर चित्र का रूप धारण कर लेती हैं। कहीं-कहीं पृष्ठ-भूमि के रंगों से प्रधान चित्र का अन्तर भी वैषम्य के द्वारा वस्तु को परि-

---

१. ज्येष्ठ से भाद्रपद, सं० १९६४।

स्थितियों के अपवाद स्वरूप बताने तथा अधिक प्रभावोत्पादक बनाने के लिए दिखाया जाता है। शुक्ल जी का भक्ति को निराश हिन्दू-जनता को आश्रय देने की आकांक्षा का परिणाम बतलाना, इसी प्रकार का विवेचन है। भक्ति की अविरल धारा को देखकर उसे केवल सामयिक परिस्थितियों का परिणाम-मात्र कह देना साहित्य के कालों को एक-दूसरे से विच्छिन्न करके देखना है। तुलसी की कविता को तत्कालीन परिस्थिति से प्रसूत मानना भी उसकी परम्परासे अलग करके ही देखना है। शुक्ल जी की इस विचार-धारा और शैलीका अनुकरण बहुत दिनों तक होता रहा। अब भी हिन्दी के कवियों और साहित्य को इसी रूप में देखने की प्रवृत्ति निर्मूल नहीं हो गई है। लेकिन ऐतिहासिक समीक्षा की प्रवृत्ति में शैली के प्रौढ़तर स्वरूप के भी दर्शन होते हैं। 'साहित्य की झाँकी' में भक्ति-काव्य, कृष्ण, राम, प्रेम-कथा, वीर काव्य आदि के स्वरूपों के विकास पर विचार किया गया है। इन निबन्धों में साहित्य की विभिन्न धाराओं और प्रत्ययों के विकासमान रूप का अध्ययन हुआ है। लेखक ने सूर के कृष्ण तथा तुलसी के राम का परम्परा से सम्बन्ध बताया है।[1] इन लेखों में यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि वैदिक काल से तुलसी और सूर तक विष्णु किन अवस्थाओं को पार करके पहुँचा है और हिन्दी के इन महाकवियों ने इनके किस स्वरूप को ग्रहण किया है। लेखक शृङ्गार रस का चित्रण भी तत्कालीन परिस्थितियों का परिणाम नहीं मानते। उनका कहना है कि यह अकबर के राजत्व-काल की देन अथवा सूर या नन्ददास की कृति नहीं है। इसकी परम्परा बहुत प्राचीन है।[2] भूषण के विवेचन में तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक परिस्थितियों का भी विवेचन है। भूषण पर इन परिस्थितियों का प्रभाव दिखाया गया है। यहाँ पर लेखक शुक्लजी की शैली का अनुकरण करते प्रतीत होते हैं। "रावण" में मुगल-सम्राट् के अत्याचारों के दर्शन भी ऐतिहासिक दृष्टिकोण ही है। कवि को (तुलसी को) रावण के तत्कालीन अत्याचारों के चित्रण से अवश्य प्रेरणा मिली होगी। यह पुस्तिका बहुत पहले ही (सन् ३० के पूर्व ही) की प्रकाशित है। यह ऐतिहासिक समीक्षा-शैली का आभास देती है। ये निबन्ध हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में इतिहास-सम्बन्धी कतिपय भ्रान्तियों के निराकरण के लिए लिखे गए प्रतीत होते हैं। इनमें इस समीक्षा-पद्धति के स्वरूप का प्रारम्भिक

---

१. 'साहित्य की झाँकी', पृष्ठ ६६।

२. वही, पृष्ठ १७१ :

आभास ही मिलता है, सर्वांगीणता के दर्शन नहीं होते। साहित्य की धाराओं और प्रत्ययों की निर्वाध विकास-परम्परा, विशेष युग के साहित्य से तत्कालीन परिस्थितियों का सम्बन्ध, साहित्य के विशेष युग और कवि की सांस्कृतिक और साहित्य की विकासमान परम्परा की देन आदि कतिपय महत्त्वपूर्ण विषय अस्पृष्ट हैं। शुक्ल-पद्धति के आलोचकों में पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने ऐतिहासिक समीक्षा-शैली का बहुत सुन्दर उपयोग किया है। उनकी प्रवृत्ति भी साहित्य को अविच्छिन्न धारा के रूप में देखने की है। 'भूषण-ग्रन्थावली' की भूमिका में उन्होंने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का विशद निरूपण किया है।

ऊपर ऐतिहासिक समीक्षा-शैली के जिन तत्त्वों पर विचार हुआ है, वे साहित्य की मूलभूत प्रेरणाएँ हैं। ऐतिहासिक समालोचक के लिए उन दृष्टियों से विचार करना अनिवार्य-सा हो जाता है। हजारीप्रसाद जी द्विवेदी की शैली प्रारम्भ से ही ऐसी रही है। वे साहित्य को एक अविच्छिन्न धारा के रूप में ही देखना चाहते हैं। प्रत्येक कलाकार और कला-कृति एक अविरल धारा का कोई विशिष्ट अंश तथा उस धारा को आगे बढ़ाने का कारण भी है। द्विवेदी जी के आलोचक रूप का विकास इस दिशा में ही रहा है। उनकी सूर-सम्बन्धी आलोचना में यह दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट नहीं है, इसीलिए वह 'पुस्तक बहुत-कुछ शुक्ल-शैली की है। लेकिन उनका 'कबीर' स्पष्टतः ऐतिहासिक शैली के प्रौढ़ रूप का उदाहरण है। इसमें उन्होंने साहित्य की उपर्युक्त सभी प्रेरणाओं की दृष्टि से कबीर पर विचार किया है। हिन्दी के अंग्रेज आलोचकों ने इसको साहित्य के युग तथा तत्कालीन परिस्थितियोंका सहज परिणाम-मात्र कहा था। भक्ति-काल की प्रौढ़ रचना के मूल में मुगल दरबारकी प्रेरणाएँ हैं, ऐसी कुछ दृढ़ धारणा इन आलोचकों ने कर दी थी। ग्रियर्सन और के दोनों की यही धारणा थी।[1] हिन्दी-साहित्य के परवर्ती विद्वानोंकी धारणा भी इसी आधार पर बनी। वे सूर, तुलसी आदि को तत्कालीन राजनीतिक अवस्थाओं की ही उपज मानने लगे। इससे हिन्दी की लम्बी परम्परा उपेक्षित हो गई। हिन्दी-साहित्य का उसकी पूर्ववर्ती परम्परा से सम्बन्ध स्थापित करने की आकांक्षा ने ही आलोचकों को ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपनाने के लिए बाध्य किया था। डॉ० सत्येन्द्र के कतिपय लेखों पर विचार करते हुए हमने देखा है कि वे कुछ परम्परा-सम्बन्धी भ्रान्तियों का निराकरण करने के लिए लिखे गए हैं। द्विवेदी जी ने हिन्दी-साहित्य-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण भ्रान्तियों का निराकरण किया है। उन्होंने हिन्दी की

---

१. के : 'हिस्ट्री ऑफ हिन्दी लिटरेचर', पृष्ठ ३४-३५।

है। इनके अतिरिक्त साहित्य की विशेष धारा को निश्चित स्वरूप प्रदान करने की तीसरी प्रबल शक्ति है तत्कालीन अवस्था अर्थात् परिवृत्ति। द्विवेदी जी ने इस पर भी विचार किया है। वाह्याचार और जाति पाँति के खंडन की प्रवृत्ति अत्यन्त प्राचीन थी। कबीर के वहुत पहले से ही यह विचार-धारा पर्याप्त प्रबल होती जा रही थी, पर इसके प्रभावोत्पादक स्वरूप के दर्शन कबीर में ही होते हैं। द्विवेदी जी निःसंकोच इसे राजनीतिक अवस्थाओं का परिणाम स्वीकार करते हैं। मुसलमानों के आगमन के कारण हिन्दू-धर्म को एक विचित्र 'मजहब' का सामना करना पड़ा। उसके कारण से हिन्दू-धर्म की समन्वयवादी बुद्धि कुण्ठित हो गई और वह व्यक्तिगत चारित्र्य-प्रधान धर्म के स्थान पर आचार-प्रबल अधिक होता गया।[1] इस प्रकार राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों ने कबीर आदि सन्त मत के कवियों को लोकप्रिय होने में सहायता दी है।[2] इस विवेचन का एक-मात्र तात्पर्य द्विवेदी जी की ऐतिहासिक समीक्षा की सर्वांगीणता और प्रौढ़ता को स्पष्ट करना है।

द्विवेदी जी मूल्यवादी समीक्षक हैं। वे साहित्य का उद्देश्य केवल सौन्दर्यानुभूति-जनित आह्लाद नहीं मानते। वे साहित्य को मानव के आत्यन्तिक हित का साधन स्वीकार करते हैं। साहित्य का कार्य विश्व को उदार और स्निग्ध बनाना है। शक्तिशाली को सहृदय और सच्चरित्र बनाने में ही विश्व का कल्याण है और यह उत्तरदायित्व साहित्य का ही है। द्विवेदी जी साहित्य द्वारा ऐसे समाज का निर्माण कराना चाहते हैं जिसमें पारस्परिक घृणा और ग्लानि की भावना न हो। मानव एक-दूसरे का मुखापेक्षी न होकर पूर्णतः आत्म निर्भर हो सके। साहित्य का कार्य मानव को सब प्रकार के कुसंस्कारों से बचाना और उसमें आत्मबल का संचार करना है। द्विवेदी जी साहित्य के उत्कर्षापकर्ष का मानदंड ही मानव का हित-साधन मानते हैं।[3] इस प्रकार द्विवेदी जी के मूल्यवादी दृष्टिकोण में मानव का वैयक्तिक सुधार, उसे सच्चरित्र, सहृदय और उदार बनाना और एक आदर्श-समाज का निर्माण दोनों ही अन्तर्भूत हैं। द्विवेदी जी की आदर्श समाज की कल्पना भी सब प्रकार के शोषण, ग्लानि और कुसंस्कारों से मुक्त समाज की कल्पना है। लेकिन उनका

१. 'कबीर', भारतीय धर्म साधना में कबीर का स्थान।
२. 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका', पृष्ठ ४३।
३. 'अशोक के फूल', के 'साहित्यकार का दायित्व 'तथा' मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' दो लेख।

यह दृष्टिकोण साम्प्रदायिक अर्थ में प्रगतिवादी नहीं कहा जा सकता। अगर किसी काल में परम्परा देखने का आग्रह ही हो तो इसे परम्परावादी अधिक कह सकते हैं। शुक्लजी के व्यक्ति-प्रधान मूल्यवादी दृष्टिकोण से हिन्दी-साहित्य-समीक्षा सांस्कृतिक मूल्यों की ओर अग्रसर हुई है। यही उसके विकास का मार्ग है। इसके दो प्रधान मार्ग आज स्पष्ट हैं और उनको मार्गों की पारिभाषिक शब्दावली में मार्क्सवादी और गांधीवादी कह सकते हैं। इनमें से दूसरा स्वभावतः ही वैयक्तिक सुधार को अपना साधन मानने के कारण शुक्लजी के दृष्टिकोण को भी कुछ-कुछ अपना लेता है। द्विवेदी जी की यही स्थिति है। मार्क्सवादी समीक्षकों को छोड़कर प्रायः शेष सभी आलोचकों के सम्बन्ध में यह सत्य है। द्विवेदी जी ऐतिहासिक समीक्षा-शैली को इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। वे साहित्य के अध्ययन को साध्य नहीं अपितु मानव-जीवन की जटिल समस्याओं को समझने का साधन मानते हैं। प्राचीन कवियों का अध्ययन भी इसी दृष्टि से आवश्यक है। द्विवेदी जी कहते हैं: "उनके अध्ययन से हम केवल एक ही फायदा उठा सकते हैं। वह यह कि उनको पढ़कर इनका क्रमबद्ध विकास देखकर हम अपनी नित्य-प्रति की उन समस्याओं का असली कारण और स्वरूप समझ सकते हैं जो हमें रोज ही जूझने को ललकारता रहता है।"[1] इससे स्पष्ट है कि साहित्यिक परम्परा का अध्ययन सांस्कृतिक विकास के अध्ययन का साधन है। द्विवेदीजी इन दोनों को समानान्तर रखकर ही अध्ययन करने के समर्थक नहीं हैं वे इन दोनों का पारस्परिक घात-प्रतिघात एवं पारस्परिक प्रभाव भी स्पष्ट जान लेना चाहते हैं। ऐतिहासिक समीक्षा का मुख्य उद्देश्य यह दिखाना है कि साहित्य की प्रगति ने मानव के विकास में क्या सहयोग दिया है। द्विवेदी जी की समीक्षा इसी ओर उन्मुख है। हिन्दी में इस समीक्षा-शैली को अपनाकर संस्कृति और साहित्य के युगपत् अध्ययन की प्रवृत्ति का विकास हो रहा है। इसकी समीक्षा की मानदंड-सम्बन्धी धारणा समन्वयवादी दृष्टिकोण को प्रोत्साहन दे रही है।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि साहित्य जन-समुदाय की संस्कृति का मार्ग-निर्देश अपनी प्रतिभाओं द्वारा ही कर सकता है। अगर किसी युग में परम्परा को लेकर चलने वाले ही कवि हों तो वह युग सांस्कृतिक दृष्टि से केवल स्थि-रत्यात्मक कहा जायगा। उस काल में साहित्य सांस्कृतिक निधि की रक्षा भर

---

१ 'अशोक के फूल', पृष्ठ २६२।

कर पाता है, उसकी श्री-वृद्धि नहीं। प्रतिभाएँ ही विकास के नवीन मार्गों का उद्‌घाटन करती हैं। इसीलिए साहित्य की प्रमुख एवं सामूहिक प्रेरणाओं (जातीयता, परिवृत्ति और युगचेतना) के साथ ही हमने कलाकार के व्यक्तित्व का महत्त्व भी स्वीकार किया है। इसके अभाव में साहित्य की वास्तविक पृथक् सत्ता ही नहीं रह जाती। प्रभावशाली प्रतिभाएँ ही युग-परम्परा में एक नवीन चेतना जाग्रत कर देती हैं जो तत्कालीन संस्कारों की समष्टि के अतिरिक्त भी कुछ है, वही उसी युग का अपना वास्तविक व्यक्तित्व है। उसे हम युग के व्यक्तित्व का वह अंश कह सकते हैं जो युग-परम्परा के सामने स्वयं आत्म-समर्पण नहीं करता अपितु परम्परा को बदलकर अपने अनुकूल बना लेने की क्षमता रखा है। साहित्य-समीक्षा के लिए युग और कलाकार के ऐसे व्यक्तित्व का उद्‌घाटन बहुत महत्त्व की वस्तु है। ऐतिहासिक समीक्षा का उद्देश्य रूढ़ि और मौलिक दोनों का अध्ययन करना है। द्विवेदी जी ने रूढ़ियों और परम्पराओं के साथ ही मौलिकता का अध्ययन भी किया है। वे कबीर की परम्परा तथा उसके समय पर ही विचार नहीं करते अपितु उसके व्यक्तित्व का महत्त्व भी स्पष्ट कर देते हैं। द्विवेदीजी मस्त, फक्कड़ स्वभाव और अक्खड़पन के विशेषणों से कबीर का व्यक्तित्व स्पष्ट करते हैं। कबीर सब-कुछ झाड़-फटकार कर चल देने वाला तेज व्यक्ति था।[1] इसीलिए उसमें सब परम्पराओं के विरोध की क्षमता थी। कबीर बाह्याचार के वतावरण में पले थे, पर वे उसको जैसा-का-तैसा ग्रहण नहीं कर कके। थोथा तर्क, कुटिल तत्त्व-ज्ञान, कटु वचन और मधुर शब्द-जाल उनको भरमा नहीं सका। वे ऐसे प्रेम की खोज में थे जो सारे हलाहल को अमृत कर देता।[2] यह सब कबीर के ऐसे दृढ़ और परिस्थितियों के सम्मुख आत्म-समर्पण न करने वाले व्यक्तित्व का ही प्रभाव है कि परम्परा से भिन्न होते हुए भी उसकी भक्ति, साधना और दार्शनिक सिद्धान्त से समाज इतना अधिक प्रभावित हुआ। व्यक्तित्व विशेष के निर्माण में परिवृत्तियों का पूरा सहयोग रहता है। कबीर ऐसी ही परिस्थितियों में जन्मे और पले थे जिनमें वे धार्मिक प्रभावों से मुक्त रह सकें। द्विवेदी जी ने कबीर के व्यक्तित्व के तटस्थ द्रष्टा के रूप को बहुत ही सुन्दर रूपक द्वारा स्पष्ट किया है। "वे मुसलमान होकर भी असल में मुसलमान नहीं थे। वे हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे, वे साधु होकर भी साधु (अगृहस्थ) नहीं थे। वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं थे।...वे कुछ भगवान् की ओर से ही सबसे

---

१. 'कबीर', पृष्ठ २१७। २. वही, पृष्ठ १३९।

सारे बखेड़ा बन गए थे। वे भगवान् के नृसिंहावतार की मानव-प्रतिमूर्ति थे। नृसिंह की भाँति वे नाना असंभव समझी जाने वाली परिस्थितियों के मिलन-बिन्दु पर अवतीर्ण हुए थे।...इसप्रकार अवतार के लिए शायद ऐसी ही परस्पर विरोधी कोटियों का मिलन-बिन्दु भगवान् को अभीष्ट होता है। कबीरदास ऐसे ही मिलन-बिन्दु पर खड़े थे। जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व...जहाँ पर एक ओर योग-मार्ग निकल जाता है दूसरी ओर भक्ति-मार्ग, जहाँ से एक तरफ निर्गुण भावना निकल जाती है दूसरी ओर सगुण साधना...।"[1]

इन पंक्तियों में कबीर के व्यक्तित्व तथा परिस्थितियों के उन पर पड़े हुए संस्कारों का अच्छा विश्लेषण हुआ है। इससे कबीर की युग में नवीन चेतना जागृत करने की क्षमता स्पष्ट हो जाती है।

साहित्य का इतिहास तथा आलोचना दो पृथक् वस्तु होते हुए भी एक-दूसरे से अत्यधिक सम्बद्ध हैं। वस्तुतः वे एक-दूसरे पर आश्रित हैं। साहित्य का इतिहास भी साहित्य के मूल्यांकन के लिए ही प्रस्तुत किया जाता है। मोटे रूप से साहित्य की कृतियों का अनुसंधान, काल-क्रम की स्थापना, उनकी सामान्य प्रवृत्तियों के आधार पर साहित्य की विभिन्न धाराओं का निरूपण एवं काल-विभाजन ही साहित्य के इतिहास का प्रमुख कार्य माना जा सकता है। इतिहासकार तत्कालीन परिस्थितियों से भी साहित्य की प्रवृत्तियों का सम्बन्ध स्थापित करके देखता है। वह जन-समुदाय के बौद्धिक विकास और उस पर प्रभाव डालने वाले बाह्य प्रभावों का अध्ययन करके उनका साहित्य से सम्बन्ध स्थापित करता है। साहित्य जन-समुदाय के हृदय और बुद्धि का प्रतिबिम्ब है, इसलिए साहित्य के इतिहासकार के लिए इस दृष्टि से विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। "जनता की चित्त-वृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्त-वृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना साहित्य का इतिहास कहलाता है।"[2] शुक्लजी ने इन पंक्तियों में साहित्य के इतिहास के स्वरूप को पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है। ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धति का भी यही उद्देश्य है। इस पर ऊपर विचार हो चुका है। इतिहास का उद्देश्य एक कलाकार की अपेक्षा साहित्य की सामान्य

---

१. 'कबीर', पृष्ठ १८१-१८२।
२. 'हिन्दी शब्द सागर', हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १।

प्रवृत्तियों और धाराओं के विकास का अध्ययन करना अधिक है। वह इस सामान्य विकास में कलाकारों के सहयोग का मूल्यांकन अवश्य करना चाहता है। यही कारण है कि इतिहास को भी कवियों की विस्तृत समालोचना प्रस्तुत करनी पड़ती है। पर इतिहास में साहित्यकार की सर्वाङ्गीण आलोचना न अपेक्षित है और न संभव। "इतिहास की पुस्तक में किसी की पूरी तो क्या अधूरी आलोचना भी नहीं आसकती।"[१] स्काट जैम्स इतिहासकार और समालोचक दोनों के क्षेत्र पृथक्-पृथक् मानते हैं। इतिहासकार प्राचीन तथ्यों का संकलन, और संपादन करता है तथा उन तथ्यों की प्रामाणिकता का परीक्षण करता है। पर आलोचक का कार्य साहित्य का मूल्यांकन करना है। यह आवश्यक नहीं है कि अच्छा इतिहासकार उत्कृष्ट समालोचक भी हो।[२] ऐतिहासिक समालोचक को इतिहास का बहुत-कुछ उपयोग करना पड़ता है। वह साहित्य-परम्परा का अनुसंधान करके कवि और कला का मूल्यांकन करता है। सफल इतिहासकार के लिए भी यह मिश्रण आवश्यक है। यही कारण है कि साहित्य के उत्कृष्ट इतिहासकार आलोचना में भी प्रमाण हैं। शुक्लजी ने अपने इतिहास में प्रसंग-वश जिन कवियों की आलोचना प्रस्तुत की है, वह प्रामाणिक है। यह सभी भाषाओं के उत्कृष्ट इतिहासकारों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है।

हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल के प्रारम्भ से ही साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति जग गई थी। ऐतिहासिक समीक्षा के रूप में आलोचकों ने इसका आभास भारतेन्दु-काल में ही दे दिया था। स्वयं भारतेन्दुजी ने दो-एक लेखों में हिन्दी-साहित्य के क्रमिक विकास पर दृष्टि डाली है, इसका विवेचन पहले हो चुका है। इतना ही नहीं वृत्त-संग्रह के रूप में भी ये प्रयास प्रारम्भ हो गए थे। शिवसिंह सेंगर का 'शिवसिंह सरोज' ही इस प्रकार का प्रथम क्रमबद्ध प्रयास माना जा सकता है। इसके पहले भी छोटे-मोटे कवित्त-संग्रह हुए हैं, ऐसा भारतेन्दुकालीन पत्रिकाओं से अनुमित होता है। स्वयं शिवसिंह सेंगर ने अपनी पुस्तक की भूमिका में उन संग्रहों के नाम दिये हैं।

---

१. शुक्ल जी—'इतिहास', वक्तव्य, पृष्ठ ७।

2. The historian of literature must be distinguished from the critic of literature. The task of research ansong the remains of a literary period is distinct from the task of estimating those remains for what they may be intrinsically worth. A literary historian who may do invalueable work in compiling shifting annotating editing is often a very poor critic "The Making of Literature. Page, 24-25."

उन्होंने अपनी इस भूमिका में यह भी माना है कि इसके पूर्व कुछ कवियों के जीवन-सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे गए हैं। वार्त्ता-साहित्य भी इसी की पूर्व-परम्परा माना जा सकता है। पर ये सब प्रयास वास्तविक अर्थ में इतिहास नहीं माने जा सकते। इसीलिए इनको वृत्त-संग्रह कहना अधिक समीचीन समझा गया है। 'शिवसिंह सरोज' के आधार पर ही ग्रियर्सन ने 'माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान' लिखा। इसमें लेखक ने कुछ कवियों पर आलोचनात्मक दृष्टि से भी विचार किया है। सन् १९०० में काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा ने प्राचीन ग्रन्थों की खोज का कार्य अपने हाथ में ले लिया था और हस्त लिखित ग्रन्थों की खोज की कई रिपोर्टें प्रकाशित की थीं। इस सामग्री का उपयोग मिश्र-बन्धुओं ने किया। इन्होंने इसके आधार पर एक बहुत वृहद् वृत्त-संग्रह 'मिश्र-बन्धु विनोद' के नाम से प्रकाशित किया। पर ये सभी रचनाएँ इतिहास की गरिमा को नहीं पहुँच सकी हैं। एफ० ए० के० ने एक छोटा-सा इतिहास सन् १९२० में लिखा था। उसमें उन्होंने तत्कालीन राजनीतिक अवस्थाओं का भी थोड़ा-सा विवेचन किया है। कृष्ण-भक्ति, राम-भक्ति आदि की कुछ साधारण कोटि की विशेषताओं का भी परिचय दिया है। बद्रीनाथ भट्ट ने भी 'हिन्दी' के नाम से एक बहुत छोटी-सी पुस्तक लिखी थी, जिसमें हिन्दी-साहित्य और भाषा दोनों का क्रमिक इतिहास है। पर वस्तुतः ये सभी ग्रन्थ इतिहास के वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सके। इनमें जनता की चित्त-वृत्तियों का अध्ययन नहीं हुआ है और न उन चित्त-वृत्तियों के साथ साहित्य का सम्बन्ध ही स्थापित हो सका। साहित्य की आलोचना के विकास में इसी प्रकार का इतिहास सहायक हो सकता है और समीक्षा की दृष्टि से ऐसे ही प्रयास का महत्त्व भी है। हिन्दी में साहित्य के इतिहास को ऐसा प्रौढ़ और व्यवस्थित रूप शुक्लजी ने ही दिया। 'हिन्दी शब्द सागर' के अन्त में इतिहास के रूप में जो-कुछ प्रकाशित हुआ था, वही वास्तविक अर्थ में साहित्य का प्रथम इतिहास कहा जा सकता है। यह भी विकास का प्रारम्भिक रूप है। शुक्लजी ने इसमें काल-विभाजन करके उन कालों की विशेषताओं का निरूपण किया। शुक्लजी ही ऐसे प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने साहित्य की धारा को इतिहास के साथ मिलाकर देखा और राजनीतिक अवस्थाओं के साहित्य पर पड़ने वाले प्रभाव का मूल्यांकन किया। इसके बाद शुक्लजी ने इसीके कई परिवर्तित संस्करण निकाले। उनमें वे कालों के उपविभाग करते तथा साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों का आलोचनात्मक परिचय भी देते गए हैं। इतिहास में कवियों की स्वतन्त्र आलोचना के लिए बहुत कम स्थान होते हुए भी शुक्लजी ने साहित्य

के सभी प्रमुख और प्रतिनिधि कवियों की विस्तृत और प्रामाणिक आलोचना की है। हिन्दी में इतिहास-रचना के प्रयास शुक्लजी द्वारा निर्दिष्ट पथ पर ही हो रहे हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा ने अपने आलोचनात्मक इतिहास में कवियों की बहुत विस्तृत और प्रौढ़ समालोचना को स्थान दिया है। श्यामसुन्दरदास जी का इतिहास कहीं-कहीं प्रवृत्तियों के निरूपण में अवश्य भिन्न है, पर उन्होंने भी शुक्लजी द्वारा निर्दिष्ट पथ का ही अवलम्बन किया है। शुक्लजी के इतिहास में राजनीतिक अवस्थाओं का साहित्य के विभिन्न कालों से सम्बन्ध अवश्य है, पर वे अवस्थाएँ केवल पृष्ठभूमि का ही कार्य कर सकी हैं। उनमें भी साहित्य की अपरिछिन्न धारा के दर्शन स्पष्ट और अविकल रूप में नहीं होते। पं० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी की 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' इस अभाव की पूर्त्ति का प्रयास है। वे हिन्दी-साहित्य का सम्बन्ध एक चिर-परम्परा से जोड़ देते हैं। वे उसे केवल तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का परिणाम-मात्र नहीं मानना चाहते। उनका कहना है कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।[1] हिन्दी-साहित्य दस करोड़ मनुष्यों के चिन्तन, इतिहास का इसी दृष्टि से उनके उत्थान-पतन और जीवन-संघर्ष का मूर्त्त रूप है। साहित्य के इतिहास का इसी दृष्टि से अध्ययन अपेक्षित है। द्विवेदी जी ने हिन्दी के प्रारम्भ होने से पूर्व की कई शताब्दियों के लोक-जीवन और विद्वत्समाज के साहित्य की विशेषताओं का निरूपण तथा उनका हिन्दी-साहित्य से परम्परागत सम्बन्ध स्थापित किया है। हिन्दी की भक्ति, रीति आदि की परम्पराएँ चिर काल की साहित्य-परम्पराओं के ही विकास हैं, यही द्विवेदी जी दिखाना चाहते हैं। इस प्रकार इतिहास के क्षेत्र का यह नवीन प्रयास प्रारम्भिक होते हुए भी समीक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी ने अपने 'इतिहास के आलोक में' वर्त्तमान कविता का क्रम-विकास तथा 'छायावाद और उसके बाद' नामक निबन्धों[2] में साहित्य के विकास का अध्ययन किया है। इनमें कवियों और रचनाओं का नहीं है, अपितु लोक-रुचि और लोक-विचार-धारा का भी क्रमिक अध्ययन है। ये विचार-धाराएँ साहित्य का स्वरूप किस प्रकार निश्चित करती गई हैं, इस पर भी द्विवेदीजी ने विचार किया है। उन्होंने गान्धीवाद, समाजवाद, रोमाण्टिसिज़्म,

---

१. 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका', पृष्ठ २।

२. शान्तिप्रिय द्विवेदी : 'युग और साहित्य'।

रियलिज्म आदि वादों की परिधि में लोक-चिन्तन का अध्ययन किया है और इनका साहित्य पर प्रभाव भी आँका है। द्विवेदी जी यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि किस प्रकार साहित्य समाजवाद की ओर उन्मुख है। दिनकरजी भी इतिवृत्तात्मक, छायावादी और प्रगतिवादी साहित्य के अन्तस्तल में प्रवाहित होने वाली विचार-धारा को स्पष्ट करते हैं और यह भी प्रतिपादित करते हैं कि वैयक्तिकता का उत्थान ही साहित्य में छायावाद का रूप धारण कर गया है। धीरे-धीरे हिन्दी का कवि अपनी वैयक्तिकता से सामाजिकता की ओर उन्मुख हुआ है। कवि समाज के अधिक निकट आकर अनुभूति ग्रहण करने लगा। वह अब देश और समाज की अवस्थाओं के प्रति भी सजग है। इसीसे वह साहित्य के पलायनवादी दृष्टिकोण को तिलांजलि देकर राष्ट्र-प्रेम के गीत गाने लगा। अब वह समाज के यथार्थ चित्रण की ओर उन्मुख हो गया है। इसी स्वाभाविक चिन्तन-विकास से प्रेरणा प्राप्त करके साहित्य प्रगतिशील होता जा रहा है।[1] इस प्रकार दिनकरजी और द्विवेदी जी युग-चेतना के विकास का साहित्य के साथ अभिन्न सम्बन्ध स्थापित करके देखना चाहते हैं। यह प्रवृत्ति हिन्दी-साहित्य में दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। ऐतिहासिक समीक्षा हिन्दी की प्रधान विशेषता होती जा रही है और उसका दृष्टिकोण भी धीरे-धीरे वही होता जा रहा है जिसका निर्देश हो चुका है। आज ऐतिहासिक समीक्षा इस अवस्था को पहुँच चुकी है कि वह युग-चेतना को साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में नहीं चित्रित करती, अपितु उनका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध दिखलाती है। साहित्य युग का परिणाम और दिशा-निर्देशक दोनों है, इसी सिद्धान्त की ओर हमारी ऐतिहासिक समीक्षा अग्रसर हो रही है। यह साहित्य के इतिहास को भी नवीन दृष्टि से लिखने की प्रेरणा प्रदान कर रही है। साहित्य को युग चेतना, लोक-रुचि, लोक-चिन्तन के समानान्तर विकासमान वस्तु देखने की प्रवृत्ति जाग रही है। ये निबन्ध तथा द्विवेदी जी की हिन्दी-साहित्य की भूमिका इसी प्रवृत्ति के परिणाम हैं। पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी के इन निबन्धों में ऐतिहासिक तथ्यों के संकलन की प्रवृत्ति नहीं है, उनमें उनके वैयक्तिक चिन्तन का प्राधान्य है। रोमाण्टिसिज्म, रियलिज्म आदि प्रत्ययों को उन्होंने अपनी रुचि के अनुसार विशेष अर्थ में ही ग्रहण करके उन्हींके अनुसार साहित्य के क्रमिक विकास का अध्ययन किया है। इसलिए इनमें इतिहास के विशुद्ध दृष्टिकोण का निर्वाह नहीं है। दिनकरजी के निबन्धों में अपेक्षाकृत

---

१. देखिये 'मिट्टी की ओर' में संग्रहीत 'इतिहास के आलोकमें' शीर्षक निबन्ध।

: १६ :

आधुनिक काल में साहित्य-शास्त्र

समीक्षा के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक नाम से दो भेद प्रत्येक प्रौढ़-साहित्य में मान्य रहते हैं। वस्तुतः ये दोनों एक ही वस्तु के दो पक्ष अथवा पटल हैं। इनको एक-दूसरे से भिन्न नहीं किया जा सकता। इनका विकास भी अन्योन्याश्रित है, प्रयोगात्मक आलोचना के अन्तस्तल में भी साहित्य-दर्शन या साहित्य-सम्बन्धी मान्यताओं की एक धारा अविरल रूप में निरन्तर बहती रहती है। ये धारणाएँ, जो समीक्षा का मान भी हैं, समीक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष में ही अन्तर्भूत हैं। इन धारणाओं के अभाव में समीक्षा के प्रयोगात्मक रूप की कल्पना नहीं की जा सकती। समीक्षा का सैद्धान्तिक पक्ष उसके व्यावहारिक रूप का आधार-स्तम्भ है। यही कारण है कि आत्म-प्रधान समालोचना का सिद्धान्त भी सापेक्षतामूलक है। मानदंड अथवा साहित्य-सम्बन्धी धारणा से शून्य निरपेक्ष आत्म-प्रधान आलोचना का कोई तात्पर्य ही नहीं। इस प्रकार के कथन तो अर्थशून्य होते हैं। इन दोनों स्वरूपों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होते हुए भी इनमें से किसी एक का अधिक महत्त्व साहित्य की प्रकृति पर निर्भर है। पाश्चात्य देशों की विचार-धारा कुछ ऐसी ही सरणियों से विकसित हो रही है कि उसमें आलोचना के प्रयोगात्मक स्वरूप का अधिक विकास हुआ है। पर भारत में साहित्य-शास्त्र का विज्ञान और दर्शन के रूप में विकास अधिक हुआ है, कला के रूप में कम। समीक्षा के कला-रूप का विकास अपेक्षाकृत अधिक आधुनिक कहा जा सकता है। उसके इस बहुमुखी विकास का काल तो आधुनिक काल ही है। इस विकास में भी पाश्चात्य प्रेरणा का महत्त्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इससे यह सिद्ध है कि भारतीय चिन्तन-धारा इसके शास्त्रीय पक्ष के विकास की ओर स्वभावतः उन्मुख रहती है। संस्कृत-साहित्य में ही नहीं अपितु रीति-काल में भी इस प्रवृत्ति का प्राधान्य रहा है। आज भी इस प्रवृत्ति की ओर भारतीय चिन्तन विशेष उन्मुख है। भारतीय प्रत्येक वस्तु

की आत्मा का अनुसन्धान करने का स्वाभाविक रूप से इच्छुक रहता है। इसलिए यहाँ पर आज भी दर्शन का ही विकास होता है। हिन्दी-समीक्षा में भी प्रयोगात्मक रूपों के साथ-साथ साहित्य-दर्शन का विकास होता रहा है। प्रयोगात्मक आलोचनाएँ भी साहित्य-सम्बन्धी धारणाओं के विकास का ही इतिहास है।

भारतेन्दु-काल से अब तक समीक्षा के सैद्धान्तिक रूप का विकास तीन प्रधान सरणियों में हो रहा है। प्रथम सरणी उन पुस्तकों की है, जिनके उपजीव्य भारतीय प्राचीन सिद्धान्त हैं। इन पुस्तकों में आचार्य-परम्परा से मान्य सिद्धान्तों का ही निरूपण हुआ है। दूसरी सरणी उन ग्रंथों और निबन्धों की है, जिनकी विवेचन-प्रणाली प्रायः पाश्चात्य है। इनमें पाश्चात्य अलंकार-शास्त्र के तत्त्वों का स्वच्छन्दता पूर्वक ग्रहण हुआ है। समीक्षा के विभिन्न पाश्चात्य सम्प्रदायों और तत्त्वों के आधार पर काव्य के स्वरूप की विशद व्याख्या हुई है। यह दूसरी प्रकार का साहित्य-शास्त्र भी विशुद्ध पाश्चात्य नहीं है। इसमें भारतीय दृष्टिकोण का भी मिश्रण है। लेकिन मिश्रण के परिणाम और महत्त्व में तारतम्य अवश्य है। तीसरी सरणी कवियों और आलोचकों की काव्य-सम्बन्धी धारणाओं की है। प्रत्येक कवि काव्य की एक विशेष धारणा से प्रेरित होकर काव्य-सृजन करता है। उसकी यह धारणा उसके काव्य में अभिव्यक्त हो जाती है, आलोचक अपनी मान्यताओं का पृथक् निबन्धों अथवा ग्रन्थों के रूप में चाहे विवेचन न करे लेकिन वे उसके साहित्य में स्पष्ट झलक जाती हैं। आधुनिक काल में इस प्रकार की धारणाओं को ग्रंथों की भूमिकाओं में स्थान मिल जाता है, साहित्य-शास्त्र के इस तीसरे प्रकार का अन्तर्भाव प्रायः दूसरे में ही हो जाता है, इसकी विचार-धारा में कुछ वैयक्तिकता की छाप के अतिरिक्त साहित्य-शास्त्र के दूसरे प्रकार से कोई विशेष मौलिक भिन्नता नहीं है। इन धारणाओं में पाश्चात्य और भारतीय विचारों का मिश्रण ही रहता है। कवि और आलोचक इनको वैयक्तिकता के आवरण में अभिव्यक्त भर कर देता है, प्रसंगानुसार इन धारणाओं का ऊपर विवेचन होता रहा है। साहित्य-दर्शन के विकास में विचारों ने भी पर्याप्त सहयोग दिया है। पन्तजी की 'पल्लव' की भूमिका 'आधुनिक कवि' की भूमिका और महादेवी जी की अनेक भूमिकाएँ आदि इसकी प्रमाण हैं।

हिन्दी के आधुनिक साहित्य-शास्त्र की कुछ मौलिक विशेषताएँ हैं जो उसको रीतिकालीन विवेचन से पृथक् करती हैं, तथा विकास की ओर अग्रसर कर रही हैं। रीति-काल का विवेचन एक परम्परा की उद्धरणी और

पिष्टपेषण-मात्र रहा, इसलिए वह इतनी शताब्दियों के प्रयत्न के उपरान्त भी साहित्य-शास्त्र को कुछ नवीन वस्तु नहीं प्रदान कर सका, इसका एक प्रधान कारण मौलिक चिन्तन और विश्लेषण का अभाव ही था, चिन्तन और विश्लेषण की प्रवृत्ति रीति-काल की परवर्ती परम्परा में बढ़ती गई है,पर इसमें बहुत महत्त्वपूर्ण विकास नहीं हो सका, इसका निरूपण यथास्थान हो चुका है। अधुनिक-काल विश्लेषण, चिन्तन और समीक्षा का काल रहा है। रीति-काल में जो स्थान आप्त वाक्य का था वह इस काल में विचार-स्वातन्त्र्य ने ले लिया। प्रारम्भ से ही विश्लेषण और चिन्तन की प्रवृत्ति जाग गई। साहित्य-शास्त्र का विवेचन भी विश्लेषणात्मक और तर्क-प्रधान शैली में होने लगा। विचार-स्वातन्त्र्य की भावना तथा विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति ने साहित्य-शास्त्र को नवीन मार्ग दिखा दिया। उसने पाश्चात्य जगत् की विचार-धारा के प्रवेश के लिए द्वार उन्मुक्त कर दिया और अपने यहां के सिद्धान्तों का भी नवीन शैली में पुनः विश्लेषण और मूल्यांकन प्रारम्भ कर दिया, इस प्रकार प्राचीन परम्परा में लिखे गए साहित्य-शास्त्र के ग्रंथ भी रीतिकालीन प्रवृत्ति से भिन्न रहे। प्रारम्भ से ही इन पर भी पाश्चात्य विवेचन-शैली का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता है आधार-सम्बन्धी। आज भी साहित्य-दर्शन का मूल आधार भारतीय है। काव्य-सम्बन्धी विभिन्न पाश्चात्य विचार-धाराओं को आज का साहित्य-शास्त्रज्ञ रस, औचित्य तथा साधारणीकरण आदि भारतीय परम्परा के अनुकूल बनाकर ग्रहण करता है। उसके पास एक कसौटी है, वह उस पर उनकी उपादेयता की जाँच कर लेता है। कुछ लोगों की यह कसौटी साधारण संस्कारों के रूप में है तथा कुछ की गम्भीर अध्ययन और प्रौढ़ चिन्तन के फल स्वरूप। पाश्चात्य और भारतीय परम्पराओं के मिश्रण से काव्य-शास्त्र की नूतन समस्याओं और नवीन विचार-धाराओं की उद्भावना का क्षेत्र खुल गया है। मौलिक चिन्तन के सहयोग से इसमें विकास की सम्भावनाएँ सुस्पष्ट हैं।

आधुनिक-काल के साहित्य-शास्त्र की पहली धारा प्राचीन भारतीय अलंकार-शास्त्र का प्रतिबिम्ब-मात्र है। यह रीतिकालीन परम्परा का ही विकसित रूप है। पर इसमें प्रौढ़ चिन्तन और विश्लेषण को स्थान मिल गया है। इन ग्रन्थों में वर्ण्य-विषय का प्रतिपादन पूर्ण और स्पष्ट है। रीतिकाल के अधिकांश ग्रन्थों की-सी अस्पष्टता धीरे-धीरे कम होती गई है। इन ग्रन्थकारों ने 'काव्य-प्रकाश','साहित्य दर्शन','रस गंगाधर'तथा'ध्वन्यालोक'आदि संस्कृतके प्रौढ़ ग्रन्थोंका अध्ययन करके इनकी सामग्री का समुचित उपयोग किया है। एक ही ग्रन्थ के

अनुवाद की प्रवृत्ति प्रायः नहीं रही है। वर्ण्य-विषय का प्रतिपादन अनेक ग्रन्थों की सहायता से किया गया है। उसी विषय से सम्बन्ध रखने वाली अनेक शंकाओं और प्रश्नों का समाधान करते हुए विवेचन हुआ है। कुछ ग्रंथों में काव्य-तत्त्वों की परिभाषा प्राचीन मान्य ग्रंथों के लक्षणों के अनुवाद हैं। पर उनको स्पष्ट करने के लिए किया गया विवेचन मौलिक है। तर्कपूर्ण विवेचन का यह प्रकार आधुनिक है। ये ग्रंथ शैली और निरूपण-पद्धति की दृष्टि से तो नवीन हैं; पर इनका प्रतिपाद्य विषय अत्यन्त प्राचीन है। ये ग्रंथ प्राचीन अलंकार-शास्त्र के विभिन्न तत्त्वों के विश्लेषणात्मक परिचय के लिए ही लिखे गए हैं। वे सभी उस विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनकी प्रामाणिकता का यही मापदंड है। इन ग्रंथों में विषय को स्पष्ट करने के लिए आधुनिक मनोविज्ञान, पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र तथा वर्तमान धाराओं का भी उपयोग हुआ है, पर केवल साधन रूप में। यह इनकी प्रमुख विशेषता नहीं है। इसको कहीं-कहीं प्रासंगिक कहना भी अनुचित नहीं है। सर्वांगीण साहित्य-शास्त्र केवल अलंकार-निरूपण करने वाले तथा रस और नायिका-भेद के ग्रंथ, रीति-काल की इन तीनों परम्पराओं के ग्रंथों का निर्माण इस काल में भी होता रहा है।

सेठ कन्हैयालाल पोद्दारने अपने 'काव्य-कल्पद्रुम' में प्राचीन अलंकार-शास्त्र के लक्षणों का उपयोग किया है। 'रस-मंजरी' और 'काव्य प्रभाकर' जैसे ग्रन्थ भिखारीदास, श्रीपति आदि की परम्परा के विकसित रूप हैं। इनमें साहित्य-शास्त्र के सभी अंगों का विवेचन है। 'रस-मंजरी' में उन्होंने 'काव्य प्रकाश' के लक्षणों का अनुवाद किया है। पर सारा विवेचन 'काव्य प्रकाश' के लक्षणों का अनुवाद नहीं है। अनेक ग्रन्थों से सामग्री एकत्र करके उन्होंने विषय का मौलिक ढंग से प्रतिपादन किया है। जगन्नाथप्रसाद 'भानु' ने भी अपने ग्रन्थों में अनेक विद्वानों के मतों का उपयोग किया है। उन्होंने 'साहित्य-दर्पण' तथा 'काव्य प्रकाश' आदि संस्कृत के अलंकार-ग्रन्थों का ही नहीं अपितु बहुत-से रीतिकालीन आचार्यों के मतों का भी उपयोग किया है। इतना ही नहीं उन्होंने अपने समकालीन मराठी आदि के काव्य-शास्त्रों के विचारों का भी उपयोग किया है। 'भानु जी' का 'काव्य प्रभाकर' काव्य-शास्त्र का एक विशाल ग्रन्थ है। एक प्रकार से प्राचीन काव्य-शास्त्र का बृहत् कोष है। लेकिन इसमें भी मौलिक चिन्तन का अभाव नहीं है। खंडन की प्रवृत्ति स्पष्ट है। जिस मत का प्रतिपादन भानु जी (इन सभी आलंकारिकों ने भी) ने किया है, वह प्राचीन अलंकार-शास्त्र का सर्व-सम्मत मत है। 'मराठी निबन्ध-माला' के प्रसिद्ध लेखक

विपलूणकर की काव्य-हेतु-सम्बन्धी धारणा का खंडन करते हुए, भानु जी ने शक्ति, निपुणता, और अभ्यास को अत्यन्त आवश्यक कहा है। यह सिद्धान्त उनका अपना नहीं है अपितु 'काव्य प्रकाश' का है। पर उनका विवेचन 'काव्य प्रकाश' तक ही सीमित नहीं रहा। उन्होंने प्रतिभा के 'सहजा' और 'उत्पाद्या' नाम से दो भेदों का भी उल्लेख किया है। विश्लेषण और विवेचन द्वारा इन तीनों में समन्वय भी स्थापित किया है। भानु जी का विवेचन पोद्दार जी की अपेक्षा अधिक विस्तृत और तर्क-प्रधान कहा जा सकता है। पोद्दार जी का निरूपण एक प्रकार से प्रामाणिक परिचय की कोटि का ही अधिक है। पर भानु जी ने संस्कृत-साहित्य के अधिक विस्तृत क्षेत्र का उपयोग किया है। उन्होंने काव्य के एक अंग का विश्लेषण करते हुए उसी प्रसंग पर अनेक आचार्यों के मतों का उपयोग किया है। उन्होंने आनन्दवर्द्धनाचार्य, मम्मट, विश्वनाथ और पंडितराज-जैसे अपेक्षाकृत अर्वाचीन विद्वानों को भी उपजीव्य नहीं बनाया, अपितु वामन, दंडी आदि प्राचीन आचार्यों के विवेचन का भी उपयोग किया है। उनके 'काव्य-लक्षण' भी उद्धृत किये हैं।

'अलंकार-प्रकाश' तथा 'अलंकार-पीयूष' आदि अनेक ग्रन्थ केवल अलंकार-ज्ञान के लिए ही लिखे गए हैं। ये ग्रन्थ 'भाषा-भूषण' की परम्परा के ही विकास हैं। 'रसाल' जी का 'अलंकार-पीयूष' तो अधिक प्रौढ़ और विश्लेषणात्मक है। उसमें संस्कृत और हिन्दी की प्रायः सारी उपलब्ध सामग्री के उपयोग का प्रयत्न किया गया है। अलंकार-सम्बन्धी भारतीय विचार-धारा को आत्मसात् करके उसको मौलिक ढंग से प्रस्तुत करने का यह सफल प्रयत्न हुआ है। इस ग्रन्थ में अलंकारों पर व्यापक दृष्टिकोण से विचार किया गया है। अलंकार-सामान्य के स्वरूप, आधार, वर्गीकरण, पारस्परिक अन्तर आदि अनेक गूढ़ विषयों पर बहुत ही सूक्ष्म और प्रौढ़ विवेचन है। काव्य में अलंकारों के महत्त्व और स्थान पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार हुआ है। अलंकार-शास्त्र का इतिहास देते हुए विद्वान् लेखक ने विभिन्न युगों की अलंकार के महत्त्व-सम्बन्धी धारणाओं का भी निरूपण किया है। 'रसाल' जी की शैली परिचयात्मक नहीं अपितु विश्लेषणात्मक अधिक है। उन्होंने अलंकार-सामान्य के स्वरूप, आधार, और वर्गीकरण में ही नहीं, परन्तु प्रत्येक अलंकार के निरूपण में भी इसी शैली का उपयोग किया है वे आचार्यों के मतों की थोड़ी आलोचना भी करते जाते हैं। 'रसाल' जी ने प्रायः प्रत्येक अलंकार के लक्षण और उसके तत्वों का सूक्ष्म विवेचन तो किया ही है, इसके साथ ही उन्होंने इसके विकास का इतिहास भी थोड़े में दे दिया है। वे इस बात का उल्लेख करना भी नहीं भूले हैं कि हिन्दी के रीति-

कारों का विशेष अलंकारों के प्रति क्या दृष्टिकोण है। वे किस अलंकार की पृथक् सत्ता मानते हैं, और किसकी नहीं, किस अलंकार का कौन-से में अन्तर्भाव करते हैं, आदि सभी विषयों का विवेचन है। 'रसाल' जी का 'अलंकार-पीयूष' अलंकार-निरूपण का सर्वाङ्गीण इतिहास प्रस्तुत करता है। उसमें अलंकार-सम्बन्धी सभी विषयों का विशद निरूपण है। शैली की दृष्टि से यह ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य को एक नवीन और अनुपम देन है। अलंकार-सम्बन्धी ऐसा ग्रन्थ पहले कभी नहीं लिखा गया। सब आचार्यों के मतों को एकत्र करके रखने की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। अलंकारों का निरूपण करने वाले और भी अनेक ग्रन्थ लिखे गए हैं। और आज भी यह क्रम जारी है। पोद्दारजी का 'अलंकार-प्रकाश' तथा 'अलंकार-मंजरी' दीनजी का 'अलंकार-मंजूषा', केडिया जी का 'भारती-भूषण' और मिश्रबन्धुओं का 'साहित्य पारिजात' आदि अधिक उल्लेखनीय हैं। पोद्दार जी ने पहले 'अलंकार-प्रकाश' नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित किया था। उसमें अलंकारों का प्रामाणिक विवेचन था। पर बाद में उसीके परिवर्द्धित संस्करण को 'अलंकार-मंजरी' का नाम दे दिया गया। इसमें 'अलंकार-पीयूष' की तरह अलंकार-सम्बन्धी सभी प्रश्नों पर विशद विवेचन हुआ है। पोद्दार जी ने अलंकार की परिभाषा देते हुए 'अलंकरोतीति अलंकारः' कहकर उसके स्वरूप को स्पष्ट किया है। उन्होंने प्राचीन आचार्य भामह और दंडी के सिद्धान्तों का उपयोग करते हुए वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को अलंकारों का प्राण कहा है। पोद्दार जी ने रुद्रट, रुय्यक आदि के वर्गीकरण का भी उल्लेख और इनकी वैज्ञानिकता पर विचार किया है। पोद्दार जी की 'अलंकार-मंजरी' प्रौढ़ रचना है। दीन जी की पुस्तक भी अलंकार-परिचय के लिए अत्यन्त उपयोगी और रोचक है। अलंकारों के लक्षण पद्य में दिये गए हैं। इससे उनके स्मरण रखने में अधिक सरलता है। लेकिन उनके स्वरूप का स्पष्टीकरण भी टिप्पणी द्वारा कर दिया गया है। केडियाजी का 'भारती भूषण' भी अपनी निजी विशेषता और शैली का अच्छा ग्रन्थ है। इसमें उदाहरणों की नवीनता है। नवीन उदाहरणों में लक्षणों को घटाकर दिखाया है, इससे उनका विवेचन और भी प्रौढ़ और प्रामाणिक हो गया है। उन्होंने राजस्थानी के "वैणसगाई" का भी उल्लेख किया है। 'साहित्य-पारिजात' में बहुत संक्षेप में काव्य-लक्षण और शब्द-शक्तियों का भी उल्लेख हुआ है, पर इसका प्रधान विषय अलंकार-निरूपण ही है। इसमें प्रत्येक अलंकार का विशद विवेचन हुआ है। तर्क और विश्लेषण द्वारा उनके स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। अलंकारों के पारस्परिक अन्तर और प्रत्येक अवान्तर भेद की

भी विशद व्याख्या हुई है। इस ग्रन्थ की प्रधान विशेषता यह है कि इसमें रीतिकालीन आचार्यों के मत भी उद्धृत किये गए हैं। रीतिकालीन विवेचन का यथाशक्ति पूरा उपयोग हुआ है। इसमें अलंकार-सामान्य, उनके आधार और वर्गीकरण के निरूपण का अभाव है। लेकिन समान अलंकारों (प्रतीप और व्यतिरेक, भ्रान्तिमान और सन्देह आदि) के सूक्ष्म अन्तर का निरूपण बहुत ही तर्कपूर्ण एवं प्रौढ़ है। इसमें शब्दालंकार और अर्थालंकार के अन्तर को भी स्पष्ट किया गया है। 'मिश्रालंकार'-सम्बन्धी धारणा तो अत्यन्त मौलिक ही है। इसको तो वे अलंकारों के प्रधान वर्गीकरण में स्थान देते हैं। यह धारणा 'रसाल' जी की धारणा से भिन्न है। इस ग्रन्थ में लेखक ने 'रसवत्' आदि को अलंकार माना जाय या नहीं, इस समस्या पर भी विचार किया है। उनको इस सम्बन्ध में 'काव्य-प्रकाश' का मत ही मान्य है।

रीति-काल में केवल रस-निरूपण करने वाले ग्रन्थों की भी एक परम्परा थी। आधुनिक काल में भी यह परम्परा कुछ दिन तक चलती रही। इस पर भी कई छोटे-मोटे ग्रन्थ लिखे गए। इन सबमें महत्त्वपूर्ण हरिऔधजी का 'रस-कलश' ही है। आनुनिक-काल में इस पद्धति पर अधिक ग्रन्थ नहीं लिखे गए। 'हरिऔधजी' ने इस ग्रन्थ में नायिका-भेद और रस दोनों का समावेश किया है और निरूपण में कुछ मौलिकता का भी परिचय दिया है। इस ग्रन्थ में उदाहरण अत्यन्त सरस, सुरुचिपूर्ण और उपयुक्त हैं। लेखक ने रहस्यवाद का समावेश अद्भुत रस में कर दिया तथा कुछ आधुनिक नवीन नायिकाओं के भी नामकरण किये, इस प्रकार यह ग्रन्थ केवल परम्परा-मुक्त ही नहीं रहा, अपितु युग की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला हो गया। लेखक ने इस ग्रन्थ की विस्तृत भूमिका लिखी है, जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसी परम्परा के 'नवरस' आदि एक-दो ग्रन्थ और भी लिखे गए। रीति-काल में शब्द-शक्तियों पर बहुत कम लिखा गया। यह विषय व्यापक अध्ययन, प्रौढ़ विवेचन तथा सूक्ष्म विश्लेषण की अपेक्षा रखता है। रीति-काल में इसका प्रायः अभाव था। फिर भी प्रतापसिंह की 'व्यंगार्थ कौमुदी'-जैसी प्रौढ़ रचनाओं ने रीति-काल को अलंकृत किया है। यह परम्परा इस काल में भी चलती रही। 'व्यंग्यार्थ मंजूषा'-जैसे शब्द-शक्तियों के निरूपण के पृथक् ग्रन्थों के अतिरिक्त इस विषय पर 'काव्य-प्रभाकर', 'रस-मंजरी', 'साहित्य-सिद्धान्त' आदि में भी विचार हुआ है। रीति-काल और संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में यह परम्परा इसी रूप में चलती रही है। उसीकी अक्षुण्ण धारा आधुनिक काल तक आई है। पं० रामदहिन मिश्र का 'काव्यालोक द्वितीय उद्योत' इसी परम्परा का अत्यन्त प्रौढ़ ग्रन्थ है।

मिश्र जी का यह ग्रन्थ इस विषय का प्रामाणिक विवेचन है। इस ग्रन्थ में शब्द,अर्थ, शक्ति आदि सभी की प्रामाणिक परिभाषाएँ व्याकरण और साहित्य-शास्त्र के प्रौढ़ ग्रन्थ 'वाक्य प्रदीप' तथा 'काव्य-प्रकाश'-जैसे ग्रन्थों से दी गई हैं। लेखक ने अभिधा, लक्षणा, व्यंजना और ध्वनि के स्वरूप का अत्यन्त सरल-शैली में प्रामाणिक विवेचन उपस्थित किया है तथा ध्वनि के उद्गम, एवं उसका व्याकरण के स्फोट सिद्धान्त से सम्बन्ध-जैसे महत्वपूर्ण और गम्भीर विषयों को भी आलोकित किया है। इस ग्रन्थ की बहुत बड़ी विशेषता तो यह है कि इसमें उदाहरण हिन्दी के वर्तमान कवियों और लेखकों की रचनाओं से लिये गए हैं। इससे विषय और भी सरल हो गया है। हिन्दी के पाठक को अपने प्राचीन काव्य-सिद्धान्तों का आधुनिक कविता में उपयोग देखकर उन सिद्धान्तों की व्यापकता का भी अनुभव होता है। पाश्चात्य धारणाओं की ओर भी साधारण-सा संकेत किया गया है। शब्द-शक्तियों के अतिरिक्त लेखक ने ध्वनि के साहित्य-शास्त्र द्वारा, ('ध्वन्या लोक' और 'काव्य प्रकाश' द्वारा) मान्य प्रायः सभी भेदों का विवेचन किया है। इस प्रसंग में उनको रस, भाव, भाषा-शवलता, भावोदय, भाव-शान्ति आदि अनेक महत्त्वपूर्ण काव्यांगों पर प्रौढ़ विवेचन करने का अवसर प्राप्त हुआ है। यह ग्रन्थ यह स्पष्ट करता है कि रीतिकालीन परम्परा आधुनिक-काल में कितनी प्रौढ़ हो गई है।

काल-क्रम की दृष्टि से सेवक, ग्वाल, मतिराम आदि भी आधुनिक काल के ही रीतिकार माने जा सकते हैं। पर शैली और निरूपण-पद्धति की दृष्टि से ये पूर्णतः रीतिकालीन ही हैं। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार की रचनाओं में ही स्पष्टतः नवीन शैली के दर्शन होते हैं। इसका थोड़ा-सा आभास कविराज मुरारीदीन में ही मिलने लगा था। काव्यांगों के लक्षणों में स्पष्टता और पूर्णता, साहित्य-शास्त्र के गूढ़ प्रश्नों के प्रौढ़ विवेचन, अलंकारों और अन्य काव्यांगों के पारस्परिक सूक्ष्म अन्तर के निदर्शन तथा विश्लेषण-प्रधान शैली के कारण ये ग्रन्थ रीतिकालीन परम्परा से कुछ भिन्न कहे जा सकते हैं। पर यथार्थ में इनमें और रीतिकालीन ग्रन्थों मे विषय-निरूपण की दृष्टि से कोई तात्विक अन्तर नहीं है। इन दोनों का वर्ण्य-विषय ही एक नहीं है, अपितु इनकी साहित्य-सम्बन्धी धारणाएँ भी एक हैं। इनकी प्रौढ़ता का आभास इनके रीतिकालीन परम्परा में रखकर तुलनात्मक अध्ययन करने से ही होता है। इस तुलना से ही इन ग्रन्थों की विषय-निरूपण और शैली-सम्बन्धी प्रौढ़ता स्पष्ट होती है। इन ग्रन्थों को रीतिकालीन परम्परा से कुछ भिन्न करने का एक कारण है, इनको प्राचीन साहित्य-शास्त्र की मान्य और प्रतिनिधित्व करने

वाली प्रौढ़ धारणाओं के संश्लिष्ट चित्र उपस्थित करने की प्रवृत्ति। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इन ग्रन्थों में अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों का सहारा लिया गया है। ये ग्रन्थ पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं लिखे गए हैं। साहित्य-समालोचना का आधार उपस्थित करने तथा साहित्य-सृजन की प्रेरणा प्रदान करने की आकांक्षा से ही इन ग्रन्थों का सृजन हुआ है। अपनी प्राचीन निधि के स्वरूप को समझकर मूल्यांकन करने की आकांक्षा आधुनिक काल की प्रधान विशेषता है। यही प्रेरणा इन ग्रन्थों के अन्तस्तल में प्रवाहित हो रही हैं। इस संश्लिष्ट चित्रण के लिए आधुनिक-काल में कई साधनों का उपयोग हुआ है। ग्रन्थकारों ने अपने ग्रन्थों की भूमिका में प्राचीन अलंकार-शास्त्र के ऐतिहासिक विकास और प्रतिनिधि धारणाओं पर विचार किया। 'काव्य-कल्पद्रुम' और 'रस कलश' की भूमिकाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें काव्य-लक्षण, हेतु, प्रयोजन, काव्य के तत्त्व, रस के स्वरूप, रस-निष्पत्ति, रस के सम्प्रदायों, ध्वनि, औचित्य आदि के अनेक प्रौढ़ और महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का विवेचन हुआ है। 'हिन्दी रस गंगाधर' की भूमिका में भी इनका प्रामाणिक निरूपण है। इसके अतिरिक्त इनके संश्लिष्ट विवेचन के लिए पृथक् ग्रंथों की भी रचना हुई है। पं० बलदेव उपाध्याय का 'भारतीय साहित्य-शास्त्र' तथा पोद्दार जी का 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' इसी कोटि के ग्रन्थ हैं। इनमें प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य काव्य के लक्षण, प्रयोजन, हेतु, वक्रोक्ति, औचित्य आदि तत्त्वों के स्वरूप, अलंकार और विकास का विवेचन है। उनका तात्विक, गम्भीर और सूक्ष्म विश्लेषण हुआ है। भारतीय साहित्य-शास्त्र के इन तत्त्वों की भारतीय धारणाओं के साथ ही तुलनात्मक अध्ययन के लिए इससे सम्बद्ध पाश्चात्य विचार-धारा का भी तुलनात्मक निरूपण हुआ है। लेकिन इसका प्रधान उद्देश्य भारतीय विचार-धारा का स्पष्टीकरण ही है, इसलिए ये भी इसी परम्परा के ग्रन्थ हैं। इस काल में 'रस-गंगाधर', 'काव्य-प्रकाश', और 'साहित्य दर्पण' के अनुवाद भी हुए हैं। पं० शालिग्राम शास्त्री की 'साहित्य-दर्पण' पर लिखी गई टीका अत्यन्त प्रौढ़ और संस्कृत-टीकाओं के समकक्ष है। ऐसे स्तुत्य प्रयास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। पं० पुरुषोत्तम चतुर्वेदी का 'हिन्दी-रस-गंगाधर' और पं० हरिमंगल मिश्र का 'काव्य-प्रकाश' भी प्रशंसनीय प्रयास हैं। विषय-निरूपण की प्रौढ़ता और पर्याप्त प्रामाणिकता तथा शैली की दृष्टि से इस परम्परा के ग्रन्थों में विकास हुआ है। यही कारण है कि 'काव्यालोक' तथा 'भारतीय साहित्य-शास्त्र'-जैसे आधुनिकतम ग्रन्थ रीतिकालीन तथा 'अलंकार प्रकाश' और 'जसवन्त भूषण'-जैसे आधुनिक काल के प्रारम्भिक

ग्रन्थों से बहुत भिन्न प्रतीत होते हैं। 'अलंकार पीयूष' भी शैली की दृष्टि से इस परम्परा की नवीन वस्तु है।

विषय-निरूपण की सूक्ष्म विवेचन और आलोचना-प्रधान-शैली के कारण ये ग्रन्थकार काव्य-लक्षणों का तुलनात्मक अध्ययन एवं रस की अलौकिकता आदि पर विचार कर सकते हैं। लेकिन इसके अतिरिक्त कुछ और महत्त्वपूर्ण बातें हैं जो इन ग्रन्थों को रीतिकालीन परम्परा से कुछ भिन्न तथा अधुनिक काल के साहित्य-शास्त्र के नूतन विकास का आभास देने वाला बना देता है। अलंकार-शास्त्र पर कला और विज्ञान के पाश्चात्य दृष्टिकोण से विचार, अलंकार-प्रयोग के अन्तस्तल की मानसिक प्रवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन,[1] शब्द-शक्ति, अलंकार, रीति, गुण आदि को पाश्चात्य धारणाओं पर प्रकाश [2] भारतीय धारणाओं में पाश्चात्य तत्त्वों का आभास प्राप्त करना आदि कतिपय ऐसी वस्तुएँ हैं जो साहित्य-शास्त्र के भावी विकास के पूर्वाभास हैं। ये विकास की नवीन दिशा की ओर संकेत कर रही हैं। इन लेखकों ने प्राचीन भारतीय तत्त्वों की आधुनिक काव्य की समस्याओं और आवश्यकताओं की दृष्टि से व्याख्या की है। उन्होंने कहीं-कहीं पर इस दृष्टि से नवीन वर्गीकरण भी किया है। 'हरिऔध' जी ने नायिका-भेद पर ऐसे ही नूतन दृष्टिकोण से विचार किया है। उनकी मान्यता है कि नायिका-भेद के रूप में आचार्यों ने स्त्री-पुरुषों की प्रकृति और प्रवृत्तियों का वैज्ञानिक वर्गीकरण किया है। वे इसे सार्वभौम और सर्वकालिक मानते हैं। उनका यह भी कहना है कि अज्ञात रूप से इनकी अभिव्यक्ति सर्वत्र होती रहती है।[3] आज की जो चरित्र-कल्पना है, उसका अन्तर्भाव भी नायिका-भेद में हो सकता है। 'हरिऔध' जी ने देश, जाति और लोक-प्रेम की दृष्टि से नायिकाओं के नवीन भेद माने हैं। इससे आधुनिक काल के नवीन चरित्रों का अन्तर्भाव नायिका-भेद में हो जाता है। इस प्रकार इन ग्रन्थों में ही प्राचीन साहित्य-शास्त्र के तत्त्वों की नवीन व्याख्या और पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के तत्त्वों से समन्वय की प्रवृत्ति जाग गई थी। इनमें इन प्रवृत्तियों का पूर्वाभास-मात्र है। इन्हींके विकास ने साहित्य-शास्त्र की नवीन परम्परा को जन्म दिया है। आधुनिक साहित्य-शास्त्र की दूसरी परम्परा की प्रेरणा बीज रूप से इन ग्रन्थों में विद्यमान है।

---

१. 'देखिये— रसाल : 'अलंकार-पीयूष'।
२. देखिये—'काव्यालोक' और 'भारतीय साहित्य-शास्त्र'।
३. 'रस कलश' की भूमिका, पृष्ठ १२५।

हिन्दी में साहित्य-शास्त्र की दूसरी परम्परा पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के अनुकरण पर विकसित हुई है। आधुनिक काल के प्रारम्भ से ही पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ने लगा था। भारतेन्दु-काल की पत्रिकाओं में साहित्य के इन पाश्चात्य तत्त्वों का साधारण संकेत होता रहा है। नाटक आदि पर विचार करते समय उस काल का लेखक नाटक के भारतीय स्वरूप के साथ ही पाश्चात्य तत्त्वों का भी उल्लेख कर दिया करता था। साहित्य-समीक्षा, समालोचक के गुण, निबन्ध, कहानी, उपन्यास आदि काव्य-शास्त्र के नवीन विषय प्रायः पश्चिम की ही देन हैं। द्विवेदी जी से तो पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के तत्त्वों के मुक्त उपयोग का युग ही प्रारम्भ हो जाता है। उन्होंने साहित्य-शास्त्र-सम्बन्धी जो निबन्ध लिखे, उनका आधार प्रायः पाश्चात्य विवेचन ही रहा। बहुत-से निबन्ध तो उनके छायानुवाद ही हैं। द्विवेदी जी के उपरान्त आचार्य शुक्ल जी, प्रसाद जी, बाबू श्यामसुन्दरदास जी, लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', तथा बाबू गुलाबराय आदि अनेक आधुनिक विद्वानों ने साहित्य-शास्त्र की इसी परम्परा का विकास किया है। इनमें से कुछ तथा अन्य अनेक विद्वान् अपने निबन्धों द्वारा इसकी श्री-वृद्धि अब भी कर रहे हैं। पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र ने हमारे समक्ष एक नवीन चिन्तन का मार्ग खोल दिया है। आज हिन्दी का प्रायः प्रत्येक आधुनिक विद्वान् साहित्य की आत्मा और स्वरूप की अनुसंधान करता हुआ भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों प्रकार की शैलियों का उपयोग करता है। वह इन दोनों विचार-धाराओं का समन्वय भी कर लेता है। भारतीय सिद्धान्तों को पाश्चात्य अनुसंधानों के तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों को भारतीय मान्यताओं के आलोक में रखकर सत्य वस्तु के निर्णय की प्रवृत्ति आज की प्रमुख विशेषता है। समन्वय की यह भावना भारतीय अलंकार-शास्त्र की पद्धति के आधुनिक ग्रन्थों में भी है, यह पहले कहा जा चुका है। इस नवीन साहित्य-शास्त्र में पाश्चात्य तत्त्वों का उपयोग बढ़ता जा रहा है। भारतीय सिद्धान्तों का उपयोग कहीं-कहीं तो प्रायः समर्थन के लिए ही अधिक हो गया है। यह अवश्य स्वीकार करना पड़ता है कि अब तक के विवेचन की आधार-भूमि भारतीय साहित्य-शास्त्र ही है। हिन्दी के आधुनिक विद्वान् के मस्तिष्क में इसके प्रबल संस्कार हैं और धीरे-धीरे इसकी प्रौढ़ता में दृढ़ विश्वास भी होता जा रहा है। भारतीय साहित्य विश्व को सामंजस्य के आधार पर प्रतिष्ठित एक नवीन साहित्य-शास्त्र दे सकता है। इसमें हिन्दी का सहयोग भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। हिन्दी में इस नवीन 'साहित्य-शास्त्र' के

प्रणेताओं ने समन्वय का एक ही दृष्टिकोण नहीं अपनाया है। इनमें पारस्परिक तारतम्य है। शुक्लजी प्रधानतः भारतीय विचार-धारा के समर्थक आचार्य हैं। वे पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र और मनोवैज्ञानिक शैली का उपयोग प्राचीन सिद्धान्तों की गूढ़ता को स्पष्ट करने के लिए ही करते हैं। बाहर से जो-कुछ उन्होंने ग्रहण किया है, पश्चिम के जो सिद्धान्त उन्होंने अपनाये हैं उनका उन्होंने भारतीयकरण कर लिया है। पश्चिम में जो-कुछ भारतीय विचार-धारा के अनुकूल है, उसे अपनाने में शुक्ल जी को हिचक नहीं है। मौलिक चिन्तन से भारतीय सिद्धान्त की अव्यक्त गूढ़ताओं का भी उद्घाटन किया गया है। शुक्ल जी के साधारणीकरण और रस-सम्बन्धी विचारों से यह स्पष्ट है। पर शुक्ल जी भारतीयता के प्रतिकूल कहीं गये हैं। उन्होंने भारतीय साहित्य-शास्त्र की मूल धारा के विकास के लिए ही नवीन सरणियां खोली हैं। शुक्ल जी पर विशद विवेचन पहले हो चुका है। भारतीय सिद्धान्तों के गूढ़ तत्त्वों के स्पष्टीकरण की प्रवृत्ति आज की प्रधान विशेषता होती जा रही है। 'सुधांशु' में भी इनके कई स्थानों पर स्पष्ट दर्शन होते हैं।[1] प्रसादजी का दृष्टिकोण विशुद्ध भारतीय है, पर वे रूढ़िवादी नहीं हैं। उन्हीं सिद्धान्तों से गम्भीर विश्लेषण द्वारा उन्होंने आधुनिक सौष्ठववादी धारणाओं की उद्भावना की है। कवीन्द्र रवीन्द्र के लिए भी यही कहा जा सकता है। बाबू श्यामसुन्दरदास जी ने दोनों पद्धतियों को अपनाया है, पर दोनों में बहुत अधिक सामंजस्य नहीं स्थापित कर सके हैं। बाबू गुलाबराय में समन्वयवादी प्रवृत्ति अधिक स्पष्ट है। इन दोनों विद्वानों का समन्वय दोनों पद्धतियों का आकलन ही अधिक कहा जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इन विद्वानों में समन्वयवाद का एक रूप नहीं है, उसमें तारतम्य है।

पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र भारतीय अलंकार-शास्त्र से भिन्न मार्ग का अवलम्बन करके अग्रसर हुआ है। भारत में काव्य के निर्मित स्वरूप का ही विश्लेषण हुआ है। जिस अवस्था को प्राप्त करने के उपरान्त वस्तु काव्य नाम से अभिहित होती है, उसीकी आत्मा का अनुसंधान हुआ है। काव्य के विभिन्न तत्त्वों की विशद व्याख्या उनके तारतम्यिक महत्त्व का प्रतिपादन तथा उनका स्वरूप-निर्देश उसी दृष्टि से किया गया। कवि के मस्तिष्क और हृदय में काव्य नाम की वस्तु कैसे तैयार हो जाती है? उसके लिए कवि जगत् से किन उदाहरणों को किस रूप में ग्रहण करता है तथा उनको काव्य का स्वरूप कैसे देता है, इन सब विषयों

---

१. सुधांशु : 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त', पृष्ठ १२६।

की विशद व्याख्या का भारतीय अलंकार-शास्त्र में अभाव है। भारतीय आचार्यों ने काव्य के निर्माण-पक्ष पर कम तथा आस्वाद-पक्ष पर अधिक विचार किया है। लेकिन इस दृष्टि से यह विवेचन अद्वितीय है और सहृदय और काव्यकी दृष्टि से यही अधिक महत्वपूर्ण है। पर कविकी दृष्टिसे कविता का विचार भी नितान्त उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता। पाश्चात्य आचार्यों ने कविता के इस दूसरे पक्ष का ही अधिक विवेचन किया है। प्रारम्भ से ही अर्थात् प्लेटो, अरस्तू आदि के समय से ही पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र प्रधानतः इसी दिशा में अधिक अग्रसर होता रहा है। अरस्तू ने काव्य और कला को अनुकरण माना। उसने कवि को अनुकर्ता कहा है और उस वस्तु-जगत् का संकेत किया है जिसका वह अनुकरण करता है। इस प्रकार प्रारम्भ से ही पश्चिम में काव्य, जीवन और कलाकार के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन हुआ है। वहाँ काव्य के प्रयोजन तथा आस्वाद पर भी इसी दृष्टिकोण से विचार हुआ है। कहने का तात्पर्य यह है कि भारत और पश्चिम में साहित्य-शास्त्र का प्रारम्भ दो भिन्न बिन्दुओं से हुआ है। ये दोनों विचार-धाराएँ मिलती भी हैं, पर दो भिन्न बिन्दुओं से अग्रसर होकर ही। पश्चिम में कला में कलाकार के आत्मभाव की अभिव्यक्ति, कला का जगत् तथा लौकिक जगत् से उसकी भिन्नता, कला की प्रेरणा आदि विषयों पर अधिक विचार हुआ है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि पश्चिम में कला के आस्वाद और प्रयोजन पक्ष अस्पष्ट ही रहे हैं। वहाँ पर कला के स्वरूप का भी अध्ययन हुआ है। जगत् के आनन्द से उसकी तुलना की गई है। कला के प्रयोजन पर कवि और सहृदय दोनों की दृष्टियों से विचार हुआ है। 'जनहिताय' तथा 'स्वान्तःसुखाय' दोनों का ही विवेचन है। अभिव्यक्ति में कलाकार को स्वाभाविक आनन्द मिलता है, इसलिए यही काव्य का परम लक्ष्य है। "कला-कला के लिए"-जैसे वादों का पश्चिम में बहुत प्राबल्य रहा, पर भारत में ऐसे वादों को प्रेरणा नहीं मिल सकती थी। वह भारतीय साहित्य-शास्त्र की प्रकृति के विरुद्ध है, पर हिन्दी में जिस नवीन साहित्य-शास्त्र का निर्माण हो रहा है, उसमें इन विषयों एवं वादों का पर्याप्त निरूपण है। कुछ हिन्दी के आचार्य तो इन पर भी भारतीय रस-पद्धति से ही विचार करते हैं। शुक्लजी ने अपने नवीन ग्रन्थ 'रस-मीमांसा' में काव्य के वर्ण्य विषय का विवेचन विभाव पक्ष तथा प्रस्तुत-अप्रस्तुत विधान की दृष्टि से किया है, जो पूर्णतया भारतीय है। इस प्रकार इन विषयों को भी भारतीय रूप देने की प्रवृत्ति का विकास हो रहा है।

पश्चिम में काव्य का भी कला में ही अन्तर्भाव माना जाता है।

हिन्दी में अधिकांश आधुनिक आचार्यों ने काव्य को कला मान लिया है। बाबू श्यामसुन्दरदास जी काव्य को कला मानकर उसकी अन्य कलाओंसे अभिव्यंजना के माध्यम की अमूर्त और मूर्तता के आधार पर श्रेष्ठता स्थापित करते हैं।[1] बाबू गुलाबरायजी भी काव्य को कला मानते हैं। उन्होंने काव्य और कला में रस रूप एक ही आत्मा की प्रतिष्ठा मानी है, इसलिए उन्हें काव्य को कला कहने में कोई आपत्ति नहीं होती। उन्होंने कला में कौशल के भाव की प्रधानता वाली बात भी स्वीकार की है, पर इतने से ही वे कला के अर्थ की व्यापकता को अस्वीकार नहीं करना चाहते।[2] सुधांशु जी काव्य और कला के सम्बन्ध में पाश्चात्य दृष्टिकोण के ही समर्थक हैं। कला और काव्य को भिन्न मानने वालों का भी एक सम्प्रदाय है। उसमें प्रसाद जी और शुक्लजी प्रधान हैं। उन्होंने कला पर भारतीय दृष्टिकोण से विचार किया है और उसे उपविधा कहा है। वे उसमें काव्य का अन्तर्भाव नहीं मानते। प्रसाद जी ने तो कविता को कला मानने का बहुत ही विरोध किया है। उन्हें कला-विभाजन का मूर्त और अमूर्त वाला आधार भी मान्य नहीं है।[3] प्रसादजी काव्य में आध्यात्मिकता की प्रधानता मानते हैं। कवि का कार्य केवल अभिव्यंजना-कौशल ही नहीं अपितु जीवन-रहस्य का उद्घाटन भी है। वह तो द्रष्टा है।[4] संस्कृत में ऋषि और कवि का प्रयोग समानार्थी है। इससे काव्य की दिव्यता एवं अभिव्यंजना-कौशल या कला की अपेक्षा उसकी दिव्यता अत्यन्त स्पष्ट है। प्रसाद जी का दृष्टिकोण पूर्णतः भारतीय है। पर काव्य और कला-सम्बन्धी उनके विचार अधिक लोकप्रिय नहीं हो सके। पाश्चात्य प्रभाव की प्रबलता के कारण पन्त, निराला, महादेवी, दिनकर आदि प्रायः सभी कवियों ने काव्य और कला में कोई अन्तर नहीं किया। उन्हें प्रसाद जी के समान काव्य की उच्चता और आध्यात्मिकता का सिद्धान्त नहीं मान्य हो सका। हिन्दी में नवीन साहित्य-शास्त्र का विकास कविता को कला मानकर ही हुआ है।

कला अथवा साहित्य की प्रेरणाओं के सम्बन्ध में जो वाद प्रचलित हुए हैं, उनका भी उल्लेख हिन्दी के समालोचकों में मिलता है। बाबू गुलाबरायजी ने मनोविश्लेषण-शास्त्र पर आधारित फ्रायड, एडलर और जुंग के विचारों का

---

१. 'साहित्यालोचन' 'कला का विवेचन', ।
२. 'सिद्धान्त और अध्ययन', 'कला और काव्य'।
३. 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध'।
४. 'काव्य और कला,' पृष्ठ १२।

विशद विवेचन किया है।[1] अज्ञेयजी, पं० इलाचन्द्र जी जोशी तथा नगेन्द्र जी ने भी कला की प्रेरणाओं पर विचार किया है। कला कलाकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है, यह सिद्धान्त तो प्रायः सर्वमान्य-सा है। कलाकार के व्यक्तित्व तथा उसके जीवन-चरित का काव्य से क्या सम्बन्ध है इस पर पहले विशद विवेचन हो चुका है। 'सुधांशुजी' कला को "आत्मभाव" की अभिव्यक्ति कहते हैं। ये काव्य के लिए अन्विति का तत्त्व आवश्यक मानते हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी काव्य में आत्मभाव के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण किया है।"[2] जगत् और अपने वातावरण से निरपेक्ष कलाकार के व्यक्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती, इसीलिए काव्य का जगत् से अनिवार्य सम्बन्ध मानना पड़ता है। काव्य का जगत् लौकिक जगत् से भिन्न होता है। 'सुधांशु जी' कहते हैं: "प्राकृत जीवन की सत्ता काव्य में एक प्रभाव के रूप में प्रकट होती है। जगत् में जो जीवन है काव्य में भी वही जीवन नहीं रहता बल्कि उसका प्रभाव-मात्र रहता है।"[3] काव्य की घटनाओं में कलाकार की अपनी सृष्टि होती है, यह कला का निमित्त कारण है। कला का उपादान कारण तो जगत् ही है, पर कलाकार उसको नितान्त भिन्न स्वरूप प्रदान कर देता है।[4] सुधांशुजी ने काव्य की प्रभावोत्पादकता का कारण प्रभावकी गहराई मानी है। प्रभाव की सूचना-मात्र काव्य नहीं है, अपितु सहृदय भी उसको वैसे ही ग्रहण कर सके इसके लिए एक विशिष्ट वातावरण अपेक्षित है। इसके लिए कवि को कल्पना का उपयोग करना पड़ता है। काव्य में अनुभूति की प्रधानता का सिद्धान्त भी इस काल का सर्वमान्य सिद्धान्त है। प्रसादजी और शुक्लजी भी इसकी प्रमुखता मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं, यह यथास्थान कहा जा चुका है। शुक्लजी विभाव, भाव और अप्रस्तुत-विधान में कवि-कल्पना की उपयोगिता और अनिवार्यता का प्रतिपादन करते हैं।[5] कल्पना के उपयोग से ही कवि काव्य-जगत् को सर्वाङ्गीण बनाता है। व्यक्ति को जगत् का एकांगी ज्ञान होता है। वह सर्वत्र उसमें कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं देख पाता। पर कला-जगत् का वह स्वयं सृष्टा है, इसलिए उसकी सम्पूर्णता का उसको स्पष्ट

---

१. 'सिद्धान्त और अध्ययन'।
२. सुधांशु : 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त', पृष्ठ ३७ - ३६।
३. वही, पृष्ठ २७।
४. वही, पृष्ठ ४६।
५. 'रस-मीमांसा'।

ज्ञान रहता है। यही कारण है कि जगत् की अनुभूति से काव्यानुभूति इतनी भिन्न होती है। काव्यानुभूति हमेशा ही आनन्दानुभूति ही होती है। पाश्चात्य प्रभाव के फल-स्वरूप काव्य के नवीन उपकरणों पर विचार प्रारम्भ हो गया है। कल्पना, बुद्धि, भाव और शैली काव्य में सर्वमान्य तत्त्व हो गए हैं। अलंकार, गुण आदि के साथ इनका विवेचन भी इस काल की प्रमुख विशेषता है। ये तत्त्व काव्य-निर्माण के उपादान हैं। कुछ लोगों की यह धारणा बन गई है कि रस, अलंकार आदि काव्य के शोभादायक धर्म-मात्र हैं। वस्तुतः उपकरण तो बुद्धि-कल्पना आदि ही हैं। पर यह भ्रान्त धारणा है। गम्भीरता पूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्धि और राग तत्त्व का भाव में अन्तर्भाव है और उसको प्रस्तुत करने का साधन कल्पना है। भारतीय आचार्यों नें इसीको प्रतिभा कहा है। बुद्धि और राग-तत्त्व का समन्वित रूप ही दूसरे शब्दों में अनुभूति है। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' तो इस काल के विवेचन का सूत्र-वाक्य हो गया है। काव्य का क्षेत्र निश्चित करने तथा विज्ञान और धर्म से उसका अन्तर स्पष्ट करने के लिए इसीको आधारभूत माना जाता है। काव्य-विज्ञान और इतिहास के सत्यों के अन्तर का विशद विवेचन हुआ है। शिवत्व काव्य का अनिवार्य तत्त्व है या नहीं तथा काव्य में शिवत्व का कौन-सा स्वरूप ग्राह्य है आदि विषयों का भी विस्तृत निरूपण हुआ है। सौन्दर्य-सम्बन्धी अनेक धारणाओं पर भी विचार किया गया है। इस प्रकार इस सूत्र के आश्रय से काव्य के स्वरूप, वर्ण्य विषय और प्रयोजन पर अनेक दृष्टियों से विचार किया गया और उसके परिणाम-स्वरूप अनेक सम्प्रदायों का जन्म हो गया। हिन्दी में भी 'कला-कला के लिए', 'कला-जीवन के लिए' आदि वादों का भी निरूपण हुआ है।

नवीन शैली के साहित्य-शास्त्र के विकास ने हिन्दी-साहित्य का एक महान् उपकार किया है और वह है प्राचीन भारतीय अलंकार-शास्त्र के सिद्धान्तों का आधुनिक नवीन दृष्टि से विश्लेषण। शुक्लजी और प्रसाद जी ने पाश्चात्य विचार-धारा को आत्मसात् करके नवीन मनोवैज्ञानिक शैली में अपनी प्राचीन निधि का विशद विश्लेषण किया है। इससे एक व्यापक, उदार और अत्यन्त प्रौढ़ साहित्य-दर्शन के विकास की सम्भावनाएँ स्पष्ट हो गई हैं। शुक्लजी की 'रस-मीमांसा' इस कोटि का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ इस बात का स्पष्ट आभास दे रहा है कि हिन्दी भारतीय साहित्य-शास्त्र की विशाल और अमूल्य निधि का नवीन मनोवैज्ञानिक शैली में उपयोग करके महान् साहित्य-सृजन और जीवन का एक महत्त्वपूर्ण आधार उपस्थित कर सकती है। शुक्लजी

इस मार्ग का निर्देश कर गए हैं। लेकिन अभी तक हिन्दी में साहित्य-शास्त्र के पाश्चात्य तत्त्वों का निरूपण परिचयात्मक कोटि का ही है उसमें गूढ़ चिन्तन और विश्लेषण का अभाव है। साहित्य में बुद्धि-तत्त्व का स्वरूप और उसकी मर्यादा आदि विषयों का प्रौढ़ विवेचन नहीं है।

किसी भी काल का साहित्य-शास्त्र तत्कालीन सृजनात्मक साहित्य से असम्पृक्त नहीं रह सकता। वह काव्य-सृजन की एक प्रधान प्रेरणा का कार्य करता है यह हम पहले देख चुके हैं। हमने यह भी देख लिया है कि किस प्रकार विभिन्न समीक्षा-सम्प्रदायों ने काव्य की विभिन्न धाराओं को प्रभावित किया है। यहाँ पर उसके समष्टिगत रूप का थोड़ा-सा संकेत पर्याप्त है। भारतीय अलंकार-शास्त्र पर आधुनिक काल में ग्रन्थ-रचना तो हुई, पर वह विशुद्ध रूप में वर्तमान साहित्य की प्रेरक शक्ति का कार्य नहीं कर सका। पाश्चात्य और भारतीय साहित्य-सिद्धान्तों का समन्वित रूप अथवा नवीन विचार-धारा में प्रतिबिम्बित भारतीय साहित्य-सम्बन्धी कारण ही इस बात के रचनात्मक साहित्य की मूल प्रेरणा कही जा सकती है। इस दृष्टि से साहित्य-शास्त्र की आधुनिक दूसरी प्रवृत्ति का ही विशेष महत्त्व है। उसी का विकास भी हुआ है और हो रहा है। प्राचीन परम्परा ने तो इसमें सहायक का ही कार्य किया है। काव्य के वर्ण्य विषय प्रयोजन, प्रेरणा, कला एवं कलाकार के व्यक्तित्व, काव्य का युग और जीवन से सम्बन्ध आदि की स्वरूप-सम्बन्धी विभिन्न धारणाओं ने हिन्दी-साहित्य में कई वादों को जन्म दिया है ; जैसे यथार्थवाद, आदर्शवाद, कलावाद, व्यक्तिवाद, समाजवाद आदि। इनका आधुनिक काव्य-धाराओं से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इन्होंने आधुनिक काव्य के स्वरूप तथा विकास की दिशा को निर्दिष्ट किया है। इस काल को तीन प्रधान काव्य-धाराओं में विभक्त किया जा सकता है, इतिवृत्तात्मक, छायावाद और प्रगतिवाद। रहस्यवाद आदि अन्य काव्य-प्रवृत्तियाँ इन्हीं धारणाओं में अन्तर्भूत हैं। पलायनवाद, हालावाद आदि को इसीलिए काव्य-धारा न मानकर केवल गौण प्रवृत्तियों के नाम से अभिहित करना अधिक समीचीन है। पर इन सभी धारणाओं और प्रवृत्तियों पर उपर्युक्त साहित्यिक वादों का बहुत नियन्त्रण रहा है। कलावाद, चमत्कारवाद, और व्यक्तिवाद आदि समीक्षा की धारणाओं ने काव्य की छायावादी, पलायनवादी, हालावादी आदि काव्य-धाराओं और प्रवृत्तियों का स्वरूप निश्चित किया है। इसी प्रकार समाजवाद का प्रगतिवाद तथा नीतिवाद का इतिवृत्तात्मक काव्य से सम्बन्ध अत्यन्त स्पष्ट है। ये वाद इन प्रवृत्तियों के अन्तस्तल में प्रवाहित प्रेरक शक्तियाँ हैं, इसलिए इनकी

समीक्षा के मानदण्ड के आधार भी हैं। काव्य-सम्बन्धी ये धारणाएँ एक तरफ काव्य-सृजन की प्रेरणा देती हैं तथा दूसरी तरफ समीक्षा के मानदंड के रूप में विकसित होकर व्यक्त रूप धारण कर लेती हैं। काव्य में यथार्थ, आदर्श आदि से सम्बद्ध विभिन्न धारणाओं में पारस्परिक कुछ अन्तर भी रहता है। इसीलिए एक साहित्यिक वाद का जो तात्पर्य एक काव्य-धारा में है, ठीक वही दूसरी में नहीं है। प्रगतिवादी साहित्य यथार्थवाद से प्रभावित है, पर उनका यथार्थवाद मनोविश्लेषणात्मक कवियों की धारणा से भिन्न है। प्रगतिवादी नग्न यथार्थवाद का चित्रण काव्य के लिए उपयोगी नहीं मानता। वह समाजवादी यथार्थ का समर्थक है। इसी तरह इतिवृत्तात्मक तथा छायावादी कविताओं के आदर्शवाद में स्पष्ट अन्तर है। इतिवृत्तात्मक कवि काव्य की निर्वैयक्तिकता का समर्थक है। उसका काव्य भी जन-सामान्य की भावनाओं का प्रतिनिधि है। पर निर्वैयक्तिकता तथा सामूहिकता की ठीक वही धारणा मार्क्सवादी की नहीं है। इतिवृत्तात्मक और प्रगतिवादी दोनों साहित्य ही उपयोगितावादी कहे जा सकते हैं। पर इन दोनों के उपयोगितावादी दृष्टिकोणों में बहुत अन्तर है। एक का दृष्टिकोण आध्यात्मिक आदर्शवाद है, तो दूसरे का भौतिक आदर्शवाद। कहने का तात्पर्य केवल यह है कि आधुनिक काल में साहित्य-सम्बन्धी धारणाओं का पर्याप्त विकास हुआ है। इसके फल स्वरूप कई वाद भी बन गए। इन वादों के रूप भी चिरविकासमान हैं। उनके विकासमान रूप काव्य और समीक्षा की बदलती हुई धाराओं के निर्णायक तत्त्व हैं। आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के एक स्वरूप का दर्शन प्रेमचन्द जी तथा उनके समसामयिक साहित्य में मिलता है और उसीका दूसरा रूप प्रगतिवादी साहित्य है। इन दोनों के बीच की अवस्था में इस धारणा का विकास होता रहा है। कवि और समीक्षक तो अपने सम्प्रदाय और प्रवृत्तियों के अनुकूल इनके विभिन्न तात्पर्य मानते रहे। एक ने जिसे आदर्श कहा, उसीको दूसरे ने आदर्श नहीं माना। जैनेन्द्रजी का यह कहना बिलकुल समीचीन है कि एक कवि की दृष्टि से जो यथार्थ है, वही दूसरे की दृष्टि से आदर्श हो सकता है। यथार्थ के सम्बन्ध में कवि का अपना मौलिक दृष्टिकोण होता है। पाठक उसीको आदर्श भी मान सकता है, पर कवि के लिए तो वही यथार्थ ही है। विभिन्न परिस्थितियों और मानसिक दशाओं में यथार्थ और आदर्श का रूप बदल जाता है। जैनेन्द्र जी की कल्पना किसी के लिए आदर्शवादी कल्पना होती है। पर जैनेन्द्र जी तो उसे यथार्थ ही समझते हैं। सभी वादों की धारणा में इस वैयक्तिकता के थोड़े-बहुत दर्शन होते हैं। यह वैयक्तिक मतभेद ही साहित्य-

सिद्धान्त और वादों के विकास की कुञ्जी है।

हिन्दी में साहित्य का सैद्धान्तिक निरूपण प्रगतिशील और विकासमान है, पर अभी तक उसने ऐसी निश्चित और पुष्ट सरणी का आभास-मात्र ही दिया है। साहित्य-सम्बन्धी प्रौढ़ और निश्चित एक विचार-धारा का अभाव है। साहित्य में व्यक्तिवादियों और समाजवादियों तथा सौष्ठववादियों के पारस्परिक मत-वैषम्य में सामंजस्य स्थापित नहीं हुआ है। समन्वय की आकांक्षा धीरे-धीरे व्यक्त और स्पष्ट स्वरूप अवश्य धारण कर रही है।

: १७ :

उपसंहार

अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि हिन्दी-साहित्य में प्रयोगात्मक समीक्षा अत्यन्त अर्वाचीन है। पर हिन्दी को साहित्य-दर्शन की अत्यन्त प्रौढ़ चिन्तन-धारा को परम्परागत पैतृक-सम्पति के रूप में प्राप्त करने का सौभाग्य है। इससे उसमें महान् शक्ति अन्तर्हित है और प्रयोगात्मक क्षेत्र में भी उन्नति की उज्ज्वल आशाएँ हैं। पर प्रयोगात्मक समीक्षा के वास्तविक एवं वैज्ञानिक रूप के दर्शन तो आचार्य शुक्ल में ही प्रथम बार होते हैं। इनके पूर्व के सारे प्रयासों में समीक्षा की वैज्ञानिकता, गम्भीरता एवं गरिमा का अभाव है। वे सब प्रारम्भिक प्रयास-मात्र हैं। उनमें वैयक्तिक रूप से काव्य के समझने तथा उसकी श्रेष्ठता को अपने ढंग से आँकने की प्रवृत्ति-मात्र के दर्शन होते हैं। आलोचक वस्तु की गहराई तक पहुँचने की अपेक्षा उसके वाह्य स्वरूप पर ही मुग्ध अथवा रुष्ट होकर उसे अच्छी अथवा बुरी कह देता था। इसमें भी उसकी वैयक्तिक रुचि ही प्रधान मानदंड थी। वह काव्य-तत्त्वों के शास्त्रीय विवेचन की ओर झुका है। उसने काव्य का नीति से सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा भी की है, काव्य का रस, सौन्दर्य अथवा आनन्द की दृष्टि से भी उसने अनुशीलन किया है, पर यह सब अत्यधिक स्थूल और वैयक्तिक ही रहा। यत्र-तत्र की शास्त्रीय विवेचना, काव्य-तत्त्वों की दृष्टि से आलोच्य रचना की परीक्षाके प्रयास, रचना सौन्दर्यसे मुग्ध होना, काव्यकी जीवन-सम्बधी उपादेयता पर विचार करना आदि कुछ चीजों की झलक उन आलोचनाओं में मिल जाती है। ये तत्त्व स्वयं तो बहुत ही अविकसित और अप्रौढ़ हैं, इसलिए इनमें समीक्षा की वैज्ञानिक गरिमा के दर्शन नहीं होते। पर समीक्षा को वैज्ञानिक बना देने की आकांक्षा का स्पष्ट आभास अवश्य है। परवर्ती-काल में जो विकास हुआ है, इनको उसका पूर्वाभास कह देना अत्युक्तिपूर्ण नहीं है। स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि काव्य को विशुद्ध काव्य की दृष्टि से देखना, उसको जीवन की उपादेयता से आँकना तथा इन दोनों के समन्वित रूप को काव्य का

मान मानना, इन तीन प्रधान प्रकृतियों के दर्शन वर्तमान हिन्दी-साहित्य-समीक्षा में होते हैं और शुक्ल जी के पूर्व की समीक्षा इन तीनों का ही पूर्वाभास मानी जा सकती है। यह तो प्रायः स्पष्ट है कि शुक्ल जी की समीक्षा अपने पूर्ववर्ती समीक्षा-तत्वोंको वैज्ञानिकता के चरम विकास पर पहुँचा देती है और आगामी विकासके तत्वों को प्रेरणा प्रदान करती है। वाजपेयीजी आदि ने जिस सौष्ठव-वादी अथवा रहस्यवादी समीक्षा-शैली का अवलंबन किया है, जो शैली इन लोगों में विकसित एवं प्रौढ़ रूप में दृष्टिगत होती है, उसकी कुछ अस्पष्ट आकांक्षा के दर्शन पं०पद्मसिंह जी शर्मा आदि में होते हैं। वे काव्य को विशुद्ध दृष्टि से देखते थे, यद्यपि उनकी काव्य-सम्बन्धी धारणा में अभी व्यंजना-कौशल की अधिक प्रधानता है। सौष्ठववादी समीक्षा ने काव्य की आत्मा को पहचानकर समीक्षा में उन तत्वों के आकलन का प्रयत्न किया है, जो समीक्षा के सार्वदेशिक और सर्वकालीन मानदंड को उपस्थित कर सकते हैं। इस प्रकार वर्तमान समीक्षा की ये दोनों प्रधान पद्धतियाँ परम्परा के विकास ही हैं और इन्होंने भी परस्पर आदान-प्रदान किया है। यह हम पहले कह चुके हैं कि सौष्ठववादी समीक्षा ने शुक्लजी द्वारा निर्मित भूमि पर ही अपना भवन खड़ा किया है और शुक्ल-समीक्षा-पद्धति के आलोचकों ने भी स्थूल नैतिकता का आग्रह छोड़कर काव्य की आध्यात्मिकता को स्वीकार किया है। इस प्रकार समन्वय की प्रवृत्ति प्रबल रही है।

यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि शुक्ल जी में अपनी एक प्रबल वैयक्तिक रुचि थी और उसकी एक गहरी छाप उनकी प्रयोगात्मक आलोचनाओं पर भी स्पष्ट है। कुछ लोग इसे पूर्वाग्रह भी कहना चाहते हैं। पर इतना तो निर्विवाद है कि हिन्दी-समीक्षा-क्षेत्र में शुक्लजी का-सा व्यक्तित्व अब तक नहीं हुआ है। उनका महत्त्व सूर, तुलसी, और जायसी की आलोचना कर देने में नहीं अपितु समीक्षा को वैज्ञानिक मानदंड एवं शैली प्रदान करने में है। उनकी प्रयोगात्मक समीक्षा की अपेक्षा उनका सैद्धान्तिक निरूपण अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसमें चिन्तन की गम्भीरता एवं व्यापकता है। भारतीय अलंकार-शास्त्र की दृढ़ आधार-भित्ति पर निर्मित इस भवन में प्रसार की अमोघ क्षमता है। इसमें पाश्चात्य तत्त्वों का भी पर्याप्त उपयोग हो सकता है और हुआ भी है। स्वयं शुक्ल जी ने ही ऐसा किया है। शुक्ल जी के ही काव्य-सिद्धान्तों को समया-नुकूल परिष्कृत और व्यापक करके हिन्दी की सौष्ठववादी समीक्षा अग्रसर हुई। उसने काव्य को आध्यात्मिक रूप प्रदान किया। उसके मापदंड में आस्वाद और प्रभाव का, सुन्दर और मंगल का, रस एवं नीति का, अनुभूति और अभिव्यक्ति

का, भाव और कला का समन्वय स्थापित करने के सफल प्रयास हुए। यह आलोचना समीक्षा के व्यापक मान और शैली के निर्माण में प्रवृत्त हुई। उसने शुक्ल जी की शैली से प्राप्त मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक, एवं वैधानिक तत्त्वों का विकास किया। धीरे-धीरे हिन्दी में इन शैलियों और मानों को वैधानिक रूप मिलता गया। काव्य को विशुद्ध रूप में देखने की प्रवृत्ति भी बढ़ती गई। उक्त दोनों पद्धतियों में समन्वय स्थापित करने की सफल चेष्टाएँ हुईं और हो रही हैं। पर समन्वय की निश्चित रूप-रेखा बनने के पूर्व ही हिन्दी-क्षेत्र में और पद्धतियों का पदार्पण हो गया। ये दोनों ही एक प्रकार से विदेशी हैं। एक ने साहित्य को मानव के आर्थिक विकास अथवा दूसरे शब्दों में मार्क्सवादी सिद्धान्तों के प्रचार का साधन बनाने का पूरा आग्रह किया। इस पद्धति के आलोचकों ने अब तक के साहित्य को पूंजीवाद की देन कहकर प्रतिक्रियावादी घोषित कर दिया। हिन्दी की दूसरी नवीन पद्धति इस पहली की प्रतिक्रिया-स्वरूप आई है। यह काव्य को सामूहिक चेतना का परिणाम मानने का विरोध करती है। वह काव्य को कवि की अन्तश्चेतना की अभिव्यक्ति मानती है। इस प्रकार हिन्दी में समीक्षा की वर्तमान चार प्रवृत्तियां हैं जिनको इस निबन्ध में क्रमशः शुक्ल-पद्धति, सौष्ठववादी, मार्क्सवादी और मनोविश्लेषणात्मक नामों से अभिहित किया गया है। इनके अतिरिक्त कुछ गौण प्रवृत्तियां भी हैं, जो या तो इन्हींके उपविभाग हैं या इनमें से किसी का अतिवादी रूप अथवा उनमें से किसी का साधन हैं। इनमें से प्रधान निम्न लिखित हैं, प्रभावाभि-व्यंजक, अभिव्यंजनावादी, सौन्दर्यान्वेषी, चरितमूलक और ऐतिहासिक।

आज की हिन्दी-समीक्षा की परिस्थिति कुछ विचित्र होती जा रही है। काव्य-समीक्षा की जितनी पद्धतियाँ और शैलियां प्रचलित हैं उनके सैद्धा-न्तिक आधार तो ठीक हैं। वे सभी काव्य के कुछ पुष्ट सिद्धान्तों पर आधा-रित हैं। पर उनका व्यावहारिक रूप अतिवादी और स्थूल होता जा रहा है। उनकी मान्यता पूर्वाग्रहों का रूप धारण करती जा रही है। शुक्ल-पद्धति का आलोचक काव्य और कवि के सम्बन्ध में कुछ स्थूल, शास्त्रीय एवं वस्तुतंत्रात्मक तत्त्वों का निर्देश भर कर देने में अपने कर्तव्य की पूर्णता समझ बैठा है। यह कुछ अधिक शास्त्रीय एवं इतिवृत्तात्मक हो जाना चाहता है। इसकी आलोचना आरोप का रूप धारण कर रही है। सौष्ठववादी ने सिद्धान्ततः जिस शैली और प्रतिमान को अपनाया है वे तो व्यापक हैं। उसके मान में काव्य की चिरन्तनता तथा सामयिकता के साथ ही काव्य की अनुभूति और आस्वाद के विशुद्ध मान-मूल्यों से अंकन की क्षमता भी स्पष्ट है। उसने काव्य को आध्यात्मिक रूप

में ग्रहण करके उसके विशुद्ध एवं व्यापक दृष्टिकोण को प्रश्रय दिया है। उसके साहित्य-दर्शन में समीक्षा की प्रायः सभी शैलियों का समीचीन समन्वय और आकलन हो सका है। पर काव्य को इतने उच्च स्तर पर आंकने के लिए प्रौढ़ प्रतिभा एवं सूक्ष्म विवेचन-शक्ति की अपेक्षा है। हिन्दी में इसका नितान्त अभाव तो नहीं है, पर प्रत्येक आलोचक में इतनी क्षमता सम्भव भी नहीं है। इसीलिए इस समीक्षा के भी अत्यधिक प्रभाववादी और आत्म-प्रधान हो जाने की आशंका है। और यह वस्तुतः ऐसी होती भी जा रही है। दूसरे इसमें गूढ़ता के मोह के कारण अनिश्चित अर्थ वाली पदावली का प्रयोग हो जाता है। इससे अस्पष्टता भी बढ़ती जा रही है। साहित्य का देश-काल से सम्बन्ध है। उसका अविरल स्रोत बह रहा है। साहित्य के पूर्ण और यथार्थ मूल्यांकन के लिए उसको देश-काल और संस्कृति की सापेक्षता में देखना आवश्यक है। पर मार्क्सवादी तथा अन्य कतिपय आलोचक इसको भी अतिवादी पूर्वाग्रह का रूप प्रदान कर रहे हैं। उनका यह दृष्टिकोण व्यावहारिक रूप में आग्रह बनता जा रहा है। उनके समक्ष समाज के विकास की एक निश्चित परम्परा तथा मानव के कल्याण का एक रूढ़ दृष्टिकोण है। उसीको वे साहित्य का जड़ प्रतिमान बनाना चाहते हैं। साहित्य का देश-काल से सम्बन्ध स्थापित करने का उनका आग्रह एक विशेष दिशा में इतना बढ़ गया है कि वे साहित्य की मर्यादाओं का अतिक्रमण करना चाहते हैं। इनकी रचना साहित्य-समीक्षा की अपेक्षा देश-काल का चित्र अथवा एक वर्णन का सिद्धान्त-निरूपण अधिक हो जाती है। इसी तरह कलाकार के व्यक्तित्व को ही प्रधान मानकर उसकी अन्तश्चेतना के विश्लेषण की प्रवृत्ति और आग्रह भी साहित्य की मर्यादाओं की अवहेलना करना है। आज हर पद्धति की आलोचना पूर्वाग्रहों से ग्रसित होकर अपने भावों को ही पूर्ण मानने के कारण कुछ स्थूल और जड़ होती जा रही हैं। ऐसी अवस्था में समीक्षा में संघर्ष आ जाना भी स्वाभाविक है। यह प्रवृत्तियां पारस्परिक संघर्ष के फलस्वरूप एक-दूसरे की अवरोधक शक्ति बन गई हैं। द्विवेदी-काल की 'तू-तू मैं-मैं' का भी अभाव नहीं है। हां उसने अपना स्वरूप बदल लिया है।

ऊपर के विवेचन का यह तात्पर्य नहीं है कि हिन्दी-समीक्षा की वर्तमान अवस्था निराशापूर्ण है अथवा इसका भविष्य अन्धकारमय है। जहां पर हिन्दी में इन प्रवृत्तियों के व्यावहारिक रूप एक-दूसरे के अवरोधक हैं वहां पर इनके सिद्धान्तों में पारस्परिक सम्बन्ध की क्षमता भी स्पष्ट है। इनके सिद्धान्तों में कोई मूलभूत विरोध नहीं है। इन सबमें काव्य के सत्य हैं। विरोध का

वास्तविक कारण तो आंशिक सत्य को पूर्ण मान लेने के आग्रह में है। हिन्दी में इन सभी प्रवृत्तियों में समन्वय स्थापित करने की आकांक्षा भी स्पष्ट और प्रबल हो रही है, इसलिए भविष्य आशापूर्ण है। आज के प्रमुख आलोचक इस स्थिति के प्रति सजग भी हैं। वे इस समन्वय की आवश्यकता को अनुभव भी करने लगे हैं। उनमें से बहुत-से समन्वय का आधार खोजने तथा उसकी रूपरेखा तैयार करने में प्रयत्नशील हैं। पर अभी तक विभिन्न पद्धतियों के तत्त्वों का समाहार ही हो पाया है, समन्वयवादी संकलन का अभाव है। समन्वय के लिए एक प्रौढ़ साहित्य-दर्शन को आधार मान लेना आवश्यक है। यह आधार भारतीय ही हो सकता है। शुक्लजी ने जो सैद्धान्तिक आधार प्रदान किया है, उसके विकसित रूप में यह क्षमता स्पष्ट है। पाश्चात्य और भारतीय साहित्य-शास्त्र के तत्त्वों का समन्वयवादी अध्ययन उसी आधार पर सम्भव है। सौष्ठववादी समीक्षक ने उसीको व्यापक रूप में ग्रहण करके समीक्षा का एक व्यापक मानदंड एवं शैली उपस्थित करने का प्रयत्न प्रारम्भ किया था। उसीके विकास की आवश्यकता है। हिन्दी में शुक्ल जी के शील-विकास सौष्ठववाद के सौन्दर्य और मंगल तथा प्रगतिवाद के सामूहिक विकास के सिद्धान्तों के समन्वित रूप की अपेक्षा है। साहित्य की रचनात्मक व्याख्या के साथ ही आलोचक को यह भी आँकना है कि कवि कितने उच्च एवं उदार जीवन की कल्पना उपस्थित करता है उसमें मानव के चिरन्तन कल्याण की कितनी प्रेरणा है वह व्यक्ति की बुद्धि और हृदय का कितना प्रसार कर सकता है आदि। साहित्य-समीक्षा में ऐसे अनेक महत्त्वपूर्ण पक्षों एवं सिद्धांतों की दृष्टि से आलोचना का विकास होना चाहिए।

कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्य अपनी सामयिक परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब ही नहीं है अपितु वह अपनी इस दृष्टि के साधन से महान् जीवन की प्रेरणा भी प्रदान कर सकता है। वह अपनी जीवन-कल्पना से सामयिक परिस्थितियों को भी प्रभावित करता है तथा मानव के समक्ष जीवन का चिरन्तन स्वरूप भी उपस्थित करता है। उसमें सामूहिक चेतना के साथ ही व्यक्ति के विकास की भी क्षमता है। ऐसे व्यापक दृष्टिकोण को अपनाने से ही वर्तमान समीक्षा की सभी पद्धतियों और शैलियोंमें पूर्ण सामञ्जस्य हो सकता है। इन सिद्धान्तों में आधारतः ही विरोध है पारस्परिक नहीं। भारतीय साहित्य-शास्त्र के व्यापक उपयोग एवं मौलिक विश्लेषण द्वारा एक सार्वभौमिक मान उपस्थित किया जा सकता है। हिन्दी पर ही इसका सबसे अधिक उत्तरदायित्व है।

इस प्रतीयमान विरोध का एक स्वर्ण प्रभाव भी पड़ा है। हिन्दी के आलोचक में तटस्थ, पक्षपात-शून्य एवं पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर समीक्षा के पारस्परिक स्वरूप की प्रतिष्ठा जागृत हो रही है। उसे भारत का महान् साहित्य-दर्शन पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त है तथा पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तों के उपयोग की सामर्थ्य और स्वतन्त्रता भी। उसका ध्यान इन दोनों की ओर अग्रसर हुआ है यह अपने सैद्धान्तिक विवेचन में इनका उपयोग कर रहा है। आज हिन्दी में आस्वाद की दृष्टि से रस ही काव्य का परम लक्ष्य माना जाता है। हिन्दी का समीक्षक काव्य के प्रभाव पक्ष में पाश्चात्य सिद्धान्तों को अपनाता रहा है। यह काव्य पर जीवन की उपादेयता की दृष्टि से विचार करने लगा है। यही समन्वय है। शुक्ल जी ने रस के प्रभाव-पक्ष का भी उद्घाटन किया है। उनका शील-विकास-का सिद्धान्त यही है। रस पर मौलिक दृष्टि से विचार करने पर उसकी व्यापकता स्पष्ट हो जाती है। उसमें काव्य के प्रभाव और आस्वाद—दोनों पक्षों का सुन्दर समन्वय है। रस के आधार पर काव्य की वैयक्तिक और सामूहिक—दोनों प्रकार की उपादेयता के सिद्धान्तों का निर्माण हो सकता है। शुक्ल जी ने इस सम्भावना को और सापेक्ष किया है। हिन्दी को इसे आगे बढ़ाना है। हिन्दी रस-निष्पत्ति के अतिरिक्त शील-विकास, जीवन की सामूहिक चेतना, सांस्कृतिक विकास की प्रेरणा, व्यक्ति और समाज को नवीन चिन्तन-धारा प्रदान करना, मौलिक चिन्तन की प्रेरणा देना आदि काव्य-प्रयोजनों को मान चुकी है। इससे प्रगति स्पष्ट है, पर इनमें सिद्धान्तों के व्यापक प्रयोग का अभाव है। समीक्षक इनको समन्वित रूप के आधार पर साहित्य का मूल्यांकन नहीं करता। आज का आलोचक साहित्यकार को महान् साहित्य-सृजन की मर्यादा प्रेरणा नहीं दे पा रहा है। हाँ, ऐसे चिन्ह अवश्य हैं कि हम एक महान् साहित्य-दर्शन के निर्माण के लिए व्याकुल हैं। भविष्य में इसका व्यावहारिक रूप स्पष्ट होगा। विकास के ये स्वस्थ चिह्न हैं। महान् जीवन-दर्शन पर साहित्य की महत्ता अधिष्ठित है और महान् साहित्य-दर्शन पर प्रौढ़ समालोचना। हिन्दी को इसीके लिए प्रयत्न करना है।

गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'	१. महाकवि हरिऔध
	२. गुप्त जी की काव्य-धारा
गुलाबराय	१. नवरस
	२. प्रसाद जी की कला
	३. हिन्दी-नाट्य-विमर्श
	४. सिद्धान्त और अध्ययन
	५. काव्य के रूप
गौरीशंकर 'सत्येन्द्र'	१. गुप्त जी की कला
	२. साहित्य की झाँकी
	३. प्रेमचन्द जी की कहानी-कला
श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा	१. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति
श्री चिन्तामणि	१. कवि-कुल-कल्पतरु : हस्तलिखित
श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर'	१. समालोचनादर्श
श्री जगन्नाथ पंडितराज (श्री पुरुषोत्तम चतुर्वेदी का अनुवाद)	१. हिन्दी : रस गंगाधर
श्री जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी	१. निरंकुशता-निदर्शन
श्री जन्नाथप्रसाद 'भानु'	१. काव्य प्रभाकर
श्री जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज'	१. प्रेमचन्द के उपन्यास-कला
श्री जयशंकर प्रसाद	१. काव्य और कला
श्री जसवन्तसिंह	१. भाषा-भूषण
श्री तुलसीदास	१. रामचरितमानस
	२. मानस-मयंक
श्री तोष	१. सुधानिधि
श्री द्विजेन्द्रलाल राय	१. कालिदास और भवभूति
श्री नगेन्द्र	१. सुमित्रानन्दन पन्त
	२. साकेत : एक अध्ययन
	३. आधुनिक हिन्दी नाटक
	४. रीति काल और देव
	५. विचार और अनुभूति
	६. विचार और विवेचन
श्री नन्ददुलारे वाजपेयी	१. सूर-सन्दर्भ

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी	२. जयशंकर प्रसाद
	३. हिन्दी साहित्य : बीसवीं सदी
	४. सूर-सुषमा
श्री नरेन्द्र	१. पलाश वन
श्री नलिनीमोहन सान्याल	१. समालोचना-तत्त्व
	२. सूरदास
श्री नाभादास	१. भक्तमाल
श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी	१. विश्व-साहित्य
श्री पद्माकर	१. पद्माभरण
	२. जगद्विनोद
श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त	१. नया हिन्दी-साहित्य
श्री प्रभाकर माचवे	१. जैनेन्द्र के विचार
श्री प्रेमनारायण टंडन	१. द्विवेदी-मीमांसा
श्री बद्रीनाथ भट्ट	१. वेणी संहार की आलोचना
	२. हिन्दी
श्री ब्रह्मदत्त शर्मा	१. हिन्दी साहित्य में निबन्ध
श्री भगवतशरण उपाध्याय	१. नूरजहाँ (गुरुभक्तसिंह-कृत काव्य की समालोचना)
श्री भगवानदीन लाला	१. अलंकार-मंजूषा
	२. बिहारी और देव
	३. सूर-पंचरत्न
	४. व्यंग्यार्थ मंजूषा
भिखारी दास	१. काव्य-निर्णय
श्री भुवनेश्वर मिश्र 'माधव'	१. मीरा की प्रेम-साधना
श्री मतिराम	१. रसराज
	२. ललित ललाम
श्री महादेवी वर्मा	१. आधुनिक कवि
श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी	१. नैषध-चरित-चर्चा
	२. हिन्दी-कालिदास की आलोचना
	३. विक्रमांकदेव-चरित-चर्चा
	४. नाट्य-शास्त्र

श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी	५. कालिदास की निरंकुशता
	६. रसज्ञ-रंजन
	७. साहित्य-सन्दर्भ
	८. लेखांजलि
	९. समालोचना-समुच्चय
	१०. साहित्य-सीकर
	११. विचार-विमर्श
	१२. आलोचनांजलि
मिश्रबन्धु	१. हिन्दी नवरत्न
	२. मिश्रबन्धु-विनोद
श्री रघुवीरसिंह	१. शेष स्मृतियाँ
श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर	१. साहित्य
श्री रामकुमार वर्मा	१. कबीर का रहस्यवाद
	२. साहित्य-समालोचना
	३. हिन्दी-साहित्य का समालोचनात्मक इतिहास
श्री रामकृष्ण शुक्ल	१. प्रसाद की नाटक-कला
	२. आधुनिक हिन्दी-कहानियाँ
श्री रामचन्द्र शुक्ल	१. तुलसी-ग्रन्थावली
	२. जायसी-ग्रन्थावली
	३. भ्रमर-गीत-सार
	४. काव्य में रहस्यवाद
	५. हिन्दी-साहित्य का इतिहास
	६. गोस्वामी तुलसीदास
	७. चिन्तामणि : दो भाग
	८. रस-मीमांसा
श्री रामनरेश त्रिपाठी	१. तुलसीदास और उनकी कविता
श्री रामशंकर शुक्ल 'रसाल'	१. अलंकार-पीयूष
	१. आलोचनादर्श
विनोदशंकर व्यास	१. प्रसाद और उनका साहित्य
	२. उपन्यास-कला
विश्वनाथप्रसाद मिश्र	१. भूषण-ग्रन्थावली

विश्वनाथप्रसाद मिश्र — २. पद्माकर पंचामृत
३. बिहारी की वाग्विभूति

श्री सुमित्रानन्दन पन्त — १. पल्लव
२. आधुनिक कवि

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी — १. सूर-साहित्य
२. हिन्दी-साहित्य की भूमिका
३. कबीर

हस्तलिखित पुस्तकें, काशी नागरी प्रचारिणी सभा

श्री चिन्तामणि — १. कविकुल-कल्पतरु (हस्तलिखित प्रति)
श्री सरदार कवि — १. मानस-रहस्य
श्री दूलह — १. काव्य-विलास
श्री प्रतापसिंह — १. काव्य-विलास
श्री सोमनाथ — १. रस-पीयूष-निधि
श्री कुलपति — १. रस-रहस्य

पत्र-पत्रिकाएँ

१. हिन्दी-प्रदीप
२. आनन्द-कादम्बनी
३. हरिश्चन्द्र-सुधा
४. हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका
५. हरिश्चन्द्र-मैगजीन
६. साहित्य-समालोचक
७. समालोचक
८. इन्दु
९. सरस्वती
१०. हंस
११. प्रतीक

संस्कृत के ग्रंथ

श्री आनन्द वर्धन — १. ध्वन्यालोक : लोचन सहित
श्री कुन्तक — १. वक्रोक्तिजीवितम्
श्री राजशेखर — १. काव्य-मीमांसा
श्री मम्मट — १. काव्यप्रकाश, बाल-बोधिनी, टीका
श्री विश्वनाथ — १. साहित्य-दर्पण
श्री पंडितराज — १. रस गंगाधर
श्री दण्डी — १. काव्यादर्श

विशिष्ट

१. द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ